1.2

श्रीमच्छङ्कराचार्यकृतं

केनोपनिषद्भाष्यद्वयम्



श्री दक्षिणामूर्ति मठ, वाराणसी

श्रीमच्छङ्कराचार्यकृतं

केनोपनिषद्भाष्यद्वयम्

श्री दक्षिणामूर्ति संस्कृत ग्रन्थमाला - १६



श्रीमच्छङ्कराचार्यकृतं

केनोपनिषद्भाष्यद्वयम्

हिन्दी अनुवाद
स्वामी स्वयम्प्रकाश गिरि

प्रकाशक
श्री दक्षिणामूर्ति मठ
डी. ४९/९ मिश्र पोखरा
वाराणसी-१०

पुस्तक प्राप्ति स्थान
श्री दक्षिणामूर्ति मठ
डी. ४९/९, मिश्र पोखरा
वाराणसी-२२१०१०
दूरभाष : ३५०६५४

प्रथम संस्करण
भगवत्पादाब्द - १२०९
वैक्रमाब्द - २०५४
खैष्टाब्द - १९९७

मूल्य : ३००.०० (तीन सौ मात्र)

मुद्रक
जौहरी प्रॉसेस
जंगमबाड़ी, वाराणसी
दूरभाष : ३२३७२६

अनुक्रमणिका

भूमिका

मानव धर्म के आद्याचार्य कहते हैं 'पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्। अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः॥' (मनुस्मृति १२.९४) पितर, देव व मनुष्यों के ज्ञान का स्रोत नित्य वेद ही है। न तो इन विषयों को स्वयं जाना जा सकता है, न मीमांसा, व्याकरण, निरुक्त आदि के बिना वेद को समझा ही जा सकता है। वेदज्ञों में भी 'सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्, तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः' (मनु. १२.८५) सभी की अपेक्षा आत्मज्ञान ही श्रेष्ठ कहा गया है क्योंकि मोक्ष प्राप्त कराने वाला होने से यही सारी विद्याओं में अग्रणी है। 'इदं शरणम् अज्ञानाम् इदमेव विजानताम् इदम् अन्विच्छतां स्वर्गम् इदम् आनन्त्यम् इच्छताम्' (मनु. ६.८४) वेद को न जानने वाला इसी की शरण में जाकर जानता है तथा वेदज्ञ इसी का निरन्तर विचार करके अनुभूति को प्राप्त करता है। स्वर्ग या मोक्ष को चाहने वाले इसी से उन्हें प्राप्त करते हैं। अतः मोक्षार्थी 'आध्यात्मिकं च सततं वेदान्ताभिहितं च यत्' (६.८३) जीव के विचार द्वारा 'तत्त्वमसि' से प्रतिपादित ब्रह्म से उसकी एकता को बताने वाले उपनिषद् भाग का ही सदा अध्ययन करें। अतः इस संसार में मानव योनि का परम कर्त्तव्य आत्मज्ञान को प्राप्त करके मोक्ष की प्राप्ति ही है। इसका उपाय वेदान्तचिन्तन से निश्चयप्राप्ति ही है। अन्य सभी साधन इसी के अंग है। यद्यपि उपनिषदों की संख्या अनिर्णीत है तथापि जैमिनीय ब्राह्मण के अन्तिम भाग में पठित केनोपनिषद् या तलवकार उपनिषद् श्रौत उपनिषद् रूप से तो अवश्यमेव निर्णीत है। सामवेद की छान्दोग्य उपनिषद् कौथुमी शाखा के ब्राह्मण का अंग है तो यह तलवकार शाखा का। इस उपनिषद् का विशेष विचार ब्रह्मसूत्रों में न आने के कारण ही स्वयं जगद्गुरु शंकर भगवत्पाद ने इस पर वाक्य व्याख्या की रचना कर इसका महत्त्व बढ़ाया क्योंकि पदभाष्य तो सभी उपनिषदों पर उनका है पर वाक्य भाष्य केवल इसी पर है। इस संस्करण का वैशिष्ट्य है कि दोनों भाष्य इस प्रकार समन्वित किये हैं कि उन्हें चाहे एक ग्रंथ की तरह पढ़ा जा सके चाहे अलग-अलग करके। स्वामी स्वयंप्रकाशगिरि जी ने स्वयं इस अद्भुत योजना की कल्पना की। सुनने पर पहले तो कुछ अजीब सा लगा पर जब सारी योजना को समझा तो उनके महत्त्वपूर्ण विचार से प्रभावित हुये बिना नहीं रहा जा सका। साथ में उनकी हिन्दी व्याख्या संस्कृत-अनभिज्ञों को भी उपकृत करेगी इससे यह संशय भी दूर हो जायेगा कि दोनों भाष्य एक ही आचार्य की लेखनी के हैं या नहीं। अनेक विद्वानों ने दोनों भाष्यों के मूल में पाठभेद देखकर यह शंका समुत्थापित की है जो बिना नींव की होने पर भी अनेक लोगों में भ्रम पैदा करती है। इस समन्वित रूप व व्याख्या को देखकर यह शंका सर्वथा निर्मूल ही सिद्ध होती है।

अनुवादक ने सर्वप्रथम ध्यान दिलाया है कि भाष्यकार ने क्यों उपनिषद् का प्रतिपाद्य परब्रह्म को बताया है। सूत्रात्मा रूप प्राण की अपरब्रह्म रूप से उपासना का पूर्व में प्रतिपादन कर तब परब्रह्म के ज्ञान का यह विषय प्रारंभ किया गया है। यहाँ पूर्व अध्यायों का जो सूत्र रूप संक्षेप आचार्य शंकर ने दिखाया है उसको क्रमशः दिखाना अनुवादक की अध्येताओं के प्रति उपकारकता सिद्ध कर देता है। इसी प्रकार भाष्यकार के 'सर्वं कर्म' का बृहदारण्यक उपनिषद् व उसके वार्तिक के द्वारा यथाश्रुत अर्थ किया है, न कि केवल नित्य नैमित्तिक कर्मों का विनियोग जैसा कि प्रायः पूर्वमीमांसा के आग्रह से कह दिया जाता है। इस प्रकार वैराग्योत्पत्ति में सभी कर्मों का विनियोग किया गया है। अतः वेद का सारा ही कर्मकाण्ड व उपासनाकाण्ड ब्रह्मज्ञान का शेष होकर वेदों की एकवाक्यता स्फुट हो जाती है। प्रथम तो धर्म व ब्रह्म दो भिन्न प्रतिपाद्य प्रतीत होते हैं पर धर्म भी ब्रह्म का वैराग्योत्पत्ति द्वारा शेष हो जाता है। वेदप्रतिपाद्य का विचार उभय मीमांसाओं में प्रधान विषय है। वेदप्रतिपाद्य-अपूर्व व फल वाला होना दोनों में अभीष्ट है। अपूर्व अर्थात् वेद से भिन्न किसी प्रमाण का विषय न होना। वेदप्रतिपाद्य कभी व्यर्थ नहीं होता। अतः उसका कोई फल अवश्य होता है। वि अर्थात् विना, अर्थ अर्थात् फल या प्रयोजन। अतः व्यर्थ मायने बिना फल वाला। इस संस्करण में दानों भाष्य कुछ इस तरह छापे हैं कि प्रत्येक अलग-अलग भी पढ़ा जा सकता है। टाइप के आकार भेद से यह संभव हो पाया है। सुधाकल्लोलिनी में सभी अन्य बातों का सभी टीकाओं से संग्रह होकर यह हिन्दी व्याख्या स्वयं अपने आप में केनोपनिषद् को समझने के लिये अत्यन्त आकर ग्रन्थ बन पड़ा है जिसके लिये केवल हिन्दी जानने वाली जनता स्वामी स्वयं प्रकाश गिरि जी की सदा आभारी रहेगी यह निःसन्दिग्ध है।

उपनिषद् का प्रतिपाद्य तात्पर्य आत्मा की ब्रह्मरूपता है। 'अयमात्मा ब्रह्म' माण्डूक्योपनिषद् में महावाक्य है। आत्मा को

सामान्यतः 'मैं' इस प्रतीति का विषय सभी मानते हैं व इस रूप से सर्वजनप्रत्ययवेद्य भी है तो फिर इसके प्रतिपादन से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? यह प्रश्न प्रारंभ में ही उठाकर यह स्पष्ट किया गया है कि यह अन्यत्र कहीं भी शास्त्रों में भी प्रतिपादित नहीं है तो सर्वजनप्रत्ययवेद्य का तो प्रश्न ही नहीं है। आपात ज्ञान ही तो वह भ्रम है जिससे तैर्थिक भी माया के बाहर नहीं निकल पाते। इसका विस्तृत विवेचन स्वयं श्रुति व भाष्यकार ने 'यस्यामतम्' (पृ० १५८) में प्रतिपादित किया है। विचारणीय तो यह है कि शब्द से उसी वस्तु का ज्ञान हो सकता है जिसके जाति, गुण, संबंध या क्रिया कहीं अन्यत्र प्रतीत हों एवं उनके द्वारा उसका उपदेश करने से उसका कुछ सामान्य ज्ञान हो जाये। अथवा पदार्थ इन्द्रियों के समक्ष हो तो 'यह' इत्यादि शब्द व संकेत के माध्यम से उसके नाम का परिचय करा दिया जाता है। ब्रह्म निर्गुण, निष्क्रिय, निःसामान्य या अजाति एवं निःसम्बन्ध या अद्वितीय होने से न तो इन चारों प्रकारों की उपयोगिता है व इन्द्रियागोचर होने से गाय भैंस की तरह इसका उपदेश नहीं किया जा सकता है। तब शब्दगम्यता तो असंभव है। मन किसी बाह्य पदार्थ का बिना इन्द्रियों के ज्ञान नहीं कर सकता है। अतः ध्यान आदि से भी इसका मन से अनुभव नहीं हो सकता है। अतः या तो प्रमाण से अगम्य होने से इसका प्रमाज्ञान स्वीकारा ही न जाय, वरन् वस्तुता से निरपेक्ष उपास्य स्वरूप को काल्पनिक या धर्म की तरह एक अभूत पदार्थ स्वीकारा जाय, अथवा इसको स्वीकारा ही न जाय। ध्यान से तो ध्येय के जिस रूप को भी विषय बनाया जाता है उसी का प्रत्यक्षवत् अनुभव हो जाता है, जो वस्तु की सत्यता पर निर्भर नहीं करता। ऐसा मानने पर कभी भी भिन्न देवोपासकों का संघर्ष समाप्त नहीं हो सकता चाहे वे विष्णु, शंकर, गणेश, राम, कृष्ण, हनुमान् आदि साकार स्वरूप हों, चाहे प्रकाश, नाद आदि निराकार स्वरूप हों, चाहे भारतेतर देशों में कल्पित गौड, अल्लाह आदि हों। या तो इसका अन्त वस्तुस्थिति के निर्णय में प्रवृत्त दार्शनिक अज्ञेयवाद में कर सकेगा, या फिर सर्वथा नास्तिक वाद में। अतः इन दोनों खतरों से बचने का अद्भुत उपाय उपनिषदों में प्रतिपादित ब्रह्म का औपनिषद पुरुषवाद है। इसी के आधार पर सहस्राधिक वर्ष पूर्व सर्वज्ञ भगवान् शंकर ने अपने अप्रतिम दर्शन व धर्म का समन्वय करते हुए केवलाद्वैतवाद का विस्तार किया एवं तत्काल में प्रचलित वैष्णवादि सभी सम्प्रदायों को उपास्य श्रेणी में स्वीकार कर सभी के साथ समन्वय को उपस्थित कर वेदान्तों का संस्थापन किया। वह समन्वय सैंकड़ों सालों तक अप्रतिहत रूप से चला एवं अनेक वैष्णव व सन्त मत के प्रचारकों द्वारा पूरे जोर लगाकर हिलाने का प्रयत्न करने पर भी सामान्य हिन्दू का आज भी जीवन का दैनन्दिन दर्शन यही है।

औपनिषद पुरुष का तात्पर्य स्वयं भगवान् भाष्यकार ने 'स्वेनैवात्मना व्यवस्थितो य औपनिषदः पुरुष अशनायादिवर्जितः उपनिषत्स्वेव विज्ञेयो नान्यप्रमाणगम्यः' (बृहदारण्यक ३.९.२६) बताया है। उपनिषदों में ही जिसका अनुभव होता है ऐसा अपने स्वरूप से ठीक ढंग से स्थित भूख-प्यास आदि द्वन्द्वों से परे पुरुष अन्य किसी प्रमाण (ज्ञानसाधन) से ज्ञात नहीं हो सकता। यद्यपि उपनिषद्-का मुख्यार्थ ब्रह्मज्ञान ही आचार्य एवं उनके सम्प्रदाय को स्वीकृत है तथापि शब्द-राशि में भी उसकी रूढि या योगरूढि तो सभी को स्वीकारनी पड़ती है। अतः आचार्य आनन्दगिरि कहते हैं 'सहेतुसंसार-निवर्तकब्रह्मविद्यार्थत्वाद् उपनिषच्छब्दवाच्या सा भवति उक्तफलवती.... ग्रन्थस्य ब्रह्मविद्याजनकत्वाद् उपचारात् तत्र उपनिषत्पदमिति' (बृहदारण्यक सम्बन्धभाष्यटीका) ब्रह्म को विषय करने वाला ज्ञान ही कारण सहित संसार को नष्ट करने वाला होने से उपनिषद् शब्द से अभिहित होने पर भी उस ज्ञान का उत्पादक होने से कारण से कार्य का गौण प्रयोग हो जाता है। इस प्रकार अद्वैत ज्ञान में शब्द का अद्भुत माहात्म्य माना गया है कि शब्दातीत, शब्द के अविषय तत्त्व को भी शब्दप्रमाण से ही प्रमित किया जाता है। अतः इसके विषय में विस्तृत विचार वेदान्त के प्रकरण ग्रन्थों में प्रतिपादित है। आज के युग में इसका विस्तृत विवेचन इसलिये भी आवश्यक है कि प्रज्ञा को एक विस्मयकारी घटना की तरह निरूपित करके शास्त्र की ओर उपेक्षा बढ़ती जा रही है। शब्द तो जाल है अतः तत्त्व को हम उसकी सहायता से निरपेक्ष होकर स्वतंत्र रूप से प्राप्त कर लेंगे -यह धारणा कितनी गलत है यह इससे ही पता लगता है कि शास्त्रों की अनावश्यकता प्रतिपादन के लिये पुनः शब्दाडम्बर का विस्तार उपस्थापित कर उसके अध्ययनार्थ प्रवृत्ति को वे भी आवश्यक मानते हैं। अतः जिस प्रकार गुरुपरम्परा का विरोध करने वाले ही स्वयं को गुरु स्थान में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करते हैं अथवा एकमात्र गुरु मनवाने का प्रयत्न करते हैं, उसी प्रकार नवीन शास्त्र ही नहीं, नवीन भाषा को भी महत्त्व दिलाते हैं। संस्कृत की कठिनाई बताकर वेद को अध्ययन करने के द्वारा समझना असम्भव बताकर अवधी में रचित रामचरित मानस या ब्रज भाषा में निर्मित पदावलियों अथवा गुरुमुखी लिपि में ही लिखित पंजाबी आदि में वैसी ही अपूर्वता प्रतिपादित करने का यत्न भी इसी प्रकार का है। अतः भाषा व भावों का अद्भुत संयोग सभी स्वीकारते हैं। इसी प्रकार ब्रह्मविद्या के आचार्यगण

उपनिषद् भाषा की प्रधानता मानते हैं वह प्रामाणिक ही स्वीकारनी पड़ती है। न आज सामान्य तामिलनाडुवासी नायनार या आळवार की पदावली को व्याख्या के बिना समझ सकता है, न ज्ञानेश्वरी की भाषा को सामान्य मराठी। इसी प्रकार जैसे वहाँ सम्प्रदाय में रक्षित व्याख्या को आज की भाषा में बताने पर भी मूल ग्रन्थ का अध्ययन आवश्यक माना जाता है वैसे ही सम्प्रदाय परम्परा में रक्षित व्याख्याओं के द्वारा ही उपनिषद् को समझना संभव होने पर भी मूलग्रन्थ की आवश्यकता में कमी नहीं आती और ब्रह्म औपनिषद ही बना रहता है। अपौरुषेय शब्द राशि व महावाक्य ही लिंगों के द्वारा समझे जाकर ज्ञानप्रद मोक्ष को आविर्भूत कर सकते हैं।

इटेलों क़ेल्विनों ने कहा है कि शब्दों में अभिव्यक्ति सदा ही ऐसी होती है जिससे तत्त्व छिप जाता है। पर इस प्रकार से वह उनसे छिपता है कि सहृदय उस रहस्यको खोल सकता है। यह बात वेदान्त के ज्ञाता पदे पदे बताते हैं। भगवान् सर्वज्ञ शंकर भगवत्पाद 'यथोक्तम् आचार्येण आगमम् अर्थतो विचार्य तर्कतश्च निर्धार्य स्वानुभवं कृत्वा' कहकर इसको स्पष्ट करते हैं तथा स्वामी स्वयं प्रकाश गिरि जी ने इसके हिन्दी व्याख्याग्रन्थ में (पृ० १३८ से १४९ तक) इस विषय पर वेदान्त रहस्य को इतना सुस्पष्ट कर समझाया है जितना संस्कृत ग्रन्थों में भी एकत्र मिल पाना दुर्लभ है। यहाँ न केवल व्याख्याता का गहन अध्ययन ही प्रकाशित होता है वरन् उसकी आत्मनिष्ठा चमक उठती है। सभी धर्म या आध्यात्मिक प्रश्नों के उत्तर देने में शब्द-प्रयोग नैसर्गिक रूप से समस्याओं को जन्म देते हैं। सामान्यतः सभी दार्शनिक व विशेषतः शब्दप्रामाणिक लोग इस बात पर प्रकाश डालते ही हैं कि शब्दों से क्या प्रकट किया जा सकता है एवं क्या नहीं। आत्मा या धर्म के प्रवचन में प्रयुक्त शब्द किन अर्थों को व्यक्त करते हैं व उनका प्रयोजन कहाँ तक अपने कार्य को कर पाता है यह सदा विचारणीय होता है। शब्द की शक्ति हमें किसी प्रमाणान्तर से ज्ञात विषय को ही बता सकती है एवं वाक्य ही नवीन ज्ञान को दे सकता है एवं क्रियापदसे अन्वित होकर ही वाक्य पूर्ण हो सकता है। यह मान्यता अनेक आस्तिक दार्शनिकों की है। इस तरह किसी क्रिया का निर्देश ही वाक्य कर सकता है। कुछ तो यहाँ तक मानते हैं कि क्रियान्वित हुये बिना पद की शक्ति का ज्ञान भी असंभव है। अतः ब्रह्मसम्बन्धी निर्देशक शब्द विज्ञानात्मक हैं, या वैषयिक हैं, या सत्यापन करते हैं अथवा इनसे विपरीत हैं। सभी विश्व के दार्शनिक यह तो मानने को बाध्य होंगे कि आत्मप्रतिपादन या किसी अन्य तत्त्व का निर्देश करेंगे जो दूर व भिन्न होने से किसी विज्ञान या विज्ञान के माध्यम से ही संभव हो सकेगा, अथवा आत्मा का स्वरूप होने से न दूर होगा न भिन्न अतः स्वतः सिद्ध स्वयं प्रकाश, अपरोक्ष व निश्चयात्मक होने से किसी विज्ञानान्तर या माध्यम से निरपेक्ष होगा। जोआइचिम वाख ने अपने धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन में विन्यास, वाच्य व अर्थ की दृष्टि से अध्ययन प्रस्तुत किया है तो फ्रेड्रिक स्ट्रेंग ने धर्मानुभूति को त्रिधा विभक्त करके इसको तुलनात्मक धर्मों का रूप ग्रन्थमें प्रस्तुत किया है। परन्तु मूर्ति ने अपने भारतीय दर्शन कांग्रेस की ३७वीं सभा में जो १९६३ में हुई थी इन सभी पक्षों में दोष दिखाकर वेदान्तदृष्टि पुष्ट की है। इन भाषागत विश्लेषणों से न केवल भाषा की सप्रयोजनता ही सिद्ध होती है बल्कि असांपराय तत्त्व की वास्तविकता का व सांपरायिक शब्दों से असांपरायिक तत्त्व के सम्बन्ध का भी प्राकट्य होता है।

वेदान्त का उद्देश्य है उस सत् का पता लगाना जो संसार के सभी विभिन्न नाम-रूप-कर्मों में विभक्त रूप से प्रतीत होता है, अर्थात् सभी में अनुगत है। विवेक का प्रयोग वेदान्ती केवल किसी सिद्धान्त का निर्माण करने में नहीं करना चाहता। वह तो उस तत्त्व के साक्षात्कार को चाहता है जो नित्य हो, वास्तविक हो व सभी में समरूप से व्यवस्थित हो, सभी प्रमाणों के विषय उससे अविरुद्ध हों। यह सर्वाधिष्ठान ही उसका ब्रह्म है। चूँकि वह सर्वगत है अतः युक्ति कहती है कि वह एक, अद्वैत, अपरोक्ष, अविकृत, अच्युत, अव्यय, शिव ही हो सकता है। अतः वार्तिकसार कहता है कि 'संसारकारणविद्याध्वंसकृज्ज्ञानलब्धये। प्रारब्धेयं प्रयत्नेन वेदान्तोपनिषत्परा' (१.२) वेदान्तों की उपनिषद् परम है क्योंकि वह संसार का कारण जो मूलाविद्या उसका विनाश करने वाले ज्ञान को उत्पन्न करती है अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूं' इस प्रकार की अपरोक्ष वृत्ति को उत्पन्न करती है जो तात्पर्यनिश्चयात्मक लिंगों के विचाररूप प्रयत्न से ही संभव है। शब्दराशि को उपनिषद् उसी प्रकार कहते हैं जैसे घटाकार वृत्तिरूप घट के अपरोक्ष ज्ञान को उत्पन्न करने वाले मृण्मय को भी घट ही कहा जाता है। अतः जहाँ ''उपनिषदं भो ब्रूहि' कहा है वहाँ स्पष्ट ही उसे ब्रह्मज्ञानपरक प्रतिपादित किया है (पृ० ३३०)। सर्वज्ञ भाष्यकार भगवान् शंकर भगवत्पाद भी 'सदेर् उप-नि-पूर्वस्य क्विपि चोपनिषद् भवेत्। मन्दीकरणभावाच्च गर्भादेः शातनात्तथा' (उ. सा १.२६) से स्पष्ट करते हैं कि बन्धन को सुनने मात्र से शिथिल

करके गर्भादि का निवर्तक होने से ही उपनिषद् शब्द सार्थक होता है। आगे चलकर वे राम का दृष्टांत उपस्थित कर कहते हैं कि दाशरथि राम को ब्रह्मा के वाक्य से जैसे अन्य किसी यत्न के बिना ही अपने विष्णु होने का सम्यग्बोध हो गया वैसा ही यहाँ समझना चाहिये 'ब्रह्मा दाशरथेर्यद्वदुक्त्यैवापनुदत्तमः। तस्य विष्णुत्वसम्बोधे न यत्नान्तरमूचिवान्। श्रुतिस्तत्त्वमसीत्याह श्रोतुर्मोहापनुत्तये' (उ०सा० १८.९९)। वस्तुतः जैसे रोशनी से घड़ा पैदा नहीं होता है केवल प्रकट हो जाता है वैसे ही आवरण मात्र से जीव का ब्रह्म भाव अप्रकट होने से आवरण को हटाने वाली उपनिषद् ज्ञान को पैदा करने वाली कही जाती है। 'तमोमात्रान्तरायत्वात् तमसो विद्यया हतेः। व्यज्यमानैव सा साध्या इति उपचारात्प्रयुज्यते। अभिव्यज्यते यथा बोधात् प्रदीपेन घटस्तथा। (वा०सा० १.५)। चक्षुरिन्द्रिय के स्थानापन्न गुरु द्वारा प्रोक्त महावाक्य है।

अध्यात्मविद्या या धर्म अन्य ज्ञानों से भिन्न भी है एवं विशेषता वाला भी है। अतः इसको अभिव्यक्त करने वाली भाषा भी विशेष प्रकार की होती है। इसमें तर्क की दृष्टि से अनेक विरोध भी प्रतीत होते हैं। पर विरोधों में से अविरोध को प्रकट करने के लिये ही गुरु आवश्यक होता है जिसने स्वयं तत्त्वसाक्षात्कार करके उस शब्दातीत को अवगत कर लिया है। अतः अर्थ के या तात्पर्य के विषय में वह निःसंदिग्ध है। उपनिषद् इसीलिये अस्पष्ट एवं काव्यभाषा में हैं। प्रायः इसे आपाततः पढ़ने वाला इसमें विरुद्धार्थप्रतिपादन को देखकर अपने को द्विविधा में पाता है। जो हिलता भी नहीं (अनेजत्) वह मन से भी तेज चलता है (मनसो जवीयः) सुनकर प्रथम लगता है कि अनर्थक शब्दसमूह है। इससे प्रयोजन भी सिद्ध नहीं हो सकता एवं अचिन्त्य अज्ञेय पदार्थों को प्रतिज्ञामात्र से कहा जा रहा है। स्वयं अध्यात्मज्ञानी तो भगवान् दक्षिणामूर्ति से प्रेरणा लेकर मौन को ही व्याख्यान मानते है, परन्तु यह व्याख्यान तो ज्ञानी ही समझ पाता है अतः साधक के लिये शब्दप्रयोग के द्वारा समझने के सिवास उपाय नहीं है। फ्रेड्रिक स्ट्रेंग ने अपनी शून्यः धर्मार्थ नामक पुस्तिका में कहा है कि अचिन्त्य अध्यात्म तत्व का प्रतिपादन कराने के तीन उपाय हो सकते हैं– पौराणिक भाषा, प्रातिभ भाषा, या वादभाषा। प्रथम दोनों प्रकारों में ईश्वर को सिद्धवत् मानकर चलना पड़ता है, परन्तु तीसरे में ऐसी मान्यता अनावश्यक है। स्वयं उपनिषदों में भी इन तीनों विधाओं का प्रयोग है। सृष्टि-प्रक्रिया आदि में प्रथम है तो याज्ञवल्क्य काण्ड में तृतीय और मधुकाण्ड में द्वितीय। अद्वैत वेदान्त यद्यपि यह स्वीकार करता है कि वस्तुतः कोई बाह्य ज्ञेय तत्त्व नहीं है जिसको अध्यात्म ज्ञान का निर्धारक तत्त्व माना जाय तथापि ब्रह्म तत्त्व को समझने में सावधानी की आवश्यकता है। अतः केनोपनिषद् उसे विदित एवं अविदित दोनों से भिन्न बताकर भी विद्युत्, निमेष आदि के द्वारा अनुभव करने का प्रतिपादन करती है। यक्ष को कोई नहीं जान सका पर उमा ने उसको जानकर उसका परिचय कराया। अनुवादक ने इन प्रश्नों पर विशद विचार प्रकट किये है (पृ० १४२-१५०)। आगे दोनों विधाओं को स्पष्ट करते हुए स्वामी स्वयं प्रकाश गिरि स्पष्ट करते हैं कि आचार्योक्त सम्प्रदाय बल व उपपत्त्यनुभव बल दोनों से शिष्य समन्वित है। प्रथम जो पौराणिक विधा है वह परोक्ष ज्ञान कराने में ही समर्थ होती है। यद्यपि भारतीय दर्शनों में नागार्जुन व गौडपाद दोनों पारमार्थिक तत्त्व को निर्विशेष मानते हैं तथापि गौडपाद उसे पूर्ण मानते हैं तो नागार्जुन शून्य। जिस प्रकार आकाश को सभी पदार्थों का अभाव भी कहा जा सकता है और जिसमें सभी पदार्थ हैं ऐसा व्यापक तत्त्व भी कहा जा सकता है परन्तु दोनों शब्दसमूहों से आकाशविषयक ज्ञान में भेद रहेगा ही। अतः जब आज के लोग दोनों के विवाद को अर्थहीन कहते हैं तो वह अपना अज्ञान ही प्रकट करते हैं। शब्दवैषम्य या शब्दसाम्य अर्थ की वास्तविकता को नहीं हटा सकता। अर्थ ही शब्द का प्रतिपाद्य है, शब्दमात्र नहीं। गौड, अल्लाह, नारायण आदि का अर्थ एक नहीं होने पर भी उन्हें एक मानना भ्रान्ति ही माना जायेगा। जब अंग्रेजी में पति पत्नी को हनी कहता है तो उसका अर्थ या लक्ष्य व्यवहारसौष्ठव ही हो सकता है, शहद की तरह उस पत्नी को चखने में मिठास नहीं। इसी विधा को मीमांसा, साहित्य आदि में लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ, ध्वन्यर्थ आदि कहकर भिन्न-भिन्न प्रकार से निरूपित किया है। पौराणिक अपनी भाषा को समाधि भाषा के नाम से कहते हैं। सामवेद कहता है कि परमात्मा ने देखा विचारा या चाहा 'ऐक्षत' (छा. ६.२)। एक अद्वितीय देखे, चाहे या सोचे यह संभव ही नहीं क्योंकि न उसके इन्द्रिय हैं न अन्तःकरण। अतः तात्पर्य है कि स्रष्टा चेतन है। पर चेतन कहने से उतनी स्पष्टता नहीं आती। धर्मनिरपेक्ष या इहलौकिक भाषा के इस शब्द में विशेष अर्थ के प्राकट्य की विशेष शक्ति सहृदय को ही पता चलेगी। अन्यथा वह इसके विरोधाभासों को ही देखता रहेगा। धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति कभी भी धर्मविषय को समझने में समर्थ नहीं हो सकता और वह धर्म को समाजसेवा, जातिसेवा रूप में ही देख सकता है। अतः कुछ वर्ष पूर्व उत्तर

प्रदेश में बड़े-बड़े तख़्ते लगाये गये थे जिनमें लिखा था 'दरिद्रसेवा ही सच्ची पूजा है'। नास्तिक शंका रहती है कि यदि ईश्वर वैसा प्रत्यक्ष तत्त्व नहीं है जैसा घड़ा तो उसे 'है' क्यों कहा जाये? या सत्ता तो क़िसी विषय में रहने वाला धर्म ही हो सकता है। सत् की सत्ता का क्या अर्थ है? अगर इस प्रकार से वह नहीं 'है' तो उसे 'है' शब्द से कहा ही क्यों जाता है? अथवा ईश्वर करुणामय है। पर जो करुणा हम समझते हैं वह तो है लौकिक दु:खों की निवृत्ति; चाहे वह दरिद्रता हो, अपूतापन हो, असुन्दरता हो, निर्बुद्धिता हो आदि। यदि सर्वसमर्थ ईश्वर इन्हें दूर नहीं करता तो उसे करुणामय कैसे कहा जाय? यदि यह करुणा सत्ता, चित्ता देना आदि जैसे विलक्षण अर्थवाली हो तो उसे करुणा कहा ही क्यों जाय? जब हम करुणामय सुनकर ईश्वर की ओर जाते हैं तो वहाँ निराशा ही नजर आती है। कई गणितप्रेमी कहते हैं कि ईश्वर ऐसा वृत्त है जिसका केन्द्र सर्वत्र है और परिधि कहीं नहीं। परन्तु इसका यथाश्रुत अर्थ तो यही संभव है कि वह वृत्त नहीं है। फिर उसे वृत्त क्यों कहा जाय? अत: इन बातों का वास्तविक रहस्य गुरु ही प्रकट कर सकते हैं। अन्यथा पूर्व कथन से पश्चात् कथन कटकर अज्ञान नही रह जाता है। फिर भी उन शब्दों के प्रयोग के बिना कुछ समझना भी असंभव है, क्योंकि गृहीतशक्ति शब्द ही समझा सकते हैं एवं शक्ति से तो ऐन्द्रिय जगत् का ग्रहण ही संभव है। कठिनाई यह है कि शब्दों के गृहीतार्थ पर जोर देने से तो शिव मानव बन जाते हैं। वैष्णव सम्प्रदायों की यही कठिनता है। उनके आराध्य देव सत्सम्राट् से मिलने लगते हैं। और यदि उनके अशक्त रूप पर जोर दिया जाता है तो अज्ञेयवाद से मिलने लगता है। अत: आवश्यक है कि दोनों खतरों से बचा जाय। अत: उपनिषद् ने सर्वव्यापक प्राकृत आकाश, हृदय, सूर्य, विद्युत् आदि को माध्यम बनाया। सर्वज्ञ शंकर भगवत्पाद कहते हैं 'यथा कृष्णो रक्तश्चाकाश इति विवेकिनामपि कदाचित्कृष्णता रक्तता चाकाशस्य संव्यवहारमात्रालम्बनार्थं प्रतिपाद्यत इति न परमार्थत: कृष्णो रक्तो वाकाशो भवितुमर्हति' जैसे जानकार लोग भी कभी बातों में काला आशा या लाल आकाश कह देते हैं पर इतने मात्र से वे सचमुच आकाश को वैसा नहीं मानते वैसे उपाधिविशिष्ट ब्रह्म का उपदेश करने मात्र से ब्रह्म की विकारिता नहीं मान लेनी चाहिये क्योंकि 'सर्वकल्पनापनयनार्थसारपरत्वात् सर्वोपनिषदाम्' सभी कल्पनाओं को हटाना ही सारी उपनिषदों का तात्पर्य है (बृ० २.४.२०)। तांत्रिकों ने इस कठिनाई को निपटाने के लिये प्रतीकों का आश्रय लिया। रेखा, चक्र, बिन्दु, द्वार आदि के माध्यम से प्रतिपाद्य विषय को उपस्थापित किया। पर वहाँ भी कठिनता है कि प्रतीक जिसका है उसे निर्देश करने वाला कोई अप्रतीक मार्ग उपलब्ध होना जरूरी है। ऐसा कोई मार्ग अध्यात्म शास्त्र में संभव नहीं है। क्या प्रतीक को साधक समझता है? यदि समझ गया तो प्रतीक अनावश्यक है और नहीं समझा जो सार्थक कैसे होगा? इस प्रकार तत्त्व का प्रतिपादन असंभव प्रतीत होता है। इसीलिये यहाँ कहा गया कि 'यदि समझा तो समझा नहीं' (पृ० १२६ एवं तत्रस्थ व्याख्या)। सामान्य साधक को तो यह द्वन्द्व उपस्थित ही नहीं होता। वे पूजा, प्रार्थना, जप, ध्यान, पाठ आदि करते हुए बिना किसी दार्शनिक द्वन्द्व के आनन्द लेते रहते हैं। पर उनसे भी किसी शब्द या वाक्यार्थ के वास्तविक अर्थ को पूछा जाय तो वे चौंककर सोचने को बाध्य हो जाते हैं। अत: वे कल्पित भाव-साम्राज्य में डूबे रहते हैं। अत: सत्य तत्त्व से दूर भी बने रहते हैं। अन्तत: वे उसे अव्यक्त, अप्रमेय आदि रूप से कहकर अपना पिण्ड छुड़ा लेते हैं। पर अव्यक्त को व्यक्त करने को वे क्यों प्रयत्नशील हैं? या अप्रमेय को प्रमाणित करने में इतना यत्न क्यों रहता है? इसका समुचित जवाब देने में वे असमर्थ रहते हैं। विटजेन्स्टाइन तो कहते हैं कि जहाँ शब्दप्रयोग सार्थक न हो वहाँ मौन ही श्रेष्ठ है। उससे अगला कद होता है कि क्या शब्दातीत कुछ है भी? यदि है तो उसकी ज्ञप्ति कैसे हो सकेगी?

यद्यपि सेमेटिक अर्थात् इस्लाम, ईसाई व यहूदी धर्म मानने वालों का अभिव्यक्तिप्रकार भिन्न है व शैव, वैष्णव, बौद्ध, जैन, सिख, शाक्त आदि की अभिव्यक्ति का प्रकार सर्वथा भिन्न तथापि यह विचित्र तथ्य है कि अनादिकाल से दार्शनिकों ने सदा ही अन्तिम सत्य को शब्दातीत ही स्वीकार कर उसी शब्दातीत को शब्दों के माध्यम से ही प्रकट किया है। विटजेन्साइन व नागार्जुन जैसे लोग भी शब्दों और वाक्यों के माहिर हैं व उनका खुलकर प्रयोग करते हैं। वैष्णवाचार्य भी जितना कुछ श्रद्धा पर जोर दें, पर तर्क का प्रयोग करने से नहीं चूकते। अद्वैत वेदान्त के बारे में शंकर कहते हैं कि वस्तुत: मिथ्या शास्त्र वास्तविक मुक्ति को कैसे पैदा कर सकता है? अथवा अप्रमेय जो निष्कल निर्गुण है उसे शब्द के माध्यम से कैसे प्रकट किया जा सकता है, जब शब्द जाति, क्रिया, गुण व सम्बन्ध वाले का ही संज्ञातिरिक्त ज्ञान करा सकते हैं? यदि सभी मिथ्या है तो कार्य-कारण का उपयोग ही क्या है? यदि बोला न जाय तो अज्ञानी का लांछन लगता है, और अवाच्य व अप्रमेय के बारे में बोला जाय तो विरोध व

असंगतिपूर्ण भाषण का आरोप लगता है। सेण्ट आगस्टीन कहते हैं 'कुछ कहने के लिये नहीं बोल रहा पर मौन न रहना पड़े अतः बोल रहा हूँ'। इसी प्रकार सर्वज्ञ शंकर भगवत्पाद भी ब्रह्मसूत्र के तीसरे अध्याय के दूसरे पाद के सत्रहवे सूत्रमें बाष्कली व बाह्य के संवाद को उदाहृत करते हैं जिसमें तीन बार निरुत्तर रहने के बाद अपना मौन भंग करके कहते हैं कि मैं तो उत्तर दे रहा हूँ पर तुम समझ नहीं पा रहे हो। मौन ही ब्रह्म है। इसी प्रकार यहाँ भी (पृ० १४५ में मंत्र २ की व्याख्या में) स्वामी स्वयं प्रकाश गिरि जी ने इस तत्त्व को काँच जैसा साफ कर दिया है जो विद्वानों के हृदयों को खिला देने में समर्थ है। इससे यह स्पष्ट किया गया है कि परमार्थ सत्य है एवं उपदेश्य भी, परन्तु शब्दवाच्य नहीं है। गार्गी ने भी याज्ञवल्क्य को इसी द्वन्द्व में डालने का प्रयत्न किया था। भगवान् भाष्यकार कहते हैं 'अवाच्यमिति कृत्वा न प्रतिपाद्यते सा अप्रतिपत्तिर्नाम निग्रहस्थानं तार्किकसमये। अथावाच्यमपि वक्ष्यति, तथापि विप्रतिपत्तिर्नाम निग्रहस्थानम्' (बृ० ३.८.७)। वाणी से नहीं कह सकते हो तो अप्रतिपत्ति और कहते हो तो विप्रतिपत्ति। परन्तु दोनों दोषों को बचाते हुए याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया जिसका स्पष्टीकरण भाष्य में किया गया 'अनेक विशेषणप्रतिषेधप्रयासादस्तित्वं तावदक्षरस्योपगमितं श्रुत्या' जब किसी वस्तु के अनेक विशेषणों को आग्रहपूर्वक नकारा जाता है तो विशेष्य की सत्ता स्वतः सिद्ध होती है। ब्रह्म अनावृत होने से बचता है क्योंकि अनादि काल से स्वशक्ति से आवृत है। नैसर्गिक रूपसे अज्ञात ब्रह्म ही स्वतः सिद्ध है। प्रमाणप्रयास से ही वह ज्ञात होता है। ज्ञातोपलक्षित होकर ही वह मुक्त कहा जाता है। अतः सदा ही सर्वत्र यह माना गया है कि इसको व्यक्त करने के लिये जो भी भाषा की विधा अपनाई जायेगी उसमें विशेषता होगी और अप्रसिद्ध दोष से ग्रस्त होगी। सामान्य लोकभाषा उसके लिये कभी ग्राह्य नहीं होगी, इतने मात्र से कोई विचारक इसे निरर्थक नहीं सिद्ध करना चाहेगा। परन्तु अध्यात्मशास्त्र के उपदेशक को यह तो स्पष्ट करना ही पड़ेगा कि इन विरोधाभासों के बावजूद उसे क्या निर्दिष्ट करना इष्ट है।

'अद्वैत वेदान्तमें उपदेश और तर्क' (पृ० ५३) में के० एस० मूर्ति कहते हैं कि शब्दों का न्यूनतम भावार्थ अवश्य अवबोध्य है। आज प्रत्येक पाश्चात्य दार्शनिक वेदान्ती की तरह समझ चुका है कि भाषा के कई स्तर होते हैं। प्रत्येक स्तर अपनी खसूसियत रखते हैं। अतः सर्वज्ञ महामुनि कहते हैं कि सत्य, ज्ञान, आनंद, आकाश, बद्ध, मुक्त आदि शब्दों के प्रयोग व्यावहारिक वैचारिक स्तरों पर बदल जाते हैं। जब व्यवहार स्तर पर इनका अर्थ ग्रहण किया जाता है तो तात्पर्य अन्य होता है, विचार की खरात पर चढ़कर अर्थ बदलना पड़ता है। आकाश आदि में 'है' या सत्ता अन्य प्रकार से है परन्तु वहीं इसका ग्रहण कर फिर 'है' को ब्रह्म का स्वरूप समझने का यत्न करना पड़ता है। यहाँ भी पृ० ६४ पर इसका विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है। न हम जानते हैं कि इसका उपदेश कैसे करें और न उपदेश के बिना शिष्य समझ ही सकता है–इसको अत्यन्त सुन्दर ढंग से व्याख्याता ने स्पष्ट किया है। प्लेटो अपने कथोपकथन में टिमियस के समक्ष प्रकट करता है कि इस विश्व का पति या पिता जाना जाय ऐसे प्रकार से दूर है और यदि किसी तरह उसको जान लें तो अभिव्यक्ति का ऐसा प्रकार कि सब समझ लें असंभव है। कुछ समझें ऐसी भाषा आगम की है 'इति आगमम्' (पृ० ६४)। अतः अन्यत्र वेद का कथन है कि बहुत से लोग तो इसे सुन ही नहीं पाते, और बहुत से सुनकर भी इसे अवगत नहीं कर पाते। भाष्य में स्पष्ट है कि ब्रह्मजिज्ञासा का परिसमापन अवगति में ही है। पाश्चात्य देशों में यह भाषा के स्तरों का विचार अभिनव होने पर भी जगद्गुरु भारत भूमि में तो अनादिकाल से अनवच्छिन्न परंपरा द्वारा भाषारूप श्रुति भी उपलब्ध है एवं भाषा विषयक मीमांसा भी अद्यावधि उपलब्ध है। अंग्रेजी के माध्यम से इसे समझने का प्रयत्न करने वालों के लिये पी० के० चक्रवर्ती का ग्रन्थ ('हिन्दुओं का भाषासंबंधी विचार' कलकत्ता वि० वि० १९३३) समधिक उपादेय है।

सभी भारतीय दर्शनों में व्यावहारिक व तात्त्विक भाषा के आयामों पर विचार किया गया है। वाक्यपदीय में महाराजा भर्तृहरि तो शब्द को ही व्यष्टि व समष्टि को एक करने वाली कील मानकर व्यष्टि शब्द एवं परमार्थ शब्द की एकता प्रतिपादित करते हैं। परा, पश्यन्ती, मध्यमा व वैखरी के माध्यम से समष्टि भाव व्यष्टिभाव को प्राप्त होता है। शब्द की नित्यता तो वेदमीमांसा के दोनों सम्प्रदायों को इष्ट है। अतः सर्वज्ञात्म महामुनि 'वाचमचिन्त्यशक्तिम्' कहते हैं तो वार्तिककार भगवान् सुरेश्वराचार्य 'शब्दशक्तेः अचिन्त्यत्वात्' कहते हैं। केनोपनिषत् की विशेषता है कि जो तीन प्रकार स्ट्रेंग ने उपस्थापित किये हैं जिनका पूर्व में निर्देश किया गया है, वे तीनों ही प्रयोग इस अत्यल्पकाय केनोपनिषद् में भली प्रकार किये गये हैं। यदि यक्षोपाख्यान एक प्रकार है

तो विद्युत् आदि दूसरा एवं विदिताविदित से अन्य तीसरा प्रकार भी मौजूद है। शांकरभाष्य में 'ह' का अर्थ ऐतिह्य कहकर इसे स्पष्ट किया है। पृ० २८७ मे विद्वान् विचारक ने इससे जो धर्मरक्षण पर विचार किया है वह उन सभी के मुँह को बन्द कर देता है जो वेदान्त को निराशावादी मानते हैं। यह अर्थ स्पष्ट करके व्याख्याकार ने स्पष्ट किया है कि पौराणिक भाषा के रहस्य को समझना जरूरी होता है। अन्यथा वह अर्थ अनभिव्यक्त ही रहेगा। सर्वज्ञ शंकर स्पष्ट कहते हैं 'महेश्वरशक्तिमायोपात्तेन अत्यन्ताद्भुतेन प्रादुर्भूतं' परममहेश्वर ने ऐसा रूप प्रकट किया (पृ० २९१)। अग्नि आदि पर भी स्वामी स्वयं प्रकाश गिरि ने गवेषणात्मक विचार किये हैं जो अत्यन्त रमणीय व उपादेय हैं। इसी प्रकार उमा का गुरु रूप से वर्णन (पृ० ३०७) भी मनोहर है जो ७०० वर्ष पूर्व के ज्ञानेश्वर के विचारों को नवजीवन ही नहीं नवपरिवेश भी देते हैं जो आधुनिक युग के अधिक अनुरूप है। आचार्य शंकर ने वेदान्तानुयायियों को एक विशिष्ट दृष्टि दी है जो श्रुति को अतिमूल्यवान् बना देती है। आचार्य शंकर की दृष्टि के बिना जो वेदराशि निरर्थक शब्दसमूह प्रतीत हो सकती थी, उसको उस दृष्टि द्वारा परमार्थ या परम पुरुषार्थ का साधक बना दिया गया। मंत्रभाग को पूर्वमीमांसा में केवल यज्ञांग रूप ही स्वीकारा था। परन्तु स्वयं उपनिषदों में अनेक स्थानों में 'ऋचाभ्युक्तम्' कहकर मंत्रों को प्रमाण रूप से उद्धृत किया है। इस प्रकार मंत्र व उपनिषद्भाग, जो वेद का बहुत बड़ा हिस्सा है, सप्रयोजन मानकर भी अर्थविचार से दूर कर दिया गया था जिसे आचार्य शंकर ने न केवल सप्रयोजन वरन् अनेक देवतादि विषयों में प्रमाणों से अविरुद्ध होने पर अज्ञातज्ञापक मान कर उनका अर्थविचार भी विधेय कर दिया। इन उपनिषद् भागों का विनियोग प्रत्यगात्मा अर्थात् जीव के अपने स्वरूप को समझने में है, न कि किसी दूर ऊर्ध्वलोकवासी विष्णु के। अतः यह सभी के न केवल काम का है वरन् आवश्यक है। आगम उसे बताते हैं जो साक्षात् अपरोक्ष एवं अपने में व सर्वत्र ही मौजूद है। आगम सम्प्रदाय वह है जो साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों द्वारा अनुभूत शब्दराशि व अर्थराशि है जिसका निश्चित अर्थ गुरु-परम्परा द्वारा रक्षित है। अतः वह शब्दातीत जो सत्य है उसका वर्णन अनुभवी का आगम के शब्दों द्वारा प्रकटन होने से सर्वथा प्रामाणिक है। किन्तु आगम के शब्दों में ऐसी विशेष शक्ति है कि वह अनुभव करा देता है, जैसे भयंकर स्वप्न स्वप्न होने पर भी जगाने की शक्ति विशेष रूप से रखता है। इन शब्दों के द्वारा अपने अन्दर नित्य ज्ञान रूप से रहने वाले को ज्ञात या प्रत्यभिज्ञात कराने की शक्ति का उपयोग गुरु करता है। ज्ञात करने के लिये जिन विवेक, विराग, शांति आदि की अपेक्षा है उसमें तो मानवमात्र का अधिकार होने से एवं जिनको विशेषतः अनधिकारी न कहा हो उन सभी के लिये उपयोगी आचार्यपाद उद्घोषित करते हैं। ऐन्द्रिय ज्ञान मात्र को ही अपरोक्ष मानना तो व्यर्थ में मानव के अनुभव को सीमित करना है। किंच हमारी सारी अपाशविक अर्थात् मानवीय विकास की शक्ति अनैन्द्रिय ज्ञान में ही अधिष्ठित है। ऐन्द्रियज्ञान न तो इन्द्रिय द्वारा व्याख्यात है न उसे पूर्णतः समझने में सक्षम। यह हमें सर्वथा पशु जैसा ही अविकसित बना सकता है। अद्वैत वेदान्त इसीलिये अवस्थात्रय को समानरूप से विचारयोग्य मानता है यद्यपि स्वप्न व सुषुप्ति ऐन्द्रियज्ञान नहीं हैं और इनको मिलाने वाला तुरीय ज्ञान स्वतः तीनों के विचार से निर्दिष्ट होता है जो श्रुति के द्वारा परिभाषित होकर प्रामाणिक सिद्ध हो जाता है। शंकर बार-बार याद दिलाते हैं 'आत्मा च ब्रह्म'। आत्मा की खोज ही 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' से विहित की गई है। सारा जीवन जिस अपने खुद पर निर्भर करता है एवं साक्षात् या परम्परा से जिस खुद के लिये है उसको समझने का प्रयत्न न करना वेदान्ती की दृष्टि में सबसे बड़ा पाप है। महाभारत में स्पष्ट ही कहा है 'किन्तेन न कृतम्पापं चौरेणात्मापहारिणा' आत्मज्ञान न प्राप्त करके उसे आवृत रखने वाला आत्मा को चुराने वाला होने से सभी पापों का भागी हो जाता है। वस्तुतः आत्मा में अकर्तापना होने पर भी शरीरादि के अध्यास से ही कर्तृत्व है। यह अज्ञान निवृत्त होने पर स्वतः सारे किये पुण्य पाप निवृत्त हो जाते हैं। शास्त्रीय भाषा कहीं दृष्टांतात्मक, कहीं प्रतीकात्मक या संकेतात्मक हो सकती है पर साक्षात् अपरोक्ष अनुभव पर ही आधारित होती है। शास्त्र ज्ञापक है, कारक नहीं, भले ही प्रेरित करता प्रतीत हो। परन्तु ज्ञान तो प्रमाणतः ही होगा एवं आत्मज्ञान से ही मोक्ष है। अतः अपने वास्तविक रूप को ही खोजना है। नयी प्राप्ति करनी नहीं है। सुकरात, अरस्तू, रसेल, विटेन्स्टाइन, कीने, चोम्स्की आदि सभी प्राचीन व अर्वाचीन पाश्चात्य दार्शनिकों ने भाषा और परमार्थ सत्य को एक दूसरे से असम्बद्ध ही माना है। आचार्य शंकर के अनुयायियों ने नया मार्ग निकाला है जिसमें शब्द ब्रह्म को विषय न करके भी आवरणभंग करते हैं। सत्य को शब्द आवृत करते हैं तो अनावृत भी। शब्द केवल दीवाल नहीं है जो सत्य को सदा ढाके ही। भारतीय चिन्तन की सनातन विशेषता रही है कि इसने जीवन या विश्व को सर्वथा भिन्न दो भागों में

नहीं बाँटा। जीवन की अखण्डता ही सबसे बड़ी इसकी देन है। विश्व में सर्वत्र भेदवाद व द्वैतवाद ही पनपा है, चाहे धर्मक्षेत्र हो चाहे दर्शनक्षेत्र चाहे विज्ञानक्षेत्र। भारत में भी द्वैतवाद रहा है पर कभी बहुमान्य नहीं हो पाया। भारतेतर देशों में यही हाल आदर्शवाद या अद्वैतवाद का रहा है सनातन धर्म किसी भी तत्त्व को व्यावहारिक व पारमार्थिक या तात्त्विक दोनों दृष्टियों से समझने का आयास करता है। व्यावहारिक यदि विश्लेषणप्रधान है तो तात्त्विक समग्रप्रज्ञाप्रधान है। दोनों विरुद्ध लगते हैं पर यह द्वन्द्व दृष्टिभेद या अधिकारिभेद से सुलझाया गया है। शब्द को सांकेतिक मानना विश्व को सत्य मानने वाले की बाध्यता हो सकती है पर सभी बातें ऐसा मानकर स्पष्ट नहीं की जा सकती। किसी भी भाषा की अधिकतम पदराशि ऐसी है जो सांकेतिक नहीं होती। शब्द को ब्रह्म मानने पर ही यह रहस्य खुलता है। भाषा समग्र जीवन को अभिव्यक्त करती है चाहे वह आधिभौतिक हो, चाहे आधिदैविक, चाहे आध्यात्मिक। इस प्रकार अज्ञानपंक में मग्न एवं ब्रह्मनिष्ठ दोनों का काम उसी भाषा से चल पाता है। अद्वैत का आधार है कि ब्रह्मात्मैक्यानुभूति सत्य है एवं शब्दप्रमाणजन्य है। बस याद रखना है कि यह एकता अपने ही नित्य अपरोक्ष आत्मा का ज्ञान है। यह अभेद पहले से ज्ञात नहीं है यद्यपि ब्रह्म नित्य अविकारी सदा ही है। अत: वास्तविक होने से इसका बाध भी नहीं हो सकता। कोई जाने तो ब्रह्म है ऐसा नहीं है। वह तो स्वत: सिद्ध है परन्तु चूँकि वह ऐन्द्रिय या चिन्त्य नहीं है अत: शास्त्रैकवेद्य है। ब्रह्मज्ञान तो दूर रहा शास्त्र के बिना ब्रह्मजिज्ञासा भी संभव नहीं है। अत: मधुसूदन सरस्वती स्पष्ट ही विचारप्रयोजक भी श्रवण को ही स्वीकारते हैं। ब्रह्म को शब्दातीत कहने का अर्थ यह नहीं है कि शब्दातीत प्रकार से अर्थात् निषेधमुख से भी उसका प्रतिपादन न हो सके। उसे अचिन्त्य या अप्रमेय कहने का तात्पर्य यही है कि सामान्य ज्ञान के ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय त्रिपुटी रूप से उसको नहीं जाना या समझा जा सकता। तात्पर्य उसे सर्वथा अज्ञेय बताने में नहीं है। अत: केन के प्रारंभ में ही 'यन्मनसा न मनुते' आदि कहा गया है। पृ० ९२ से ११७ तक अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन इस विषय का उपस्थापित किया है। ऐसा विवेचन हमने पहली बार ही कहीं ऐसी स्पष्टता व विशदता के साथ पाया है। विषयकी कठिनता के अनुरूप भाषा का गंभीर्य होने पर भी शनै: शनै अध्ययन करने से यह सभी शंकाओं का निर्मूलन करेगा ऐसा हमारा निश्चय है।

श्रवण व मनन का फर्क भी अत्यन्त स्पष्ट किया गया है। प्रमाणविषयक संशय की निवृत्ति होकर ब्रह्म का स्वरूपनिर्णय व निश्चय ही श्रवण का फल है। अत: श्रवण काल में उपनिषदर्थ का विचार ही प्रधान होता है। उसके लिये ही तर्क का उपयोग किया जाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वेदार्थ समझने में युक्ति का स्थान ही नहीं है। 'दृष्टसाम्येन चादृष्टमर्थं समर्थयन्ती युक्तिः अनुभवस्य संनिकृष्यते' (ब्र० सू० २.१.४)। 'शक्तितात्पर्यावधारणे परं तर्कस्योपकरणत्वं न तु तस्य ब्रह्मविषयता' (न्यायनिर्णय:, वहीं)। 'तदर्थग्रहणदार्ढ्याय अनुमानमपि वेदान्तवाक्याविरोधि प्रमाणं भवन्न निवार्यते श्रुत्यैव च सहायत्वेन तर्कस्याभ्युपेतत्वात्' (जन्माद्यधिकरण) इत्यादि सर्वत्र आचार्यों ने युक्ति को सम्माननीय स्थान दिया है। परन्तु यहाँ श्रुति-विचार ही प्रधान है। मनन में चूँकि आनुमानिक पक्षों का व्यावर्तन इष्ट है अत: वहाँ अनुमान की प्रधानता एवं श्रुति की अप्रधानता होती है। ब्रह्म प्रमेय में आनुमानिकों का परस्पर विरोध दिखाने से श्रुत्यर्थ स्वत: सुरक्षित हो जाता है। यही गौडपाद ने किया एवं श्रीहर्ष ने इसका पूरा विकास किया। इस प्रकार जब अद्वैतवादी ब्रह्मस्वरूप के निर्धारण में प्रवृत्त है तो श्रुति प्रधान है पर जब वह निषेध मुख से प्रवृत्त है तो तर्क प्रधान है। लोकव्यवहार का विचार ही उसे मिथ्या सिद्ध करता है। अविद्या व तत्कार्य के विचार में तर्क का प्रयोग आवश्यक हो जाता है अन्यथा विभिन्न वादियों के साथ वार्ता का अवसर ही नहीं होगा। सत्य कभी अयौक्तिक नहीं होता यह आधार तो मानना ही पड़ता है। महावाक्य-विचार में भी इसका उपयोग होता ही है। समुपस्थित उपनिषद् में भगवान् शंकर भगवत्पाद ने तृतीय खण्ड के आरम्भ में ईश्वरसिद्धि पर विस्तृत विवेचन युक्ति से किया है। प्राय: सभी तर्कों का संग्रह यहाँ एकत्र जैसा मिलता है वैसा और कहीं नहीं मिलता। इसमें युक्ति की उपयोगिता पर व्याख्याता ने दीप्त प्रकाश डालकर उसकी उपयोगिता में चार चाँद लगा दिये है। पृ० २५४ से २७३ तक ईश्वर का युक्ति से समर्थन कर पृ० २७४ से जीवेश्वरैक्य का भी उसी प्रकार साधन किया गया है। पृ० २८६ तक विस्तृत विचार कर फिर आख्यायिका का आरंभ किया गया है। इस प्रकार जीव-ब्रह्म की एकता का विशद विचार कर महावाक्य का यौक्तिक उपपादन किया गया है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदान्त-सम्प्रदाय युक्ति का विरोधी अथवा अयौक्तिक नहीं है पर युक्ति को अपने आप में निश्चय कराने वाला नहीं मानता। युक्ति से विचार करने के प्रसंग में भी इसीलिये बीच-बीच में श्रुति को उद्धृत करता ही है। वस्तुत: अद्वैती का भाव यह है कि जिज्ञासु के पूर्ण परिवर्तन

करने में जिस शक्ति की आवश्यकता है वह अपौरुषेय वेदवाक्य में ही है, पौरुषेय युक्ति में नहीं। वेद ब्रह्म से प्रकट होने से पांचभौतिक मन से व इन्द्रियों पर आधारित प्रत्यक्ष की अपेक्षा श्रेष्ठ है। यद्यपि इस प्रकार महावाक्य ही ज्ञान कराते हैं तथापि अन्वयव्यतिरेक आवश्यक होता है इनके वाच्यार्थों से लक्ष्यार्थ को समझने के लिये। अतः उपदेश साहस्री १८.१७९ में कहा गया है 'तत्त्वमस्यादिवाक्येषु त्वम्पदार्थाविवेकतः व्यज्यते नैव वाक्यार्थो नित्यमुक्तोहमित्यतः अन्वयव्यतिरेकोक्तिः तद्विवेकाय नान्यथा' जीवेश्वरैक्य प्रतिपादक वाक्यों में जीव के स्वरूप का सामानाधिकरण्य प्रत्यक्षानुभूति से विरुद्ध होने के कारण व्यक्त नहीं हो पाता। 'मैं नित्य-मुक्त हूं' यह भान होना ही वाक्यार्थ है। इस विवेक के द्वारा अर्थात् अन्वयव्यतिरेक से जब अहं के लक्ष्य चिन्मात्र का पता लग जाता है तब ही वाक्यार्थ सद्यः स्फुट हो जाता है। इसी प्रकार आचार्य-प्रवर मधुसूदन कहते हैं 'शब्दशक्तितात्पर्यावधारणं तावद्विचारः ....अतः तात्पर्यावधारणरूपविचारस्याङ्गित्वम्।' (अद्वैतसिद्धि ३.१) 'आगम ऐक्ये मानम्। एवमनुमानमपि तत्र मानम्' (तत्रैव २.३०,३१)। शब्द से ज्ञान तभी हो सकता है जब शब्द जिस तात्पर्य से कहा जा रहा है उसका निश्चय हो एवं यह निश्चय विचार से ही होता है अतः तात्पर्य का निश्चय कराने वाला विचार तो श्रवण रूप अंगी ही है। वही आगम जीवेश्वर की एकता में प्रमाण है। इसमें अनुमान भी प्रमाण है पर वह अंग है, श्रुति से ज्ञान होने पर ही इसकी प्रवृत्ति है। वह ज्ञान अदृढ या प्रतिबद्ध है संशय या विपर्यय से। उनको हटाने में मनन और निदिध्यासन उपयोगी हैं। अतः त्वं-पदार्थ लक्षणा से ज्ञात होगा एवं वह विचार करने पर ही होगी। किंच सामान्यतः वाक्यार्थ नानापदार्थसंसर्गलक्षण होता है या भेद-परक होता है एवं महावाक्य न नानापदार्थसंसर्गपरक है न भेदपरक, अतः यह अवाच्य है 'अतोऽवाक्यार्थरूपोयं योहं ब्रह्मेति निश्चयः' (तै० वा० ब्र० ९.५३)। इस प्रकार इसे अश्रौत सिद्ध करने का प्रयास वहीं भलीभाँति निरस्त कर इसकी श्रौतता को सिद्ध किया है। घटाकाश ही महाकाश है-इस वाक्य से जैसे आकाशमात्र का ज्ञान वाक्यार्थ ही है उसी प्रकार जीव ही ब्रह्म है-इस वाक्य का अर्थ आत्ममात्र है। 'सामानाधिकरण्यादेर्घटितरखयोरिव व्यावृत्तेः स्यादवाक्यार्थः साक्षान्नस्तत्त्वमर्थयोः' (५४) 'अवाक्यार्थोऽखण्डैकरसलक्षणो वाक्यादेव साक्षात् साक्षात्प्रतिपन्नः स्यादित्यर्थः' (वहीं आ० गि० टीका)।

यद्यपि यह उपनिषद् प्रारंभ से ही त्वंपदार्थ का विचार करके उसके लक्ष्यार्थ को ईश्वर के लक्ष्यार्थ से अभिन्न बताने में तत्पर है तथापि पहले मन का मन आदि से ईश्वर का वाच्यार्थ भी स्पष्ट हो जाता है व साधक के लिये तो उसका अत्यधिक उपयोग स्पष्ट ही है। ईश्वर मानों उसके हरेक क्षण को प्रकाशित करने लग जाता है। यह बात पृ० ४३ में स्पष्ट कर दी है और इसके लिये साधन सम्पत्ति पृ० ६१ में बताई है। उस प्रसंग में सामान्य, उपासना, एवं श्रवणादि धर्मों का विस्तृत विवेचन कर साधकों का महान् उपकार किया है। पृ० ९१ में ज्ञान, समता व शांति पुष्पों से चैतन्य शिव की पूजा का सुन्दर वर्णन किया है। इसके संशयादि पाँच जो त्वमर्थ शोधन में बाधक हैं पृ० १५२ में विवेचित हैं। महावाक्यार्थ यहाँ प्रतिबोधविदित है। पृ० १७९ से २१९ तक व्याख्या ने इसका विस्तृत व सुस्पष्ट वर्णन कर ऐसा मार्गनिर्देशन किया है कि जो भी साधक इसको प्रयोग में लायेगा वह अवश्य ही वेदान्तानुभूति को प्राप्त करने में समर्थ होगा। इसे करने से ही पृ० ३१० में यक्षप्रसंग में कथित 'दर्शयित्वा तिरो भूतं' कथन स्पष्ट होता है। वहीं पर स्पर्श का विचार है। यह दोनों स्थल आधुनिक विज्ञानसम्मत विचारसरणी का भी प्रदर्शन कराते हैं व वेदान्त किस प्रकार नभभौतिकी पर प्रकाश डाल सकता है इस संभावना की ओर भी ध्यान दिलाते हैं। इसी प्रकार पृ० ३२२-२३ में साक्षी व प्रमाता के विचार को साधक के उपयोगी रूप में उपस्थापित करना व साधक को छोड़कर दूसरों को गच्छतीव आदि चिन्तन लाभप्रद नहीं है इत्यादि बताना अनेक असाम्प्रदायिकों का अर्वाचीन काल में साक्षिरूपता का ध्यान सभी को विहित करने के प्रयास पर सबल आघात है। अनेक जैनसम्प्रदाय में उत्पन्न या बौद्धसम्प्रदाय में दीक्षित धनवैभव-युक्त वैश्य इस प्रकार के कुमार्ग में साधकों को डाल रहे हैं। अतः इधर ध्यान देना आवश्यक ही था। वेदांत के मूल ग्रन्थों में इसीलिये जितना जोर निषेधवाक्यों पर है, करीब-करीब उतना ही विधि वाक्यों पर भी। भामती में षड्दर्शनविपश्चित् वाचस्पति मिश्र तो निषेध वाक्यों को सभी पर लागू मानते हैं। भगवान् भाष्यकार सर्वज्ञ शंकर भी अनेक स्थलों पर स्पष्ट करते हैं कि अज्ञान से ही राग-द्वेष से प्रयुक्त देहाभिमानी निषिद्धाचरण करता है। अज्ञान निवृत्त होने पर कारण-निवृत्ति से कार्यनिवृत्ति स्वतः ही हो जाती है। अतः यथेष्टाचरण का स्थान अद्वैतमार्ग में कहीं भी नहीं स्वीकारा गया है।

यवन (ग्रीक) दर्शन मूलतः व्यक्ति पर आधारित था। जो आधार व्यक्ति के स्वीकार किये गये थे वे प्रतिज्ञामात्र थे उन्हें अनुभव से नहीं प्राप्त किया गया था। अरस्तू से डेकार्ड होते हुये वर्तमान काल तक विश्व को यन्त्रमात्र स्वीकार किया गया अतः

तर्क अनुभूति से प्रधान बनता गया। इसी प्रकार मूसा, ईसा या मोहम्मद के अनुभूत सत्यों को या तो प्रतिज्ञामात्र से स्वीकारा गया या उसे अस्वीकृत किया गया। उन अनुभवों को स्वानुभूति की सीढी नहीं माना गया। इस प्रकार दर्शन व धर्म का द्वन्द्व प्रारंभ हुआ। परन्तु तर्क अप्रतिष्ठित है क्योंकि अनुभवों के माध्यम पर ही खड़े होकर उनका कोटिकरण, विभाजन, विश्लेषण, मितिकरण आदि कर सकता है। अतः वास्तविकता के बारे में यह निश्चित ज्ञान कराने में समर्थ नहीं हो सकता। यह अपने सत्यापन के लिये किसी अन्य पर निर्भर करेगा जो पुनः अन्य पर अतः सदा अनवस्था रहेगी। भारतीय दर्शन साहचर्य के अनुभव पर ही व्याप्ति-ग्रह पर जोर देते हैं। परन्तु यहाँ समानता की मुश्किल धर्म या आध्यात्मिक प्रत्ययों में उपस्थित हो जाती है। अद्वैत दृष्टि में ऐन्द्रिय ज्ञान को साक्षात् न स्वीकार के वृत्ति व विषय का एक चैतन्य में स्थित होना ही साक्षात् माना गया है। प्रत्यक्ष से भ्रम भी होता ही है। आत्मानुभूति ऐन्द्रिय नहीं फिर भी साक्षात् है। अतः यहाँ किसी प्रकार का भ्रम संभव नहीं। अविचार काल में अन्तःकरणादि से जोभी भ्रम हुआ था वह विचारकाल में सर्वथा निवृत्त होकर शुद्ध ज्ञान कराता है जो किसी भी परिच्छेद से रहित होने के कारण ब्रह्म से एक ही हो सकता है। सामान्यतः लोग मानते हैं कि ब्रह्म कभी अनुभव का विषय नहीं बन सकता, किसी विष्णु आदि मूर्ति या राम आदि के माध्यम से ही प्रकट हो सकता है परन्तु अद्वैती का उद्घोष है कि सभी ज्ञान वस्तुतः ब्रह्म का ही उपाधि में स्फुरण होने से वह प्रतिबोधविदित ही है। सामान्य अज्ञानी जन जानता नहीं परन्तु सभी अविछिन्न ब्रह्म की ही प्रतीति कर रहे हैं अतः ब्रह्मातिरिक्त कुछ भी कभी भी न विषय है, न आश्रय। भगवान् भाष्यकार की घोषणा है 'एकमेवाद्वितीयं परमार्थत इदम्बुद्धिकालेपि' (छा० ६.२.२)।

इस प्रकार यह उपनिषद् छोटी होने पर भी वेदान्त का सूत्र रूप में इसमें समग्ररूप से प्रतिपादन होने से भाष्यकार ने इसके दो भाष्यों का निर्माण किया। श्रीमत्परमहंस स्वामी स्वयम्प्रकाशगिरि जी महाराज ने इन भाष्यों को संग्रथित रूप से उपस्थापित कर महत्त्वपूर्ण कार्य भी किया है एवं हिन्दी में ऐसा विचारप्रधान प्रामाणिक निरूपण उपस्थित किया है जो हिन्दी भाषा के गौरव को बढ़ायेगा व ऐसा ग्रंथ रत्न होगा जिसे पढ़ने के लिये अनेक गैरहिन्दी भाषी भी हिन्दी पढ़ने का यत्न करें। वेदान्त जिज्ञासुओं के लिये भी यह अत्यन्त प्रकाशशाली रत्न होगा जिसके प्रकाश में अनेक आधुनिक शंकाओं का भी परिहार मिलेगा व वैज्ञानिक मोर्चे से आये मारक युक्ति रूपी अस्त्रों का भी बाध होगा। इसका पूर्ण लाभ उठाकर जिज्ञासु अपना सर्वविध कल्याण करें यही भूतभावन भगवान् विश्वनाथ से प्रार्थना है।

इस पुस्तक के प्रकाशन में मुद्रक जौहरी प्रिण्टर्स का सहयोग पूर्णरूप से रहा। वे धन्यवाद के पात्र हैं। संशोधन आदि कार्य में हमारे अपने ब्रह्मचारी मधुसूदन जी ने भी स्तुत्य प्रयत्न किया जिसके लिये वे आशीर्वाद के योग्य हैं। स्वामी स्वयं प्रकाश जी से हमें इस प्रकार के विचारप्रधान ग्रंथों की पूर्ण आशा है। हमारा उनको सर्वविध सुख के लिये आशीर्वाद है।

श्री दक्षिणामूर्ति मठ, काशी
माघी पूर्णिमा २०५३ वि.

भगवत्पादीय
महेशानन्द गिरि

ॐ

श्रीदक्षिणामूर्तये नमः

श्रीमच्छङ्कराचार्यकृतं

केनोपनिषद्भाष्यद्वयम्

नित्यं श्रितवटं शान्तमुमाभासितविग्रहम्। अनुमाभासितं वन्देऽभासितं माप्रभासकम्॥
कृपाकटाक्षेण समस्तलोकं सङ्ग्राहयन्तोऽपि समस्तलोकम्।
समस्तलोकेन वियोजयन्ति श्रीशङ्कराख्या मुनयो जयन्ति॥
संसारासुरमोक्षायाऽऽह्लादाय स्वप्रकाशिनीम्। श्रीशाङ्करीं नारसिंहीं माहेशीमाश्रये तनुम्॥
वचोभिर्भाष्यकारीयैः पदवाक्यविचारकैः। केनोपनिषदं श्रोतुं मन्तुं च श्रद्धयाऽऽरभे॥
सूक्ष्मार्थान् क्रमशो वक्तुं भाष्ये भाष्यकृतोऽलिखन्। मतभेदांस्तयोर्मन्दाः शङ्कन्तेऽसूक्ष्मदृष्टयः॥
अविरुद्धो यथा ताभ्यां श्रुत्यर्थः कल्पनां विना। तथा दर्शयितुं भाष्ये एकीकर्तुं प्रयत्यते॥
आचार्याणान्तु नैवेष्टा नूनमेकीकृतिर्द्वयोः। मन्दबुद्ध्युपकाराय प्रयोगोऽस्तु तथापि मे॥
क्षमन्तां कृपयाऽऽचार्या ग्रन्थकारादयो मम। आनुपूर्वीविनाशाभं साङ्कर्यमतिसाहसम्॥
जानन्तो हृद्गतं सर्वं सर्वबुद्धिप्रचोदकाः। साधु वाऽसाधु वा कर्म कारयन्तः स्वयेच्छया॥
आचार्यवचनस्पर्शं स्प्रष्टुं स्ववचनायसम्। सुधाकल्लोलिनीं कुर्वे केनभाष्यानुगामिनीम्॥
गुरूक्तीरनुसन्धाय टीके प्रतिपदं हृदि। केनद्विभाष्यं व्याकुर्वन्नुमां सेवे परेश्वरीम्॥

जैमिनीय-उपनिषद्-ब्राह्मण का अन्तिम भाग केनोपनिषत् है। सामवेद की हज़ार शाखायें थी, किन्तु आज राणायनीय, कौथुमी और जैमिनीय, तीन ही उपलब्ध हैं। जैमिनीयशाखी केरल और तामिलनाद में विद्यमान हैं। इसी शाखा को तलवकार शाखा भी कहते हैं। जैमिनि की तरह तलवकार महर्षि भी इस शाखा के महत्त्वपूर्ण अध्येता रहे। स्मार्ततर्पण में गिने जाने वाले तेरह ऋषियों में इन दोनों का नाम आता है। उस ब्राह्मण में चार अध्याय हैं। पहले अध्याय में अठारह अनुवाक हैं, दूसरे में पाँच, तीसरे में सात तथा चौथे में नौ अनुवाकों के अनन्तर दसवें से केनोपनिषत् प्रारंभ होती है। इस उपनिषत् के किसी वाक्य को विषय बनाकर बादरायण महर्षि ने पाराशर्यमीमांसा में कोई अधिकरण नहीं रखा, इससे किसी को ऐसा न लगे कि इसके गम्भीर अभिप्राय अति सरल हैं इसलिये भगवान् भाष्यकार ने प्रतिपद व्याख्या कर पुनरपि श्रुति के अभिप्रेत विशेष अर्थों का संग्रह करते हुए श्रुत्यक्षरों की बजाय श्रुतिविचारों का विवरण प्रस्तुत किया है। अतः उपनिषदों में यही एक है जिस पर पदभाष्य और वाक्यभाष्य- ये दो भाष्य उपलब्ध हैं। यद्यपि कुछेक विस्तृत मीमांसायें पदग्रन्थ में भी हैं तथापि वहाँ प्राधान्य अक्षरार्थ का है। ऐसे ही वाक्यग्रंथ भी अक्षरार्थ कहता है पर मुख्यतः वहाँ मीमांसा का साम्राज्य है। केनोपनिषत् का भाष्यानुसारी अर्थ जानने के लिये दोनों भाष्यों का अध्ययन अनिवार्य है। यह नारायणादि की दीपिकाओं से भी स्पष्ट है। अलग-अलग पढ़ने से सम्पूर्ण विचार एकत्र नहीं हो पाता अतः दोनों भाष्यों को युगपत् रखकर विचार करना भी श्रेयस्कर है। इससे जो कदाचित् दोनों भाष्यों में परस्पर आपात विरोध प्रतीत होता है उसका भी निराकरण स्वतः हो जाता है। दोनों भाष्यों में परस्पर व्याख्येयता स्पष्ट मिलती है। भाष्यों के वाक्यों में एक अक्षर भी घटाये-बढ़ाये बिना और वाक्यों की (तथा शब्दों की) आनुपूर्वी को सर्वथा यथावत् रखकर दोनों को इकट्ठा करने से इसमें किसी संदेह को स्थान ही नहीं मिलता कि आचार्यचरणों ने पदविधि और वाक्यविधि से केनशास्त्र का विवरण किया है।

भूमिकाग्रन्थः

वृत्तानुवादः

'केनेषितम्' इत्याद्युपनिषत् परब्रह्मविषया वक्तव्येति नवमस्याऽध्यायस्याऽऽरम्भः। प्रागेतस्मात् कर्माणि अशेषतः परिसमापितानि, समस्तकर्माश्रयभूतस्य च प्राणस्योपासनानि उक्तानि, कर्माङ्गसामविषयाणि च, अनन्तरं च गायत्रसामविषयं दर्शनं वंशान्तमुक्तं कार्यम्। ***समाप्तं कर्मात्मभूतप्राणविषयं विज्ञानं, कर्म चानेकप्रकारं, ययोर्विकल्पसमुच्चयानुष्ठानाद् दक्षिणोत्तराभ्यां सृतिभ्याम् आवृत्त्यनावृत्ती भवतः।***

पूर्व वृत्त का अनुवाद

'मैं' समझा जाने वाला आत्मा सुखी-दुःखी होने से स्पष्ट ही संसारी है। उपनिषत् का कहना है कि वह असंसारी ब्रह्म है। प्रत्यक्षविरुद्ध यह शास्त्रकथन यथाश्रुत सही होना संभव नहीं। अतः जीव-ब्रह्म-ऐक्यरूप विषय असंभव होने से उसे बताने वाली उपनिषत् को समझना-समझाना व्यर्थ है— यह स्वाभाविक शंका है। उपनिषद्वाक्यों का अर्थ असंभव होने से उनके पाठादि से पुण्य पा लेना चाहिये, उनके अर्थ का विचार करना वैसा ही है जैसे हवा का रंग बताने वाले ग्रंथ का विचार करना! भगवान् भाष्यकार उपनिषत् की व्याख्या प्रारंभ करने से ही बता देते हैं कि उपनिषत् का विषय असंभव नहीं है। जिसे वह ब्रह्म कहती है वह मैं-का भी साक्षी है और उस साक्षी को सुखी-दुःखी आदि संसारी समझा नहीं जाता कि प्रत्यक्षविरोध हो। अतः युक्तियुक्त विषय का प्रतिपादन करने वाले उपनिषद्ग्रन्थों का अर्थविचार अवश्य कर्तव्य है यह प्रतिज्ञा करते हैं- **परब्रह्म को विषय करने वाली 'केनेषितम्' इत्यादि उपनिषत् बतायी जाने योग्य है इसलिये यह नवाँ अध्याय प्रारंभ किया जा रहा है।** उपलब्ध जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण के अनुसार भाष्य का अध्याय-शब्द अनुवाकपरक समझा जा सकता है और 'नवमस्य' का अर्थ 'नवमानन्तरस्य' किया जा सकता है अथवा किसी शाखान्तरीय विभाजन को मान सकते हैं। इस प्रतिज्ञावाक्य में ही स्पष्ट कर दिया कि उपनिषत् का विषय परब्रह्म है। द्वितीय खण्ड के प्रारम्भ में यह सप्रमाण सिद्ध करेंगे। यद्यपि इस उपनिषत् में अपर ब्रह्म का भी प्रसंग है और भाष्यकारों ने विस्तार से ईश्वरसिद्धि की है तथापि वह साधनप्रकरण है, मुख्य प्रतिपाद्य परब्रह्म ही है। ब्रह्म दो तो हैं नहीं! सूत्रकारों ने इसी से सामान्य जिज्ञास्य विषय ब्रह्म कहा, पर या अपर विशेषण नहीं दिये और चतुर्लक्षणी में पर्याप्त रूप से पर-अपर का विचार हो गया है। किन्तु स्वकीय मतों में आग्रही वादी साधन-साध्य के भेद को न देखकर उपनिषत् के तात्पर्य को ही अन्यथा करते हैं जिससे कोई भ्रान्त न हो जाये इसलिये वेदान्त का तात्पर्य परब्रह्म है ऐसा आचार्यों को स्पष्ट करना पड़ा। ब्रह्मविद्या के हेतुभूत ग्रंथ को उपनिषत् कहते हैं, मुख्यतः तो ब्रह्मविद्या ही उपनिषत् है। अत्यन्त अभेदरूप सामीप्य से वह परमात्मा का पूरा ज्ञान कराती है, परमात्मा को निःसन्देह अपने इतने अधिक निकट बताती है कि वह हमसे अत्यन्त अभिन्न ही रह जाता है। मैं-मेरा आदि जो जड चेतन की गाँठें हैं उन्हें यह परविद्या ढीला कर देती है और संस्कारों समेत अविद्या को समाप्त कर देती है। इसलिये ब्रह्मविद्या को उपनिषत् कहते हैं। इसी ग्रंथ में (४.७) इस नाम का उल्लेख है और शंकरानन्दजी ने यही व्याख्या की है। इस विद्या को बताना योग्य है। परम पुरुषार्थ का अकेला साधन ज्ञान होने से उस ज्ञान के हेतुभूत ग्रंथ का व्याख्यान भी योग्य है। जैसे श्रुति के लिये विद्या वक्तव्य होने पर यह नवाँ अध्याय प्रारंभ हो रहा है वैसे ही नवें अध्याय से शुरु होने वाला ग्रंथ परब्रह्मविषयक है यह भाष्यकारों के लिये वक्तव्य होने से वे भी नवे अध्याय के व्याख्यान का प्रारंभ कर रहे हैं।

वेद एक संग्रथित शास्त्र है, प्रकीर्ण वचनों का संग्रह तो है नहीं। अतः वेद के वाक्यों का, अध्यायों का, काण्डों का परस्पर सम्बन्ध है। उपनिषत् समझने के लिये यह ध्यान में रखना चाहिये कि इसका सन्दर्भ क्या है अर्थात् इससे पहले क्या कहा गया है। वेद अधिकारी को क़दम-क़दम ले चलता है; साधन बताकर मानता है कि अधिकारी उनका अनुष्ठान करेगा और तब साध्यभूमि पर पहुँचने का उपाय खोजेगा। इसलिये सर्वत्र वेद कर्म-उपासना के प्रसंगों को पहले रखकर

तब परब्रह्म के विषय को उठाता है। यह जो नियम से विषयक्रम का संयोजन है वह इसे स्पष्ट करता है कि कर्म-उपासना हेतु हैं जिनसे ज्ञान हो सकेगा। यह ठीक है कि ज्ञान प्रमाणाधीन है लेकिन जिस बुद्धि में वह प्रमा उत्पन्न होनी है उसमें योग्यता के बिना प्रमाण का वही हाल होता है जो अरसिक के सामने काव्य निवेदन का। अतः बादरायण महर्षि ने कहा है कि यद्यपि ज्ञान के प्रति साक्षात् साधन अग्निहोत्रादि नहीं हैं तथापि ज्ञानोत्पत्ति के लिए सब कर्मों की अपेक्षा है। और यह हेतुता दृष्टफलक भी है अर्थात् यद्यपि अदृष्ट द्वारा ही बुद्धि में योग्यता आनी है अतः जन्म-जन्मान्तर तक प्रयास करने पड़ते हैं तथापि योग्यता जब दृष्ट हो जाये, उपलब्ध हो जाये तब हेतु पर्याप्त हो चुका यह मान लेना पड़ता है। जैसे किसी-किसी प्रदेश में उपजे साग जब वहीं के पानी में पकाये जाते हैं तो नमक डालना नहीं पड़ता, भूमि-जल के द्वारा साग में स्वतः नमक इतना होता है कि सामान्य व्यक्ति को रुचिकर हो जाता है। क्योंकि नमक डालने का फल— स्वाद में नमकीन होना— उपलब्ध हो रहा है इसलिये केवल ज़िद्द करके कि साग पकाने में बाकी मसालों के साथ नमक डालना ही चाहिये, कोई नमक डालता नहीं और डाले तो स्वाद बिगड़ता है, सुधरता नहीं। ऐसे ही कर्म-उपासना का फल खुद में उपलब्ध हो जाये तो फिर कर्म करते रहना उलटा प्रतिबंधक हो जायेगा। अत एव जन्मान्तरीय कर्मानुष्ठान से भी हेतुनिष्पन्नता हो जाती है। यह विषय भी यहाँ (४.७-८) विस्तार से कहा जाना है। यही पूर्वोत्तर काण्डों का सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए भाष्यकार कहते हैं- **इससे पूर्व श्रुति ने मन्त्रों व ब्राह्मण वाक्यों द्वारा कर्मों को पूरी तरह भली-भाँति समाप्त करा दिया है, सांगोपांग कर्मविधान हो चुका है। सारे कर्मों का आश्रय है प्राण—सूत्रात्मा। ज्ञान-क्रियाशक्ति सूत्रात्मा में ही स्वरूपतः और फलतः कर्म स्थित रह सकता है। उस प्राण की विविध उपासनायें भी बतायी जा चुकी हैं। कर्मों के अंगभूत जो पाँच या सात विभाजनों वाले साम हैं, उनकी उपासना का सफल वर्णन किया जा चुका है।** हिंकार, प्रस्ताव, आदि, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव और निधन ये सात अंगों या विभाजनों में सामगान बँटा होता है। इनमें तत्तद्दृष्टि करने से फलविशेष मिलते हैं। जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण में इनमें विभिन्न दृष्टियों के विधान हैं जैसे हिंकार में अनुदित आदित्य की दृष्टि, प्रस्ताव में अर्धोदित दृष्टि इत्यादि (१.२.४), या हिंकार में पुरोवात की, प्रस्ताव में जीमूत (बादल) की, उद्गीथ में स्तनयित्नु (गरज) की, प्रतिहार में विद्युत् की, निधन में वृष्टि की दृष्टि (१.३.१)। फल भी कहे हैं जैसे 'य एवमेतत् पर्जन्ये साम वेद वर्षुको हास्मै पर्जन्यो भवति' (१.१२.२)। ऐसी अनेक उपासनायें कही गयी हैं। कर्मानुष्ठानकाल में हिंकारादि करते हुए ये दृष्टियाँ करने से कर्म का सामर्थ्य अधिक हो जाता है और विशेष फल भी मिल जाते हैं। गायत्र से भिन्न सामगानों को विषयप्रद ही माना है- 'तदेतदमृतं गायत्रम्, अथ यान्यन्यानि गीतानि काम्यान्येव तानि' (३.७.१७)। अतः ये उपासनायें भी काम्यफल देंगी या निष्काम होकर की जायें तो चित्त शुद्ध करेंगी। इतना ही इनका बल है। हिंकारादि भक्तियों में समष्टि प्राण के ही अंगों की दृष्टियाँ होने से ये प्राण की उपासनायें हैं। उक्त ब्राह्मण में (२.४) देवताओं के प्रयास की कथा आयी है कि वाग् आदि को उद्गाता बनाकर मृत्यु व पाप से परे स्वर्ग जाने की कोशिश की। अन्त में मुख्य प्राण की शरण लेने पर ही उनका काम बना 'अनेन मुख्येन प्राणेनोद्गात्रा दीक्षामहा इति।...... न ह्येतेन प्राणेन पापं वदति, न पापं ध्यायति...... तेनापहत्य मृत्युमपहत्य पाप्मानं स्वर्गं लोकमायन्।...... स्वर्गं लोकमेति य एवं वेद।' (२.४.१ - १८-२२)। इस प्रकार प्राणोपासना का भी विधान है। **इसके बाद (द्र.जै.उ.ब्रा.३.७.१) गायत्र-साम के विषय में उपासना बतायी और फिर (३.७.३) वंश बता दिया अर्थात् गुरुपरंपरा कह दी।** 'तदेतद् ब्रह्म प्रजापतयेऽब्रवीत्, प्रजापतिः परमेष्ठिने' से प्रारंभ कर 'दृढजयन्तो लौहित्यो वैपश्चिताय दार्ढजयन्तये गुप्ताय लौहित्याय' (३.७.५.१७) तक गायत्र का वंश बताया है। चतुर्थ खण्ड में पुरुषजीवन की यज्ञमयता से प्रारंभ किया 'पुरुषो वै यज्ञः। तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत्प्रातःसवनम्' (४.२) इत्यादि। उद्गाता उपासना-समेत प्रस्ताव, उद्गान, प्रतिहारादि करे तो यजमान के तत्तदंगों को मृत्यपाशों से छुड़ाता है (४.७) और स्वर्ग दिलाता है (४.७.२)। तदनन्तर अग्नि, वायु, आदित्य, प्राण, अन्न और वाक् का संवाद है (४.८)। इनमें श्रेष्ठता का विवाद होने पर हरेक ने बताया कि क्यों वही श्रेष्ठ है। सबके वक्तव्यों को सुनकर सभी ने निर्णय किया कि सभी प्रधान हैं, एक भी यदि न हो तो सभी का बना रहना संभव नहीं 'स यन्नु नः सर्वासां देवतानामेकाचन न स्यात् तत इदं सर्वं पराभवेत्, ततो न किंचन परिशिष्येत।' (४.८.३)। सभी ने मिलकर

अपने शुद्ध अक्षरों में गायत्र का आगान किया। इस उपासना से मृत्यु व पाप्मा छोड़कर स्वर्ग लोक मिलता है। अग्नि आदि ने आस्य प्राण से गायत्र-आगान किया और स्वर्ग में प्रतिष्ठित हो गये। तदनन्तर वर्णन है कि ऋषियों ने स्वर्ग का द्वार बहुत खोजा पर उन्हें मिला नहीं। तप आदि से प्रसन्न कर इन्द्र से उन्होंने स्वर्गद्वार पूछा। इन्द्र ने ऋषियों में सबसे वृद्ध अगस्त्य को गायत्र की उद्गीथरहस्यविद्या का उपदेश दिया और तदनुसार ऋषि स्वर्ग गये। यहीं आठवाँ अनुवाक समाप्त हुआ। नवम अनुवाक में इस विद्या का वंश बताया और इसे 'शाट्यायनी गायत्रोपनिषत्' बताया है। **इस प्रकार स्पष्ट है कि यहाँ तक जो कुछ बताया वह कर्तव्यकोटि का है और उससे व्यक्त प्रपंच के अंतर्गत ही फल मिलते हैं।** इन कर्म व उपासनाओं से ही मोक्ष हो जाता होगा ऐसा भ्रम न हो इसलिये मोक्षरूप ज्यायान् अनन्त स्वर्ग का उपाय बताने के लिये नवम के अनंतर केनग्रंथ आया। **अनेक प्रकार के कर्म और कर्मों के आत्मभूत अर्थात् आश्रय रूप प्राण की विविध उपासनायें समझा दी। कर्म और उपासना में से किसी एक का भी अनुष्ठान किया जा सकता है और इन्हें मिलाकर भी अनुष्ठान हो सकता है। केवल कर्म करा जाये तो दक्षिणायनादि मार्ग से चन्द्रलोक अर्थात् स्वर्ग मिलता है तथा पुण्यक्षय होने पर लौट आना पड़ता है। कुछेक उपासनायें ऐसी हैं जिन्हें बिना कर्म भी किया जाये तो उत्तरायण मार्ग की प्राप्ति होती है और कर्म समुच्चित उपासना से तो होती है ही। इस मार्ग से ब्रह्मलोक पहुँचा जाता है जहाँ से बहुत लम्बे समय तक लौटना नहीं पड़ता। इसीसे कह देते हैं कि वह अनावृत्ति का मार्ग है अर्थात् ऐसा रास्ता है जिससे जाकर लौटना नहीं पड़ता।** किन्तु कुछ करके मिला होने से तथा देशादि में परिच्छिन्न एवं भोग्य होने से परिच्छिन्न होने के कारण यह 'न लौटना' सापेक्ष दृष्टि से ही है अर्थात् बहुत समय तक वहाँ रहना मिलता है। अथवा वहाँ भी चित्तशुद्धि का मौका होने से ब्रह्मा के उपदेश से मोक्ष भी संभव है ही अतः वहाँ होने वाले ज्ञान की अपेक्षा से, उस ज्ञान को दृष्टि में रखकर, मार्ग को अनावृत्ति का मार्ग कह देते हैं। हर हालत में कर्मकाण्ड व उपासनाकाण्ड में प्रत्येक भी और मिलकर भी संसारान्तर्गत फल ही दे सकते हैं।

सम्बन्धोक्तिः

सर्वमेतद् यथोक्तं कर्म च ज्ञानं च सम्यगनुष्ठितं निष्कामस्य मुमुक्षोः सत्त्वशुद्ध्यर्थं भवति। ***अत ऊर्ध्वं फलनिरपेक्षज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठानात् कृतात्मसंस्कारस्य उच्छिन्नात्मज्ञानप्रतिबन्धकस्य द्वैतविषयदोषदर्शिनो निर्ज्ञाताशेषबाह्यविषयत्वात् संसारबीजमज्ञानम् उच्चिच्छित्सतः प्रत्यगात्मविषयजिज्ञासोः 'केनेषितम्' इति आत्मस्वरूपतत्त्वविज्ञानाय अयमध्याय आरभ्यते।***

पूर्वोत्तर-काण्डों का सम्बन्ध

प्रश्न होगा कि यदि पूर्वकाण्ड में जो विहित है वह संसाररूप ही फल दे सकता है तो वह काण्ड ब्रह्मज्ञान के लिये अनुपयोगी होने से उसे ज्ञान का हेतु बताने वाले के रूप में सर्वत्र ज्ञानकाण्ड से पूर्व श्रुति ने क्यों रखा है? इसका उत्तर देते हैं- **सांसारिक सब कामनायें छोड़कर मोक्ष की ही कामना वाला होकर इन सब कर्म व उपासनाओं का यथाविधि ठीक तरह अनुष्ठान करने से चित्त शुद्ध होता है।** भाष्य में 'सब' कह दिया है क्योंकि 'यज्ञेन' इत्यादि श्रुति में सामान्यतः सभी कर्मों का विनियोग ज्ञान में कर दिया है। बृहदारण्यक सम्बन्धवार्तिक में भगवान् सुरेश्वराचार्य ने माना है कि विहित एवं अनिषिद्ध होने से काम्यकर्मों का ज्ञान में विनियोग मना नहीं किया जा सकता, केवल उन्हें उन फलों के लिये न किया जाये जो सांसारिक हैं, इतना ही मुमुक्षु के लिये नियम कर सकते हैं—

'निन्दाश्रुतेर्न काम्यानां कार्यताऽध्यवसीयते?।।
विधिनिन्दासमावेशो नैवमप्युपपद्यते। फलाभिसन्धिमात्रे तु निन्दायामेव युज्यते।।
उपासनं च यत्किञ्चिद् विद्याप्रकरणे श्रुतम्। तदप्यैकात्म्यविज्ञानयोग्यत्वायैव कल्प्यते।।' (श्लो. ३२७-९)।

इस प्रकार सांसारिक फलों की इच्छा से न किया जाना— इस विशेषता की दृष्टि से काम्य भी मानो नित्यकर्म

ही हो गये, अतः यहाँ टीकाकारों ने कह दिया है कि नित्य कर्मों की ज्ञानोपयोगिता भाष्यकार ने बतायी है। एवं च सांसारिक फलों की अभिलाषा छोड़कर उपासना, कर्म और इनके समुच्चय के अनुष्ठान से जो अपना संस्कार कर लेता है, अपनी सफाई कर लेता है, सुधार कर लेता है, उसमें जो आत्मज्ञान में रुकावट डालने वाली अनात्मप्रवणता— भोग-उत्सुकता— है, वह नष्ट हो जाती है। यही चित्तशुद्धि है। अनात्मा की ओर जाने से अनर्थ ही मिलता है यह उसे निश्चय हो जाता है। द्वैतरूप विषयमात्र में अनर्थप्रदता वह दोष है जो शुद्धचेतस्क व्यक्ति को स्वभावतः दीखता है। आत्मा से बहिर्भूत जितने विषय हैं उनकी सही जानकारी इतनी ही है कि शीत-उष्ण, सुख-दुःख देकर वे कृतकार्य हो जाते हैं; क्षेत्र को लाँघकर क्षेत्रज्ञ तक किसी भी तरह पहुँच नहीं पाते। यह जिस व्यक्ति को समझ आ जाता है वह फिर संसार के बीजभूत अज्ञान को ही समाप्त करना चाहता है। जब वह पाता है कि विषय मुझसे कुछ दूर ही रह जाते हैं तो सहज ही उसे जिज्ञासा होती है कि 'मैं हूँ कौन जो प्रत्यग्-रूप से ही 'विषय' किया जा सकता हूँ?' जिनका निर्वचन संभव नहीं उन देहादि से उलटा है आत्मा क्योंकि सच्चिदानन्दरूप से उसका निर्वचन है, अतः उसे 'प्रति' कहते हैं; तथा स्वप्रकाश होने से मानो वह अपने को जानता है, अतः उसे 'अक्' कहते हैं; और वह व्यापकादि होने से आत्मा है ही। एवं च सच्चिदानन्द को प्रत्यगात्मा कहा जाता है। 'अशक्यनिर्वचनीयेभ्यो देहेन्द्रियादिभ्य आत्मानं प्रतीपं निर्वचनीयमञ्चति जानातीति प्रत्यङ् स चात्मेति प्रत्यगात्मा (भामती पृ. ३७)। ऐसे जिज्ञासु को आत्मा के स्वरूप की वास्तविकता का अनुभव कराने के लिये 'केनेषितम्' आदि अध्याय आरंभ किया जा रहा है। इस तरह वेद ने जिस क्रम से उपदेश दिया है वह हर तरह संगत है।

काम्यादिफलोक्तिर्वैराग्याय

सकामस्य तु ज्ञानरहितस्य केवलानि श्रौतानि स्मार्तानि च कर्माणि दक्षिणमार्गप्रतिपत्तये पुनरावृत्तये च भवन्ति। स्वाभाविक्या त्वशास्त्रीयया प्रवृत्त्या पश्वादिस्थावरान्ताऽधोगतिः स्याद् 'अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्त्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत् तृतीयं स्थानम्' (छां.५.१०.८) इति श्रुतेः, 'प्रजा ह तिस्रोऽत्यायमीयुः' (ऐ.आ.२.१.१.४) इति च मन्त्रवर्णात्।

काम्यादि कर्मों का फल वैराग्य के लिये कहा गया है

यदि फलकामना छोड़कर अनुष्ठान करने से ही कल्याणलाभ होता है तो काम्य फल कहे ही क्यों गये? तथा निषिद्ध कर्मों के नरकादि फल शास्त्र में बताये हैं, उसका क्या प्रयोजन? दोनों का प्रयोजन यही है कि काम्य फलों में नश्वरतादि और पापफलों में दुःखरूप दोष समझकर सारे संसार से वैराग्य हो। संसार की सदोषतारूप यथार्थता का और प्रत्यगात्मा का सही ज्ञान जिसे नहीं है वह कामनापूर्वक सिर्फ़ श्रौत-स्मार्त कर्म करता रहता है जिससे दक्षिणायनादि मार्ग पाकर स्वर्ग जाता है जहाँ से शीघ्र ही लौट आना पड़ता है। किन्तु इस के लिये भी शास्त्रसंस्कार, श्रद्धा आदि चाहिये। शास्त्रादि के संस्कारों के बिना, सहज प्रवृत्ति तो प्रायः शास्त्रविरुद्ध ही होगी और उसका फल पशुओं से लेकर पौधों तक की नीच योनियों की प्राप्ति है। शास्त्रदृष्टि से रहित तो पशु भी व्यवहार करते ही हैं अतः वैसी प्रवृत्तियों का फल पशुत्वप्राप्ति उचित ही है। छान्दोग्यश्रुति (५.१०.८) ने भी बताया है कि जो कर्म व उपासना इनमें से किसी एक मार्ग पर भी नहीं चला वह क्योंकि निषिद्धाचार वाला ही होगा इसलिये वह ये छोटी योनियाँ पाता रहेगा जिनका शीघ्र ही बार-बार जन्म-मरण होता रहता है। ऐसे लोगों का तो 'जन्म लो और मरो'- यह तीसरा रास्ता है, उत्तर-दक्षिण वाले मार्गों की संभावना कहाँ? ऋक्संहिता में (मण्ड.८.१०१.१४) भी बताया है कि तीन प्रजाओं ने ज्ञान व कर्म के मार्गों को छोड़े रखा अतः कष्टमयी गति पायी। तीन प्रजाओं से स्वेदज, अण्डज और उद्भिज्ज समझने चाहिये। अथवा आरण्यक की व्याख्या के अनुसार चलने व उड़ने वाले प्राणी, रेंगने वाले प्राणी और पेड़-पौधे— ये तीन प्रजायें हैं। दोनों अर्थ उचित हैं, तात्पर्य में अंतर नहीं है। वैसे इस श्रुति को स्वामी शङ्करानन्दजी ने आत्मपुराण के आरम्भ में ग्रहण किया है। इस प्रकार काम्यफलों का कथन भी जन्मरूप होने से दुःखमय बताया ताकि

उससे वैराग्य हो और पापफल तो स्पष्ट ही दुःख कहा। अतः इन वर्णनों का भी प्रमुख प्रयोजन वैराग्योत्पादन द्वारा आत्मज्ञान कराना ही है। जब तक व्यक्ति विचार नहीं ही करता तब तक उसे संसार में ही उच्चावच भोग दिलाकर 'प्रगति' करने देना, यह आपात प्रयोजन तो है ही। यहाँ भी श्रुति का अभिप्राय यही है कि श्रौत मार्ग से सफल होगा तो श्रुति पर श्रद्धा बढ़ेगी ही और तब अवश्य श्रुत्यर्थ समझने में प्रवृत्ति करके श्रेयोमार्ग पर चल पड़ेगा।

विरक्तस्यैव ज्ञानेऽधिकारः

विशुद्धसत्त्वस्य तु निष्कामस्यैव बाह्यादनित्यात्साध्यसाधनसम्बन्धाद् इह कृतात् पूर्वकृताद्वा संस्कारविशेषो-द्भवाद् विरक्तस्य प्रत्यगात्मविषया जिज्ञासा प्रवर्तते। तदेतद्वस्तु प्रश्नप्रतिवचनलक्षणया श्रुत्या प्रदर्श्यते 'केनेषितम्' इत्याद्यया। काठके चोक्तम्

'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद् आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।।' (कठ.२.१.१)

इत्यादि।

'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायाद् नास्त्यकृतः कृतेन।

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।।'

इत्याद्याथर्वणे (मुं.१.२.१२) च। एवं हि विरक्तस्य प्रत्यगात्मविषयं विज्ञानं श्रोतुं मन्तुं विज्ञातुं च सामर्थ्यमुपपद्यते, नान्यथा।

वैराग्यवान् ही ज्ञान में अधिकारी है

प्रत्यगात्मा को सही तरह समझने की उत्कट अभिलाषा उस शुद्धमना व्यक्ति को होती है जो अनात्मभूत अनित्य विषयों से विरक्त है। राग के विषय ये ही हैं— साध्य, साधन और इनसे सम्बन्ध। इन विषयों से वैराग्य तब हो जब मन में संस्कारविशेष अर्थात् विवेक के संस्कार प्रकट हों। विवेक कदाचित् तो सभी करते हैं पर उनके संस्कारों को अविवेकसंस्कारों से तुरंत ढाँक देते हैं। इस जन्म या पूर्व अनेक जन्मों में भी किये पुण्यों से भगवत्कृपा द्वारा विवेकसंस्कार उद्बुद्ध हों तो संसार के प्रति वैराग्य हो। वैराग्य का स्पष्ट रूप यही है कि सांसारिक भोगों की कामना न हो। ऐसे पुरुषधौरेय को ही आत्मजिज्ञासा हो सकती है, अन्यथा कुतूहलमात्र होकर रह जाता है। 'केनेषितम्' आदि सवाल-जवाब से यह तथ्य स्पष्ट कर दिया है। कर्म व उपासना के प्रसंग सुनकर उनके फलों की ओर जो लुब्ध नहीं हुआ वह आगे मन आदि के मालिक को जानना चाह रहा है। इसीलिये गुरु इस आत्मवस्तु का उसे प्रदर्शन करा देंगे।

कठोपनिषद् में भी बताया है— इन्द्रियाँ बहिर्मुखी बनाकर ब्रह्माजी ने मानो हिंसा ही कर दी है, मार ही रखा है! अतः सब बाहर देखते हैं, अन्तरात्मा की ओर दृष्टि नहीं करते। अमरता चाहने वाला कोई ही बुद्धिमान् होता है जो इन्द्रियों को पलट लेता है, प्रत्यगात्मा को देख लेता है। 'इन्द्रियों को पलटने' का मतलब है साधनों से साध्य पाने के लिये इन्द्रियों को न लगाना। मुण्डकोपनिषत् का भी उपदेश है— ब्राह्मण को चाहिये कि कर्मफलों की परीक्षा कर यह समझे कि कर्म से मोक्ष नहीं मिला करता। अतः वह कर्मफल के प्रति वैराग्य करे और जिस नित्य सच्चिदानन्द को चाहता है उसके अनुभव के लिये हाथ में भेंट लेकर वेदज्ञ और परमार्थदर्शी गुरु की शरण जाये।

इस तरह निश्चित है कि वैराग्यवान् में ही प्रत्यगात्मा के बारे में श्रवण-मनन-निदिध्यासन करने का और प्रत्यगात्मा के साक्षात्कार का सामर्थ्य हो सकता है, अन्यथा नहीं। वैराग्यहीन अत एव अनात्मविषयों की ओर लोलुप व्यक्ति को आत्मजिज्ञासा होगी ही नहीं और किसी तरह थोड़ी-बहुत हो भी गयी तो विज्ञानरूप फल तक नहीं पहुँचायेगी।

जैसे जिसका जिस कर्म में अधिकार नहीं वह उसके सारे अंगों का यथाविधि संपादन करे तो भी फल से वंचित ही रहता है, ऐसे ज्ञानाधिकारी हुए बिना श्रवणादि कर भी लिया जाये तो मोक्षफलक विद्या से वंचित ही रहना पड़ता है। विवेक, वैराग्य, शमादि और मुमुक्षा— इनसे ज्ञानाधिकार मिलता है। भाष्य में 'विज्ञानम्' और 'विज्ञातुम्' दो पद हैं। विज्ञान से साक्षात्कार और 'विज्ञातुम्' से निदिध्यासन समझकर अर्थवशात् विज्ञान को 'विज्ञातुम्' के बाद समझना चाहिये। कुछ अनुवादक विज्ञान का अर्थ 'विचारप्रयोजक ज्ञान' करते हैं; पहले आत्मा के बारे में कुछ समझ हो तभी आगे उसके विषय में श्रवणादि होगा, उस समझ को विज्ञानशब्द से समझें तो शब्दक्रम यथावत् रहेगा। अथवा जिससे आत्मसाक्षात्कार होता है वे उपनिषदें विज्ञानशब्द का वाच्य हैं, उन्हें सुनने-समझने का सामर्थ्य व आत्मानुभव का सामर्थ्य विरक्त में ही होगा यह भाष्यार्थ है। उपनिषदों का अद्वितीय आत्मा में तात्पर्यनिर्णय श्रवण, अद्वैत का युक्तियों से व प्रमाणों से कोई विरोध नहीं इस निर्णय पर पहुँचना मनन तथा फिर अद्वैत निश्चय से डिगना नहीं यह निदिध्यासन है। इनसे ही आत्मज्ञान होता है जो मोक्ष देता है।

व्याख्येयतार्थं फलोक्तिः

एतस्माच्च प्रत्यगात्मब्रह्मविज्ञानात् संसारबीजमज्ञानं कामकर्मप्रवृत्तिकारणम् अशेषतो निवर्तते, 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ई.७) इति मन्त्रवर्णात्; 'तरति शोकमात्मविद्' (छां.७.१.३) इति,

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।।' (मुं.२.२.८)

इत्यादिश्रुतिभ्यश्च। ***तेन च मृत्युपदमज्ञानमुच्छेत्तव्यं, तत्तन्त्रो हि संसारो यतः।***

ग्रन्थ व्याख्या के योग्य है क्योंकि आत्मज्ञान सफल है

उपनिषत् से होने वाले अखण्डसाक्षात्कार का फल न हो तो भी उपनिषत् समझने-समझाने का परिश्रम व्यर्थ होगा अतः तत्त्वज्ञान का फल बताते हैं— **यह जो प्रत्यगात्मा को ब्रह्म समझना है इससे संसार के बीजभूत अज्ञान की पूरी तरह निवृत्ति हो जाती है। अज्ञान ही कामना और कर्म में प्रवृत्ति का करण बनकर संसार को विस्तृत करता है। अज्ञान हट जाने से संसारसमाप्ति सहज ही है।** निवृत्ति दो तरह की होती है; एक में वस्तु पुनः प्रकट हो सकती है और दूसरी में वह संभावना नहीं रह जाती। ज्ञान से अज्ञाननिवृत्ति दूसरी तरह की निवृत्ति है। अतः 'पूरी तरह' कहा। अतः यह बाध का स्थल है। **वेद में कहा है— जिसे अद्वैत का शास्त्रानुसार दर्शन हो गया उसे उस आत्मस्वरूप में कौन-सा मोह और कौन-सा शोक हो सकता है! सामवेद में कहा है— आत्मवेत्ता शोक से पार चला जाता है। अथर्ववेद की घोषणा है— जो पर (ईश्वर) और अवर (जीव) है उस अखण्ड के दीख जाने पर हृदय की गाँठ (अहंकार) खुल जाती है, आत्मविषयक सब संदेह मिट जाते हैं और इस द्रष्टा के कर्म क्षीण हो जाते हैं। इन श्रुतियों से स्पष्ट है कि उपनिषत् से होने वाला ज्ञान सफल है। मृत्यु का कारण अज्ञान है जिसके सहारे सारा संसार टिका है। औपनिषद तत्त्वज्ञान से वह अज्ञान समाप्त कर देना चाहिये ताकि दुःख समूल निवृत्त हो जाये।** प्रायः दार्शनिक अज्ञान से दुःख मानते हैं। किसका अज्ञान और वह कैसे हट सकता है, इस के बारे में अवश्य मतभेद रहता है। श्रौत का निश्चय है कि वेद मुझे अद्वितीय सच्चिदानन्द कह रहा है अतः मेरा जन्म-मरण आदि दुःख केवल इसलिये है कि मैं ख़ुद को सही तरह जान नहीं पाया। आत्मस्वरूप के अज्ञान से दुःख और उसके ज्ञान से कैवल्य— यह वैदिक को स्पष्ट है। तर्क से भी यही उपोद्बलित है। अज्ञान गैर-अज्ञान का और ग़ैर-अज्ञान को ही हो सकता है तथा वह ग़ैर-अज्ञान ऐसा ही हो सकता है जिसे स्फुरणे के लिये किसी का सहारा न लेना पड़े, अन्यथा अनवस्था होगी। बस इसी को कहते हैं— आत्मा का अज्ञान है। इससे अन्य कोई कारण संसार का तर्कसिद्ध भी नहीं और अकारण ही संसार को मान लेना तो और भी तर्कविरुद्ध है। अतः अज्ञाननिमित्तक संसार अज्ञाननिवृत्ति से निवृत्त होता है यही मोक्ष-मार्ग का आधार है। यहाँ यद्यपि बहुत-से प्रश्न उठते हैं— अज्ञान एक है या अनेक? अभी तक निवृत्त हुआ या नहीं? इत्यादि, तथापि जैसा पंचदशीकार

ने कहा है, अज्ञान स्वयं प्रश्नरूप होने से आगे उस पर प्रश्न उठा ही नहीं सकते। वह सचमुच कुछ हो तो अवश्य इन प्रश्नों का जवाब खोजा जाये। वह तो माया है जो 'सा च माया न विद्यते!' (मां.का.४.५८)। वहीं भाष्य है 'मायेत्यविद्यमानस्याख्या'। अतः यथानुभूति व्यवस्था समझकर सन्तोष करना चाहिये।

अपूर्वताप्रदर्शनम्

अनधिगतत्वादात्मनो युक्ता तदधिगमाय तद्विषया जिज्ञासा। कर्मविषये चानुक्तिः;तद्विरोधित्वाद् अस्य विजिज्ञासितव्यस्यात्मतत्त्वस्य कर्मविषयेऽवचनम्।

आत्मा अन्यत्र प्रतिपादित नहीं है

'आत्मा का अज्ञान हटाना चाहिये' सुनकर प्रश्न होता है कि 'मैं हूँ' आदि स्पष्ट अनुभव के रहते आत्मा का अज्ञान है यह कैसे कहा जा रहा है? और जब मैं स्वयं को जान रहा हूँ तो मुझे खुद को जानने की उत्कट इच्छा हो यह भी असंगत है। जिसे न जानें उसे ही तो जानने की इच्छा होती है। उत्तर है कि हम 'मैं' उसे ही समझते हैं जो मनुष्यादि है, अर्थात् शरीरादि को हम 'मैं' समझते हैं जबकि आत्मा कहा जा रहा है सच्चिदानन्द को। अतः देहादि से विलक्षण शास्त्रोक्त आत्मा का हमें अज्ञान ही है। इतना ही नहीं विभिन्न वादी आत्मा के बारे में विरुद्ध मत रखते हैं, इससे भी सिद्ध है कि आत्मज्ञान सर्वसुलभ नहीं। अतः भाष्यकार ने कहा— **क्योंकि आत्मा सही तरह समझा नहीं गया है इसलिये उसके बारे में सही जानकारी की इच्छा संगत है।**

आत्मजिज्ञासा के लिये अपेक्षित चित्तशुद्धि के उपायभूत धर्मानुष्ठान के लिये शरीरादि से भिन्न आत्मा है यह जानकारी चाहिये। शरीर तो यहीं नष्ट होता दीखता है, परलोक सम्बन्धी आत्मा न समझें तो धर्म में प्रवृत्ति हो नहीं सकती। अतः कर्मकाण्ड में ही मनुष्यत्वादि-समानाधिकरण से भिन्न आत्मा है यह समझाया जा चुका है। तब उपनिषत् से पुनः उसे क्यों समझना? इस प्रश्न का उत्तर है— **कर्मविषयक प्रकरण में आत्मा की वास्तविकता का कथन नहीं किया गया है। आत्मा का सच्चा स्वरूप कर्म का विरोधी होने से जो आत्मतत्त्व शुद्धचेता के लिये जिज्ञास्य है वह कर्मकाण्ड में प्रतिपादित नहीं है।** स्थूलदेह से भिन्न ज़रूर वहाँ आत्मा समझा दिया है पर कर्त्ता-भोक्ता को ही वहाँ आत्मा कहा है क्योंकि स्वर्गफलक यागादि विधियों को वैसा आत्मा ही अपेक्षित है। जो तो सच्चिदानन्द आत्मस्वरूप है वह वहाँ नहीं बताया क्योंकि उसे समझ लेने पर तो कर्मप्रवृत्ति असंभव है।

ज्ञानकर्मसमुच्चयप्रश्नः

कर्मसहितादपि ज्ञानादेतत् सिध्यतीति चेद्?

फलान्तरसद्भावाद् मैवमिति तदुत्तरम्

न, वाजसनेयके तस्य अन्यकारणत्ववचनात्। 'जाया मे स्याद्' (बृ.१.४.१७) इति प्रस्तुत्य 'पुत्रेणायं लोको जय्यो नान्येन कर्मणा, कर्मणा पितृलोकः, विद्यया देवलोकः' (बृ.१.५.१६) इत्यात्मनोऽन्यस्य लोकत्रयस्य कारणत्वमुक्तं वाजसनेयके।

ज्ञान व कर्म के पृथक्-पृथक् फल हैं अतः इनका समुच्चय नहीं

कर्मकाण्ड के प्रतिकूल स्वरूप वाला आत्मा वही शास्त्र बताये जो कर्मकाण्ड का विधान करता है, यह बात अटपटी है ऐसा समझकर कुछ शास्त्रीय विचारक समन्वयवाद के पक्षधर हैं। वे कहते हैं कि शास्त्र ने आत्मा को जैसा बताया वैसा समझना तो चाहिये तभी मोक्ष संभव है लेकिन उस तत्त्व को कर्मविरोधी समझकर कर्म का त्याग नहीं करना चाहिये। आत्मा की जानकारी रखते हुए कर्म करते रहने से ही मोक्ष संभव है, कर्म छोड़कर सिर्फ़ ज्ञान के सहारे मोक्ष नहीं मिलना। इन वादियों का आशय यह है कि ऐसा नहीं है कि आत्मा वास्तव में कर्ता-भोक्ता न हो। यदि कर्तृत्वादि

कल्पित होता तब उसकी व्यर्थता ही होती, व्यर्थता न मानकर उसके सत्यत्व की ही स्वीकृति है। अतः इनका साम्प्रदायिक रूप उपासन-कर्म-समुच्चय का ही है, उपासना चाहे अकर्तृ-आदि स्वरूप की मान लें। प्रपंच-मिथ्यात्व न मानने से इन्हे यह भी प्रतीत होता है कि किये बिना कुछ कैसे मिलेगा? शास्त्र मानने वाले होने से उपनिषदों को छोड़ पाते नहीं अतः इस समन्वय की कल्पना करते हैं कि जैसे अन्यान्य उपासनाओं से समुच्चित तत्तत् कर्मों के विशिष्ट फल हैं ऐसे ही आत्मज्ञान-समुच्चित कर्मों का फल मोक्ष हो जाता होगा। इस प्रक्रिया में सर्व-कर्मसंन्यास को भी स्थान रह नहीं जाता। वादियों को ही नहीं सामान्यतः भी यह प्रतीत होता ही है कि कुछ पाने के लिये कुछ करना ही पड़ता है अतः समुच्चय की शंका प्रत्येक को होती है। इसलिये भगवान् भाष्यकार तथा वार्तिककार ने बहुत विस्तार से जगह-जगह इसका समाधान किया है। आजकल यद्यपि शास्त्रीय कर्मों का समुच्चय अपेक्षित है ऐसा सामान्य लोगों को नहीं लगता तथापि ज्ञान से भिन्न कुछ-न-कुछ काल्पनिक साधन मन में रहता है जो यह निश्चय होने नहीं देता कि केवल ज्ञान से मोक्ष है। अतः आधुनिकों का मोक्ष से विरोध न होने पर भी सर्वकर्मसंन्यास से विरोध बना ही रहता है। संसार-सत्यता मन में रखकर ही उनकी कामना होती है कि संन्यासी अपने लिये न सही, दूसरों के लिये ही कुछ करे! यद्यपि वेदान्त इसे मना नहीं करता तथापि उसका कहना है कि चाहे अपने लिये, चाहे किसी के लिये, करना कभी मोक्ष नहीं देगा, बन्धन ही देगा। जिसे यह न जँचे, दूसरा सचमुच है ऐसा ही जँचे, वह अवश्य अपने व दूसरों के लिये करता हीं रहे यह सिद्धान्त है। जब यह जँच जाये— अपरोक्ष दाढर्य की ज़रूरत नहीं, श्रद्धापूर्ण निश्चय हो जाये— कि कृत से अकृत नहीं और दूसरा कुछ या कोई है नहीं, तब वह इस भ्रम में न रहे कि शास्त्रीय होने से कर्म छोड़ने योग्य नहीं। वह हर तरह ससाधन कर्म छोड़कर ज्ञान-प्राप्ति और परानिष्ठा के उपाय करे। इसी उद्देश्य से आचार्य पुनः पुनः यह स्पष्ट करते हैं कि कर्म न अकेला और न मिलकर मोक्ष का साधन है। यह शंका-समाधान से यहाँ भी स्पष्ट करते हैं— **आत्मस्वरूप की जानकारी रहे और कर्म भी चलता रहे तो क्या मोक्ष नहीं होगा?** भाष्य के 'अपि' (भी) शब्द से वादी कह रहा है कि तुम ज्ञान से मोक्ष मान रहे हो लेकिन कर्मकाण्ड को व्यर्थ करना चाह रहे हो। ज्ञान से मोक्ष हम भी मान रहे हैं लेकिन कर्मकाण्ड की सार्थकता बनाये हुए हैं। जब दोनों काण्डों की सफलता से व्यवस्था संभव है तो एक काण्ड के बाध का तुम्हारा प्रयास गलत है। किंच जो केवल ज्ञान से मोक्ष मानकर भी कर्मसमुच्चय से शीघ्रतादि वैशिष्ट्य मानते हैं उनका भी इस 'अपि' से संग्रह है। मण्डन मिश्र का कहना है कि जैसे पैदल भी पहुँच सकते हैं पर घोड़े से जायें तो आराम से व जल्दी पहुँच जाते हैं ऐसे ज्ञान से मोक्ष होगा पर साथ में कर्म रहे तो कुछ विशेषता हो जायेगी। इस तरह वे समुच्चय को उपपन्न करते हैं। अतः वे कह रहे हैं कि भले ही जैसा आप मान रहे हैं वैसे ज्ञान ही मोक्षोपाय है फिर भी यदि हम कर्म करते रहें तो क्या वह ज्ञान हमें नहीं होगा, या होकर फल नहीं देगा? ऐसे ही उनका भी संग्रह समझना चाहिये जो ज्ञान की आवृत्ति से मोक्ष मानते हैं। वे बाकी कर्म तो छोड़ना स्वीकारते हैं लेकिन आत्मस्वरूप के ज्ञान को यावज्जीवन दुहराते रहने से मोक्ष होगा ऐसी कल्पना करते हैं। आवर्तन कर्मविशेष ही है, अतः उनकी भी शंका समझनी चाहिये कि यदि अन्तिम क्षण में ज्ञान हुआ तो वह मोक्ष देने में खुद सक्षम भले ही हो लेकिन उससे पूर्व कभी हुआ ज्ञान तो आवृत्ति-सापेक्ष ही फलीभूत होगा।

इन सभी शंकाओं का विस्तार से उत्तर देना आरंभ करते हैं— **नहीं; मोक्ष के लिये कर्मसाहचर्य की कोई ज़रूरत नहीं है। वेद ने स्वयं स्पष्ट किया है कि कर्म मोक्ष से भिन्न लाभों के प्रति ही कारण बनता है। बृहदारण्यक में सारी कामना को इकट्ठा कर दिया- पत्नी, प्रजा, वित्त और कर्म, बस ये ही चीज़ें कोई भी चाह सकता है। अतः इन्हे ही सब बटोरते हैं। इनसे मिलता क्या है? आगे वहीं बताया कि इस लोक पर विजय प्राप्त करने का उपाय पुत्र है, अन्य कर्म नहीं। कर्मों से पितृलोक मिलेगा तथा उपासना से देवलोक मिलेगा। पत्नी और वित्त तो पुत्र और कर्म-उपासना के लिये हैं। इस प्रकार आत्मा से भिन्न तीन लोकों की प्राप्ति का उपाय कर्म व उपासन हैं अतः इनको मोक्ष का उपाय नहीं मान सकते।** जो शास्त्रश्रद्धावश समुच्चय मान रहा था उसे समझाया कि शास्त्र ने जब स्पष्ट ही कर्म-उपासना का मोक्ष से अन्य ही फल कहा है तब 'तमेव विदित्वा', 'नान्यःपन्था', 'ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः

पन्था विमुक्तये' आदि श्रुतियों का बाध कर कर्म की मोक्षोपयोगिता कैसे कल्पित की जा सकती है? शास्त्र एक ही है पर इतने मात्र से उसके दो काण्डों को परस्पर सापेक्ष होना पड़े यह नहीं कह सकते जब स्वयं शास्त्र उन्हें स्वतन्त्र बता रहा है। जो ज्ञानेतर कारण की कल्पना वाले लौकिक हैं उन्हें स्वयं आगे समझायेंगे कि नित्यमोक्ष का ज्ञानेतर साधन नहीं हो सकता। जो ज्ञान को मोक्ष के लिये पर्याप्त मानकर शीघ्रतादि वैशिष्ट्य के लिये कर्म मानते हैं उन्हें बता दिया कि शास्त्रीय साधनों की साधनता भी शास्त्र से ही सिद्ध होने से कर्म को जब कहीं मोक्षोपाय नहीं कहा तो ऐसी साधनता मानना अप्रामाणिक है। जो इस आशा वाले हैं कि ज्ञान ही मोक्षोपाय हो लेकिन सांसारिक भोग छोड़े बिना ही हम ज्ञान पा लेंगे और वह ज्ञान मोक्ष दे देगा; उन्हें समझायेंगे कि ज्ञान रहते कर्म हो नहीं सकता, बल्कि पारिव्राज्य होने पर ही ज्ञान मोक्ष दे सकता है। तथा जो प्रसंख्यान के समर्थक हैं उन्हें स्पष्ट करेंगे कि मोक्ष आत्मरूप होने से आवृत्ति की भी अपेक्षा नहीं रख सकता।

विरोधादपि न समुच्चयः

कस्मादिति चेद्? आत्मनो हि यथावद् विज्ञानं कर्मणा विरुध्यते। निरतिशयब्रह्मस्वरूपो ह्यात्मा विजिज्ञापयिषितः 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदम्' (के.१.४) इत्यादिश्रुतेः। न हि स्वाराज्येऽभिषिक्तो ब्रह्मत्वं गमितः कञ्चन नमितुमिच्छति। अतो ब्रह्मास्मीति सम्बुद्धो न कर्म कारयितुं शक्यते। न हि आत्मानम् अवाप्तार्थं ब्रह्म मन्यमानः प्रवृत्तिं प्रयोजनवतीं पश्यति। न च निष्प्रयोजना प्रवृत्तिः। अतो विरुध्यत एव कर्मणा ज्ञानम्। अतः कर्मविषयेऽनुक्तिर्विज्ञानविशेषविषयैव [नुक्तवि?] जिज्ञासा।

परस्पर विरोध होने से भी इनका साहचर्य असंभव है

क्या कारण है कि कर्मसहित ज्ञान नहीं हो सकता जिससे इनका समुच्चय मोक्ष दे? जब कर्मकाण्ड को प्रमाण बने रहने के लिये आत्मा चाहिये तब वेदान्तवेद्य आत्मा से ही उसका काम क्यों नहीं चल सकता ताकि वेदान्त कर्मभाग के ही शेष हो जायें? इस प्रश्न में दोनों पहलू हैं: पहली बात तो वादी पूछता है कि समुच्चय अनिवार्य न मानो लेकिन संभव क्यों नहीं मानते? शास्त्रानुसार ज्ञान बिना कर्मसाकांक्ष हुए मोक्ष देगा यह यदि स्वीकारना ज़रूरी हो तो भी यह कैसे माना जाये कि एक व्यक्ति आत्मा की वास्तविकता जानते हुए कर्म में निरत नहीं ही रहेगा? अभिप्राय है कि मोक्षेतर साध्य कर्मों से पाते रहें और ज्ञान से मोक्ष पा जायें— ये दोनों क्यों नहीं हो सकते? दूसरी शंका उसकी यह है कि कर्मविधि की अन्यथा-अनुपपत्ति से समझा आत्मा भी क्योंकि मूलतः श्रुति पर आधारित है— श्रौती अर्थापत्ति का मूल तो श्रुति है ही— इसलिये श्रुति द्वारा साक्षात् कहा आत्मा उस आत्मा से भिन्न नहीं हो सकता। श्रुति जो बात अर्थात् बता रही है उससे विरुद्ध बात साक्षात् बताये यह कैसे संभव है? अभिप्राय यह है कि वेदान्त कर्ता-भोक्ता को ही कहेंगे और उसे हम कर्मकाण्ड में समझ ही आये हैं अतः वेदान्तों का कोई स्वतंत्र विषय न होने से इनके आधार पर कर्मत्याग नहीं कराया जा सकता। कर्मापेक्षित आत्मा की ही खास जानकारी उपनिषदों से मिल सकती है अतः जो आत्मा के बारे में विशेष जिज्ञासु हो वह भले ही इनका अर्थ विचार ले, लेकिन वह कर्म छोड़कर केवल आत्मा को समझने से मोक्ष नहीं पा सकता। इसी से आधुनिकों की भी शंका व्यक्त हो जाती है: कर्म लोकत्रय का साधन है अथवा परोपकारादि इसी लोक का उपकारक है और तुम लोकत्रय नहीं चाहकर मोक्ष चाहते हो तो उसका उपाय ज्ञान अवश्य करो लेकिन जो शास्त्र या समाज से तुम्हे कर्तव्य प्राप्त है उसे छोड़ना क्यों जरूरी समझते हो? समाज से उपकृत हो तो प्रत्युपकार क्यों नहीं करते हो?

इन सबका जवाब देते हैं— ज्ञान-कर्म का साहचर्य असंभव इसलिये है कि आत्मा की सही जानकारी कर्म से विरुद्ध पड़ती है। इसीलिये उपनिषत् कर्मभाग के शेष नहीं हो सकते क्योंकि इनसे समझा आत्मा कर्मकाण्ड के उपयोग का नहीं, बल्कि उसके मिथ्यात्व का ही पोषक है। उपनिषदें तो यह बताने में तात्पर्य वाली हैं कि आत्मा

का स्वरूप ब्रह्म है, वह ब्रह्म जिसमें कोई अतिशय अर्थात् विशेषता या परिच्छेद नहीं। यहीं आयेगा 'उसे ही तुम ब्रह्म समझो, इसे नहीं जिसकी लोग उपासना करते हैं।' जब आत्मा वास्तव में अकर्ता-अभोक्ता है तो उसकी निश्चित प्रमा वाला स्वयं को कर्ता-भोक्ता मानकर कर्म में निरत कैसे रहेगा? अतः समुच्चय न केवल अनिवार्य नहीं, संभव भी नहीं है। विविदिषु के लिये संन्यास क्यों अपेक्षित है इस की चर्चा आगे (४.७) आयेगी। जैसे कोई यदि किसी भाषा को सीखना चाहता है तो उसे दूसरी भाषाओं का अभ्यास घटाते ही जाना पड़ता है ऐसे ही ज्ञान पाने की इच्छा वाले को उसके विरोधी कर्म छोड़ते ही जाना पड़ेगा, यही सार है। दूसरी शंका थी कि श्रौतार्थापत्ति से विरुद्ध श्रुत्यर्थ कैसे? इसका समाधान हुआ कि वेदान्तों में तो 'विजिज्ञापयिषित' है आत्मा, अर्थात् वेदान्तों में श्रुति तात्पर्य से आत्मा को बता रही है, आत्मयाथार्थ्य-प्रतिपादन को ही सामने रखकर उपनिषत् प्रवृत्त है। अतः यहाँ बताये स्वरूप को अन्यथा नहीं कर सकते। अर्थापत्ति तो चाहे श्रुतिप्रेरित हो, है तो पुरुषबुद्धिप्रभव ही, अतः उसे अन्यथा भी उपपत्ति होने पर छोड़ना उचित है। स्वभावसिद्ध कर्तृ-भोक्तृ स्वरूप को मानकर कर्मविधियाँ उपपन्न हैं। इस अन्यथा उपपत्ति के कारण कर्ता-आदि आत्मा श्रुति से प्रमित नहीं, अनूदित ही है। एवं च उक्त अर्थापत्ति की ज़रूरत न होने से शास्त्र में परस्पर विरोध नहीं है। यदि कहो जन्मान्तरसम्बन्धी आत्मा न मानने वाले के लिये उक्त अर्थापत्ति है, तो वह व्यर्थ है। उस अर्थापत्ति का आधार है शास्त्रप्रामाण्य : प्रमाणभूत शास्त्र विधान करता है तो अवश्य कर्म का फल है और वह इस जन्म में नहीं संभव होता तो अवश्य कर्ता का जन्मान्तर है— यही अर्थापत्ति का आशय है। शास्त्रीय विधिरूप कार्य से, उपपाद्य से, जन्मान्तर सम्बन्धी कर्ता-भोक्ता आत्मा की—उपपादक की—कल्पना है। जन्मान्तर-सम्बंधी आत्मा न मानने वाला वही है जो शास्त्र को प्रमाण नहीं मानता। उसके लिये यह अर्थापत्ति कैसे काम करेगी? और जो शास्त्र मानता है किंतु आत्मा का शास्त्रसंमत रूप जानना चाहता है वह उक्त अर्थापत्ति नहीं करेगा बल्कि जहाँ आत्मा 'विजिज्ञापयिषित' है उस वेदान्त से ही उसे समझेगा। समझने पर अकर्ता आत्मा का निश्चय हो जायेगा तो उसके लिये कर्म का विधान शास्त्र को ही इष्ट नहीं है। एवं च शास्त्र में परस्पर विरोध नहीं। एवं च स्वतंत्र विषय वाले सफल वेदान्त कर्मशेष नहीं हैं। अत एव इनके आधार पर कर्मत्याग उपपन्न है। आधुनिक शंका का भी समाधान हो गया : आत्मा 'किसी' से उपकृत हो सके तब न प्रत्युपकार का प्रसंग होगा! चाहे मैं, चाहे जो कोई भी आत्मा जब उपकार्य है नहीं तो किसके लिये कर्तव्यनिर्वाह होगा? और जो कर सकता है वह करेगा। आत्मा अकर्ता है, कर सकता नहीं तो करेगा कैसे? मिथ्या अभिमान रहते लगता था कर रहा है, सही जानकारी हो गयी, अभिमान रह नहीं गया तो करना कहीं भी संभव कैसे होगा? यथासंस्कार क्षेत्रप्रवृत्ति का आभास मना करते नहीं। अतः भोजनादि की तरह कोई उपकारादि भी प्रतीत हो जाये तो भी विरोध नहीं लेकिन करता वह नहीं है इसलिये उसके लिये 'करना चाहिये' का प्रसंग नहीं। वस्तुतस्तु यह प्रसंग विविदिषासंन्यास के उपपादन के लिये ही है। मुक्त को इससे कोई अंतर पड़ता नहीं कि लोग उसे कहते रहें 'कर्म करो; नहीं क्यों करते?' उसे तो ये शंकायें वैसे ही बालभाषित लगती हैं जैसे अर्दली को हर काम करता देखकर कोई बच्चा अपने सेनाध्यक्ष दादा से पूछे 'आपको कब ऐसा पद मिलेगा जब आप कुछ कर सकोगे?'! अतः मुक्त का कर्म असंभव बताने का प्रयोजन मुमुक्षु को दृढ विश्वास कराना है कि मोक्ष में कर्म का विनियोग नहीं।

बिना अतिशय वाला, अर्थात् जिससे अधिक अन्य कुछ नहीं ऐसा ब्रह्म—व्यापक सच्चिदानन्द—आत्मा का स्वरूप है, इतने मात्र से कर्म से उसका विरोध कैसे? इसका उत्तर देते हैं—**स्वतन्त्र सम्राट् पद पर जिसका अभिषेक हो गया वह क्या किसी के सामने झुकेगा? ऐसे ही परम प्रमाण श्रुति द्वारा जो ब्रह्मरूपता को प्राप्त कराया जा चुका है उसे किसी को नमन आदि करने की इच्छा नहीं होती। इसलिये 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा जो अपरोक्षरूप से निःसंदेह समझा हुआ है उससे कोई कर्म नहीं कराया जा सकता और न वह ही (अपने देहादि) किसी से कर्म करा सकता है। जिसके समग्र पुरुषार्थ सम्पन्न हो गये, जिसने खुद को परब्रह्म परमात्मा जान लिया उसे कोई प्रवृत्ति— न एक संघात में न किसी भी संघात में— प्रयोजन वाली नहीं लगती; और बिना प्रयोजन प्रवृत्ति हुआ नहीं करती। अतः**

कर्म से ज्ञान का विरोध निश्चित ही है। इसीलिये कर्मकाण्ड में आत्मयाथार्थ्य नहीं बताया। 'मैं हूँ' आदि सामान्य आत्मानुभव से असंतुष्ट व्यक्ति को जब वास्तविक आत्मस्वरूप के अनुभव के बारे में उपायजिज्ञासा होती है तब उसे शांत करने के लिये वेदान्त प्रवृत्त होते हैं। यागादि कर्म देवताओं की आराधना है। जो स्वयं को सर्वदेवताओं का प्रत्यगात्मा जान रहा है, अपने को उनका पशु नहीं मान रहा कि 'मुझसे वे उपकृत हों ताकि मेरा पालन करते रहें', तो वह अब कर्म क्यों करेगा? यहाँ भाष्यकारों ने विचित्र प्रयोग किया 'नमितुम्' 'नमन करना' अर्थ होता तो 'नन्तुम्' कहना पर्याप्त था। कुछ संपादक तो मानते हैं कि क्रातिब की गलती से यह पाठ बन गया है। किन्तु विष्णुदेवानन्दजी महाराज ने अपनी टिप्पणी में कहा है कि 'नमन करने वाले की तरह आचरण करने के लिये' (नम्+पचाद्यच्+आचारक्किप्+तुमुन्) यह 'नमितुम्' का अर्थ है अतः स्तुति आदि सभी व्यापारों का संग्रह हो जाता है। एवं च समस्त कर्म उपलक्षित हो जाते हैं। कोई कहेगा कि देवादि को प्रणामादि न करे पर अपने से छोटा ही मानकर किसी के लिये कुछ कर दिया करे। इसलिये भाष्यकार ने कह दिया कि उससे कोई कर्म नहीं कराया जा सकता। शास्त्र या लोक कोई ऐसा नहीं जो उसे प्रयुक्त करे। ऐतरेयभाष्य में भी आता है 'न च स नियोक्तुं शक्यते केनचित्।' माण्डूक्यभाष्यटीका में अनुभूतिस्वरूपाचार्य कहते हैं 'उक्तवस्तुज्ञानवान् न वेदकिङ्करो भवति।' (वै.३०)। कोई सूक्ष्मेक्षिका करे कि ठीक है वह आत्मा है, मत करे, लेकिन उसका कार्यकरणसंघात जो जड है, उसे उसमें आत्मधी भी नहीं है, उसके करने से आत्मा को कोई फ़रक भी पड़ना नहीं है, तो मुक्त अपने देहादि से ही करा लिया करे! इसका प्रत्युत्तर भी इसी वाक्य से दे दिया 'सम्बुद्धो न कर्म कारयितुं शक्यते'। 'शक्यते' दैवादिक का कर्तृवाच्य प्रयोग है। ज्ञानी किसी से कर्म करा भी नहीं सकता। भगवान् ने भी कहा 'नैव कुर्वन् न कारयन्' (गी.५.१३)। वह देहादि को प्रवृत्त नहीं करेगा। ऐसे ही शिष्यादि को भी कर्म में प्रवृत्त नहीं करेगा। शरीर खुद प्रवृत्त हो तो रोकेगा भी नहीं क्योंकि अकर्म में भी कर्म देखता है। शिष्यादि भी प्रवृत्त हों तो मना नहीं करेगा। इस सब में हेतु क्या? उसे स्पष्ट भासता है कि जो कुछ भी आनंद है वह मैं हूँ। अब किस प्रयोजन से करे या कराये? बिना प्रयोजन जो लीला हो सकती है तो होती रहे, वह कर्म नहीं क्योंकि 'मैं करने को प्रतिबद्ध हूँ' ऐसा समझ कर की नहीं जा रही। दूसरे को भी वह आनंद मिल जाये इसीलिये वह कर ले या देहादि व शिष्यादि से करा ले—यह भी व्यर्थ की संभावना है। दूसरा दीख रहा है तो अभी ज्ञान कहाँ? और प्रतीतिमात्र से कर्म संभव नहीं, कर्माभास भले ही हो। इसलिये आत्मयाथात्म्य-निश्चय का कर्म से विरोध ही है। अतः कर्मकाण्ड में माने गये आत्मस्वरूप से विलक्षण यह अकर्ता आत्मस्वरूप वेदान्त वेद्य है जिससे इसकी अपूर्वता अक्षुण्ण है।

भाष्य में '…अनुक्तिर्विज्ञान…' पाठ मिलता है। 'अतः' शब्द का उभयत्र सम्बंध करने से वाक्य बन जाता है 'अतः अनुक्तिः, अतः जिज्ञासा'। अथवा '…अनुक्तविज्ञान…' ऐसा यदि पाठ मिले तो अधिक स्पष्ट होगा।

क्रमसमुच्चयसमर्थनम्

कर्मानारम्भ इति चेद्? न, निष्कामस्य संस्कारार्थत्वात्। यदि हि आत्मविज्ञानेन आत्माऽविद्याविषयत्वात् परितित्याजयिषितं कर्म, ततः 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' (महा.वन.२.४९) इति अनारम्भ एव कर्मणः श्रेयान्, अल्पफलत्वाद्, आयासबहुलत्वात्, तत्त्वज्ञानादेव च श्रेयःप्राप्तेरिति चेत्?

सत्यमेतदविद्याविषयं कर्म, अल्पफलत्वादिदोषवद्, बन्धरूपं च सकामस्य, 'कामान् यः कामयते' (मुं.३.२.२), 'इति नु कामयमानः' (बृ.४.४.६) इत्यादिश्रुतिभ्यः। न निष्कामस्य, तस्य तु संस्कारार्थान्येव कर्माणि भवन्ति तन्निर्वर्तकाश्रयप्राणविज्ञानसहितानि।

पहले कर्म फिर ज्ञान यह क्रमशः दोनों का समावेश इष्ट है

क्रमसमुच्चय व्यक्त करने के लिये संक्षेप में प्रश्नोत्तर बताते हैं— तो क्या कर्म प्रारंभ ही न किया जाये? नहीं,

अवश्य करना चाहिये क्योंकि निष्काम होकर करने से वह चित्त को सुधारता है, ज्ञानयोग्य बनाता है।

प्रश्न स्पष्ट करते हैं— क्योंकि आत्मा के अज्ञान के क्षेत्र में कर्म है इसलिये शास्त्र को इष्ट है कि आत्मा के सही ज्ञान से कर्म छुड़ा दिया जाये। यदि यह बात ठीक है तो कर्म प्रारंभ ही न करना बेहतर है, कीचड़ लगाकर पैर धोने की अपेक्षा कीचड़ से दूर ही रहना अच्छा है। कर्म का फल थोड़ा-सा और कर्म करने में श्रम बहुत अधिक जबकि कल्याण-प्राप्ति होनी है आत्मतत्त्व समझने से, ऐसे में कर्म करें ही क्यों? पूछने वाले का एक आक्षेप तो यह है कि शास्त्र ने आख़िर कर्म का उपदेश दिया ही क्यों? दूसरा आक्षेप यह है कि आपने पहले माना था कि कर्म के सहारे ही जिज्ञासा उत्पन्न होती है, 'यज्ञेन विविदिषन्ति' श्रुति से आपने यह स्वीकारा। यदि अन्ततः कर्म छोड़ना है तो विचारशील उसे प्रारंभ ही क्यों करेगा? और जब वह प्रारंभ नहीं करेगा तो उसमें जिज्ञासा कैसे होगी? बिना जिज्ञासा के वेदान्त का अधिकारी कहाँ मिलेगा? निरधिकार शास्त्र होता नहीं। अतः कर्मत्याग इष्ट होने पर वेदान्त का शास्त्रत्व सुरक्षित न रहने से कर्मत्याग नहीं मानना चाहिये। जो वादी नहीं उसकी भी समस्या है कि वस्तुतः मैं कर्ता नहीं, सब समझ कर भी छोड़ना ही है तो प्रारंभ में मुझे सत्कर्म करने को क्यों कहते हो?

उत्तर देते हैं— यह ठीक है कि कर्म अविद्याक्षेत्र में है। यह भी ठीक है कि कर्म में यह दोष है कि वह थोड़ा-सा (परिच्छिन्न) ही फल देता है और स्वयं एवं अपने फल से वह बाँधने की ही कोशिश करता है। किन्तु कर्म अल्प-फल देकर बाँध ले यह उसी के लिये संभव है जो इहलोक या परलोक की कामना वाला है क्योंकि वेद ने कहा है 'जो काम्य फल चाहता है वह तत्तद् योनि में कर्मफल भोगने को पैदा होता है', 'कर्मानुसार जाना-आना यह उसी का होता है जो कामनाओं वाला है' इत्यादि। जिसे सांसारिक कामनायें नहीं उसके लिये कर्म बन्धन-हेतु नहीं होता। उसके लिये तो कर्म चित्तशुद्धि के हेतु बनते हैं। कर्मों सहित जो कर्म-सम्पादक प्राण की (सूत्रात्मा की) उपासनायें हैं वे भी चित्त को सुधारने वाली बन जाती हैं। अतः भोगों के लिये नहीं, आत्मा को जानने के लिये कर्म करने चाहिये। शास्त्र ने कर्मोपदेश इसलिये दिया कि निष्काम हो कर्म करने से मन को ज्ञान के लायक बनाया जाये। जैसे 'प्रक्षालनाद्' इत्यादि न्याय है वैसे ही 'रजः प्ररूढं मुकुरे प्रमार्ष्टुं रजो विना नह्यपरोऽस्त्युपायः' यह भी न्याय भट्ट जगद्धर ने बताया है। बर्तन साफ करने के लिये पहले राख लगाते हैं फिर उसे धो डालते हैं। इसी प्रकार सारे कर्मों से छुड़ाने के लिये पहले भोगेच्छा के बिना कुछेक कर्म कराना, फिर ज्ञान से सभी को धो डालना यह शास्त्र की प्रक्रिया संगत है। अतएव निरधिकारता का आक्षेप हट गया और शिष्य की समस्या का भी समाधान हो गया। इतना ध्यान रखना चाहिये कि पूरी तरह भोगेच्छा छूट जाये तब निष्काम कर्म करें कि चित्तशुद्धि हो, ऐसा नहीं है। धीरे-धीरे ज्ञानहेतुक कर्मों को— अर्थात् भोगेच्छा रखे बिना प्राप्त कर्मों के अनुष्ठान को— बढ़ाने से भोगेच्छा घटती जायेगी। पूरी तरह तो भोगेच्छा सिर्फ़ ज्ञान से छूटेगी। उपासना का भी संस्कार ही प्रयोजन है। 'यदेव विद्ययेति हि' (ब्र.सू.४.१.१८) अधिकरण में यह स्पष्ट है।

कर्मणः संस्कारहेतुत्वे मानम्

'देवयाजी श्रेयान् आत्मयाजी वा?' इत्युपक्रम्य, आत्मयाजी तु करोति 'इदं मेऽनेनाङ्गं संस्क्रियते' (शत.ब्रा.११.२.२.१३) इति संस्कारार्थमेव कर्माणीति वाजसनेयके।

'महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः।' (मनु.२.२८)

'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्' (गी.१८.५) इत्यादिस्मृतेश्च।

कर्म चित्तशुद्धि करते हैं इसमें प्रमाण

केवल कर्म का स्वरूप बता देने वाली विधि को उत्पत्ति-विधि कहते हैं। फल का पता अधिकार-विधि से

चलता है। तत्तकर्मों के फल उनकी अधिकार विधियों के अनुसार विभिन्न हैं। किंतु उन्हीं उत्पत्तिविधियों से विहित कर्मों से चित्तशुद्धि होती है इसमें क्या प्रमाण? उत्पत्ति-विधि का उल्लेख इसलिये कर दिया ताकि यह भ्रम न हो जाये कि चेतोविशुद्धि के लिये कोई अन्य ही कर्म बताये होंगे। कर्म तो वे ही हैं, केवल उन्हें भोगेच्छा से नहीं करना है। 'सर्वथाऽपि त एवोभयलिङ्गात्' (३.४.३४) इस व्याससूत्र में यह समझाया गया है। कर्म चित्तशोधक हैं इसमें प्रमाण देते हैं— शतपथब्राह्मण में प्रश्न उठाया कि फलकामना से जो देवताओं की पूजा करता है वह बेहतर है या जो अपने चित्त की शुद्धि के लिये कर्म करता है वह बेहतर है? उत्तर दिया कि अपनी चित्तशुद्धि के लिये करने वाला बेहतर है। वह यह समझते हुए करता है कि 'इस कर्म से मैं अपने इस अंग को शुद्ध कर रहा हूँ।' भोगेच्छा से वह नहीं करता। अतः वेद बता रहा है कि वस्तुतः तो कर्म चित्तशुद्धि के लिये ही हैं। यहाँ भाष्य में 'एव' (ही) कहकर बताया कि सांसारिक भोगों के लिये शास्त्रीय कर्म करना वस्तुतः उनका दुरुपयोग है। मनु महाराज ने भी कहा है कि पाँचों महायज्ञों से एवं अन्य यज्ञों से यह शरीर— अर्थात् शरीराभिमानी जीव का चित्त— ब्रह्मज्ञान के योग्य बनाया जाता है। भगवान् का भी कथन है— यज्ञ, दान और तप मनीषियों की पवित्रता के हेतु हैं। अतः कर्म चित्तशुद्धि करते हैं यह बात प्रामाणिक है।

उपासनाप्रयोजनम्

प्राणादिविज्ञानं च केवलं, कर्मसमुच्चितं वा, सकामस्य प्राणात्मप्राप्त्यर्थमेव भवति, निष्कामस्य तु आत्मज्ञानप्रतिबन्धनिर्माष्ट्यै भवति, आदर्शनिर्माजनवत्।

उपासना का प्रयोजन

उक्त प्रमाण से कर्म चित्तशोधक सिद्ध हो जाये, प्राणादि की उपासना चित्तशोधक है इसमें क्या प्रमाण? उपासना भी मानस कर्म ही तो है। जब विविदिषावाक्य यज्ञ, दान, तप आदि को आत्मज्ञान के लिये विनियुक्त कर रहा है तो उपासना भी विनियुक्त हो ही गयी। वह भी आत्मज्ञान में रुकावट डालने वाले दोष हटाकर आत्मज्ञान में उपकार करती है। यही बताते हैं— प्राणादि उपासना कर्म के बिना की जाये या कर्म के साथ, दोनों हालतों में भोगेच्छुक को तो उससे प्राणादि का सायुज्यादि ही मिलेगा किन्तु जो भोगेच्छुक नहीं उसके लिये वे उपासनायें आत्मज्ञान की रुकावटें हटायेंगी। 'काँच साफ करने के लिये उस पर चूना डालना पड़ता है' यह जो न्याय कर्म के लिये कहा था, वही उपासना के लिये भी समझना चाहिये। भाष्यकारों ने मुखतः यह न्याय कर्मप्रसंग में नहीं कहा, यहीं कहा है। तात्पर्य है कि कर्म तो काँच बनाने की जगह हैं और उपासना तथा भक्ति उस बने हुए काँच को साफ करने की जगह है।

पारिव्राज्यविधेश्च समुच्चयासम्भवः

तत्रैव च पारिव्राज्यविधाने हेतुरुक्तः 'किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः' (बृ.४.४.२२) इति। तत्रायं हेत्वर्थः— प्रजा-कर्म-तत्संयुक्तविद्याभिः मनुष्य-पितृ-देवलोकत्रयसाधनैः अनात्मलोकप्रतिपत्तिकारणैः किं करिष्यामः? न चास्माकं लोकः अयमनित्यं साधनसाध्यमिष्टं येषामस्माकं स्वाभाविकोऽजोऽजरोऽमृतोऽभयो, 'न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्' (बृ.४.४.२५,२३) नित्यश्च लोक इष्टः।

संन्यास विहित होने से भी समुच्चय संभव नहीं

यदि श्रुति को इष्ट होता कि आत्मज्ञान के साथ कर्म बना रहे तो वह स्पष्ट कारण कहकर संन्यास की विधि न करती। विधि है अतः ज्ञान का कर्म से समुच्चय श्रुति को स्वीकृत नहीं। यह बताते हैं— श्रुति में ही बताया गया है कि संन्यास के विधान में कारण क्या है; श्रुति ने कहा है 'जिन हम लोगों का यह आत्मा ही लोक है, ऐसे हम लोग प्रजा से क्या करेंगे?' यहाँ 'प्रजा' शब्द से विद्या और कर्म भी समझ लेने चाहिये। अतः इसका अभिप्राय समझाते हैं—

श्रुति में जो यह हेतु बताया कि 'क्योंकि आत्मा ही हमारा लोक है इसलिये हमें प्रजा से क्या?'— उसका तात्पर्य यह है : प्रजा मनुष्यलोक की उन्नति का साधन है। कर्म पितृलोक की और कर्म समेत उपासना देवलोक की प्राप्ति का साधन है। अनात्मभूत विषयात्मक लोकों की प्राप्ति के ही ये उपाय हैं। साधनों से मिलने वाले अतएव अनित्य इन तीनों लोकों को हम चाहते नहीं क्योंकि हमें केवल नित्य 'लोक' की अभिलाषा है जो स्वाभाविक है अर्थात् हमसे अलग नहीं है कि 'मिले'; उसका उत्पत्ति से कोई सम्बन्ध नहीं; उसमें बुढ़ापा और मौत नहीं है; कोई दूसरा नहीं कि वहाँ किसी तरह का डर हो; कर्म से वह न बढ़ता है न घटता है। ऐसा ही लोक चाहने वाले को प्रजादि साधनों से क्या मतलब? आत्मा को 'लोक' इसलिये कह दिया कि उसकी सर्वथा अभासमानता प्रतीत न हो और प्राप्तव्यता भी पता चल जाये। अथवा 'प्रजया' के अनुरोध से 'अयं लोकः' मतलब पृथ्वी लोक। प्रजा से पृथ्वी लोक ही साध्य है। वह पृथ्वी लोक हमारा आत्मा ही है, क्योंकि आत्मा सर्वात्मक है। अतः प्रजा से कोई प्रयोजन नहीं। इसी तरह स्वर्गादि लोक भी आत्मा ही हैं अतः उनके साधनों का भी प्रयोजन नहीं यह तात्पर्य है। अमलानन्दस्वामी की ऐसी व्याख्या है।

मोक्षे ज्ञानेतरहेत्वभावाच्च

स च नित्यत्वाद् न अविद्यानिवृत्तिव्यतिरेकेण अन्यसाधननिष्पाद्यः।

मोक्ष का हेतु ज्ञान ही है, और कोई नहीं

शंका होगी कि चाहे नित्य आत्मलोक ही इष्ट हो, फिर भी कर्म से तुम्हे प्रयोजन कैसे नहीं? आख़िर मोक्ष भी फल तो है ही और जैसे स्वर्गादि फल कर्म के बिना नहीं मिलते ऐसे मोक्ष फल भी कर्म के बिना नहीं मिलेगा। जो तो तुमने कह दिया कि वह 'स्वाभाविक' है, वह बात ठीक नहीं क्योंकि तब तो बन्धनावस्था और मोक्षावस्था में कोई अन्तर नहीं रहा। फिर नित्यलोक को इष्ट कहना नहीं बनेगा। अतः सब सहज मुक्त हैं नहीं, मुक्त होना चाहते हैं तो कर्म करने ही चाहिये जिनसे मोक्ष मिले। लौकिकों की भी शंका है कि समझने मात्र से अतिरिक्त कुछ तो उपाय होगा जिससे मोक्ष मिले। इन दोनों शंकाओं का समाधान करते है- **वह मोक्षरूप आत्मलोक नित्य है। अतः अज्ञान हटने से अतिरिक्त कोई उपाय नहीं जिससे वह सिद्ध हो।** मोक्ष यदि कर्म का कार्य हो तो स्वर्गादि सभी कर्मजन्य वस्तुओं की तरह अनित्यादि होने से मोक्ष ही नहीं रह जायेगा। सभी मोक्षवादी उसे मानते नित्य हैं। वादी न भी मानें तो भी श्रुति में जिनकी बात चल रही है उन्होंने कहा ही कि वे केवल नित्य लोक चाहते हैं। नित्य होने के लिये उसे सहज-स्वाभाविक होना पड़ेगा अतः वह आत्मरूप ही हो सकता है। रही बात कि फिर बंधन क्या है? तो जैसे कर्ण की नित्य ही कौन्तेयता थी लेकिन अविद्या से अपने को राधेय समझता था। जब उसे सही बात पता चली तो मानो उसकी राधेयता हट गयी और कौन्तेयता मिल गयी। इसी तरह अविद्या और तत्प्रयुक्त ही बंधन है। अविद्या हट जाने से मोक्ष 'मिल' जाता है। यह अंतर बंधन और मोक्ष में है। अभी भी हैं हम मुक्त लेकिन हमें इसकी जानकारी नहीं। जानकारी होने पर भी हम मुक्त ही रहेंगे, कुछ नये नहीं हो जायेंगे, केवल गैर-जानकारी तब नहीं रह जायेगी। इसलिये कर्म से मोक्ष नहीं सिर्फ ज्ञान से है यह निश्चित है। व्यावहारिक बात तो इतनी ही है लेकिन एक सैद्धान्तिक पहलू याद रखना चाहियेः सच्ची चीज़ें या तो नष्ट नहीं होती और होती भी हैं तो सूक्ष्मरूप से बनी, रहती हैं। यदि अविद्या- 'मैं मुक्त हूँ' इसकी ग़ैर-जानकारी- सच्ची हो तो निवृत्त होगी नहीं, अगर हुई तो सूक्ष्मरूप से बनी रहकर भय का अत एव बन्धन का ही कारण बनी रहेगी अर्थात् मोक्ष असंभव हो जायेगा। आत्मा में सचमुच अविद्या हो और फिर सचमुच ही उसमें न रहे तो आगमापयी विशेषताओं वाला होने से आत्मा भी विकारी आदि होने लगेगा। अत एव श्रुति ने उसे अविद्या रूप पर-अक्षर से परे कहा (मुं.२.१.२), नानात्व का सर्वथा निषेध किया (कठ.४.११), शरीर के जन्म-मरण होने पर भी उसे जन्मादिरहित बताया (कठ.२.१८), यही घोषणा की कि बद्ध मुक्त होता हो ऐसा नहीं, मुक्त ही मुक्त होता है (कठ.५.१)। गीता में भी भगवान् ने स्पष्ट किया कि भेदकाल

में ही मुझमें भेद नहीं (९.४-५)। अपापविद्ध श्रुति का (ई. ८) भी यही अभिप्राय है। माण्डूक्य कारिका में इसे और स्पष्ट किया है। अत: अविद्या भी मिथ्या ही है, सचमुच नहीं है। मिथ्या वस्तु ही प्रतीतिकाल में भी बिना हुए रह सकती है अत: उसकी 'निवृत्ति' भी ऐसी होती है कि वह सूक्ष्मरूप से भी न बचे। होती तो किसी रूप में बचती! इसी को बाध कहते हैं कि सूक्ष्मरूप में भी न बच जाना। मिथ्या की निवृत्ति सत्य ज्ञान से ही हुआ करती है, उपायान्तर उसके लिये व्यर्थ हैं। अत: जो नित्य लोक की गैर जानकारी से पीडित हुआ उस पीडा से छूटना चाहता है और नित्य लोक पाना चाहता है उसे फिर अनित्य लोकों के उपायों से कोई प्रयोजन नहीं, ज्ञानोपाय से ही प्रयोजन है यही उचित व शास्त्रसंमत है।

ज्ञानसंन्यासयोरेव समुच्चय:

तस्मात् प्रत्यगात्मब्रह्मविज्ञानपूर्वक: सर्वैषणासंन्यास एव कर्तव्य इति। कर्मसहभावित्वविरोधाच्च प्रत्यगात्मब्रह्मविज्ञानस्य; न हि उपात्तकारकफलभेदविज्ञानेन कर्मणा प्रत्यस्तमितसर्वभेददर्शनस्य प्रत्यगात्मब्रह्मविषयस्य सहभावित्वमुपपद्यते, वस्तुप्राधान्ये सति अपुरुषतन्त्रत्वाद् ब्रह्मविज्ञानस्य। ***उत्पन्नात्मविद्यस्य त्वनारम्भ:, निरर्थकत्वात्।***

'कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते।

तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति यतय: पारदर्शिन:।।' (महा.शां.२४२.७) इति,

'क्रियापथश्चैव पुरस्तात् संन्यासश्च, तयो: संन्यास एवात्यरेचयत्' (द्र.महाना.२१.२) इति,

'त्यागेनैके' (कैव.२), 'नान्य: पन्था विद्यते' (ऋ.सं.१०.९०.१८) इत्यादिश्रुतिभ्यश्च।

ज्ञान के साथ संन्यास का समुच्चय ही योग्य है

इसलिये प्रत्यगात्मा की ब्रह्मरूपता के अनुभवपूर्वक सब एषणाओं का संन्यास ही करने योग्य है, कर्म नहीं। 'अनुभवपूर्वक' का मतलब यदि लें 'अनुभव हो चुकने पर', तब यहाँ विद्वत्संन्यास कहा जो विधेय नहीं, ज्ञान का स्वाभाविक फल है। जैसे रस्सी दीख जाने पर भागना छूट जाना स्वाभाविक है ऐसे ब्रह्मज्ञान हो जाने पर प्रवृत्ति छूट जाना स्वाभाविक है। यदि 'अनुभवपूर्वक' में अनुभव का मतलब परोक्षज्ञान लें अथवा 'अनुभवपूर्वक' का मतलब लें अनुभव अर्थात् अपरोक्ष ज्ञान है पूर्व में अर्थात् उद्देश्यरूप से सामने जिसके, तब यहाँ विविदिषु का संन्यास कहा जा रहा है। जब ब्रह्मानुभव ही एकमात्र इष्ट हो तब शास्त्रादि से प्राप्त कर्तव्यों का शास्त्रानुसार त्याग कर उस अनुभव की प्राप्ति में ही पूरी तरह लगना योग्य है यह अभिप्राय है। जिसे शास्त्र से कर्तव्य प्राप्त नहीं वह बिना शास्त्रविधि के ही जो कुछ लोकत्रय के उपाय रूप से कर रहा है वह सब छोड़कर केवल साक्षात्कार का उपाय करे यह भी समझ लेना चाहिये। इस तरह ज्ञान के अंतरंग साधनों के साथ तथा स्वयं ज्ञान के साथ संन्यास ही रह सकता है, कर्म नहीं। यहाँ भगवान् भाष्यकारों ने 'सर्वैषणा-संन्यास' कहा। यद्यपि एषणा से ससाधन कर्म भी अभिप्रेत हैं तथापि एषणाशब्द के प्रयोग से स्पष्ट किया कि ज्ञानी में कर्म रहे तो भी एषणा (कामना) तो नहीं ही रहेगी तथा विविदिषु अचानक सारे कर्म तो छोड़ नहीं सकता इसलिये वह एषणाओं को छोड़ना प्रारंभ करे। अत: पहले एषणा छोड़ते हुए कर्म करता रहेगा। यह भी एक संन्यास है, गौण ही सही; गीता के अट्ठारहवें अध्याय में इसे समझाया है। फिर जब सामर्थ्य आ जाये तो कर्म भी छोड़ दे। हर हालत में एषणायें रखकर कर्म छोड़ने का मिथ्याचार न करे क्योंकि उससे वह दु:खी ही बना रहेगा, परमार्थ या ऐहिक-पारलौकिक कोई कल्याण नहीं पायेगा। अत: एषणा-पद का प्रयोग सार्थक है।

संन्यास ही क्यों योग्य है, कर्म-ज्ञान का साहचर्य नहीं, इसमें हेतु देते हैं— **यह विरुद्ध बात है कि प्रत्यगात्मा की ब्रह्मरूपता का अनुभव और कर्म साथ रहें। क्रिया के कारणों का परस्पर भेद, क्रिया से उनका भेद, क्रियाफलों का परस्पर भेद, कारणों से फलों का भेद तथा क्रिया से फलों का भेद; इन भेदों के अनुभव को ग्रहण कर—**

पकड़ कर, अर्थात् ये वास्तविक हैं ऐसा निश्चय रखकर—किया जा सकता है कर्म। प्रत्यगात्मा की ब्रह्मरूपता के बारे में निःसन्दिग्ध अपरोक्ष जानकारी होने पर सारा ही भेद-दर्शन छूट जाता है, पकड़कर नहीं रखा जा सकता, कोई भी भेद वास्तविक है यह निश्चय बना रह नहीं सकता। ऐसी स्थिति में ज्ञान व कर्म का साथ-साथ होना कैसे संगत है!

आत्मा ब्रह्म है यह अनायास तो किसी को पता चलता नहीं अतः यह ज्ञान करना पड़ेगा। करने का कोई निश्चित ढंग होगा ही। वही ढंग तो शास्त्र बताता है। शास्त्रोक्त ढंग के जो हिस्से हैं उनमें भी शेष-शेषिभाव होगा यह स्वाभाविक है। वह ढंग करने वाला, जिससे सीखेगा, जो पायेगा इत्यादि भी सब विभिन्न होंगे ही। तो जैसे कर्म भेददर्शन पकड़े रहकर होता है वैसे ही ज्ञान भी, तब यह कैसे कहा कि अपरोक्ष जानकारी में सब छूट जाता है? ज्ञानोत्पत्ति के लिये भेद पकड़े रहने हैं तो उस काल में कर्म संभव ही है अतः विविदिषा-संन्यास का प्रसंग कहाँ? कर्मनिष्पत्ति भेदसे है अतः निष्पन्न कर्म भी भेदनिष्ठ माना जाता है ऐसे ही भेद से निष्पन्न ज्ञान भी भेदनिष्ठ रहेगा तो विद्वत्संन्यास का प्रसंग कहाँ? इस समस्या को सुलझाते हैं— **ब्रह्मानुभव में विद्यमान वस्तु की प्रधानता है, पुरुष क्या करता या नहीं करता इस पर वह अनुभव निर्भर नहीं करता। अतः इस अनुभव का करने के क्षेत्र वाले कर्म से साहचर्य संगत नहीं।** सभी अनुभवों में प्रधान होता है जिसका अनुभव है वह और जिससे अनुभव हो रहा है वह साधन। जिसे अनुभव हो रहा है वह पुरुष इस दृष्टि से तो सर्वप्रधान है कि रह अनुभव उसी में रहा है लेकिन 'क्या अनुभव हो रहा है'— इस पर उसका कोई नियंत्रण नहीं। इसीलिये तो सारे अनिष्ट अनुभव होते रहते हैं। करने के ढंग की प्रधानता वहीं होती है जहाँ करने वाला क्या करे- कैसे करे इसमें स्वतंत्र हो और करने से फल हो। अनुभव के प्रसंग में करने वाला परतंत्र है। साधन तैयार करने में तो स्वतंत्र है क्योंकि कुछ करना है जिससे कुछ होगा, साधन तैयार होगा। लेकिन साधन तैयार हो जाने पर फिर वह परतंत्र है क्या अनुभव हो इसमें। जैसी वस्तु होगी वैसा ही उसका अनुभव होगा। इसमें कोई ढंग या कोई कोशिश काम नहीं करेगी। अतः साधन की तैयारी तक भेद का अवलम्ब है यह ठीक है किन्तु उसके बाद नहीं। यह अंतर है कर्म और ज्ञान में। कर्म अंत तक—अर्थात् फलावस्था तक—भेद के सहारे है। ज्ञान में ऐसा नहीं। यद्यपि प्रमा के करण, अधिकरण, कर्म आदि भेद होने पर ही प्रमा उत्पन्न होती है तथापि क्योंकि प्रमा को उत्पन्न करना पुरुष का काम नहीं, उसका काम तो प्रमाण तैयार कर उसे प्रमेय से सम्बद्ध करते ही ख़तम हो जाता है, इसलिये प्रमा के करणादि भेदों को वह पकड़े रहे इसकी कोई जरूरत नहीं रह जाती। पुरुष को कोई चेष्टा करनी हो तो वह भेदनिश्चय के प्रति जागरूक रहे भी। जब उसे कुछ करना नहीं तो याद रखना व्यर्थ है। बल्कि उसे याद रखने में लगा रहेगा तो प्रमा ही ठीक से हो नहीं पायेगी। लौकिक सूक्ष्म चीज़ों के अनुभव के समय ही बहुतेरी बातें भूल-सा जाना आवश्यक होता है तो इस सूक्ष्मातिसूक्ष्म को ज़ानने के लिये भेद-विस्मरण चाहिये यह कौन आश्चर्य है। इसलिये विविदिषासंन्यास की आवश्यकता स्पष्ट है। कर्म करता रहेगा तो भेद-संस्कार दृढतर होते रहेंगे जिससे अभेद का प्रमात्मक निश्चय और मुश्किल ही होगा। अत एव विद्वत्संन्यास भी निश्चित है। ज्ञान उत्पन्न होने के लिये भेद पकड़े रहना जब अनावश्यक है, बल्कि उसकी ओर बेख़बर रहना ही आवश्यक है तो उत्पन्न हुआ ज्ञान भी भेद पकड़े रहने की ज़रूरत नहीं रख सकता। भेद है या नहीं- इस विवाद का अभी अवसर नहीं; यहाँ इतना ही विवक्षित है कि जो व्यक्ति ज्ञान के योग्य हो चुका उसे तथा जिसे ज्ञान हो चुका वह, ये दोनों भेद पकड़े नहीं रह सकते। इतने से ही ज्ञान-कर्म का साहचर्य असंभव सिद्ध हो जाता है।

यद्यपि कर्म की ज़रूरत ज्ञान के लिये है, क्योंकि कर्म से ही चेतोविशुद्धि आदि सामग्री जुटेगी, तथापि जिसके पास सामग्री जुट गयी उसे कर्म नहीं चाहिये और जिसे ज्ञान हो गया उसे तो और भी नहीं चाहिये। शास्त्र का कर्मोपदेश इन दोनों के लिये है ही नहीं। यही बताते हैं— **जिसे आत्मज्ञान हो गया, वह कर्मारंभ नहीं करता क्योंकि उसके लिये वह निरर्थक है, प्रयोजनहीन है। शास्त्र ने भी उसे अधिकारी मानकर कर्मविधान किया नहीं है। बल्कि वह तो कहता है— 'कर्म से जन्मधारियों को बंधन ही मिलता है, छूटते तो विद्या द्वारा हैं। इसलिये जिन्होंने संसार सागर का परला**

किनारा पा लिया वे यति लोग कर्म नहीं करते।' यह तो व्यासजी का वचन है। स्वयं वेद ही बताता है 'क्रिया का मार्ग और संन्यास, दोनों सामने हैं। इनमें संन्यास ही अतिरिक्त विशेषता वाला है, क्रिया पथ को लाँघकर जाने वाला संन्यास ही है।' कैवल्य शाखा की उपनिषत् कहती है कि कर्म, प्रजा या धन से नहीं बल्कि त्याग से ही कुछ ने अमरता पायी है। ऋग्वेद ने भी कहा है कि 'ज्ञान से अन्य कोई रास्ता नहीं है जिससे संसार से पार जाया जा सके।' अतः ज्ञान का कर्म से साहचर्य असंभव होने से समुच्चय को स्थान नहीं।

तत्र लौकिकयुक्तिः

न्यायाच्च। उपायभूतानि हि कर्माणि संस्कारद्वारेण ज्ञानस्य। ज्ञानेन त्वमृतत्वप्राप्तिः, 'अमृतत्वं हि विन्दते' (के.२.४), 'विद्यया विन्दतेऽमृतम्' (के.२.४, मनु.१२.१०४) इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यश्च। न हि नद्याः पारगो नावं न मुञ्चति यथेष्टदेशगमनं प्रति स्वातन्त्र्ये सति।

लौकिक युक्ति से भी यह सिद्ध है

युक्तिसंगत भी यही है कि ज्ञान होने पर कर्म छूट जायें। ज्ञान की प्राप्ति में कर्म उपाय बनते हैं क्योंकि कर्म मन में वह अपेक्षित सुधार लाते हैं जिससे मन शास्त्र से आत्मा का सही स्वरूप समझ पाता है। अमृतता की प्राप्ति तो ज्ञान से होती है। यहीं कहेंगे (२.४) कि सारे ज्ञानों के साक्षी की ठीक समझ हो जाये तो अपने से अभिन्नकर अमृतता मिल जाती है। विद्या से अमृत-पद प्राप्त होता है यह मनुवचन भी है। जो नदी के दूसरे किनारे आना चाहता है वह नाव पर बैठकर उस तट तक जाता है। आगे उस पार वाले चाहे जिस स्थान जाने के लिये स्वतन्त्र हो और फिर भी नाव न छोड़े, उसी पर बैठा रहे, ऐसा नहीं होता! इसी तरह चित्तशुद्धि से ज्ञान पाकर सर्वकर्तव्यताहानि की स्थिति पाने के लिये कर्म आरंभ किये थे। चित्त शुद्ध होने के बाद क्या उन कर्मों को ही पकड़े रहना ठीक है? और फिर शुद्धि का भी फलभूत ज्ञान सिद्ध हो जाने के बाद क्या लौटकर कर्म करना सम्भव है? अतः मुमुक्षु व मुक्त दोनों का संन्यास ही संगत है जिससे समुच्चयपक्ष किसी भी तरह बनता नहीं।

मोक्षरूपात्मनः क्रियाफलत्वाऽयोगः

न हि (i) स्वभावसिद्धं वस्तु सिषाधयिषति साधनैः, स्वभावसिद्धश्चात्मा।

(ii) तथा नाऽऽपिपयिषितः, आत्मत्वे सति नित्याप्तत्वात्।

(iii) नाऽपि विचिकारयिषितः, आत्मत्वे सति नित्यत्वाद, अविकारित्वाद, अविषयत्वाद, अमूर्तत्वाच्च। श्रुतेश्च 'न वर्धते कर्मणा' (बृ.४.४.२३) इत्यादि। स्मृतेश्च 'अविकार्योऽयमुच्यते' (गी.२.२५) इति।

(iv) न च सञ्चिकीर्षितः, 'शुद्धमपापविद्धम्' (ई. ८) इत्यादिश्रुतिभ्यः। अनन्यत्वाच्च; अन्येनान्यत् संस्क्रियते, न चात्मनोऽन्यभूता क्रियाऽस्ति, न च स्वेनैवात्मना स्वमात्मानं सञ्चिकीर्षेत्।

मोक्ष आत्मरूप होने से क्रियाफल नहीं

क्रिया का फल चार ही तरह का हो सकता है— उत्पाद्य, प्राप्य, संस्कार्य या विकार्य। मोक्ष आत्मा का निरपेक्ष स्वरूप है अतः इन चारों रूपों वाला है नहीं कि कर्म से उसका लाभ हो। यही समझाते हैं— १) स्वभाव से ही जो चीज़ सिद्ध हो, विद्यमान हो, उसके बारे में कोई नहीं चाहता कि साधनों से उसे सिद्ध करें, सत्ता में लायें। मोक्षरूप आत्मा तो स्वभावसिद्ध है ही। उसे क्रिया द्वारा सिद्ध कौन करना चाहेगा?

२) जो चीज़ हमें मिली हुई न हो, उसे पाने के लिये क्रिया करें यह ठीक है। मोक्ष तो हमारा आत्मा है अतः हमें हमेशा मिला ही हुआ है। उसे पाने की इच्छा संभव नहीं कि उसके लिये कोई क्रिया की जाये। यहाँ भाष्य

में कहा 'आत्मा होते हुए सदा प्राप्त है।' सीधा अर्थ यही है कि क्योंकि आत्मा है इसलिये सदा प्राप्त है। अथवा तात्पर्य है कि कुछ प्राप्त वस्तुओं की भी प्रकारान्तर से प्राप्ति अभीष्ट होती है। जैसे धरोहररूप में अपने पास पड़ी चीज़ को भी हम अपनी संपत्ति के रूप में पाना चाहते हैं अथवा किराये पर जहाँ रह रहे हैं उसी मकान को 'अपना' इस रूप में पाना चाहते हैं। अतः केवल नित्य प्राप्त कहते तो संभावना होती कि उसे प्रकारान्तर से पाने के लिये क्रिया का उपयोग हो जाये। उसे हटाने के लिये कह दिया वह हमेशा ही आत्मा है। भासमान आनंद ही पुरुषार्थ है। आत्मा होने से वह भासमान बता दिया, अब किस दूसरे प्रकार से वह पाना इष्ट हो सकता है? इसलिये भाष्य में उसकी आत्मता व प्राप्तता दोनों कहीं। यद्यपि ज्ञातरूप से उसे पाना इष्ट है ही तथापि प्रसंग चल रहा है क्रिया से पाने का अतः उसी का निषेध यहाँ किया जा रहा है।

३) क्रिया से बिगाड़ भी किया जा सकता है किंतु मोक्ष तो हम ख़ुद हैं तो अपना बिगाड़ कौन करना चाहेगा? नित्य, अविकारी, अविषय और अमूर्त (अवयवहीन-व्यापक) होने से इसका बिगाड़ कर सकना संभव भी नहीं है। श्रुति से भी निश्चित होता है कि कर्म से आत्मा को बढ़ा-घटा नहीं सकते अर्थात् उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकते। भगवान् ने भी आत्मा को अविकार्य कहा, उसे बिगाड़ा नहीं जा सकता। अथवां विकार मतलब कार्य, जैसे दूध का विकार दही है या सोमलता का विकार सोमरस है। मोक्ष आत्मा है न कि कोई कार्य अतः वह क्रिया का विकाररूप फल न होने से उसके लिये क्रिया सार्थक नहीं।

४) क्रिया से किसी चीज़ को सुधारा जा सकता है लेकिन आत्मा तो शुद्ध है, सहज या आगन्तुक किसी दोष वाला नहीं कि इसे सुधारना पड़े। किंच एक पदार्थ से किसी क्रिया द्वारा दूसरे पदार्थ को सुधार सकते हैं। आत्मा तो सबसे अनन्य है, अभिन्न है। उससे न कोई पदार्थ अन्य है, न क्रिया। ख़ुद से ख़ुद के द्वारा ख़ुद का सुधार कैसे चाहा जाये? अतः इस फल के लिये भी क्रिया नहीं चाहिये। यहाँ भाष्य में 'संचिकीर्षितः, संचिकीर्षेत्' पाठ है। संस्कार अर्थ में सुट् आगम होना चाहिये किन्तु सन्प्रत्ययान्त की धातुसंज्ञा होने से, सुट् का नियम कृ-धातु के लिये ही है, अन्य धातु के लिये नहीं ऐसा मानकर सुट् नहीं किया यह विष्णुदेवानन्दजी महाराज का आशय है।

क्रियाफलत्वे मोक्षाऽनित्यता

न च वस्त्वन्तराधानं नित्यं, प्राप्तिर्वा वस्त्वन्तरस्य नित्या; नित्यत्वं चेष्टं मोक्षस्य। अत उत्पन्नविद्यस्य कर्मारम्भोऽनुपपन्नः।

क्रियाफल हो तो मोक्ष अनित्य होगा

अगर परमानंदरूप किसी गुण को अपने में लाना मोक्ष हो या ब्रह्माण्ड से बाहर स्थित किसी ब्रह्म की प्राप्ति मोक्ष हो तब क्रिया का उपयोग तो बन जायेगा लेकिन मोक्ष अनित्य हो जायेगा जो किसी मोक्षवादी को, कम से कम श्रौतों को, इष्ट नहीं। यही कहते हैं— एक वस्तु का दूसरी में आधान नित्य नहीं होता और न किसी अन्य वस्तु की प्राप्ति नित्य होती है जबकि मोक्ष को नित्य माना जाता है। इसलिये मोक्ष के लिये कर्म अनावश्यक है जिससे समुच्चय व्यर्थ है। जिसे ज्ञान हो गया वह फिर कर्म करना ज़ारी रखे यह संगत भी नहीं है कि ज्ञान-कर्म समुच्चय घट सके।

उपनिषदवतरणिका

तस्माद् दृष्टादृष्टेभ्यो बाह्यसाधनसाध्येभ्यो विरक्तस्य प्रत्यगात्म-विषया ब्रह्मजिज्ञासेयम् 'केनेषितम्' इत्यादिश्रुत्या प्रदर्श्यते। *अतो व्यावृत्तबाह्यबुद्धेः आत्मविज्ञानाय 'केनेषितम्' इत्याद्यारम्भः।*

उपनिषत् की अवतरणिका

जब यह निश्चित हो गया कि परोक्ष-अपरोक्ष किसी भी ज्ञान का कर्म से समुच्चय प्रमाणसंगत नहीं तब जो प्रकृतोपयोगी फल है वह बताते हैं— **इसलिये जो दृष्ट एवं अदृष्ट (ऐहिक व पारलौकिक) साधनों व साध्यों से विरक्त है उसे प्रत्यगात्मा के बारे में जो जिज्ञासा होती है वह 'केनेषितम्' आदि ग्रंथभाग द्वारा दिखायी जा रही है। अतः जिसकी बुद्धि बाह्य अर्थात् अनात्मविषयों से विमुख है उसे आत्मसाक्षात्कार हो इसके लिये केनोपनिषत् का आरंभ किया गया है।** तात्पर्य है कि यहाँ पूछने वाला शिष्य ज्ञानाधिकारी है, उसकी यह आंतरिक जिज्ञासा है, केवल कौतूहल नहीं। ऐसे अधिकारी को इस उपनिषत् से तुरन्त ज्ञान हो जायेगा। जो श्रेष्ठ अधिकारी नहीं वह भी श्रवण करेगा तो संस्कार पड़ेंगे ही और वेदान्त श्रवण के पुण्य से उसे अधिकार प्राप्ति में सहायता मिलेगी।

उपनिषच्छैलीतात्पर्यम्

शिष्याचार्यप्रश्नप्रतिवचनरूपेण कथनं तु सूक्ष्मवस्तुविषयत्वात् सुखप्रतिपत्तिकारणं भवति, केवलतर्काऽगम्यत्वं च दर्शितं भवति। 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' (कठ.१.२.९) इति श्रुतेश्च। 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' (छां.६.१४.२), 'आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापद्' (छां.४.९.३) इति, 'तद्विद्धि प्रणिपातेन' (गी.४.३४) इत्यादिश्रुतिस्मृतिनियमाच्च।

उपनिषत् की प्रश्नोत्तर शैली का अभिप्राय

सूक्ष्म वस्तु के बारे में समझना सरल हो जाता है यदि वक्तव्य को प्रश्न-उत्तर के ढंग से रखें, यह मानकर श्रुति ने शिष्य के प्रश्न और आचार्य के उत्तर यों संवाद के रूप में यहाँ आत्मविद्या बतायी है। गुरु से पूछना पड़ा— यह दिखाकर इस बात का भी पता चल जाता है कि केवल तर्क से यह तत्त्व नहीं समझा जा सकता। वेद ने ही कहा है कि आत्ममति तर्क से न पायी जा सकती है, न हटायी जा सकती है। साथ ही इस संवाद से यह भी प्रदर्शित होता है कि गुरु से मिले तभी यह ज्ञान सुस्थिर होता है। श्रुति ने कहा ही है कि 'श्रेष्ठ आचार्य का शिष्य तत्त्व समझता है' तथा 'आचार्य से समझी विद्या ही सर्वाधिक शुभ फल प्राप्त कराती है।' भगवान् ने भी विद्यालाभ के उपाय में दीर्घनमस्कार, परिप्रश्न आदि गिनाये हैं। ये सब बातें इस संवादशैली से सूचित होती हैं। अतएव कठ, प्रश्न, मुंडक, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर, कौषीतकी आदि बहुत उपनिषदें इस शैली में हैं। भाष्यकारादि ने प्रकरण ग्रंथ भी इसी प्रयोजन से इस शैली में उपनिबद्ध किये।

इस प्रकार समग्र उपनिषत् की भूमिका तैयार हो गयी। विषय, प्रयोजन, अधिकारी और सम्बंध चारों अनुबंध यहाँ तक समझा दिये।

।। इति भूमिकाग्रन्थः ।।

प्रथमः खण्डः

प्रथमो मन्त्रः

मन्त्रावतरणम्

कश्चिद् गुरुं ब्रह्मनिष्ठं विधिवदुपेत्य प्रत्यगात्मविषयादन्यत्र शरणमपश्यन्नभयं नित्यं शिवमचलमिच्छन् पप्रच्छेति कल्प्यते- केनेषितमित्यादि।

मन्त्र की अवतरणिका

उपनिषत् के संवाद के कारण यह कल्पना की जाती है कि अभय (बृ.४.४.२५), नित्य (मुं.१.१.६), अचल (मैत्रायणी.६.३८), शिव (मां.७) की इच्छा वाले किसी अधिकारी ने जब यह समझ लिया कि प्रत्यगात्मा की सीमाओं से बाहर कोई नहीं जिसका सहारा इस शिव की प्राप्ति कराये, तब वह उपहार आदि लेकर श्रद्धापूर्वक किसी शास्त्रज्ञ तथा परमात्मा के अनुभवी गुरु के पास गया और 'केनेषितम्' आदि शब्दों में उनसे प्रश्न किया—

मन्त्रः

ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति।।१।।

मन्त्रार्थ

ॐ। (यह वेदोच्चारण से पूर्व व अनन्तर अवश्य वक्तव्य पद है। ॐ परमात्मा का नाम है तथा अ-उ-म्- इन अवयवों द्वारा अद्वैत का प्रतिपादक वाक्य है। केनेत्यादि वाक्य में इसका अन्वय नहीं। मुक्तिकोपनिषद् में केनोपनिषत् के लिये 'आप्यायन्तु' आदि सम्प्रदायप्रसिद्ध मंत्र को शान्ति कहा है अतः इस उपनिषत् के पाठ के पूर्व व उत्तर उसका उच्चारण भी कर्तव्य है। उसका अर्थ इस प्रकार है: मेरी वाणी, चक्षु, कान तथा अन्य भी इंद्रियाँ, मेरे सभी अंग और मेरा बल— ये सभी (आप्यायन्तु=) बढ़ें, पुष्ट हों। सभी कुछ उपनिषत्सिद्ध ब्रह्म है। मुझे कभी उस ब्रह्म में नास्तिक बुद्धि न हो। परमात्मा मुझे पुरुषार्थ से न डिगाये। न मैं ब्रह्म को अपने से या किसी से दूर करूँ और न वही मुझे दूर करे। आत्मलाभ के लिये प्रयत्नशील मुझमें वे धर्म प्रतिष्ठित हों जिन्हें उपनिषदें तत्त्वनिष्ठा के लिये आवश्यक बताती हैं। मुझमें उन धर्मों का पौष्कल्य हो। शारीरिक, अन्य प्राणियों से तथा देवताओं से मिलने वाले ताप मुझे न मिलें, जो प्राप्त हैं वे भी निवृत्त हो जायें एवं जिन्हें भोगना अनिवार्य है उनसे मैं अपने प्रयास से विचलित न हो जाऊँ।)

केन = किसके द्वारा **इषितम्** = इषित (इच्छा-विषय हुआ), **प्रेषितम्** = प्रेषित (भेजा हुआ) **मनः** = अन्तःकरण **पतति** = (अपने विषयों की ओर) जाता है? **प्रथमः** = मुख्य **प्राणः** = प्राण (पाँच वृत्तियों में बँटी आध्यात्मिक वायु अर्थात् क्रियाशक्ति) **केन** = किससे **युक्तः** = नियुक्त हुआ **प्रैति** = चलता है? **केन** = किससे **इषिताम्** = इषित (प्रेरित) हुई **इमाम्** = इस **वाचम्** = शब्दस्वरूप वाणी को **वदन्ति** = लोग बोला करते हैं? **कः उ** = सारे व्यवहारों का कारणभूत वह कौन **देवः** = देव है जो **चक्षुः क्षोत्रम्** = आँख व कान को **युनक्ति** = अपने-अपने काम पर लगाता है? ('उ' प्रश्नार्थक है ऐसा नारायण ने लिखा है। अथवा वाक्यालंकारार्थ ही है।)

यहाँ मन, प्राण, वाणी, चक्षु और श्रोत्र के स्वतन्त्र नियन्ता को पूछा है अतः तात्पर्यतः एक प्रश्न होने पर भी अवयवशः पाँच प्रश्न हैं। अतः गुरु पहले (२-३) सामान्य रूप से उत्तर देकर फिर हर प्रश्न का भी उत्तर देंगे। ज्ञानशक्ति व क्रियाशक्ति जीव की उपाधि है, इनसे ही जीव निरूपित होता है; अविद्या से जीव है तो सही लेकिन उसका स्फुटीकरण

इन शक्तियों में ही है। पाँच कोश, तीन अवस्थाओं की तरह इन दो के सहारे आत्मोपदेश श्रुति कई जगह करती है। कौषीतकी में प्रतर्दन को इन्द्र ने इन्हीं के आधार पर ज्ञान दिया है। कठ में 'आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः' (१.२.२१), तथा 'येन रूपम्' से 'या प्राणेन संभवति' (२.१.३-७) तक के द्वारा इन्ही को आत्मज्ञान का उपाय बनाया है। प्रश्न में भी द्वितीय-तृतीय प्रश्न से प्राण को तथा चतुर्थ से विज्ञानशक्ति को बताकर तब छठे में पुरुष का उपदेश है। इसी प्रकार 'यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानाम् यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा' (३.१.९) इस मुण्डकश्रुति ने इन्हीं को उपदेश-द्वार बनाया। ऐतरेय में स्पष्ट ही प्रपदाग्र से क्रियाशक्ति का तथा मूर्धा से ज्ञानशक्ति का प्रवेश बताकर अन्त में इन्हीं के व्यापारों से शुद्ध आत्मा को उपलक्षित किया गया है। छान्दोग्य में स्वप्नान्त पूछकर (६.८.१) ज्ञानशक्ति और अशना-पिपासा पूछकर (६.८.३) इन्ही दोनों को दृष्टि में लाकर 'तत्त्वमसि' का उपदेश दिया है। 'प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति, वदन् वाक्, पश्यञ्चक्षुः, शृण्वन् श्रोत्रं, मन्वानो मनः' (बृ. १.४.७) इस शतपथ में भी इन पाँचों से ही अपूर्ण आत्मा का परिचय कराकर तब कृत्स्न आत्मा का उपदेश किया। गार्ग्य-अजातशत्रु संवाद भी प्राण और विज्ञान से ही विविक्त कर आत्मा को समझाता है। याज्ञवल्क्य ने 'यः प्राणेन प्राणिति' आदि से क्रियाशक्ति और 'न दृष्टेर्द्रष्टारम्' आदि से ज्ञानशक्ति से अलग कर उषस्तचाक्रायण को (३.४) सर्वान्तर समझाया। कूर्चब्राह्मण के दक्षिण और वाम अक्षि वाले पुरुष भी इन्हीं शक्तियों वाले हैं। अतएव महर्षि बादरायण ने जीव के दो ही विशेष धर्म बताये 'ज्ञोऽत एव' (२.३.१८) और 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' (२.३.३३)। इस प्रकार वेदान्तों की प्रसिद्ध रीति का आश्रयण लेकर ही यह उपनिषत् भी आत्मोपदेश में प्रवृत्त है। यद्यपि दीपिकाकार नारायण ने ईश्वरविषयक प्रश्न है ऐसा कहा है तथापि प्रतिवचन के अनुसार तथा प्रतिपाद्य के विज्ञान के फल के अनुसार ईश्वरपद निर्विशेषपरक मानना चाहिये। अर्थवाद में अवश्य सविशेष का सामर्थ्य बताया है कि वही देवप्रवृत्ति (अतः इन्द्रियप्रवृत्ति) में स्वतंत्र है, देवों का सामर्थ्य वस्तुतः उसी की महिमा है, तथापि वह मूल प्रश्न-उत्तर के तात्पर्य में अंतर नहीं लाता। अतः तृतीयखण्ड के प्रारंभ में बहुत विस्तार से आचार्य आख्यायिका के उपयोग प्रकाशित करेंगे। 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' आदि ग्रंथ को स्वयं वेद 'ब्राह्मी उपनिषत्' कहेगा, यह समाख्या ही इसकी परमात्मपरता में प्रमाण है। यहीं द्वितीय मंत्र में तथा द्वितीय खण्ड के प्रारंभ में स्वयं भाष्यकार विवक्षित तात्पर्य स्पष्ट कर देंगे।

प्रथमवाक्यान्वयः

केन कर्त्रा। इषितम् इष्टमभिप्रेतं सद् मनः पतति गच्छति स्वविषयं प्रतीति सम्बध्यते।

पहले वाक्य का अन्वय

किस कर्ता द्वारा 'इषित' अर्थात् इष्ट या अभिप्राय-अनुसारी बनाया हुआ मन अपने विषय के प्रति जाता है?— यह शिष्य का प्रथम प्रश्न है। 'अभिप्राय-अनुसारी' अर्थात् अभिप्राय या इच्छा का अनुसरण करता हुआ। किसकी इच्छा के अनुसार मन के व्यापार होते हैं— यह तात्पर्य है।

इषितपदार्थः

इषेराभीक्ष्ण्यार्थस्य गत्यर्थस्य चेहाऽसम्भवाद् इच्छार्थस्यैवैतद् रूपमिति गम्यते। इषितमितीट्प्रयोगस्तु च्छान्दसः। तस्यैव प्रपूर्वस्य नियोगार्थे प्रेषितमित्येतत्।

'इषित' शब्द का अर्थ

दिवादि गण में गत्यर्थक इष धातु है। क्र्यादिगण में आभीक्ष्ण्य अर्थात् पुनः पुनः करना या अधिक करना अर्थ में इष धातु है। इनका क्त-प्रत्ययान्त रूप 'इषित' बनता है (दोनों सेट् हैं) किन्तु दोनों में ही वाक्यार्थ ठीक नहीं हो पाता। न तो यहाँ 'गया हुआ' यह अर्थ है और न 'बारम्बार हुआ' यह अर्थ है। यहाँ तो मन का प्रवर्तक

कौन— यह पूछा जा रहा है। अतः तुदादिगण के इच्छार्थक इष धातु का ही 'इषित'- शब्द क्तान्त रूप मानना चाहिये। इष्ट की जगह इट्-प्रयोग कर इषित रूप बनाना वेद की स्वतंत्रता है। उसी शब्द में प्र- उपसर्ग लगने से 'प्रेषित' शब्द बना जिसका मतलब है नियुक्त, प्रेरित।

भाष्य में इट् प्रयोग छांदस कहा है। यद्यपि तुदादि का इषु धातु भी सेट् है तथापि 'तीषसहलुभरुषरिषः' (७.२.४८) से वेट् हो गया है अतः 'यस्य विभाषा' (७.२.१५) से निष्ठान्त प्रयोग में इट् का प्रयोग नहीं हो सकता। 'तीष.' से इष के पर आये तादि आर्धधातुक को विकल्प से इट् हुआ अतः 'यस्य.' से क्त में इट् नहीं होगा क्योंकि जिससे सम्बद्ध आर्धधातुक कहीं भी वेट् होता है उससे परे निष्ठाप्रत्यय को इट् नहीं होता। उपनिषत् ने इच्छार्थक धातु के भी क्तान्त प्रयोग में इट् लगा दिया यह छान्दस स्वातन्त्र्य हो गया यह सरलार्थ है।

टीकाकारों ने कहा है कि इट् का प्रयोग होने पर गुण होकर 'एषितम्' रूप बनना चाहिये उसकी जगह 'इषितम्' यह छान्दस है। धातु तो सेट् है ही तथा 'अनुबन्ध' विकल्पतः विहित है। किंच 'अन्वेषितम्' 'अन्विष्टम्' दोनों प्रयोग संमत हैं। अतः गुण न करना छांदस है।

समस्या यह है कि निष्ठा कित् होने से 'क्ङिति च' (१.१.५) के कारण इट् हो भी जाये तो गुण नहीं हो सकता। अतः इस टीकावाक्य को कुछ लोग 'चिन्त्य' मानकर टाल जाते हैं। इतना ही नहीं, 'वैकल्पिकप्रयोगादिति', 'वैकल्पिकप्रयोगादिदर्शनात्', तथा 'वैकल्पिकप्रयोगादर्शनादिति' यों विपरीत पाठ भी मिलते हैं। 'यस्य विभाषा' (७.२.१५) के कारण यहाँ इट् न होना ही संगत है। इन हेतुओं से कुछ संपादक चिन्त्य-पक्ष वाले हैं।

कुछ लोग टीका उपपन्न करने के लिये पहले स्वार्थ में णिच् कर लेते हैं। तब गुण व इट् होना प्राप्त रहेगा, गुण नहीं किया यह छान्दस हो गया। इस पर चिन्त्य-पक्ष का कहना है कि टीका में लिखा है 'इट्-प्रयोग होने पर गुण होना चाहिये', णिच् से गुण उपपन्न करने से यह शब्द रचना अनुकूल नहीं रहेगी और आगे जो कहा कि 'अनुबन्ध विकल्पतः विहित है' यह भी संगत नहीं हो सकेगा।

श्रीविष्णुदेवानन्दजी महाराज ने इसलिये ऐसी कल्पना कर टीका का समर्थन किया है: प्रथमतः तो इच्छार्थक इष धातु उदित तथा अनुदित दोनों पठित है, माधवाचार्य ने 'केचिदुदितं पठन्ति' कहा ही है। अब 'उदितो वा' (७.२.५६) का तो यह विषय रहा नहीं। 'तीषसह.' से प्राप्त विकल्प तादिमात्र को विषय करता है अतः निष्ठा से अतिरिक्त चरितार्थ होने से केवल निष्ठा में हों विकल्प करे ऐसा है नहीं। 'यस्य विभाषा' का ऐसा अर्थ मानेंगे कि निष्ठा से अतिरिक्त में ही विकल्प हो तो निष्ठा में इट् न हो। इस प्रकार इष की निष्ठा में विकल्पतः इट् संभव है। अब रही गुण की बात तो 'निष्ठा शीङ्स्विदिमिदिश्विदि धृषः' (१.२.१९) में निष्ठा का योगविभाग कर यह अर्थ करेंगे कि सेट् निष्ठा कित् नहीं होती। अब पूर्वोक्तरीति से विकल्पतः इट् होने पर उक्त ढंग से गुण प्राप्त हो गया, गुण न करना छान्दस हो गया।

हर हालत में टीका योजना समझने के लिये क्लिष्ट-कल्पना करनी ही पड़ती है किन्तु इससे प्रकृत में कोई अन्तर नहीं और न भाष्यवाक्य के लिये ही यह अनिवार्य है।

इषित-प्रेषितयोः पदकृत्यम्

तत्र 'प्रेषितम्' इत्येवोक्ते प्रेषयितृप्रेषणविशेषविषयाऽऽकाङ्क्षा स्यात्—केन प्रेषयितृविशेषेण? कीदृशं वा प्रेषणम्? इति। 'इषितम्' इति तु विशेषणे सति तदुभयं निवर्तते, कस्येच्छामात्रेण प्रेषितमित्यर्थविशेषनिर्धारणात्।

इषित व प्रेषित दोनों क्यों कहे

प्रश्न में यदि केवल 'प्रेषित' शब्द ही कहा होता तो गुरु के मन में यह जिज्ञासा बनी ही रहती कि यह किस

प्रकार के प्रेषयिता अर्थात् नियोजक को पूछ रहा है और कैसे प्रेषण अर्थात् नियोग को मानकर पूछ रहा है। जब 'इषित' यह मन का विशेषण दे दिया तब ये दोनों संदेह समाप्त हो गये क्योंकि यह विशेष अर्थ निकल आया कि 'कौन है जिसकी केवल इच्छा से मन नियुक्त है, प्रेरित है?' लोक में प्रेरित करने वाले देहादिधारी होते हैं तथा प्रेरणा भी कहने आदि से होती है। क्या ऐसी ही प्रेरणा मानकर इसी ढंग के प्रेरक को जानना चाह रहा है या इससे अन्य ढंग की प्रेरणा से इसका अभिप्राय है; अर्थात् सर्वथा अविवेकी है या विवेक से पूछ रहा है?—यह बात केवल 'प्रेषित' कहने से स्पष्ट न होती अतः उत्तर देना मुश्किल या लम्बा हो जाता। जब शिष्य ने 'इषित' भी कह दिया तो स्पष्ट हो गया कि यह केवल इच्छामात्र अर्थात् केवल संनिधि को प्रेरणा मान रहा है अतः ऐसे प्रेरयिता को जानना चाह रहा है जो इच्छामात्र—संनिधिमात्र या उपस्थितिमात्र— से प्रेरित करने में समर्थ है। अतः विवेकी शिष्य का प्रश्न होने से उत्तर भी उसके योग्य दिया जायेगा।

प्रेषितपदस्यान्यार्थताशङ्का

यद्येषोऽर्थोऽभिप्रेतः स्यात् 'केनेषितम्' इत्येतावतैव सिद्धत्वात् 'प्रेषितम्' इति न वक्तव्यम्। अपि च शब्दाधिक्यादर्थाधिक्यं युक्तमिति 'इच्छया कर्मणा वाचा वा केन प्रेषितम्'— इत्यर्थविशेषोऽवगन्तुं युक्तः।

प्रेषित पद पर शंका

यदि जैसा आपने व्याख्यान किया ऐसा अर्थ शिष्य को विवक्षित होता तो 'किसके द्वारा इषित' इतना ही कहना पर्याप्त था क्योंकि इषित अर्थात् इच्छा से प्रेरित। अतः प्रेषित कहना व्यर्थ ही हो गया।

किं च नियम है कि ऐसे अलग शब्द जो पर्याय न हों, वे यदि एक साथ वाक्य में हों तो उनके अर्थ अलग-अलग हुआ करते हैं। इषित का आपने अर्थ किया बिना किसी प्रयत्न के, केवल संनिधि से प्रेरित। इस व्याख्या में इषित से विलक्षण प्रेषित का कोई अभिप्राय नहीं निकलता। अतः अन्य ढंग से अर्थ करना चाहिये यह शंकावादी कहता है— **शब्द अधिक हों तो अर्थ में भी अधिकता होना संगत है। अतः यहाँ इषित व प्रेषित दो शब्द होने से यह अर्थ समझना चाहियेः 'इषित अर्थात् किसकी इच्छा से और प्रेषित अर्थात् किसके प्रयत्न या कथन से मन प्रेरित है?' शिष्यप्रश्न की यह व्याख्या करनी चाहिये।**

तत्समाधानम्

न, प्रश्नसामर्थ्यात्। देहादिसङ्घातादनित्यात् कर्मकार्याद् विरक्तः अतोऽन्यत् कूटस्थं नित्यं वस्तु बुभुत्समानः पृच्छतीति सामर्थ्यादुपपद्यते। ***प्रवृत्तिलिङ्गाद् विशेषार्थः प्रश्न उपपन्नः। रथादीनां हि चेतनावदधिष्ठितानां प्रवृत्तिर्दृष्टा, नानधिष्ठितानाम्; मनआदीनां चाचेतनानां प्रवृत्तिर्दृश्यते; तद्धि लिङ्गं चेतनावतोऽधिष्ठातुरस्तित्वे। करणानि हि मनआदीनि नियमेन प्रवर्तन्ते, तन्नाऽसति चेतनावत्यधिष्ठातरि उपपद्यते। तद्विशेषस्य चाऽनधिगमात्, चेतनावत्सामान्ये चाधिगते, विशेषार्थः प्रश्न उपपद्यते—केनेषितं केनेष्टं कस्येच्छामात्रेण मनः पतति गच्छति स्वविषये, नियमेन व्याप्रियत इत्यर्थः।*** **इतरथा, इच्छावाक्कर्मभिर्देहादिसङ्घातस्य प्रेरयितृत्वं प्रसिद्धमिति प्रश्नोऽनर्थक एव स्यात्।**

समाधान

यह व्याख्या ठीक नहीं यह इसी से मालूम चल जाता है कि शिष्य ने प्रश्न उठाया। कर्म के फलभूत अनित्य देह-इन्द्रियादिसमुदाय से वैराग्यवान् शिष्य पूछ रहा है तो निश्चय ही वह देहादि से भिन्न कूटस्थ नित्य वस्तु को ही जानना चाहता है। शिष्य ने नियोजक देव पूछा जिसके शासन में शिष्य अपने मन आदि को पा रहा है। चेष्टादि से प्रेरक गुरु आदि को वह जानना चाह नहीं रहा, अतः 'देव' शब्द उसने रख दिया। मन आदि की गतिविधि से वह सन्तुष्ट होता

तो भी पूछने न आता। बीमार ही बीमारी का कारण पूछने वैद्य के पास जायेगा, स्वस्थ स्वस्थता का कारण पूछने क्यों जायेगा? इससे पता चल गया कि वह संघात से विरक्त है। 'लौकिक और शास्त्रीय साध्य-साधनों की जानकारी होने पर मुझे इच्छा होती है और मैं ही मन आदि को साधनानुष्ठान में लगाता हूँ'— इतना सभी जानते हैं। अतः अकूटस्थ नित्य प्रेरयिता किसी से छिपा नहीं है कि उसे पूछा जाये। फलतः कूटस्थ नित्य— अपरिवर्तनीय, एक रूप से रहने वाली— वस्तु, वास्तविक तत्त्व की जिज्ञासा है यह बात इतने से ही पता चल जाती है कि शिष्य ने इषित मन आदि के प्रेषयिता देव का प्रश्न किया। अतः 'चेष्टा या कथन से प्रेषण करने वाला पूछा जा रहा है' यह व्याख्या असंगत है।

शिष्य को यह कैसे प्राप्त हुआ कि कोई देव प्रेरक है? सिद्धांती की व्याख्या यह मानकर है कि शिष्य को 'प्रेरक देव है' इतना पता है। लेकिन अगर पता होता तो पूछता क्यों? और अगर पता नहीं है तो सिद्धान्ती की व्याख्या ग़लत है।— इस समस्या का समाधान यह है: सामान्यतः जिसे जानते हों पर विशेषतः न जानते हों, उसके बारे में प्रश्न करना संगत है। जैसे आपने विकल्प किया कि 'शिष्य जानता है या नहीं', तो क्या आपने शिष्य का ज्ञान जानकर विकल्प किया या बिना जाने किया? यदि जान लिया तो विकल्प क्यों किया? और यदि उसके जानने-न जानने से आप सर्वथा बेख़बर हैं तो भी विकल्प कैसे कर सकेंगे? अतः आपको यही कहना पड़ेगा कि आप शिष्य की जानकारी को सामान्यतः जान पाये हैं लेकन उसका विशेष ज्ञान आपको नहीं है जिसके लिये विकल्प किया। इसी तरह शिष्य भी प्रेरक देव को सामान्यतः जानता है लेकिन विशेष जानकारी के लिये पूछ रहा है। सामान्य जानकारी कैसे हुई यह समझाते हैं— **प्रवृत्तिरूप चिह्न से सामान्यतः जानकर विशेष ज्ञान के लिये प्रश्न किया है जो समुचित है क्योंकि प्रायः प्रश्न इसी तरह किये जाते हैं।**

प्रवृत्ति रूप चिह्न से क्या मतलब? बताते हैं— **रथ आदि जड वस्तुओं की प्रवृत्ति तभी देखी गयी है जब कोई चेतन उनका नियन्त्रण कर रहा हो। किसी भी चेतन से अनियंत्रित रथादि की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती।** यहाँ प्रवृत्ति से सोद्देश्य तथा व्यवस्थित चेष्टा समझनी चाहिये अतः ढाल आदि पर रथादि के लुढ़क जाने से उक्त नियम टूटता नहीं। नदी आदि की प्रवृत्ति तो सिद्धान्ती को चेतनाधिष्ठित ही इष्ट है अतः उन्हे भी अपवादस्थल नहीं बना सकते। अतएव जो कुछ लोग जड प्रकृति की स्वतः नियत प्रवृत्ति मानते हैं उनका निराकरण हो जाता है। जब घट, तन्तु आदि कोई पदार्थ स्वतः नियत प्रवृत्ति वाले नहीं तब इनकी समष्टि को ऐसा मानना अन्धविश्वास ही है। चेतननियंत्रित प्रवृत्ति सर्वानुभवसिद्ध होने से समष्टि प्रकृति को भी ऐसा मानना ही युक्तियुक्त है। किंच सभी पदार्थों के नियमों में अपवाद मिलते हैं; चेतन प्राणी— पौधे, जानवर आदि— ही नहीं जड वस्तुओं के भी नियम टूटते रहते हैं। अतः आधुनिक विज्ञान प्रायोवाद का सहारा लेता है, प्रतिशतों के नियम कहता है। जड में यदि नियम होता है तो सर्वत्र एकरूप होता है। अतः यह भी समष्टि की चेतन-अधिष्ठितता का सूचक है। इतना ही नहीं, नियमों की एकरूपता तथा उपयोगानुसार विनियोग— ये भी चेतन को अधिष्ठाता बताते हैं। जिन जीवित कोषाओं को केवल अणुवीक्षण यंत्र से देखा जा सकता है उन बैक्टीरियादि के अंदर स्थित 'आर.एन.ए.' व 'डी.एन.ए.' के नियम मनुष्यदेह तक चल जाते हैं; यही आनुवांशिकी (genetics) के अनुसंधान का आधार है। जिन कोशाओं में 'डी.एन.ए.' नहीं होता उनमें 'आर.एन.ए.' ही 'डी.एन.ए.' का भी काम कर लेता है। यह एकरूपता तथा फलोन्मुखी कार्यकारिता बिना चेतन के कैसे समझी जाये? कुछ लोग 'जीवन' और 'चैतन्य' में अंतर करते हैं, जीवन है इतने मात्र से वहाँ चेतन है ऐसा नहीं मानना चाहते। किन्तु जो समझ-बूझ सके, समझ का उपयोग कर सके, भावना वाला हो, सही-ग़लत, अच्छा-बुरा, प्रिय-अप्रिय आदि विभाजनों का अनुभव करे, सुखी-दुःखी हो उसे ही तो चेतन समझा जाता है। ऐसे चेतन से रहित 'जीवन' कहाँ मिलता है? जानवर तो दूर अब तो पौधों तक में भावनादि को कुछ वैज्ञानिक मानने लगे हैं। अतः जीवन से भी चेतन का ही पता चलता है, बिना चेतन के 'जीवन' नाम की कोई प्राकृतिक प्रक्रिया नहीं है। यह चेतन केवल मन भी नहीं है, यह मन का भी नियन्ता है, उसी का यहाँ प्रश्न है। कुछ लोग मन का ही एक हिस्सा नियन्ता बनकर दूसरे हिस्से को नियमन में लाने की कोशिश करता है, मन से भिन्न चेतन हो ऐसा

नहीं— यह कहते हैं। इनमें भी कुछ तो शारीरिक पदार्थों की प्रतिक्रियाओं को ही मन की चेष्टायें मानते हैं व कुछ लोग मन को शरीर से भिन्न पदार्थ मानते हैं जिस पर शरीर का और जिसका शरीर पर भी असर पड़ता है। प्रयोगों व प्रशिक्षणों से मानसिक प्रक्रिया में परिवर्तन ला सकना ही इनका मुख्य तर्क है जिससे ये मन से भिन्न चेतन नहीं मानते, मन चाहे स्थूल हो या स्थूलातिरिक्त। किन्तु 'मेरा मन' तथा 'मन की औचित्यवृत्ति व प्रियवृत्ति दोनों को जानकर मैं स्वतंत्रता पूर्वक कभी एक के तथा कभी दूसरी के अनुसार करता हूँ'— इन अबाधित अनुभवों का वे लोग बिना प्रमाण के ही बाध कराना चाहते हैं जो उनकी अयुक्तियुक्तता बताता है। जिनमें वे शारीरिकांगविशेष नहीं उनमें भी चेतना मिलने से अंग-प्रतिक्रिया को भी चेतन नहीं कह सकते। यह कहना कि 'चेतन है नहीं, संस्कारवश मानते हैं इसलिये लगता है मानो हो' केवल अनुभव-अपलाप ही नहीं तर्कसंमत भी नहीं है क्योंकि ठीक विपरीत भी कहा जा सकता है, और वस्तुतः अनेक दार्शनिक कहते भी हैं। इस प्रकार प्रवृत्ति इसमें पर्याप्त चिह्न है कि अधिष्ठाता चेतन है। यद्यपि सिद्धान्त में प्रेरणादि चेतनधर्म नहीं हैं तथापि वे चेतन के चिह्न, उसके ज्ञापक अवश्य हैं यह ज्ञान-क्रियाशक्तिरूप उपाधियों के सहारे दिये आत्मोपदेश से निश्चित हो चुका है। वस्तुतस्तु चिदचिद्ग्रन्थि, अहङ्कार या 'जीव', कई नामों से जो अनिवार्य तत्त्व माना जाता है या समष्टि में तत्पदवाच्य माना जाता है उसका यहाँ उपयोग है। प्रेरणादि उसके धर्म हैं। आगे उसके स्वरूप के विवेकपूर्वक औपदेशिक बोध से लक्ष्य जाना जाता है। वाच्य का भी अपलाप करने वाले को कथंचित् तर्क से सन्तुष्ट किया जा सकता है इतना ही अभिप्राय है। लक्ष्य तो औपनिषद अथ च स्वयम्प्रकाश पुरुष है।

अत एव कहते हैं- **अचेतन मनआदि की प्रवृत्ति अनुभव में आती है, यह इस तथ्य को सूचित करता है कि उनका नियन्त्रण करने वाला कोई चेतनावान् है। मनआदि करण हैं, जानने या करने के साधन हैं, अतः ख़ुद तो वैसे ही चेतन नहीं हैं जैसे देखने का साधनभूत दीपक।** 'मेरा मन अन्यत्र था अतः देख नहीं पाया' आदि सार्वजनिक अनुभव से मनआदि साधन हैं यह निश्चित है। मन लगाकर तथा बेमन से, दोनों तरह ज्ञान व क्रियायें होती हैं इससे भी मन एक उपकरण ही है यह स्पष्ट है। ऐसे ही आँख आदि की करणता तथा जडता समझ लेनी चाहिये। करण हमेशा अपने से अतिरिक्त किसी के लिये काम करता है। मनआदि सब जिसके लिये काम कर रहे हैं वह चेतन है। चेतन स्वतंत्र होता है अतः उसमें अनिवार्य पारतंत्र्य नहीं रह सकता। अतएव मनआदि को चेतन नहीं मान सकते। देह में अनन्त चेतन मानना अनुभव व युक्ति दोनों के विरुद्ध होगा। **इस प्रकार जड मनआदि करण जो नियमित प्रवृत्ति करते हैं वह चेतन नियन्ता के बिना संगत नहीं।** यहाँ 'नियमित' के दोनों अर्थ हैं— निश्चित ढंग से और परतन्त्र। केवल निश्चित ढंग हो तो भी चेतन की संभावना घट संकती है क्योंकि यन्त्र आदि में केवल निश्चित नपी-तुली प्रवृत्ति मिल जाती है; वह भी मूलतः किसी चेतन द्वारा निश्चित की गयी है यह बात अलग है पर सतत एक-सी प्रवृत्ति होने पर यह कथंचित् हो भी सकता है कि अचेतनता की शंका हो जाये। अतः 'नियमेन' अर्थात् किसी अन्य के नियम में रहकर, परतंत्र होकर। मनआदि सब पृथक् हैं लेकिन वे जो कुछ करते हैं वह सब किसी एक के लिये है जो मनआदि हर-एक से तथा उनके समूह से भी अलग है और ख़ुद को उनसे अलग महसूस भी करता है। मेरा सामर्थ्य घट-बढ़ जाये, मैं कहाँ घटता-बढ़ता हूँ? जिसके लिये मनआदि प्रवृत्त होते हैं उसके वे परतंत्र हैं। दूसरे के लिये ही करना— यह परतन्त्रता है। भाष्यकारों का आशय है कि नियत और अनियत दोनों तरह की प्रवृत्ति चेतन का चिह्न है। प्रवृत्ति सोद्देश्य, व्यवस्थित चेष्टा है। वह यदि नियत है तो भी चेतन के कारण क्योंकि नियत होने का बंधन ख़ुद क्यों कोई लेगा? स्वाभाविक इसे मान नहीं सकते कारण कि स्वाभाविक क्रिया भले ही हो, प्रवृत्ति नहीं हुआ करती। फिर भी कहीं किसी को स्वभाववाद उपस्थित हो ही जाये तो उसे हटाने के लिये अनियत प्रवृत्ति है! जड यदि स्वभाव से नियत है तो नियत ही रहेगा, अनियत कैसे हो जायेगा? यद्यपि यह हो नहीं सकता कि अनियतता किसी नियम से हो तथापि यदि ऐसा हो तो वह सुतरां चेतन को सिद्ध कर देगा क्योंकि जिस नियम से अनियत और नियत दोनों नियमित हैं वह उन दोनों से पृथक् ही रहेगा, उनका भेद उसे भासेगा। 'नियत' के मापदण्ड उस पर काम करेंगे नहीं क्योंकि वह नियत से पृथक् है अतः नियत-अनियत के नियमन के लिये

वह उनकी जानकारी रखकर स्वतंत्र रहते हुए ही नियमन करेगा। परतंत्र मानने पर तो मूलहानि करने वाली अनवस्था होगी। स्वतंत्र, नियत-अनियत से भिन्न, उनको जानने वाला—यही चेतन समझ लेना चाहिये, जडभिन्न चेतन ही तो होगा! उपनिषद् अर्थवाद में यही दिखायेगी: अग्नि आदि को अपनी नियत प्रवृत्ति से ही ब्रह्मज्ञान हो जाना चाहिये था किन्तु हुआ नहीं तो अनियतता उनके सामने आयी, अग्नि तिनका भी न जला पायी। तब स्पष्ट हो गया कि अग्नि का जलाना ब्रह्म की महिमा है। जिससे नियत हुई अग्नि जलाती है और कभी जो वह नियम तोड़ देता है तथा अग्नि जला नहीं पाती, वही न ब्रह्म है। कर्मफल-कृपा, पुरुषार्थ-भाग्य आदि सभी में यह घटा लेना चाहिये।

इस प्रकार प्रवृत्तिरूप चिह्न तो स्पष्ट हुआ। 'विशेष ज्ञान के लिये प्रश्न किया है' यह जो कहा था उसे भी स्पष्ट करते हैं— **प्रवृत्तिरूप चिह्न से निश्चित तो हो जाता है कि कोई है जो जड नहीं है लेकिन उसका ख़ास स्वरूप क्या है— यह निश्चित नहीं हो पाता। इसलिये यह उचित व्याख्या है कि शिष्य ने सामान्यतः जडभिन्नरूप से चेतन को समझकर उसके असामान्य स्वरूप को जानने के लिये प्रश्न किया है।**

अतः अभिप्राय है : 'केनेषितम्' किसके द्वारा इष्ट अर्थात् किसकी इच्छामात्र से मन अपने कार्यक्षेत्र में बँधा हुआ प्रवृत्त होता है? 'इच्छामात्र' का तात्पर्य है कि मनआदि को नियमित करने के लिये कोई यत्न या चेष्टा उसे नहीं करनी पड़ती। वह इच्छा करता हो यह यहाँ नहीं कह रहे क्योंकि आत्मा को निर्विकार समझाना है। इच्छा करके तो 'मैं' ही मनआदि को चला लेता हूँ, इतने के लिये गुरु से पूछना थोड़े ही पड़ता है! यद्यपि मेरे न चाहने पर भी, मेरी इच्छा के विपरीत भी मनआदि की बहुत-सी प्रवृत्तियाँ होती रहती हैं जो अवश्य किसी की इच्छा से होती होंगी जैसे मेरी इच्छा से होने वाली प्रवृत्तियाँ— यह सोचकर शिष्य ने इच्छा करने वाले देव को अर्थात् वाच्य को ही पूछा हो यह भी संभावना विचारणीय हो सकती है, तथापि गुरु क्योंकि निर्विकार तत्त्व समझाने जा रहे हैं इसलिये प्रश्न को उसी के बारे में मानना उचित है। वस्तुतः वाच्य कोई लक्ष्य से अत्यंत भिन्न तो है नहीं अतः आत्मा के इच्छा वाले एवं निर्विकार दोनों स्वरूप पूछे जा सकते हैं और उत्तर भी दोनों का मिलेगा ही, पहले निर्विकार का फिर इच्छा वाले का। उपनिषदों और ब्रह्मसूत्रों में ब्रह्मोपदेश की यह शैली है। सविशेष-निर्विशेष को संपिण्डित करके बताते जाते हैं क्योंकि वास्तव में सर्वत्र ही बताना पड़ेगा सविशेष और विवक्षित होगा अर्थात् समझना पड़ेगा निर्विशेष को। यहाँ भी 'मन का मन', 'जिससे मन मत होता है' आदि ढंग से ही तो निर्विकार को कहना है। मत होना, वाणी आदि को प्रयुक्त करना इत्यादि भी वाच्य के सहारे ही लक्ष्य को बता रहे हैं। अन्य कोई मार्ग नहीं है। शिष्य त्वम्पदवाच्य से भिन्न की जिज्ञासा कर रहा है इतना निश्चित है। आगे उसे तत्पदवाच्य और उसके लक्ष्य का अन्तर मालूम नहीं है। गुरु उसे लक्ष्य तक पहुँचायेंगे। फिर भी इच्छामात्र का मतलब 'किसी भी प्रयत्न के बिना' इसलिये समझ लेना चाहिये जिससे गुरु का उत्तर ठीक से बुद्धिगत हो जाये। उस उत्तर में किसी इच्छाकर्ता को खोजने लगेंगे तो उपदेश समझ ही नहीं पायेंगे। कोई कह सकता है कि शिष्य को भी तो इच्छाकर्ता की जिज्ञासा ने परेशान किया होगा? किन्तु यह प्रश्न ठीक नहीं। इषित-प्रेषित इन दो शब्दों से ही शिष्य अपनी समझदारी दिखा चुका है। कर्म-उपासना के क्षेत्र में ही वाच्य को वह समझ चुका है अतः अब उसे लक्ष्य की जिज्ञासा है अर्थात् क्या वाच्य से परे कुछ है? यह उसकी जिज्ञासा है। अतः 'नेदं यदिदमुपासते' यह उत्तरवाक्य समुचित है; उपास्य ब्रह्म की जानकारी शिष्य को है तभी यह वाक्य उसे कहा गया। इसलिये टीकाकारों ने शिष्य के अभिप्राय को ही स्पष्ट किया है।

यहाँ भी भाष्य के 'नियमेन व्याप्रियते' के 'नियमेन' से पूर्वोक्त द्विविध तात्पर्य समझ लेने चाहिये। यही मन का बँधा होना है कि किसी ढंग से चले और दूसरे के लिये चले (अर्थात् कभी उसे वह ढंग छोड़ना भी पड़े)।

शिष्य का ऐसा गंभीर तात्पर्य न मानें तो प्रश्न करना निष्प्रयोजन हो जायेगा क्योंकि चाहकर, कहकर या इशारे आदि से प्रेरणा करने वाला तो देहादिसंघात प्रसिद्ध ही है, उसे जानने के लिये गुरु से पूछना बेकार है। यहाँ

भाष्य में 'इच्छा-वाक्-कर्मभिः' कहा है जो दूसरे की और अपनी दोनों प्रेरणाओं के लिये समझ लेना चाहिये। वाणी और कर्म (इशारे आदि) से दूसरे को प्रेरित करना प्रसिद्ध है। इच्छा से अपने देह-इन्द्रियों को प्रेरित करना भी प्रसिद्ध ही है। अपनी इच्छा से अपना मन भी प्रवृत्त किया जाता है, बुद्धि से मन नियंत्रित हो जाता है। बार-बार चाहने से मन वैसी प्रवृत्ति किया करता है। अपनी वाणी से अपना मन प्रवृत्त किया जा सकता है; स्वयं को कहते रहने से (व्यक्त या अव्यक्त वाणी-प्रयोग से) ख़ुद को किसी कार्य में लगा सकते हैं या किसी काम से रोक सकते हैं। ऐसे ही कर्म से भी स्वयं को प्रवृत्त कर सकते हैं— बार-बार करने से मन प्रशिक्षित हो जाता है तो वैसी ही प्रवृत्ति कर लेता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक इन तीनों का स्व-पर-प्रवर्तन में प्रयोग करते हैं। अतः इसे भाष्यकार ने 'प्रसिद्ध' कह दिया कि इतनी बात के लिये वेद को बताना पड़े यह ज़रूरी नहीं।

विशेषणयोरुपपत्तिनिगमनम्

एवमपि प्रेषितशब्दस्यार्थो न प्रदर्शित एव? न; संशयवतोऽयं प्रश्न इति प्रेषितशब्दस्याऽर्थविशेष उपपद्यते— किं यथाप्रसिद्धमेव कार्यकरणसङ्घातस्य प्रेषयितृत्वम्? किं वा सङ्घातव्यतिरिक्तस्य स्वतन्त्रस्येच्छामात्रेणैव मनआदिप्रेषयितृत्वम्? इत्यस्यार्थस्य प्रदर्शनार्थं 'केनेषितं पतति प्रेषितं मन' इति विशेषणद्वयमुपपद्यते।

इषित-प्रेषित दोनों विशेषणों की चर्चा का उपसंहार

ऐसी व्याख्या से भी यह कैसे प्रकट हुआ कि प्रेषित-शब्द का क्या तात्पर्य है? पूछने वाले का अभिप्राय है कि मान भी लें इषित का मतलब इच्छा से प्रेरित और प्रेषित का मतलब वाणी या कर्म से प्रेरित— यह व्याख्या संगत नहीं हो पायी लेकिन सिद्धान्ती की व्याख्या में प्रेषित-शब्द तो बेकार ही लगता है, इषित से ही स्पष्ट हो जाता है कि किसकी इच्छामात्र से प्रेरणा होती है यह पूछा जा रहा है। अतः प्रेषित-पद का सार्थक्य क्या?

सिद्धान्ती बता चुका है कि प्रेषित न कहने पर गुरु को क्या पूछा जा रहा है यह अस्पष्ट रह जाता। वही प्रेषित-पद का सार्थक्य दूसरे ढंग से बता देते हैं- **ऐसा नहीं कि तात्पर्य प्रकट नहीं हुआ, फिर भी उसे और स्पष्ट कर देते हैं: यह प्रश्न वह कर रहा है जिसे संशय है अतः प्रेषितशब्द का प्रयोजन होना संगत है।** शिष्य को सामान्यतः चेतन ज्ञात हो चुका है यह समझा चुके हैं। युक्ति से संभावित तत्त्व जब तक प्रमाणित न हो तब तक संशय का ही विषय रहता है। अतः शिष्य को पक्षतः चेतनप्रेरयिता संभावित है यह बात वह पदद्वय के प्रयोग से व्यक्त कर रहा है। सभी प्रश्न संशय वाले के नहीं होते। कुछ तो परीक्षा के लिये पूछे जाते हैं, कुछ स्पष्टता के लिये या दृढतामात्र के लिये। कुछ प्रश्न अज्ञात विषयक होते हैं जिनमें क्या हो सकता है वह हमें पक्षतः प्राप्त नहीं होता। प्रश्नकाल में प्रष्टव्य हमारे अज्ञान का ही विषय है। कुछ प्रश्न अवश्य संशय वाले के होते हैं जिसे दो-चार या जितनी भी संभावनायें उपस्थित हों और उनमें एक या कुछ के ही ठीक होने की आशा हो। प्रकृत प्रश्न इसी ढंग का है। शिष्य का संशय ही व्यक्त करते हैं— **प्रेषित से यह कहा कि क्या जैसा प्रसिद्ध है वैसा देह-इन्द्रिय-मनादि का संघात ही प्रेषयिता—प्रेरणा करने वाला है? और इषित से कहा— या संघात से भिन्न ही कोई स्वतन्त्र है जो इच्छामात्र से— संनिधिमात्र से— मनआदि का प्रेषयिता है? यह संशय पता चल जाये इसके लिये शिष्य ने दोनों विशेषण रखे हैं।** संशय पता चलने से सुविधा हो गयी गुरु को उत्तर देने में, अन्यथा प्रारंभ करना पड़ता सामान्य प्रेषयिता से और तब धीरे-धीरे आत्मा तक पहुँचते जैसे भृगु को वरुण ने समझाया।

मनोऽस्वातन्त्र्यम्

ननु 'स्वतन्त्रं मनः स्वविषये स्वयं पतति' इति प्रसिद्धम्; तत्र कथं प्रश्न उपपद्यत इति?

उच्यते— यदि स्वतन्त्रं मनः प्रवृत्तिनिवृत्तिविषये स्यात्, तर्हि सर्वस्य अनिष्टचिन्तनं न स्यात्। अनर्थं च जानन्

सङ्कल्पयति। अत्युग्रदुःखे च कार्ये वार्यमाणमपि प्रवर्तत एव मनः। तस्माद्युक्त एव 'केनेषित' मित्यादिप्रश्नः।

मन स्वतन्त्र नहीं

प्रसिद्ध तो यह है कि मन स्वतंत्र है, ख़ुद ही अपने विषयों पर 'गिरता' रहता है, तब शिष्य का यह प्रश्न कैसे संगत है कि मन किसके इशारे पर बँधा हुआ चेष्टा करता है?

इस प्रश्न का उत्तर श्रुति ने ही 'पतति' से दे दिया है अतएव भाष्यकार ने यहाँ अन्य कोई पर्याय प्रयोग न कर वही पद रखा है। 'पतति' अर्थात् गिरता है। तात्पर्य तो सभी व्यापारों से है लेकिन इसी धातु का प्रयोग साभिप्राय है। गिरना दो तरह का होता है- जानबूझकर और अनजाने। जानबूझकर पुनः दो प्रकार से गिरते हैं— एक तो प्रेम से और दूसरा कोई मतलब सिद्ध करने के लिये। इतने पतनों में उभयत्र बहुधा अनर्थ मिलने पर भी मन गिरता-पड़ता रहता है यह सर्वानुभवसिद्ध है। स्वतंत्र रहते कोई अपने अनर्थहेतु काम-क्रोध से क्यों प्रेरित होगा? और अनजाने गिरना तो परतन्त्रता बताता ही है क्योंकि स्वतंत्र का हर कदम स्वतंत्र होगा तो बिना जाने वह गिरेगा कैसे? प्रकाशादि अनेक चीज़ों के हम परतंत्र हुए ही देख पाते हैं इसीलिये तो अंधेरे आदि में गिर पड़ते हैं। हर हालत में चाहे प्रेम से हो या अन्य कामनादि से और चाहे अनजान में, मन का विषय से सम्बन्ध होना उसका पतन ही है यह उपनिषत् सूचित कर रही है। यही स्पष्ट करते हैं— **बताते हैं कि प्रश्न कैसे संगत हैः प्रवृत्त होने और हटने में यदि मन स्वतन्त्र होता तो सभी लोग कभी-न-कभी जो अपने ही अनिष्ट का चिंतन करते हैं, वह न करते। जानते हुए कि यह अनर्थ है, मन संकल्प करता रहता है। विषय तो दूर, जिस संकल्प को उठाते समय दुःख और उसके संस्कार से आगे भी दुःख होना निश्चित पता है, अनुभूत है, उस संकल्प को भी मन उठाता रहता है। जुआ आदि तुरंत अतितीव्र दुःख देने वाले कार्यों में वह प्रवृत्ति करता है, चाहे जितना उसे रोकने की कोशिश करो। इसलिये यह प्रश्न बिल्कुल उचित है कि कौन इसे प्रेरित करता है।** भाष्य के 'अत्युग्रदुःखे च कार्ये' से अनिष्ट तो समझना ही चाहिये जैसा टीका में बताया है, लेकिन साथ में यह भी समझना चाहिये कि इष्ट फल की आशा से मन जो ऐसे कार्य करता है जिनमें तुरंत और काफी समय तक दुःख निश्चित है, वह भी उसे परतंत्र सिद्ध करता है। सद्यः दुःख का काम सर्वथा स्वतंत्र नहीं कर सकता। दृष्ट या अदृष्ट किसी दबाव में ही व्यक्ति उपस्थित सुख छोड़कर दुःख का मार्ग अपनायेगा। सुखाशा को भी एक अदृष्ट दबाव ही मानना पड़ेगा; जैसे मालिक के लिये नौकर मेहनत का कष्ट उठाता है ऐसे ही हम सुखाशा बनी रहे इसके लिये कष्ट उठा रहे हैं तो उसके दबाव में ही तो! अभी जब हमें कष्ट है तो हमें चाहिये कि उसे हटायें, भावि सुख की संभावना से कष्ट क्यों भोगें? किन्तु उसी के परतंत्र रहकर हम पीडा भोगते रहते हैं। यदि भविष्य सुख मन होता तो कह सकते थे कि वहाँ मन अपने ही अधीन है, स्वतंत्र है; किंतु भावि सुख मन तो है नहीं। मन अभी मौजूद है, सुख किसी सुदूर भविष्य में पैदा होगा, वह मन कैसे हो सकता है? यद्यपि आशा मन है तथापि आशा स्वयं उस भाविसुख के अधीन है अतः पारतन्त्र्य यथावत् है। इसी से सुखमात्र की शेषिता सिद्ध होकर आत्मपारतन्त्र्य मन में निश्चित हो जाता है।

'वार्यमाणमपि'- रोका जाता हुआ भी। प्रश्न है- रोकने वाला कौन? अगर मन ही है तो उसका पारतन्त्र्य नहीं स्वातन्त्र्य ही हुआ; अपनी ही रुकावट को ख़ुद न मानना तो कोई परतन्त्रता नहीं है। और यदि आत्मा रोकता है फिर भी मन नहीं रुकता तो भी मन स्वतंत्र ही हुआ, आत्मा के परतन्त्र कहाँ हुआ? उत्तर है कि वाच्य-आत्मा रोकता है और लक्ष्य-आत्मा से इषित हुआ मन विषयों की ओर प्रेषित हो जाता है। आत्मसत्ताऽतिरिक्तसत्ताकत्वाभाव रूप पारतन्त्र्य मन में हैः मन होगा तो आत्मरूप सत्ता से ही सत्तावान् बनेगा। ऐसे ही मन का जानना आत्मरूप ज्ञान के अधीन है। इन दोनों में मन लक्ष्य-आत्मा के अधीन है क्योंकि वही अधिष्ठान होने से उस पर कल्पित मन में उसी की सत्ता-स्फूर्ति आ जायेगी जैसे रस्सी की लम्बाई आदि साँप में आ जाती है। आत्मसत्ता के बिना तो मन किसी भी तरह होगा नहीं। अतः उसका आत्मपारतन्त्र्य है। वाच्य हुआ अभिमानी आत्मा, संसर्गाध्यास वाला आत्मा। स्वरूपतः आत्मा में अध्यस्त होने से मन का

भी आत्मा में संसर्गाध्यास है ही, अर्थात् मन में आत्मतादात्म्य है। तादात्म्य का अर्थ है तत्सत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभाव। पुनरपि आत्मा का मन में संसर्गाध्यास है, अविवेक-अभिमान है। इसकी अपेक्षा से ही आत्मा वाच्य है। यह वाच्य-आत्मा तो कोशिश करके मन को भेजता या रोकता है। लक्ष्य-आत्मा कोई कोशिश नहीं करता, उसकी (वस्तुतस्तु मन की) संनिधि ही पर्याप्त है। अतः वाच्य के रोके मन नहीं भी रुकता यह तात्पर्य है। जैसे कभी पिशाच का अनुभव होता है जो पिशाच हमारा मनःकल्पित है। उसे हम भगाना चाहते हैं, वह भागता नहीं उल्टा हमें और डराता है। यहाँ वह पिशाच है 'हमारे' ही अधीन लेकिन 'हमारे' भगाये भाग नहीं रहा। या स्वप्न का शेर आदि समझ लेना चाहिये। ऐसे ही वाच्य और लक्ष्य आत्मा दो नहीं, लेकिन फिर भी रोकना और प्रेषित करना दोनों युगपत् हैं। आत्मा स्वतन्त्र है ही, मन परतन्त्र ही है।

इवशब्दोऽध्याहार्यः

मनुतेऽनेनेति विज्ञाननिमित्तमन्तःकरणं* मनः प्रेषितम् *इव—इत्युपमार्थः। न तु इषित-प्रेषितशब्दयोरर्थाविह सम्भवतः; न हि शिष्यानिव मनआदीनि विषयेभ्यः प्रेषयत्यात्मा। विविक्तनित्यचित्स्वरूपतया तु निमित्तमात्रं प्रवृत्तौ, नित्यचिकित्साधिष्ठातृवत्।

इषित-प्रेषित की तरह—ऐसा समझना चाहिये

जिससे मनन-चिन्तन किया जाता है, जो आत्मा के स्वरूपानुभव से अतिरिक्त प्रायः सभी अनुभवों में निमित्त बनता है उस अंतःकरण को यहाँ मन कहा, केवल वृत्तिविशेष को ही नहीं। वह मन मानो प्रेषित होता है— इस प्रकार यहाँ प्रेषित होने वाले शिष्यादि को दृष्टान्त बनाकर कहा है यह समझना चाहिये। इषित-प्रेषित शब्दों का अर्थ तो मन के प्रसंग में बैठेगा नहीं क्योंकि जैसे गुरु चाहकर या कहकर या अन्य चेष्टा से शिष्यादि को प्रवृत्त करता है ऐसे तो आत्मा मनआदि को विषयों की ओर भेजता नहीं, प्रवृत्त करता नहीं कि 'जाओ विषय ग्रहण करो।' वह तो अपने विविक्त नित्य चित्स्वरूप से मन आदि की प्रवृत्ति में केवल निमित्त है। 'विविक्त' से बता दिया कि यहाँ आत्मा अपने अविविक्त रूप से, वाच्यरूप से प्रेषण करने वाला नहीं कहा जा रहा। अविविक्त अर्थात् अभिमानी रूप से पृथक् जो रूप है जिस पर मन कल्पित है वह यहाँ प्रेषयिता कहा जा रहा है। यद्यपि यह आधार रूप है अतः पूरी तरह विविक्त नहीं समझा जा सकता तथापि अभिमानी रूप अविविक्त से अलग रूप है अतः विविक्त कहा गया है। अपने अविविक्त रूप को हम 'मैं' जानते हैं। 'मैं प्रेषित कर रहा हूँ' यह तो हमें लगता नहीं, फिर भी चेतन प्रेषयिता प्रतीत होता है अतः वह 'मुझ' से विविक्त चेतन ही हो सकता है यह तात्पर्य है। विविक्त कहकर ही गुरु आदि से वैलक्षण्य भी स्पष्ट कर दिया। 'नित्य' से बता दिया कि इसमें इच्छा आदि कोई अनित्य धर्म नहीं जिनकी अपेक्षा से प्रेरणा करे, या प्रेरणा 'करे' ही! चित्स्वरूप से बता दिया कि यह निरपेक्ष चेतन है, आगे इसके प्रेरयिता की संभावना नहीं। सभी प्रेरणाओं के लिये चेतन अपेक्षित है यह पहले ही बता चुके हैं। विविक्त भी या नित्य भी यदि चित्स्वरूप न हो तो मनआदि की प्रवृत्ति में निमित्त न होगा। विविक्त भी नित्य न हुआ तो भी निमित्त नहीं होगा। इससे योगाचार माध्यमिक नैयायिकादि सभी का खण्डन कर दिया। नैयायिकादि भी आत्मा को चित्स्वरूप नहीं मानते। 'केवल निमित्त' का अभिप्राय है कि अपने विविक्त नित्य चित्स्वरूप से उसका होना ही मनआदि की प्रवृत्ति के लिये काफी है, इतने से ही उसे निमित्त समझ लिया जाता है। उपादान से या समवायी-असमवायी से भिन्न होना ही निमित्त होने के लिये पर्याप्त है, कुम्हारादि की तरह कुछ करना ही पड़े यह ज़रूरी नहीं। 'तु' (तो) से बता दिया कि एतावता उसे अन्यथासिद्ध भी नहीं मान सकते। यद्यपि साधारणता की प्रतीति हो सकती है तथापि कार्य अपनी सत्ता-स्फूर्ति में साधारण कारण के अधीन नहीं हुआ करता अतः उससे वैलक्षण्य भी सिद्ध है। क्योंकि द्रष्टा निष्क्रिय-अपरिणामी-वस्तु को पूछना चाहता है इसलिये इच्छादि परिणाम वाली अत एव अनित्य वस्तु का प्रसंग न होने से 'इषित की तरह, प्रेषित की तरह' यों 'की तरह' जोड़कर अर्थ समझना चाहिये।

इच्छा व्यक्त किये बिना प्रवृत्ति में निमित्त बनने का उदाहरण देते हैं- **जैसे नित्यचिकित्सा में अधिष्ठाता निमित्त**

बनता है ऐसे आत्मा निमित्त बनता है। भूख एक तरह का रोग ही है! उसे मिटाने को अतएव चिकित्सा कहा 'क्षुद्व्याधिश्च चिकित्स्यताम्'। यह रोज़ की जाने वाली चिकित्सा है अतः इसे नित्यचिकित्सा कहा; अर्थात् भोजन करना। चकोर पक्षी के बारे में प्रसिद्ध है कि विषाक्त भोजन देखते ही उसकी आँखें लाल हो जाती हैं या कुछ लोग कहते हैं कि उसे देखते ही वह आँखें मूँद लेता है। ऐसा भी प्रसिद्ध है कि राजा लोग अपने भोजन की इसी से परीक्षा कराते थे, तब भोजन करते थे। वह चकोर ही अधिष्ठाता कह दिया गया क्योंकि राजा की भोजनप्रवृत्ति उसके अधीन हुई। यहाँ चकोर ने ऐसी इच्छा की हो कि राजा प्रवृत्ति या निवृत्ति करे यह नहीं कह सकते। न उसने किसी तरह यह प्रकट ही किया कि राजा को वह प्रेरित कर रहा है। विषाक्त स्थल में कुछ विक्रिया है भी लेकिन सामान्य स्थल में तो न आँख लाल होती है या न बंद ही होती है। अतः इच्छा समेत कोई भी उसका प्रयत्न राजा को प्रवृत्त करने का नहीं हुआ। फिर भी राजा की प्रवृत्ति या निवृत्ति में निमित्त वह बन ही गया। प्रकृत में दृष्टान्त का इतना ही अंश समझना चाहिये कि चकोर इच्छादि के बिना ही निमित्त बन गया। आगे राजा की प्रवृत्ति चकोर पर उस तरह निर्भर नहीं जिस तरह मन की प्रवृत्ति आत्मा पर, यह बात अलग है।

'प्राणः प्रथम' इत्यस्यार्थः

केन प्राणः युक्तः नियुक्तः प्रेरितः सन् प्रैति गच्छति स्वव्यापारं प्रति। प्रथम इति प्राणविशेषणं स्यात्, तत्पूर्वकत्वात् सर्वेन्द्रियप्रवृत्तीनाम्। प्राण *इति नासिकाभवः, प्रकरणात्। प्रथमत्वं, चलनक्रियायाः प्राणनिमित्तत्वात्। स्वतो विषयावभासमात्रं करणानां प्रवृत्तिः। चलिक्रिया तु प्राणस्यैव मनआदिषु। तस्मात् प्राथम्यं प्राणस्य। प्रैति गच्छति युक्तः प्रयुक्त इत्येतत्।*

'प्राणः प्रथमः' का अर्थ

अगला प्रश्न हैः प्रथम प्राण किससे नियुक्त हुआ, प्रेरणा पाकर अपने कार्य करता है। सभी इन्द्रियों के व्यापार तभी हो सकते हैं जब पहले प्राण सचेष्ट हो, इसी से उसे 'प्रथम' कहा। जो प्रमुखतः नासिका में चलता रहता है उसे प्राण कहा, उपास्य सूत्रात्मा को नहीं, क्योंकि तभी प्रकरण अनुकूल रहता है। मन, वाक्, चक्षु, श्रोत्र सभी आध्यात्मिक हैं तो प्राण भी आध्यात्मिक ही समझना चाहिये यह अभिप्राय है। यद्यपि आठवें मन्त्र के भाष्य में 'प्राणेन घ्राणेन पार्थिवेन' कहेंगे जिसके अनुरोध से यहाँ भी 'नासिकाभावः' का अर्थ घ्राणेन्द्रिय किया जा सकता है तथापि यहाँ व आगे भी प्राण को लेकर घ्राण को भी समझ लेना है, केवल घ्राण का उल्लेख करना या प्राण को गौण ढंग से नहीं समझना है। द्वितीय मंत्र के भाष्य में इसे स्पष्ट कर देंगे 'प्राणग्रहणेनैव तु घ्राणप्राणस्य ग्रहणं कृतमेव मन्यते श्रुतिः।' उसकी प्रथमता इसलिये है कि सभी इंद्रियों का 'चलना' तथा शरीर का भी सक्रिय होना प्राण के कारण ही है, वही क्रियाशक्ति है। करणों की स्वतः प्रवृत्ति तो विषय का अवभास ही है, मन आदि की चलनक्रिया तो प्राण की ही है। अतः प्राण प्रथम कहा। 'स्वतः' अर्थात् स्वरूप से, प्राण की अपेक्षा किये बिना। करण शब्द से मन व ज्ञानेन्द्रियाँ समझें तो अर्थ ठीक ही है। किन्तु उपनिषत् में वाक् का भी उल्लेख करके प्राण को प्रथम कहा और भाष्यकार ने भी सामान्य शब्द 'करण' रखा अतः कर्मेन्द्रियों को भी ले लेना चाहिये। वार्तिककारों ने माना है कि परिणाम और परिस्पन्द दोनों ही क्रिया हैं। ज्ञानेन्द्रियों की 'चलिक्रिया' परिणामरूप है। विषय सम्बन्ध होने पर जो इन्द्रिय में परिणाम होता है, विकार या बदलाव होता है, 'वृत्ति' बनती है, उसमें प्राण हेतु पड़ता है। चक्षु को विषय तक जाने वाला मानने पर भी, तथा कुछ के मत में श्रोत्र को भी जाने वाला मानने पर भी अन्य ज्ञानेन्द्रियों में परिस्पंद तो माना नहीं जाता। परिणाम चक्षु व श्रोत्र में भी मानना ही पड़ेगा। अतः अनुगत होने से उसी को ज्ञानेन्द्रियों की और मन की क्रिया मान लेना चाहिये। इस क्रिया से होने वाला विषय-प्रकाश इन्द्रिय का स्वाभाविक वैशिष्ट्य है। जैसे गीला होने पर ही स्वाद आ सकने पर भी पानी को स्वादग्राहक नहीं मान सकते ऐसे ही प्रकाश को प्राण का वैशिष्ट्य नहीं मान सकते। कर्मेन्द्रियों का भी विषयावभास

देखा जा सकता है: वाणी से शब्दप्रकाश होता ही है। उपस्थ–पायु से भी मलादि प्रकाश में आते हैं। तत्त्वबोध में आदान और ग्रहण को पाणि व पाद का 'विषय' कहा है, इन दोनों को वे प्रकाश में लाते हैं। कर्मेन्द्रियाँ अपने विषय को प्रकाश में लाने के लिये परिस्पन्द करती हैं यह माना जा सकता है। अथवा परिस्पन्द गोलक में ही मानकर इनमें भी परिणाम मानकर सर्वत्र अनुगत क्रिया सिद्ध होती है। कर्मेन्द्रियों की भी क्रिया—परिस्पन्द हो चाहे परिणाम—प्राण की अपेक्षा से ही होती है। अत: भाष्य के करणशब्द से ग्यारहों को समझने में कोई कठिनाई नहीं है। प्राण से क्रियाशक्ति समझनी ही है। उसकी प्रथमता या मुख्यता यही है कि उसके सहारे इन्द्रियाँ अपने विषयों का प्रकाश कर पाती हैं। **वह प्राण किससे प्रयुक्त हुआ, प्रेरित हुआ ख़ुद कार्य करता है व दूसरों के कार्य करने में हेतु बनता है?— यह प्रश्न है।**

मन्त्रशेषस्यार्थः

केन इषितां वाचम् इमां शब्दलक्षणां वदन्ति लौकिकाः। तथा चक्षुः श्रोत्रं च स्वे स्वे विषये क उ देवो द्योतनवान् युनक्ति नियुङ्क्ते प्रेरयति। *वाचो वदनं किंनिमित्तम्? प्राणिनां चक्षुःश्रोत्रयोश्च* को देवः *प्रयोक्ता? करणानामधिष्ठाता चेतनावान् यः स किंविशेषण इत्यर्थः।।१।।*

बचे हुए मन्त्र का अर्थ

लौकिक लोग जो यह शब्दलक्षणा वाणी बोलते हैं यह किससे इषित है, किसकी इच्छा से नियन्त्रित हुई बोली जाती है? वाणी को 'शब्दलक्षणा' कहा क्योंकि उससे शब्द का लक्षण अर्थात् दर्शन हो पाता है। समझना यहाँ करण ही है। गौण रूप से शब्द भी समझ सकते हैं यह चतुर्थ मंत्र के व्याख्यान में स्पष्ट होगा। शब्द भी जो अर्थप्रकाश कर पाते हैं वह आत्मा से इषित–प्रेषित हुए ही। 'इमाम्' (यह) से प्रकृत शास्त्रीय वाणी और 'लौकिकाः' से अशास्त्रीय वाणी दोनों का संग्रह है। मन को गिरने वाला कहा था, प्राण को भी चलने वाला कहा था किंतु वाणी को अपने व्यापार का कर्ता नहीं बनाया, लोगों को ही बोलने वाला कहा। आगे चक्षु और श्रोत्र को भी नियुक्त कह कर छोड़ दिया, अपने व्यापारों के कर्तारूप से नहीं कहा। अभिप्राय है कि प्राण और मन पर हमारा नियंत्रण न्यूनतम है अत: उनके व्यापार तो वे ख़ुद कर रहे हैं ऐसा लगता है। वागादि पर हमारा कुछ अधिक नियन्त्रण है अत: इन्हे हम काम पर लगाते हैं ऐसा लगता है।

वह कौन प्रकाशमान देव है जो चक्षु और श्रोत्र को अपने-अपने विषय की ओर प्रेरित करता है? न केवल प्रेरित करने वाले का प्रश्न है, वे जो अपने ही विषय में बँधी रहती हैं, एक इंद्रिय दूसरी इन्द्रिय के विषय को ग्रहण नहीं कर पाती, यह व्यवस्था बनाकर कौन रखता है? यह भी ध्वनित करने के लिये भाष्य में 'स्वे स्वे विषये' कह दिया। अत एव भाष्यकार विस्तार से ईश्वर का प्रतिपादन करेंगे।

तात्पर्य है कि वाणी जो बोलने का काम करती है इसमें कौन निमित्त बनता है, प्राणियों के चक्षु और श्रोत्र का प्रयोजक देव कौन है, अर्थात् जो चेतनावाला तत्त्व करणों का अधिष्ठाता है, **निर्विकार रहते हुए भी प्रवृत्ति में निमित्त है, उसे बाकी सब चीज़ों से अलग कर कैसे समझें?।।१।।**

द्वितीयो मन्त्रः

अवतरणिका

एवं पृष्टवते योग्यायाह गुरुः -

दूसरा मन्त्र : अवतरणिका

इस प्रकार जिसने पूछा उस योग्य शिष्य को गुरु ने कहा— प्रश्नसंरचना से ही शिष्य की योग्यता व्यक्त हो

गयी। अयोग्य शिष्य को परा विद्या देना अनर्थकारी है यह भी इससे सूचित हो गया। शिष्ययोग्यता उपदेशसाहस्री के गद्यभाग में बहुत स्पष्ट की गयी है। साथ ही योग्य शिष्य को उपदेश अवश्य देना चाहिये यह मुण्डकभाष्योक्त नियम भी यहाँ प्रदर्शित हो गया। 'जिसने पूछा' से परिप्रश्नरूप स्मार्त साधन भी इंगित है।

मन्त्रः

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद् वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।।२।।

मन्त्रार्थ

जिसके बारे में तुमने पूछा है **सः** = वह **यत्** = क्योंकि **ह** = निश्चय ही **श्रोत्रस्य** = श्रोत्रेन्द्रिय का **श्रोत्रं** = श्रोत्र है (इंद्रिय के श्रोत्रत्व का निमित्त है), **मनसः** = मन का **मनः** = मन है, **वाचः** = वागिन्द्रिय का **वाचम्** = वाक् है, और **उ** = वही **प्राणस्य** = प्राण का **प्राणः** = प्राण है, **चक्षुषः** = चक्षुरिन्द्रिय का **चक्षुः** = चक्षु है; इसलिये **धीराः** = बुद्धिमान् लोग उसे जानते हैं और उस ज्ञान से **अतिमुच्य** = श्रोत्रादि इन्द्रियों से तादात्म्य छोड़कर **अस्मात्** = इस **लोकात्** = मैं-मेरा व्यवहाररूप लोक से **प्रेत्य** = हटकर **अमृताः** = मरणरहित **भवन्ति** = हो जाते हैं।

धीर शब्द से ब्रह्मचर्य आदि साधनों से सम्पन्न अधिकारी कहा गया है यह बताकर शंकरानन्द स्वामी ने 'अतिमुच्य' आदि वाक्यखण्ड की वैकल्पिक व्याख्या की है- 'अतिमुच्य' = 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा उस आत्मा को साक्षात् जानकर 'अस्मात्' = हर प्राणी को प्रत्यक्ष इस 'लोकात्' = शरीराभिमान को 'प्रेत्य' = छोड़कर 'अमृताः' मरण के कारणभूत अविद्या और उसके कार्य से रहित 'भवन्ति' हो जाते हैं। भाष्यकारों ने 'प्रेत्य' का एक अर्थ मरना भी किया है। अतः 'अतिमुच्य धीराः' से जीवन्मुक्ति और 'प्रेत्य' आदि से विदेहमुक्ति का वर्णन यहाँ माना गया है। इस मन्त्र में तटस्थप्रक्रिया से आत्मा को बताकर तीसरे मंत्र में विदित-अविदित के साक्षी का, आत्मस्वरूप का वर्णन करेंगे। इतने में उपदेश हो जायेगा, फिर यथाप्रश्न उत्तर देते हुए इसी का स्पष्टीकरण होगा। यहाँ भाष्यकारों ने 'ज्ञात्वा' पद का अध्याहार माना है जो श्रुति के 'धीराः' से ही सूचित है। धी अर्थात् बुद्धि; बुद्धिमान् को धीर कहते हैं, र प्रत्यय मत्त्वर्थीय है। अतः 'धीराः सन्तः अतिमुच्य' कहकर श्रुति ने 'ज्ञात्वा' यह अर्थात् बता दिया क्योंकि बिना ज्ञान हुए धीर कैसे हो पायेंगे?

यद्यपि 'केन' से प्रश्न था तो उत्तर में तृतीयान्त पद से आत्मा का निर्देश होना चाहिये तथापि आत्मा में कर्तृत्वादि की प्रसक्ति न हो अतः प्रातिपदिकार्थमात्र में प्रथमा कर 'श्रोत्रम्' आदि शब्दों से उत्तर दिया गया है। हम समझते हैं कि श्रोत्रादि के श्रोत्रत्वादि में हम ही कारण हैं, हम हैं तब न श्रोत्रादि कार्यकारी होते हैं! अतः श्रोत्र का श्रोत्र त्वम्पदार्थ है यह हमारा मानना है। यहाँ उसी श्रोत्र के श्रोत्रत्वकारण को अर्थात् हमारे द्वारा समझे त्वमर्थ को परमात्मा कहा गया है क्योंकि उसकी धी वाला होने से अमरता बतायी है। एवं च प्रत्यग्-ब्रह्म की एकता का यह उपदेश है।

प्रश्न में मन, प्राण, वाक्, चक्षु और श्रोत्र यह क्रम था, उत्तर में उसे बदल दिया। सामर्थ्य तारतम्य इससे सूचित है: ज्ञानेन्द्रियों में श्रोत्र का क्षेत्र सबसे विस्तृत है, दृष्ट-अदृष्ट, व्यवहित, लौकिक-अलौकिक, सत्-असत् सभी श्रोत्र के विषय हैं। तदनन्तर मन का स्थान है क्योंकि वह ज्ञानेन्द्रियों से लाये गये ज्ञानों पर निर्भर रहता है। पुनश्च मन ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों दोनों से सम्बद्ध होता है अतः श्रोत्र और वाक् के मध्य उसे रखा। कर्मेन्द्रियों में प्रधान वाणी है, अतः अध्यात्म में यही पत्नी है, आत्मा के लिये रखे तीन अन्नों में इसे ही स्थान मिला है। सभी करणों की कार्यकारिता में हेतु प्राण है किन्तु आहार से अतिरिक्त यह कुछ स्वयं ग्रहण नहीं कर सकता और अध्यात्म से बाहर कुछ व्यक्त नहीं कर सकता। चक्षु का क्षेत्र बहुत ही सीमित है यह तो स्पष्ट ही है। पांक्तता बताते हुए (बृ.१.४.१७) इन्हीं पाँचों का उल्लेख है। ऐसे ही देवों का पाप से छूटकर मोक्ष बताते हुए इन्ही का नाम लिया है (बृ.१.३.१२-१६) वहाँ प्राण से घ्राण कहा है यह बात अलग

है। इतना ही नहीं, आत्मा की कृत्स्नता (पूर्णता) बताने के लिये जो उसके कर्मनाम कहे हैं वहाँ भी ये ही उपाधियाँ ली हैं 'अकृत्स्नो हि स प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति, वदन् वाक्, पश्यंश्चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रम् मन्वानो मनः, तान्यस्यैतानि कर्मनामान्येव' (बृ.१.४.७)। बृहदारण्यक चतुर्थाध्याय में (४.१८) इन्ही के सहारे परमात्मा समझाया है 'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः। ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यम्॥' वहाँ के 'विदुः' से भी यहाँ 'ज्ञात्वा' का अध्याहार संगत है। इस प्रकार सभी जगह जिस ढंग से ब्रह्म वेदान्तों में समझाया गया है उसी ढंग से यहाँ संक्षेप में समझा रहे हैं यह स्पष्ट है।

गुरोरुत्तरम्

शृणु यत्त्वं पृच्छसि 'मनआदिकरणजातस्य को देवः स्वविषयं प्रति प्रेरयिता? कथं वा प्रेरयति?' इति। श्रोत्रस्य श्रोत्रम्। शृणोत्यनेनेति श्रोत्रम्, शब्दस्य श्रवणं प्रति करणं शब्दाभिव्यञ्जकं श्रोत्रमिन्द्रियम्। तस्य श्रोत्रं स, यस्त्वया पृष्टः 'चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति?' इति।

गुरु का उत्तर

जिसे तुम पूछ रहे हो उस मनआदि के प्रेरक को बताते हैं, सुनोः तुमने यही पूछा था कि मनआदि करणसमूह को अपने विषय की ओर प्रेरित करने वाला कौन दैव है और किस ढंग से प्रेरित करता है। यद्यपि शिष्य ने अनेक किं-शब्द रखे थे (केन, केन, केन, कः) तथापि गुरु ने करणों को भी इकट्ठा कर दिया और प्रेरक के लिये भी एक ही शब्द रख दिया। प्रश्न का इस तरह अनुवाद कर आचार्यों ने बता दिया कि करणों के अनुग्राहक देवताओं का प्रश्न नहीं है बल्कि सभी का जो एक प्रेरक है उसी का प्रश्न है अतः उत्तर में एक ही 'सः' कहकर उसे बताया है। शंकरानंदजी ने तो विकल्प से 'यत्' का भी 'यः' अर्थ कर दिया है जिससे और स्पष्ट हो जाता है कि सबका एक ही प्रेरक है। 'करणसमूह' के द्वारा संहतता व्यक्त की; न केवल करणों में प्रवृत्ति है, वरन् वे परस्पर मिलकर किसी प्रयोजन के लिये भी प्रवृत्त होते हैं। चलना है तो आंख देखती है, कान आहट सुनता है, सामने कोई हो तो वाणी बोलकर उसे हटने को कहती है, कुछ पड़ा हो तो हाथ उठा देता है इत्यादि। इस सामूहिक प्रवृत्ति का प्रेरक एक हो तभी ऐसा संभव है। ये दोनों बातें— सब इंद्रियों का प्रेरक तथा इनके ताल-मेल का हेतु— हमें त्वंपदवाच्य में प्रतीत होती हैं किन्तु विवेकी शिष्य को उसी में संदेह हुआ कि वह यदि ऐसा प्रेरक होता तो अनिष्टादि न होते। एवं च सामान्यतः जो त्वमर्थ समझा जा रहा है उसे तदर्थ कहने के अभिप्राय को यहाँ स्पष्ट कर दिया।

शिष्यप्रश्न में 'इमाम्' वाणी के लिये कहा था किन्तु उससे यह ध्वनित होता है कि वह अपने एक ही मन प्राणादि के प्रेरक को पूछ रहा है। उत्तर में ऐसा कोई पद न देकर यह भी व्यक्त कर दिया कि सर्वत्र सभी करणों के प्रेरक को यहाँ बता रहे हैं। अपरिच्छिन्न का ही उपदेश हैं।

इस प्रकार प्रश्न का अनुवाद कर उत्तर देना प्रारंभ करते हैं- **चक्षु व श्रोत्र को कौन नियुक्त करता है?— यों जिसे पूछा था वह श्रोत्र का श्रोत्र है। जिससे सुना जाता है, शब्द सुनने में जो असाधारण साधन है, जिसके द्वारा शब्द हमारे प्रति प्रकाशित होता है वह इन्द्रिय श्रोत्र कही जाती है। उस श्रोत्र का भी जो श्रोत्र है वही श्रोत्रादि को प्रेषित करने वाला है।** 'श्रोत्र का श्रोत्र' यहाँ पहला श्रोत्र क्या है यह समझा दिया। दूसरे श्रोत्रशब्द का अभिप्राय स्वयं भाष्यकार आगे व्यक्त करेंगे।

प्रतिवचनाननुरूपताशङ्का

'असौ, एवंविशिष्टः श्रोत्रादीनि नियुङ्क्त' इति वक्तव्ये नन्वेतदननुरूपं प्रतिवचनं 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इति?

जवाब के औचित्य पर शंका

शिष्य के प्रश्न का उत्तर ऐसे देना चाहिये थाः इन विशेषताओं वाला यह अमुक है जो श्रोत्रादि को नियुक्त, प्रेरित, करता है। इसकी जगह 'श्रोत्र का श्रोत्र' यह कहना सवाल के अनुरूप नहीं है।

निर्विशेषस्यैवमेव बोध्यत्वान्मैवमिति समाधानम्

नैष दोषः, तस्य अन्यथा विशेषानवगमात्। *'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादि प्रतिवचनं निर्विशेषस्य निमित्तत्वार्थम्। विक्रियादिविशेषरहितस्यात्मनो मनआदिप्रवृत्तौ निमित्तत्वमित्येतच्छ्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादिप्रतिवचनस्यार्थः।* यदि हि श्रोत्रादिव्यापारव्यतिरिक्तेन स्वव्यापारेण विशिष्टः श्रोत्रादिनियोक्ताऽवगम्येत, दात्रादिप्रयोक्तृवत्, तदेदम् अननुरूपं प्रतिवचनं स्यात्। न त्विह श्रोत्रादीनां प्रयोक्ता स्वव्यापारविशिष्टो लवित्रादिवदधिगम्यते। श्रोत्रादीनामेव तु संहतानां व्यापारेण आलोचनसङ्कल्पाध्यवसायलक्षणेन फलावसानलिङ्गेनावगम्यते — अस्ति हि श्रोत्रादिभिरसंहतो यत्प्रयोजनप्रयुक्तः श्रोत्रादिकलापः, गृहादिवद्, इति 'संहतानां परार्थत्वाद्' अवगम्यते श्रोत्रादीनां प्रयोक्ता। तस्मादनुरूपमेवेदं प्रतिवचनं 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादि।

समाधान

उत्तर उचित ही है, अनुरूप न हो ऐसा नहीं। अन्य किसी ढंग से उस प्रेरक का ऐसा ज्ञान हो सके जो अभी नहीं है, यह संभव नहीं। अभी हमें ज्ञानादिरूप से जो भान है वह भी है उसी का पर वह 'विशेष-अवगम' नहीं अर्थात् ऐसा भान नहीं जो उसके अज्ञानादि को हटा सके। 'विशेष अवगम' के लिये ही प्रश्न है अतः जिस तरह विशेष अवगम हो उसी तरह जवाब देना पड़ेगा। विशेष अवगम का तरीका यही है कि जहाँ आत्मत्व व्यक्त हो वहीं उसके मूल की ओर इशारा किया जाये। **'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' आदि जवाब यह समझाने के लिये है कि निर्विशेष आत्मा श्रोत्रादि के प्रेरित होने में निमित्त है। परिवर्तन आदि किसी खासियत वाला जो नहीं उसी आत्मा में मनआदि की प्रवृत्ति के प्रति निमित्तता समझनी चाहिये— यह गुरुवचन का तात्पर्य है।** सवाल किया था कि मन आदि के प्रवर्तक की क्या ख़ासियत है? जवाब देना है कि वह बिना ख़ासियत वाला है, खासियत न होना ही मानो उसकी ख़ासियत है। जब वह विशेषों से रहित ही है तो उसकी क्या विशेषता कही जाये? जैसे वायु का रंग कोई पूछे तो यही कहना पड़ेगा कि उसका कोई रंग नहीं। ऐसे ही आत्मा की विशेषता पूछी तो यह बताना पड़ेगा कि वह बाकी चीज़ों से अलग कैसे समझा जाये। विशेषता पूछने का प्रयोजन भी यही है। विशेष अर्थात् व्यावर्तक धर्म, वह क्रिया, गुण या संबंध जिससे हम उस पदार्थ को अन्यों से पृथक् समझ सकें। आत्मा में ऐसा कोई विशेष नहीं है। बाकी चीज़ों में विशेष हुआ करते हैं। अतः विशेष न होना ही उसे बाकी संसार से अलग कर देता है इसलिये मानो यही उसका विशेष हो गया। यदि उसमें क्रियादि विशेष होते तो वह भी घटादि की तरह अनात्मा ही होता! सही ज्ञान यही है 'मैं किसी भी विशेष से रहित ज्ञानस्वरूप हूँ।' महावाक्य से होने वाला अन्तिम शब्दबोध यही है। इसमें विशेष न भासने से ही यह निष्प्रकारक कहा जाता है। विशेष और विशिष्ट ये हिस्से न होने से यही अखण्डाकार कहा जाता है। यहाँ 'हूँ' इसे वाक्यसाधुत्व के लिये रखा है, बोधप्रदर्शनार्थ नहीं। केवल निर्विशेष से शून्यत्वादि की प्रसक्ति का वारण 'चैतन्यात्मक' से कर दिया। 'मैं' पुरुषार्थताप्रकाश के लिये है। उपदेशकाल में ब्रह्मादि शब्दों से जिसे कहते हैं, बोध के अनुवाद में उसे ही निर्विशेष चेतन कहा। इसी तरह 'मैं' भी तात्पर्यविषयीभूत को ही कह रहा है। यह प्रश्न नहीं उठा सकते कि आत्मा में विशेषता का अभाव है तो द्वैत हो गया- एक आत्मा और अभाव। प्रश्न उठता इसलिये नहीं कि अभाव से दूसरापन कहीं नहीं माना जाता। 'कमरे में आदमी अकेला बैठा है' यह तो सबको प्रतीत हो सकता है, वहाँ 'मौजूद' अनन्त अभावों की अपेक्षा से 'वह अकेले नहीं, अनेकों के (अभावों के) साथ है' ऐसा किसी को प्रतीत होता नहीं। वास्तव में अभाव भावों से पृथक् कोई सत्ता वाली चीज़ हो ऐसा नहीं है। कमरे में अनन्त विभिन्न अभाव 'मौजूद' ऐसे नहीं हैं जैसे वहाँ पड़े घड़े, गलीचे आदि मौजूद हैं। अभाव एक

विचार है। घड़े को हम कपड़ा देखना चाहते हैं, तब कहते हैं 'यह कपड़ा नहीं है।' कमरे में हम हाथी देखना चाहते हैं तब हमें लगता है 'यहाँ हाथी नहीं है।' ठीकरों को हम घट देखना चाहते हैं तो कह देते हैं 'अब घड़ा नहीं रहा' और तिलों को तेल देखना चाहने पर कह दिया 'अभी तेल नहीं है।' घड़े का 'कपड़ा न होना', कमरे में 'हाथी न होना', 'अब घड़ा न रहना' और 'अभी तेल न होना',— ये सब 'न होना' हमारा एक विचार है। घड़ा, कमरा, ठीकरे, तेल— ये 'चीज़ें' हैं, इन्हें होने के लिये हमारे विचार की अपेक्षा नहीं। लेकिन 'न होना' इसी पर निर्भर करता है कि हम क्या सोचें। विषय पर असत्त्वापादक आवरण रहते उसका 'नहीं है' ऐसा व्यवहार हो जायेगा। असत्त्वापादक आवरण अज्ञानरूप होने से भावात्मक ही है, विषय भी भावात्मक है, 'नहीं है' यह व्यवहार भी भावात्मक ही है। ये सभी भावात्मक हैं तो अभाव को कहाँ उपस्थित कहा जाये? अतएव अभाव से कोई दुकेला नहीं हो जाता। और वस्तुतस्तु यदि अभाव परमात्मा से पृथक् सत्ता वाला कुछ हो तभी सद्वयता की संभावना हो। भाव या अभाव कुछ भी जब परमात्मा से पृथक् सत्ता वाला नहीं तब अभाव से सद्वितीयता हो सकती है यह प्रश्न ही कैसे उठेगा? ऐसा नहीं कि आत्मा में विशेषाभाव रहते भी आत्मा अद्वितीय माना जा रहा हो; आत्मा में विशेष की तरह विशेषाभाव का भी प्रसंग कहाँ? अब जिज्ञासा हो सकती है कि अभाव सब व्यवहारों में कैसे अंग बनता रहता है? परिहार यह है कि व्यवहार के लिये 'स्वरूप' चाहिये, वह स्वरूप चाहे कल्पित ही हो। जैसे कर्ण का राधा के प्रति मातृव्यवहार चलता रहा जबकि वह उसकी माता थी नहीं, ऐसे ही अभाव का एक कल्पित स्वरूप हमें समझ आ रखा है, इसी से उसका व्यवहार हम करते रहते हैं। चीज़ों का मिलान करने पर, तुलना करने पर, उनके भावभूत धर्मों का ग्रहण होता है और तभी हम अभावभूत धर्मों का उन पर आरोप करते हैं। 'मिलान करना' ही प्रतियोगी उपस्थित करना है। इस प्रकार अभाव सर्वत्र आरोपित ही है। अतएव अभावज्ञान संस्कारापेक्ष है। अतः आत्मा निर्विशेष है, अद्वितीय है। यही स्पष्ट करने के लिये उसे द्वैताभाव से उपलक्षित कह दिया जाता है। अगर कपड़े आदि में सफेदी आदि की तरह आत्मा में कोई विशेष होता, तो श्रुति वही बता देती। श्रुति जब 'उपलक्षणा' से ही जवाब दे रही है तो यही समझा रही है कि वह निर्विशेष है। कौवे से घर समझाते हैं तो कौवा उपलक्षण है। ऐसे ही श्रोत्रादि से आत्मा को उपलक्षित किया जा रहा है। आत्मा सुनता नहीं लेकिन सुनने से आत्मा का पता लग जाता है जैसे घर कौवे 'वाला' नहीं—विशिष्ट नहीं—लेकिन कौवे से घर का पता लग जाता है।

कोई पूछे 'दरांती कौन चला रहा है?' तो हम कह सकते हैं 'जो अभी यहाँ से गया था, जो सामने खड़ा है, सांवले रंग का है, तुम्हारे दोस्त का बाप है, वह वैश्य दरांती चला रहा है।' दरांती चलाने से अन्य उसमें क्रिया, गुण आदि हैं अतः उनके सहारे हम उसे समझा सकते हैं। किन्तु श्रोत्रादि का जो नियोक्ता, प्रेरक है, श्रोत्रादि के व्यापारों से अन्य उसके निजी कोई व्यापारादि हैं नहीं कि उनसे उसे बता सकें। अगर ऐसे व्यापार होते और गुरु ने न बताये होते तो कह सकते थे कि जवाब ठीक नहीं। जब आत्मा ऐसे किसी व्यापारादि वाला नहीं है तो उसे श्रोत्रादि के ही व्यापार से बताना उचित ही है।

संहत अर्थात् परस्पर मिलकर, ताल-मेल बैठाकर, काम करने वाले जो श्रोत्रादि हैं उनके व्यापार से आत्मा का पता चलता है। व्यापार; जैसे आँख का व्यापार देखना, मन का व्यापार या वृत्ति संकल्प करना, बुद्धि का व्यापार निश्चय करना। इनसे आत्मा का पता चलता है। ये व्यापार 'फलावसानलिंग' हैं। इस शब्द के दो तरह अर्थ संभव हैं। फल अर्थात् अवगति, ज्ञान। फलावसान अर्थात् फल की निष्पत्ति, फल संपन्न हो जाना। फलावसान ही व्यापार में लिंग है, व्यापार का ज्ञापक है क्योंकि अवगति से ही पता चलता है कि करण ने व्यापार किया। ऐसा जो फलावसानलिंग रूप व्यापार, वह आगे आत्मा को बताता हैं। दूसरा अर्थ है कि फलरूप जो अवसान है उस आत्मा का लिंग, ज्ञापक, यह व्यापार है। आत्मा नित्य अवगतिरूप है, उसे ही वृत्तिरूप व्यापार अभिव्यक्त करता है अतः उसमें लिंग बनता है। उभयथा व्यापार से आत्मा का पता चलता है। कैसे? यह बताते हैं-**संहत नियमतः परार्थ—किसी अन्य के लिये हुआ करते हैं। श्रोत्रादि का समुदाय जिसके प्रयोजन को पूरा करने के लिये प्रेरित हुआ व्यापार करता है वह ज़रूर श्रोत्रादि से**

असंहत है। दीवाल, दरवाज़े, छत आदि का संघात होने से घर अपने से भिन्न किसी देवदत्तादि के लिये हुआ करता है जो उस घर के बनने या बने रहने में निमित्त होता है। ऐसे ही श्रोत्रादि की प्रवृत्ति का निमित्त इनसे भिन्न है यह निश्चित हो जाता है। यहाँ यह प्रयोग है: श्रोत्रादि, अपने से भिन्न किसी के शेष हैं (अपने से भिन्न के लिये हैं), क्योंकि संहत हैं (मिलजुल कर कार्यकारी होते हैं) जैसे घर आदि। इस प्रकार जो श्रोत्रादि का शेषी (जिसके लिये श्रोत्रादि कार्यरत रहते हैं) सिद्ध हुआ वह भी यदि संहत हो तो घर आदि की तरह जड होगा और फिर उसका अन्य शेषी ढूँढना पड़ेगा तथा यह परंपरा समाप्त नहीं हो पायेगी। अतः श्रोत्रादि के शेषी को असंहत, इसलिये चेतन मानना पड़ेगा। इसलिये सर्वसाक्षी चित्तत्त्व की ओर इंगित करने का जो ढंग अपनाया वह ठीक ही है यह कहते हैं—**अतः विवक्षित विषय के अनुरूप ही जवाब है 'श्रोत्र का श्रोत्र' इत्यादि।**

द्वितीयश्रोत्रपदार्थः

कः पुनरत्र पदार्थः 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादेः? न ह्यत्र श्रोत्रस्य श्रोत्रान्तरेण अर्थः, यथा प्रकाशस्य प्रकाशान्तरेण।

नैष दोषः। अयमत्र पदार्थः— श्रोत्रं तावत् स्वविषयव्यञ्जनसमर्थं दृष्टम्। तच्च स्वविषयव्यञ्जनसामर्थ्यं श्रोत्रस्य चैतन्ये ह्यात्मज्योतिषि नित्येऽसंहते सर्वान्तरे सति भवति, नाऽसतीति। अतः 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्याद्युपपद्यते। ***अनुगमात्; तदनुगतानि ह्यत्रास्मिन्नर्थेऽक्षराणि। कथम्? शृणोत्यनेनेति श्रोत्रं, तस्य शब्दावभासकत्वं श्रोत्रत्वम्। शब्दोपलब्धृरूपतयाऽवभासकत्वं न स्वतः, श्रोत्रस्याऽचिद्रूपत्वाद्। आत्मनश्च चिद्रूपत्वाद् यच्छ्रोत्रस्योपलब्धृत्वेन अवभासकत्वं तदात्मनिमित्तत्वात् 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्युच्यते। यथा 'क्षत्रस्य क्षत्रम्', यथा वा उदकस्यौष्ण्यमग्निनिमित्तम् इति दग्धुरप्युदकस्य दग्धाऽग्निरुच्यते।***

दूसरे श्रोत्र शब्द का अर्थ

'श्रोत्र का श्रोत्र' इस उत्तर में शब्दों का विवक्षित अर्थ क्या है? यह तो हो नहीं सकता कि कान का कोई दूसरा कान कहा जा रहा हो! जैसे रोशनी को अन्य रोशनी से कोई प्रयोजन नहीं ऐसे कान को अन्य कान से कोई प्रयोजन नहीं। प्रष्टा का तात्पर्य है कि यदि करण भी करणापेक्ष होगा तो अनवस्था होगी। पूर्व में जैसे शेषी आत्मा सिद्ध हुआ वैसे ही द्वितीय श्रोत्र आत्मा को बताना है अतः यह प्रश्न उठाया। यहाँ संकेत से ज्ञानजाड्य का भी खण्डन है। यदि ज्ञान स्वप्रकाश नहीं, तो वह चाहे व्यवसायरूप विषयज्ञान हो और चाहे अनुव्यवसायरूप ज्ञानज्ञान हो, वह प्रकाशान्तर-सापेक्ष ही रहकर अनवस्था से पीडित अवश्य रहेगा। यद्यपि जिज्ञासा न होने से अनवस्था को जानकारी में रुकावट डालने वाला न मानकर सन्तोष किया जाता है तथापि ज्ञान के प्रकाश के लिये स्वरूपसत् अनन्त ज्ञान माने बिना कार्य चलेगा नहीं और अनन्त की पूर्ति न हो सकने से ज्ञान का प्रकाश होगा नहीं। अन्यथा उपपत्ति रहते केवल तर्क से असंभव मान्यता में आग्रह नहीं रखा जा सकता। प्रथम श्रोत्रादि से शब्दाद्याकार वृत्तिज्ञान और द्वितीय श्रोत्रादि से साक्षिरूप ज्ञान को समझने से ही निस्तार होगा यह तात्पर्य है। प्रश्न का भाव यह है कि वृत्तिज्ञान को ही प्रकाशरूप क्यों न मान लें? फलरूप ज्ञान का करण वृत्तिज्ञान है अतः श्रोत्रादि करणवाचक शब्दों से उसे समझना सरल ही है। इसी से विज्ञानवादी का भी यह प्रश्न बन जाता है। अनित्य विज्ञानों से ही काम चल सके तो उनसे अन्य नित्य विज्ञान क्यों मानना? प्रकाश का उदाहरण देकर आचार्यों ने ये विषय सूचित कर दिये हैं।

उक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं—**करण को करणान्तर-सापेक्ष बताना रूप दोष इस श्रौत उत्तर में नहीं है। उत्तर के शब्दों का यह अभिप्राय है : यह देखा गया है कि श्रोत्र अपने विषय को व्यक्त करने में समर्थ है। उसका वह सामर्थ्य तभी संभव है जब चेतन, स्वप्रकाश, अविनाशी, असंहत और सबमें रहने वाला आत्मा हो। यदि ऐसा**

आत्मा न होता तो श्रोत्र का वैसा सामर्थ्य भी हो नहीं सकता था। इसलिये 'श्रोत्र का श्रोत्र' इस प्रकार दूसरे श्रोत्र शब्द से आत्मा कहा गया है, करणान्तर नहीं। यहाँ भी श्रोत्र से इंद्रिय तथा तज्जन्य शब्दाकार वृत्ति दोनों समझ लेने चाहिये। करण को आत्मा की अपेक्षा इसलिये है कि सर्वत्र करण कर्ता द्वारा प्रयुक्त हुआ ही साधन बनता है। क्रिया में स्वतंत्र कर्ता किसी कर्म के उद्देश्य से करण का प्रयोग करता है। जैसे चेतन से असम्बद्ध कुल्हाड़ी आदि कुछ नहीं करते ऐसे ही श्रोत्रादि भी नहीं कर सकते। स्वचालित यंत्र भी परंपरया चेतन-अधिष्ठित ही होता है। अत्याधुनिक संगणकों की चाहे लम्बी शृंखला हो और चाहे उन्हे परस्पर प्रेरक-प्रेरित बना कर छोड़ दिया जाये ताकि आपाततः लगे कि सर्वथा चेतन अधिष्ठाता के बिना ही करण व्यापार चल रहा है, फिर भी वे रहते चेतनसापेक्ष ही हैं। संगणकों के मालिक को घाटा होते ही यह तथ्य व्यक्त हो जाता है! हालांकि कोई कहेगा कि किसी संगणक को ही फायदा-नुकसान पहचानने वाला बना दें तो घाटा होने पर वही काम रोक भी देगा, चेतन की ज़रूरत नहीं; फिर भी जब मालिक घाटा सहकर अपने नाम की रक्षा के लिये कार्य चलाता रहता है, तब अंतर पता चल जाता है। एवं च करण होने से श्रोत्रादि आत्मा चाहते हैं। आत्मा न हो तो वे करण नहीं बन सकते। 'मैं कान से सुन रहा हूँ' आदि अनुभव श्रोत्रादि की करणरूपता में प्रमाण है। वह चेतन स्वप्रकाश इसलिये चाहिये कि कर्तृता के लिये अपेक्षित स्वातंत्र्य उसके बिना संभव नहीं। चेतन की अविनाशिता तो चैतन्य की अन्यथानुपपत्ति से ही सिद्ध है। करण को भी नित्य न सही किन्तु स्थायी आत्मा चाहिये जो करण, क्रिया, कर्म, व्यापार आदि को जाने, फिर प्रयोग करे, फल की परीक्षा करे, यथेष्ट होने पर विश्राम करे, अयथेष्ट हो तो पुनर्नियुक्त करे तथा इन सब अनुभवों का कालान्तर एवं व्यवहारान्तर में प्रयोग करे। उसकी असंहतता की आवश्यकता पहले ही बता चुके हैं। क्योंकि सब के श्रोत्रादि करण कार्यरत हैं इसलिये आत्मा सर्वान्तर होना ही पड़ेगा। वृत्तिज्ञान भी आत्मज्ञान-सापेक्ष है। वृत्तिज्ञान कभी होता है, कभी नहीं होता, कादाचित्क है। उसके होने-न-होने की हमें जानकारी रहती है। यदि वृत्तिज्ञान से अतिरिक्त आत्मज्ञान न होता तो यह जानकारी संभव नहीं थी। यह नहीं कह सकते कि वृत्ति न होने की वृत्तिविशेष होती है जिससे वृत्ति न होने की जानकारी रहती है! क्योंकि नहीं तो हमेशा अनन्त वृत्तियाँ हैं ही, उनका 'न होना' भी पृथक्-पृथक् ही है क्योंकि एक के हो जाने से सबका 'न होना' हट नहीं जाता, ऐसे में सब के 'न होने' की भी अनन्त वृत्तियाँ माननी पड़ेंगी और सबके लिये प्रतियोगी की प्रसक्ति भी माननी पड़ेगी। तब व्यक्ति सर्वज्ञ तो होना ही पड़ेगा लेकिन पागल अवश्य हो जायेगा! यद्यपि यह कहा जा सकता है कि वृत्त्यभावाकार वृत्ति की ज़रूरत नहीं, तात्कालिक आत्मा के आकार की वृत्ति ही पर्याप्त है क्योंकि अभाव को पहले एक विचारमात्र सिद्ध कर चुके हैं और बाद में जो यह पता चलता है कि 'तब मैंने अमुक चीज़ नहीं जानी थी' वह अर्थापत्ति से चल जाता है जैसे सुबह आँगन देखा हो और शाम को कोई पूछे 'वहाँ कण्डाल था?' तो चाहे लगे कि 'मैंने देखा था कि कण्डाल नहीं था' लेकिन पता अर्थापत्ति से ही चलता है; तथापि मैं कभी बिना जानकारी का नहीं होता इसलिये मेरा जानकारी से भेद नहीं माना जा सकता अतः आत्माकार वृत्तियाँ निरन्तर बनती रहती हैं जिनसे आत्मप्रत्यभिज्ञा होती है ऐसी कल्पना निराधार व गौरवग्रस्त होने से आत्मा को स्वप्रकाश मानना ही पड़ेगा और तब वृत्तियों को भी स्वप्रकाश मानने में गौरव आदि होने से उन्हे परप्रकाश्य ही स्वीकारना पड़ेगा। एवं च मतान्तरों की तरह ज्ञान को ज्ञान की अपेक्षा मान्य नहीं, वृत्ति को ज्ञान की अपेक्षा मान्य है। वृत्ति तो कहने भर को ज्ञान है, वास्तव में नहीं। अतः शब्दाकारवृत्ति से शब्दप्रकाश हो इसके लिये चेतन आत्मज्योति की ज़रूरत है। वह ज्योति नित्य ही संभव है क्योंकि उसकी अनित्यता निःसाक्षिक है। इससे विज्ञानवाद का निरास हो जाता है। आनन्दात्मक होने से वह असंहत है, परार्थ नहीं है। वृत्तिपरामर्श के बिना उसमें अंतर न किया जा सकने से वह प्रत्यक्चिति अखण्ड सर्वान्तर है। प्रत्यक्त्व ही आन्तरत्व है। यह आत्मा ही द्वितीय श्रोत्रपद का अर्थ है।

द्वितीय श्रोत्रशब्द से निर्विशेष आत्मा ही बताया गया है यह प्रतिवचन के शब्दों से भी निश्चित होता है यह बताते हैं-**अनुगम से भी वही तात्पर्य सिद्ध होता है क्योंकि इस प्रतिवचन में आये शब्द विवक्षित अर्थ बताने के निमित्त से निर्विशेष आत्मा रूप अर्थ से अनुगत अर्थात् सम्बद्ध हैं। कैसे? इस प्रकार हैं :** विशेषरहित को शक्तिवृत्ति से कहा

न जा सकने से न वह किसी पद का वाच्यार्थ है और न ही वाच्यों का सम्बन्धरूप वाक्यार्थ है। उसे तो किसी तरह लक्षणासदृश व्यापार से बताना पड़ता है। वह असंसर्गी है अतः सीधे ही लक्षणा भी उसे बता पाये यह नामुमकिन है क्योंकि लक्षणा भी सम्बन्ध चाहती है। यह जो कह देते हैं कि वह लक्षणा से बताया जाता है उसका भी मतलब है कि शक्ति से नहीं बताया जाने पर भी शब्द से बताया जाता है। श्रोत्रादि शब्दों से आत्मा द्योत्य है यह समझाने के लिये पहले श्रोत्र का मुख्य (वाच्य) अर्थ बताते हैं-**जिससे सुनते हैं वह श्रोत्र है, कान-इन्द्रिय है। श्रोत्र शब्द का प्रकाश करता है। शब्द का प्रकाश करना—यह जो उसका सामर्थ्य है वह श्रोत्रत्व है। यह जिसके अधीन है वह श्रोत्र का श्रोत्र है, आत्मा है। शब्द का प्रकाश करना—इससे निर्विशेष आत्मा को समझना है।**

श्रोत्र अपने सामर्थ्य से ही शब्द का प्रकाश कर लेगा, इससे आत्मा को क्यों उपलक्षणा से समझा जाये? यह क्यों मानें कि वह सामर्थ्य किसी के अधीन है? इसका उत्तर देते हैं-**शब्द की उपलब्धि, साक्षात्कार, ही शब्द का प्रकाश है अतः जिसे शब्द की उपलब्धि है वह उपलब्धा ही शब्दप्रकाश करने वाला है। श्रोत्र ख़ुद जड है अतः उपलब्धा नहीं हो सकता। इसलिये करणरूप से वह भले ही प्रकाश करने वाला हो, उपलब्धा-रूप से प्रकाश करने वाला नहीं है। चिन्मय आत्मा ही वैसा हो सकता है। श्रोत्र उपलब्धारूप से जो शब्दप्रकाश करता है वह आत्मा के निमित्त से ही कर पाता है अतः आत्मा को श्रोत्र का श्रोत्र कहकर उपलक्षित किया है।** ज्ञान (प्रकाश) और विषय में व्यवधान न रहे तभी विषय का ज्ञान हो। अतः विषयज्ञान न केवल व्यवधाननिवर्तक की अपेक्षा करता है वरन् ज्ञान की भी अपेक्षा करता है जिससे इसे अव्यवहित होना है। क्योंकि घड़े आदि की तरह 'यह ज्ञान' ऐसे अनात्मरूप से ज्ञान कभी मिलता नहीं, जब मिलता है तब 'मुझे' ही होता हुआ मिलता है ('मुझे' से चाहे कभी देवदत्त लिया जाये, कभी कमलदत्त, लेकिन किसी न किसी 'मुझे' ही होता है), इसलिये ज्ञान आत्मरूप ही संभव है। विषय का जो ज्ञान है वह कभी भी ज्ञाता को छोड़कर रहता नहीं इसलिये ज्ञाता और ज्ञान को एक ही मानना पड़ेगा। अतः कहा कि 'उपलब्धा ही प्रकाश करने वाला है'। श्रोत्र प्रकाश करता है लेकिन इसलिये कि वह शब्द और ज्ञान के व्यवधान को हटाता है। श्रोत्र ज्ञाता होकर ज्ञान नहीं करता क्योंकि करण होने से जड है, ज्ञाता नहीं है, ज्ञान नहीं है। फिर भी जो यह प्रतीति होती है 'कान ने सुना' वह जिसके निमित्त से होती है वह आत्मा है। 'मैंने कान से सुना' और 'कान ने सुना' दोनों अनुभव हैं। कान सुन सकता नहीं अतः 'कान ने सुना' यह प्रतीति तभी बनेगी जब कान और सुनने वाला एकमेक हो जायें। यों कान से एक हुआ आत्मा श्रोत्र का वाच्य हुआ और विवेक से समझना पड़ेगा कि कान-अंश छोड़कर जो है वह आत्मा है अतः वह श्रोत्र का लक्ष्य भी हो गया। वस्तुतस्तु 'मैंने सुना' भी कान से अभिन्न हुए मेरा अनुभव है अतः वहाँ भी सुनने वाला मैं वाच्य ही हूँ। वहाँ जो 'कान से' यों कान का करणतया अनुभव है उसमें कान अपने से सर्वथा पृथक् कुल्हाड़ी आदि की तरह नहीं भासता। तथापि वास्तविकता होने से भेद का अवभास हो ही जाता है। इस प्रकार जैसे प्रतीत होने पर भी कि आतशी शीशा घास जलाता है, समझना यही पड़ता है कि उसका घास जलाना जिसके निमित्त से है वह उससे सर्वथा पृथक् स्वतंत्र सूर्य है, इसी तरह श्रोत्रादि की अवभासकता से ही आत्मा समझना पड़ता है। मिलता हमें आत्मा का मिला-जुला रूप ही है लेकिन उसी रूप का विवेक करने से पता चल जाता है कि वह इन सभी रूपों से विलक्षण अतएव सब विशेषों से रहित है। विशेषों वाले श्रोत्रादि हैं जिनसे एकमेक हुआ आत्मा भी विशेष वाला लग रहा है।

श्रोत्र की शब्दावभासकता जिसकी शक्ति से है वह आत्मा ही क्यों, किसी अनात्मा की शक्ति से वैसा क्यों नहीं हो सकता? इसका जवाब टीकाकार ने दिया: शक्ति उसी की हो सकती है जो है और प्रकाशमान है अर्थात् सत् और चित् है। जो न है और न भासता है उस शशशृंगतुल्य में शक्ति नहीं हो सकती। वह निरुपादेय होगा इसलिये शक्ति वाला नहीं होगा। होना और प्रकाश (ज्ञान) ये आत्मा ही हैं, आत्मा से इन्हे अलग मानने में कोई प्रमाण नहीं। जो कभी स्फुरित हो कभी न हो वह स्फुरण से भिन्न होता है जैसे घटादि। स्फुरण ख़ुद ऐसा है नहीं। स्फुरण होना और जिसे स्फुरण होता है वे अलग कभी मिलते नहीं अतः स्फुरण आत्मरूप ही होगा। सत्ता 'होने' के लिये किसी की अपेक्षा नहीं रखती लेकिन

बिना स्फुरे उसका 'होना' समझा नहीं जा सकता, जैसे बिना 'हुए' स्फुरणा नहीं समझी जा सकती। अतः सत् को चित् से अभिन्न ही होना पड़ेगा। इस प्रकार शक्ति जिसकी है वह आत्मा ही माना जा सकता है, अनात्मा नहीं। अतः श्रोत्रादि की शब्दादि-अवभासकता इसी से है कि वे उपलब्धा से—चिदात्मा से—तादात्म्यापन्न हैं, एकमेक हो रखे हैं। स्वतंत्र होकर अर्थात् आत्मनिरपेक्ष होकर उनमें अवभासकता (उपलब्धृरूपतया अवभासकता) नहीं है क्योंकि वे जड हैं। जो जड होता है वह सत्तारहित होता है जैसे शुक्तिरूप्य और सत्तारहित में स्वतः सामर्थ्य नहीं होता। जिससे तादात्म्य पाकर श्रोत्र अवभासक है उसे यदि चिद्रूप न मानें और उसे भी किसी अन्य की अपेक्षा मानें तो अनवस्था होगी अतः वह चिद्रूप हो यही युक्तियुक्त है। जब उस उपलब्धिरूप उपलब्धा को (ज्ञानरूप ज्ञाता को) स्वप्रकाश मान लिया तब सत्ता व प्रकाश में वह किसी के पराधीन नहीं रहा, अतः उक्त अनवस्था का प्रसंग नहीं।

यह शंका हो सकती है कि आत्मा और श्रोत्र एकमेक हुए मिल रहे हैं तो श्रोत्र का लक्ष्य ही आत्मा को मानने में क्या हर्ज है, 'किसी तरह लक्षणा-सदृश व्यापार से बताना पड़ता है' यह क्यों कहा? समाधान यह है कि यदि सचमुच एकमेक हुआ होता तब तो श्रोत्रसम्बन्ध होने से लक्षणा बन जाती किन्तु क्योंकि यह एकमेक भी हुआ है नहीं इसलिये सम्बन्ध न होने से लक्षणा नहीं बनती। मानो सम्बद्ध हुआ है अतः मानो लक्षणा से उसका पता भी चल जाता है।

'श्रोत्र का श्रोत्र' इस ढंग से ऐसा विषय समझाया जाता है इसमें दृष्टांत देते हैं : **उदाहरणार्थ—क्षत्रियजाति का नियामक जो धर्म है उसे वेद ने (बृ. १.४.१४) 'क्षत्र का क्षत्र' कहा है।** वहाँ भी अभिप्राय है कि धर्म के निमित्त से ही क्षत्रिय की क्षत्रियत्वेन समर्थता है। सब पर शासन चलाता हुआ दीखता क्षत्रिय है लेकिन धर्म से एक हुआ ही वह शासन चलाता है अन्यथा नहीं। **अथवा जल की गर्मी आग के निमित्त से होती है इसलिये जहाँ पानी किसी को जला देता है वहाँ कह दिया जाता है कि 'जलाने वाले का जलाने वाला आग है'।** जल इसी से जलाता है कि वह आग से एकमेक हो रखा है। आग और गर्मी एक ही चीज़ है। प्रायः हमें गर्मी किसी न किसी उपाधि में मिलती है, लकड़ी, लोहा, हवा या लपट (ज्वाला)। ये सब गर्मी से एक हुए तो जला देते हैं, बिना एक हुए नहीं। इन्ही के सहारे हमें गर्मी को (आग को) समझना पड़ता है जो लकड़ी आदि रूप नहीं है। क्षत्रियादि से पृथक् कर धर्म का अपना कोई रूप नहीं समझ सकते जबकि उपाधियों से पृथक् गर्मी आदि रूप अग्नि का समझ सकते हैं इसलिये दो उदाहरण दिये। पहले से बताया कि समझना उपाधि में ही पड़ेगा और दूसरे से बताया कि उसका निजी रूप सच्चिदानंद है।

नित्याऽनित्ये उपलब्धी

उदकमपि ह्यग्निसंयोगादग्निरुच्यते, तद्वद् अनित्यं यत्संयोगादुपलब्धृत्वं तत्करणं श्रोत्रादि, उदकस्येव दग्धृत्वम्, अनित्यं हि तत्र तत्। यत्र तु नित्यमुपलब्धृत्वम्, अग्नाविवौष्ण्यम्, स नित्योपलब्धिस्वरूपत्वाद् दग्धेव उपलब्धोच्यते।

नित्य और अनित्य उपलब्धियाँ

अगर श्रोत्रादि का साक्षी आत्मा ही वास्तविक उपलब्धा है तो लोकायतिक आदि को यह क्यों लगता है कि श्रोत्रादि ही उपलब्धा हैं? आशय यह है कि श्रोत्रादि सच्चे उपलब्धा और इनके कारण आत्मा उपलब्धा मान लिया जाता है ऐसा विपरीत ही क्यों न स्थापित किया जाये? इसका उत्तर देते हैं-**जैसे आग से संयुक्त होने के कारण जल को भी आग कह देते हैं (या गर्म कह देते हैं) वैसे उपलब्धा से सम्बद्ध (तादात्म्यापन्न) होने के कारण श्रोत्रादि को उपलब्धा समझ लिया जाता है।** जैसे 'लकड़ी, लोहा, हवा, पानी आदि सच्ची आग है और इनसे सम्बद्ध होने से आग को आग या गर्म कह देते हैं'-ऐसा नहीं माना जाता वैसे ही श्रोत्रादि को सच्चा और आत्मा को कहने भर का उपलब्धा नहीं मान सकते । यद्यपि अग्नि से असंपृक्त लकड़ी आदि की तरह आत्मा से असम्बद्ध श्रोत्रादि नहीं मिलेंगे कि उनमें उपलब्धृत्व का व्यभिचार स्फुट हो, तथापि यह अनुभव कि 'मुझे अपने आपके अपरोक्ष व्यवहार के लिये किसी अन्य की

अपेक्षा नहीं है', सिद्ध करता है कि आत्मा अवश्य उपलब्धा है और तब लाघवादि के अनुरोध से श्रोत्रादि में औपचारिक उपलब्धृता सिद्ध होती है। वस्तुतः निर्णायक श्रुति ही है, फिर भी युक्ति वैसी संभावना उपस्थित कर देती है या श्रौत अर्थ की असंभवता की शंका हटा देती है।

यदि आत्मा नित्य-उपलब्धिस्वरूप है तो श्रोत्रादि करण कैसे होंगे? क्रिया कारकजन्य अतः अनित्य होने से करण की अपेक्षा रखती है, नित्य उपलब्धि को करणों से क्या प्रयोजन? यह समस्या हल करते हैं-**जिनके सम्बन्ध से प्रमाता में बुद्धिवृत्तियों द्वारा अनित्य उपलब्धृता (उपलब्धा-पन या उपलब्धि) होती है, वे श्रोत्रादि बुद्धिवृत्तियों के लिये अपेक्षित होने से अनित्य उपलब्धृता के करण बन जाते हैं। जैसे गर्म जल में जो दग्धृत्व (जलानेवाला-पन) है वह अनित्य है अतः उसके लिये साधन चाहिये, ऐसे ही प्रमाता का उपलब्धृत्व करणसापेक्ष हो यह उचित है।** आत्मा हमेशा उपलब्धिरूप है लेकिन उसे जब किसी की उपलब्धि होती है तो अनित्य ही होती है, कभी होती-कभी नहीं होती है। इस अनित्यता में हेतु क्या? जिसकी उपलब्धि होनी है वह जब अनावृत चित् से अभिन्न होगा तब उसकी उपलब्धि होगी और इसके लिये चाहिये बुद्धिवृत्ति। बुद्धिवृत्ति जन्या है अतः इसे उत्पन्न होने के लिये करणों की ज़रूरत है। इस प्रकार ज्ञानमात्र को करणों से कोई प्रयोजन न होने पर भी घटज्ञानादि को उनकी अपेक्षा होने से घटज्ञानादि में वे करण हो जाते हैं। वहाँ भी ज्ञान के घटीयत्व में ही करण बनते हैं यह तात्पर्य है। अनित्य-उपलब्धृत्व को करणापेक्षा होती है इसमें उष्णोदक का दृष्टान्त दिया। भाष्य के 'उदकस्य' से 'उष्णोदकस्य' समझना चाहिये तभी दृष्टान्तता स्पष्ट होगी। वही प्रमातृस्थानीय है। उष्णोदक न केवल जल है, न केवल आग; वह दोनों का तादात्म्यापन्न रूप है।

प्रश्न होता है कि 'श्रोत्र का श्रोत्र' कहकर बताना था असंग साक्षी को और समझाया यह कि श्रोत्रादि से सम्बद्ध प्रमाता में अनित्य उपलब्धि हुआ करती है। इस साक्षी को उपलब्धा (या 'श्रोत्र का श्रोत्र') कैसे कह सकते हैं? इसका उत्तर देते हैं-**नित्य उष्णता वाली आग को भी 'जलाने वाला' कहते हैं, ऐसे ही जहाँ नित्य उपलब्धृता है उस आत्मा को भी नित्य-उपलब्धिस्वरूप होने से उपलब्धा कहते हैं।** तात्पर्य है कि 'जलाने वाला' जो कुछ भी मिलता है उसका जलाने वाला-पन अनित्य ही होता है इसलिये अनित्य जलाने वाला-पन जिसमें हो उसे ही जलाने वाला कहना चाहिये। आग में तो जलाने वाला-पन नित्य है, उसे जलाने वाला नहीं कहना चाहिये। लेकिन क्योंकि जलाने वालों में जलाने वाला-पन आग से आता है इसलिये आग को भी जलाने वाला कह देते हैं। इसी तरह उपलब्धा कहना तो अनित्य उपलब्धि वाले को ही चाहिये लेकिन क्योंकि वह भी नित्योपलब्धि से ही उपलब्धा बनता है इसलिये नित्योपलब्धि को भी उपलब्धा कह दिया जाता है। जैसे नमक के संबंध से सब नमकीन होते हैं इसलिये नमक को भी नमकीन कह देते हैं, वैसे समझना चाहिये। इससे स्पष्ट हुआ कि 'श्रोत्र का श्रोत्र' यह कहना भी सीधे ही आत्मा को विषय नहीं कर पाता, प्रमाता के द्वारा उसे बताने की कोशिश करता है। अतः बताया असंग साक्षी को ही गया है, उसे बताने की प्रक्रिया में अनित्य उपलब्धा का ग्रहण करना पड़ता है। वस्तुतस्तु अनित्य उपलब्धा को ही हम 'मैं' जानते हैं। 'मुझे ही मुक्त होना है' यह हमारी आशा है अतः 'मेरा स्वरूप क्या?' यह हमारा जिज्ञास्य है। इसलिये 'मैं' (अर्थात् अनित्य उपलब्धा) के विश्लेषण से ही आत्मा को बताना आवश्यक है। 'मैं' हमें उपलब्धा ही मिला है, उपलब्धि नहीं। आत्मा उपलब्धि ही है, उपलब्धा नहीं। उपलब्धि का 'मैं' से अभेद बताने के लिये उसे उपलब्धा कह देते हैं। इससे 'मैं आत्मा नहीं या मोक्ष में मैं नहीं रहूँगा' यह भय नहीं हो पाता। 'मैं' का जो उपलब्धि से अन्य अंश है (उपलब्धि 'वाला' अंश है) उसकी व्यावृत्ति के लिये आत्मा को नित्य उपलब्धा कह देते हैं। यों दोनों व्यावृत्तियों से उपलब्धिमात्र बच जाता है।

निर्विशेषोक्तिनिगमनम्

श्रोत्रादिषु श्रोतृत्वाद्युपलब्धिरनित्या, नित्या चात्मनि। अतः 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्याद्यक्षराणामर्थानुगमादुपपद्यते — निर्विशेषस्य उपलब्धिस्वरूपस्यात्मनो मनआदिप्रवृत्तिनिमित्तत्वमिति।

निर्विशेष बताया गया—इसका उपसंहार

श्रोत्रादि निमित्तों से प्रमाता में जो श्रोतृत्वादि अर्थात् उपलब्धृत्व मिलता है वह अनित्य है और आत्मा का 'उपलब्धृत्व' नित्य है इसलिये 'श्रोत्र का श्रोत्र' इत्यादि जवाब में प्रयुक्त शब्दों का तात्पर्य इसी में संगत होता है कि सब विशेषों से रहित उपलब्धिस्वरूप आत्मा में मन आदि की प्रवृत्ति के प्रति निमित्तता समझी जाती है। यहाँ स्पष्ट कर दिया कि प्रथम श्रोत्रादि पद श्रोता आदि रूप प्रमाता का और द्वितीय श्रोत्रादि पद साक्षी का बोध कराने के लिये हैं। इसलिये पहले भी उपलब्धारूप से अवभासकता का प्रसंग लाये थे। व्यापार की फलावसानलिंगता का भी अतएव वर्णन किया था। प्रश्न में केवल श्रोत्र आदि का प्रेरक पूछा था लेकिन शिष्य-विवेक से प्रसन्न हुए गुरु ने न केवल उन्ही के प्रेरक को बताया वरन् स्वयं शिष्य के अत्यन्त विविक्त ब्रह्मस्वरूप को भी उसे समझा दिया।

अत्र मानम्

तथा च श्रुत्यन्तराणि— 'आत्मनैवाऽयं ज्योतिषाऽऽस्ते' (बृ.४.३.६), 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (मुं.२.२.१०), 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' (तै.ब्रा.३.१२.९.७) इत्यादीनि। 'यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्' (गी.१५.१२), 'क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत' (गी. १३-३३) इत्यादि गीतासु। काठके च 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्' (क.२.२.१३) इति।

आत्मप्रकाश अनित्य प्रकाशों का निमित्त है इसमें शास्त्रप्रमाण

जैसे यह बात सिद्ध होती है वैसा अन्य श्रुतियाँ भी कहती हैं: 'आदित्य, अग्नि आदि प्रकाश नहीं रहते तो आत्मा ही इसका प्रकाश है, आत्मप्रकाश से ही यह रहता है'- यह बृहदारण्यक में बताया। यह श्रुति स्वप्रकाशता बताने के लिये दी। पहले स्वतः प्रकाशरूप आत्मा सिद्ध हो तभी उसे अन्यत्र प्रकाश का हेतु कहना संगत है। किं च इसी श्रुति में 'आत्मैवास्य ज्योतिः' (आत्मा ही इसका प्रकाश है) यों 'आत्मा' और 'अस्य' (इसका) कहकर उपलब्धि की उपलब्धा-रूपता भी इंगित होने से इसे यहाँ प्रमाण दिया। 'उसके प्रकाश से यह सब प्रकाशित होता है' यह आथर्वण वाक्य है। तैत्तिरीय का मंत्र कहता है 'जिस चैतन्य ज्योति से दीप्त हुआ सूर्य जगत् को प्रकाशित करता है उस बृहद् आत्मा को वह नहीं जान सकता जो वेद का जानकार नहीं है।' इसी तरह भगवान् ने भी बताया कि 'आदित्य में पहुँचा हुआ जो तेज अखिल जगत् को प्रकाशित करता है उसे मेरा ही तेज जानो।' श्रोत्रादि का प्रकाशक आत्मा है इसी को भगवान् ने भी कहा यह बताते हैं-'जैसे सूर्य सब कुछ प्रकाशित करता है ऐसे अहंकार, बुद्धि, इंद्रिय आदि सारे क्षेत्र को क्षेत्र-वाला अर्थात् आत्मा प्रकाशित करता है' यह भगवान् का वचन प्रकृत केन श्रुति का स्पष्ट अनुवादक है। कठ में भी आत्मा को 'चेतनों का चेतन' कहा जो 'श्रोत्र का श्रोत्र' आदि की तरह ही समझाने का ढंग है।

प्रतिवचनस्य तात्पर्यार्थः

श्रोत्राद्येव सर्वस्यात्मभूतं चेतनमिति प्रसिद्धं, तदिह निवर्त्यते। अस्ति किमपि विद्वद्बुद्धिगम्यं सर्वान्तरतमं कूटस्थमजमजरममृतमभयं, श्रोत्रादेरपि श्रोत्रादि तत्सामर्थ्यनिमित्तमिति प्रतिवचनं शब्दार्थश्चोपपद्यत एव।

गुरु के जवाब का तात्पर्यार्थ

प्रायः सभी लोग श्रोत्रादि को ही आत्मा या चेतन समझते हैं, वह नासमझी हटाने के लिये यह 'श्रोत्र का श्रोत्र' आदि जवाब है। सब के भीतर से भी भीतर, अपरिवर्तनीय, पुराना न पड़ने वाला, समाप्त न होने वाला, द्वितीय के निमित्त से होने वाली किसी प्रतिक्रिया से रहित, कार्य-कारणभाव से वर्जित, श्रोत्रादि का भी श्रोत्रादि अर्थात् श्रोत्रादि के सामर्थ्य का निमित्त, जानकारी वाली बुद्धि के साक्षिरूप से ही समझ आ सकने वाला कुछ है—

यह जवाब यहाँ दिया यही मानना युक्तिसंगत भी है और जवाब में आये शब्दों के अर्थविचार से भी उचित निश्चित होता है। विस्तृत विचार का सार यहाँ बता दिया तथा सूचित कर दिया कि यहाँ बतायी व्याख्या से अन्य तरह की व्याख्या तर्क तथा श्रुत्यन्तर से विरुद्ध ही नहीं इसी श्रुति के शब्दों के अनुरूप नहीं होगी। भाष्यकार ने 'किमपि' (कुछ) कहकर स्पष्ट किया कि कोई नाम-रूप यहाँ विवक्षित नहीं। प्रत्यगात्मा का ही यहाँ वर्णन है। यही 'कोऽहम्' का अनुसन्धान है। इसके सही ज्ञान से मोक्ष इसी मंत्र में कह देंगे। शुद्धचेता श्रोत्रादि क्षेत्र से विलक्षण क्षेत्रज्ञभूत श्रोत्रादि को अर्थात् श्रोता से उपलक्षित 'श्रुति' को समझकर उससे अन्यत्र कहीं आत्मबुद्धि न करे तो वह मुक्त ही है। आपाततः यहाँ तदर्थ से अभेद कहा गया लगता नहीं किन्तु श्रोत्रादि और श्रोता आदि छूटने पर जो श्रोत्रादि अर्थात् श्रुत्यादि बचता है वह ब्रह्म ही है। सोपाधिक पूर्ण से उपाधिभूत पूर्ण निकल जाने पर निरुपाधि पूर्ण ही तो बचता है। अतः द्वितीय श्रोत्रपद तदर्थ का वाचक एवं लक्षक है। द्वितीय श्रोत्रपद निर्विशेष का लक्षक है तथा सविशेष का वाचक। प्रथम श्रोत्रपद प्रमाता का वाचक होकर साक्षी का लक्षक है। यद्यपि प्रथम से प्रमाता व द्वितीय से साक्षी कहा ऐसा समझाया गया तथापि क्योंकि 'को देवो यो मनःसाक्षी' आदि से साक्षी ईश्वर है इसलिये अभिप्राय यही हुआ कि प्रथम श्रोत्रपद जीववाचक एवं दूसरा ईश्वरवाचक है। यद्यपि प्रथम पद षष्ठ्यन्त है, 'श्रोत्र का' ऐसा कहने से प्रथम श्रोत्र व द्वितीय श्रोत्र का कोई सम्बन्ध विवक्षित लगता है, तथापि 'श्रोत्र में होने वाले श्रोतृत्वेन अवभासकत्व का निमित्त' यही सम्बन्ध यहाँ प्रतिपिपादयिषित सिद्ध किया गया होने से 'श्रोत्र का श्रोत्र' वाक्य का यही अर्थ निकलता है—जीव की (प्रमाता की) जीवरूपता ईश्वर से है। जैसे उष्णोदक में दग्धृत्व वह्नि से है का यही मतलब है कि उदक में वह्नि प्रविष्ट है, वह्नि और उदक एकमेक हो गये हैं; ऐसे ही प्रकृत में मतलब हुआ कि श्रोत्रादि करणों में (और देह में) ईश्वर प्रविष्ट है, देहद्वय से एकमेक हो रखा है। यह संभव है नहीं क्योंकि ईश्वर रहते वह परिच्छन्न देह से एकमेक नहीं हो सकता अतः भ्रम से ही इसे उपपन्न करना पड़ेगा। इसका तात्पर्य हुआ कि जो भ्रम से जीव है वह वस्तुतः ईश्वर है। इसलिये जीव से साक्षी लक्षित हो गया। इससे लगेगा कि जीव की सविशेष से एकता हो गयी किन्तु ऐसी बात नहीं। जीव का शासक होकर ही ईश्वर की सविशेषता है। जब जीव भ्रममात्र सिद्ध हुआ तो उससे निरूपित ईश्वरत्व अपने आप भ्रममात्र सिद्ध हो गया अतः ईश्वर निर्विशेष रहा अर्थात् द्वितीय श्रोत्रपद भी निर्विशेष का लक्षक हो गया। अतएव कहा था कि वह है उपलब्धि लेकिन उपलब्धा कहा जाता है। उपलब्धा कहा जाना— यह ईश्वरता हो गयी, उपलब्धिरूप होना— यह निर्विशेषता हो गयी। इस प्रकार महावाक्य का ही यह उपदेश हो गया।

'मनसो मन' इत्यस्यार्थः

मनआदिष्वेवं यथोक्तम्। तथा मनसः अन्तःकरणस्य मनः। न ह्यन्तःकरणमन्तरेण चैतन्यज्योतिषा दीपितं स्वविषयसङ्कल्पाध्यवसायादिसमर्थं स्यात्। तस्माद् मनसोऽपि मन इति। इह बुद्धिमनसी एकीकृत्य निर्देशो 'मनस' इति।

'मन का मन' इसका अर्थ

जैसे 'श्रोत्र का श्रोत्र' इसका अर्थ बताया वैसे ही 'मन का मन' आदि का भी अर्थ समझ लेना चाहिये। चेतन प्रकाश से प्रकाशित हुए बिना अंतःकरण अपने विषय में अर्थात् संकल्प, निश्चय आदि में समर्थ नहीं हो सकता इसलिये चेतन मन का भी मन है। यहाँ बुद्धि और मन को मिलाकर एक मन शब्द से ही कह दिया है। जिन जडत्व आदि हेतुओं से श्रोत्र को आत्मा का प्रकाश चाहिये उन्ही से मन आदि को भी चाहिये अतः पहले वाली व्याख्या यहाँ भी यथावत् है। मन, वाणी आदि क्योंकि अध्यस्त हैं इसलिये उनका मनस्त्व (मनन-सामर्थ्य), वाक्त्व (वदनसामर्थ्य) आदि स्वतंत्र नहीं हो सकता। अतः अधिष्ठान आत्मा के सत्त्व और प्रकाश से ही मन आदि सत्तावाले और प्रकाश वाले हैं। वह अधिष्ठान निर्विशेष ही है जिसे 'मन का मन' आदि रूप से मानो लक्षणा से समझ लेना है। अधिष्ठान को यदि किन्ही विशेषों वाला मान लिया तो वह भी अध्यस्त हो जायेगा, अतः उसे विशेषों से रहित ही मानना पड़ेगा। भाष्य में

स्पष्टतः मन से बुद्धि का संग्रह करने को कहा ताकि विज्ञानवाद का निरास हो जाये। द्वितीय श्रोत्रपदार्थ की तरह द्वितीय मनःपदार्थ नित्यादि ही संभव है यह उन्ही युक्ति आदि से समझ लेना चाहिये। मन में तो उपलब्धृतया प्रकाशकत्व आत्मसापेक्ष है यह श्रोत्र की तरह समझना सरल है। वाणी व तदुपलक्षित कर्मेन्द्रियों की वाग्रूपता आदि को आत्मापेक्ष कैसे समझें? उनमें जो स्वातन्त्र्य-प्रतीति होती है उसे आत्मापेक्ष समझना चाहिये। 'वाणी बोल दी, हाथ ने पकड़ा, पैर चल रहे हैं' आदि अनुभवों सें कर्मेन्द्रियाँ स्वयं व्यापार करती लगती हैं। शरीर के ऐसे अनेक व्यापार हैं जिनका हमें पता भी नहीं तो 'उन्हे हम कर रहे हैं' ऐसा अभिमान कहाँ से होगा? जब उनका ज्ञान होता है तो यही लगता है कि ये सब काम तत्तद् अंग स्वयं कर रहे हैं। यह जो स्वातन्त्र्य है, इसे आत्मापेक्ष समझना पड़ेगा क्योंकि जड में स्वातन्त्र्य नहीं हो सकता। अथवा हमें तो पता नहीं कि वाणी 'कैसे' बोलती है अर्थात् शारीरिक आदि कितने व्यापार होने पर 'क' यह उच्चरित होता है। बोलने के लिये प्रक्रिया की जानकारी तो चाहिये। अतः मान सकते हैं कि वाणी ही जानती होगी कि कैसे बोलना है। इस तरह उसमें उपलब्धृत्व समझकर इसका निमित्त आत्मा को समझ सकते हैं। अथवा प्रथम मंत्र के अंत में कहा था 'स्वतो विषयावभासमात्रं करणानां प्रवृत्तिः' अतः कथंचित् अवभासकता से ही आत्मापेक्षा समर्थित की जा सकती है। वस्तुतस्तु ज्ञान व क्रिया दोनों उपाधियों से आत्मा को समझाना इष्ट है। यद्यपि क्रिया जड में ही होती है, परिच्छिन्न में ही हो सकती है, तथापि सब को स्पष्ट ही लगता है कि बिना चेतन के क्रिया नहीं हो सकती। शव में क्रिया न देखकर ही उसकी जडता पहचानते हैं। अतः कर्मेन्द्रियों की क्रिया आत्मा की अपेक्षा रखती है, आत्मा के निमित्त से ही उनमें क्रिया होती है यह तात्पर्य समझना चाहिये। इंद्रियनिमित्त से होने वाले ज्ञानों की तरह क्रियायें भी असत्य हैं। आगे आत्मा स्वरूपतः ज्ञान है। क्या ऐसे उसे स्वरूपतः क्रिया भी माना जाये? यदि 'स्वरूपतः नित्य क्रिया' में प्रमाण हो तो मान भी सकते हैं! लेकिन क्रिया का विचार करने पर वह ज्ञान से भिन्न नहीं मिलती इसलिये ज्ञानातिरिक्त किसी क्रिया को आत्मस्वरूप मानने की ज़रूरत नहीं। जैसे ज्ञानेन्द्रियों से परिच्छिन्न हुआ आत्मा अनित्य ज्ञान हो जाता है ऐसे कर्मेन्द्रियों से परिच्छिन्न हुआ वही क्रिया हो जाता है। केवल इंद्रियाँ ज्ञान या क्रिया में समर्थ नहीं इतना ही विवक्षित है।

'वाचो ह वाचम्' इत्यस्यार्थः

यद्वाचो ह वाचम्। यच्छब्दो यस्मादर्थे श्रोत्रादिभिः सर्वैः सम्बध्यते—यस्माच्छ्रोत्रस्य श्रोत्रं, यस्मान्मनसो मनः, इत्येवम्। 'वाचो ह वाचम्' इति द्वितीया प्रथमात्वेन विपरिणम्यते, 'प्राणस्य प्राण' इति दर्शनात्।

वागिन्द्रिय का वाक् है—इसका अर्थ

'क्योंकि वाक् का (वागिन्द्रिय का) वाक् है'; यहाँ आया 'क्योंकि'-शब्द सर्वत्र सम्बद्ध है: क्योंकि श्रोत्र का श्रोत्र है, क्योंकि मन का मन है इत्यादि। इस 'क्योंकि' को एक 'इसलिये' चाहिये अतः इतना जोड़ लेना चाहियेः 'इसलिये श्रोत्र आदि को आत्मा समझना छोड़ देना चाहिये।'

श्रुति ने 'वाचो ह वाचम्' कहा, यहाँ दूसरा वाक्-शब्द द्वितीया विभक्ति में है अर्थात् 'वाणी की वाणी को' यह कहा है। किन्तु इस द्वितीया विभक्ति को प्रथमा में बदल लेना चाहिये क्योंकि 'प्राण का प्राण' आदि में प्रेरक को प्रथमा से बताया है।

विपरिणामे युक्तिः

'वाचो ह वाचम्' इत्येतदनुरोधेन 'प्राणस्य प्राणम्' इति कस्माद् द्वितीयैव न क्रियते?

न, (i) बहूनामनुरोधस्य युक्तत्वाद् 'वाचम्' इत्यस्य 'वाग्' इत्येतावद् वक्तव्यं, 'स उ प्राणस्य प्राण' इति शब्दद्वयानुरोधेन, एवं हि बहूनामनुरोधो युक्तः कृतः स्यात्।

(ii) पृष्टं च वस्तु प्रथमयैव निर्देष्टुं युक्तम्।

द्वितीया को बदलने में युक्ति

'प्राणः' इस प्रथमान्त के अनुरोध से 'वाचम् को बदलने की अपेक्षा 'वाचम्' के कारण 'प्राणः' को ही क्यों न बदलकर द्वितीयान्त बना दें?

ऐसा करना ठीक नहीं होगा। अनेकों का अनुरोध मानकर एक को बदलना उचित है, एक के अनुरोध से बहुतों को बदलना नहीं। 'सः' और 'प्राणः' दो शब्द प्रथमान्त हैं जब कि 'वाचम्' एक ही शब्द द्वितीयांत है। अतः वही बदलना उचित है। इतना ही नहीं, जिसे पूछा जाये उसे प्रथमान्त से बताना ही संगत होता है इसलिये भी 'वाचम्' को बदल लेना चाहिये।

श्रौतविभक्तिद्वयप्रयोगतात्पर्यम्

'वाचो ह वाचं', 'प्राणस्य प्राण' इति विभक्तिद्वयं सर्वत्रैव द्रष्टव्यम्। कथम्? पृष्टत्वात् स्वरूपनिर्देशः, प्रथमयैव च निर्देशः। तस्य च ज्ञेयत्वात् कर्मत्वमिति द्वितीया। अतो 'वाचो ह वाचं', 'प्राणस्य प्राण' इति। अस्मात् सर्वत्रैव विभक्तिद्वयम्।

श्रुति ने प्राणादि में प्रथमा व 'वाचम्' में द्वितीया क्यों रखी?

श्रुति ने 'वाचम्' तथा 'प्राणः' यों दो विभक्तियों के प्रयोग से बता दिया कि श्रोत्रम्, मनः, वाचम्, प्राणः, चक्षुः—इन सभी स्थलों में दोनों विभक्तियाँ समझ लेनी चाहिये। पूछी गयी चीज़ बताने के लिये प्रथमा से कहना ठीक होता है। किन्तु 'ज्ञात्वा' से कहना है कि 'उसे जानो' अतः उसे ज्ञान का कर्म बताने के लिये द्वितीया से कहना पड़ता है। अतः उक्त सभी स्थलों में दोनों को समझना पड़ेगा। 'श्रोत्रम्', 'मनः' और 'चक्षुः' तो क्लीब शब्द होने से इनके प्रथमान्त व द्वितीयान्त रूप एक से हैं। इनका तन्त्र से प्रयोग मानना चाहिये अर्थात् दोनों के अभिप्राय से एक ही प्रयोग पर्याप्त है यह मानना चाहिये। 'वाचम्' और 'प्राणः' में 'वाक्' और 'प्राणम्' का अध्याहार कर लेना चाहिये। इस तरह प्रश्नानुरोध से सर्वत्र प्रथमा और 'ज्ञात्वा' इस उपदेश के अनुरोध से सर्वत्र द्वितीया, यों विभक्तिद्वय समझना चाहिये।

'प्राणस्य प्राण' इत्यस्यार्थः

सः यस्त्वया पृष्टः प्राणस्य प्राणाख्यवृत्तिविशेषस्य प्राणः; तत्कृतं हि प्राणस्य प्राणनसामर्थ्यम्। न हि आत्मनाऽनधिष्ठितस्य प्राणनमुपपद्यते, 'को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्याद्' (तै.२.७), 'ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति अपानं प्रत्यगस्यति' (कठ.२.२.३) इत्यादिश्रुतिभ्यः। इहापि च वक्ष्यते 'येन प्राणः प्रणीयते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि' (के.१.८) इति।

'प्राण का प्राण'- इसका अर्थ

जिस प्राणनियोक्ता को तुमने पूछा है वह यही आत्मा है। प्राण नाम की वृत्ति का यही प्राण है अर्थात् इसी से प्राण का प्राणनसामर्थ्य है। 'प्राणाख्यवृत्तिविशेषस्य' का मतलब है साँसरूप प्राण। प्रथम मंत्र में भी 'नासिकाभवः' कहा था। अतएव कहेंगे कि घ्राण भी इसी से कह दिया क्योंकि सूँघने के लिये साँस खींचना पड़ता है। किन्तु वस्तुतः यहाँ मुख्य प्राण या क्रियाशक्ति विवक्षित है। 'प्राणस्य पञ्चवृत्तेः जीवनकारणस्य' यह शंकरानंदजी ने कहा है। अतः इस शब्द का मतलब है 'प्राण नाम की वृत्ति जिसका ख़ास व्यापार है' (प्राणाख्यवृत्तिर्विशेषोऽस्य); इस तरह पाँचों वृत्तियों वाला संगृहीत हो जाता है।

अचेतन होते हुए प्राण प्रवृत्ति करता है तो अवश्य ही रथादि की प्रवृत्ति की तरह उसकी भी प्रवृत्ति किसी चेतन अधिष्ठाता के कारण ही है, इस अभिप्राय से कहते हैं-चेतन से प्रेरित हुए बिना (या चेतन का अभेदाध्यास पाये बिना) प्राण अपने व्यापार करे यह संगत नहीं है। श्रुति में कहा ही है कि 'यदि आनन्दरूप प्रकाशमान आत्मा न होता तो श्वास-प्रश्वास कौन लेता?' 'प्राण को हृदय से ऊपर और अपान को नीचे ले जाने वाला हृदय कमल में बैठा है।' यहाँ भी कहेंगे कि 'जिससे प्राण अपने विषय को प्राप्त कराया जाता है वह ब्रह्म है।' अतः प्राण का प्राण भी वही निर्विशेष है जिसे श्रोत्र का श्रोत्रादि कहा।

विवक्षितार्थेन घ्राणोऽपि गृहीतः

श्रोत्रादीन्द्रियप्रस्तावे घ्राणस्यैव ग्रहणं युक्तं, न तु प्राणस्य?

सत्यमेवम्; प्राणग्रहणेनैव तु घ्राणस्य ग्रहणं कृतमेव मन्यते श्रुतिः। सर्वस्यैव करणकलापस्य यदर्थप्रयुक्ता प्रवृत्तिः तद् ब्रह्मेति प्रकरणार्थो विवक्षितः।

तथा चक्षुषश्चक्षुः रूपप्रकाशकस्य चक्षुषः यद्रूपग्रहणसामर्थ्यं तद् आत्मचैतन्याऽधिष्ठितस्यैव, अतः चक्षुषश्चक्षुः।

घ्राण भी ग्रहण कर लिया गया है

श्रोत्रादि इन्द्रियों के प्रसंग में आये 'प्राण' शब्द से घ्राणेन्द्रिय का ही ग्रहण करना चाहिये, पंचवृत्ति का ग्रहण कैसे?

यह बात ठीक ही है कि घ्राण गृहीत होना चाहिये लेकिन प्राण के (पंचवृत्ति के) ग्रहण से ही घ्राणेन्द्रिय का भी ग्रहण हो गया ऐसा श्रुति का अभिप्राय है। घ्राणेन्द्रिय को काम करने के लिये साँस खींचना रूप जो प्राणव्यापार है उसी के सहारे रहना पड़ता है इसलिये पंचवृत्ति के ग्रहण से घ्राणेन्द्रिय को गृहीत मान लेना उचित है। केवल एक घ्राण का ही ग्रहण विवक्षित हो ऐसा नहीं, सभी को समझ लेना चाहिये यह बताते हैं-**समूचे करणसमुदाय की प्रवृत्ति जिसके लिये है, जिससे प्रेरित है, वह ब्रह्म है यह इस प्रकरण में बताना इष्ट है अतः घ्राणादि जो कुछ कहने से छूटा लगे वह सभी समझ लेना चाहिये।** भाष्य में 'यदर्थप्रयुक्ता' कहा जिसका मतलब है 'यदर्था यत्प्रयुक्ता च', जिसके लिये है और जिससे प्रेरित है। यहाँ 'यदर्था' से प्रमाता को और 'यत्प्रयुक्ता' से साक्षी (या ईश्वर) को कहकर 'तद्ब्रह्म' से उनकी अखण्डता का प्रतिपादन है। इसीलिये इसे 'विवक्षित प्रकरणार्थ' कहा है। शिष्य को जिसे जानने की आकांक्षा है और गुरु जो परमार्थ उसे बताने के आकांक्षी हैं वह यही ब्रह्मार्थ है अतः उभयाकांक्षित होने से प्रकरणार्थ कहा, है यह सारे शास्त्र का ही अर्थ।

इसी तरह वह चक्षु का चक्षु है : रूपका प्रकाश करने वाली चक्षु में जो रूप को ग्रहण करने का सामर्थ्य है वह तभी है जब चक्षु तादात्म्येन आत्मचैतन्य पर अध्यस्त हो अर्थात् आत्मा से सत्ता-स्फूर्ति पाये। इसीसे आत्मा को चक्षु का चक्षु कह दिया। वेदान्तों में प्रपंच नाम-रूपात्मक कहा गया है। श्रोत्र और चक्षु का उल्लेख इसी दृष्टि से है। अतः घ्राण का मुख्यतः कथन नहीं माना क्योंकि चक्षु के ग्रहण से वह गतार्थ हो जाता है। इन दोनों से अतिरिक्त कुछ है तो वह कर्म है। किन्तु वह भी या नामपक्षपाती है अर्थात् प्रकाशक है और या रूपपक्षपाती है अर्थात् प्रकाश्य है। नामपक्षीय कर्म का वाक् से और रूपपक्षीय का प्राण से संग्रह कर लिया है। व्यक्त प्रपंच का इन चार से ग्रहण कर अव्यक्त प्रपंच को मन से कह दिया। अतः केवल करण नहीं, सारा संसार यहाँ समेट लिया गया है। भगवान् ने भी क्षेत्र में महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त, ग्यारह इंद्रियाँ, पाँचों विषय, इच्छादि मनोवृत्तियाँ, तथा संघात (शरीर)- ये सभी गिन लिये हैं और इनके 'जानकार' को क्षेत्रज्ञ कहकर उसे अपने से अभिन्न कहा। इसी ज्ञेय को जानकर अमृत-प्राप्ति बतायी। अतः क्षेत्राध्याय और यहाँ का प्रसंग सर्वथा तुल्य है।

ज्ञात्वेत्यध्याहार्यम्

प्रष्टुः पृष्टस्यार्थस्य ज्ञातुमिष्टत्वाच्छ्रोत्रादेः श्रोत्रादिलक्षणं यथोक्तं ब्रह्म 'ज्ञात्वा' इत्यध्याह्रियते; 'अमृता भवन्ति' इति फलश्रुतेश्च, ज्ञानाद्ध्यमृतत्वं प्राप्यते। ज्ञात्वाऽतिमुच्यत इति सामर्थ्याच्छ्रोत्रादिकरणकलापमुज्झित्वा।

'जानकर'-इतना जोड़ लेना चाहिये

पूछने वाला यही चाहता है कि जिसके बारे में उसने पूछा है उसे जाने अतः गुरु ने यह कहा भले ही नहीं कि उक्त तत्त्व जानना है लेकिन पूछे तत्त्व का वर्णन कर फल बताया है तो यही समझना पड़ेगा कि उनका तात्पर्य है कि उस तत्त्व को जानकर यह फल मिलता है। इसलिये श्रोत्रादि का भी श्रोत्रादिरूप जो 'विद्वद्बुद्धिगम्यम्' आदि से कहा ब्रह्म है उसे जानकर यह फल मिलता है—यह गुरु का उत्तर हुआ। इस प्रकार 'जानकर' यह शब्द जोड़ लेना चाहिये।

'अमृत हो जाते हैं' इस फलकथन से भी सिद्ध होता है कि 'जानकर' यह कहना विवक्षित है क्योंकि ब्रह्म के ज्ञान से ही अमरता मिलती है। भाष्यकार बार-बार यह तथ्य प्रकट करते हैं कि परमात्मा का ज्ञान ही कल्याणोपाय है: 'न चान्यत्र परमात्मज्ञानाच्छोकविनिवृत्तिरस्ति' (ब्र.सू.१.३.८), 'ब्रह्मज्ञानाद्ध्यमृतत्वप्राप्तिः'(वहीं १.३.३९), 'न च अन्यत्र परमात्मविज्ञानादमृतत्वमस्तीति श्रुतिस्मृतिवादा वदन्ति' (वहीं.१.४.१९) इत्यादि। उन्होंने अनेक जगह अमरतालाभ को इसमें लिङ्ग माना है कि ब्रह्मज्ञान की ही चर्चा है। अतः यहाँ भी फलवचन से वही निर्णीत होता है। यहाँ 'प्राप्यते' कहा; अमृतत्व तो अज आत्मा का नित्य है, उसकी अप्राप्ति के भ्रम की निवृत्ति रूप प्राप्ति ज्ञान से होती है यह भाव है। प्राप्तप्राप्ति होने से यह प्राप्तिरूप से मिथ्या ही है अतः कोई शंकास्थान नहीं रह जाता।

ब्रह्म जानकर क्या होता है? इसका उत्तर श्रुति ने दिया 'अतिमुच्य अमृता भवन्ति'—छोड़कर अमृत हो जाते हैं। यद्यपि 'क्या छोड़कर' यह नहीं कहा तथापि ज्ञान से जिसे छोड़ा जा सकता है और जिसे छोड़कर अमरता मिलती है उसे ही छोड़ना कहा जा सकता है अतः 'श्रोत्र आदि करणसमूह को छोड़कर' यह अभिप्राय है। श्रोत्रादि को 'मैं-मेरा' समझना छोड़े बिना अमृतता संभव नहीं। साथ ही भ्रमरूप होने से वह ग़ैरसमझी ज्ञानरूप बल से छोड़ी जा भी सकती है। अतः श्रोत्रादि को 'मैं-मेरा' समझना छोड़कर अमृत होते हैं यह वाक्यार्थ है। 'ज्ञात्वातिमुच्य' से कह दिया कि जो छोड़ना है वह मिथ्या है क्योंकि ज्ञानसे मिथ्या ही छूटता है। ज्ञाननिवर्त्यत्व अत एव मिथ्या का लक्षण आचार्यों ने कहा है। सामर्थ्य योग्यता को कहते हैं। ज्ञानमात्र से छूट सकने की योग्यता तथा छूटने पर मोक्ष देने की योग्यता जिसमें हो उसे ही छोड़ना कहा गया है यह निश्चित होने पर वैसी वस्तु मिथ्या अभिमान ही है—क्योंकि भगवान् ने उसे ही मिथ्या कहा है 'मिथ्यैष व्यवसायस्ते', वहाँ व्यवसाय अहंकार ही है—इसलिये उसे छोड़ना ही यहाँ बताया गया। जैसे स्रुवे से आहुति देनी हो और होम के लिये घी, पुरोडाश आदि कई चीज़े हों तो योग्यता से पता चल जाता है कि घी की आहुति के लिये ही स्रुवा है ऐसे ही श्रोत्र और श्रोत्र का श्रोत्र दोनों का प्रसंग चला हुआ है तथा उक्त प्रकार का छोड़ना कहा तो योग्यता से निर्णय होता है कि श्रोत्र को छोड़ना है, न कि श्रोत्र के श्रोत्र को! श्रोत्रादि का स्वरूपतः त्याग ज्ञान से संभव नहीं तथा 'प्रेत्य' कहकर पृथक् से कहा भी जा रहा है (और सुषुप्ति आदि में होता हुआ उक्तफलक न होने से ग्राह्य भी नहीं है) अतः उनमें आत्मभाव का त्याग ही विवक्षित है। अतएव 'अतिमुच्य प्रेत्य' अर्थात् अभिमान छूटने के बाद हुआ स्वरूपतः त्याग अमृतफलक है, केवल 'प्रेत्य' नहीं। 'मुक्त्वा' तो सुषुप्ति आदि में भी सिद्ध है अतः 'अतिमुच्य' कहा अर्थात् सकारण निवृत्ति कही।

'अतिमुच्य धीरा' इत्यस्यार्थः

श्रोत्रादौ हि आत्मभावं कृत्वा तदुपाधिः सन्, तदात्मना जायते म्रियते संसरति च। अतः श्रोत्रादेः श्रोत्रादिलक्षणं

ब्रह्मात्मेति विदित्वा, *यदेतच्छ्रोत्राद्युपलब्धिनिमित्तं 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादिलक्षणं नित्योपलब्धिस्वरूपं निर्विशेषम् आत्मतत्त्वं तद् बुद्ध्वा* अतिमुच्य अतिमुच्य श्रोत्राद्यात्मभावं परित्यज्य। ये श्रोत्राद्यात्मभावं परित्यजन्ति ते धीरा धीमन्तः। *अनवबोधनिमित्ताऽध्यारोपिताद् बुद्ध्यादिलक्षणात् संसाराद् मोक्षणं कृत्वा* धीरा *धीमन्तः।* न हि विशिष्टधीमत्त्वमन्तरेण श्रोत्राद्यात्मभावः शक्यः परित्यक्तुम्।

'अतिमुच्य धीराः' का अर्थ

श्रोत्रादि में आत्मताबुद्धि करके ही श्रोत्रादि-उपाधि वाला हुआ भी श्रोत्रादि से विशिष्ट आत्मा रूप से पैदा होता और मरता रहता है अर्थात् संसार में चलता रहता है। है यह श्रोत्रादि उपाधि वाला लेकिन बन वे इसके विशेषण गये हैं, इसके (जीवके) स्वरूप में निविष्ट हो गये। इनका होना-न होना ही इसका होना-न होना हो रखा है अतः इनके सम्बन्ध-असंबंध से इसका जन्म-मरण है। 'तैर्विशिष्ट आत्मा तदात्मा' यह समझना चाहिये। अथवा भावप्रधान निर्देश है अर्थात् 'तादाम्येन' यह अर्थ है। तात्पर्य है कि श्रोत्रादि उपाधियों में तादात्म्याध्यास के कारण जन्मता-मरता है। अथवा 'तत्' का अर्थ है 'तत्तत्'; तात्पर्य है कि श्रोत्रादि हरेक से विशिष्ट होना जन्म और उससे छूटना मृत्यु है अतः निरन्तर जन्मता-मरता रहता है क्योंकि लगातार ही एकसे विशिष्ट होना, छूटना, दूसरे से विशिष्ट होना, फिर छूटना—यह क्रम चलता रहता है। यही संसरण है। उत्तराच्चेद् आदि अधिकरण में (१.३.५.१९) भाष्यकारों ने यही कहा है कि जब तक अविद्या छोड़कर दृक्स्वरूप को ही अपना स्वरूप नहीं जानता तभी तक जीव की जीवता है। जब देह-इंद्रिय-मन-बुद्धि-संघात से हटाकर श्रुति समझाती है कि 'तू संघात नहीं, चैतन्यमात्र स्वरूप है', तब शरीरादि-अभिमान से उठकर आत्ममात्र रह जाता है, जीवता समाप्त हो जाती है। इसे ही सर्वज्ञमुनि आदि ने कहा कि जीव नहीं जीवत्व कल्पित है।

इस प्रकार क्योंकि संसार ग़ैर-समझी से है इसलिये श्रोत्रादि का श्रोत्रादिरूप ब्रह्म ही आत्मा है यह सही समझ प्राप्त करना मोक्षोपाय है। श्रोत्रादि में होने वाली उपलब्धिरूपता (उपलब्धृतया प्रकाशकता) का जो निमित्त है वही श्रोत्रादि का श्रोत्रादि कहा गया है, वही स्वरूपतः सनातन उपलब्धि (ज्ञप्ति) है तथा सभी विशेषों से रहित अतः आत्मतत्त्व है। अनात्मा (अर्थात् प्रत्यक् को छोड़कर कुछ भी) विशेष-सापेक्ष निरूपण वाला ही होता है, किसी विशेष के सहारे ही उसे समझ सकते हैं, उसकी सिद्धि है। सारे विशेषों का सहारा छोड़ने पर केवल आत्मा (प्रत्यक्) ही प्रकाशता है। उसे समझने या सिद्ध करने की अपेक्षा नहीं क्योंकि नित्य, उपलब्धि और स्व-रूप है। एवं च भाष्य में हेतुतया अन्वय है; क्योंकि नित्योपलब्धिस्वरूप है, इसीलिये निर्विशेष है और इसीलिये आत्मा है। **उस आत्मतत्त्व को जब सारी ग़लत फ़हमियाँ छोड़ कर समझ लेते हैं तभी 'अतिमोचन' अर्थात् श्रोत्रादि में आत्मताबुद्धि छोड़ी जाती है।**

धीर या बुद्धिमान् वही होता है जो श्रोत्रादि क्षेत्र में आत्मताबुद्धि छोड़ देता है। अज्ञान के कारण ही अध्यस्त है बुद्ध्यादिलक्षण संसार, इससे छूटना सम्पन्न होने पर ही कोई धीर या बुद्धिमान् होता है। जिसे पहले 'तदात्मना' कहा था उसे ही यहाँ 'बुद्ध्यादिलक्षण' कहा है। बुद्धि आदि क्षेत्रभूत धर्मों से ही जिसे लक्षित कर सकते हैं, समझ सकते हैं वह बुद्ध्यादिलक्षण है। संसार—जन्म-मरण—को बुद्धि आदि (या प्रकृत शब्दों में श्रोत्रादि) के परिप्रेक्ष्य में समझ-समझा सकते हैं। श्रोत्रादि को दृष्टि में रखे बिना न अपना और न किसी का जन्म-मरण समझा या अनुभव भी किया जा सकता है। भाष्य में बुद्ध्यादि संसार को अनवबोधनिमित्त और अध्यारोपित कहा। अनवबोध अर्थात् अज्ञान। अज्ञान से जो होता है वह अध्यारोपित होता ही है, फिर अध्यारोपित क्यों कहा? इसका जवाब टीकाकार ने दिया कि अध्यारोपित का मतलब है तादात्म्येन अध्यस्त अर्थात बुद्ध्यादि में तादात्म्याध्यास। बुद्ध्यादि ख़ुद अनवबोधनिमित्त हैं और फिर उसी अनवबोध से वे तादात्म्येन अध्यारोपित हैं अर्थात् तदात्मना-आत्मात्मना, आत्मरूपसे-कल्पित हैं। अथवा तादात्म्येन जिनमें आत्मा अध्यारोपित है वे बुद्ध्यादि तादात्म्येनाध्यारोपित हैं। वे ही संसार हैं। आत्मा माना हुआ बुद्ध्यादि क्षेत्र ही संसार है। पहले जन्म-मरण

को संसार कहा था किन्तु बुद्ध्यादि को आत्मा मानना ही जन्म-मरण है अतः वही बात यहाँ कह रहे हैं। जिसे अध्यारोप है वह अनवबुद्ध संसारी है। अतः तादात्म्याध्यास हटना संसार का छूटना है। किन्तु हटना सकारण हो अर्थात् कारण अनवबोध भी हटे तभी संसार छूटता है। अथवा बुद्ध्यादि का अर्थ ही बुद्धि का कारण है, आदि से कारण कहा ही जाता है। वह स्वयं अनवबोध है, सारे कार्यों का निमित्त है, ख़ुद अध्यारोपित है, बुद्ध्यादिलक्षण है — बुद्धि या तादात्म्याध्यास के कारणरूप से उसका पता चलता है; अर्थात् सुषुप्ति में उसका स्पष्ट भान न होने पर भी उठने पर उसका पता इसी से चलता है कि बुद्धि उत्पन्न होती है — और वही संसार है। इस पक्ष में टीका का अर्थ होगा : अधिष्ठानातिरिक्त सत्ता न रखने वाला जो कल्पित बुद्ध्यादि है वह अनवबोधरूप निमित्त है, वही संसार है। यों तादात्म्येन हुआ जो अध्यासरूप अज्ञान उसकी निवृत्ति ही 'छूटना' कही गयी है। उभयथापि यह छूटना दृष्ट फल है। माण्डूक्य (३.३४) की टीका में अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने कहा है 'मुमुक्षूणां ज्ञानफलं न स्वर्गवत्परोक्षं किन्तु तृप्तिवत् प्रत्यक्षम्।' श्रुति का मानना है कि जिसे यह दृष्ट फल मिल चुका उसे ही विदेह मुक्तिरूप अदृष्टफल मिलता है, 'विमुक्तश्च विमुच्यते' (कठ. ५.१)। यही अतिमुच्य-प्रेत्य इस क्रमसे बताया। बिना अज्ञान हटे श्रोत्रादि में तादात्म्याध्यास बाधित हो ही नहीं सकता यही कहते हैं - **एक ख़ास बुद्धिमानी है जिसके बिना श्रोत्रादि को आत्मा समझना छोड़ा नहीं जा सकता।** वह ख़ास बुद्धिमानी यही है कि 'श्रोत्र का श्रोत्र' समझ लिया जाये। इस धीमत्त्व या बुद्धि को 'विशिष्ट' इसलिये कहा कि शास्त्राचार्योपदेशजन्य अखण्ड वृत्ति ही अज्ञानरूप अध्यास के हटने में वैसे ही उपाय बनती है जैसे सूखी घास जलाने में आतशी शीशा।

फलवचनस्यार्थौ

(i) प्रेत्य व्यावृत्य अस्माद् लोकात् पुत्रमित्रकलत्रबन्धुषु ममाऽहंभावसंव्यवहारलक्षणात्; त्यक्तसर्वैषणा भूत्वेत्यर्थः। अमृता अमरणधर्माणो भवन्ति। 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः' (कै.१.२), 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्व-मिच्छन्' (कठ.२.१.१), 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते, अत्र ब्रह्म समश्नुते' (कठ.२.३.१४; बृ.४.४.७) इत्यादिश्रुतिभ्यः।

(ii) अथवा *प्रेत्यास्माल्लोकात् शरीरात्* प्रेत्य *वियुज्य, अन्यस्मिन्नप्रतिसन्धीयमाने निर्निमित्तत्वाद्* अमृता भवन्ति। 'अतिमुच्य' इत्यनेनैव एषणात्यागस्य सिद्धत्वाद् अस्माल्लोकात् प्रेत्य — अस्माच्छरीरात् प्रेत्य मृत्वेत्यर्थः।

फलवचन के अर्थ

'प्रेत्य अस्माद् लोकात्' अर्थात् इस लोक से हट कर। लोक से हटने का मतलब है, पुत्र, मित्र, पत्नी, बन्धु आदि को मैं-मेरा ऐसा न समझना। पहले गौणात्मता हटे, तब ममता हटे, तभी मिथ्यात्मा से अहन्ता-ममता हट सकती है। पुत्रादि को मैं-मेरा समझना—यह लोक हो गया। 'पुत्रादिषु ममाहंभावसंव्यवहारः— लोकः।' इस लोक से हटने का मतलब हुआ पारिव्राज्य, संन्यास। यहाँ 'संव्यवहार' से अभिज्ञा आदि सभी व्यवहार समझ लेने चाहिये। जीवन-निर्वाहार्थ कुछ व्यक्तियों व वस्तुओं में अहं-ममभाव का व्यवहार यदि अनिवार्य भी हो तो भी उसमें सत्यता-निश्चय नहीं रखना चाहिये। यह बताने के लिये सम्-उपसर्ग लगा दिया। बिना ऐसे संन्यास के ज्ञान सफल नहीं होता यह शास्त्र का उद्घोष है। यही तात्पर्य बताते हैं - **'लोक से हटकर' का मतलब हुआ सभी एषणाओं से रहित होकर।** पुत्र, वित्त और लोक- इन तीन की एषणायें सब को होती हैं। इनमें एक कर्मैषणा भी जोड़ी जा सकती है। 'तस्मादप्येतर्ह्येकाकी कामयते जाया मे स्याद्, अथ प्रजायेय, अथ वित्तं मे स्याद्, अथ कर्म कुर्वीयेति' (बृ.१.४.१७)। कुछ करने की अभिलाषा भी स्वाभाविक है। इन्हे व ऐसी ही अन्य जो कोई भी एषणा—अनात्मसम्बन्धी कामना — हो उससे छूटा हुआ व्यक्ति ही जीवन्मुक्ति का आनन्द लेता है। केवल पुत्रादि का त्याग पर्याप्त नहीं, एषणात्याग ज़रूरी है। एषणात्याग के बाद यदि किसी को पुत्रादि अत्यक्त भी दीखें तो कोई हर्ज नहीं। **ऐसा होने पर ही अमृत होते हैं, मरना कभी भी जिनका धर्म नहीं ऐसे हो जाते हैं।** 'जिनका धर्म' अर्थात् 'जिनसे सम्बद्ध'। **वेद ने ही कहा है 'कर्म, पूजा, धन से नहीं, त्याग से ही कुछ लोगों ने**

अमरता पायी', 'इन्द्रियों को बहिर्मुखी बनाकर मानो ब्रह्माजी ने हिंसा कर दी है अतः अमरता चाहने वाला अन्तर्मुखी होवे', 'मन की सब कामनायें छूटें तब यहीं परमात्मा का साक्षात्कार हो' इत्यादि। ज्ञान से कामनानिवृत्ति और कामनानिवृत्ति से ज्ञान यह अन्योन्याश्रय है क्योंकि दोनों परस्पर उपयोगी हैं : ज्ञान की दृष्टि हो तभी कामना हटे और जितनी कामना हटे उतना ज्ञान दृढ हो। किन्तु यह अन्योन्याश्रय दोष नहीं। कामनानिवृत्ति अपनी उत्पत्ति के लिये ज्ञान नहीं विवेक व तद्धेतुभूत शुभ कर्मों की फलोन्मुखता चाहती है। यद्यपि वे शुभ कर्म 'निष्काम' होने चाहिये तथापि वह 'निष्कामता' ऐहिक व स्वर्गादि की कामना न होने से ही संपन्न हो जाती है। मोक्ष की कामना से किये कर्म निष्काम हैं। उस समय चाहे मोक्ष के स्वरूप का ग़लत ही ज्ञान रहता है अतः किसी न किसी भेद-सुख के उद्देश्य से ही कर्मप्रवृत्ति होती है, लेकिन उन कर्मों के प्रातिस्विक फलों के लिये नहीं करने से निष्कामता सिद्ध हो जाती है। अतः उत्पत्ति में अन्योन्याश्रय नहीं। ज्ञप्ति में तो इसका प्रसंग ही नहीं।

अथवा 'प्रेत्यास्माल्लोकात्' का अर्थ है इस शरीर से वियुक्त होकर। ज्ञान से कर्माशय नष्ट हो चुकने के कारण अन्य शरीर से तो संबंध होगा नहीं अतः जन्मरूप मरण का कोई निमित्त न रह जाने से वे अमृत हो जाते हैं। 'अतिमुच्य' अर्थात् 'छोड़कर' — यह कहने से ही एषणात्याग बता दिया अतः 'प्रेत्य' से उसे पृथक्तः कहना ज़रूरी नहीं। इसलिये 'अस्माद् लोकात् प्रेत्य' का अर्थ है इस शरीर से मर कर। इस प्रकार विदेहमुक्ति बतायी गयी है। प्रारब्ध का भोग से क्षय होने पर यह शरीर छूट जायेगा, शरीरान्तर की उत्पत्ति में कोई कारण रहा नहीं क्योंकि कर्तृत्वबोध ही शरीरोत्पत्ति में हेतु है और वह नष्ट हो चुका है, इसलिये विद्वान् का विदेहताकालिक अविद्यास्तमय अवश्य होने वाली वास्तविकता है।

अज्ञाने बन्धो ज्ञाने मोक्षः

सति हि अज्ञाने कर्माणि शरीरान्तरं प्रतिसन्दधते। आत्मावबोधे तु सर्वकर्मारम्भनिमित्ताऽज्ञानविपरीतविद्याऽग्नि-विप्लुष्टत्वात् कर्मणाम्, इत्यनारम्भेऽमृता एव भवन्ति।

अज्ञान रहते बंधन है, ज्ञान रहते मोक्ष है

अज्ञान के रहते ही कर्म नये-नये शरीर प्राप्त कराते हैं। आत्मज्ञान हो जाने पर तो अज्ञान समाप्त हो जाता है अतः कर्मों का कोई सम्बन्ध न रह जाने से अन्य शरीर प्राप्त नहीं होता। सभी कर्मों का तथा उनके आरंभों अर्थात् फलों का कारण है अज्ञान और उससे ठीक विपरीत है आत्मज्ञान अतः जैसे दावाग्नि सूखा तिनका जला डालती है ऐसे विद्या अविद्या को समाप्त कर देती है। फलतः जब शरीरान्तर मिलता नहीं तो इस शरीर के समाप्त हो जाने पर विद्वान् अमृत ही हो जाते हैं। जीवितदशा में मृत की प्रतीति थी, वह भी रह नहीं जाती। इस प्रकार विदेहमुक्तिरूप अदृष्ट फल बता दिया। अदृष्ट इसी अंश में है कि अदृष्टक्षय की अपेक्षा से है। अकेला कर्म जन्मान्तरहेतु नहीं, अविद्यासे ही है यह शारीरकभाष्य में स्पष्ट किया है : 'सशरीरत्वस्य मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वात्; न ह्यात्मनः शरीरात्माभिमानलक्षणं मिथ्याज्ञानं मुक्त्वाऽन्यतः सशरीरत्वं शक्यं कल्पयितुम्।' (१.१४) धर्माधर्म से शरीर मानने पर अन्योन्याश्रय होता है तथा अनादिपरंपरा मानना अन्धपरंपरा ही है! मोक्ष एक ही है। प्रारब्धशेष की अपेक्षा से उसे जीवन्मुक्ति कहते हैं और प्रारब्धसमाप्ति की अपेक्षा से उसे ही विदेहमोक्ष कह देते हैं। सापेक्ष होने से यह भेद कल्पित ही है।

तथापि नित्यो मोक्षः

शरीरादिसन्तानाऽविच्छेदप्रतिसन्धानाद्यपेक्षयाऽध्यारोपितमृत्युवियोगात् पूर्वमपि अमृताः सन्तो नित्यात्मस्वरूपत्वाद् 'अमृता भवन्ति' इत्युपचर्यते।।२।।

मोक्ष नित्य है

ज्ञान होने पर मोक्ष होता है सुनकर लगेगा मानो मोक्ष कभी होने वाली अवस्था है अतः वैसी भ्रान्ति हटाते हैं – 'जन्मों की अनादि शृंखला में मैं शरीरी होता आया हूँ और आगे भी होता रहूँगा' इस तरह शरीरादि की परंपरा न टूटने के विचार से अपने में धर्मादि के कर्तृत्वादि का अध्यास होता है तथा कामादि दोषों की कल्पना हो जाती है; इन्ही अध्यासों के कारण मृत्यु का अपने पर आरोप कर लेते हैं; वह मृत्यु परमात्मज्ञान से हट जाती है इसलिये कह दिया जाता है कि अमृत हो गये, मोक्ष हो गया। वास्तव में तो मृत्युप्रतीतिकाल में भी अमृत ही थे क्योंकि नित्य ही आत्मस्वरूप हैं। 'अमृत हो जाते हैं' यह केवल उपचार है। वर्तमानशरीर के हेतु का विचार कर पूर्वशरीर, ऐसे ही पूर्वतरशरीर और इसी तरह अनादि शरीरमाला की कल्पना है। यहाँ के कर्मों के साफल्यहेतु पर-परतर आदि अनंत शरीरमाला भी कल्पित है। न पूर्वजन्म है न परजन्म। पूर्व-पर जन्म मानकर ही संचित-आगामी कर्मों का बोझ मान रखा है। कर्म मान लिये तो यह मानना ही हुआ कि उन्हे भोगना भी पड़ेगा। कर्तृत्व-भोक्तृत्व का अध्यास रहते मृत्यु अर्थात् भोगायतन से बिछोह आवश्यक है। प्रत्येक कर्तृत्वादि से वियुक्त होना भी निरन्तर होने वाली मृत्यु है। परमात्मज्ञान से अविद्या हटने पर ये सारे अध्यास हट जाते हैं इसीसे 'मोक्ष हो गया' कहा जाता है। होता मृत्युनिवारण है; कह देते हैं मोक्ष हुआ। चलता प्रकाश है, कह देते हैं छाया चली। अध्यस्त की निवृत्ति भी सत्य क्योंकर होगी! अतः मोक्ष नित्य ही रहता हैं। दसवें को तो फिर भी भ्रम है जो हटता भी है, अर्थात् 'मुझे भ्रम था अब हट गया' ऐसा लगता हैं, किन्तु आत्मा में वैसा भी नहीं है। पूर्वदेहादि की कल्पनापरंपरा का बाध केवल परैक्यबोध से होता है। स्मरण यह रखना चाहिये कि यहाँ वर्तमान देह और अभी का कर्तृत्व-भोक्तृत्व भी नहीं है यह कहा जा रहा है। ऐसा नहीं कि अभी का होवे केवल पूर्वापर का काल्पनिक है! यह अजाति का वर्णन है।।२।।

तृतीयो मन्त्रः

शिष्य आक्षिपति

'न तत्र चक्षुर्गच्छति' इत्युक्तेऽपि पर्यनुयोगे हेतुरप्रतिपत्तेः। 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्येवमादिनोक्तेऽपि आत्मतत्त्वेऽप्रतिपन्नत्वात् सूक्ष्मत्वहेतोर्वस्तुनः पुनः पुनः पर्यनुयुयुक्षाकारणमाह— न तत्र चक्षुर्गच्छतीति।

तीसरा मन्त्र : शिष्य का आक्षेप

आचार्य द्वारा समझाये जाने पर भी क्योंकि शिष्य पूरी तरह समझ नहीं पाया अतः पर्यनुयोग अर्थात् आक्षेप करता है कि जो आपने कहा वह नहीं हो सकता, और इस आक्षेप में क्या कारण है यह 'न तत्र चक्षुर्गच्छति' इस मंत्र के प्रथम भाग से शिष्य व्यक्त कर रहा है। गुरु ने 'श्रोत्र का श्रोत्र' आदि से समूची बात बता दी, जैसे ब्रह्माजी ने इन्द्र-विरोचन को प्रारंभ में ही बता दी थी, लेकिन क्योंकि आत्मवस्तु सूक्ष्म है इसलिये शिष्य को झटिति समझ में आयी नहीं। जब तक संशय-रहित ज्ञान न हो तब तक समझने का प्रयास करते ही रहना चाहिये यह विधान करने के लिये श्रुति शिष्यमुख से बार-बार आक्षेप कराती है, 'न विद्मः', 'न विजानीमः' यों आक्षेप बार-बार किया है। अन्यत्र प्रश्न भी पुनः पुनः उठाये जाते हैं। यहाँ भी आक्षेप प्रश्नपर्यवसायी ही है अर्थात् असंभवता कहकर संभवता ही पूछी गयी है। आत्मविषय में यद्यपि अपनी बुद्धि लगाये बिना समझ नहीं हो सकती तथापि प्रायः शंकायें गुरु से ही समाहित करानी पड़ती हैं यह श्रौत अभिप्राय है। ख़ुद सोच-विचार करना पड़ेगा यह दिखाने के लिये शिष्य आक्षेप में हेतु भी बता रहा है, केवल आक्षेप ही नहीं कर रहा।

मन्त्रः

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्याद् ।
अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे ।।३।।

मन्त्रार्थ

शिष्य कहता है : **तत्र** = उस ब्रह्म को **चक्षुः** = आँखें (सभी ज्ञानेन्द्रियाँ) **न गच्छति** = विषय नहीं करती, **न** = न **वाक्** = वाणी **गच्छति** = उसे विषय करती है, **नो** = न **मनः** = मन ही विषय करता है। **एतद्** = यह ब्रह्म मन आदि करणों को **यथा** = जिस ढंग से **अनुशिष्यात्** = अनुशासित-प्रेरित-कर सके, वह ढंग **न विद्मः** = हम समझ नहीं पाये, **विजानीमः** = हमें लगता है कि ऐसा **न** = हो ही नहीं सकता।

इस पर आचार्य उत्तर देते हैं : **तत्र** = उसे **न** = न **चक्षुः** = आँखें (ज्ञानेन्द्रियाँ) **गच्छति** = विषय करती हैं, **न** = न **वाक्** = वाणी (कर्मेन्द्रियाँ) **गच्छति** = विषय करती है और **नो** = न **मनः** = मन ही उसे विषय करता है। इसीलिये तो **यथा** = जिस ढंग से हमने समझाया उससे अन्य कोई ढंग **न विद्मः** = न हमें समझ आया और, **विजानीमः** = हमें लगता है कि **न** = है भी नहीं, जिससे कोई **एतद्** = इस ब्रह्म का **अनुशिष्यात्** = उपदेश कर सके।

ये = जिन श्रद्धेय गुरुजनों ने **नः** = हमें **तद्** = वह तत्त्व **व्याचचक्षिरे** = स्पष्टतः पूरी तरह समझाया, उन **पूर्वेषाम्** = पुराने आचार्यों का वचन हमने **इति** = ऐसा ही **शुश्रुम** = सुना कि: **तद्** = वह तत्त्व **विदितात्** = विदित से (ज्ञेय से) **अन्यद्** = अन्य **एव** = ही है **अथो** = और **अविदिताद्** = अविदित से भी **अधि** = अलग ही है, ऊँचा ही है।

नाम-रूप से रहित परमात्मा इंद्रियों का विषय न हो सकने से वैसे नहीं बताया जा सकता जैसे सींग पकड़कर गाय आदि सामने लाकर बतायी जा सकती है। उषस्त चाक्रायण ने यही कहा 'जैसे बताते हैं 'यह गाय है', 'वह घोड़ा है', उस तरह आत्मा को समझाओ।' याज्ञवल्क्य ने बताया 'जो दृष्टि का द्रष्टा है, जानकारी का भी 'जानकार' है, उसे दृष्टि से, जानकारी से कैसे देखोगे? यह कोशिश छोड़ो। सबसे भीतरी जो तुम्हारा आत्मा है वह ब्रह्म है। प्रत्यक् से परिछिन्न जो भी है वह आर्त है, अनात्मा है, असत्य है।' कुछ चीज़ें लोकसिद्ध न होने से दीखती तो नहीं पर किसी तरह शब्दादि से समझायी जा सकती हैं किंतु आत्मा वैसा भी नहीं क्योंकि शब्दादि भी किसी सम्बन्ध, सादृश्य आदि से वैसी चीज़ें बताते हैं और यह संबंधों से, सदृशता आदि से परे है। कुछेक ऐसी बाते हैं जो मनसे ही समझी जाती हैं, कही भी नहीं जा सकती और देखी-सुनी तो नहीं ही जा सकती, जैसे भावना। लेकिन आत्मा के बारे में मन काम करे यह भी मुमकिन नहीं, कारण कि मन वही जान पाता है जिसमें कोई फ़र्क आता हो, घट-बढ़ हो, कभी होना-कभी न होना हो। आत्मा ऐसा नहीं है। इसीसे शास्त्र व सब आचार्य आत्मप्रतिपादन का यही ढंग अपनाते हैं कि बुद्धि बहिर्मुख न हो। बुद्धि उपशांत होने पर आत्मबोध होता है, बाकी कोई 'आकार' नहीं जिसे लेवे तो 'ब्रह्माकार वृत्ति' बने और ज्ञान हो। कहते अवश्य हैं 'ब्रह्माकार वृत्ति', लेकिन मतलब यही है कि सर्वदोषरहित जाग्रत् बुद्धि होने पर ब्रह्मसंबंधी संशयादि की समाप्ति है। गीता के अठारहवें अध्याय के भाष्य में आचार्यपादों ने यह विस्तार से समझाया है। आत्मा को न कह सकते हैं कि जाना जाता है और न यही कहना बनता है कि नहीं जाना जाता। यद्यपि कहते हैं कि अज्ञात वस्तु एक आत्मा ही है और सर्वत्र ज्ञान भी उसी का होता है; घटस्थल में भी घट केवल अवच्छेदक है, उपाधि है, ज्ञात-अज्ञात परमात्मा ही है; सारी वृत्तियों से वही वेद्य है, तथापि न वह विदित है और न अविदित! यदि न जानना और जानना संभव हो तो तभी हो सकता है जब आत्मा को अज्ञात या ज्ञात मानें किन्तु ऐसा मान नहीं सकते, इसलिए न कुछ अज्ञात है, न ज्ञात है। अतएव पूर्वोक्त दोनों बातें अविरुद्ध हैं। जैसे सिद्धान्त में ब्रह्म ही जगज्जन्मादि हेतु तथा – 'न तस्य कार्यं विद्यते' – सर्वथा अहेतु कहा जाता है वैसे ही प्रकृत में है। प्रकाशमान होने से विदित हो ऐसी संभावना तो की जा सकती है किन्तु वह अविदित हो यह तो कल्पना भी संभव नहीं, इसीलिये विदित से तो अन्य ही कहा, अविदित से उसे ऊँचा कहा, उसकी काल्पनिक पहुँच से भी बाहर है। शमादि साधनों की पुष्कलता के कारण जो शास्त्र का मर्म समझ चुके हैं वे ही इसे पूरी तरह स्पष्ट कर सकते हैं।

'न तत्र' से 'अनुशिष्यात्' तक का वाक्य शिष्य व गुरु दोनों के कथन रूप से समझाया गया है अतः उसकी

आवृत्ति या तंत्रोच्चारण समझ लेना चाहिये। शिष्य व गुरु दोनों ने माना कि वह अविषय है अतः द्योतित किया कि न केवल समझने में वरन् समझाने में भी बहुत कोशिश करनी चाहिये। गुरु ने जब 'न विद्मो न विजानीमः' से उपदेशप्रकार का निषेध कर दिया तो सर्वथा ही ज्ञानोपाय शंकितसत्ताक हो जायेगा इसलिये ज़रूरी हुआ कि प्रपंच के अपह्नव से वह लक्षित किया जाये अतः 'अन्यद्' इत्यादि तुरंत कहा और 'तद्व्याचचक्षिरे' से उसका व्याख्यान संभव बता दिया। यह उपनिषद्योगी ने प्रकाशित किया है। 'दर्शयति च' इत्यादि सूत्र (३.१.१७) यहाँ अनुसंधेय है। वहाँ भाष्यकार ने बताया है कि बाध्व ने मौन से ही उपदेश दिया पर बाष्कलि समझ नहीं पाया वैसा यहाँ भी न हो जाये इसलिये 'अन्यदेव' आदि वाक्य श्रुति ने रख दिया।

ब्रह्मणो दुर्बोध्यताप्रदर्शनम्

तत्र श्रोत्राद्यात्मभूते चक्षुरादीनि — वाक्चक्षुषोः सर्वेन्द्रियोपलक्षणार्थत्वाद् — न विज्ञानमुत्पादयन्ति। सुखादिवत्तर्हि गृह्येतान्तःकरणेन? अत आह - नो मनः। *न सुखादिवद् मनसो विषयस्तद्, इन्द्रियाऽविषयत्वात्।* न विद्मो न विजानीमः *अन्तःकरणेन* यथैतद् *ब्रह्म मनआदिकरणजातम्* अनुशिष्याद् *अनुशासनं कुर्यात्, प्रवृत्तिनिमित्तं भवेत् तथाऽविषयत्वाद् न विद्मो न विजानीमः।*

ब्रह्म को समझना कठिन है

श्रोत्रादि का जो आत्मा है, जिससे वे सत्ता-स्फूर्ति पाते हैं, उसे वे श्रोत्रादि विषय नहीं करते, उसके बारे में कोई जानकारी देने में स्वतः असमर्थ हैं। यहाँ इंद्रियों में चक्षु और वाक् का ही नाम लिया है लेकिन तात्पर्य सभी इंद्रियों से है। यद्यपि समझना उसे श्रोत्रादि के सहारे ही है, क्योंकि उसे श्रोत्रादि का श्रोत्रादि बता चुके हैं, तथापि वह समझ श्रोत्रादि ख़ुद नहीं उत्पन्न करते, शास्त्रापेक्षा से ही वह ज्ञान भासता है। **इन्द्रियों से न सही, सुख आदि की तरह अन्तःकरण से उसका पता चलता होगा? इस संभावना को मना किया यह कहकर कि मन भी उसे विषय नहीं करता।** प्रायः सुख आदि का ग्रहण साक्षी से माना जाता है पर यहाँ अंतःकरण से ग्रहण कहा है। 'मुझे सुख है' या 'मैं सुखी' यह किसका अनुभव है? साक्षी का तो है नहीं, वह विकारी नहीं। प्रमाता का ही यह अनुभव है अतः प्रमाता ही सुख को ग्रहण करने वाला है। प्रमाता अपनी उपाधि अन्तःकरण से ही ग्रहण करेगा। यह ठीक है कि मन साक्षी से ही प्रकाश पाता है इसलिये सुखादि साक्षिभास्य हैं लेकिन साक्षी को अनित्य ज्ञान तो होते नहीं अतः वह सुख को ग्रहण करने वाला कैसे होगा? साक्षी जब अपने को सुख का ग्रहीता समझता है तभी तो वह प्रमाता है। क्योंकि मन आत्मा से प्रकाश पा रहा है इसीलिये आत्मा साक्षी है, आत्मा प्रकाश देकर साक्षी हो ऐसा नहीं। इसीलिये साक्षी के लिये अविद्या पर्याप्त है, मन आवश्यक नहीं; सुषुप्ति में मन नहीं पर साक्षी है। मन का और उसकी वृत्तियों का ग्रहण मन के रहते ही होना है और अनित्य ग्रहण होने से - चाहे अनित्यता विषयानित्यता से ही है अर्थात् वृत्ति की अनित्यता के कारण ही उसके ग्रहण की अनित्यता है - होगा यह उसे ही जिसे मनस्तादात्म्य है। मन में सापेक्ष स्वप्रकाशता मानी ही गयी है अतः मन का ग्रहण मन से हो इसमें कोई दोष नहीं। वृत्तिप्राधान्येन ग्राह्यता, मनःप्राधान्येन ग्रहणसाधनता और अवच्छिन्नप्राधान्येन ग्राहकता, ऐसी व्यवस्था में आत्माश्रय या कर्तृकर्मविरोध का प्रसंग नहीं। दर्पण में पड़ा सूर्यप्रतिबिंब जब प्रकोष्ठ में पड़े घड़े को प्रकाशित करता है तो क्या उस दर्पण या उसके विकारों को प्रकाशित नहीं करेगा? यह ठीक है कि मूलतः सूर्य ही सब को प्रकाशित कर रहा है लेकिन जब बिम्ब-प्रतिबिम्ब का विभाजन मान लिया तब प्रतिबिम्ब से चलने वाले काम में बिम्ब को क्यों लगाना? यद्यपि एक वस्तु के हिलने और हिलते रहने में दूसरी वस्तु ही कारण होती है तथापि वस्तु का हिलना (momentum) स्वयं भी उसके हिलते रहने में कारण बनता है। ऐसे ही स्फूर्ति भले ही आत्मा से (साक्षी से) मिले, ग्रहण प्रमाता करे तो उचित ही है। प्रमाता ग्रहण करेगा तो अन्तःकरण से ही करेगा अतः यहाँ 'गृह्येतान्तःकरणेन' कहा है। इस प्रकार साक्षिभास्य का अर्थ है साक्षी के अधीन प्रकाश होना (अर्थात् द्वितीय मन के निमित्त से प्रथम मन

बनना) और प्रमातृग्राह्य का मतलब है कि उसकी जानकारी प्रमाता को होती है। प्रमाता साक्षी से अभिन्न होने से किसी तरह की समस्या नहीं।

क्यों मन आत्मा को विषय नहीं करता? **वह सुखादि की तरह मन का विषय इसलिये नहीं है कि इन्द्रियों का अविषय है।** भौतिक न होने से आत्मा वैसे ही इंद्रियविषय नहीं है जैसे नृशृंग! मन इंद्रियरूप से प्रसिद्ध है। अतः इन्द्रिय का अविषय मन का अविषय होना ही है। तो क्या सुख इन्द्रियविषय है? उक्त प्रकार से मन इंद्रिय है तो सुख इंद्रियविषय है ही। वस्तुतस्तु यहाँ इन्द्रियाऽविषयत्व का मतलब है नाम-रूपरहितत्व। टीका के अभौतिक का भी यही अभिप्राय है। मन उसे ही विषय करेगा जो नाम-रूपात्मक होगा। जो नाम और रूप वाला नहीं ऐसा कुछ मन विषय करे यह कभी अनुभव हुआ नहीं। अतः आत्मा नाम-रूपरहित होने से मनोग्राह्य नहीं है।

इंद्रियों का व मन का विषय न होने से प्रकृत में क्या आया? **यह ब्रह्म मन आदि करणसमूह का शासन कर सके, उनकी प्रवृत्तियों में निमित्त हो सके ऐसा कोई ढंग हम न आपके कहने से समझ पाये और न ख़ुद ही अपने मन से सोचकर हमें समझ आया, कारण कि यह ब्रह्म हर तरह से अविषय ही है।** 'हर तरह से' अर्थात् न ब्रह्म ही समझा जा सकता है और न उसका प्रेरकत्वादि ही। स्वरूपतः व धर्मतः वह समझा नहीं जा सकता। 'नहीं समझे' यह दो बार कहना इसीलिये पड़ा कि उसे व उसकी प्रेरकतादि दोनों ही नहीं समझ पाये यह बताना था। शिष्य का अभिप्राय है कि ऐसा आत्मा है यही मानना व्यर्थ लगता है। है तो उसे जानने का ढंग होना चाहिये। यह पर्यनुयोग या आक्षेप है।

यद्वाचार्य एव मन्त्रेण ब्रूते

अथवा; 'श्रोत्रादीनां श्रोत्रादिलक्षणं ब्रह्म विशेषेण दर्शय' इत्युक्त आचार्य आह — 'न शक्यते दर्शयितुम्।' कस्मात्? न तत्र चक्षुर्गच्छतीत्यादि।

इन्ही शब्दों से आचार्य भी जवाब देते हैं

जिन शब्दों में शिष्य ने आक्षेपात्मक शंका की उन्हीं शब्दों में आचार्य उसे उत्तर देते हैं : **पक्षान्तर में यह वाक्य यों समझना चाहिये - शिष्य ने तात्पर्यतः जब यह कहा कि श्रोत्रादि का श्रोत्रादि जो ब्रह्म है उसे अन्यापह्नव से नहीं बल्कि उसकी निजी विशेषतायें बताकर समझाइये, तो आचार्य बोले, 'वैसे उसे नहीं बता सकते क्योंकि वह चक्षुरादि का विषय है नहीं जो पदार्थान्तरों की तरह नाम-रूपात्मक विशेषता वाला हो।'** जिन कारणों से शिष्य यह नहीं समझ पाया कि आत्मा इंद्रियों का इच्छामात्र से प्रेरक हो सकता है, उन्ही कारणों से आत्मा गाय-घोड़े की तरह किसी विशेषता के सहारे दिखाया या समझाया नहीं जा सकता। चक्षु आदि का वह अविषय है—इतनी बात जो शिष्य ने समझी वह ठीक है। 'यथानुशिष्यात्', वह किस तरह प्रेरणा कर पाता है—यह शिष्य को समझ नहीं आया। गुरु का कहना है कि उसे प्रेरक मानकर ही उसे समझना पड़ेगा, उसे समझने का और कोई ढंग है नहीं। एक 'फलोन्मुखी तर्क' प्रसिद्ध है अर्थात् यदि कोई मान्यता सफल है तो उसे सत्य मान लेना चाहिये। आत्मा की प्रेरकता स्वीकारने से आत्मज्ञान द्वारा मोक्ष हो जाता है, अतः प्रेरकता मान लेनी चाहिये, यह अभिप्राय है। प्रेरकता को वास्तविक तो मानना है नहीं अतः यह तर्क समझना उचित है। किं च प्रेरकता इस तरह सत्य निश्चित होने पर उसकी व्यवस्था भी बना लेनी चाहिये यह भी सूचित कर दिया। हो सकता नहीं फिर भी है तो मिथ्या होना पड़ेग। श्रोत्रादि का आत्मा से वास्तविक सम्बन्ध नहीं फिर भी आत्मा से श्रोत्रादि अनुशासित हैं यह तभी होगा जब वे उस पर अध्यस्त हों। यह भी ध्वनित है-'यथैतत्, तथाऽनुशिष्यात्'- कि जिसे चक्षु आदि विषय करते नहीं, जिसे हम न ख़ुद समझ पाये और न शास्त्रोपदेश से ही समझ पाये, 'एतत्', फिर भी जो हमसे कभी ओझल नहीं हो रहा वह हमारा निटकभूत स्वरूप है इसमें संदेह नहीं; जैसे इसका होना असंदिग्ध है वैसे ही इसका अनुशासन चाहे किसी तरह समझ न आये लेकिन निःसंदेह है अवश्य। इस प्रकार शिष्य के शब्दों में ही उत्तर देना सार्थक है।

अविषयता

यस्माच्छ्रोत्रादेरपि श्रोत्राद्यात्मभूतं ब्रह्म, अतो न तत्र तस्मिन् ब्रह्मणि चक्षुः गच्छति, स्वात्मनि गमनाऽसम्भवात्। तथा न वाग्गच्छति।

आत्मा अविषय है

जब यह कहा कि 'श्रोत्रका श्रोत्र' कहकर श्रोत्रादि का अध्यास जिस पर है वह अधिष्ठान चेतन लक्षित किया जा रहा है तो यह शंका उठी कि जैसे सर्पादि के अध्यास की अधिष्ठान रस्सी विषय होती है, चक्षु आदि से दीखती है, वैसे ही अधिष्ठान होने के कारण आत्मा भी विषय होना चाहिये। इसे मिटाते हैं-**ब्रह्म श्रोत्रादि का भी श्रोत्रादि है अर्थात् प्रथम-श्रोत्रादि का आत्मा है, उनका स्वरूप है, उनकी वास्तविकता है। इसलिये उसे चक्षु आदि विषय नहीं करते। अपने आत्मा को विषय नहीं किया जा सकता। जैसे चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियाँ, वैसे ही वागादि कर्मेन्द्रियाँ भी उसे विषय करती नहीं।** आत्मा होने का मतलब है प्रत्यक् होना, विषय बनने का मतलब है पराक् होना; आत्मा 'मैं' रहता है, विषय 'यह' (ग़ैर-मैं) रहता है; प्रतीति का अव्यभिचारी है आत्मा और प्रतीति का व्यभिचारी है विषय; अतः आत्मा को विषय नहीं किया जा सकता। उसे विषय करते ही वह आत्मा नहीं रह जायेगा! अध्यासभाष्य में यह प्रसंग विस्तार से समझाया गया है कि आत्मा अधिष्ठान होने पर भी विषय नहीं है।

शंकालु ने कहा था कि रस्सी की तरह आत्मा 'विषय' होना चाहिये। उसका अभिप्राय था कि इंद्रियों द्वारा उसे विषय किया जा सकना चाहिये। किन्तु यह उसका कथन ग़लत है, क्या साँप अपनी अधिष्ठान रस्सी को विषय करता है? या मृगमरीचिका का जल बालू को गीला करता है? अध्यस्त का तो स्वरूप ही अधिष्ठान है क्योंकि अध्यस्त कभी उससे अलग हुआ नहीं रह पाता। किसी भी पदार्थ में यह सामर्थ्य नहीं कि वह अपने स्वरूप को (अधिष्ठान को) विषय करे। अतः अधिष्ठान होने के कारण अपने में अध्यस्त का विषय बनना पड़ेगा—यह नियम सिद्ध नहीं हो सकता कि आत्मा श्रोत्रादि का अधिष्ठान हो तो उनका विषय भी बने।

देवदत्त ही जिसका अधिष्ठान है ऐसा जो उसी के द्वारा कल्पित पिशाचादि वह देवदत्त को विषय कर लेता है; स्वप्न भी स्वाधिष्ठानभूत देवदत्त को सुखी-दुःखी करता अतः विषय करता है; इसलिये भाष्य में जो कहा 'स्वात्मनि गमनासंभवात्' उसका अभिप्राय केवल सच्चिदानन्द आत्मा की अविषयता से है। तब प्रश्न होगा कि रस्सी अधिष्ठान है और चक्षु आदि का विषय है तो आत्मा भी अधिष्ठान होने से विषय क्यों नहीं? उत्तर है कि अधिष्ठान होना चक्षु आदि का विषय होने में कोई कारण नहीं है। अधिष्ठान हो, विषय न हो तो हर्जा क्या है? अगर कहो कि अधिष्ठान के अवभास की ज़रूरत है तो चेतन आत्मा का अवभास हमें मान्य ही है, उसके लिये चक्षु आदि का विषय बनने का प्रसंग कहाँ? यह कह नहीं सकते कि ऐसा कुछ स्वीकार्य नहीं जो बिना विषय हुए अधिष्ठान न बने, कारण कि वादी को कुत्रचित् ऐसा स्वीकारना ही पड़ता है। अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने माण्डूक्यटिप्पण में (२.८) बताया है: कुछ वादी संवित् को (ज्ञान को) स्वप्रकाश मानते हैं। वे कहते हैं कि जो संवित् को जड मानते हैं उन्हे भ्रम है। भ्रम से मानी हुई जडता का अधिष्ठान कौन? संवित् ही है। वह संवित् विषय तो है नहीं, अन्यथा स्वप्रकाश कैसे होगी? अतः संवित्स्वप्रकाशतावादी अविषय संवित् को अधिष्ठान मानेगा ही। इसी तरह दूसरे वादी संवित् को जड (अस्वप्रकाश) मानते हैं और कहते हैं कि उसे स्वप्रकाश मानना भ्रम है। भ्रमसिद्ध स्वप्रकाशता का अधिष्ठान क्या? संवित् ही है और उसे वे भी किसी इंद्रिय का विषय नहीं मानते। अतः अधिष्ठान इंद्रियविषय हो यह नियम वे भी नहीं कह सकते। इस प्रकार अनुकूल तर्क न होने से अधिठान होने पर भी आत्मा को इन्द्रियों का विषय मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

किं च श्रोत्रादि के दो स्वरूप हैं—एक अध्यस्तस्वरूप और दूसरा अधिष्ठानस्वरूप। श्रोत्र—यह अध्यस्तस्वरूप है

और ब्रह्म उसका अधिष्ठानस्वरूप है। कान से कान तो सुना नहीं जाता यह सबको स्वीकृत है अर्थात् श्रोत्रादि अपने अध्यस्तस्वरूप को विषय नहीं करते यह अनुभवसिद्ध है। इससे यह नियम निकलता है कि वे अपने स्वरूप को विषय नहीं करते। ब्रह्म भी उनका स्वरूप है अतः उसे भी विषय नहीं ही करेंगे। ब्रह्म श्रोत्रादि का स्वरूप कैसे? श्रोत्रादि ब्रह्म से पृथक् नहीं मिलते इसी से वह उनका स्वरूप है। श्रोत्रादि पदार्थों में स्वरूप को विषय करना देखा नहीं गया अतः वे आत्मा को विषय नहीं करते। टीकावाक्य से इस प्रकार प्रत्यनुमान बताया है यह श्रीविष्णुदेवानन्दजी महाराज का आशय है।

वाचोऽगमने हेतुः

वाचा हि शब्द उच्चार्यमाणोऽभिधेयं प्रकाशयति यदा, तदा 'अभिधेयं प्रति वाग्गच्छति' इत्युच्यते। तस्य च शब्दस्य, तन्निर्वर्तकस्य च करणस्य आत्मा ब्रह्म, अतो न वाग्गच्छति। यथाऽग्निर्दाहकः प्रकाशकश्चापि सन् न ह्यात्मानं प्रकाशयति दहति वा तद्वत्।

आत्मा में वाणी की गति क्यों नहीं

वाणी अपने अभिधेय को (वाच्य को) विषय करती है यह तब कहा जाता है जब वाणी द्वारा उच्चरित शब्द अभिधेय को प्रकाशित करे। शब्द और उसे उच्चरित करने में करणभूत वाणी दोनों का आत्मा ब्रह्म है अतः उसकी ओर वाणी की गति नहीं। जैसे अग्नि दाहक है, चीज़ें जलाती है, और प्रकाशक है, चीज़ों को प्रकाशित भी करती है, लेकिन ख़ुद को न जलाती है न प्रकाशित ही करती है; ऐसे ही वाणी की गति का काफ़ी विस्तृत क्षेत्र होने पर भी वह आत्मा को (अपने स्वरूप को, अधिष्ठान को) विषय नहीं करती। मन्त्र के वाक्-शब्द से इंद्रिय और शब्द दोनों समझ लेने चाहिये। क्योंकि इंद्रिय शब्द के द्वारा ही विषय करती है इसलिये शब्द की अविषयता से ही इंद्रिय की अविषयता बताना उचित है। रूपाभाव के कारण अविषयता है यह चक्षु की अगति से कहा और नामाभाव से अविषयता को वाणी की अगति से कह दिया। भाष्य में आत्मता को ही उभयत्र अविषयता में हेतु कहा है क्योंकि आत्मा में नाम-रूप का अभाव इसी से सिद्ध होगा कि वह चक्षु आदि और वाग् आदि का विषय नहीं, यदि नाम-रूप का अभाव उनकी अविषयता में हेतु कहें तो इतरेतराश्रय हो जायेगा। अतः उनकी गति न होने में आत्मता ही हेतु है। शब्द का आत्मा ब्रह्म कैसे? शब्द अपने अर्थ बताये—यह शब्द को प्रेरणा देने वाला होने से जैसे आत्मा श्रोत्रादि का श्रोत्रादि है ऐसे शब्द का शब्द भी है अर्थात् उसका आत्मा है। शब्द में जो अर्थप्रकाशनसामर्थ्य है वह आत्मनिमित्तक है। ईश्वररूप से आत्मा यह नियम करता है कि अमुक शब्द से अमुक अर्थ पता चले और निर्विशेषरूप से वही उसे सत्ता देकर प्रकाशित करता है। शक्तिसम्बंध ईश्वर की तरह यदि जीव से भी नियत मानें तो भी आत्मनियतता तो है ही। जैसे नमक में वस्तुगत शक्ति है कि वह नमकीन लगेगा,स्वसंबद्ध को नमकीन बनायेगा मीठा नहीं, ऐसे शब्द में नहीं मान सकते। चेतन उसमें यह सामर्थ्य आहित करता है कि वह अमुक अर्थ बताये। वह चेतन ईश्वर ही है ऐसा प्रायः मानते हैं, कुछ कहते हैं कि जीव सामर्थ्य का आधान कर देते हैं। चाहे जो हो, करता चेतन है यह सबको मानना है। शब्द का सामर्थ्य जिसके अधीन है वह चेतन है अतः उसे शब्द विषय नहीं कर सकता। केवल इस प्रकार शक्तिनिमित्त होता तो कथंचित् विषय बन भी सकता था क्योंकि क्वचित् ऐसा होता है कि अपने सामर्थ्य के निमित्त को नैमित्तिक विषय कर ले (जैसे बैटरी और डाय्नमो), लेकिन ब्रह्म तो शब्द का विवर्ताधिष्ठान होने से भी उसका आत्मा है अतः अविषय ही है। उपलब्धृतया प्रकाशकता न होने पर भी जैसी प्रकाशकता है वैसी भी आत्मनिमित्तक ही है यह अभिप्राय है। भाष्य में 'अभिधेयम्' से सूचित किया कि लक्षणावृत्ति से शब्द द्वारा वाणी कहे इसका यहाँ निषेध विवक्षित नहीं है। वैसी भी विषयता आत्मा में है नहीं यह पहले बताया जा चुका है। स्व में स्व की विषयता नहीं यह अग्नि के उदाहरण से समझाया। दार्ष्टान्त के अनुरोध से दाहक अग्नि का मतलब जलती हुई लकड़ी आदि समझना चाहिये। दार्ष्टान्त में श्रोत्र आदि अपने आत्मभूत को प्रकाशित नहीं करते यह

कहना है। जलती लकड़ी का भी आत्मभूत अग्नि है क्योंकि उसीसे जलती लकड़ी को दाहकता आदि मिली है। जलती लकड़ी अन्य चीज़ों को जलाती है पर आग को नहीं जलाती । ऐसे ही वाणी आत्मा को विषय नहीं करती। अथवा 'यथाग्निः' आदि वाक्यमें 'आत्मानम्' से आत्मा ही समझना चाहिये; आग भी आत्मा पर कल्पित है लेकिन 'अदाह्योऽयम्' आदि वचनों से आत्मा अग्नि का विषय नहीं। जैसे सबको जलाने व प्रकाशित करने वाली आग सच्चिदानंद आत्मा को जलाती और प्रकाशित नहीं करती ऐसे ही वाणी भी उसे विषय नहीं करती यह तात्पर्य है।

मनसोप्यविषयः

नो मनः। मनश्चान्यस्य सङ्कल्पयितृध्यवसायितृ च सद् नात्मानं सङ्कल्पयति अध्यवस्यति च, तस्यापि ब्रह्मात्मेति।

वह मन का भी विषय नहीं

मन भी परमात्मा को अपना विषय नहीं बना पाता, ब्रह्म को परिच्छिन्न नहीं कर सकता। अपने से भिन्न के बारे में ही मन संकल्प और निश्चय करता है अतः अपने आत्मा का न संकल्प कर सकता है, न निश्चय। ब्रह्म उसका भी आत्मा है ही। इस प्रसंग में 'अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्'-इस अध्यासभाष्य का अनुसन्धान कर लेना चाहिये। भामती में तो एक 'इव' लगाकर ही समझाने की कोशिश है, भगवान् पद्मपाद ने इस पर विशद विचार व्यक्त किये हैं। वे बताते हैं कि क्योंकि आत्मा अहंकार में व्यवहारयोग्य बनता है इसलिये गौणी वृत्ति से कह देते हैं कि वह अस्मत्प्रत्ययविषय है। एक विलक्षण नियम वे बताते हैं 'प्रमेयस्य च व्यवहारयोग्यत्वाऽव्यभिचारात्।' (पंच.कल.३५४) प्रमेय व्यवहारयोग्य न हो यह नहीं हो सकता। व्यवहार परमार्थ तो होगा नहीं अतः व्यावहारिक व्यवहार्यता निश्चित होती है और आत्मा का व्यवहारयोग्य रूप अहंकार में है। जैसे काँच (दर्पण) मुख दिखा देता है तो मानो मुँह दर्पण का विषय बन गया ऐसे अहंकार आत्मा को दिखा देता है अतः मानो आत्मा उसका विषय हो (वहीं पृ.४०३)। विशिष्टरूप से शुद्ध मिलता है— यह रहस्य सर्वज्ञमुनि ने परम कृपालु होकर खोला है। अतः यद्यपि मन से विषय होने पर ही आत्मा का अज्ञान हटना है तथापि आत्मा मन से विषय होता नहीं है। चक्षु-अविषय होने से परमात्मा में रूप नहीं, वाग्-अविषय होने से उसमें नाम नहीं और मन-अविषय होने से उसमें कर्म नहीं। बाह्येन्द्रियों से अग्राह्य वही चीज़ मन ग्रहण करता है जिसमें कुछ-न-कुछ फ़र्क आता हो अर्थात् कर्म हो। आत्मा में कर्म है नहीं अतः वह मनसे ग्राह्य नहीं। यहाँ भी मूलतः तो आत्मत्व ही मनोऽग्राह्यत्व में प्रयोजक है। भाष्य में 'अन्यस्य' का मतलब है आत्मा से भिन्न के बारे में। मनके बारे में तो मन से सोचा ही जाता है, उसके स्वरूप के बारे में या उसके व्यापारों के बारे में निश्चय भी किये जा सकते हैं। अतः 'आत्मानम्' से भी सच्चिदानंद ही लेना चाहिये। क्यों मन आत्मा को विषय नहीं करता? तब कहा 'तस्यापि' इत्यादि। 'अपि' से चक्षु आदि का उदाहरण दे दिया। जो जिसका आत्मा है (स्वरूप है, अधिष्ठान है) वह उसका विषय नहीं, जैसे चक्षु आदि का आत्मा चक्षु आदि का विषय नहीं, यह प्रयोग है।

शास्त्रादेरपि न वास्तवी विषयता

इन्द्रियमनोभ्यां हि वस्तुनो विज्ञानं, तदगोचरत्वाद् न विद्मः तद् ब्रह्म 'ईदृशम्' इति। *पूर्ववत् सर्वम्।*

अत्र तु विशेषः यथैतदनुशिष्यादिति। यथैतदनुशिष्यात् प्रतिपादयेद् अन्योऽपि शिष्यान् इतोऽन्येन विधिनेत्यभिप्रायः।

अतो न विजानीमो यथा येन प्रकारेण एतद् ब्रह्म अनुशिष्याद् उपदिशेच्छिष्यायेत्यभिप्रायः। यद्धि करणगोचरं तदन्यस्मा उपदेष्टुं शक्यं जातिगुणक्रियाविशेषणैः। न तज्जात्यादिविशेषणवद् ब्रह्म। तस्माद् विषमं शिष्यानुपदेशेन प्रत्याययितुमिति। उपदेशे तदर्थग्रहणे च यत्नातिशयकर्तव्यतां दर्शयति — 'न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्याद्' इति।

शास्त्रादि की वास्तविक विषयता आत्मा में नहीं

इन्द्रियों और मन से ही वस्तु का विशेष-ज्ञान होता है। ब्रह्म इन दोनों का अविषय है अतः 'ब्रह्म ऐसा है' यों हम उसे नहीं जानते, नहीं जान सकते क्योंकि वह 'ऐसा' या 'वैसा' नहीं है। कोई विशेष हो तो विशेषज्ञान हो, जब उसमें विशेष नहीं तो विशेषज्ञान क्यों होगा। श्रीविद्यारण्यस्वामी ने भी बताया कि जो 'ईदृग्-तादृक्' नहीं उसके बारे में 'कीदृक्?' यह प्रश्न व्यर्थ है। शास्त्र व आचार्य का उपदेश भी उसे विषयतया नहीं ही बता सकता। वह वास्तव में उपदेश का विषय नहीं बनता। उपदेश तो अन्यापह्नव में गतार्थ है। उससे आत्मा का अज्ञान रह नहीं जाता, इसी से कह देते हैं कि शास्त्र आत्मा का उपदेश देते हैं।

शिष्योक्तिरूप से इस वाक्य के शब्दों के जो अर्थ थे वे ही अर्थ गुरूक्तिरूप से भी हैं, 'यथैतदनुशिष्यात्' के अर्थ में अन्तर हैं: वहाँ मतलब था कि मन आदि का अनुशासन ब्रह्म कैसे कर सकता है। यहाँ (गुरुवचन में) अर्थ है—जिस ढंग से हमने समझाया इससे अन्य कोई तरीका हम नहीं समझते हैं कि हो जिससे कोई अन्य गुरु भी अपने शिष्यों को समझा सके। क्रिया, गुण, जाति व सम्बन्ध इन विशेषों से रहित होने के कारण उपलक्षण के ढंग से अन्य कोई ढंग आत्मोपदेश का है नहीं।

क्योंकि ब्रह्म अविषय है इसलिये 'श्रोत्र का श्रोत्र' इत्यादि से विलक्षण कोई प्रकार हमें समझ नहीं आया जिससे शिष्यों को इस ब्रह्म का उपदेश किया जा सके। इंद्रियों से जिसका ग्रहण हो उसे तो जाति, गुण, क्रिया या **अन्य विशेषण बताकर दूसरे को समझाया जा सकता है। ब्रह्म जाति आदि किसी विशेषण वाला है नहीं अतः उपदेश से शिष्यों को उसका ज्ञान कराना कठिन है, संभव नहीं।** 'ब्राह्मण है' यह जाति से उपदेश संभव है। 'देवदत्त काला है या पाचक है' यह गुण या क्रिया से उपदेश है। 'देवदत्त राजकीय व्यक्ति है' यह सम्बंधरूप विशेषण से उसका उपदेश है। 'केवल है, निर्गुण है' आदि श्वेताश्वतर ब्रह्म को जाति आदि से रहित कहती है। अतः इन सहारों से उसे नहीं कह सकते, यही कठिनता है। कठिनता क्यों बतायी? **'न विद्मः' आदि से श्रुति ने यह कहा कि आत्मा का उपदेश करने में आचार्य को और उस उपदेश का अर्थ समझने में शिष्य को अत्यधिक यत्न करना चाहिये।** लौकिक सूक्ष्म वस्तुओं को समझना-समझाना ही जब यत्नाधिक्य की माँग करता है तो आत्मा के लिये यत्नाधिक्य में कहना क्या? जो कुछ समझा-समझाया गया है उस सब से यह विलक्षण है तथा असंसर्गी होने से इस तक पहुँचने का कोई वास्तविक द्वार नहीं, हेतु-दृष्टान्तवर्जित है (ब्रह्मबिं.९)। वेद ने कहा है 'य ईँ शृणोति अलकँ शृणोति', स्वयं को तैयार किये बिना जो सुनेगा वह अलक—अलीक, ग़लत ही सुनेगा!

वेद ने ज्ञानोपाय के दो अंग बताये हैं 'तपः प्रभावात् देवप्रसादात्' (श्वे. ६.२१) अर्थात धाता की प्रसन्नता और अपना तप, इन दो से परमात्मज्ञान होता है। वही उपनिषत् 'हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्त य एतद्विदुः' (३.१३) से प्रसिद्ध श्रवणादि साधनों का संग्रह कर 'तप' का ही व्याख्यान करती है। इस मन्त्र की विशिष्ट व्याख्या गुरुचरणों ने की है: '...हृत् शब्द का मतलब है 'नेति नेति' वाक्यों से सबका प्रतिषेधरूपी हरण। हृदा अर्थात् इस हरण के द्वारा सारी उपाधियों को निवृत्त करके; मन के शास्ता रूप से (मनीषा) आत्मतत्त्व को जानकर; फिर मनके विषयरूप से 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का प्रकाश, [जो] शरीरों के वर्तमान रहते हुए ही हो जाता है।' (पृ. २३२)। महानारायण (खण्ड २३) में व्यावहारिक क्रम बताया है: 'अन्नेन प्राणाः, प्राणैर्बलं, बलेन तपः, तपसः श्रद्धा, श्रद्धया मेधा, मेधया मनीषा, मनीषया मनः, मनसा शान्तिः, शान्त्या चित्तं, चित्तेन स्मृतिः, स्मृत्या स्मारं, स्मारेण विज्ञानं, विज्ञानेनात्मानं वेदयति।' चित्त से श्रवण, स्मृति से स्मरण, तथा स्मार से निदिध्यासन समझने चाहिये। सर्वज्ञमुनि ने अन्तरंग-बहिरंग भेद से साधन एकत्र कर दिये हैं। सूत्रकार ने अग्नीन्धनादि आश्रमकर्म को बहिरंग और शमादि को अंतरंग साधन के रूप में बताया है तथा संन्यासविधान के समर्थन से उसकी आवश्यकता कही है। यहीं केन 'ब्राह्मी उपनिषत्' कुछ साधन बतायेगी।

केन के शान्ति मंत्र में कहा है 'य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु' अर्थात् वेदान्तों में कहे धर्म मुझ में हों। उपनिषदों में व गीता में साधक के लिये कहे गये अनेक धर्म हैं जिन्हें साधनचतुष्टयसम्पत्ति में एकत्र कर लिया जाता है। तथापि इन्हे यत्किंचित् विस्तार से समझना भी लाभदायक है। इन्हे सुविधार्थ चार श्रेणियों में बाँट सकते हैं: सामान्य व्यवहार सम्बन्धी धर्म; कर्म-उपासना सम्बन्धी धर्म; साधनसम्पत् संबंधी धर्म और श्रवणादि सम्बन्धी धर्म।

१) **सामान्य व्यवहार सम्बन्धी धर्म**—सत्संगादि से प्रेरित होकर सांसारिकता से अतीत की ओर रुचि होना, दुश्चरित्र छोड़कर सच्चरित्र बढ़ाना, ग़लत आचार बड़े भी करें तो उन आचारों की नकल न करना, श्रेष्ठों द्वारा निंदित लोगों का व पाप में रत लोगों का साथ न करना और उन्हे बढावा न देना, श्रेष्ठ ब्राह्मणादि का सत्कार करना, स्वार्थ की प्रधानता घटाना, किसी के प्रति द्वेष व वैर न रखते हुए सभी प्राणियों के हित में रहना, दयालु होना, योग्यों की सेवारूप से दान करना तथा लौकिक व्यवहार में भी उचित व्यय करना, अन्न की निंदा न करना, अन्नवृद्धि में सहयोग देना, वेदादि सच्छास्त्रों पर श्रद्धा रखना अर्थात् वे ही हमारे लिये एकमात्र पथप्रदर्शक हैं यह निश्चय रखना, शास्त्रीय बातों को विचारयोग्य जानकर उन्हे समझने की यथासामर्थ्य कोशिश करना, बुद्धि (शास्त्रानुसार समझ) को सारथि बनाकर मन को लगाम की तरह कसना-ढीला करना जिससे शरीर व इंद्रियाँ संयत रहें, ग़ैर ज़रूरी सांसारिक-उन्मुखता न बढ़ाकर आत्मा-परमात्मा के विचार को अधिकाधिक महत्त्व और समय देना, मन-वाणी-कर्मादि से हिंसा-प्रवृत्ति से बचना, देवार्पण करके भोजन ग्रहण करना अत: सात्त्विक आहार और वह भी सही मिकदार में करना, नशा नहीं करना (जिस पदार्थ से सोचना-समझना स्तब्ध हो जाये तथा उसके प्रभावकाल में लिये निर्णय और किये कार्य अपनी जानकारी और औचित्य-भावना से नियंत्रित न हों वह पदार्थ नशा कहा जाता है।), चोरी नहीं करना (दूसरे के हक़ की वस्तु को उसकी संमति के बिना अपना उपभोग्य बनाना चोरी है), अनीति से धन इकट्ठा नहीं करना, परस्त्री के प्रति कामुक न होना, कुटिलता झूठ और ठगी न करना, मीठा किंतु सत्य बोलना, व्यर्थ न बोलना, रूखापन न रखना (सहानुभूति रखना), किसी के उद्वेग का कारण न बनूँ इसकी कोशिश करना, दूसरों से उद्विग्न न होना (उनके प्रयासक्षेत्र की ओर महत्त्वदृष्टि न रखकर उच्चतर आदर्श की दृष्टि से अपनी स्थिति आँकना), भीतर-बाहर सफायी रखना, दूसरों के गुण पहचानना अर्थात् दूसरा है इसलिये उसके गुण भी दोष न मान लेना, मात्सर्य न रखना अर्थात् दूसरे की बढोतरी से दुःखी न होना और न उसमें विघ्न करना, अपनी अच्छाई सबको पता चले इस कोशिश में न लगना, चुगली न करना, आत्मौपम्य से व्यवहार करना (यह सोचना कि जिससे व्यवहार कर रहा हूँ या जो मुझसे व्यवहार कर रहा है, यदि मैं उसकी जगह होता, जन्म शिक्षा सामाजिक-ऐतिहासिक-स्थिति आर्थिकस्थिति पारिवारिकस्थिति मानसिकस्थिति आदि में उसके सर्वथा समान होता, तो जैसी क्रिया या प्रतिक्रिया करता वैसी ही क्रिया-प्रतिक्रिया की उससे आशा रखूँ), विहार-चेष्टादि में युक्त रहना अर्थात् अतिशय न करना, सत्पुरुषों से मैत्री रखना, अन्यों से उदासीन रहना, सहनशीलता बढ़ाना, कामना का वेग बढ़ने न देना ताकि क्रोध, सम्मोह, स्मृतिविभ्रम, बुद्धिनाश इस पतनक्रम से बचा जा सके, लोलुप और चपल न होना, कामना से आहत न बने रहना (अर्थात् जो करें वह कामनाप्रेरित ही हो, कोई न कोई सांसारिक फायदे का काम हो तभी करें ऐसा न होना), कार्पण्यदोष से उपहत स्वभाव वाला न बने रहना (अर्थात् अपना और अपने संबंधियों का ख़्याल ही सर्वोपरि रखकर धर्म औचित्य आदि के प्रति विमुख न हो जाना), भोग-ऐश्वर्य के उद्देश्य से ही प्रवृत्ति वाले न बनना, अनावश्यक स्नेह न करना, धर्मानुकूल भोगों की कामना यदि विचार से न दब पाये तो आवश्यक कर्म से वह भोग प्राप्त कर लेना न कि कर्म न करके कामना बनाये रखना, माता-पिता आचार्य व अतिथि की तथा पशु पक्षी आदि की सेवा के प्रति जागरूक रहना।

२) **कर्म-उपासना सम्बन्धी धर्म**—i) धर्मकाम होकर श्रेय का आदान करना लेकिन ख़ुद को निमित्तमात्र समझना, द्विविध मोहिनी प्रकृति छोड़कर दैवी संपत् एकत्र करना, धर्माचरण में तत्पर रहना पर उसे ही अंतिम न मान बैठना, धर्म, कुशल, भूति, देवकार्य, पितृकार्य, ऋषिकार्य, मनुष्यकार्य और पशुकार्य में प्रमाद न करना (कुशल अर्थात् अपने

शरीर-मन-बुद्धि की रक्षार्थ जो करना उचित हो। भूति अर्थात् मांगलिक कार्य। ऋषिकार्य में ही स्वाध्याय, ब्रह्मयज्ञ आदि समझ लेने चाहिये। अतिथि का यथाशास्त्र सेवन मनुष्यकार्य है और गाय-कुत्ते आदि पशुओं को यथाविधि अन्नादि देना पशुकार्य है।), कर्मों के जो निजी फल बताये हैं उनके लिये नहीं बल्कि परमात्मप्राप्ति के लिये कर्म करना, कर्म पूरा या सफल होगा इसके प्रति भी आशान्वित न रहकर शास्त्रानुसार कर्म में लगना, अपने वर्ण-आश्रम की मर्यादा से धर्मपालन करना, लौकिक कर्मों में भी मुख्य उद्देश्य यज्ञ ही रखना (अर्थात् धनादि भी यज्ञ के लिये कमाना, यज्ञ हो सके इसके लिये अन्य सुविधायें भले ही इकट्ठी हों पर सुविधाओं के कारण यज्ञ में कटौती न करना), यदि वर्णाश्रम में अधिकार न हो तो देवताराधन जप उपवास व्रतादि शास्त्रसंमत सात्त्विक सत्कर्म करना, देवताओं को प्रसन्न करने के कार्य कर देना, असद् आग्रहों से अशुचिव्रत न ले लेना, अत्यधिक हर्षोत्तेजित और दुःखविषण्ण न होना, बदला निकालने की भावना छोड़ना, श्रद्धा, यज्ञ, त्रिविध तप-दान-त्याग-ज्ञान-कर्म-कर्तृत्व-बुद्धि-धृति-सुख—इनमें सात्त्विकता रखना, रज-तम को घटाते जाना।

ii) दहरादि ईश्वरोपासनायें करना, भगवान् में अनन्य प्रेम रखना, हमेशा उन्हे याद रखना, उनका कीर्तन करना (उनके बारे में व्यक्त करना), नमनादि करना, प्रार्थना करना, प्रपत्ति अर्थात् शरण लेना, अपना सारा व्यवहारादि उन्हे समर्पित करना, चित्त-बुद्धि-कर्म से उन्हें ही परम बनाये रखना, प्रणवोपासना करना, आत्मसम्बन्धी उपासनायें करना।

३) **साधनसम्पत्-सम्बन्धी धर्म**—i) हमेशा विवेकाग्नि जलाये रखना, ईश्वर से प्रपंच को छा देना (अर्थात् जो विषय हो रहा है वह वास्तव में परमेश्वर है यह याद रखना), अध्यात्मशास्त्र के चिंतनादि में ही लगना, आत्मा के बारे में एकाग्रता से सोचना 'मैं कौन हूँ, कैसे हूँ' आदि, केवल तर्क का सहारा न लेना क्योंकि तब ब्रह्म का भी निराकरण हो तो कोई प्रतिबंधक नहीं रह जायेगा, सूक्ष्मविषय के चिंतन के योग्य बुद्धि बनाना, स्मृतिशक्ति (मेधा) बढ़ाना, विवेचनसामर्थ्य (पांडित्य) बढ़ाना, भेदज्ञान को बढ़ावा न देना, देहेन्द्रियादि से अपनी पृथक्ता याद रखना, हृदय की गाँठें खोलना (संशय हटाने की कोशिश करना), संसार की परीक्षा करना, सम्यग्ज्ञान के महत्त्व को समझना, विवेकानुसार आचार करना, संसार में दोषदृष्टि करना, चित्त की शुद्धि रखना (अर्थात् स्वार्थ या प्रमाद आदि से विवेक को गड़बड़ा न देना), दोषों का (हेय का) क्षय करना, युक्तात्मा होकर साधनानुष्ठान में दिन-रात एक कर देना, वेदाभ्यास करते रहना, वेदार्थ समझना, संसारसम्बन्धी संकल्प छोड़कर (अक्रतु होकर) ब्रह्मविषयक स्थिर संकल्प करना ('क्रतुं कुर्वीत'), प्रमादी न होना, विषयलाभ की आशा छोड़ना और मोक्ष के प्रति आशंसु रहना, अपनी स्थिति आँक कर विनयी होना, अपनी सफलता से प्रमत्त न होना, 'स्तब्ध' न बनना (अर्थात् 'मैं महान् हूँ' आदि समझकर उद्दण्डता न करना और अध्यात्मक्षेत्र के ज्ञान को ग्रहण करने को तैयार रहना), आग्रह को विवेकदार्ढ्य न मान बैठना।

ii) वैराग्यखड्ग की धार तेज रखना, हेय समझे हुए को सर्वथा छोड़ने ('अतिमुच्य') का बल वैराग्य है उसे बढ़ाना, क्योंकि वित्त से मनुष्य को तृप्त नहीं किया जा सकता इसलिये वित्तमोह के कारण प्रमाद न करना, अध्रुवों में और अध्रुवों से ध्रुव मिल जायेगा यह भ्रम न पालना, अनात्मा में रति व क्रीडा न करना, अन्यवाग्विमोक अर्थात् आत्मविरोधी और अध्यात्म-अनुपयोगी चर्चा को छोड़कर सतत परस्पर आत्मसम्बन्धी सच्चर्चा करना, मन-वाणी में एकरूपता रखना, कामनायें न बढें बल्कि घटें इसके लिये विचारादि उपाय करना, सन्तोष का अभ्यास करना, कामनापूर्ति की अपेक्षा कामनानिरोध को महत्त्व देना व उसके लिये प्रयासशील रहना, जनसंसत् में नहीं एकांत में रुचि रखना, त्याग से आने वाले दुःखों से भयभीत न होना, अहन्ता-ममता घटाते जाना, हमेशा सत्य और ब्रह्मचर्य का पालन करना।

iii) एषणात्रय का त्याग करना, योग-क्षेम की चिंता न करना और उसके लिये (भिक्षातिरिक्त) चेष्टा न करना, भिक्षा-लक्षित चर्या रखना अर्थात् किसी पर भी अपना अधिकार न मानना, शास्त्रीय योग्यता हो तो यथाविधि संन्यास ग्रहण करना, संन्यास-धर्मों में (शमादिपूर्वक श्रवणादि) लगना, शरीरनिर्वाह से अतिरिक्त कर्म न करना न करवाना (अर्थात्

दूसरों को प्रेरित कर अपने के लिये ऐसे पदार्थादि न प्राप्त करना जो शरीरनिर्वाह के लिये अनिवार्य न हों), कोई आरंभ नहीं करना (अर्थात् शास्त्रीय या लौकिक कार्य न छेड़ना), ज्ञान-अध्ययन-धार्मिकतादि से अपनी ख्याति न फैलाना, आत्मचर्चा में तत्पर रहना, अन्यथा मौन रहना।

iv) मन और इंद्रियों को उपशांत करना (कुछ विषय मिलता ही रहे ऐसे वे न बने रहें इसकी कोशिश करना), विषयध्यान न करना, इन्द्रियों के पीछे मन को न जाने देना, कछुए की तरह इंद्रियों को यथासंभव समेटे रहना (अर्थात् ऐसी संभावना से बचना कि वे विषयों की तरफ जा पायें), आसन-प्राणायाम से देह-मन पर नियंत्रण करना, द्वन्द्व आदि सहन करने में उत्साही होना, समाधि का अभ्यास करना।

v) 'वर' पाने को उद्यत होना, अमरता की इच्छा दृढ करना, आत्मा का ही वरण करना, ज्ञान में तृप्ति का अनुभव करना, त्रिगुणातीत की चाह स्थिर करना, आत्मयाथात्म्य में बौद्धिक ही नहीं मानसिक प्रेम भी बढ़ाना, उसके प्रति भावुकता उपजाना, युक्ति से हटकर भी मन से उसे सोचना, हृदय में दौर्बल्य नहीं उत्साह होना, धैर्य रखना।

vi) श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ गुरु की उपसत्ति करना, आचार्य में परा भक्ति रखना, आचार्यदेव बनना (अर्थात् आचार्य को देव समझना), शिष्य बनना (अर्थात् चाहकर, कोशिश कर उनसे सीख ग्रहण कर अभ्यास करना), प्रणिपात व सेवा करना, पास रहना (उनकी चर्या व उद्गारों के प्रति जागरूक रहकर समझना), परिप्रश्न करना (जैसे 'केनेषितम्' आदि किये थे) किन्तु अतिप्रश्न न करना (अर्थात् असंबद्ध बातें, जिनसे अपना हित न होना हो, जो पूछने योग्य न हों या अपना सामर्थ्य जिन्हे समझने का न हो उन्हें न पूछना जैसे शाकल्य ने पूछी थी।)

४) **श्रवणादि सम्बन्धी धर्म**—i) वेदान्तों पर श्रद्धातिशय रखते हुए गुरुमुख से वेदांत सुनना और उनका तात्पर्य अवधारण करना, यह कार्य बारम्बार करना ताकि वेदान्तों के अर्थ के बारे में संदेह न रह जाये, बहुत विद्वानों से बार-बार सुनना चाहिये व आपस में चर्चा करके निश्चय करना चाहिये।

ii) मनन से मनीषा पाना, ज्ञानबल में कमी न आने देना, मनन में प्रमादी न होना, केवल जानने मात्र से नहीं वरन् उसे ही सुखोपाय मानकर विचार में लगे रहना रूप ब्रह्मनिष्ठा या ब्रह्मसंस्थता से वह बल मिलता और बढ़ता है अतः ऐसा करना, शास्त्राचार्यानुकूल युक्ति की सत्यता पर दृढ रहना, संशयात्मा न होना, मनन की भी आवृत्ति करनी, मीमांसा करना, वेदान्तविज्ञान को युक्ति से सुनिश्चित कर अर्थ समझना, निर्णय पर पहुँचना क्योंकि एक व्यवसाय होने पर ही सफलता होगी, मनन के नाम पर बुद्धि बहुशाखाओं वाली न बनाना, अनन्यभाग् भजन ही सम्यग्व्यवसाय या स्थिरमतिता है - इसे पाना।

iii) निदिध्यासन की आवृत्ति करना, आत्मा को प्रतिबोध-विदित पहचानना, अखण्डनिश्चय पर पहुँचकर फिर उससे च्युत न होना।

ये संक्षेप में उपनिषदों व गीता में कहे साधकधर्म हैं। इन्हे प्राप्त करना ही शिष्य का यत्नाधिक्य है यह अभिप्राय है।

अथापि शास्त्रं प्रत्यायकम्

अत्यन्तमेवोपदेशप्रकारप्रत्याख्याने प्राप्ते तदपवादोऽयमुच्यते — सत्यमेवं प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैर्न परः प्रत्याययितुं शक्यः, आगमेन तु शक्यत एव प्रत्याययितुमिति। तदुपदेशार्थमागममाह- अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि।

वास्तविक विषयता न होने पर भी शास्त्र आत्मबोधक है

परमात्मा की सर्वथा अविषयता कहने पर प्रतीत होगा कि उसका उपदेश किसी भी तरह नहीं दिया जा

सकता। इस भ्रम को हटाने के लिये कहा कि हमने पूर्वाचार्यों से यथाशास्त्र इसका उपदेश ग्रहण किया है। प्रत्यक्षादि प्रमाण परमात्मा का सही ज्ञान नहीं करा सकते यह ठीक है लेकिन आगम (वेद) से तो उसका अज्ञान मिटा पाना संभव है। गुरुओं द्वारा कहा ही आचार्य ने सुना दिया 'अन्यदेव' इत्यादि। परमात्मा परमार्थतः अविषय है तो परमार्थतः संसार ही कहाँ है? जब तक हमें अज्ञान है तब तक हमें संसार-भेद ज्ञात हैं। शास्त्र को भी हम ब्रह्म से पृथक् समझते ही हैं और हमें ब्रह्मनिष्ठ आचार्य भी दीखते हैं। आचार्य की तत्त्वज्ञता और हमारी आचार्यविषयक प्रतीति, इन दोनों का ताल-मेल बैठाने के लिये हम उनमें अविद्यालेश भी माने हुए हैं और यह भी संगत कर लेते हैं कि वे हमें व्यवहारभूमि में परमात्मोपदेश कर रहे हैं। अतः शास्त्र से आत्मा के बारे में समझा जा सकता है, ऐसा नहीं कि अविषय होने से अज्ञान मिटाने का कोई उपाय ही न हो। यक्षानुरूप बलि होती है। अपरमार्थ अज्ञान को अपरमार्थ ज्ञान हटा दे इसमें कोई आश्चर्य नहीं। ब्रह्म में व्यावहारिक विषयता मानने से कुछ भी हानि है नहीं। आत्मा को ब्रह्मरूप से लक्षित करने में (अर्थात् स्व-पर के अभेद के अज्ञान का बाध हो ऐसी वृत्ति बनाने में) अतिशय योग्यता वाला प्रमाण शास्त्र ही है। प्रमाणान्तर इस अखण्डता को कथमपि विषय कर सकते नहीं, नित्य वेद ही इसे प्रकाशित करता है। स्वतः प्रमाण होते हुए अद्वैत में तात्पर्य वाला होना इसकी विशेष योग्यता है। यद्यपि प्रमाणमात्र स्वतः प्रमाण हैं तथापि नाम-रूप रहित असंसर्गी से उनका संपर्क संभव नहीं और शब्द तो साक्षात् या परंपरा से वेद पर ही आधारित रहता है। आचार्य टीकाकार ने शास्त्र में 'योग्यतातिशय' बताकर सूचित किया कि योग्यतामात्र अन्यत्र भी संभव है। देश-विदेश के ऐसे अनेक महापुरुष प्रसिद्ध हैं जिनका वेदाध्ययन असंभव था किन्तु जिनके उपदेशों से पता लगता है कि अधिष्ठानतत्त्व से वे अपरिचित नहीं थे। श्रोत्र के श्रोत्रभूत परमात्मा की अचिन्त्य कृपाशक्ति कार्य-कारणता को लाँघकर सफल होती है। यह ठीक है कि तत्त्वबोध का राजमार्ग शुद्धचेतस्क अधिकारी द्वारा किया वेदान्त श्रवणादि ही है लेकिन परमेश्वर पर यह प्रतिबंध नहीं कि वेदानधिकारी को तत्त्वनिष्ठा असंभव है। प्रमाण-प्रमेय-प्रमाता—इनके सामर्थ्य से प्रमा होती है, यही उसकी वस्तुतन्त्रता है। प्रमा विधि के पराधीन नहीं है। आत्मज्ञान के योग्य प्रमाता साधनसम्पन्न चाहिये किन्तु साधनों में कोई ऐसा नहीं जो बिना वेदज्ञान के सर्वथा असंभव हो। यथावस्तु चित्तवृत्ति की प्रमाणता नकारी नहीं जा सकती। वह वृत्ति अज्ञानविध्वंस कर देती है अतः नकारने से कोई अन्तर भी नहीं पड़ता! प्रमेय तो नित्य शुद्ध ही है। रही बात उपाय की, तो पौरुषेय उपदेश, मनन, एकाग्रता आदि किसी को भी निमित्त बनाकर श्रीभगवान् बुद्धियोग प्रदान कर देते हैं यह बहुत-से अनुभवियों को प्रत्यक्ष है। आगे उनके वचन भी यथा-अर्थ होने से प्रमाण का काम करें तो आश्चर्य नहीं। योग्यतातिशय वेद में इसलिये है कि निरपेक्ष प्रमाण होने से इसमें शंकास्थान नहीं। पुरुषवचनादि उपाय उनके अनुभव के सहीपन पर आधारित होने से किसी के शंकाविषय बन भी सकते हैं अतः उनमें अतिशय नहीं है लेकिन उनकी योग्यता नकारी न जाये यह टीकाकार का अभिप्राय प्रतीत होता है। अनुभव पर आधारित उपदेश वेदविरुद्ध हों तब वे प्रमा के उत्पादक नहीं बन पायेंगे क्योंकि नियम है 'न मानयोर्विरोधोऽस्ति'; उदयनादि मानचिन्तकों ने बताया है कि प्रमाण रहते हुए परस्पर विरुद्ध नहीं हो सकते। पुंवचन पर आधारित लोगों के भाग्य पर निर्भर है कि उन्हे यदि यथाशास्त्र जानकारी देने वाला गैरशास्त्रीय भी वचन मिला तो प्रमा हो जायेगी, अन्यथा भ्रम हो जायेगा। वैदिक को भ्रम संभव नहीं यही वेद का अतिशय है। यदि वेद से भ्रम होता है तो वह प्रमातृदोष से, पुरुषापराधमालिन्य से, तात्पर्य ठीक न समझ पाने से है। यह दोष पुंवचन के श्रोता में भी संभव है किन्तु वहाँ दो दोष संभव है— प्रमाणदोष व प्रमातृदोष, और यहाँ एक ही दोष है अतः अतिशय होना ठीक है। प्रमाणों में विरोध न संभव होने पर भी प्रतीयमान विरोध के परिहार का उपाय प्रमाणपरीक्षा है; परीक्षित प्रमाणों में विरोधप्रतीति भी नहीं रहती। परीक्षा से या उनमें से एक अप्रमाण निकलेगा और या उनके विषय परस्पर विलक्षण निकलेंगे। वेद की निरपेक्ष प्रमाणता अद्वैतसंदर्भ में यही है कि परीक्षा से उसी की कार्यभूत प्रमा कभी अयथाविषय नहीं निकलती। यद्यपि प्रमात्व की अग्निपरीक्षा तो स्वानुभूति है — सर्वदुःखनिवृत्ति रहते परमानन्द का भान है तो वह जिस ज्ञान (या जिस-किसी भी तरह) से है वही ज्ञान प्रमा है (या वही उपाय सही है); यह किसी को 'भ्रम' हो कि 'मैं दुःखमात्र से अस्पृष्ट आनन्दघन हूँ' तो वेदान्ती की परिभाषा में वह 'भ्रम' ही प्रमा है क्योंकि यदि यह नित्य का भ्रम है तो शास्त्र से इसी 'भ्रम'

की प्राप्ति होनी है; परिच्छेदमात्र की अप्रतीति रहते भान-सत् यही सम्यग्बोध द्वितीय मंत्र की टीका में कह चुके हैं;— तथापि जिज्ञासु को निश्चित उपाय ही ग्रहण करना पड़ता है। प्राजापत्यबोध-प्रसंग में भगवान् भाष्यकार ने भी इस तथ्य को वाजसनेयियों के लिये सूचित किया है। वस्तुत: तो ब्रह्मनिष्ठ से, 'ज्ञानी-तत्त्वदर्शी' से ही मिला उपदेश सफल होता है यह जो वैदिक परंपरा है, सिद्धान्त है, उसी में इस अद्भुतता के बीज निहित हैं। यथावेद होना और वेद-जन्य होना इनमें अन्तर है किन्तु मोक्ष के लिये यथावेद होना तो अनिवार्य है पर वेदजन्य होना अनिवार्य नहीं। यथावेदता में भी केवल वेदत्वेन वैशिष्ट्य हो ऐसा नहीं। भाष्यकार जगह-जगह मोक्ष को दृष्ट फल बताकर यही समझाते हैं कि प्रमोत्पादकता से भी वेद में वैशिष्ट्य है। वेद होने से उसका वैशिष्ट्य दृष्टादृष्ट साधारण है और प्रमोत्पादकतया वैशिष्ट्य मोक्षसंबंध में असाधारण है। इस वैशिष्ट्य से यथावेदता को प्रमाण का (आत्मा की वास्तविकता की जानकारी और उसकी अभिव्यक्ति, दोनों का) मापदण्ड हम मानते हैं। प्रमिति तो मापदण्डों के क्षेत्र से बाहर है पर अनुभवमात्र को उसके क्षेत्र से बाहर नहीं कह सकते अन्यथा लौकिक भ्रम-प्रमा भेद लुप्त करना पड़ेगा। ब्रह्मानुभव में जो विषय की (ब्रह्म की) अखण्डता की नित्यता की स्फूर्ति है (या कहें कभी की भी सखण्डता नहीं भासती है) वही अनन्तरकालिक बाध की संभावना का निरास है। आजन्म रज्जुसर्प को सर्प जानने वाला (सृष्टिदृष्टि के अनुसार) भ्रान्त मरा क्योंकि उस सर्प का बाध संभव नहीं यह सर्पज्ञान निर्णीत नहीं करता। जो ज्ञान इस संभावना को मिटाते हुए होता है वह (चाहे सृष्टिदृष्टि और चाहे दृष्टिसृष्टि के अनुसार) अखण्ड प्रमा है। इस प्रमा को वेद भी नहीं नापता, स्वयं ही कहता है 'मैं वहाँ कुछ निवेदित नहीं करता!' यहीं केन में आयेगा कि शिष्य गरज कर कहेगा 'मेरा कहा जो ठीक से समझता है वही परमात्मा को सही समझ पाया है!' (२.२)। इस गरजने के पीछे कितना बल है यह वँही भाष्यकार बतायेंगे किन्तु यह निश्चित है कि अब यह संभावना भी रह नहीं गयी है कि कोई बाध हो सके। यह प्रमिति अतएव परीक्षा के योग्य नहीं। परीक्षा प्रमाण की ही (तथा इस प्रमिति से विलक्षण 'प्रमितियों' की भी) संभव और संगत है। उक्त अग्निपरीक्षा से उद्दीप्त प्रमा की हेतुता वेद में आचार्यों ने प्रतिज्ञात की है। इस अनादि गुरुपरंपरा ने अतएव उसे मापदण्ड बना दिया है अन्य ज्ञानसाधनों को (मोक्षोपायों को) नापने का। यही योग्यता का अतिशय टीका में अभिव्यक्त है। इससे औपनिषदत्व पर आँच न आये यह जानते हुए ही भगवान् शङ्कर ने उपनिषत्पद की शक्ति ब्रह्मविद्या में बतायी और ग्रंथ में उपचार माना।

योजनाद्वयेपि 'अन्यद्' इत्याद्याचार्यवच एव

सर्वथाऽपि 'ब्रह्म बोधय' इत्युक्त आचार्य आह – **अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि *इति आगमं विदिताऽविदिताभ्यामन्यत्वम्।* अन्यदेव पृथगेव तद् यत् प्रकृतं श्रोत्रादीनां श्रोत्रादीत्युक्तम्, अविषयश्च तेषाम्; तद् विदिताद् अन्यदेव हि।**

'अन्यदेव' इत्यादि का अर्थ

'न तत्र' आदि वाक्य तो शिष्य व गुरु दोनों का था लेकिन 'अन्यदेव' आदि वाक्य गुरु का ही है। शिष्य ने आक्षेप-मुख से शंका की थी। आक्षेप का समाधान तो कर दिया गया: आक्षेप था कि सर्वथा अविषय ब्रह्म श्रोत्रादि की प्रेरणा का निमित्त नहीं हो सकता। समाधान हुआ कि वास्तविक निमित्तता न होने पर भी इसी ढंग से उसे समझा जा सकता है। अब आक्षेपोक्ति को शंकारूप मानकर उत्तर देते हैं : **यदि शिष्य कहे 'ब्रह्म की प्रेरकता असिद्ध करना मेरा अभिप्राय नहीं। मैं तो कह रहा हूँ कि उसकी प्रेरकता मैं नहीं समझा। वह वास्तविक-अवास्तविक चाहे जिस तरह की हो, मुझे तो उसके स्वरूप का ज्ञान जैसे हो सके वैसे समझाइये।' तो आचार्य इस आगमवचन को सुनाकर उसे समझा रहे हैं 'अन्यदेव' आदि। इस वाक्य का अभिप्राय है कि ब्रह्म विदित और अविदित से अन्य है।** आत्मा से अन्य ही अविदितरूप से प्रतीत होता है अत: वही विदित भी हो सकता है। आत्मा (मैं) की विशेषतायें भले ही हम न जानें लेकिन ऐसा कभी नहीं होता कि मैं स्वयं को (स्वमात्र को) न जानूँ। अत: कभी भी अविदित न होने वाला आत्मा ही

विदित-अविदित से अन्य है। उसे ही यहाँ आगमवाक्य से आचार्य ब्रह्म कह रहे हैं। जानकारों को कभी ब्रह्म अप्रत्यक् नहीं भासता। इस तरह आत्मा ही ब्रह्म है यह यहाँ उपदेश हो गया। केवल विदितान्य कहते तो अविदित वस्तुएँ (जैसे भाविकालिक पुष्पादि) ब्रह्म हैं यह संभावना होती; केवल अविदितान्य कहते तो घटादि विदित वस्तुएँ ब्रह्म होने लगती! जो विदितान्य भी है और अविदितान्य भी है उसे ब्रह्म कहा तो ये संभावनायें रही नहीं, प्रत्यङ्मात्र ही ब्रह्म है यही अर्थ हुआ। यदि विदितत्व का अभाव अविदितत्व या अविदितत्व का अभाव विदितत्व होता तो विदित-अविदित से अन्य ब्रह्म न हो पाता। किन्तु स्थिति ऐसी है नहीं। भावरूप अज्ञान से आवृत चेतन का अवच्छेदक होना अविदितत्व है और यह अनादि है। भग्नावरणचित् से तादात्म्यापन्न होना विदितत्व है। अतः ये परस्परविरहरूप नहीं कि विदित-अविदित से विलक्षण कुछ न हो सके। यदि विदितत्वाभावका व्यापक अविदितत्व या अविदितत्वाभाव का व्यापक विदितत्व हो तो भी दोष होता पर ऐसा भी नहीं है। अर्थात् यह नियम होता कि जहाँ विदितत्वाभाव है वहाँ अविदितत्व ज़रूर होगा तो दोष होता लेकिन यह नियम है नहीं; भग्नावरणचित्तादात्म्यरूप विदितत्व का अभाव अलीक में है और उसमें अविदितत्व का भी अभाव है। यदि अलीक में उक्त अभाव न मानना हो तो आत्मा (प्रत्यक्) को ही ले सकते हैं: उक्त विदितत्व न होने पर भी उसमें उक्त अविदितत्व नहीं है कारण कि वह चेतनरूप होने से उसका अवच्छेदक नहीं है। यदि विदितत्वाभाव का व्याप्य अविदितत्व या अविदितत्वाभाव का व्याप्य विदितत्व मानो तब तो दोष की संभावना ही नहीं। अर्थात् जहाँ अविदितत्व होगा वहाँ विदितत्वाभाव होगा यह मानने पर भी किसी स्थल पर दोनों का अभाव हो ही सकता है। जैसे जहाँ गोत्व होगा वहाँ अश्वत्वाभाव होगा (गाय घोड़ा नहीं होगी) यह नियम होने पर भी गधे में गोत्वाभाव और अश्वत्वाभाव दोनों होने में क्या हानि है! अतः विदित और अविदित दोनों से अन्य आत्मा को कहना उचित है। इस विषय में अद्वैतसिद्धि (पृ.५०-५५) का परामर्श करना चाहिये। इसी तरह यह भी नहीं कह सकते कि विदित में भी विदित-अविदितोभयाभाव है और अविदित में भी उभयाभाव है जिससे यह ब्रह्म का कथन नहीं; क्योंकि जो विदितान्य और अविदितान्य दोनों हो उसे ब्रह्म कहा है। विदित उभयान्य होने पर भी विदितान्य नहीं होगा। ऐसे ही अविदित भी अविदितान्य नहीं होगा। वस्तुतस्तु श्रुति का तात्पर्य है कि आत्मा न विदि-धात्वर्थ का कर्म ही हो सकता है और न अप्रकाशमान ही हो सकता है कि अविदित कहा जाये। कर्मतया न सही, कर्तृतया ही भासे — यह भी नहीं कह सकते क्योंकि विदि से पृथक् कर्तृतया आत्मा सिद्ध नहीं है। इस तरह स्वप्रकाश यहाँ कहा जा रहा है यह भाष्य में ही स्पष्ट हो जायेगा।

जिसका प्रसंग चल रहा है वह श्रोत्रादि का श्रोत्रादिभूत परमात्मा, जो उनका विषय नहीं है, वह विदित से अन्य ही है अर्थात् पृथक् ही है। 'अविषयं च तेषाम्' से भाष्यकार ने स्पष्ट कर दिया कि उसे क्यों विदित नहीं कह सकते। विदितान्य सुनकर शिष्य सोचेगा कि 'इन्हे उसका पता ही नहीं तो क्या बतायेंगे!' अतः श्रुति ने 'तत्' अर्थात् प्रकरणी ब्रह्म का उल्लेख कर दिया। आचार्य बता रहे हैं 'मुझे पता है मैं किसके बारे में कह रहा हूँ।' भाष्य में 'पृथगेव' से कहा कि यहाँ भेदरूप अन्यत्व नहीं समझना है - क्योंकि तब ब्रह्म परिच्छिन्न होने लगेगा - बल्कि यह ब्रह्म का स्वरूपविशेष ही है कि वह विदित नहीं है। इस स्वरूप की आत्यन्तिकता को श्रुति ने एवकार से व्यक्त किया।

ब्रह्मणो विदितान्यता

विदितं नाम यद् विदिक्रिययाऽतिशयेनाप्तं, विदिक्रियाकर्मभूतम्। क्वचित् किञ्चित् कस्यचिद् विदितं स्यादिति सर्वमेव व्याकृतं विदितमेव; तत् तस्मादन्यदेवेत्यर्थः।

विदित से अन्य होने का मतलब

विदि-क्रिया (धात्वर्थ) से संभूत अतिशय से घिरी वस्तु को विदित कहते हैं। यद्यपि सभी कुछ साक्षिचैतन्य का विषय है ही तथापि ज्ञाततया विषय होने के लिये प्रमाणव्यापार अपेक्षित है अतः प्रमाणों का उपयोग ज्ञातता उत्पन्न करने में है यह आकरों में स्थापित है। ऐसी ज्ञातता जिसमें हो वह विदित कहा जाता है। अथवा विदि क्रिया की सामान्य

आप्ति वृत्तिविषयता है, अतिशय अर्थात् ख़ास आप्ति चिद्भास्यता है। अतः चिद्भास्य को विदित कहते हैं यह अर्थ है। **सारा ही व्यक्त प्रपंच विदित है क्योंकि सभी कभी-न-कभी किसी-न-किसी की विदिक्रिया का कर्म बनता ही है।** अन्य का न भी बने तो ईश्वर के ज्ञान का तो कर्म बनेगा ही। भाष्य में ईश्वर का उल्लेख नहीं किया क्योंकि उसे ही तो अभी सिद्ध किया जा रहा है। जो कभी किसी के ज्ञान का विषय न बन सके ऐसी व्यक्त-प्रपंच-अंतर्गत वस्तु अप्रामाणिक ही होगी अतः ऐसा पदार्थ नहीं हो सकता यह अभिप्राय है। **वह परमात्मा व्यक्त प्रपंच से अन्य है अतः विदित से अन्य कहा गया।**

विदितान्यत्वे हेतुः

यो हि ज्ञाता स एव सः, सर्वात्मकत्वात्। अतः सर्वात्मनो ज्ञातुर्ज्ञात्रन्तराभावाद् विदितादन्यत्वम्। 'स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता' (श्वे.३.१९) इति च मन्त्रवर्णात्। 'विज्ञातारमरे केन विजानीयाद्' (बृ.२.४.१४) इति च वाजसनेयके।

विदित से अन्य होने में कारण

आत्मा विदित नहीं हो सकता क्योंकि जो जानने वाला है वही तो वह है! जानने वाले से भिन्न कुछ हो तो जानने वाला उसे जाने। जब आत्मा जानने वाले से भिन्न नहीं तो जानने वाला उसे जाने कैसे? अर्थात् आत्मा विदित कैसे हो? अतः वह विदित से अन्य है। जानने वाले के साथ आत्मा का मुख्य सामानाधिकरण्य होने से आत्मा को जानने वाले से अभिन्न कहा। **ज्ञाता परस्पर भिन्न भले ही हों पर यह तो सर्वात्मक (सर्वरूप) है अतः इससे भिन्न कोई नहीं जो ज्ञाता हो और इसे जाने ताकि यह विदित बने। इसलिये यह विदित से अन्य है। श्वेताश्वतर का मंत्र भी है 'वह वेद्य को जानता है लेकिन उसे जानने वाला कोई नहीं।' याज्ञवल्क्य ने भी कहा है 'अरे! जानने वाले को किससे जानोगे?' अतः विदितान्यता श्रुतियों में सर्वत्र प्रसिद्ध है।**

विदितान्यताऽभिप्रायः

अपि च व्यक्तमेव विदितं, तस्मादन्यद् इत्यभिप्रायः। यद्विदितं व्यक्तं तद् अन्यविषयत्वादल्पं, सविरोधं ततोऽनित्यम्, अतएव अनेकत्वाद् अशुद्धम्। अतएव तद्विलक्षणं ब्रह्मेति सिद्धम्।

विदित से अन्य होने का अभिप्राय

विदित से अन्य कहने का और भी तात्पर्य है: व्यक्त ही विदित हुआ करता है, उससे अन्य है अर्थात् व्यक्त नहीं है। व्यक्त कहते हैं कार्य को जिसके नाम-रूप अभिव्यक्त हों, उससे आत्मा अन्य है अर्थात् कार्य नहीं है यह तात्पर्य है। **व्यक्त विदित है अर्थात् किसी अन्य का विषय है, अतः अल्प है — परिच्छिन्न है। सद्वितीय होने से उसका कोई-न-कोई विरोधी भी है, इसीलिये अनित्य है। अनित्य है तो उसे अवश्य अनेक होना पड़ेगा और इससे वह अशुद्ध ही होगा। क्योंकि विदित ऐसा होता है इसीलिये सिद्ध हुआ कि ब्रह्म इससे विलक्षण है, ऐसा नहीं है।** ज्ञाता से ज्ञेय परिच्छिन्न हो जाता है क्योंकि सम्यक् परिच्छेद को ही वादियों ने मिति माना है। अतः विदित को अल्प होना ही पड़ेगा। अनुभव भी ऐसा ही है, अल्प ही जाना जाता है। सही जानकारी पानी हो तो अल्प या छोटे हिस्सों को ही जानना पड़ता है। एक-एक अक्षर जानने पर ही वाक्य जाना जाता है। पदार्थ जानने पर ही वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। जब परिच्छिन्न होगा तो सद्वितीय होना ही है; सजातीय, विजातीय और स्वगत तीनों तरह के द्वितीय रहेंगे। तीनों ही विरोधी बन जाते हैं। हर विदित अपने से जितने भी 'द्वितीय' हैं, उनकी अपेक्षा से 'नहीं है' है अर्थात् पटरूप द्वितीय की अपेक्षा से घट को 'नहीं है' कहते हैं। यही सबकी सदसदात्मकता है। घट को जो 'नहीं है' की स्थिति में पहुँचा दे वही तो घट का विरोधी हुआ। जितने द्वितीय हैं वे यही करते हैं अतः सभी विरोधी हैं। स्वरूप (=स्वयम्) कभी विरोधी नहीं, द्वितीय सदा विरोधी

हैं। विदित हमेशा विरोधी वाला होता है, द्वितीय से विरुद्ध होता है और उससे पुनः द्वितीय होने से द्वितीय का विरोध भी करता है। यही द्वितीय से — द्वितीयमात्र से अर्थात् सभी द्वितीयों से, चाहे मुझसे दूसरा कोई, चाहे किसी से दूसरा मैं — भय है। 'है' का 'नहीं है' हो जाना अनित्यता है अतः सविरोध, सदसदात्मक होने से, अनित्य है। अथवा विदित व्यक्त होने से कार्य है इसलिये अनित्य है। कारण भी कार्य का विरोधी है क्योंकि कारणावस्था वही है जिसमें कार्यावस्था न रह पाये। उत्पत्ति से पूर्व और ध्वंस के बाद कार्यावस्था नहीं रहती, कारण रहता है अतः सविरोध अर्थात् सकारण होने से विदित अनित्य है अर्थात् प्रागभाव और ध्वंस वाला है। एवं च अनित्य से भेद, प्रागभाव और ध्वंस तीनों समझने चाहिये। अनित्य वस्तु अनेक होती है, जैसे घट। अनुत्पन्न घट, उत्पन्न घट, ध्वस्त घट, ये घट की अनेकता है। इस तरह सविरोध अर्थात् सद्वितीयता से पार्थक्य है। पटादि से तो द्वितीयता है और उक्त ढंग से अनेकता है। अनेक होने के कारण विदित में अशुद्धि है। अस्वरूप का संसर्ग अशुद्धि कही जाती है, अस्वरूप अच्छा हो चाहे बुरा। चाँदी में यदि सोना मिला हो तो भी उसे 'शुद्ध चाँदी' नहीं कह सकते। 'अनेक' के जितने 'एक' हैं, 'प्रत्येक' हैं, उन सबका 'अनेक' से संसर्ग अनिवार्य है क्योंकि वह उन 'प्रत्येकों' में अनुगत है। वे 'प्रत्येक' उस 'अनेक' के स्वरूप हो नहीं सकते क्योंकि उससे व्यावृत्त हैं। अतः उन अस्वरूपों का संसर्गरूप अशुद्धि हर 'अनेक' में होनी ही है। तात्पर्य है कि विदित एकरूप नहीं रह सकता। जब आचार्य ने 'अन्यदेव तद्विदितात्' कहा तो इन सब बातों से वैलक्षण्य कह दिया यह भाष्यकार ने आर्थिकार्थ या अभिप्रेतार्थ समझाया है। आत्मा व्यक्त नहीं है, इसके कोई नाम-रूप नहीं जिनसे इसे पहचान सकें, इसका प्रयोग हो सके। यह किसी अन्य का विषय नहीं बनता, 'कोई' नहीं है जो इसे जानता हो। अतः यह अल्प या परिच्छिन्न नहीं। फलतः इसका कोई विरोधी नहीं, द्वितीय नहीं। न इसका किसी से और न किसी का इससे विरोध है। (यही वास्तविक अनुद्वेजक अनुद्विग्नता (गी.१२.१५) है।) इसलिये कार्य न होने से इसका प्रागभाव नहीं। इसका कोई विरोधी नहीं तो इसे नष्ट कौन करे? अतः इसका ध्वंस भी नहीं। द्वितीय न होने से भेद भी नहीं। अतः यह विदित की तरह अनित्य नहीं है। तब अनेक क्योंकर होगा, और अशुद्ध होने की संभावना ही कहाँ? 'ऐसा मैं हूँ' यह शिष्य समझ जाये — क्योंकि यही उसकी प्रार्थना थी 'सर्वथापि ब्रह्म बोधय' — इस उद्देश्य से आचार्य ने कृपाकर आगमवचन कहा कि वह विदित से अन्य ही है।

अथाऽविदितान्यता

अविदितमज्ञातं तर्हि? इति प्राप्त आह — अथो अपि अविदिताद् विदितविपरीताद् अव्याकृताऽविद्यालक्षणाद् व्याकृतबीजाद् अधि - इत्युपर्यर्थे; लक्षणया — अन्यदित्यर्थः। यद्धि यस्मादधि उपरि भवति, तत् तस्मादन्यदिति प्रसिद्धम्।

आत्मा अविदित से भी अन्य है

विदित से अन्य है तो अविदित होगा यह संभावना उपस्थित न हो जाये इसलिये आचार्य ने कहा कि 'अथो' और भी वक्तव्य है, आत्मा अविदित से भी परे है। जो विदित से विपरीत हो वह अविदित होता है, अव्याकृत होता है, अविद्यालक्षण होता है, व्याकृतबीज होता है। उससे ब्रह्म 'अधि' है। 'अधि' का मतलब होता है ऊपर, लक्षणा से यहाँ 'अधि' का मतलब 'अन्य' है क्योंकि यह प्रसिद्ध ही है कि जो जिसके ऊपर होता है वह उससे अन्य होता है। भाष्यकारों ने ब्रह्म को तो विदित से 'विलक्षण' कहा लेकिन अविदित को विदित से 'विपरीत' कहा। इससे स्पष्ट किया कि ब्रह्म विदित-अविदित दोनों से पृथक् है। विपरीतता में फिर सापेक्षता है, ब्रह्म तो निरपेक्ष है। क्योंकि ब्रह्म दोनों से परे है इसलिये विदित और अविदित परस्पर विपरीत होने पर भी उभयवैलक्षण्य संगत है। गाय-घोड़े-गधे के दृष्टान्त से यही बताया था। विपरीत होने के लिये विदित की विशेषताओं की मानो काट करने वाली विशेषतायें होनी पड़ेंगी किंतु विलक्षण होने के लिये यह ज़रूरी नहीं। अन्य होने से ही वैलक्षण्य हो जाता है। विदित-अविदित दोनों सविशेष हैं, ब्रह्म निर्विशेष होने से उभयविलक्षण है। द्वितीयमंत्र के भाष्य की टीका में अतएव कहा था 'निर्विशेषतैव विशेष इत्युत्तरम्' कहा था। विदित को व्यक्त अर्थात् व्याकृत कहा था अतः उससे विपरीत अविदित अव्याकृत है। यह

अनभिव्यक्त-नामरूपावस्था है। विपरीत होने से यह केवल व्याकृत का अभाव नहीं, फीका मीठे का विपरीत नहीं कहा जाता! अव्याकृत विदित की काट करने वाला है अतः विपरीत है। विदित को अविदित से विपरीत नहीं कहा था। विदित से अविदित का विरोध नहीं हो पाता क्योंकि उसे अविदित में ही रहना है। व्यक्त होने से पहले, व्यक्त काल में और व्यक्तता छोड़ने के बाद, तीनों कालों में व्यक्त को अव्याकृत में ही रहना पड़ेगा। मिट्टी का विरोध करे तो घड़ा रहे कहाँ? लेकिन अव्याकृत ज़रूर व्यक्त से विपरीत है; अनादि काल से उसे दबाये रखे है और मौका पाते ही फिर न जाने कब तक के लिये दबोच लेता है! बीच में कुछ समय किसी चेतन के पौरुष से व्यक्त भले ही अव्याकृत के सामर्थ्य को धत्ता बताकर अपनी नाम-रूपकृत पहचान बना ले, पर टिक तो नहीं ही पायेगा। व्यक्त अपनी परिच्छिन्नता के कारण ही, विशिष्ट नाम-रूपों में बँधने के कारण ही, कर्म से (अर्थक्रिया से) सम्बन्ध के कारण ही दुर्बल है। नाम-रूप-कर्म से ही बल का क्षय है। उससे तो अव्याकृत प्रबल ही रहेगा। व्यक्त को 'अन्यविषय' कहा था अर्थात् कोई उसे जानता है। जाना जाता है अर्थात् विद्या से लक्षित होता है तभी विदित कहा गया। यह उससे विपरीत है अतः अविद्यालक्षण है। अज्ञान ही इसका असाधारणरूप है। यह अविद्या भी विद्या का अभाव नहीं, उससे विपरीत है। काम-क्रोधादि सहायसामग्री से यह विद्या को उत्पन्न नहीं होने देती, पूरी कोशिश इसी की करती है। विद्या क्योंकि नाम-रूप-कर्म से सम्बन्ध नहीं रखती इसलिये यदि हो जाये तब तो इस अविद्या से फिर नहीं दब सकती, लेकिन अविद्या के रहते उसका होना ही मुश्किल है। विरोधी के रहते होती कैसे है? अविद्या की नैसर्गिक दुर्बलता है अतः तपःप्रभाव और देवप्रसाद से हो जाती है यह निश्चित है। विदित प्रमेय होने से अल्प था, यह अविद्या होने से अप्रमेय अतः अनल्प है। अविद्या साक्षिभास्य है, प्रमाणसिद्ध नहीं है। अतः सविरोध, अनित्य और अनेक नहीं है। विदित अशुद्ध है, उसकी अपेक्षा अविदित शुद्ध है क्योंकि व्याकृतबीज है। घट तो अशुद्ध हो जायेगा पर मिट्टी शुद्ध रहती है। अशुद्ध घट फूट जाता है, कालान्तर में वही मिट्टी पुनः कुल्हड़ बन जाती है। कार्य की अपेक्षा कारण (सूक्ष्म अतः) शुद्ध होता है। अव्याकृत में बीजरूप से व्याकृत बैठा है। इतनी अशुद्धि तो उसमें है कि व्याकृत से संसृष्ट है, अतः पूरी शुद्धि नहीं है, पर व्याकृत से शुद्धि अधिक है। सारे व्याकृत का, व्यक्त का, विदित का बीज अव्याकृत है। कष्ट देने वाला व्याकृत प्रतीत होता है अतः उसी से बचाव के उपाय करते हैं, उसे ही नष्ट करने का प्रयास करते हैं, व्यक्त नाम-रूप-कर्म के हेर-फेर से ही कष्ट-निवारण की आशा रखते हैं। किंतु उससे लाभ संभव नहीं क्योंकि चाहे जितने व्यक्त नामरूपों को हटा लें, व्यक्तों का बीज बैठा है जो नये-नये नाम-रूप-कर्म के अस्त्रों का प्रक्षेप करता ही रहेगा! जब तक वह जल नहीं जायेगा तब तक शान्ति संभव नहीं। यद्यपि अव्यक्तमात्र कष्टप्रद नहीं तथापि जैसे मिट्टी हमेशा किसी-न-किसी नाम-रूप में मिलती है, मृन्मात्र की संकल्पना बन सकती है पर उपलब्धि नाम-रूप के साथ ही होगी, ऐसे ही अव्यक्तमात्र—व्यक्तबीज—की संकल्पना तो हो जायेगी लेकिन रहेगा वह कोई-न-कोई नाम-रूप ओढ़े हुए ही, अतः दुःखप्रद ही। इसीलिये सुषुप्ति में अज्ञ रहते हैं, सर्वज्ञ नहीं हो जाते। यदि अव्याकृतमात्र उपाधि हो तो ईश्वरवत् सर्वज्ञ होना चाहिये। वैसा तो होता नहीं। वहाँ भी निद्रारूप तामसी वृत्ति रहती है। इस विषय में विवरण (पृ.१७१), न्यायरत्नावली (पृ. १६४-१६५ एवं १६९) आदि ग्रन्थों का अनुसंधान करने से ही स्पष्टता आयेगी। इस प्रकार अविदित की विदितविपरीतता स्पष्ट की।

आत्मा उससे भी अन्य है, विलक्षण है। श्रुति ने 'अधि' अर्थात् ऊपर कहा पर तात्पर्य अन्य से ही है। परमात्मा कार्य ही नहीं कारण से भी अन्य है। उसमें न कार्य के विशेष हैं न कारण के विशेष हैं। कार्य-कारण एक-दूसरे के सहारे हैं; कारण किसी-न-किसी कार्याकार में रहेगा और कार्य तो हमेशा कारण में रहेगा ही। कारण कथंचित् कार्यमात्र के आकार छूटने पर भी रह जाये, तो भी कार्यों को गर्भ में लिये ही बैठा रहेगा। क्योंकि कारण का बल कार्य ही है इसलिये कारण कार्य का सहारा छोड़ता नहीं। जब प्रलयादि में खुलकर सहारा नहीं ले पाता तो छिपाकर लेता है पर बिना कार्य के सहारे रहता नहीं। किन्तु परमात्मा किसी के सहारे नहीं है, वह इनसे ऊँचा ही है, अन्य ही है। अतएव कहीं कहा है कि उसका तीन-चौथाई द्यु में है, कहीं कहा वह दस अंगुल ऊँचा है, कहीं कहा 'मैं क्षर-अक्षर से अतीत हूँ', और कहीं

तो उसका उपदेश 'अधि' होने से ही उसका पार्थक्य बता दिया (ब्र.सू.१.३.८)! तात्पर्य सर्वत्र यही है। 'अधि स्यादधिकारे चापीश्वरे च निगद्यते' यह मेदिनीकार ने कहा है। श्रोत्र का ईषण-प्रेषण करने वाला जिसे बताया उसी को विदित-अविदित से अन्य कह रहे हैं यह याद दिलाने के लिये श्रुति ने पार्थक्यार्थक शब्दान्तरों की जगह 'अधि' का प्रयोग किया है।

तत्र हेतुः

अस्तु तर्ह्यविदितम्? न, विज्ञानानपेक्षत्वात्। यद्धि अविदितं तद् विज्ञानापेक्षम्। अविदितविज्ञानाय हि लोकप्रवृत्तिः। इदन्तु विज्ञानानपेक्षम्। कस्माद्? विज्ञानस्वरूपत्वात्। न हि यस्य यत् स्वरूपं तत्तेनान्यतोऽपेक्ष्यते।

अविदित से अन्य क्यों?

आत्मा विदित नहीं है तो अविदित हो, इसमें हर्ज़ क्या है? शंका का आशय है कि आत्मा दूसरे द्वारा जाना जाये यह न भी मानें, क्योंकि वही जानने वाला है और श्रुति ने उसको जानने वाले का निषेध किया है, तो भी वह स्वयं अपने को जानने वाला हो सकता है। विदित-अविदित दोनों से अन्य कहने का तो मतलब है कि उसे विज्ञान की, वेदन की, कोई अपेक्षा ही नहीं है लेकिन ख़ुद से जाना जायेगा तो अपने से होने वाले विज्ञान की तो अपेक्षा बनी रहेगी। अतः उसे उभयान्य क्यों मानना? उभयान्य को विज्ञान-अनपेक्ष इसलिये मानना पड़ेगा कि वह है! उसके होने में प्रमाण नहीं, अन्यथा विदित हो जायेगा। और अविदित वही हो सकता है जो वेदन के योग्य हो। अतः है इतने से ही उभयान्य की विज्ञान-अनपेक्षता निश्चित हो जाती है। 'है' यह कैसे पता?-यह तो भले ही कोई न बता पाये पर 'नहीं है' यह कहने की हिंमत भी कौन करे? क्योंकि उसका मतलब होगा 'मैं नहीं हूँ।'

हर्ज़ यह है कि वह विज्ञान से निरपेक्ष होने के कारण अविदित भी नहीं हो सकता। अविदित वही होगा जो विज्ञान-सापेक्ष है क्योंकि अविदित के विज्ञान के लिये ही लोगों की प्रवृत्ति होती है। 'लोक' शब्द से कह दिया कि अतएव आत्मजिज्ञासा दुर्लभ है। अविदित को जानने की इच्छा स्वाभाविक है, विदिताविदितान्य को जानना चाहे ऐसा व्यक्ति अलौकिक ही है। **आत्मा तो विज्ञान-निरपेक्ष है अतः अविदित नहीं है।**

आत्मा विज्ञान-निरपेक्ष क्यों है? क्योंकि इसका स्वरूप ही विज्ञान है। जिसका जो स्वरूप होता है उसे दूसरे से चाहे यह नहीं हुआ करता। शास्त्र ने आत्मा को विज्ञानघन बताया है अतः वह ज्ञानस्वरूप है। जो जिससे सर्वथा अभिन्न हो वही उसका स्वरूप होता है। आत्मा और विज्ञान में किसी तरह का अंतर सिद्ध न होने से उसे विज्ञानस्वरूप मानना ही पड़ेगा। विज्ञानव्यभिचारी आत्मा और आत्मव्यभिचारी विज्ञान दोनों असम्भव, अप्रामाणिक और निर्युक्तिक हैं। विज्ञान क्योंकि आत्मस्वरूप है, आत्मा ही है, इसीलिये आत्मा विज्ञान-निरपेक्ष है अर्थात् आत्मा को विज्ञान की ज़रूरत नहीं। हमेशा ज़रूरत उसी की होती है जो ख़ुद से अन्य हो।

स्वप्रकाशे न स्वग्राहकता

न च स्वत एवापेक्षा, अनपेक्षमेव सिद्धत्वात्। न हि प्रदीपः स्वरूपाभिव्यक्तौ प्रकाशान्तरमन्यतोऽपेक्षते, स्वतो वा। यद्ध्यनपेक्षं तत् स्वत एव सिद्धम्। प्रकाशात्मकत्वात् प्रदीपस्य अपेक्षितोऽप्यनर्थकः स्यात्, प्रकाशे विशेषाऽभावात्।

स्वप्रकाश में स्वग्राहकता नहीं है

आत्मा को अविदित मानने की मूल शंका थी कि आत्मा स्वयं को जानने वाला माना जाये, जब तक वह स्वयं को नहीं जानता तब तक अविदित रहे, जान ले तो विदित हो जाये, उभयान्य की अदृष्टचर कल्पना क्यों? विज्ञानवादी बौद्ध विज्ञान को विज्ञान से विज्ञात मानते हैं, उन्ही की दृष्टि लेकर शंका उठी है। इस मानने में लाभ यही है कि आज तक के अनुभवों से विलक्षण आत्मा नहीं मानना पड़ता। हानि यह है कि फिर वह भी बाकी चीज़ों की तरह मिथ्या हो जायेगा

और विज्ञानवाद के अगले क़दम शून्यवाद के लिये कोई रुकावट नहीं रहेगी। शास्त्र छोड़कर चलें तो तर्क, (युक्ति नहीं), इसी रास्ते ले जायेगा। इसीलिये पहले भी बताया था कि आत्मा तर्कानुकूल होने के साथ ही तर्क-प्रतिकूल और तर्क से अतीत भी है। न केवल तर्क आत्मा को संभावित करता है वरन् उसकी तर्कप्रतिकूलता भी उसे संभावित करती है। तर्क के अनुकूल-प्रतिकूल दोनों होने से वह तर्कातीत है, अतर्क्य है। आत्मा ही वह 'मति' है जिसे तर्क से पाना और खोना यमराज ने भी असंभव कहा है। आत्मा 'की' मति तर्क से हो भी जायेगी जैसी गौतमकणाद आदि को हुई, उस 'की' मति तर्क से खो भी जायेगी जैसे बौद्धों ने खो दी, लेकिन वह-रूप मति न मिलेगी, न जायेगी। इसी रहस्य से स्वप्रकाशता का अभिप्राय भगवान् भाष्यकार जगह-जगह स्पष्ट करते हैं और परवर्ती आचार्यों ने अतिविस्तार से प्रतिपादित किया है। शास्त्रीय होने पर भी अनुपपन्न नहीं है इतना समझाने में तात्पर्य है, उपपन्न करने में नहीं क्योंकि है वह विदितक्षेत्र से परे ही। बलात् उसे विदितक्षेत्र में लाने की यह आख़िरी कोशिश है : 'वही स्वयं को जान ले।' इसे ही अन्य तरह से पूछते हैं 'क्या ईश्वर स्वयं को जानता है?' अगर कहो 'जानता है', तो परिच्छिन्न होगा ही। कहो 'नहीं जानता' तो अविदित हो गया, फलतः परिच्छिन्न ही रहा। चाहे ईश्वर नाम से कहें, चाहे जीव नाम से, प्रष्टा का तात्पर्य यही रहता है कि आत्मा होना चाहिये घटादितुल्य ही। जब तक आत्मा विलक्षण सिद्ध न हो, तब तक पदार्थशोधन का मार्ग प्रशस्त नहीं होगा। शोधन यही तो है कि विदितात्मा (जीव) को और अविदितात्मा (ईश्वर) को उपेक्षित कर उभयान्य से अन्यत्र अप्रतिष्ठा हो। तभी महावाक्य सार्थक हो सकता है। और सफल भी; क्योंकि मोक्ष (ख़ासकर जीवन्मुक्ति) इसीलिये नहीं हो सकता कि आत्मा विदित या अविदित ही है। मोक्ष का 'होना' यही है कि आत्मा न विदित है न अविदित। स्वप्रकाशता में वेदान्त के साधक, साधन और साध्य सभी सिमट जाते हैं अतः इसकी प्रमुखता है। इसलिये भाष्यकार बताते हैं कि 'वह ख़ुद को जानता है' ऐसा भी नहीं : **आत्मा को ख़ुद से भी विज्ञान की अपेक्षा नहीं है क्योंकि बिना अपेक्षा के ही वह संपन्न है, स्थित** है। अपेक्षा या ज़रूरत उसकी ही होती है जिसके मिलने, या रहने, या न बिछुड़ने के लिये कोई कोशिश की जा सके। जो स्वरूप है, बिना किसी कोशिश के ही हमेशा है, उसे अपेक्षित कहना ही बनता नहीं। और स्वयं अपने को ग्रहण करना तो संभव ही नहीं क्योंकि एक वस्तु उसी क्रिया का कर्ता और कर्म दोनों नहीं हो सकती। जो कोई दृष्टांत मिलेंगे सब में अवच्छेदकभेद से ही दोनों का सामानाधिकरण्य होगा, निरवच्छिन्न में सामानाधिकरण्य असंभव है, दृष्टान्त में भी नहीं मिलेगा।

इस तथ्य को अनुमान से भी दिखाते हैं-**दीपक स्वरूपाभिव्यक्ति के लिये न किसी अन्य से और न ख़ुद से किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा रखता है। ऐसे ही विज्ञान भी अपेक्षा नहीं रखता।** अनुमान का पूरारूप यह है : विज्ञान ऐसा प्रकाश है जिसे सजातीय की अपेक्षा नहीं होती क्योंकि प्रकाश होता ही ऐसा है जिसे अपनी जाति का कोई प्रकाश न चाहिये हो, जैसे दीप; दीपप्रकाश किसी सजातीय प्रकाश की ज़रूरत महसूस नहीं करता। इसी तरह प्रकाशरूप विज्ञान भी विज्ञानरूप सजातीय प्रकाश की अपेक्षा रख नहीं सकता। विज्ञान से स्वेतरप्रकाशकत्वेन अभिमत विज्ञान विवक्षित है जो वादियों में प्रसिद्ध है। जिसे सब ऐसा मानते हैं कि इससे घटादि वस्तुएँ जानी जाती हैं, उन्हे यह प्रकाशित करता है, ज्ञात कराता है, उसी की चर्चा है। है वह दूसरे का भी प्रकाश-'क' नहीं, यह बात दूसरी है। सजातीयविशेषण दृष्टान्तलाभ के लिये है। दीपक को जडप्रकाश न सही चित्प्रकाश (और नेत्र-मनो-वृत्तियाँरूप चिदचित्संवलित प्रकाश) तो चाहिये ही। अतः वह प्रकाशान्तरमात्रानपेक्ष नहीं। फिर क्या आत्मविज्ञान भी विजातीयापेक्ष है? नहीं। विज्ञानविजातीय प्रकाश है जडप्रकाश। वह जब विज्ञानापेक्ष है तो विज्ञान उसकी अपेक्षा कैसे करे? क्योंकि तब परम्परया स्वापेक्षा ही हो जायेगी जो असंभव सिद्ध की जा चुकी है। विज्ञानसजातीय कुछ है भी नहीं क्योंकि वह अखंड है। अतः वह तो स्व-सजाति-विजातिनिरपेक्ष ही सिद्ध है। स्वतः सिद्ध, स्वतः प्रकाश आदि में 'तस्' कहने-भर को है अथवा प्रथमार्थक है, प्रातिपदिकार्थमात्रद्योती है। स्वरूपसत्ता में जो हेतु हो वही अपेक्षित कहा जाता है। इस प्रकार कारणविशेष की ही अपेक्षा होने से कार्यत्वविशेष ही सापेक्षत्व है। विज्ञान अकार्य होने से निरपेक्ष ही हो सकता है। दीपक उत्पत्ति में भले ही सजातीयापेक्ष हो, स्वरूपस्थिति

में नहीं। विज्ञान को तो उत्पन्न भी होना नहीं। विज्ञानस्थल में स्वरूपसत्ता और स्वरूपसिद्धि भी एक ही बात है। अतः कहते हैं – **जो अनपेक्ष है वह स्वतः ही सिद्ध है।** 'अनपेक्षमेव सिद्धत्वात्' का ही यह निगमनवाक्य है। अपरतस्त्व ही स्वतस्त्व समझ लेना चाहिये अथवा पूर्वोक्त रीति से 'तस्' का अर्थ समझना चाहिये। अँधेरा मिटाने के लिये ही प्रकाश की ज़रूरत पड़ती है। प्रकाश में जब अंधेरा है ही नहीं तो प्रकाश की ज़रूरत क्यों कर पड़ने लगी? प्रकाश की ज़रूरत न रखता हुआ प्रकाश बिना अँधेरे का है। इसी तरह विज्ञान की अपेक्षा न करने वाला विज्ञान अविदित नहीं है यह अभिप्राय है। टीका योजना में यत्पद उत्तरान्वयी व तत्पद पूर्वान्वयी प्रतीत होता है – 'यत् (=यस्मात्) स्वत एव सिद्धं, तत् (=तस्माद्) अपनेक्षम् हि।' स्वतः सिद्ध को ही तमोध्वस्ति आदि से स्पष्ट किया। अथवा 'यद्धयपेक्ष्यम्' ऐसा पाठ भाष्य में रहा हो यह कल्पना होती है। कुछ विद्वान् 'न हि प्रदीपस्य' आदि आगे के भाष्यवाक्य की व्याख्या 'तमोध्वस्तये' आदि टीकावाक्य को मानते हैं किन्तु टीकाक्षरों के अनुसार यहीं का व्याख्यान समझ आता है। क्योंकि प्रकाश का काम अँधेरा मिटाना है इसलिये जहाँ अँधेरा नहीं वहाँ पड़कर भी प्रकाश व्यर्थ ही होगा। इसी तरह-**प्रदीप क्योंकि प्रकाशरूप है इसलिये अगर मानें भी कि उसे प्रकाश चाहिये होगा, तो भी उस अपेक्षित प्रकाश का प्रयोजन क्या होगा? अपेक्षित प्रकाश का कोई प्रयोजन नहीं हो सकता क्योंकि प्रकाश का जो कोई भी प्रयोजन हो सकता है वह तो (अपेक्षक माने गये) प्रदीपप्रकाश से ही पूरा हो चुकेगा। (अपेक्षित या अपेक्षक मानने पर भी प्रकाशरूप से) प्रकाश में तो कोई अंतर होता नहीं कि प्रदीपप्रकाश प्रकाश का प्रयोजन पूरा न करे और उसके लिये अपेक्षित प्रकाश की इन्तज़ार हो।**

सजातीयविजातीयानपेक्षा

न हि प्रदीपस्य स्वरूपाभिव्यक्तौ प्रदीपप्रकाशोऽर्थवान्। न चैवमात्मनोऽन्यत्र विज्ञानमस्ति येन स्वरूपविज्ञानेऽप्यपेक्ष्यते।

स्वप्रकाश आत्मा सजातीय-विजातीयनिरपेक्ष है

प्रदीप की स्वरूपाभिव्यक्ति होने पर प्रदीपप्रकाश सार्थक नहीं होता। एक प्रदीप जब स्वरूपतः अभिव्यक्ति हो चुके तब अन्य प्रदीप के प्रकाश की उसके लिये सार्थकता नहीं रह जाती। एक दीपक, जो स्वरूपलाभ पा चुका है उसकी अभिव्यक्ति के निमित्त से अन्य दीपक का प्रकाश नहीं चाहिये जैसे स्वरूपलाभ पा चुके घट की अभिव्यक्ति के लिये घट से भिन्न दीपक चाहिये। प्रदीपप्रकाश का अर्थ या प्रयोजन क्योंकि स्वरूपतः अभिव्यक्त हुए दीपक से ही सिद्ध हो चुका है इसलिये प्रदीपप्रकाश सार्थक नहीं हो सकता। इसी तरह आत्मा को, जो स्वयं विज्ञानरूप है, किसी और विज्ञान की अपेक्षा हो, कोई और विज्ञान इस आत्मविज्ञान के लिये ज़रूरी या सार्थक हो ऐसा संभव नहीं।

दीपक तैजस द्रव्य है उसे किसी अन्य तैजस द्रव्य की ज़रूरत नहीं यह मान लें तो भी उसे अपने व्यवहार के लिये (अभिज्ञारूप व्यवहार के लिये) ज्ञानरूप विजातीय प्रकाश की ज़रूरत देखी ही जाती है। ऐसे ही ब्रह्म को भी विजातीय ज्ञान की अपेक्षा क्यों न मानी जाये? विज्ञान को विदितक्षेत्र में लाने के लोभ में शंकावादी न केवल अनेक विज्ञान मान रहा है वरन् विज्ञानों की अवान्तर जातियाँ भी मान रहा है! जैसे जीवज्ञानों को पितृज्ञान जान लें, उन्हे गंधर्वज्ञान, उन्हे कर्मदेवज्ञान इत्यादि! इस तरह विज्ञान को सविशेष ही रखा जाये यह प्रयास है। जैसे व्यवसायजातीय ज्ञान अनुव्यवसायजातीय ज्ञान से प्रकाशित माना जाता है, ऐसी ही कोई व्यवस्था प्रष्टा के मन में है। इसमें इसे लाभ यह दीख रहा है कि विज्ञान को अविज्ञानप्रकाश्य भी नहीं मानना पड़ेगा और स्वप्रकाश भी नहीं मानना पड़ेगा। किन्तु इसमें जो बड़ी हानि इसे नहीं दीख रही वह है अनवस्था। अनन्त विज्ञानजातियाँ और हरेक विज्ञान को विजातीय की अपेक्षा—यह अप्रामाणिक गौरवपूर्ण कल्पना मूल ज्ञान को सदा के लिये सापेक्ष छोड़ देगी! यही समझाने के लिये कहते हैं-**जैसे दीपक से अतिरिक्त आत्मविज्ञान है ऐसे आत्मा से अन्य कोई (विजातीय) ज्ञान है नहीं कि आत्मस्वरूप के विज्ञान अर्थात् अभिज्ञारूप व्यवहार के लिये उसकी अपेक्षा की जाये।** ब्रह्म या आत्मा से अन्य सब अज्ञानरूप है, उसमें भानरूपता की संभावना

ही कहाँ है कि विज्ञानरूप ब्रह्म से विजातीय भी हो और ज्ञान भी हो! अतः श्रोत्र का श्रोत्रभूत ब्रह्म विजातीय ज्ञान की अपेक्षा रखता है यह पक्ष अतितुच्छ है। विज्ञानत्व एक व्यापक जाति हो और फिर उसकी अवान्तर जातियाँ हों तब पूर्वपक्षी का काम बने। किन्तु सिद्धान्ती बताता है कि विज्ञान अखण्ड है, विज्ञानत्व व्यक्तियाँ अनेक हैं कहाँ कि उनकी कोई जाति हो। व्यक्ति होने के लिये चाहिये नाम-रूप और विज्ञान में नाम-रूप केवल औपाधिक है। ग्राह्यभेद का अवधूनन करने पर बुद्धिभेद कहाँ रहता है? वेदांत की यह खोज तार्किकों ने इसी तरह समझी है। तात्पर्य हुआ कि विज्ञान का विजातीय-विज्ञान ही अलीक है तो अपेक्षा का प्रसंग ही कैसे? इस तरह विज्ञान को न अपनी, न अपने विजातीय की और न सजातीय की अपेक्षा है यह सिद्ध हुआ।

सजातीयनिरपेक्षता और विजातीयज्ञाननिरपेक्षता में क्या अन्तर है? अनुव्यवसाय को अन्य अनुव्यवसाय की अपेक्षा होना सजातीय सापेक्षता है। व्यवसाय को अनुव्यवसाय की अपेक्षा होना विजातीयज्ञानसापेक्षता है। दोनों का निषेध किया है। अथवा एक वृत्तिज्ञान किसी अन्य वृत्तिज्ञान की अपेक्षा रखे तो सजातीय-अपेक्षा और वृत्तिज्ञान साक्षिज्ञान की अपेक्षा रखे तो विजातीयज्ञान की अपेक्षा। दोनों का निषेध यहाँ करना है। 'जीव भी ज्ञानरूप हैं पर इनसे अतिमहान् एक ज्ञानरूप ईश्वर है जिसके सापेक्ष सब जीव हैं' इत्यादि संभव कल्पनाओं के निरास के लिये ये विकल्प रखे गये हैं।

शास्त्रानुभवविरोधशङ्का

विरोध इति चेद्? न, अन्यत्वात्। स्वरूपविज्ञाने विज्ञानस्वरूपत्वाद् विज्ञानान्तरं नापेक्षत इत्येतदसत्। दृश्यते हि विपरीतज्ञानमात्मनि सम्यग्ज्ञानं च — 'न जानाम्यात्मानम्' इति। श्रुतेश्च — 'तत्त्वमसि' (छां. ६.८), 'आत्मानमेवावेद्' (बृ.१.४.१०), 'एवं वै तमात्मानं विदित्वा' (बृ.३.५.१) इति च सर्वत्र श्रुतिषु आत्मविज्ञाने विज्ञानान्तरापेक्षत्वं दृश्यते। तस्मात् प्रत्यक्षश्रुतिविरोध इति चेत्?

विज्ञान की विज्ञाननिरपेक्षता में शंका

प्रश्नोत्तर से यह और स्पष्ट करने के लिये पहले सूत्रवाक्य में प्रश्नोत्तर बता देते है-ज्ञान को ज्ञान की कोई अपेक्षा न मानने पर क्या लौकिक अनुभव और शास्त्र दोनों का विरोध नहीं होगा? नहीं होगा क्योंकि जिसे समझकर विरोध की प्राप्ति है उससे अन्य की ही यहाँ चर्चा है।

अब शंका स्पष्ट करते हैं-यह जो सिद्धान्ती ने कहा कि विज्ञानस्वरूप होने से स्वरूपविज्ञान को किसी अन्य विज्ञान की अपेक्षा नहीं, यह बात ठीक नहीं क्योंकि आत्मा के बारे में 'मै आत्मा को नहीं जानता' यों अज्ञान, ग़लत ज्ञान और सही ज्ञान, सभी देखे जाते हैं। श्रुति भी यह मानकर कि आत्मा अविदित है और उसे ठीक तरह समझा जा सकता है, उपदेश देती है 'वह तू है'। 'आत्मा को ही जाना', 'निश्चय ही उस इस आत्मा को जानकर' आदि से स्पष्ट ही श्रुति ने कहा कि आत्मा जाना जाता है। अतः वह विदित-अविदित के क्षेत्र में है अर्थात् विज्ञानसापेक्ष ही है। जब सभी श्रुतियाँ आत्मरूपविज्ञान को समझा रही हैं तो यही मतलब निकलता है कि उस विज्ञान को समझने की अर्थात् किसी अन्य विज्ञान की ज़रूरत है। इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव और साक्षात् श्रुति दोनों का विरोध रहते कैसे कहते हो कि विज्ञान को विज्ञान की कोई अपेक्षा नहीं? जैसे मिथ्या न समझने तक सत्य-असत्य के मापदण्डों से नापते रहने पर शुक्तिरजत की स्थिति स्पष्ट नहीं होती वैसे.ही विदिताविदित-अन्य की समस्या है, बल्कि यह समस्या और कठिन है क्योंकि उस अन्य को अविदित रखते हुए ही समझना भी है! पदार्थशोधन-पर्यन्त, कम-से-कम त्वम्पदार्थ के शोधन के बिना, यह प्रश्न उत्तरित होगा नहीं। शोधन ही इसे 'समझना' है (या 'समझना' ही शोधन है)। अतएव स्वप्रकाशता का वर्णन किया था। इस प्रश्न के उत्तर के लिये ख़ुद को ही लाँघ जाना पड़ता है, ख़ुद रहते हुए। अतः प्रत्यक्ष-शास्त्रविरोध से स्वक्रियाव्याघातादि सारे दोष समझ लेने चाहिये। शास्त्र प्रमाण है तो आत्मा ज्ञाताज्ञातान्य नहीं, वह

प्रमाण नहीं तब सुतरां नही। आत्मज्ञान होगा तो आत्मा ज्ञानरूप नहीं, आत्मज्ञान होगा ही नहीं तो वह ज्ञानरूप कैसे? वह ज्ञान ही है तो उसका अज्ञान कैसे? उसका अज्ञान नहीं तो वह ज्ञात क्यों नहीं? जिसका न अज्ञान हो और जो न ज्ञात हो वह तो असत् होता है, अचित् होता है। ये सभी प्रश्न यहाँ निहित हैं। तर्कविरोध भी है: जो होता है वह प्रमेय होता है, अप्रमेय आत्मा है ऐसा कहना नहीं बनता। अनुपलब्धि से ही उसका न होना निश्चित है। यदि वह अयोग्य है और अप्रमेय है तो अप्रामाणिक कल्पना है। अनुमेय ही हो तो साक्षात् नहीं और नित्यानुमेय तो स्वयं कल्पित होता है, ख़ासकर यदि असंसर्गी भी हो। अर्थापत्ति कार्यकारणभाव पर टिकी है, उससे अकार्य व अकारण की सिद्धि नहीं। जिसमें कोई धर्म क्रियादि नहीं उसे उपमान से भी कैसे जानें? शब्द समझा पाये इसके लिये शक्तिग्रह चाहिये जो अप्रमेय से हो नहीं सकता। इस तरह औपनिषदों का आत्मा तर्कविरुद्ध भी है। अतः शंका के गंभीर आशय को समझकर ही जवाब देना पड़ेगा।

समाधाने जीववर्णनम्

न। कस्मात्? अन्यो हि स आत्मा बुद्ध्यादिकार्यकरणसङ्घाताभिमानसन्तानाविच्छेदलक्षणः, अविवेकात्मकः, बुद्ध्यवभासप्रधानः, चक्षुरादिकरणः, नित्यचित्स्वरूपात्मान्तःसारो यत्र अनित्यं विज्ञानमवभासते, बौद्धप्रत्ययानाम् आविर्भावतिरोभावधर्मकत्वात्; तद्धर्मतयैव विलक्षणमपि चावभासते; अन्तःकरणस्य मनसोऽपि मनः, अन्तर्गतत्वात्, सर्वान्तरश्रुतेः (बृ.३.४)।

समाधान में जीव का वर्णन

भगवान् भाष्यकार और आचार्य टीकाकार ने सक्षम परिहार इस प्रसंग में स्पष्ट किया है। आगे (२.२-३) जो कहेंगे कि 'जानकार नहीं जानता लेकिन बिना जाने जानता है' आदि, वही इस परिहार को समझने का हाल है। इसे सही 'समझना' और न समझना, यहाँ 'समझना' शब्द के अर्थ ही अलग-अलग हैं। जो तो वास्तविक (अर्थात् नित्य किन्तु फलभूत) समझना है वह है ज्ञान का विषय बने बिना ही ऐसा विद्यमान स्वरूप जो संशय, भ्रम, अज्ञानादि के अयोग्य है। यह स्वप्रकाशता न्यायरत्नावली में (पृ.५९) कही है 'ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वं च—ज्ञानविषयत्वं विनैव संशयादिविषयत्वायोग्यविद्यमानस्वरूपकत्वम्।' इसे चाहे 'समझना' कहें और चाहे 'न समझना' कहें, कोई अंतर नहीं। जो तो ऐसी समझ है जिसके कारण 'जानकार नहीं जानता' उसमें ज्ञानविषयत्व रह जाता है। वेदान्तों से हुई जानकारी 'जिसकी' है वह सत्य है, जानकारी का 'उसका-पन' (जानकारी और उसका सम्बन्ध) भले ही मिथ्या है। यह रहस्य भी सूक्ष्म बातों को अतिप्रौढ प्रकाश में करामलकवत् कराने में निपुणचण रत्नावलीकार खोलते हैं 'वेदान्तवाक्यजवृत्तिज्ञानविषयत्वोपहितस्य मिथ्यात्वेऽपि न शुद्धब्रह्मणो मिथ्यात्वम्, न हि यत्र यत्रानुपपद्यमानमस्ति तत्तन्मिथ्येति नियमे मानमस्ति! मिथ्योपहितं तु मिथ्यैव, मिथ्याघटितत्वात्।' (पृ.५७) अतः यहाँ जो उत्तर देंगे वह शोधनोपयोगी है। उत्तर का सार तो भाष्यकार बता ही चुके 'अन्यत्वात्' अब तक जो कुछ समझा या नहीं समझा उससे अन्य ही है अतः प्रत्यक्षादि या शास्त्र या तर्क, कोई भी विरोध करे इसी के वह अयोग्य है।

सिद्धान्ती ने जिसे विज्ञाननिरपेक्ष कहा वह है ब्रह्म और जिसकी सापेक्षता अनुभवादिगोचर हो रही है वह है उपाधिविशिष्ट, जिसे जीवशब्द विषय करता है। इस प्रकार प्रत्यक्षादि और सिद्धान्ती का कथन, ये जब एक को विषय कर ही नहीं रहे तो विरोध कैसा? यह समझाते हैं-हमारी बात में जो तुम्हे दोष लग रहा है वह है नहीं। क्यों? जिसमें अनित्य अर्थात् सापेक्ष विज्ञान प्रतीत हो रहा है और शास्त्रादि से आक्षिप्त समझ आ रहा है, वह परमार्थ चैतन्य से, निरपेक्ष विज्ञान से अन्य ही है। सापेक्ष ज्ञान वाला वह आत्मा ऐसा है:

१) अज्ञान उसका चिह्न है-बुद्धि-आदिरूप जो स्थूल-सूक्ष्म शरीर हैं उन्हे हम 'मैं' समझते हैं, उनमें हमें अभिमान

है। यह अभिमान भी अनादि जन्मों की शृंखला से चला आ रहा है, सन्तत है। जब गहरी नींद में प्रकट नहीं है तब भी सूक्ष्मरूप से मौजूद ही है अतः बना रहने वाला है। इसका जो यह अविच्छेद अर्थात् लगातार रहना है, इससे जिसका रूपण अर्थात् ज्ञान होता है वही इसका कारणभूत अनिर्वचनीय अज्ञान है। उस अज्ञान को दृष्टि में रखकर ही, अज्ञान के परिप्रेक्ष्य में ही, अज्ञान के संदर्भ में ही जिसे समझा जा रहा है वही 'आत्मा' सापेक्षज्ञान वाला है। जैसे दर्पण का सहारा छोड़कर निरूपण करना चाहें तो जिसका कुछ निरूपण नहीं हो पाये, दर्पण के सहारे ही निरूपण हो पाये, वही प्रतिबिम्ब कहा जाता है, वैसे ही अज्ञान के ही सहारे निरूपित होने वाला है अतः यह 'आत्मा' भी वास्तव में जो आत्मा है उसके प्रतिबिम्ब जैसा ही है। अतः इसे चिदाभास भी कहते हैं।

२) **अविवेकात्मक है-** 'मैं अज्ञानी' यों चेतन के अधीन ही जिसकी प्रतीति होती है वह मिथ्या अज्ञान चैतन्य (निरपेक्षविज्ञान) को मानो परिच्छिन्न बना देता है जैसे अतिविस्तृत नीलगगन को छोटा-सा दर्पण अपने अंदर सीमित कर लेता है या अखण्ड निरवयव अमूर्त आकाश को घड़ा अपने में सिमेट लेता है। अपने से परिच्छिन्न किये आत्मा में उसके वास्तविक स्वरूप के प्रकाश को यह अज्ञान अभिभूत करके उसमें मूर्खता आदि के अध्यास का हेतु बन जाता है। यह सब हो रहा है प्रतिबिम्ब-स्थानीय में, अतः जैसे 'मानो परिच्छिन्न किया' ऐसे ही 'मानो अभिभूत किया और मानो उसमें अध्यास हैं जिनका यह हेतु बना'। स्वरूप जैसा है वैसा उसका जो अवभास अर्थात् प्रकाश है वह हटता हो ऐसा नहीं, केवल मानो अभिभूत हो जाता है, मौजूद रहते भी ऐसा हो जाता है मानो हो ही नहीं। जब स्वरूपावभास अभिभूत होगा तो स्वाभाविक है कि ग़लत अवभास होगा जैसे सीप सही न दीखे तो चाँदी दीख जाती है। इसे अध्यास कहते हैं। मैं मूर्ख हूँ, बद्ध हूँ, आदि सब अध्यास हैं। जैसे घड़ा पहले आकाश को 'सीमित' कर लेता है तब 'इसमें कम जगह है, उसमें ज़्यादा जगह है आदि अध्यास हो जाते हैं। या नील गगन नीचे है, छोटा है आदि अध्यास हो जाते हैं। दर्पण के दाग़ मुखके दाग़ दीखते हैं। इसलिये जीव—पूर्वोक्त प्रतिबिम्ब स्थानीय 'आत्मा'— अविवेकात्मक कहा जाता है, क्योंकि अज्ञान से उसमें मूर्खता आदि का अध्यास है।

३) **बुद्धि के ज्ञानों वाला है-**बुद्धि अर्थात् अन्तःकरण। उसमें नीला, पीला इत्यादि जैसे-जैसे अवभास (=वृत्तियाँ) बनते रहते हैं, वैसे-वैसे यह चित्प्रतिबिम्बरूप जीव उनके प्रमाता-आदि रूप से भासता है। इसका जो रूप अनुभव में आ रहा है उसमें प्रधान है बुद्धिवृत्तियाँ, यह तो केवल उन्हे ढोने वाले जैसा है। या 'ये मेरे लिये हैं' ऐसा उन वृत्तियों को समझ कर यह उनका प्रधान बना बैठा है। टीका में 'प्रमातृत्वादिरूपेण' कहा; आदि से कर्तृत्व समझना चाहिये। प्रमातृरूपेण नहीं कहकर प्रमातृत्वरूपेण कहने का अभिप्राय है कि भासता हुआ जो प्रमातृत्वादि रूप है वही कल्पित है, स्वरूपतः 'प्रमाता' कल्पित नहीं है।

४) **चक्षु आदि इसके करण हैं-**कर्ता करण से ही क्रिया कर कर्म सिद्ध कर पाता है। उक्त रीति से चिदाभास कर्ता बनता है तो चक्षु आदि को करण बनाता है। इन के संबंध से ही कर्ता बनता है जैसे वसूले आदि को ग्रहण कर ही कोई बढई बनता है। सब करण छूट जायें तो यह कर्ता भी नहीं रह पाता। प्रथम विशेषण से अज्ञानोपाधि, द्वितीय से जीवत्वाभिव्यक्ति के योग्य उपाधि, तीसरे से भोक्ता की उपाधि (विज्ञानमय) और चौथे से कर्ता की उपाधि (अन्न-प्राण-मनोमय) को कहा गया है। चक्षु आदि से बुद्धिपर्यन्त समझने चाहिये।.करणरूप से बुद्धि यहाँ कही है।

५) **उसका आन्तरिक सार नित्य चित्स्वरूप आत्मा ही है-**विशिष्ट अध्यस्त है अतः अधिष्ठानीभूत वास्तव आत्मा की सत्ता से ही सत्त्व वाला है। इस प्रकार विशिष्ट में प्रतीयमान सत्त्व आत्मसत्त्व ही होने से मानो आत्मा विशिष्ट में घुसा हुआ है। विशेष्यरूप से शुद्ध ही तो विशिष्ट में घुसा रहता है। यों घुसा हुआ जो नित्य चेतनरूप वास्तविक आत्मा, वही इस प्रतिबिम्बात्मा में सार या स्थिर अंश है। प्रतिबिम्ब में साररूप तो बिम्ब ही है। विशेषणांश निःसार है। आगे

ईश्वरवाद में (खण्ड ३) भाष्यकार फिर कहेंगे 'नित्यशुद्धबुद्धमुक्तविज्ञानात्मेश्वरगर्भः' इत्यादि। भाष्य के इस बीज का पुष्पित-पल्लवित निखरा रूप सर्वज्ञमुनि के संक्षेपशारीरक में (१.१५८-६०; १६९-९०, २८८; ३२९-३१) अवश्य दर्शनीय हो गया है। कुछ अनच्छमति कह देते हैं कि मुमुक्षु मोक्ष में बचेगा ही नहीं तो अद्वैतवाद को मान्य मोक्ष पुरुषार्थ कैसे होगा? उनका निरास इसी विशेषण से हो गया।

इन पाँच विशेषणों से समझाया गया जो जीवात्मा है उसी में अनित्य (सापेक्ष) विज्ञान भासता है। यह 'आत्मा' उससे अन्य है जिसे हम निरपेक्ष विज्ञान कह रहे हैं। सभी विशेषणों से अन्यता ही स्पष्ट की है। उस आत्मा से जीवात्मा अन्य क्यों है? दो कारणों से; i) बुद्धिवृत्तियाँ—नीलज्ञान, पीतज्ञान आदि — उत्पन्न और विनष्ट होती रहती हैं और यह उनके धर्मरूप से ही भासता है अतः अनित्य चैतन्य वाला लगता है जबकि हम जिसे आत्मा कह रहे हैं वह नित्य चैतन्य है। 'बुद्धि में ज्ञान' यह प्रतीति होती है, न कि 'ज्ञान में बुद्धि' अतः ज्ञान धर्म कहा गया। जैसे 'घट में आकाश' इस अनुभव से आकाश घट का धर्म कहा जाता है। अथवा धर्म का मतलब धर्मी है। बुद्धिवृत्तियों को अपने में मानता है अतः यह उनका धर्मी है। विज्ञान क्योंकि विशिष्टोपाधिरूढ है अर्थात् उपाधि में (अधिरूढ होकर=) तादात्म्याध्यास के कारण विशिष्ट बन चुका है इसीलिये अनित्यता उसी का—विज्ञान का ही—धर्म लगती है। एवं च अनित्य ज्ञान वाला लगने से यह आत्मा नहीं। **ii) क्योंकि यह विलक्षण अर्थात् अनेक भी अवभासित होता है इसलिये भी यह आत्मा से अन्य ही है।** 'मनुष्य हूँ', 'जानता हूँ' इत्यादि ढंग से लगता है कि हर शरीर में जीव अलग ही है। विशेषभेद से विशिष्ट अलग हो ही जाते हैं चाहे विशेष्य एक ही हो। हम बात कर रहे हैं जो अद्वितीय है उसकी। अतः अनेक प्रतीत होने वाला जीव उससे अन्य ही है। 'मनुष्य हूँ' से स्थूलशरीर का तथा 'जानता हूँ' से सूक्ष्म शरीर का परामर्श किया क्योंकि इन्हीं भेद से जीवभेद प्रतीत होता है। कारण की अनेकता का परामर्श तो कुछेक शास्त्रसंस्कारियों को ही संभव है।

जिसकी विशिष्टधर्मता भास रही है अर्थात् विशिष्ट के धर्म जिसमें भास रहे हैं वह शुद्ध चैतन्य वस्तुतः कैसा है? **वास्तव में आत्मा तो अन्तःकरण अर्थात् मन का भी मन है। श्रुति ने उसे सर्वान्तर बताया अतः वह अन्तर्गत है।** आत्मा विशिष्ट के अंदर घुसा हुआ है। घुसे होने का अर्थ बता ही चुके हैं। जिसमें घुसा है उससे जो घुसा है वह अलग हो यह उचित ही है। जैसे मुख अपने सामने आये दर्पणों में या आकाश सभी घटों में घुसा होता है अतः प्रतिबिम्बों या घटाकाशों से अलग होता है वैसे ही समझ लेना चाहिये।

विशिष्टे कुत आत्मताव्यवहारः

अन्तर्गतेन नित्यविज्ञानस्वरूपेण, आकाशवदप्रचलितात्मनाऽन्तर्गर्भभूतेन, बाह्यो बुद्ध्यात्मा तद्विलक्षणः अर्चिर्भिरिवाग्निः प्रत्ययैराविर्भावतिरोभावधर्मकैः विज्ञानाभासरूपैः अनित्यैः अनित्यविज्ञान आत्मा 'सुखी दुःखी' इत्यभ्युपगतो लौकिकैः; अतोऽन्यो नित्यविज्ञानस्वरूपादात्मनः। तत्र हि विज्ञानापेक्षा विपरीतज्ञानत्वं चोपपद्यते, न पुनर्नित्यविज्ञाने।

अध्यासवश विशिष्ट आत्मा समझा जाता है

प्रश्न होता है कि विशेषण का सम्बन्ध होने से स्वरूप में जिस अध्यस्त विशिष्ट का भान होता है वह मिथ्या है तो उसे ही प्रायः आत्मा क्यों समझ लिया जाता है? उत्तर देते हैं-अज्ञ लोगों द्वारा वास्तव आत्मा से विपरीत लक्षण **वाला बाह्य अर्थात् अनात्मा होता हुआ भी जो बुद्धिविशिष्ट है वह अपने अन्तर्गत अर्थात् गर्भ की तरह अपने भीतर घुसे हुए नित्य-विज्ञानस्वरूप और आकाश की तरह सभी परिवर्तनों से रहित वास्तवात्मा से तादात्म्य के कारण 'आत्मा' ऐसा समझ लिया जाता है और जैसे लपटों की अनित्यता से अग्नि अनित्य समझी जाती है ऐसे प्रकट और विलीन होने वाले अनित्य विज्ञानाभासों से तादात्म्यवश आत्मा अनित्य-विज्ञान वाला, सुखी-दुःखी आदि समझ**

लिया जाता है। बुद्ध्यात्मा को बाह्य कहकर विवेकोपाय सूचित किया, आत्मा हमेशा प्रत्यक्तम रहता है। जो कुछ बाह्य लगे अर्थात् प्रत्यक्तम न लगे, वह प्रत्यक् या प्रत्यक्तर हो तो भी अनात्मा है यह याद रखना चाहिये। बुद्धिविशिष्ट है अनात्मा पर समझा जाता है आत्मा, उसे ही आत्मा मानते हैं, कहते हैं। कारण यह है कि उसमें 'घुसा हुआ' जो आत्मा है उसने इस बुद्धिविशिष्ट को पृथक्कर समझते नहीं। आत्मा के 'धर्म' स्थायित्वादि अनात्मभूत बुद्धिविशिष्ट में प्रतीत होते हैं जैसे सूर्य के प्रतिबिम्ब में चमक प्रतीत होती है या घटाकाश में अवकाशप्रदत्व दीखता है (अर्थात् घड़े में जगह दीखता है)। इतना ही नहीं, तादात्म्य के कारण ही अनात्मरूप विशिष्ट के धर्म अनित्यत्वादि आत्मा में प्रतीत हो जाते हैं जैसे प्रतिबिम्ब के दाग मुँह पर समझ लिये जाते हैं या घटाकाशों के छोटे-बड़े होने से मान लिया जाता है कि जगह ही कम-ज्यादा हुआ करती है। अथवा विशिष्ट को आत्मा समझना यह अन्योन्यात्मकता—अन्योन्यतादात्म्य—का अध्यास है और अनित्य प्रत्ययों से आत्मा को अनित्यविज्ञान वाला समझना यह अन्योन्य धर्मों का अध्यास है ऐसा अध्यासभाष्यानुसारी व्याख्यान समझना चाहिये। भाष्य में 'बुद्ध्यात्मा आत्मा इति अभ्युपगतः, बुद्ध्यात्मा अनित्यविज्ञानः सुखी दुःखीत्यभ्युपगतः' ऐसा वाक्यभेद से अन्वय कर लेना चाहिए। भीतर घुसा आत्मा वास्तव में तो नित्य विज्ञान स्वरूप है अर्थात् निरपेक्ष चैतन्य रहते हुए वह किसी अस्व से निरूपित नहीं हो पाता। अथवा, पंचदशीकार की दृष्टि से, वास्तविक आत्मा का जो 'स्वयम्' है वह सनातन चैतन्य है। यह भी सूचित है कि नित्यविज्ञान जो 'स्व' है उसी रूप से वह विशिष्ट में प्रविष्ट है। बृहद्भाष्यभूमिका में गुरुचरणों ने कहा है 'The soul is really a progressive unity in the process of self-conscious experience.' (पृ.४९) यहाँ process आदि विशिष्ट है जिसमें (in) नित्य (unity) है। विशिष्ट भी self-conscious है किन्तु शुद्ध से तादात्म्यवश। इसकी निरपेक्षता इसी से नहीं कि यह process है। 'आकाशवदप्रचलितात्मना' से कहा कि यों विशिष्ट में प्रवेश करने पर भी वास्तव आत्मा में किसी भी तरह का अंतर नहीं आया। 'मायिक अन्तर आया' का मतलब है अन्तर नहीं है क्योंकि 'सा च माया न विद्यते' (गौ. कारिका ४.५८)। इससे प्रवेश में भी दृष्टान्त दे दिया : दर्पण में आकाश प्रतिबिम्बित होता है तो जैसा 'घुसना' है या जैसा 'प्रवेश' आकाश का घट में होता है, वैसा यहाँ 'प्रवेश' है। 'अन्तर्गतेन अन्तर्गर्भभूतेन' में भाष्य का स्वपदवर्णनरूप लक्षण दिखाया है। अथवा 'जो अप्रचलित है उसी रूप से अन्तर्गर्भभूत है' यह सम्बन्ध है। 'मैं' के सभी अनुभवों में अप्रचलित (अव्यभिचारी) रहने वाला ही तो वास्तव आत्मा है। प्रचलित होने वाले विशिष्ट हैं। 'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टः' (कठ. ५-९) आदि के अनुसार अग्नि को सृष्टि से प्रलय पर्यन्त स्थायी समझना चाहिये, ज्वालादि की अभिव्यक्ति-शान्ति से लगता है मानो आग ही पैदा हुई और बुझ गयी हो। अथवा जैसे आधुनिकों की शक्ति कभी उत्पन्न न होने पर भी उपाधिपरिवर्तन से उत्पत्ति-विनाशशील लगती है वैसा समझना चाहिये। या जैसे अखण्ड महाकाल होने पर भी समय 'हो' जाता और 'बीत' जाता है वैसे समझ लेना चाहिये। आविर्भाव-तिरोभाव है धर्म विज्ञानाभासों का लेकिन मान लिया जाता है वास्तव आत्मा का और इसमें मध्यस्थ बनता है विशिष्ट। इस आध्यासिक विशिष्ट की ही कृपा से शुद्ध आत्मा शुद्ध ही बना रहता है, चाहे जितना अशुद्ध हो जाये। स्वरूपाध्यास से अलग संसर्गाध्यास, अधिष्ठान से अलग आधार, बताकर भगवान् श्रीशङ्कर ने तथा सर्वज्ञादि आचार्यों ने उपनिषदर्थ की जो स्पष्टता की है उसके बिना शास्त्र का तात्पर्य किसी तरह समझ नहीं आ सकता। बुद्धिवृत्तियों से आत्मा क्यों अनित्य सुखी आदि लगता है? इसमें कारण बताया उन वृत्तियों को विज्ञानाभासरूप कहकर। घट विज्ञानरूप नहीं लगता तो घट के उत्पत्ति-विनाश से विज्ञानरूप आत्मा ही कहाँ उत्पत्तिविनाशवाला लगता है? आत्मतादात्म्य से ही अन्यधर्म आत्मा में भासते हैं। जिस स्थूलदेह में हमें तादात्म्य है उसी के जन्मादि से हम जन्मादि प्राप्त करते हैं। इस तरह अन्योन्याध्यास को ही स्पष्ट किया है। इसलिये **(पूर्वोक्त विशेषणपंचक वाला होने से) नित्य-विज्ञानस्वरूप आत्मा से अन्य ही वह है जो सापेक्ष विज्ञान वाला प्रत्यक्षादि से समझा जाता है।**

यह तो माना कि जीव नित्यविज्ञान से अन्य है पर इससे प्रत्यक्ष व शास्त्र का जो विरोध दिखाया था वह कैसे हटता है? इसका जवाब देते हैं- **जीव में ही विज्ञान की सापेक्षता है और उसे ही विपरीत ज्ञान होना संगत है,**

नित्यविज्ञान में न अपेक्षा है न विपरीत ज्ञान। अज्ञान ('न जानाम्यात्मानमिति' से जो कहा था), विपरीत ज्ञान (भ्रम) और उपदेशजन्य सही ज्ञान, तीनों जीव को होते हैं। इन तीनों के अनुभव जीवविषयक हैं शुद्धविषयक नहीं। समानविषयक अनुपपन्न प्रत्ययों का विरोध हो सकता है भिन्नविषयक प्रत्ययों का नहीं, अतः विरोध का परिहार इसी से हो गया कि शंकावादी द्वारा कहे प्रत्यय आत्मा से अन्य जीव को विषय करते हैं। यद्यपि अज्ञान इस दृष्टि से शुद्धाश्रित कहा जाता है कि वह जीवादिविभागनिरपेक्ष आत्मा पर आश्रित है तथापि सभी प्रस्थान जीवत्व के बिना आवरणाभिव्यक्ति या 'मैं अज्ञ हूँ' यह प्रतीति नहीं मानते अतः यह कहना समुचित है कि जीव को अज्ञान है। शंका में 'दृश्यते हि' से अनुभव कहा था और अज्ञान भले ही आत्ममात्र में हो, अज्ञानानुभव जीव को ही होता है। अज्ञान से प्रमुखतः आवरणशक्ति विवक्षित है। भाष्य में केवल 'विज्ञानापेक्षा विपरीतज्ञानत्वं च' कहा है लेकिन क्योंकि विपरीत ज्ञान उसे ही होता है जिसे अज्ञान हो इसलिये चकार से अज्ञान भी समझ लेना चाहिये। वस्तुतः आचार्य आत्मा में – नित्यविज्ञान में – अबोध को संगत बताने जा ही रहे हैं इसलिये यहाँ उसका उल्लेख नहीं किया। अज्ञानानुभव जीव को हो इसमें विरोध नहीं किन्तु इसके बल पर जो कुछ एकदेशी जीवाश्रित ही अज्ञान मान लेते हैं वह भाष्यकार को इष्ट नहीं क्योंकि उस पक्ष में जीव ही जगद्धेतु होने लगता है। न्यायरत्नावली मे कह दिया है 'वाचस्पतिमते···जगत्कामनाकृत्योरपि जीवाधिष्ठानकत्वमेव, जीवाश्रिताविद्यापरिणामत्वात्' (पृ.१०७)। अद्वैतमात्र की दृष्टि से इसमें कोई दोष नहीं, बल्कि कुछ फ़ायदा भी हो सकता है, लेकिन उपनिषदों की, गीता की और ब्रह्मसूत्रों की प्रधान प्रक्रिया के यह अनुकूल नहीं रहता और अत्यन्त सूक्ष्म दार्शनिक दृष्टि जिसमें नहीं ऐसे साधकों के भी उपयोग का नहीं है। हर हालत में 'मैं अज्ञानी हूँ' यह तो जीव का ही अनुभव है। इस प्रकार सापेक्षज्ञानता के अनुभव का विरोध हटा दिया।

शास्त्रविरोधशङ्कानुवादः

'तत्त्वमसि' इति बोधोपदेशो नोपपद्यत इति चेत्? 'आत्मानमेवावेद्' इत्येवमादीनि च? नित्यबोधात्मकत्वात्; न ह्यादित्योऽन्येन प्रकाश्यते। अतस्तदर्थबोधोपदेशोऽनर्थक इति चेत्?

शास्त्रविरोध की शंका

पहले शंकासूत्र में शास्त्र का विरोध भी उठाया था, उस शंकाभाग को व्यक्त करते हैं – आत्मा यदि निरपेक्षज्ञान **हो तो 'तत्त्वमसि' आदि ज्ञानोपदेश तथा 'उसने आत्मा जाना' आदि अनुभवबोधक वाक्य संगत कैसे होंगे? आदित्य किसी दूसरे से तो प्रकाशित किया नहीं जाता अतः आत्मा के प्रयोजन से ज्ञान का उपदेश व्यर्थ है (और अनात्मा के प्रयोजन से उपदेश हो इसकी संभावना ही नहीं)। शास्त्र व्यर्थ न हो इसके लिये आत्मा को सापेक्षज्ञान ही मानना होगा अन्यथा शास्त्रविरोध क्यों न होगा?** 'तत्त्वमसि' विशिष्ट को सुनाया जा रहा है यह कह नहीं सकते क्योंकि उसे आप मिथ्या मानते हैं तो उसे 'मैं ब्रह्म हूँ' यह अनुभव हो नहीं सकता, बल्कि कथंचित् हो गया तो भ्रम ही होगा। मिथ्या होने से वह मोक्ष के योग्य है ही नहीं। मोक्षकाल में रहने वाला ही मोक्षयोग्य होगा, मिथ्या उस समय कैसे रह पायेगा? अगर कहा जाये कि 'उसने आत्मा को ही जाना' इत्यादि वाक्य ब्रह्म के ही हैं, जीव के नहीं, अतः ब्रह्म के लिये उपदेश भी है, उसे अनुभव भी हो सकता है, वह मोक्ष के अयोग्य भी नहीं; तो यह कहना भी कोई मायने नहीं रखता क्योंकि ब्रह्म को बंधन या अज्ञान है नहीं कि उपदेश पाकर उसे कोई फल हो। इसलिये शास्त्रोपदेश व्यर्थ न हो इस उद्देश्य से आत्मा को सापेक्षज्ञान मानना चाहिये।

लोकानुभव का अविरोध बताने से ही तर्कविरोध भी हट गया क्योंकि तर्क तो यथानुभव प्रवृत्त हो सकता है। नित्यविज्ञान को जीव से अन्य कह दिया तो दृश्य सब क्रियादि जीवगत होने से उपपन्न हैं। जीवभेद से स्वक्रियाविरोधादि हट गये। जो है वह प्रमेय हो ही इस नियम में कोई अनुकूल तर्क नहीं है। प्रमाण न तो प्रमाण से प्रमेय हैं न अप्रमाण से क्योंकि स्व की स्व में विषयता संभव नहीं और अप्रमाण का विषय होने से कोई प्रमेय नहीं होता। फिर भी प्रमाण हैं

सही! अतएव उसकी उपलब्धि न होने से भी कोई हानि नहीं। अनुमेय न होकर भी अनुमान से संभावित आत्मा है ही यह प्रथम मंत्र में कह आये हैं। अनुमान सम्बन्ध अवश्य चाहता है, संबंधी का अव्यभिचार भी चाहता है पर उसकी सत्यता का आग्रही नहीं। ग्रहसंचार और देवदत्तादि में किसी संबंध का निर्वचन असंभव होने पर भी संचारवश देवदत्तविषयक अनुमान होता ही है। यही अर्थापत्ति की स्थिति है; अन्यथा-अनुपपत्ति वस्तुप्रसाधिका होने से लोकविलक्षण को संभावित करने में बलीयसी है। जीव को चिदाभास या चित्प्रतिबिम्ब कहकर उपमान की असंभवता का निषेध है। ठीक है, शिव-सा सुंदर और कोई नहीं, लेकिन उनका प्रतिबिम्ब भी क्या उन जैसा सुन्दर नहीं? अतः उन्हे क्या उस जैसा सुंदर नहीं समझ सकते? चाहे वह भी वे ही होने से वे बने निरुपम ही रहते हैं! शब्द को जो संबंधादि चाहिये उनकी व्यवस्था भी अपने भीतर परमात्मा को छिपाये रखने वाला जीव ही बना देता है इसमें सर्वज्ञात्ममहामुनि के वचनों का संकेत दिया जा चुका है।

फिर भी एक समस्या रह ही जाती है : मोक्ष किसका? मिथ्यात्व न समझने वालों के लिये यही अंतिम असह्यता है : नित्यमुक्त का ही कल्पित मोक्ष है! मोक्ष-व्यवहार जीव का है, मुक्त ब्रह्म है, फिर भी मोक्ष पुरुषार्थ है। बाकी व्यवहारों को अभास के माथे मढा तो भी वादी को सहन हो गया किन्तु आभास की मोक्षायोग्यता का ख़्याल आने पर पुनः आभासव्यवस्था शंकित हो गयी। उस व्यवस्था का बल आगम ही था, 'अन्यदेव' इत्यादि पूर्वाचार्यों से संश्रुत आगम का आश्रयण लेकर ही आत्मा और जीव के भेद की कल्पना की थी। निरपेक्षविज्ञान शास्त्र के ऊपर ही टिका मानकर शास्त्रविरोध से ही उसे निरस्त करने की कोशिश की जा रही है। यहाँ भाष्य में ब्रह्मता के उपदेश का ही विरोध बताया लेकिन अन्यत्र भाष्यकार कर्म-उपासना विधियों का भी विरोध शंकित कर लेते हैं। जो अर्थ शास्त्रैकगम्य हों उनकी व्यवस्था शास्त्रवश ही होना संगत है। अतः शास्त्रविरोधसे निरपेक्षज्ञान अवश्य अपलापयोग्य है यह वादी का अभिमान है। 'न ह्यागमाः सहस्रमपि घटं पटयितुमीशते' यह वाचस्पत्य उद्घोष है क्योंकि भगवान् शंकर बता गये हैं कि आत्मा किसी पर नहीं टिका है, शास्त्र पर भी नहीं, 'न हि धर्मजिज्ञासायामिव श्रुत्यादय एव प्रमाणं ब्रह्मजिज्ञासायां, किन्तु श्रुत्यादयोऽनुभवादयश्च यथासंभवमिह प्रमाणम्' (जन्मादिसूत्रभा.)। वेदवादी को पता है कि निरपेक्षविज्ञान से शास्त्र का विरोध नहीं। वह शास्त्रानुकूल स्वप्रकाशत्वव्यवस्था का निश्चय रखने पर भी शास्त्रवश ही उस व्यवस्था को नहीं बनाता। आत्मा से अन्यत्र ही शास्त्रवश शास्त्रैकगम्य अर्थों की व्यवस्था है, आत्मसंबंध में तो यथास्थिति शास्त्रव्यवस्था है। यदि आत्मा-आभास व्यवस्था का बल अकेला आगम होता तो भी आगम तात्पर्य के अन्वेषण से-श्रवण से-वह व्यवस्था समर्थित हो ही जाती है, लेकिन जब यह स्वयं बलिष्ठ है तो किसी विरोध से डर काहे का! इससे अपरिचित वादी ने ही शास्त्रविरोध बिभीषिका उपस्थित की है।

समाधानम्

न, लोकाध्यारोपाऽपोहार्थत्वात्। सर्वात्मनि हि नित्यविज्ञाने बुद्ध्याद्यनित्यधर्मा लोकैरध्यारोपिता आत्माऽविवेकतः, तदपोहार्थो बोधोपदेशो बोधात्मनः।

उक्त शंका का निवारण

समन्वयसूत्रभाष्य में 'यस्यामतम्' आदि केनश्रुति सुनाते हुए भाष्यकार ने कहा है कि 'यह' इस तरह विषयभूत ब्रह्म शास्त्र ने नहीं बताया है, वह तो प्रत्यगात्मरूप से, न कि विषयरूप से प्रतिपादन करते हुए अविद्याकल्पित वेद्य-वेदितृ-वेदनादि भेद को हटा देता है। इसी दृष्टिकोण से यहाँ भी समझा रहे हैं। विशिष्टमात्ररूप जीव उपदेशयोग्य नहीं क्योंकि मुक्तिभाक् नहीं यह ठीक है। निरुपाधिक ब्रह्म के लिये उपदेश व्यर्थ है, यह भी ठीक है। लेकिन उपाधिसे विशिष्ट हुआ जो चित्स्वरूप है, जिसे जीव-पद विषय करता है, उससे लक्ष्य होने वाला जो उपहित है उसकी ख़ासियत के कारण उपदेश संगत है तथा अध्यस्त अज्ञानादिबन्धन की निवृत्तिरूप फल भी संगत है। राधेय को कहना 'तू कौन्तेय है', ग़लत

है। कौन्तेय से भी वह कहना व्यर्थ ही है। किन्तु जो राधेय होकर भी राधेय नहीं है उस कर्ण को कहना 'तू कौन्तेय है' बिल्कुल उपपन्न और सफल है। उपधेय, उपहित, विशिष्ट, विशेष्य आदि शब्द सर्वथा अलग होने पर भी इनके अर्थ गाय-घोड़े की तरह अलग दिखाये नहीं जा सकते, समझ आ जाते हैं। जैसे जब देवदत्त यज्ञदत्त का साला और बहनोई दोनों हो तो वहाँ साला-शब्दार्थ और बहनोई-शब्दार्थ अलग होने पर भी दो व्यक्ति नहीं दिखाये जा सकते। किन्तु समझा अवश्य जा सकता है कि किस दृष्टि से देवदत्त साला है और किससे उसी का बहनोई भी है। दोनों होते हुए भी वह देवदत्त तो रहता ही है। इसी तरह आत्मा शुद्ध रहते हुए ही विशिष्ट और उपहित दोनों हो जाता है। दाग़युक्त काँच के सामने पहुँचते हैं तो जो दाग़ी प्रतिबिम्ब मुख है वह विशिष्ट है, उसके कारण दाग़ी दीखता बिम्ब मुख उपहित है और बेदाग़ मुख उपलक्षित है। अतः उपहित में यह ख़ासियत है, वैशिष्ट्य है, कि उसके मार्फ़त सत्य-असत्य का मानो सम्बन्ध हो जाता है। दाग़ी प्रतिबिम्ब असत्य है, बेदाग़ मुख सत्य है, इनका सम्बन्ध दाग़ी बिम्ब में हो गया ऐसा मान सकते हैं। ऐसे ही शुद्ध में बंधन नहीं, चिदाभास का मोक्ष नहीं लेकिन उपहित में बंधन और मोक्ष (या मुक्तियोग्य) का मानो सम्बन्ध हो गया जिससे उपदेश सफल है। यही समाधान करते हैं - **शास्त्रविरोध होने की संभावना नहीं क्योंकि 'लोकों' द्वारा किये अध्यास को हटाना उपदेश का प्रयोजन है। नित्य-विज्ञान सर्वरूप आत्मा में लोकों द्वारा बुद्धि आदि अनित्य धर्म एवं बुद्धि आदि अनित्यों के धर्म अध्यारोपित हैं क्योंकि आत्मा का अज्ञान है। अध्याससमेत अज्ञान के बाध के लिये निरपेक्षज्ञानरूप आत्मा का ज्ञानोपदेश सार्थक है।** स्वरूप और संसर्ग दो प्रकारों के आरोप से हुए संसर्गाध्यास का बाध उपदेश का फल है। बोधात्मा के बारे में बोधात्मा को ही बताना है और है भी बोधार्थ ही उपदेश। कौंतेय दृष्टान्त इसमें संगत है। यहाँ 'लोक' शब्द किसे कह रहा है इस पर टीका में विस्तृत विचार है। इसमें अध्यारोप को समझाया है।

लोक से आत्मा कहा जाये यह संभव नहीं क्योंकि आत्मा तो अधिष्ठान है, वह अध्यास का, अध्यारोप का, कर्ता नहीं कहा जा सकता। सींप तो ख़ुद पर चाँदी का अध्यारोप करती नहीं, चैत्रादि कोई अन्य ही चाँदी के अध्यारोप का कर्ता होता है। आत्मा को यदि अध्यासकर्ता मानोगे तो मोक्ष ही असंभव होगा क्योंकि तब कर्तृत्व को अनारोपित अर्थात् सच्चा ही मानना पड़ेगा। जिसके प्रति कर्तृत्व होता है उससे पूर्व ही कर्तृत्व रहा करता है क्योंकि क्रिया के प्रति कर्ता कारण होता है और कर्ता हो इसके लिये कर्तृत्व चाहिये। इस प्रकार फलभूत क्रिया से पूर्व ही कर्तृत्व होता है। अगर अध्यास के प्रति कर्तृत्व है तो वह भी अध्यास से पूर्व होगा और तब अनाध्यासिक या सच्चा हो जायेगा। कर्तृत्व होना ही बंधन है, वह सच्चा है तो हटेगा नहीं अतः मोक्ष असंभव होगा। मोक्ष उपपन्न तभी होगा जब कर्तृत्व अध्यासरूप हो लेकिन तब कर्तृत्व आत्मा में नहीं रह सकता क्योंकि तब कर्तृत्वाध्यास के लिये एक अन्य कर्तृत्व आत्मा में मानना पड़ेगा जो अनुभव में आता नहीं और कथंचित् माना जाये तो पुनः उस कर्तृत्व को मिथ्या बनाने के लिये यही प्रक्रिया अपनानी पड़ेगी जिससे अनवस्था अनिवार्य है।

और न यह ही उचित है कि 'लोक' से अनात्मा विवक्षित हो, जड अनात्मा अध्यास का कर्ता, स्वतंत्र कारण, हो यह कैसे उचित हो सकता है? प्रसिद्ध भी यही है कि चेतन देवदत्तादि रज्ज्वादि में सर्पादि का अध्यास करते हैं। जिसे भ्रम होता है उसे कर्ता कहो तब भले ही जड को अध्यासकर्ता न कह सकें लेकिन जैसे घट का निमित्तभूत कुम्हार घटकर्ता होता है ऐसे तो जड भी अध्यासकर्ता हो सकता है क्योंकि देखा गया है कि लाल फूल आदि जड चीज़ें अध्यास की निमित्त होती हैं। अतः अनात्मा लोक क्यों न कहा जाये? उस ढंग से भी जड को लोक कहना नहीं बनता। जिस अध्यास के प्रति लाल फूलादि को निमित्त कह रहे हो उसकी अपेक्षा वह फूल सत्य होता है अतः उपाधिरूप निमित्त बने यह संगत है। किन्तु भाष्यकार का सिद्धान्त है कि सारा ही जड अध्यासरूप है। अध्यास स्वयं का निमित्त कैसे होगा? इसलिये 'लोकों द्वारा किये अध्यास को हटाना उपदेश का प्रयोजन है' यह भाष्योक्ति सिद्धान्त के अनुगुण नहीं है।

इस प्रकार आत्मा-अनात्मा दोनों लोक नहीं यह प्राप्त होने पर सिद्धान्त समझाते हैं : लोकशब्द से आत्मानात्मग्रंथिरूप अहंकारादि कहे जा रहे हैं। अहंकारादि के आदि से संघातपर्यन्त की विवक्षा है; संघात न एकान्तेन जड है और न चिद्रूप ही है; वह भी ग्रंथिरूप ही है। अहंकारादि चेतन से तादात्म्य वाले हुए चेतन में होने वाले कर्तृत्व आदि अध्यास के प्रति उपाधि बन जाते हैं। अहंकारादि व्यावहारिक सत्य हैं ही अतः उन्हे अर्थक्रियासमर्थ (कार्यकारी) माना जाता है। अहंकारादि का धर्म जो कर्तृत्वादि उसका आरोप आत्मा में हो इसके लिये वे निमित्त बन जाते हैं अतः उन्हे लाल फूल की तरह उपाधि मानना संगत है। उपाधि को पारमार्थिक होना चाहिये यह नहीं कह सकते क्योंकि हम ऐसी कोई चीज़ नहीं मानते जो पारमार्थिक हो और उपाधि हो अतः हमें समझाने के लिये उक्त नियम में कोई दृष्टान्त नहीं मिलेगा। किं च प्रतिबिम्बित रक्तिमा भी स्फटिक में रक्तिमा के अध्यास के लिये पर्याप्त उपाधि देखी गयी है अतः वैसा नियम सर्वथा असिद्ध है। चैतन्य पर अध्यस्त अनादि अनिर्वचनीय माया से बने सूक्ष्म महाभूतों के विकार जो अहंकारादि वे अविद्या (अर्थात् माया) से अवच्छिन्न चैतन्य पर ही टिकते हैं क्योंकि यही देखा जाता है कि उपाधि के कार्य उपहित से सम्बन्ध रखा करते हैं जैसे जल का हिलना आदि। जल या दर्पण के हिलने आदि से बिम्ब ही हिलता लगता है। इस तरह लोक से अहंकारादि ग्रहण करने से भाष्य में कोई असंगति शंकित नहीं की जा सकती। पहले अहंकारादि से स्थूल देहपर्यन्त लिया था, यहाँ अहंकारादि को सूक्ष्मभूतों का विकार कहा है, फिर भी विरोध नहीं है क्योंकि देह भी स्थूल द्वारा सूक्ष्म का विकार है ही। वस्तुतः अहंकार को ही यहाँ मुख्यतः लेना है अतः सूक्ष्मविकार कह दिया किंतु आदिपद रखकर स्पष्ट भी किया कि संघात रहते ही अध्यासादि का अनुभव है।

अतः यह व्यवस्था हुई : i) आत्मा पर अविद्यारोप के लिये तो अविद्या ही हेतु भी कही जा सकती है क्योंकि अनादि है। ii) आत्मा पर अहंकारादि के आरोप में अविद्या ही भूतसूक्ष्मों द्वारा उपाधि का काम करती है और ख़ुद अवच्छेदक का काम करती है अर्थात् अविद्या से अवच्छिन्न आत्मा पर अहंकारादि अध्यस्त होते हैं जब अविद्या भूतसूक्ष्मों का रूप ग्रहण कर चुकती है। जिस पक्षमें 'सकले विलीने' के आधार पर सुषुप्ति में भूतसूक्ष्म नहीं रहते उसमें अविद्या की अहमाकार वृत्ति से व्यवस्था संगत होती है। 'अहमित्याकारकवृत्तिः अविद्यापरिणाम एव' (पृ.१६०) ऐसा न्यायरत्नावली में कहा है। इस विषय में विवरण (पृ.१७१) आदि अनुसंधेय हैं। तब उक्त वृत्तिरूप विकार उपाधि हो जायेगा। iii) आत्मा पर कर्तृत्वादि के अध्यास में अहंकारादि उपाधि का काम करते हैं और अहंकारादि तथा अविद्या दोनों ही अवच्छेदक का काम करते हैं अर्थात् इन दोनों से अवच्छिन्न आत्मा पर कर्तृत्वादि अध्यास होता है। इस लिये अधिष्ठान है उपहित और कर्ता बन रहा है — अर्थात् जिसे भ्रम हो रहा है वह है — अवच्छिन्न। अतः 'अधिष्ठान होने से कर्ता नहीं हो सकता' यह दोष हट गया। अवच्छिन्न जड भी नहीं है कि कर्तृत्व न माना जा सके। अतः पूर्वोक्त दोनों दोष निवृत्त हो जाते हैं।

इस प्रकार लोक का सीधा अर्थ है सर्वत्र प्रसिद्ध लोग, देवदत्तादि। हम लोगों को अध्यास उपलब्ध है, स्वयं को कर्ता-भोक्ता ही जान रहे हैं; हम ही भाष्योक्त 'लोक'-पदार्थ हैं। 'हम' आत्मा हैं या अनात्मा? इसका सही निश्चय हो जाये तो अध्यास ही रहेगा नहीं। इसका ग़लत निश्चय (अविद्याहेतुक अहंकार) रहते यह पूछना व्यर्थ है कि आत्मा आरोप करता है या अनात्मा। उत्तर इतना ही है कि जिन्हे आरोप उपलब्ध है वे हम ही आरोप कर रहे हैं। आरोपरूप से हमें न उपलब्ध है, न कर रहे हैं। वास्तविकता की दृष्टि से 'आरोप' कहा। 'मैं कर्ता भोक्ता' इस अनुभव का बाध शास्त्र का प्रयोजन है, इतना ही विवक्षित है। यह अनुभव हम 'कर' इस अर्थ में रहे हैं कि हमें यह अनुभव हो रहा है। स्वतंत्र होकर करते हों ऐसा नहीं; यद्यपि स्वतंत्रता से भी अहंकार को बढ़ाना-घटाना हमारे हाथ में है तथापि मौलिक अहंकार में हम स्वतंत्र नहीं हैं। उसे चाहे अनिर्वचनीय कह लें, चाहे सूक्ष्मरूप से बना रहने वाला होने से अनादि मान लें, चाहे ईश्वरेच्छा से होने वाला मान लें, बात एक ही है। पूर्वापर जन्मों में अनुगत अहंकार व्यवस्था के उद्देश्य से मान्य है, उसके प्रतिपादन में शास्त्र का तात्पर्य नहीं। यद्यपि कुछ लोग जातिस्मर देखे जाते हैं जिससे अहंकार का अनुगम मानना उपपन्न भी हो जाता है तथापि उन कुछेक अपवादों के बल पर सर्वत्र अनुगत अहंकार तो व्यवस्था के लिये ही स्वीकारा जा सकता है।

इसीलिये विवर्तवाद दृष्टिसृष्टि की ओर ले जाता है, वही रास्ता है जिससे अजात तक पहुँचेंगे। इसमें धर्माधर्म आदि सभी दृष्ट-अदृष्ट ढर्रे चर्मराने लगते हैं अतः प्रारंभ में स्थायी जीव से व्यवस्था बनाकर शास्त्र उपदेश करता है। इसीसे परिणामवाद को वेदान्त की पूर्वभूमि बताया गया है; अचानक, अर्थात् चित्तसामर्थ्य के बिना, विवर्त ही नहीं समझा जा सकता तो अजात क़ी बात ही क्या!

आत्मनि बोधाबोधौ

तत्र च बोधाबोधौ समञ्जसौ, अन्यनिमित्तत्वाद्, उदक इवौष्ण्यमग्निनिमित्तं, रात्र्यहनी इवादित्यनिमित्ते लोके। नित्यावौष्ण्यप्रकाशावग्न्यादित्ययोः, अन्यत्र भावाभावयोर्निमित्तत्वाद् अनित्याविवोपचर्येते 'धक्ष्यत्यग्निः, प्रकाशयिष्यति सविता' इति, तद्वत्।

आत्मा में बोध और अबोध

भाष्य में कहा 'ज्ञानरूप आत्मा का ज्ञानोपदेश', इसका मतलब है ज्ञानरूपात्मा का अज्ञान है और उपदेश से उसे अपना ज्ञान होगा। ये दोनों बातें असंगत लगती हैं। प्रकाश और अँधेरा आपस में विरुद्ध हैं तो प्रकाश पर अँधेरा छा जाये यह जैसे असंभव है ऐसे ही ज्ञानरूप आत्मा पर अज्ञान का पर्दा पड़े यह भी असंभव ही है। जैसे नमक नमकीन किया नहीं जा सकता ऐसे आत्मा ज्ञानरूप है तो उसमें उपदेश से ज्ञान पैदा भी नहीं किया जा सकता। अतः आत्मा को ज्ञानरूप मानकर उसे उपदेश देना कैसे संगत होगा? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं – **आत्मा में अज्ञान और ज्ञान दोनों होना युक्तियुक्त है।** जो ज्ञानरूप नहीं है वह अज्ञानरूप ही होगा तो उसे अज्ञान का आश्रय (अज्ञानी) कैसे माना जाये? चाहे जैसा पटु नटबटु हो, क्या अपने कंधे पर खड़ा हो सकता है? क्या अँधेरा कभी अँधेरे से ढकता है? जब अज्ञान अज्ञानाश्रय नहीं होगा तो बचा हुआ ज्ञान ही उसका आश्रय बन पायेगा। प्रकाश पर भी अँधेरा छा जा ही जाता है; क्या सूर्य को उल्लू काला नहीं समझता या ग्रहण लगने पर सभी ऐसा नहीं समझते? और सचमुच तो अज्ञान को भी आत्माश्रित नहीं कह रहे कि विरोध हो। इतना ही नहीं, अज्ञान पर यदि अज्ञान आश्रित हो तो उसे हटाने का कोई उपाय भी नहीं रहेगा, क्योंकि अज्ञान को तो ज्ञान हो नहीं सकता और ज्ञान के बिना अज्ञान हटता है नहीं। ज्ञान होने पर आश्रयभूत अज्ञान ही हट जायेगा अतः स्वनाश में प्रवृत्ति संगत न होने से वह बोध से बचता ही रहेगा। कथंचित् दुःखनिवृत्त्यर्थ स्वनाश के लिये यदि प्रवृत्त हुआ भी तो शास्त्रोक्त परमानन्दता से वंचित ही रहना पड़ेगा। इसलिये आत्मा में अज्ञान होना युक्तियुक्त है क्योंकि और कहीं हो नहीं सकता और हो तो हट नहीं सकता। रही बात विरोध की, तो हम सभी को अनुभवसिद्ध होने से 'विरोध है' यह बात ही ग़लत है! निराधार विरोधकल्पना से अनुभव का अपलाप असङ्गत है। सूर्य पर पड़ी भूछाया सूर्य से ही दीखती रहती है तो दोनों में विरोध कैसे मानें? वृत्तिज्ञान का अज्ञान से विरोध है, स्वरूपज्ञान का नहीं क्योंकि हम सभी इसमें साक्षी हैं कि हम स्वयं को सच्चिदानन्दरूप नहीं जान रहे।

ज्ञान भी आत्मा को ही हो यही संगत है, घट आदि अनात्मा को जानकारी होती है यह नितान्त अप्रसिद्ध है। बोध कहते हैं उस बुद्धिवृत्ति को जो चेतन से व्याप्त हो, चेतन जिसमें प्रतिबिम्बित हो। 'मुझे ज्ञान है', 'मैं घटादि जानता हूँ' यह हम सभी का अनुभव है। अतः 'मैं' में ही ज्ञान होता है। जो होता है वही बुद्धिवृत्ति कही जाती है। यदि वही ज्ञान हो तो 'मैं' से हटकर भी मिला करे, पर मिलती नहीं। इसलिये उनकी ज्ञानरूपता 'मैं' के संबंध से ही है। अतः कहा जाता है कि चेतन अर्थात् 'मैं' से व्याप्त वृत्ति ज्ञानपद का शक्य है। चित् से व्यभिचारी न होना ही ज्ञानशब्दित बुद्धिपरिणाम का चिद्व्याप्त होना है। कादाचित्क रहते स्वज्ञेय मात्र से सम्बन्ध होना ही उसका 'आकार' है। यद्यपि बुद्धि को द्रव्यविशेष मानकर ये व्यवस्थायें समझायी जाती हैं तथापि इन व्यवस्थाओं का अभिप्राय उक्त अनुभवों का और आत्मा का अविरोध स्थापित करने में ही है। आत्मातिरिक्त ज्ञान न होने पर भी कादाचित्क, विषयरूषित आदि अनुभव में आ रहा है, इसे ही उपपन्न करने का यह सरलतम उपाय है। प्रक्रियान्तर से भी यह संगत किया जाये तो कोई विरोध नहीं है। आत्मा की

नित्यचिद्रूपता शास्त्रप्रमाणक है। अनुभवानुसारी युक्ति भी उसे संभावित कर ही देती है। यह जो कहा था कि कोई अपने कन्धे पर खड़ा नहीं हो सकता, उस बात का भी यहाँ विरोध नहीं क्योंकि परिणममान अंतःकरण से उपहित हुआ आत्मा ज्ञानवान् बने इसमें क्या दोष है? प्रतिबिम्ब भी बिम्ब पर ही आश्रित होता है। प्रतिबिंबज्ञान बिम्बभूत ज्ञान पर आश्रित समझा जा सकता है। कपड़े की सलवट क्या कपड़े पर नहीं आश्रित होती? ऐसे ही ज्ञान भी ज्ञानरूप मुझ पर रह जाता है। भेद यह है कि सलवट कपड़े जितनी सच्ची है और मुझ पर टिका ज्ञान मुझ जितना सच्चा नहीं है। उसकी ग़ैर-सच्चाई भी शास्त्रप्रमाणक और युक्तियुक्त है। इसीलिये प्रतिबिम्ब आदि के रूपकों से आचार्य व्यवस्थायें स्पष्ट किया करते हैं।

और भी एक कारण है कि आत्मा में बोधाबोध संगत हैं - **जैसे अग्नि के निमित्त से जलादि में उष्णता होती है तो अग्नि में उष्णता मुख्य मानी जाती है ऐसे ही आत्मा के निमित्त से अन्यत्र बोधाबोध होते हैं तो वे आत्मा में मुख्य हों यही न्यायानुसारी है।** 'अन्यनिमित्तत्वाद्' का अर्थ है अन्यत्र होने वाले बोधाबोध के प्रति आत्मा क्योंकि निमित्त है इसलिये। यह सूत्रभूत उत्तर है। अन्यत्र अर्थात् अहंकारादि में। सब वादी और सामान्य लोग अहंकार से स्थूल देह पर्यन्त एक में या इनके समूह में ही अज्ञान का रहना मानते हैं और उपदेशफलभूत ज्ञान भी इन्हीं में स्वीकारते हैं। उनमें अज्ञान व ज्ञान आत्मा के अज्ञान व ज्ञान के संबंध से ही होते हैं। ज्ञान-अज्ञान 'मैं' को ही होते हैं, आगे जिसे 'मैं' समझ लिया उसे भी ज्ञान-अज्ञान होते हुए लगते हैं। उन्हे 'मैं' समझने से जब उनमें ज्ञान-अज्ञान हो जाते हैं तो उन्हे वास्तव में 'मैं' में ही मानना चाहिये क्योंकि जिस मैं के संबंध से अन्यत्र ज्ञानाज्ञान का होना कह या समझ लिया जाता है वे ज्ञानाज्ञान उस मैं में ही मुख्य अर्थात् निरुपचरित मानने पड़ेंगे जैसे अग्निसम्पर्क से जलादि में उष्णता होती है तो आग में ही उष्णता मुख्य मानी जाती है। यहाँ ज्ञान से स्वरूपज्ञान नहीं, आगंतुक ज्ञान समझना चाहिये। आगंतुक ज्ञान में ज्ञान आगंतुक नहीं, यह बात अलग है। जैसे घड़े में जगह सर्वत्र उपलब्ध आकाश से अलग नहीं, लेकिन घड़ा आगंतुक होने से वह जगह भी आगन्तुक है, उसी तरह यहाँ है।

यदि आत्मा के कारण बोधाबोध अन्यत्र हो जाते हैं तो आत्मा उन्हे वहाँ पहुँचाने के लिये कुछ करता होगा — यह शंका स्वाभाविक है। इसका समाधान करते हैं - **जैसे सूर्य की संनिधि होने-न-होने से ही संसार में दिन-रात हो जाते हैं, सूर्य कुछ करता नहीं कि दिन या रात हों, ऐसे ही आत्मा भी कुछ करता नहीं कि अहंकारादि में बोधाबोध हों।** अन्यत्र कुछ हो इसके लिये जो निमित्त बनता है उसे कुछ करना पड़े यह ज़रूरी नहीं, सिर्फ़ होना ही कहीं-कहीं काफ़ी होता है।

प्रश्न होता है कि आत्मा में यदि नित्य ही बोध है तो 'जाना था, जान रहा हूँ, जानूँगा' यों जानना काल से सीमित क्यों प्रतीत होता है? इसे भी सोदाहरण उत्तरित करते हैं-**अग्नि और आदित्य में उष्णता और प्रकाश हमेशा हैं, फिर भी क्योंकि वे अन्यत्र उष्णता या प्रकाश के होने-न-होने में निमित्त होते हैं इसलिये 'आग जलायेगी', 'सूर्य प्रकाशित करेगा' इत्यादि प्रयोगों में उनमें अनित्य उष्णता या प्रकाश का उपचार हो जाता है। इसी तरह बोध स्वरूप से नित्य है पर विषय क्योंकि काल से सीमित है इसलिये बोध में भी उस सीमा का उपचार हो जाता है।** 'सूर्य प्रकाशित नहीं कर रहा' में जैसे कारण सूर्य नहीं बल्कि योग्य प्रकाश्य का सूर्य के सामने न होना ही कारण है, ऐसे ही ज्ञेय की सीमा से फलीभूत ज्ञान सीमित हो जाता है। विषय से अहंकारादि उपाधियाँ भी समझ लेनी चाहिये, उनकी अनित्यता से भी बोध अनित्य हो जाता है। घड़े के भीतर जो जगह है उसमें पानी भरना हो तो केवल जगह नहीं, घड़ा और पानी ये दोनों भी चाहिये ऐसे ही घटस्थानीय अहंकारादि और जलस्थानीय विषय इन दोनों की अपेक्षा होने से नित्यज्ञान भी मानो अनित्य हो जाता है। यह अपेक्षा ज्ञान को नहीं है, वह निरपेक्ष ही है, किन्तु इन दोनों की अपेक्षा से ज्ञान भी सापेक्ष समझा जाता है। यद्यपि ज्ञान को कुछ जानने की ज़रूरत नहीं तथापि हम 'लोक' कुछ की अपेक्षा से ही ज्ञान को समझ पाते हैं अतः उसे विषयापेक्ष मान लेते हैं।

सदैवाऽविदितान्यत्वेप्यध्यारोपाऽपोहापेक्षा

एवं च सुखदुःखबन्धमोक्षाद्यध्यारोपो लोकस्य, तदपेक्ष्य 'तत्त्वमसि', 'आत्मानमेवावेद्' इत्यात्मावबोधोपदेशेन श्रुतयः केवलमध्यारोपाऽपोहार्थाः। यथा 'सविताऽसौ प्रकाशयत्यात्मानम्' इति तद्वद् बोधाबोधकर्तृत्वं च नित्यबोधात्मनि। तस्मादन्यदविदितात्।

अविदित न होने पर भी अध्यारोप के अपवाद की ज़रूरत

इस तरह आत्मा नित्यविज्ञान रहते भी बोधाबोध वाला हो सकता है इससे फल यह निकला - **उक्त अनिर्वाच्य ढंग से लोकों को 'मैं सुखी-दुःखी बद्ध हूँ, इस बन्धन से छूटना चाहता हूँ' इत्यादि अध्यारोप हो रखा है। इसे देखकर श्रुतियाँ 'तू ब्रह्म है' आदि उपदेश और 'उसने आत्मा को ही जाना' आदि सम्यग् बोध प्रदर्शित करती हैं जिसमें उनका प्रयोजन इतना ही है कि अध्यारोप का बाध हो जाये।** भगवान् भाष्यकार अनेक जगह स्पष्ट करते हैं कि अनुभूयमान के लिये बहुत तर्क करना व्यर्थ है; कोशिश इष्ट के लिये करनी है, जो बिना तर्क के ही उपलब्ध है उसे तर्कादि से समर्थित करना किसी प्रयोजन का नहीं। अतः बंधन क्यों-कैसे का विचार केवल इसलिये है कि उसका कारण समझ आये तो हटाया जा सके। बंधन उपपन्न करना शास्त्र या आचार्यों का अभिप्राय बिल्कुल नहीं है। मोक्ष का स्वरूप तभी संभव है जब अज्ञान बंधन हो, इसीलिये अध्यारोप बताया जाता है ताकि मुमुक्षु उपायान्तरभ्रम से भटके नहीं। अध्यारोपप्रक्रिया में कई कमियाँ नज़र आयेंगी पर क्योंकि प्रयोजन अध्यारोप हटाना है इसलिये उन कमियों को दूर करने की कोशिश व्यर्थ है। व्यर्थ ही नहीं, उन्हे दूर करना असंभव भी है। निर्दुष्ट तो केवल सत्य है, शिव है। उससे अन्य सदोष ही है। यहाँ भाष्य में सुख का भी आरोप और अपवाद कहा है। सापेक्ष अर्थात् जन्य सुख के बारे में यह समझना चाहिये। स्वरूपसुख नित्य आनंद है, वह अध्यस्त नहीं कि बाधित हो सके। अतः सुख का अपोह (व्यावृत्ति, बाध) भी पुरुषार्थ है। लौकिक—ऐहिक तथा आमुष्मिक—सुख कल्पितमात्र ही हैं। सांसारिक भोगों की वृद्धि अतएव व्यर्थ है। इस दृष्टि से जो वेदान्त को पिछड़ने का दर्शन कहते हैं वह हमारा अलंकार है; पराङ्मुखता हमारा पिछड़ना है, प्रत्यङ्मुखता ही उन्नति है। जैसे मनोराज्य बनाने वालों को लौकिक प्रगतिशील नहीं मानते ऐसे ही व्यावहारिक राज्य बढ़ाने वालों को औपनिषद आचार्य ऐसा नहीं मानते कि वे अपना सार्थक विनियोग कर रहे हैं। रजोगुण से तमोगुण को तो और भी निकृष्ट माना गया है अतः श्रौत तामसिकता के पोषक माने जायें यह असंभव है। इसलिये भाष्य में अपवादार्हों की गणना में सुख को सर्वप्रथम रखा।

एक शंका संभव है कि उक्तविधि से बोध नित्य रहते आगंतुक भी बन जाये लेकिन 'अब मैं अपने को जान रहा हूँ' इस प्रकार नित्यविज्ञानरूप आत्मा ख़ुद को ज्ञान का कर्त्ता कैसे कह सकता है? पहले यह उपपादित किया जा चुका है कि अवच्छिन्न-उपहित के भेद से ज्ञानकर्तृत्व आत्मा में संभव है किंतु वह घटादिज्ञानों के लिये व्यवस्था हो सकती है, आत्मज्ञान में वह व्यवस्था कैसे चलेगी? यहाँ तो प्रमाता का बाध होना है, अवच्छेदकों का, उपाधियों का, सभी का जब बाध होना है तो वह बाध किसे होगा? बाध है अत्यन्ताभाव का निश्चय अर्थात् एक आगन्तुक ज्ञान। जिन उपाधि आदि का अभाव समझना है उन्हीं का सहारा कैसे मिलेगा? 'तदात्मानमेवावेत्' में 'तत्' कौन है? अज्ञान तो 'लोक' को हो गया यह मान सकते हैं पर वह 'लोक' कभी भी नहीं है यह ज्ञान किसे होता है? लोक को तो हो सकता नहीं और लोकातीत को ज्ञान 'होता' नहीं। और अगर 'अहम्ब्रह्म' यह ज्ञान किसी को होना नहीं तो मोक्ष असंभव होगा फलतः पूर्वोक्त सारी व्यवस्था थोथी हो जायेगी। अर्थात् बद्ध का निरूपण तो हो गया, मुक्त का निरूपण बाकी रहा है।

इस शंका का समाधान आचार्य करते हैं - **जैसे अँधेरा हटने पर कहा जाता है 'सूर्य स्वयं को प्रकाशित कर रहा है' उसी तरह नित्य बोधरूप आत्मा बोध-अबोध का कर्ता कहा जाता है।** 'न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता' (गौ.का.२.३२) और 'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छां.८.१) इत्यादि आपाततः विरुद्ध शास्त्रवचनों का समन्वय यहाँ प्रदर्शित

है। सूर्य न दूसरे को न ख़ुद को प्रकाशित करता है। जिस पर से अन्धेरा हटा प्रतीत होता है 'उसे सूर्य ने प्रकाशित किया' यह लगता है अतः सूर्य पर से जब अँधेरा हटता है तो कह देते हैं कि अब उसने खुद को प्रकाशित कर दिया। पहले अप्रकाशित रहा हो तब तो प्रकाशित भी कर सकता है लेकिन जब पहले भी प्रकाशमान था तो 'अब अपने को प्रकाशित किया' इसका कोई मायने नहीं रह जाता। फिर भी अँधेरा हटने की अपेक्षा से ऐसा कह दिया जाता है। इस तरह आत्मा पर से अज्ञान हटता है, इसे ही कह दिया जाता है कि उसने अपने को जाना। जैसे घड़ा जाना जाता है ऐसे आत्मा नहीं 'जाना' जाता। अतः अवच्छेदकादि व्यवस्था लागू करने की ज़रूरत नहीं। 'तदात्मानम्' में 'तद्' आत्मा ही है; केवल 'अवेत्' शब्द का अर्थ अलग ढंग का है। जैसे 'मिलना' दो तरह का होता है – अप्राप्त का और प्राप्त का, ऐसे ही जानना भी दो तरह का है – अनात्मा का और आत्मा का। एवं च तत्त्वज्ञान 'किसे' होता है? – इसका एक उत्तर है – 'किसी को' नहीं होता। दूसरा उत्तर है– आत्मा 'को' होता है। दोनों जगह 'को' का अर्थ अलग है। पहले में तात्पर्य है कि देवदत्त को घटज्ञान की तरह आत्मज्ञान किसी को नहीं होता। यहाँ विषय और ज्ञान से भिन्न देवदत्त है। दूसरे में अभिप्राय है कि अविद्यानिवृत्ति आत्मा की होती है। जैसे देवदत्त को ज्ञान हुआ तो उसकी अविद्या हटी ऐसे ही अविद्या आत्मा की हटी। इसीलिये लोकातीत को ज्ञान 'होता' भले ही न हो, पर होता अवश्य है। बन्धनिवृत्ति भी आगंतुक होकर या आत्मा को विकारी और मोक्ष को अनित्य बनायेगी और या 'आत्मा की' नहीं हो पायेगी। अतः बंध की तरह ही वह भी 'आत्मा' बस इतनी ही न समझी जाये तो मिथ्या ही है। 'आत्मा' इस तरह अविद्याहानि नित्य है, अन्य सभी तरह वह अनिर्वचनीय है। अतः आत्मा नित्यमुक्त भी है और 'न वै मुक्तः' भी ठीक है।

भाष्यकार को दृष्टान्तानुसार 'बोधकर्तृत्वम्' ही कहना चाहिये था, 'अबोधकर्तृत्वम्' क्यों जोड़ दिया? उदाहरणार्थ जोड़ा है। अबोधानुभव रहते उस अबोध का 'कर्ता' जैसे आत्मा समझा जाता है वैसे ही अबोधानुभव न रहने पर वह बोध का कर्ता समझा जा सकता है, यह अभिप्राय है। 'बोध का कर्ता' इस रूप से उसे समझने की ज़रूरत अविद्याभूमि में ही है अतः उसे अविद्या के सहारे (अविद्यानिवृत्ति कहने के लिये भी पहला क़दम अविद्या है) समझ लिया जाये तो कोई हर्ज़ा नहीं। वास्तविकता 'को' समझना नहीं पड़ता, वह 'नित्यबोधात्मा' है अर्थात् नित्य है (सत्), बोध है (चित्) और आत्मा है (आनन्द)। अविद्या भावपदार्थ है अतः बोधकर्तृत्व के लिये अबोधकर्तृत्व का उदाहरण देने में इतरेतराश्रयतादि का प्रसंग नहीं।

क्योंकि आत्मा में बोधकर्तृत्व अन्य उपाधियों से होता है, ख़ुद वह विज्ञाननिरपेक्ष ही है **इसलिये आत्मा अविदित से अन्य है।**

विनाऽपि लक्षणामधिशब्दार्थः

अधि-*शब्दश्चान्यार्थे। यद्वा, यद्धि यस्याऽधि तत्ततोऽन्यत्, सामर्थ्याद्; यथा 'अधि भृत्यादीनां राजा।' अव्यक्तमेवाऽविदितं, ततोऽन्यदित्यर्थः।*

'अधि' शब्द में लक्षणा नहीं भी हो सकती है

'अधि' शब्द का अर्थ ही है अन्य। निपात अनेकार्थक होते हैं। निपात कहते हैं अव्ययविशेषों को। 'चादयोऽसत्त्वे' में 'असत्त्वे' कहकर पाणिनि सूचित करते हैं कि निपातों के अर्थ होते नहीं। कात्यायन भी कह गये 'निपातस्याऽनर्थकस्य प्रातिपदिकत्वम्' (१.२.५ वार्ति. १२)। यास्क महर्षि निपातशब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए कहते हैं 'उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति' (१.२)। अतः इनके अनेक प्रकार के अर्थ होते हैं। इसीसे व्याकरण-शास्त्री इन्हे स्वयं बिना अर्थ वाला कह देते हैं। 'अधि' के अधिक, स्वामी, ऊपर आदि अनेक अर्थ कोशों में दिये हैं। उनसे अन्य भी अर्थ हैं जैसे 'तस्याः समुद्रा अधि विक्षरन्ति' ऋचा में 'अधि' का मतलब है 'सकाशात्' (द्रष्टव्य निरुक्त ११.४.२२)। इसी तरह यहाँ अधि का अर्थ है अन्य।

ज्ञातार्थमूलक लक्षणा से अज्ञातार्थकल्पना में गौरव मानो तो लक्षणा से भी 'अधि' का अर्थ अन्य ही निकलता है यह बताते हैं – **अथवा जो जिससे ऊँचा होता है वह उससे अन्य होता है यह ऊँचा होने से ही सिद्ध है। जैसे नौकरों से राजा ऊँचा होता है तो उनसे अलग ही होता है। अतः 'अधि' से 'अलग' अर्थ लक्षित है।** 'अधि भृत्यादीनाम्' की षष्ठी 'यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी' (२.३.९) इस नियम से विरुद्ध नहीं क्योंकि यहाँ अधि का अर्थ 'ऊपर' या 'ऊँचा' है, अधिक या स्वामी नहीं। प्रायः अधि के योग में पञ्चमी या सप्तमी का प्रयोग होता है तथापि सम्बन्ध मात्र विवक्षा से षष्ठी समझनी चाहिये। **तात्पर्य है कि अविदित अर्थात् अव्यक्त से परमात्मा अन्य है।** पूर्व में अधि का यही अर्थ बताकर विस्तृत विचार प्रवृत्त हुआ था, उसी का उपसंहार करने के लिये पूर्वोक्त अर्थ फिर कह दिया है।

उभयान्यत्वोक्तेः प्रयोजनद्वयम्

(i) यद्विदितं तदल्पं मर्त्यं दुःखात्मकं चेति हेयं, तस्माद्विदितादन्यद् ब्रह्मेत्युक्ते तु अहेयत्वमुक्तं स्यात्। तथा 'अविदितादधि' इत्युक्तेऽनुपादेयत्वमुक्तं स्यात्। ***विदितमविदितं च व्यक्ताव्यक्ते कार्यकारणत्वेन विकल्पिते। ताभ्यामन्यद् ब्रह्म विज्ञानस्वरूपं सर्वविशेषप्रत्यस्तमितमित्ययं समुदायार्थः।*** **कार्यार्थं हि कारणमन्यदन्येन उपादीयते। अतश्च न वेदितुरन्यस्मै प्रयोजनाय अन्यद् उपादेयं भवतीति।** ***अतएवात्मत्वाद् न हेय उपादेयो वा। अन्यद्ध्यन्येन हेयमुपादेयं वा, न तेनैव तद् यस्यकस्यचिद्धेयमुपादेयं वा भवति। आत्मा च ब्रह्म, सर्वान्तरात्मत्वाद् अविषयम्; अतोऽन्यस्यापि न हेयमुपादेयं वा। अन्याऽभावाच्च।***

(ii) एवं विदिताऽविदिताभ्यामन्यदिति हेयोपादेयप्रतिषेधेन स्वात्मनोऽनन्यत्वाद् ब्रह्मविषया जिज्ञासा शिष्यस्य निवर्तिता स्यात्। न हि अन्यस्य स्वात्मनो विदिताऽविदिताभ्यामन्यत्वं वस्तुनः सम्भवतीति 'आत्मा ब्रह्म' इत्येष वाक्यार्थः।

विदित-अविदित से अन्य कहने के दो प्रयोजन हैं

i) जो विदित होता है वह अल्प (परिच्छिन्न), मर्त्य (विनाशी) और दुःखरूप अतः हेय होता है। जब ब्रह्म उससे अन्य कह दिया तो अभिप्राय हो गया कि वह हेय या छोड़ने लायक नहीं है। और अविदित से अन्य कहा तो यह भी बता दिया गया कि वह उपादेय भी नहीं है! अर्थात् वह न हेय है, न ग्राह्य। विदित है व्यक्त और अविदित है अव्यक्त। इन्हे कार्य और कारण रूप से समझा जाता है। इन दोनों से विज्ञानरूप परमात्मा अन्य है, उसमें कोई विशेष (कार्य-कारण-ग्राह्य-त्याज्य आदि ख़ासियतें) नहीं है। कार्य के प्रयोजन से कार्यभिन्न कारण का ग्रहण किया जाता है और ग्रहीत कार्य-कारण दोनों से अन्य होता है। अविदित से अन्य कहकर जो ब्रह्म को उपादेयभिन्न कहा उसका अभिप्राय निकलता है कि जानने वाला जो आत्मा है वह अपने से अन्य किसी प्रयोजन के लिये अपने से अन्य किसी ब्रह्म को ग्राह्य न माने, स्वात्मा को ही ब्रह्म समझे। भाष्यपंक्ति का अन्वय है 'वेदितुरन्यस्मै प्रयोजनाय, अतः (=वेदितुः) अन्यत् च (सद् ब्रह्म) उपादेयं न भवति।' कारण उपादेय होता है, कारण-अन्य कहकर अनुपादेय कहा। ब्रह्म से अन्य किसी प्रयोजन को ब्रह्म सिद्ध करेगा ऐसा मानकर ब्रह्म को ग्रहण करना व्यर्थ है क्योंकि वह ऐसा करेगा नहीं। **आत्मा होने से ही वह हेय-उपादेय दोनों नहीं है क्योंकि एक वस्तु दूसरी वस्तु का हान या उपादान कर सकती है, उसी से उसी का हान या उपादान हो जाये ऐसा नहीं हो सकता। जिस-किसी व्यक्ति का हाथ आदि उसी हाथ आदि से छोड़ा या पकड़ा जा सके यह नहीं हो सकता। आत्मा ही ब्रह्म है और सबसे भीतर (प्रत्यक्) होने के कारण वह अविषय है। अविषय होने से वह किसी दूसरे के द्वारा भी छोड़ा या पकड़ा नहीं जा सकता। वस्तुतः उससे अन्य कुछ या कोई है ही नहीं जो उसे छोड़े या पकड़े।** उभयान्य कहने का यह एक प्रयोजन हुआ कि ब्रह्म हेय-उपादेय नहीं है यह समझ आने से ब्रह्म को विषय करने के सभी साधनों को मुमुक्षु छोड़ देगा।

ii) दूसरा प्रयोजन तो स्पष्ट ही है : आत्मा से अन्य ही हेय या उपादेय होता है। ब्रह्म उन दोनों से अन्य है तो

आत्मा से अन्य नहीं हो सकता। 'मुझसे अन्य कोई ब्रह्म है जिसे जानना चाहिये – यह भावना इस उपदेश से समाप्त हो जाती है। निजात्मा से अन्य कोई वस्तु (परमार्थतत्त्व) विदित और अविदित दोनों से अन्य नहीं हो सकती। अतः आत्मा ही ब्रह्म है – यह वाक्यतात्पर्य है। प्रथम प्रयोजन साधनपरक था, यह दूसरा प्रयोजन ब्रह्मस्वरूप का निर्णय कराना है।

'इति शुश्रुमे'त्यादेरर्थः

इति शुश्रुम पूर्वेषाम् *इत्यागमोपदेशः।* 'अयमात्माब्रह्म' (मां.२), 'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छां.८.७.१), 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः' (बृ.३.४) इत्यादिश्रुत्यन्तरेभ्यश्चेत्येवं सर्वात्मनः सर्वविशेषरहितस्य चिन्मात्रज्योतिषो ब्रह्मत्वप्रतिपादकस्य वाक्यार्थस्य आचार्योपदेशपरम्परया प्राप्तत्वमाह— इति शुश्रुमेत्यादि।

'इति शुश्रुम' आदि का अर्थ

'पूर्वजों से ऐसा सुना' कहकर 'अन्यदेव' इत्यादि नित्य वेद का वचन है यह बताया क्योंकि पूर्वाचार्यों ने वेदवचन से ही समझाया था। यही एक वाक्य नहीं, यह अर्थ अन्यत्र भी कहा है : 'यह आत्मा ब्रह्म है' यह आथर्वण श्रुति है। 'जो आत्मा है वह पापरहित है' ऐसा सामवेद में बताया है। 'जो साक्षात् अपरोक्ष है वह ब्रह्म है, जो आत्मा है वह सर्वान्तर (प्रत्यक्) है' यह यजुर्वेद ने कहा है। सबके प्रति जो आत्मा है, जिसमें कोई धर्म (=विभाजक) नहीं वह केवल ज्ञानरूप प्रकाश ब्रह्म है यह बात आचार्यों के परंपराप्राप्त उपदेश से समझी है यह बताने के लिये 'पूर्वजों से ऐसा सुना' यह कहा। ब्रह्म सर्वात्मा है क्योंकि सर्वान्तर्गत जो कुछ भी है, उससे ब्रह्म प्रत्यक् ही है क्योंकि उसका स्वरूप है। विशेष 'सर्व' में आ जाते हैं, सर्व से जो प्रत्यक् होगा वह विशेषरहित होगा ही। चिन्मात्र को ज्योति इसलिये कहते हैं कि अभी हम उसे ज्ञापकरूप से ही समझ सकते हैं। वह ज्योति नहीं, 'ज्योतिषां ज्योतिः' है यह अविद्यादशा में समझना कठिन है। भाष्यकार ने कहा कि 'वाक्यार्थ' परंपराप्राप्त है। वाक्य तो परंपराप्राप्त है ही लेकिन विशेष बात है कि इसका अर्थ ब्रह्मनिष्ठों की परंपरा से ही प्राप्त हो सकता है, अन्यथा नहीं। किं च परंपरा से अर्थ प्राप्त होने का ही माहात्म्य है, वाक्यप्राप्ति का नहीं। अतः वाक्यान्तर से भी यदि यही अर्थ ब्रह्मवेत्ता की कृपा से समझ लिया जाये तो भी कल्याण में रुकावट नहीं। इसीसे पुराण-भाषाप्रबंधादि को उपदेशोपाय मानना शाङ्कर मर्यादा के अनुकूल है।

'व्याचचक्षिरे'-'शुश्रुमे' त्युक्तेरभिप्रायः

व्याचचक्षिर *इत्यस्वातन्त्र्यं तर्कप्रतिषेधार्थम्।* ब्रह्म चैवमाचार्योपदेशपरम्परयैवाऽधिगन्तव्यं, न तर्कतः प्रवचन-मेधा-बहुश्रुत-तपो-यज्ञादिभ्यश्च इति एवं शुश्रुम श्रुतवन्तो वयं पूर्वेषाम् आचार्याणां वचनं ये आचार्या नः अस्मभ्यं तद् ब्रह्म व्याचचक्षिरे व्याख्यातवन्तो विस्पष्टं कथितवन्तः, तेषामित्यर्थः। *ये नस्तद् ब्रह्म उक्तवन्तस्ते नित्यमेवागमं ब्रह्मप्रतिपादकं व्याख्यातवन्तः, न पुनः स्वबुद्धिप्रभवेन तर्केणोक्तवन्त इत्यागमपारम्पर्याऽविच्छेदं दर्शयति विद्यास्तुतये; तर्कस्तु अनवस्थितो भ्रान्तोऽपि भवतीति।।३।।*

पूर्वजों ने व्याख्या की और हमने सुना- इसका अभिप्राय

'पूर्वाचार्यों ने व्याख्या की' कहकर सूचित किया कि गुरु का सहारा लिये बिना तर्क के बल पर यह तत्त्व पकड़ में नहीं आ सकता। परंपरा से जिन्हे विद्या प्राप्त हुई उन्हीं के उपदेश से ब्रह्म समझने की कोशिश करनी चाहिये। तर्क, वेदाभ्यास, ऊहा, विविध विद्याओं का संग्रह, तप, यज्ञ आदि से ब्रह्मज्ञान असंभव है। यही बताने के लिये गुरु ने कहा कि उन्होंने भी अपने गुरुओं से ही इसे सुना-समझा है। निश्चित नियमों में बँधकर व्याप्यादि से व्यापकादि का निर्णय कर लेना यह तर्क है। आधुनिक दृष्टि से कह सकते हैं कि संगणक जो करे वह तर्क है। इसे भी विचार कहा जाता है किन्तु यह विचार का एक अंग ही है, विचार इससे विस्तृत प्रक्रिया है। संगणक विचार नहीं करता,

तर्क करता है। अतः नवीन निर्णयों पर पहुँच भी जाये तो भी उसे विचारक कहना ग़लत है। कभी-कभी ऐसा कह देते हैं कि अत्याधुनिक संगणक विचार करते हैं किन्तु है यह भ्रामक प्रयोग, वे केवल तर्क करते हैं। वस्तुतस्तु वे गणितमात्र करते हैं। सभी सूचनाओं को वे गणित के रूप में ही – उसमें भी शून्य और एक या कुछ नहीं और कुछ, इतने ही रूप में – ग्रहण करते हैं और विद्युत् के सहारे उन सूचनाओं का जोड़-घटाव ही संगणक की एकमात्र प्रक्रिया है। गणित का हल ही सूचनारूप से अनूदित होता है तो हमें लगता है कि संगणक ने विचार किया जबकि की केवल गणित गयी। ऐसा तर्क आत्मज्ञान के लिये अपर्याप्त है क्योंकि तर्क विदित-अविदित (कुछ-कुछ नहीं) के ही क्षेत्र में रहता है। वेदाक्षरों का अभ्यास एवं तात्पर्यज्ञानरहित वेदवाक्यों का आपात अर्थज्ञान भी तत्त्वबोध नहीं दे सकता क्योंकि तत्त्व वाणी का, शब्दका विषय नहीं। शब्द सीधे ढंग से उसे कह नहीं पाता, जब भी कोशिश करता है तब अत्यन्त अटपटा हो जाता है। वेदादिसच्छास्त्रों में ही नहीं अन्यान्य सन्तों ने भी जब अपने पारमार्थिक अनुभव प्रकट किये तो वे यथाश्रुत समझने लायक नहीं बन पाये। मेधा अर्थात् ऊहा या कल्पना भी ब्रह्म को विषय करने में अक्षम है। 'मेधावित्वात् प्रज्ञातिशयशालित्वादिति यावत्' (आनंदगिरि), 'मेधावी प्रज्ञाशाली' (विद्यारण्य) ऐसा बृहदारण्यक में (४.३.३३, माध्यं. ४.१.४१) व्याख्यात है अतः मेधा प्रज्ञा का पर्याय है। नयी कल्पना करने का सामर्थ्य प्रज्ञा या मेधा है। कल्पना पुरुषतंत्र होती है, मेधावी के स्वातंत्र्य से प्रयुक्त होती है। उससे वस्तुतन्त्र प्रमा कैसे होगी? निरंकुश होने से उपपत्ति, फलोन्मुखता या वचन के आधार पर भी अनेक कल्पनायें संभव हैं जिनमें 'सही' का निर्णय किसी विनिगमना से नहीं हो सकता। भाष्यकारों ने कहा है कि कल्पना निरर्गल है, यदि कोई कारुणिक यही कल्पना कर ले कि कहीं कोई कभी दुःखी है ही नहीं, तो उसे कौन रोक सकता है? अतः ऊहा भी आत्मनिश्चय में अपर्याप्त है। यही स्थिति बहुत-से शास्त्र पढ़ने की है। जैसे सैकड़ों मेंढकों के चमड़े से नगाड़ा नहीं मढा जाता ऐसे ही बहुत्वबोधक ग्रंथों को अपनी बुद्धि में घुसा लेने से अखण्डबोध नहीं होता। एकविज्ञान से सर्वविज्ञान होगा लेकिन सर्व के विज्ञान से एक का विज्ञान कहीं नहीं माना गया। तप, यज्ञादि भी अनात्मा की प्राप्ति कराते हैं, आत्मा की नहीं। आदि से कर्म, प्रजा, धन आदि का संग्रह है। ईश्वरानुग्रह से क्वचित् तत्त्वधी परम्पराप्राप्ति के बिना दीखे तो भी साधनता की बात होने पर परंपराप्राप्ति का ही कथन किया जा सकता है। कुछ लोग कहते हैं अतएव ईश्वरानुग्रहार्थ चेष्टा कर लेनी चाहिये, पारंपरीण ज्ञान से क्या? उन्हे वैसा ही करते रहना चाहिये। जिसे अनुभव हो 'मुझ पर ईश्वर का अनुग्रह है अतएव श्रवणादि के अनुकूल साधन जुटे हैं और मुझे श्रवणादि के लिये भीतरी प्रेरणा मिल रही है; वह श्रवणादि में लगे। यही क्रमसमुच्चय का सिद्धान्त है। यद्यपि ब्रह्मविद्या गुरु से मिले यह विधिबोधित है अतः दृष्ट के साथ इस प्राप्ति में अदृष्ट बल भी है तथापि यह परिसंख्या समझनी चाहिये : यदि विद्या लेनी है तो गुरु से ही ले, अन्यतः नहीं। एवं च जिसे प्राप्त हो ही गयी ऐसे दिव्य महात्मा का भी इस विधि से विरोध नहीं। वेदान्त विविध ढंगों से आत्मा को कहते हैं जिनकी एकवाक्यता कभी भी तर्कसंगत न होने से ख़ुद बैठायी नहीं जा सकती। परंपरानुसार उसे समझ लेना है, श्रद्धा से मान लेना है। फल से सत्यापित होने के कारण इसे अंधविश्वास नहीं कहा जाता। फललाभ से पहले तक भले ही श्रद्धा और अंधविश्वास का अंतर न पता चले, लेकिन फल के आभास से भी वह अंतर स्फुट हो जाता है। ज्ञानसाधना भोजन करने की तरह सद्यःफलक भी है अतः यह अंतर जानने में बहुत देर नहीं लगती। आत्मसंशयों की भी सीमा नहीं अतः ग्रंथमात्र से अपने संशय मिटाये नहीं जा सकते इसलिये भी जानकार गुरु चाहिये। सूक्ष्म लौकिक तत्त्व भी बिना किसी के दिखाये दीखना कठिन है तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्मा का क्या कहना?

'जिन आचार्यों ने उस तत्त्व का विशेष स्पष्टता से कथन किया उन्ही ने उसे विदित-अविदित से अन्य कहा अतः इसे समझाने का स्पष्टतम यही तरीका है। उन्होंने भी अपनी बुद्धिमात्र से सोची तर्कित बात हमें नहीं सुनायी थी बल्कि ब्रह्म का तात्पर्यतः बोधन कराने वाले नित्य वेद का ही व्याख्यान किया था।' यह कहकर गुरु ने बता दिया कि यह बोध वेदानुसारी है और वेद का यह अर्थ अनादिपरंपरा से मिलता है। इससे ब्रह्मविद्या की प्रशंसा भी हो गयी क्योंकि तर्क तो अनिश्चित और भ्रामक भी होता है पर परंपराप्राप्त सद्विद्या अवस्थित और यथार्थ ही होती

है। तर्क की अनिश्चितता ही उसकी उपयोगिता का मूल है।' अयमेव तर्कस्यालंकारो यद् अप्रतिष्ठितत्वं नाम' यह सूत्रभाष्य में (२.१.११) कहा है। अभिप्राय है कि तर्क का कोई पक्षपात नहीं है, हर तर्क किसी भी तर्क से सदोष लगे तो छोड़ दिया जाये यह तर्क की मर्यादा है। अतः तर्क अकेला कुछ समझाने वाला नहीं, प्रमाण को उपपन्न करने वाला होता है। अतः तर्क कभी श्रद्धेय नहीं क्योंकि यथाप्रमाण उसे परिवर्त्तित होते रहना पड़ता है। तर्कित फल प्रमाण से बाधित होगा तो तर्क पुनः पुनः परीक्षणीय हो जायेगा, उसमें निवेश-प्रवेश की, परिष्कार की ज़रूरत पड़ जायेगी। परंपराप्राप्त विद्या निश्चित रूप वाली होती है। अनन्त पीढियाँ उसे प्रयोग में ला चुकी हैं अतः वह पर्याप्त परिष्कृत होती है। लौकिक विज्ञानादि भी परंपरा से ही चलते हुए क़दम-क़दम बढ़ते हैं। क्रमागत विद्या की सर्वथा उपेक्षा कर रत्ती-भर भी प्रगति असंभव है। पूर्वजों से प्राप्त ज्ञान को प्रयोगादि से कुछ और परिष्कृत करना ही विज्ञानशास्त्र की उन्नति है। प्रक्रियाओं और उपकरणों में भी मूलभूत ढंग तो परंपरासे ही मिला हुआ रहता है, तभी हर पीढी आगे बढ़ पाती है। यदि ज्ञान के प्रथम सोपान से आरंभ करना पड़े तो मनुष्य भी पशु-पक्षियों जितना ही 'उन्नत' वैज्ञानिक हो सकेगा। ब्रह्मविद्या क्योंकि एकरूप ब्रह्म का ज्ञान है और उससे जो अविद्यानिवृत्ति होनी है वह भी एकरूप ही हो सकती है, इसलिये परंपरा से मिलती रहने पर भी इसमें कुछ नवीनता जोड़ी या कोई व्यर्थ अंश हटाया जाये यह संभव नहीं। ब्रह्मा, सनकादि, शुकदेव—इन्हे जो जैसा आत्मज्ञान हुआ, वही वैसा ही जिस-किसी भी ब्रह्मवेत्ता को होता है। संशयादि नवीन होने से उनकी निवृत्ति के उपाय अवश्य नवीन होते हैं और इसीलिये गुरुओं की तथा विविध ग्रंथों की उपयोगिता बनी रहती है, लेकिन अखण्डसाक्षात्कार एक ही है। क्योंकि पूर्वाचार्य इस ज्ञान से फल प्रत्यक्ष पा चुके हैं इसीलिये यह भ्रामक भी नहीं हो सकता जैसे तर्क हो सकता है। कुछ लोग भ्रमव्यसनी होते हैं और जैसे संसार को वेदान्ती 'दीर्घस्वप्न' कहते हैं ऐसे वे तत्त्वज्ञान को 'दीर्घभ्रम' कहना चाहते हैं। बाधापेक्षया ही भ्रम होता है। तत्त्वज्ञान का बाधक उपस्थित किये बिना उसे भ्रम कहना भ्रम-प्रमा को ही अव्यस्थित करेगा। और तत्त्वज्ञान से प्रबल कोई इसका बाधक ज्ञान न है, न किसी को मिला। अतः इसे भ्रम कहना हास्यास्पद है।

शिष्यशंका का पूरा समाधान कर दिया, आगे श्लोकपंचक से इसे ही प्रदर्शित करना है।।३।।

चतुर्थो मन्त्रः

ब्रह्मात्मत्वे शङ्का

'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' इत्यनेन वाक्येन आत्मा ब्रह्मेति प्रतिपादिते श्रोतुराशङ्का जाता – तत् कथं न्वात्मा ब्रह्म? आत्मा हि नामाधिकृतः कर्मण्युपासने च, संसारी, कर्मोपासनं वा साधनमनुष्ठाय ब्रह्मादिदेवान् स्वर्गं वा प्राप्तुमिच्छति। तत्तस्मादन्य उपास्यो विष्णुरीश्वर इन्द्रः प्राणो वा ब्रह्म भवितुमर्हति, न त्वात्मा, लोकप्रत्ययविरोधात्।

यथाऽन्ये तार्किका ईश्वरादन्य आत्मेत्याचक्षते, तथा कर्मिणः 'अमुं यजामुं यज' (बृ. १.४.३) इत्यन्या एव देवता उपासते। तस्माद्युक्तं–यद्विदितमुपास्यं तद् ब्रह्म भवेत्, ततोऽन्य उपासकः–इति।

चौथा मन्त्रः जीवब्रह्मैक्य में शंका

लौकिक, तार्किक और मीमांसक, तीनों को वाक्यार्थ अर्थात् जीव ब्रह्म के अभेद में शंका होती है। लौकिक अर्थात् अविचारशील, आपात अनुभव का अनुसरण करने वाले। तार्किक अर्थात् अपनी बुद्धि से विचार कर उसके अनुसार होने पर मानने और विपरीत होने पर न मानने वाले। मीमांसक अर्थात् ग्रन्थों पर श्रद्धालु होने से ग्रन्थीय मान्यताओं से तालमेल बैठाने के लिए विचार करने वाले और उनके विचार से जो ग्रन्थविरुद्ध हो उस बात को न मानने वाले। इसमें प्रायः समस्त जनता आ जाती है : लोग या कोई विचार नहीं करते, या ख़ुद कोटियाँ चढ़ाते हैं और या किसी ग्रंथ पर आधारित होते हैं। तीनों को अद्वैत पर शंका रहती ही है। यद्यपि वेदान्त भी मीमांसा है, इसे 'शारीरकमीमांसा' भाष्यकारों

ने ही कहा है, तथापि इसकी विशेषता है कि ग्रंथ, तर्क और अनुभव तीनों का अविरोध करते हुए तीनों से अस्पृष्ट का इसे संबल है। लोक का तर्क और मीमांसा से हमेशा विरोध है। तर्क का भी बाकी दोनों से विरोध प्रसिद्ध है क्योंकि तर्क किसी सीमा के बाद लोकानुभव से विरुद्ध होगा ही। मीमांसा का कुछ अंशों में दोनों से सामंजस्य भले ही हो लेकिन बहुतेरे अंशों में उनसे या अविरोध होगा, या असमर्थन होगा। वेदान्तमीमांसा इन तीनों से विलक्षण है। इन तीनों को जो शंका होती है वही पहले व्यक्त करते हैं – 'वह विदित और अविदित से अन्य है' इस वाक्य से जब यह प्रतिपादित हुआ कि प्रत्यगात्मा ब्रह्म है तब श्रोता को शंका हुई 'वह ब्रह्म आत्मा तो कैसे हो सकता है?'

ब्रह्म आत्मा क्यों नहीं हो सकता – यह स्पष्ट करने के लिये श्रोता के (शिष्य के) मुख से यथाप्रसिद्ध आत्मा का वर्णन कराते हैं – आत्मा वह होता है जो कर्म-उपासना कर और उनसे फल पा सकता है। वह जन्म-मरण के चक्र में अनवरत चलता है। कर्म या उपासना रूप साधन का अनुष्ठान कर वह ब्रह्मादि देवताओं को पाना चाहता है – उनका दर्शन और उनका पद भी पाना चाहता है – या स्वर्ग पाने की ही इच्छा रखता है। स्वर्ग से अलौकिक की तरह लौकिक भोग भी समझने चाहिये, उन्हे चाहने वाला आत्मा है। अब शिष्य ही ब्रह्म का प्रसिद्ध अर्थ कहता है – ब्रह्म तो उस आत्मा से अन्य ही होना चाहिये जो उपासनीय है, कर्म-उपासना से जिसे प्रसन्न किया जाता है। विष्णु, शिव, इन्द्र या सूत्रात्मा (ब्रह्मा), इनमें से कोई ब्रह्म हो सकता है, न कि प्रत्यगात्मा। अब स्वयं विरोध दिखाता है – आत्मा को परब्रह्म मानने पर न केवल सामान्य लोकानुभव से विरोध होगा वरन् बड़े-बड़े विचारकों ने प्रयत्नपूर्वक जो निश्चय किये हैं उनसे भी विरोध होगा। मैं ही नहीं, मुझसे अन्य लौकिक भी ईश्वर से आत्मा अन्य मानते हैं और इसी तरह तार्किक भी दोनों के भेद का प्रतिपादन करते हैं। तार्किकों से यदि ग्रंथाश्रित मीमांसकों को अधिक श्रद्धेय कहो तो वे भी उसी तरह 'इस देवता की पूजा करो, उस देवता को प्रसन्न करो' यों आत्मा से अन्यभूत देवताओं की ही परिचर्या करते हैं अर्थात् उपास्य-उपासक का भेद ही मानते हैं अतः विदित जो उपास्य – उसे तर्क से विदित मानें, शास्त्र से, या लोक प्रसिद्धि से इसमें भले ही विकल्प हो – वह ब्रह्म होगा, उपासक तो उससे अन्य ही होना उचित है। यह शिष्य का प्रश्न है।

यहाँ 'कर्मिणः' से मीमांसक का परामर्श इसलिये किया कि देवता को चेतन व्यक्ति मानने वाले और न मानने वाले दोनों कर्मवादियों का ग्रहण हो जाये। न मानने वाले भी जिस शब्दमयी देवता को उद्देश्य कर द्रव्यत्याग करते हैं वह यागकर्ता से तो भिन्न ही मानते हैं। वे ईश्वरवादी नहीं अतः ब्रह्मपद से भी क्वचिद् चतुर्थ्यन्त-श्रुत देवता को कह सकते हैं अथवा उपास्य को मान लेंगे जैसा तंत्रवार्तिक में माना भी है। उपास्य को उपासक से भिन्न ही वे स्वीकारेंगे इसमें संदेह नहीं, चेतन या वास्तविक मानें चाहे न मानें। वैष्णवादि विविध तन्त्र-आगमों के अनुसर्ता, योगी आदि का भी यहाँ संग्रह है। लौकिक कर्मों में ही प्रेरित करने वाले भी देश, समाज, जाति आदि किसी-न-किसी अन्य को ही उद्देश्य कर कर्मतत्पर होने को कहते हैं, उन्हे भी समझ लेना चाहिये। जो चार्वाक लौकिक भी बड़े आदर्श नहीं रखते वे ख़ुद को उपास्य (शेषी) और दूसरों को अपना उपासक (शेष) बनाने का उपदेश देकर उपास्य-उपासक का भेद तो मानते ही हैं। यदि उपास्य को असत् मानें तो भी यही स्वीकारा कि उपास्य उपासक नहीं है, अर्थात् इनका भेद ही समर्थित किया। इस प्रकार औपनिषदों से अतिरिक्त सभी को यह असंभव लगता है कि आत्मा ही ब्रह्म है। जो कुत्रचित् महात्मा प्रसिद्ध हो गये हैं जिनके वचन अद्वैततात्पर्य वाले मिलते हैं वे तो औपनिषद ही हैं क्योंकि ब्रह्मविद्या ही उपनिषत् का वाच्यार्थ है।

समाधत्ते

तामेतामाशङ्कां शिष्यलिङ्गेनोपलक्ष्य, तद्वाक्याद्वा, आह—मैवं शङ्किष्ठाः—

मंत्र से समाधान

शिष्य के कथन से या मुखाकृति आदि से उसकी यह शंका समझकर समाधान करने के लिये आचार्य ने

कहा - 'ऐसी शंका मत कर।' चौथे मंत्र से (आठवें मंत्र तक) समझाते हैं कि ऐसी शंका क्यों न करे।

मन्त्रः

यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।४।।

मन्त्रार्थ

यत् = जो **वाचा** = वाणी से **अनभ्युदितम्** = अप्रकाशित है, **येन** = जिससे **वाग्** = वाणी **अभ्युद्यते** = प्रकाशित या प्रयुक्त होती है, **तद्** = उसे **एव** = ही **त्वम्** = तुम् **ब्रह्म** = निःसीम व्यापक चेतन **विद्धि** = समझो, **यद्** = जो **इदम्** = यह **उपासते** = उपासित होता है उस **इदम्** = इस उपाधिविशिष्ट को **न** = ब्रह्म मत समझो।

मन्त्रपंचक यही स्पष्ट करेगा कि वाग् आदि से उनका प्रेरक अगम्य ही है अतः जो कुछ इनसे गम्य है वह इनका प्रेरक नहीं, ब्रह्म नहीं। 'यत्' से उसका परामर्श न केवल प्रकृतता बताने के लिये है वरन् प्रसिद्धि भी बताने के लिये है। उपनिषदों में और विद्वानों में वागनभ्युदित ब्रह्म प्रसिद्ध है यह तात्पर्य है। किं च सभी निरर्गल, स्वतंत्र, अनंत होना चाहते हैं अतः यह तत्त्व सर्वप्रसिद्ध ही है। वाणी चाहे शास्त्रीय हो या लौकिक, ब्रह्म को ऐसे नहीं बता पाती जैसे सींग पकड़कर गाय-भैंस बता दी जाती है। वाणी उस आत्मा की सत्ता से ही अपना व्यवहार करने में सक्षम बनी रहती है, वही इसका प्रेरक है, नियंता है। 'केनेषितां वाचमिमां वदन्ति?' का यह उत्तर हो गया। ब्रह्म पद के प्रयोग से उसकी अपरिच्छिन्नता एवं च मोक्षरूप पुमर्थता बतायी। 'त्वम्' से शिष्य को याद दिलाया कि जिसे वह निश्चित रूप से अपना स्वरूप समझता है, वही समझने वाला है। युष्मत्पद (तुम) सुनकर प्रत्यक्चेतन का (मैं का) ही बोध होता है। किंच 'तदेव त्वं ब्रह्म विद्धि'- उसी त्वम्पदार्थ को ब्रह्म समझो, यह भी अन्वय है। अतः शंकरानंदजी ने 'त्वम् अस्मच्छिष्यो ब्रह्मणो भेदरहितः' व्याख्या की है। लक्षणविचार से त्वम्पदलक्ष्य और तत्पदलक्ष्य में कोई अन्तर रह नहीं जाता। स्वाराज्यसिद्धि में श्रीगङ्गाधरेन्द्र सरस्वती जी ने इसी प्रक्रिया को अपना कर महावाक्य की विस्तृति अवतरणिका बनायी है। 'तमेव विदित्वा', 'आत्मानमेवावेत्', 'यमेवैष वृणुते', 'पुरुष एवेदं विश्वम्...... एतद्यो वेद','तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि', 'स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यत्', 'भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः', 'तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्', 'यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म स वै वेदितव्यः', 'मामेव विजानीहि', 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः', 'एतं वै तमात्मानं विदित्वा', 'तमेव मन्य आत्मानाम्' 'एकधैवानुद्रष्टव्यम्' 'अहमेव वेद्यः' इत्यादि श्रौत-स्मार्त अवधारणों की तरह यहाँ भी अखण्ड ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ भी न जानने को बताने के लिये एवकार का प्रयोग है। ब्रह्म से अन्य न ख़ुद को और न किसी दूसरे को जानना है क्योंकि वह सब विदित के क्षेत्र में है। वह ब्रह्म नहीं है। जहाँ ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय का भेद है वह उपास्य हो सकता है पर ज्ञेय ब्रह्म नहीं। अतः उसे ही जानना है। इससे पराक् को ज्ञेय कह रहे हों ऐसा नहीं, त्वमर्थ को ही कह रहे हैं। त्वम् के अकृत्स्न (बृ.१.४.७) रूपों को जानने से मनाकर उसी के वास्तव रूप को जानने के लिये कहा जा रहा है। दीपिकाकार नारायण ने स्पष्ट किया 'चक्षुषश्चक्षुरित्यादिश्रौतव्यवहारान् व्युदस्य आत्मानमेव निर्विशेषं ब्रह्म विद्धि इति 'एव'-शब्दार्थः।' प्रारंभ करना है साक्षी से अर्थात् साक्षिता का उल्लेख रखते हुए। लेकिन साक्षिता भी तो कल्पित ही है अतः उसे भी छोड़ना है। श्रोत्रादि का प्रेरक, उनका अधिष्ठान जब समझ में आ जाये तब प्रेरक या अधिष्ठान के रूप में उसे याद रखना व्यर्थ है। घर का सही पता चलने के बाद कौवे को क्यों याद रखना! श्री नारायण ने ही कुछ श्लोक भी दिये हैं जो निष्कृष्ट आत्मदेव को स्पष्ट करते हैं। आकार के सहारे चिन्तनादि तभी तक है जब तक आकार वाले की समझ नहीं आयी -

'अज्ञातशिवतत्त्वानामाकाराद्यर्चनं कृतम्। योजनाध्वन्यशक्तस्य क्रोशाध्वा परिकल्प्यते।।' शिव ही पूज्य हो जायें तो चढ़ाने योग्य फूल ये हैं -

'बोधः साम्यं शम इति पुष्पाण्यग्राणि तत्र च । शिवं चिन्मात्रममलं पूज्यं पूजाविदो विदुः।।

ज्ञान, समता और शान्ति, ये श्रेष्ठ पुष्प हैं। ज्ञान अर्थात् शिवभाव में स्थिति, समता अर्थात् उससे अप्रच्युति और शान्ति अर्थात् उससे प्रतीयमान व्यवहार में शिवतत्त्व का प्रतिबिम्बन। एव से अवधारण सिद्ध होने पर भी 'नेदम्' आदि से उसे स्पष्ट करना सभी भेदों के निषेध के प्रयोजन से है। अर्थात् उसका अंशादि होकर भी कुछ विज्ञेय नहीं है। किंच एवकार का कोई अन्य अन्वय – 'त्वमेव विद्धि, विद्ध्येव' – न कर लिया जाये इसलिये भी श्रुति ने 'नेदम्' आदि वाक्य रख दिया है। यदि 'नेदम्' आदि ही कहते, एवकार न कहते तो उपास्य का ही निषेध होता, उपासक, अनुपास्य आदि का न हो पाता, अतः एव भी कहा है। एक इदम् से उपास्य और दूसरे से उपासना को कहा यह भी समझना चाहिये तथा 'उपासते' से उपासकों का उल्लेख जानना चाहिये। तीनों ब्रह्म नहीं हैं। इस प्रकार पूर्वोक्त अर्थ का स्पष्टीकरण इस तथा आगे के मन्त्रों में है।

मन्त्रपञ्चकप्रयोजनम्

यद्वाचेति मन्त्रानुवादो दृढप्रतीतेः। 'अन्यदेव तद्विदिताद्' इति योऽयमागमार्थो ब्राह्मणोक्तः, अस्यैव द्रढिम्ने मन्त्रा 'यद्वाचे' त्यादयः पठ्यन्ते।

चौथे से आठवे मंत्रों तक का प्रयोजन

'यद्वाचा' आदि मन्त्रों से पूर्वोक्त तथ्य को फिर से कहा जा रहा है ताकि अर्थ का दृढ निश्चय हो जाये। 'अन्यदेव' आदि वाक्य से जो यह रहस्यभूत शास्त्रतात्पर्य ब्राह्मणग्रन्थ ने बताया, उसी की दृढता के लिये ये मन्त्र ब्राह्मण में निविष्ट हैं। प्रायः ब्राह्मणग्रंथों की रीति है कि विषय कह कर उसी के बारे में कुछ मंत्र भी पढ़ देते हैं। कहीं मंत्र संहिता का होता है जैसे बृहदारण्यक में (२.५.१९) 'रूपं रूपं प्रतिरूपः' आदि ऋग्वेद का (६.४७.१८) मंत्र है, वहीं (बृ.४.४.१०) 'अन्धं तमः' इत्यादि ईशवाक्य माध्यंदिनसंहिता का (४०.९) मंत्र है, ऐतरेय में (२.१.५) वामदेव का वाक्य ऋङ्मंत्र (४.२७.१) है। अन्यत्र ब्राह्मण द्वारा उक्त मंत्र संहिता में नहीं होता है। मंत्र-ब्राह्मणात्मक एक ही वेद है अतः कहीं स्ववचन का उद्धरण है, कहीं नहीं है। यहाँ के 'यद्वाचा' आदि मंत्र कहीं के उद्धरण नहीं हैं, यहीं वेद उन्हे सुना रहा है। पुनरुक्ति तार्किकों को दोष लगती है, श्रौतों को तो उससे अर्थ की महत्ता ही प्रतीत होती है, 'अहो दर्शनीया! अहो दर्शनीया' यों कहने से दर्शनीयता का वैशिष्ट्य ही पता चलता है। अतएव पुनरुक्ति से अर्थ का निश्चय पक्का हो जाता है। किं च वेद को आलस्य (जामिता) नहीं है अतः सूक्ष्म तत्त्व को बार-बार तरह-तरह से बता देता है। शिष्यप्रश्न के शब्दों का अनुसरण कर उत्तर देने से स्पष्टता अधिक होगी ऐसा श्रुति का मानना है।

'वाचाऽनभ्युदितम्' इत्यस्यार्थः

यत् चैतन्यमात्रसत्ताकं *यद् ब्रह्म* वाचा *शब्देन* अनभ्युदितम् *अनभ्युक्तमप्रकाशितमित्येतत्।*

'वाणी से अप्रकाशित' का अर्थ

'यत्' अर्थात् जो सम्पिण्डितसच्चिद्रूप ब्रह्म है वह शब्द द्वारा पूरी तरह कहा नहीं जाता, उससे प्रकाशित नहीं होता। स्वप्रकाश ब्रह्म का 'होना' कोई उसके स्वप्रकाशस्वरूप से अन्य नहीं। निरपेक्ष ज्ञान ही उसकी सत्ता है। यद्यपि 'उसका होना ही ज्ञान है' यह भी कहना ठीक है तथापि ज्ञान में स्वप्रकाशता आसानी से समझ आती है अतः सद्-आनन्द को ज्ञान में समेटना सरल हो जाता है। प्रत्यक्प्रकाशरूप से आत्मचिन्तन संभव है, ऐसे प्रत्यक्-सद् रूप से चिन्तन सरल नहीं। विषयों में जैसे विषय छोड़कर सत् की दृष्टि बन सकती है ऐसे अपने में बनना मुश्किल है। अपने में ज्ञानदृष्टि बनाने में उतनी कठिनायी नहीं। अतः सत्ता व आनंद को ज्ञानरूप कह दिया जाता है। वस्तुतः तो अखण्ड आत्मा ही सत्ता-ज्ञान-आनंद है। यहाँ भाष्यकारों ने 'चैतन्यमात्रसत्ताकम्' इसीलिये कहा कि श्रोत्र के श्रोत्र आदि रूप से चैतन्यमात्र को उपस्थित कर चुके हैं अतः उसे ही उसकी सत्ता भी समझ लेना है। किं च इस रीति में लाभ यह है कि सत्ता व आनंद को अलग

से सिद्ध नहीं करना पड़ेगा। स्वप्रकाश सत्ता या स्वप्रकाश आनंद सिद्ध करना मुश्किल है। जब सत्ता व आनंद को ज्ञानरूप कह दिया तो ज्ञानस्वप्रकाशता से ही वे भी सिद्ध हो गये। किं च लौकिक सत्ता भी ज्ञानमात्ररूप बता देने से दृष्टिसृष्टि का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। इन्ही सुविधाओं से आचार्य गौडब्रह्मानंद ने न्यायरत्नावली में 'असत्त्वापादकाज्ञानशून्या चिद्-अस्तित्वम्। (असत्त्वापादकाज्ञानविशिष्टा चिद्-असत्त्वम्।)' यह अस्तित्वादि का लक्षण कर दिया है। अतएव अनानन्दतापादक आवरण की मान्यता प्रसिद्ध है। प्रकृत भाष्य इस दृष्टि को सूचित करता है।

'वाचा' से इन्द्रिय और शब्द दोनों समझ लेने चाहिये। शब्द द्वारा ही इन्द्रिय कथन या प्रकाशन करती है। 'अभ्युदित' से बताया कि उदित भले ही हो जाये! औपनिषद तो वह है ही। वाच्य न होने पर भी तात्पर्यवृत्ति से बता दिया जाता है। 'कहने' का मतलब अगर केवल ग़लत-फ़हमी हटाना है तब तो शब्द 'किसी तरह' उसे कह देता है लेकिन अगर उसका अर्थ है विषय पर कुछ रोशनी डालना अर्थात् उसके बारे में कुछ बताना, तब शब्द उसे किसी तरह नहीं कहता। यह स्पष्ट करने के लिये 'अप्रकाशितमित्येतत्' यह व्याख्या की।

वाक्पदार्थः

वाचा — **वागिति जिह्वामूलादिष्वष्टसु स्थानेषु विषक्तम् आग्नेयं वर्णानामभिव्यञ्जकं करणम्, वर्णाश्च अर्थसङ्केत-परिच्छिन्ना एतावन्त एवंक्रमप्रयुक्ता इति; एवं तदभिव्यङ्ग्यः शब्दः पदं वागित्युच्यते, 'अकारो वै सर्वा वाक् सैषा स्पर्शान्तःस्थोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति' (ऐ.आ.२.३.६.१८) इति श्रुतेः। 'मितममितं स्वरः सत्यानृते' (ऐ.आ.२.३.६) एव विकारो यस्याः। तया वाचा—पदत्वेन परिच्छिन्नया करणगुणवत्याऽनभ्युदितमप्रकाशितमनभ्युक्तम्।**

'वाक्' का अर्थ

जिह्वामूल आदि आठ स्थानों पर आश्रित, अग्निदेव द्वारा अधिष्ठित, वर्णों को अभिव्यक्त करने वाला करण एवं 'इतने, इस क्रम में कहे, इस अर्थ को बतायेंगे' ऐसे नियम से बँधे वर्ण तथा उनसे अभिव्यक्त होने वाले पद; ये वाक्-शब्द के अर्थ हैं। जिह्वामूल, दाँत, नाक, ओठ, तालु, सिर, कण्ठ और हृदय - इन आठ स्थानों पर वागिन्द्रिय आश्रित रहती है। यद्यपि पाणिनीय ढंग में हृदय या कण्ठ से गिनना प्रारंभ करते हैं तथापि प्रातिशाख्यों में जिह्वामूल से भी आरंभ मिलता है। (द्र. वाजसनेयी प्राति. १.६५)। इन स्थानों पर अर्थात् इन अंगो से अवच्छिन्न आकाश में। इससे भाष्यकार सूचित करते हैं कि वागिन्द्रिय का उपादान आकाश है। उस करण का देवता अग्नि है। जो तो 'तेजोमयीवाक्' ऐसी छान्दोग्यश्रुति है उसका तात्पर्य है कि तेज का उस इंद्रिय पर उपकार है अर्थात् तैजस वस्तुओं के सेवनादि से करण मे बल बढ़ता है। मन की पंचभूतकार्यता होने पर भी अन्नमयत्व तथा प्राण भी पांचभौतिक होते हुए उसका जलमयत्व भी ऐसे ही समझना चाहिये। सिद्धान्तबिन्दु में यह स्पष्ट है। अकेली इन्द्रिय नहीं, उससे अभिव्यक्त होने वाले वर्ण भी यहाँ विवक्षित हैं। वर्ण से मतलब है शब्द।

शब्द के विषय में मीमांसकादि का मत है कि उच्चारणप्रयत्न से ध्वनि उत्पन्न होकर शब्द को व्यक्त करती है। अकार आदि वर्णों से अतिरिक्त शब्द कुछ नहीं है। 'ये तीन-चार आदि वर्ण इस क्रम में हों तो यह अर्थ समझा जाये' ऐसा सामर्थ्य-विशेष उनमें है यह इसीसे पता चल जाता है कि उस क्रम में सुने वे वर्ण वह अर्थ प्रतीत करा देते हैं। ज्ञान करा पायें इसके लिये यह ज़रूरी है कि हम यह समझें कि वे क्या बताने के सामर्थ्य वाले हैं। कुछ अन्यों के विचार से यद्यपि क्रमादिविशिष्ट वर्ण ही शब्द हैं तथापि वे उच्चारण करने पर उत्पन्न होते हैं अर्थात् अनित्य हैं तथा उनमें कोई निहित सामर्थ्य नहीं कि अमुक अर्थ बतायें वरन् जब कोई यह निश्चित कर देता है कि अमुक क्रम वाले वर्ण अमुक अर्थ से सम्बद्ध समझे जायें तब उस क्रम से सुनने पर उनसे वह अर्थ याद आ जाता है। यह निश्चित करने वाला ईश्वर है या जीव, या दोनों, इसमें मतभेद है। यहाँ भाष्यकार ने 'संकेतपरिच्छिन्नाः' से संभवतः ध्वनित किया है कि मीमांसकों की अपेक्षा

अन्यों का मत अधिक व्यावहारिक है। इससे वेदार्थ में गड़बड़ी की संभावना नहीं क्योंकि वेदार्थ भी परंपरानुसार ही समझना है व परंपरा अनादि है।

वैयाकरणों ने स्फोट की कल्पना की है। वे मानते हैं कि वर्णों से शब्द अभिव्यक्त - स्फुट - होता है जो अर्थ को बताता—स्फुट करता—है अतः वह शब्द स्फोट कहा जाता है। वर्ण अनेक हैं किन्तु प्रतीति होती है यह एक पद या एक वाक्य है। यहाँ 'एक' यह जो ज्ञान है, जिसका बाध नहीं होता, इसका विषय वर्ण हो नहीं सकते, क्योंकि वे एक नहीं अनेक हैं, अतः एक शब्द मानना चाहिये जो इस ज्ञान का यथार्थ विषय है। यदि इस मत में रुचि हो तो भाष्यकार कहते हैं कि इससे समझा शब्द भी यहाँ वाक् कहा गया जान लेना। इस प्रकार दोनों प्रसिद्ध मतों से शब्द का अभिप्राय संग्रहीत कर लिया।

सूत्रभाष्य में स्फोटवाद का विस्तृत खण्डन है, तब यहाँ उसे अनुमति कैसे? नित्य सत्य स्फोट का ही वहाँ खण्डन है, यदि अनित्य मिथ्या स्फोट मानने से 'एक शब्द, एक वाक्य' आदि बुद्धियों की व्यवस्था संगततर हो तो उसे अनुमति देने में क्या बिगड़ता है? कुछेक वृद्धवेदान्ती स्फोटवादी हो भी चुके हैं; उन्होंने उसे ब्रह्मरूप माना है, यह बात अलग है। यहाँ भाष्यकार स्फोट-समर्थन उसे ब्रह्म या नित्य मानकर नहीं कर रहे। वर्णनित्यता जैसे 'वही यह गकार है' आदि से सिद्ध है वैसे ही पदनित्यता 'वही यह घटपद है' आदि अनुभव से सिद्ध है। किंतु नवीन पद भी सुने जाते हैं और वाक्य तो प्रायः नवीन ही सुनने में आते हैं। अतः यह नित्यता आत्यन्तिक नहीं है। वर्ण भी अन्यान्य भाषायें सुनें तो नवीन सुनाई देते ही हैं जहाँ प्रत्यभिज्ञा नहीं होती। अतः वर्णनित्यता भी आत्यंतिक नहीं। वस्तुतः ध्वनि से पृथक् शब्द बुद्धिस्थ ही है जिसे प्रत्यभिज्ञादि विषय करते हैं, वह शब्द चाहे वर्ण हो, पद या वाक्य। अतः बहुत्र एक पद है या दो, इसका निर्णय कठिन होता है; ऐसे ही वाक्यों में होता है। कई बार किसी को जो एक पदादि लगता है उसी समय दूसरों को दो पदादि स्पष्ट सुनाई देते हैं। काव्यादि में यदि दोनों अर्थ संगत हों तो विनिगमना भी नहीं रह जाती कि एक ही मानें या दो ही। चित्रकाव्यादि लिखने वाले स्वयं भी कभी ऐसे पद लिखते हैं जिन्हे एक भी मानना है, दो भी। तो क्या यहाँ दो पदस्फोट माने जायेंगे? भाष्यकारों का अभिप्राय इतना ही है कि लोक में वर्णों से पदों को पृथक् माना जाता है तथा सर्वत्र सुने जाने वाले वर्ण प्रायः वही होने से वर्णों में प्रत्यभिज्ञा भी लोगों को होती है जिससे वर्ण को स्थायी माना जाता है। ध्वनि में भेद होने पर भी, कदाचित् तो दोष होने पर भी वर्ण सही पहचान में आ जाता है अतः ध्वनि से उसे अलग मानने में कोई दोष भी नहीं। करण ध्वनि उत्पन्न करता है अतः लोगों की आवाज़ में अन्तर मिलता है, वर्णों में नहीं। यही कहते हैं 'इनका 'क' बोलने का ढंग अलग है', यह नहीं कि 'इनका 'क' ही अलग है!' अतः करणजन्य ध्वनि से (या ध्वनि द्वारा करण से) वर्ण अभिव्यक्त होता है यह समझना सरल है। फिर उन्हे क्रमविशेष में कहने-सुनने से अर्थविशेष का बोध हो अतः वे अर्थों के लिये संकेतित हों यह भी संगत है। विशेष अभिलाषा हो तो कुछ संकेत साक्षात् ईश्वर के किये हुए माने जायें तो भी हर्ज नहीं। आख़िर कुछ व्यवधान से तो सर्वत्र ईश्वर को करने वाला मानना ही है! 'नग' 'नाग' - यहाँ वर्णक्रम वही है पर शब्द अलग हैं, अतः क्रमविशिष्ट वर्णों से शब्द को भी अलग माना जाये तो कोई आपत् नहीं। विशिष्ट क्रम में आये वर्ण शब्द को अभिव्यक्त कर देंगे। जैसे श्लेषादि एक शब्द अनेक अर्थ व्यक्त करता है ऐसे ही एक वर्णक्रम भी अनेक शब्द व्यक्त करे तो विरोध क्यों होगा? वास्तविक मानने पर ही ये सब विरोध हो सकते हैं, यथाव्यवहार मानने पर इन्हे उपस्थित करना व्यर्थ है। इस दृष्टि से भाष्यकारों ने वर्ण तथा स्फोट दोनों वादों का सामंजस्य सूचित किया है।

अथवा क्रमिक वर्ण रूप उच्चरित शब्द और पद अर्थात् बुद्धिस्थ शब्द, इन दोनों को भी करण सहित वाक् समझना चाहिये, यह तात्पर्य है। वर्ण तो ध्वनिरूप हैं जो श्रोत्रग्राह्य हैं। उनमें पदत्व, और पदघटकत्वादिवर्णत्व, यथासंस्कार समझा जाता है। 'अमुक ध्वनिसमूह शब्द है' यह संस्कारविशेष बुद्धिस्थ शब्द है। उस समूह को सुनकर वह शब्द उद्बुद्ध होता है और यथासंकेतित अर्थ को याद दिलाता है। शब्द मिलकर वाक्य भी बुद्धि में बन जाते हैं और शब्दार्थों का

सम्बद्धरूप जो वाक्यार्थ है वह भास जाता है, पता चल जाता है। शब्द से अर्थ याद आने में ही संस्कारों के अंतर से अंतर पड़ता है तो वाक्यार्थ समझने में कहना ही क्या! हर अर्थ से जुड़ी स्मृतियाँ ही नहीं तात्कालिक सात्त्विकतादि से भी वाक्यार्थबोध में अन्तर आता है।

वस्तुतः शब्द कहते हैं ज्ञान को। संस्काररूप कुछ ज्ञान हैं जिनका अर्थसम्बन्ध व्यवहारादि से निर्धारित है। ध्वनि सुनकर वह ज्ञान (संस्कार) उद्बुद्ध हो जाता है इसी से ध्वनि भी शब्द कह दी जाती है। बिना ध्वनि के ही अन्य साधनों से भी वे संस्कार उद्बुद्ध होते हैं तो भी शाब्दबोध होता है। अतएव वृद्धों ने कहा है कि सफेदी देखकर, हिनहिनाना सुनकर और खुरों की टाप सुनकर 'सफेद घोड़ा दौड़ रहा है' यह शब्द ज्ञान होता है। अतएव लिपि से या अन्यान्य तरीकों से कण्ठादि आघात के बिना और ध्वनि के भी बिना पद समझ आते हैं जिनसे वाक्यबोध हो जाता है। इस विषय में स्वयं श्रुति प्रमाण है : बृहदारण्यक में वाक् का काम बताया है अभिधेय का निर्णय कराना 'यः कश्च शब्दो वागेव सा एषा ह्यन्तमायत्ता' (बृ.१.५.३)। भगवान् सुरेश्वर इसे समझाते हुए कहते हैं 'यश्चापि प्रत्ययात्मकः वागेव स इति ज्ञेयः' (श्लो.१२९-३०)। वाक् से यहाँ अभिप्राय विषय-बोधक ज्ञान से है, वह कण्ठादि से उत्पन्न हो या अन्यथा हो। आनन्दगिरि स्वामी ने इस बात को वहीं स्पष्ट किया है 'कण्ठादिना कोष्ठनिष्ठवायोः संयोगादिसमुत्थो नादाद्याकारेण यश्शब्दो यश्च प्रत्ययः तस्माद् इन्द्रियान्तरैश्चोत्पन्नः सर्वोऽपि वागेवेत्यर्थः।' प्रकाश्यमात्र (रूप) का जो प्रकाशक (नाम) है वह वाक् है। अतः शब्दप्रमारूप (='शब्द' कही जाने वाली जो विषयप्रमापिका वृत्ति है) वाक् समझ लेनी चाहिये। वाक् का इतना ही कार्य है कि अर्थ का ज्ञान हो, अन्य कार्य नहीं। वर्णादिरूप शब्द भी इसीलिये वाक् है कि वह अर्थबोध कराता है, अन्यथा नहीं। अतएव वर्णादि से विलक्षण घण्टारव या मेघगर्जन भी जब अर्थविशेष का ज्ञापक होता है तब वह भी शब्द है यह उक्त श्रुति के भाष्य में कहा है 'यः कश्च लोके शब्दो ध्वनिस्ताल्वादिव्यंग्यः प्राणिभिर्वर्णादिलक्षणः, इतरो वा वादित्रमेघादिनिमित्तः, सर्वो ध्वनिर्वागेव।' जैसे 'घट' सुनकर पदार्थविशेष समझा जाता है ऐसे ही शिक्षाद्वारा वाद्यध्वनि सुनकर भी पदार्थविशेष समझे जाते हैं और इसी प्रक्रिया से वाक्यार्थ भी समझा जाता है। अतः वार्तिककार ने निर्णय किया कि 'रूप' का प्रकाशक जो है वही शब्द है 'मनोऽन्तःपाति निखिलं रूपं यद्वद्विवक्ष्यते। तस्य प्रकाशकस्तद्वत् सर्वः शब्दो विवक्ष्यते।।' (श्लो.१३५)।

पदार्थ से साक्षात् सम्बद्ध ज्ञान शब्द है। साक्षात् अर्थात् पदार्थ-सम्बद्ध होने के लिये अन्य-निरपेक्ष, या व्यापारान्तर के बिना पदार्थबोध का हेतु। शब्द 'पदार्थ का ज्ञान' नहीं है; वह पदार्थ से सम्बद्ध है तथा पदार्थ के ज्ञान को उत्पन्न कर सकता है, करे यह ज़रूरी नहीं। हमें घड़ा दीखता है; यहाँ वास्तव में 'घड़ा' नहीं दीखता किन्तु जो दीखता है उससे सम्बद्ध है 'घड़ा' यह ज्ञान। घड़ा देखकर भी 'घड़ा' शब्द उपस्थित हो सकता है। अतः यह अनुमानरूप नहीं है। वह्नि देखकर 'धूम देख रहा हूँ', ऐसी प्रमा नहीं होती और न धूम देखकर 'वह्नि देख रहा हूँ' यही होता है। किन्तु देखने और सुनने (पढ़ने आदि) पर 'घड़ा जान रहा हूँ' यही प्रमा हो जाती है। इसीलिये शब्द प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों को विषय कर लेता है। प्रमाणान्तर से (या केवल उपायान्तर से) अर्थ जानकर उसके लिये 'शब्द' बुद्धि में निर्धारित हो जाता है।

शब्द केवल पदार्थ नहीं वाक्यार्थ भी बताता है। पदार्थों का सम्बद्ध रूप प्रायः वाक्यार्थ होता है और जहाँ विवक्षित पदार्थ अत्यन्त अभिन्न हों वहाँ अखण्ड या प्रातिपादिकार्थमात्र वाक्यार्थ होता है। पदों से पदार्थ और पदार्थसम्बन्ध दोनों उपस्थित हो जाते हैं अतः पदार्थों का सम्बद्धरूप भी पदों से जान लिया जाता है। इसी से नवीन वाक्यार्थों का निर्माण होता रहता है, इसलिये भी शब्द को अनुमानादि में नहीं गिन सकते। अखण्डार्थ स्थल में पद सीधे तो ससम्बन्ध पदार्थों का बोध कराते हैं किन्तु अयोग्यतावश जब उपस्थित पदार्थ परस्पर सम्बद्ध नहीं हो पाते तो 'वाक्य का कोई संगत अर्थ होना चाहिये' इस मान्यता से पदार्थसम्बन्धी कोई अर्थ उपस्थित होता है और यह प्रक्रिया तब तक चलती है जब तक वाक्य उपपन्न न हो जाये। जिस अर्थ के उपस्थित होने पर वाक्य उपपन्न होता है उसी तात्पर्य से पद कहे गये हैं यह समझ लिया जाता है। इस अभिप्राय से वहाँ वाक्य पदस्थानीय रह जाता है जैसे समासादि पद वाक्यस्थानीय हो जाते हैं। और इसीलिये

लक्षणा के लिये तात्पर्यनिर्णय ज़रूरी होता है।

तैत्तिरीयोपनिषत् में (२.३) भाष्यकारों ने वेदों को मनोवृत्तिरूप मानकर शब्द की ज्ञानात्मकता का ही प्रतिपादन पोषित किया है। वेदनित्यत्व के लिये वहाँ वे वृत्तिनिष्ठ आत्मचैतन्य पर्यन्त गये हैं, वृत्तिरूप (शब्दरूप) वेद को नित्य वे नहीं मानते हैं। अतः वेदानुपूर्वी की नित्यता इतनी ही है कि वे हमेशा ऐसी ही आनुपूर्वी वाले सीखे-समझे जाते हैं और यह परंपरा अनादि है क्योंकि हर सृष्टि में ईश्वर आधिकारिकों को इसका ज्ञान देते हैं। यह तृतीयसूत्र भामती आदि में और स्फुट किया गया है। आनुपूर्वी अन्यथा हुई इसमें प्रमाण न होते हुए उपलब्ध आनुपूर्वी ऐसी ही मिलना - यही इसके लिये पर्याप्त है कि आनुपूर्वी हमेशा ऐसी है इस पर श्रद्धा की जाये। शाखान्तरों में आनुपूर्वी का अन्तर भी अतएव सदा ऐसा रहा यह मानने में कोई अनुपपत्ति नहीं। स्वतः प्रामाण्य मानने के कारण भाष्यकार वेदानुपूर्वी के अपौरुषेयत्व या अनादित्व पर निर्भर नहीं करते। वेदजन्य ज्ञान अबाधित है तो प्रमा है यह मानना संगत है। कर्म के प्रसंग में ग्रंथान्तरविरोध होने पर श्रद्धा ही विनिगमनाहेतु रह जाये यह हो सकता है किन्तु उपनिषदों के अर्थ में ग्रथान्तरविरोध भी अकिंचित्कर है क्योंकि उपनिषदों से अपरोक्ष प्रमा हो जाती है। वस्तुतः वेद से आत्मप्रमा होने के कारण ही वेद के कर्मवाक्य भी श्रद्धास्पद हो जाते हैं अन्यथा वेद यदि परोक्षैकविषयक होते तो धर्मविषयक - अर्थात् अदृष्टफलविषयक - ग्रंथान्तरों की अपेक्षा इनमें केवल प्राचीनता ही विशेष होती। वेदप्रमाण्य का परीक्षास्थल वेदान्त हैं, यही वेद की ग्रंथान्तरों से अधिकता है।

सर्वथापि शब्द को ज्ञानरूप मानना संमत है। प्रकृत भाष्य में वाक् से इंद्रिय, ध्वन्यादिरूप शब्द और ज्ञानरूप शब्द तीनों के संग्रह के लिये करण, अर्थविशेष के लिये संकेतित (=निश्चित किये गये) क्रमादिविशिष्ट वर्ण (और इससे उपलक्षित उपायान्तर), तथा उनसे अभिव्यंग्य ज्ञानरूप शब्द तीनों का उल्लेख है यह समझ लेना चाहिये।

वाक्-पद का यह अर्थ है इसमें श्रुति का प्रमाण देते हैं - **'अकार ही सारी वाक् है। वह स्पर्श, अन्तस्थ और ऊष्मों द्वारा व्यक्त की जाती हुई बहुतेरी और अनेक रूपों वाली हो जाती है' इस श्रुति से वाक् का पूर्वोक्त अर्थ समर्थित है।** यहाँ अकार का तात्पर्य है अकार जिसका प्रथमाक्षर होने से जिसमें प्रधान है उस ओंकार से उपलिक्षत, स्फोट कही जाने वाली चेतनशक्ति। ज्ञानशक्ति को चेतन-शक्ति कहा है अर्थात् वृत्तिमात्र नहीं स्वनिष्ठ चेतन सहित वृत्ति को वाक् या शब्द कह रहे हैं। इसमें पूर्वोक्त तैत्तिरीयभाष्य से भी संवाद स्फुट है। स्फोट उसका नाम भर्तृहरि आदि विद्वद्धौरेयों ने प्रसिद्ध किया है इतना ही टीकाकार को विवक्षित है, नकि वैयाकरणादि-अभिमत पारिभाषिक स्फोट को वेदसिद्ध बताना। वाक् से प्रसिद्धिवश और वाक्यशेषवश केवल ध्वनि से अभिव्यक्त चिच्छक्ति का ग्रहण होगा अतः श्रुति में 'सर्वा' विशेषण है यह मन्तव्य है। इसमें उक्त बृहदारण्यक भी प्रमाण है। वाक्यशेष प्रसिद्धि और प्राधान्य के अनुसार है यह मान सकते हैं। स्पर्शादि से वाक् अभिव्यक्त होती है। क से म तक के वर्ण अर्थात् पाँचों वर्ग स्पर्श कहे जाते हैं। य र ल व अन्तस्थ हैं। (अड्यारसंस्करण की ऐतरेय में और उसकी उपनिषद्ब्रह्मेन्द्रीय टीका में 'स्पर्शोष्मभिः' पाठ है।) श ष स ह ऊष्म कहे जाते हैं। स्वरों को उपलक्षित समझना चाहिये। इन सब से वाक् व्यक्त की जाती है। यहाँ परिगणन नहीं है क्योंकि प्रदर्शित बृहदारण्यकभाष्य में वर्ण और 'इतरों वा' कहा गया है; अतः वागभिव्यंजक सभी उपाय उपलक्षणीय हैं। यह बहुतेरी है अर्थात् 'शब्द' अनन्त हैं और 'नानारूपा' है अर्थात् अनन्त अर्थों को निरूपित-प्रकाशित-करती है। तैत्तिरीयभाष्योक्त प्रक्रिया से वृत्तिबहुत्व से वाग्बहुत्व समझने में कोई दिक्कत नहीं आती। अथवा बह्वी अर्थात् शब्दव्यक्ति अनंत हैं और नानारूपा अर्थात् उनके प्रवृत्तिनिमित्त विभिन्न हैं।

वाक् के विकार अर्थात् जिन रूपों में वह मिलती है उन्हे बताते हैं - **मित, अमित, स्वर, सत्य और अनृत ही इसके विकार हैं।** ऐतरेय में वाणी का परमविकार महदुक्थ (अर्थात् प्राण) कहा है, अर्थात् वाणी का सारभूत कहा है। उसे फिर पाँच तरह का कहा है मित आदि से। स्वयं श्रुति ने मित आदि की व्याख्या की है। पादबद्ध ऋक् आदि मित हैं क्योंकि उनके अक्षरादि नपे-तुले होते हैं। छन्द-बन्धनों से न बँधें यजुरादि अमित हैं। गीतिप्रधान होने से साम को स्वर

कहा। जैसा समझा वैसा व्यक्त करना सत्य और उससे विपरीत अनृत है। जो कुछ व्यक्त किया जाता है उसके पाँच ही ढंग होंगे – सही, ग़लत, गद्य, पद्य, या गीत। ध्वनि से भिन्न उपाय भी सत्य-अनृत में सिमट ही जायेंगे। वाक् या 'शब्द' का विकार अर्थात् कार्य है अभिव्यक्ति। यद्यपि अर्थज्ञान भी शब्द का कार्य होता है तथापि वह शब्द का विकार नहीं। अर्थज्ञान में 'यह शब्द है' ऐसा व्यवहार नहीं होता पर अभिव्यक्ति में ऐसा व्यवहार हो जाता है। जैसे 'मृद् घट' आदि सामानाधिकरण्य से घट मृद्विकार है ऐसे ही अभिव्यक्ति भी। अतः अर्थप्रत्यय में शब्दानुगम होने पर भी वह उसका विकार नहीं। शब्द की अभिव्यक्ति मितादि रूप में होती है। अथवा यहाँ विकार का अर्थ है विविध आकार। तैत्तिरीयोक्त ऋगादि को यहाँ मितादि से कहा है। अतः 'शब्द' ही मितादि आकारों में होने वाला कहा गया है।

इस प्रकार वाक् का स्वरूप बताकर मन्त्राक्षरों का अर्थ करते हैं – **पदरूप से परिच्छिन्न और करणरूप गुण वाली उस वाणी से ब्रह्म अभ्युक्त (पूरी तरह कहा गया) अर्थात् प्रकाशित नहीं है।** अर्थबोध कराने में सक्षम इकाई को पद कहंते हैं। परिच्छिन्न अर्थात् उस आकार को प्राप्त हुई; वाणी का पदात्मक विकार ब्रह्म को पूरी तरह नहीं कहता यह तात्पर्य है। अखण्डतत्त्व महावाक्य का अर्थ है, किसी पद का नहीं। प्रमाणान्तर से जिसके बारे में पता चले वह पदार्थ हो सकता है। वाक्य में ही प्रमाण होकर नवीन अर्थ बताने का सामर्थ्य है। ज्ञानात्मक पद ('शब्द') की भी यह स्थिति है। वाक् करणगुणवती है : करण अर्थात् वागिन्द्रिय उसके (वाक् के) प्रति गौण है। वाणी (इन्द्रिय) इसीलिये है कि 'वाक्' व्यवहार में आ सके, समझी-समझायी जा सके। वाक् के लिये होने से इन्द्रिय उसकी गुणभूत है। भाष्य में वागिन्द्रिय न कहकर सामान्य 'करण'-शब्द का प्रयोग इसीलिये किया है कि 'वाक्' के गुणभूत सभी साधन समझ लिये जायें। प्रमुख होने से तथा शिष्यप्रश्नानुरूप होने से टीकाकार ने वागिन्द्रिय का ग्रहण किया है।

ब्रह्म क्योंकि 'वाक्' (साभासवृत्तिविशेष) से भी प्रत्यक् है, वाक् को वाक् बनाने वाला है, वृत्ति में आभास डालने वाला (आभासित होने वाला) है, वाक् का अधिष्ठान है इसलिये 'वाक्' उसे विषय नहीं करती यह उचित ही है। ध्वन्यादि रूप शब्द का भी वह विषय नहीं यह तो स्पष्ट ही है। अतः वागिन्द्रिय का भी वह विषय नहीं है।

'येन वागभ्युद्यत' इत्यस्यार्थः

येन वागभ्युद्यत *इति वाक्प्रकाशहेतुत्वोक्तिः। येन प्रकाश्यत इति वाचोऽभिधानस्य अभिधेयप्रकाशकत्वस्य हेतुत्वमुच्यते ब्रह्मणः। उक्तं च 'केनेषितां वाचमिमां वदन्ति, यद्वाचो ह वाचम्' इति।*

येन ब्रह्मणा विवक्षितेऽर्थे सकरणा वागभ्युद्यते चैतन्यज्योतिषा प्रकाश्यते, प्रयुज्यत इत्येतत्; यद् वाचो ह 'वाग्' इत्युक्तम्, 'वदन् वाक्' (बृ.१.४.७), 'यो वाचमन्तरो यमयति' (बृ.३.७.१७) इत्यादि च वाजसनेयके। 'या वाक् पुरुषेषु सा घोषेषु प्रतिष्ठिता कश्चित्तां वेद ब्राह्मणः' इति प्रश्नमुत्पाद्य प्रतिवचनमुक्तम्— 'सा वागयया स्वप्ने भाषत' इति। सा हि वक्तुर्वक्तिर्नित्या वाक् चैतन्यज्योतिःस्वरूपा, 'न हि वक्तुर्वक्तेर्विपरिलोपो विद्यते' (बृ. ४.३.२६) इति श्रुतेः।

'जिससे वाणी प्रकाशित होती है' का अर्थ

'येन वागभ्युद्यते' से बताया जा रहा है कि वाक्प्रकाश में ब्रह्म की कारणता है। 'जिससे वाणी प्रकाशित होती है' का अभिप्राय है कि वाणी अर्थात् अभिधान में जो अभिधेय का प्रकाशन करने का सामर्थ्य है उसमें ब्रह्म कारण है। पहले भी 'किससे शासित इस वाणी को बोलते हैं?' इस प्रश्न का 'जो वाणी की वाणी है' आदि उत्तर देकर यही बताया था। अभिधान या 'शब्द' में यह योग्यता कि वह अर्थज्ञान करावे, परमेश्वर से ही प्राप्त है। जड होती हुई बुद्धिवृत्ति चेतनदेव की परछाई के बल पर ही तो 'ज्ञान' की पदवी पा जाती है। शब्द-शक्ति को ईश्वरेच्छारूप इसीलिए मानना पड़ता है। शब्द में ही यह सामर्थ्य क्यों, अमुक शब्द में अमुक अर्थ बताने का ही सामर्थ्य क्यों, भाषान्तर में वही

शब्द विपरीत अर्थ कैसे बता देता है? आदि प्रश्न जगत्-निर्वचनवादियों के लिये असमाधेय हैं। शब्द का अर्थ से सम्बन्धविशेष किंरूप है? इसी का सही वर्णन उनसे नहीं बन पड़ता। आचार्य सुरेश्वर बताते हैं (बृ. वा. ४.३.१७८७) कि अज्ञात आत्मा ही शक्ति है, इसी से सब शक्य संभव हो रहे हैं। अज्ञात आत्मा कहें, आत्मा का अज्ञान कहें, माया कहें, बात एक ही है। अतः शक्ति अनिर्वचनीय होने से वेदान्त-सिद्धान्त में उक्त प्रश्नों की कोई सबलता नहीं है। अज्ञात होकर आत्मा ने ही अभिधान को अभिधायकत्व प्रदान किया है। यही वाणी का ब्रह्म से प्रकाशित या नियुक्त होना है। **जिस अर्थ को बताना चाहें उसे कहने के निमित्त से करणसहित वाक् जिस ब्रह्मरूप चित्प्रकाश से प्रकाशित होती है, नियुक्त होती है, वही परब्रह्म है।** सामर्थ्याधानरूप नियुक्ति ईश्वर से और प्रयोग रूप नियुक्ति जीव से — यों ईश्वरत्व और जीवत्व से उपहित हुआ ब्रह्म ही वाक् को नियुक्त करता है। ईश्वररूप से तो हर हालत में नियुक्त करता है अतः जीव न नियुक्त करे तब भी वाक् नियुक्त हो जाती है। प्रकाश्यते से योग्यतापादन कहा और 'प्रयुज्यते' से कार्यकारिता। इषित-प्रेषित का भेद प्रश्न में था अतः 'अभ्युद्यते' से ये दोनों अर्थ बताये।

वाक् का प्रकाशक-प्रेरक परमात्मा अन्यत्र भी प्रसिद्ध है यह दिखाते हैं – **इसे ही पहले 'वाणी की वाणी' कहा था। शतपथ में बताया है कि वही शरीर में प्रविष्ट है और संपूर्ण होने पर भी उसके कार्यों से हम उसे सीमित ही समझ लेते हैं। जब वह बोलता है तब हम समझते हैं वाणी है, मानो वाणी कुछ ऐसी वस्तु हो जो स्वतंत्र रहते हुए बोला करती हो! बोलता वही है जैसे आतशी-शीशे से घास को जलाता सूर्य ही है। अन्यत्र वहीं उसे वाणी का नियन्त्रण करने वाला कहा। वह वाणी में रहते हुए उससे प्रत्यक् है, वाणी उसे जानती नहीं। जैसे हम शरीर को जानते हैं, शरीर तो हमें नहीं जानता, ऐसे मानो वाणी उसका शरीर है। वाणी के भीतर रहते हुए ही वह वाणी पर अपना नियंत्रण कायम रखता है। वही अमृत आत्मा है।**

अन्यत्र भी प्रश्न उठाया 'चेतन प्राणियों में जो घोषादि वर्णों से व्यक्त होने वाली वाक्शक्ति है, क्या उसे कोई ब्राह्मण जानता है?' और इसका उत्तर दिया 'वाक्शक्ति वह है जिससे सपने में लोग बोलते है!' आत्मा का स्वयंज्योतिष्ट्व स्वप्न में स्फुट होता है यह वेद का मानना है अतः इसे समझाने के लिये स्वप्न का सहारा लिया जाता है। जाग्रत् में इतनी ज्यादा चीज़ें मिलकर ज्ञान होता है कि उनमें मुख्य कौन यह विवेक संभव नहीं। सुषुप्ति में जानकारी स्फुट ही नहीं रहती कि प्रकाशरूपता का अनुसंधान उस अवस्था के परिप्रेक्ष्य में हो सके। स्वप्न में यह लाभ है कि आत्मा से अतिरिक्त वहाँ कोई प्रकाश (ज्ञानहेतु) संभव नहीं और अनुभव स्फुट होता है। स्वप्न में जो बुद्धि आदि 'उत्पन्न' किये भी जाते हैं उन्हे भी हम विषयरूपं से वहाँ जानते हैं। जब सपने में हम दौड़ते दीखते हैं तो कभी अपनी पीठ भी दीखती है और साथ ही अपना पीछा करता व्यक्ति भी दीखता है। ये दोनों स्वप्न की आँख से तो दीख नहीं सकते। जिस ज्योति से यह सब दीखता है वह आत्मा है। 'स्वेन भासा' और 'स्वेन ज्योतिषा' से बृहदारण्यक में (४.३.९) यह स्पष्ट है। इस पर वार्तिक (८७७-९१०) अवश्य दर्शनीय है। इसी तरह प्रकृत में उद्धृत वचन स्वप्न में जिससे बोलते हैं उसे आत्मा बता रहा है। सपने में पच्चीसों लोग बोलते हैं। सपने में निविष्ट जो हम हैं उन हमारी इच्छा के विपरीत भी लोग हमसे बोलते हैं। वहाँ अन्य 'लोग' हैं तो नहीं। सपना देखते हुए जो हम हैं उन हमें ऐसी इच्छा हो कि स्वप्ननिविष्ट हमारा विरोध किया जाये यह अनुभव नहीं होता; न ही ऐसा लगता है कि उन लोगों को हम प्रेरित कर रहे हैं। फिर भी हमारे अतिरिक्त वहाँ है कोई नहीं जिसके शासन और अनुग्रह से सारा व्यवहार हो रहा है। अतः सपने के बोलने आदि में हम ही कारण हैं यह विमर्शकाल में समझना संभव है। इस प्रकार उत्तरभूत वाक्य का अर्थ है: 'सा' पूछी गयी वाणी वह है 'यया' अनुग्राहिका बनी जिससे 'स्वप्ने' सपने में 'वाग्' वाणी 'भाषते' बोलती है। सपने में बोलती वाणी जिससे इषित-प्रेषित हुई बोलती है वह आत्मा ही वास्तविक वाणी (वाक्शक्ति) है। सिर्फ ज्योति सुनकर लगता कि ज्ञान के प्रति ही आत्मा कारण है अतः वाग् आदि क्रियायें भी दिखायी गयी हैं ताकि पता रहे कि क्रिया भी आत्मा की ही कृपा से हो रही है। मन आत्मा को सिमेटता है तो (सविषय-) ज्ञान हो जाते हैं, प्राण उसे समेटता है तो क्रियायें हो जाती हैं।

महर्षि याज्ञवल्क्य ने जनक को समझाया है कि देव की तरह, राजा की तरह जब जीव मानता है 'मैं ही यह सब कुछ हूँ' तब उसे 'परम लोक' की प्राप्ति होती है, वही इसका निष्पाप, अभय, अकाम स्वरूप है। पुण्य-पाप, हृदय के सारे शोकों से वह स्वरूप परे है। वहाँ 'दूसरा' नाम का कुछ नहीं। जहाँ दूसरा हो वहीं कोई किसी को देख, सुन, बोल आदि सकता है। वहाँ ये व्यवहार नहीं। बोलना वहाँ नहीं होता लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि जिसका अनुग्रह पाकर वाणी बोलती है वह वहाँ न हो। कृपा कर वाणी से जो बुलवाता है वह नित्य है। वक्ता अर्थात् बोलने वाला जिससे प्रकाशित-प्रयुक्त हुआ बोलता है वह है वक्ति और वह नित्य-ज्ञान-स्वरूप है। वही वाणी की वाक् यहाँ कही गयी थी। उसे ही 'येन' परामृष्ट कर रहा है। वक्ता की वह वक्ति अविनाशी है, उसका लोप कभी नहीं होता। घड़ा स्थित वस्तु है, उसे हमने उठा लिया तो हम घटवान् हो गये। 'वक्ति' कहकर श्रुति संकेत कर रही है कि धात्वर्थमात्ररूप क्रिया भी इसी तरह है, वह हमसे सम्बद्ध होती है तो हम क्रियावान् (वक्ता) बन जाते हैं। जिस दृष्टि से धर्म नित्य माना जाता है - 'सत्य बोलना धर्म है', 'ज्योतिष्टोम स्वर्गसाधन है', तो यह हमेशा ही है - और उसे 'कर' लेने पर हम धार्मिक (धर्मवान्) माने जाते हैं, उसी तरह समझना चाहिये। सत्य कुछ है जिसे हम बोलेंगे, ज्योतिष्टोम कुछ है जिसे हम करेंगे। उसे द्रव्य, क्रिया आदि रूपों से समझा नहीं जा सकता। अतः 'वक्ति' को नित्य स्वीकारना पड़ेगा। वह आत्मा ही है। क्योंकि उससे हम वक्ता बनते हैं इसलिये वह वक्ति है। ऐसे ही वह दृष्टि आदि है। क्रिया तो 'की' जाती है अतः नित्य हो नहीं सकती और जो मौजूद है वह क्रिया नहीं हो सकता। इसलिये 'बोलना'—'वक्तिः'—क्रिया नहीं है लेकिन बोलना - 'वक्ति' (तिङन्त) क्रिया है। वक्ति (सुबन्त) का वच् (धातु) से इतना ही सम्बन्ध है कि उसके (सुबन्त के) रहने पर ही 'वक्ति' (तिङन्त) संभव होती है। अर्थात् परब्रह्म की वक्ति-दृष्टि-घ्राति आदि रूपता (= धात्वर्थनिरूपितता) भी औपाधिक ही है। वह अनिरूपणीय ही है। इसी तरह उसे यहाँ जो वाक् का प्रकाशक-प्रेरक कह रहे हैं उसके बारे में भी समझना चाहिये।

'तद्ब्रह्म विद्धि' इत्यस्यार्थः

तदेव आत्मस्वरूपं ब्रह्म निरतिशयं भूमाख्यं बृहत्वाद् ब्रह्मेति विद्धि विजानीहि त्वम्। *'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि' इत्यविषयत्वेन ब्रह्मण आत्मनि अवस्थापनार्थं आम्नायः। यद् वाचाऽनभ्युदितं वाक्प्रकाशननिमित्तं चेति ब्रह्मणोऽविषयत्वेन वस्त्वन्तरजिघृक्षां निवर्त्य स्वात्मन्येवावस्थापयति आम्नायः 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि' इति यत्नत उपरमयति। 'नेदम्' इत्युपास्यप्रतिषेधाच्च।*

'उसे ब्रह्म समझो' का अर्थ

उस आत्मस्वरूप को ही ब्रह्म समझो। ब्रह्म वह है जिससे अधिक कुछ नहीं है। इसीसे उसे भूमा (बहुतायत) कहा गया है। हे शिष्य! तुम आत्मा को ही ब्रह्म जानो। ब्रह्म-शब्द ही बताता है कि बड़ा होने से ही उसे ऐसा कहते हैं। भामती में भी बताया है 'बृहत्वाद् बृंहणत्वाद्वाऽऽत्मैव ब्रह्मेति गीयते'। बृह-धातु का अर्थ ही वृद्धि है, उससे औणादिक 'मनिन्' प्रत्यय लगने पर 'नुम्' के नकार को अकार हो जाता है-'बृंहेर्नोऽच्च'-और ऋकार को यणादेश होने से ब्रह्म शब्द बनता है। कोई परिच्छेदक, विशेषण-पद, न होने से निःसीम वृद्धि समझ आयेगी तो फलतः नित्यत्व, शुद्धत्व, बुद्धत्व, मुक्तत्व आदि स्वयं प्रतीत हो जायेंगे।

'तदेव' आदि श्रुतिवाक्य इसलिये है कि आत्मा में ही ब्रह्म का ज्ञान हो, क्योंकि ब्रह्म विषय तो है नहीं। 'कम्बुग्रीवादिमान् में घट का ज्ञान' कहने का मतलब है कम्बुग्रीवादिमान् को घट जानना। ऐसे ही आत्मा को ब्रह्म जानना है, आत्मा ही ब्रह्म है। इसे ही कहते हैं 'आत्मा में ब्रह्म को अवस्थापित करना'। ब्रह्म को जानने के लिये बुद्धि इधर-उधर भटक रही है, कभी किसी को ब्रह्म समझती है कभी और किसी को। उस बुद्धि को समेट कर आत्मा में रोक लेना—उपसंहृत करना—है; आत्मा ब्रह्म है यह समझना है, उससे अन्य को ब्रह्म नहीं समझना है। आत्मा से प्रत्यङ्मात्र कह रहे

हैं। अतिरिक्त अर्थात् भिन्न करके ब्रह्म समझा नहीं जा सकता क्योंकि वह विषय नहीं है। आत्मा से अन्य किसी वस्तु को ब्रह्मरूप से ग्रहण करने की कोशिश छोड़कर 'जो वाणी का विषय नहीं बल्कि उसके प्रकाशकत्व का निमित्त है वह ब्रह्म मैं ही हूँ' यह समझ आये यही इस मन्त्र वाक्य का प्रयोजन है। पहले यह बताया तो जा चुका है फिर भी वेद यत्नपूर्वक पुनः कहकर साधक को इतर व्यापार से उपरत कर रहा है।'विद्धि' से वेद यह भी बता रहा है कि साधक सब यत्न, कोशिशें, छोड़े क्योंकि यत्नविक्षेपवश ही साधन रहते भी प्रमा नहीं होती। 'नेदम्' आदि से उपास्य की ब्रह्मरूपता मना करना भी इसीलिये है कि यत्न छूटे। उपासना क्रिया है अतः यत्न से होगी। यत्न तो क्रिया में ही पर्यवसित होगा अतः ज्ञान के लिये यत्न छोड़ना ही पड़ेगा। ज्ञान-इच्छा-यत्न-क्रिया यह प्रसिद्ध क्रम है अतः ज्ञान तक लौटने के लिये क्रिया, यत्न और इच्छा को छोड़ना जरूरी है। यत्न में व्यापृत चित्त ज्ञान के लिये अयोग्य है। 'आत्माकार' वृत्ति बनाने की कोशिश व्यर्थ है। अनात्मवृत्ति न बने तो शांत स्वच्छ चित्त आत्माकार ही होगा। गीताभाष्य में यह बहुत स्पष्ट किया है।

एवकारार्थः

यैर्वागाद्युपाधिभिः वाचो ह वाक्, 'चक्षुषश्चक्षुः', 'श्रोत्रस्य श्रोत्रं, मनसो मनः', कर्ता, भोक्ता, विज्ञाता, नियन्ता, प्रशासिता, 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ.३.९.२८) इत्येवमादयः संव्यवहारा असंव्यवहार्ये निर्विशेषे परे साम्ये ब्रह्मणि प्रवर्तन्ते, तान् व्युदस्य आत्मानमेव निर्विशेषं ब्रह्म विद्धीति एव-शब्दार्थः।

'ही' कहने का अभिप्राय

ब्रह्म संव्यवहार के अयोग्य है। न वह कोई सम् अर्थात् सत्य व्यवहार करता है और न उससे ही कोई सत्य व्यवहार किया जा सकता है। इसमें हेतु है कि वह सारी विशेषताओं से अस्पृष्ट है। व्यवहार विशेष से ही होता है। सामान्य ही उपादान-अर्थक्रिया व्यवहारों के अयोग्य है तो निःसामान्यविशेष का क्या कहना! वह अभिज्ञा-अभिवदन के भी अयोग्य है। लोक में भी व्यवहारकुशल को विशेषों पर ध्यान देता पाते हैं और जो सैद्धान्तिक विचारों में व्यापृत हैं वे समान की खोज में ही दत्तचित्त रहते हैं। हीरे व कोयले की समानता को विज्ञानशास्त्री पहचान कर प्रसन्न होता है, तकनीकी कार्यकर्त्ता को उस पहचान का कोई मूल्य नहीं समझ आता। वैज्ञानिक की हार्दिक अभिलाषा है कि बाह्य-आभ्यन्तर सभी जागतिक पदार्थों का कोई एक सीधा सा महानियम पता चले; किन्तु विभिन्न कार्य करने वालों को हर काम के अलग-अलग ढंगों में निपुणता पाने की इच्छा है। सामान्य की जानकारी व्यतिरेक से विशेष को और सूक्ष्मतः पहचानने में उपकार करती है इसीलिये तकनीकप्रियों को विज्ञान सुहाता है। अतः व्यवहार के लिये सविशेष ही पर्याप्त है, निर्विशेष नहीं। विशेषरहित है तो क्या सामान्य है? इस शंका को मिटाते हैं - **वह परम समता है।** विशेषों में अनुगत होने वाली तो साधारण समतायें होती है, यह किसी में अनुगत न होने वाली है अतः 'परम समता' है। वार्तिककार बीसियों बार 'अव्यावृत्ताननुगत वस्तु ब्रह्म है' ऐसा कहते हैं। समता या सामान्य विशेष का विपरीत है किंतु लौकिक समताओं को अपने विरोधी (विशेष) के सहारे ही रहने की लज्जा सहनी पड़ती है। अतः समता की परमता यही हो सकती है कि उसका विशेष से कोई सरोकार ही न रहे!

किंतु ऐसे ब्रह्म में भी संव्यवहार हो जाता है! सम् अर्थात् सत्य लगने वाला। उसे हम वाणी की वाणी, चक्षु की चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र, मन का मन, करने वाला, भोगने वाला, अनुभव करने वाला, नियमन (मर्यादा-रक्षण) करने वाला, प्रशासन (अंदर-बाहर दोनों ओर से शासन) करने वाला, जानकारी-रूप, आनंद-रूप, ब्रह्म नाम वाला इत्यादि समझते हैं। यह समझना, संव्यवहार, वाक् आदि उपाधियों से ही होता है। इन उपाधियों को छोड़कर जो अकेला आत्मा है उसे ब्रह्म जानो यह कहने के लिये 'ही' शब्द रखा है। यहाँ वाक् से इंद्रिय और तदुपलक्षित देहत्रय समझने चाहिये। पूर्वोक्त 'वाक्' का वृत्त्यंश भी अतएव ग्रहण हो जाता है। ब्रह्म सम्बन्धी सभी व्यवहार औपाधिक

हैं। उपदेश और समझना भी औपाधिक है। अतएव शास्त्र भी अविद्यावान् को विषय करने वाला कहा है। वाणी है तभी तो 'वाणी की वाणी' ब्रह्म को कहा। विज्ञानरूप या आनंदरूप कहने का मतलब भी हम जिस विज्ञान और आनंद का अनुभव कर रहे हैं उसी से वह निरूपित किया जाये यही है। विदित के आयामों में ही हम उसे घेरते हैं, यह हमारा उसे 'समझने' का व्यवहार है। सब शब्दों का अविषय भला ब्रह्मशब्द से कैसे कहा जाये? या 'अविषय' यही शब्द उसे कैसे बताये? इसका मतलब यह नहीं कि वह अज्ञेय है अर्थात् उसकी अविद्या हट नहीं सकती। भाष्य में अतः 'संव्यवहार' कहा। इस व्यवहार की सम्यक्ता यही है कि यह खुद को भी हटाने में समर्थ है। इसके पूरी तरह हटने का ही नाम ब्रह्म का ज्ञान होना है।

अन्त्यपादार्थः

नेदं ब्रह्म यदिदम् इत्युपाधिभेदविशिष्टमनात्मेश्वरादि उपासते ध्यायन्ति। 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि' इत्युक्तेऽपि 'नेदं ब्रह्म' इत्यनात्मनोऽब्रह्मत्वं पुनरुच्यते नियमार्थम्, अन्यब्रह्मबुद्धिपरिसङ्ख्यानार्थं वा।।४।।

अन्तिम चरण का अर्थ

'उसे ही ब्रह्म समझो' यों सावधारण कह चुकने पर भी 'नेदम्' आदि से पुनः कहा कि अनात्मा ब्रह्म नहीं है ताकि आत्मा में ब्रह्मबुद्धि अवश्य हो और आत्मा से अन्यत्र वह नहीं ही हो। तात्पर्य है कि अत्यन्तायोग का ही नहीं अयोग और अन्ययोग का भी व्यवच्छेद विवक्षित है यह स्पष्ट करना अन्त्य पाद का कार्य है। 'नियमार्थ' अर्थात् अनात्मा को ब्रह्म समझना प्राप्त होगा तो आत्मा में ब्रह्मबुद्धि छूटेगी, तब आत्मा में ब्रह्मबुद्धि कराने के लिए। वाक्यार्थ भूलने पर तथा प्रारब्धवेग से दुःखादि होने से देहादि में आत्मबुद्धि होती है तब आत्मा में ब्रह्मबुद्धि छूटती है, आत्मा को देहादि समझने पर उसे ब्रह्म नहीं समझ सकते। उस समय भी आत्मब्रह्मता का अनुसंधान रहे, देहादि से तादात्म्य न हो पाये इसके लिये जागरूक रहना चाहिये। इसी तरह 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' आदि वाक्यों को ग़लत समझ लेने पर भ्रम होता है कि यह घटादि दृश्य ब्रह्म है, कुछ लोग तो ऐसा वाद भी बना चुके हैं, वैसा समझने पर आत्मा को ब्रह्म नहीं माना जाता, और उक्त वादी भी दृश्य को भले ही नारायण से अभिन्न मानें द्रष्टा को नारायण नहीं मानते। 'सर्वम्' से प्राप्त होने पर भी 'इदम्' उसे परिच्छिन्न बना देता है। मायिकता न मानने पर प्रत्यक् और पराक् का अत्यन्त अभेद किसी तरह संभव नहीं हो पाता। अतः पराक् को ब्रह्म समझते ही प्रत्यग्ब्रह्मता छूट जाती है। इस परिस्थिति में श्रुति नियम कर रही है कि प्रत्यक् को ही ब्रह्म समझना है। सिद्धान्त में तो दृश्य और ब्रह्म का बाधसामानाधिकरण्य है; जैसे साँप को रस्सी समझने का मतलब यह जानना है कि साँप नहीं है, रस्सी ही है वैसे इदम् को ब्रह्म समझने का भी मतलब है यह जानना कि इदम् नहीं है ब्रह्म ही है। फलतः प्रत्यक् से ब्रह्मबुद्धि नहीं हटती क्योंकि हटकर जहाँ जा सके ऐसा कुछ रह नहीं जाता। इसी अभिप्राय से भगवान् आचार्यपाद शतश्लोकी में कह गये हैं 'आदौ ब्रह्माहमस्मीत्यनुभव उदिते खल्विदं ब्रह्म पश्चात्'। पहले जब ब्रह्म अहम् हो गया तो बाद में 'इदं ब्रह्म' का अर्थ ही है 'इदमहम्'।

'परिसंख्यानार्थ' अर्थात् आत्मा से अन्य उपास्यादि को ब्रह्म समझना प्राप्त होने पर उस ग़ैर-समझी से दूर होने के लिये। 'प्राणो ब्रह्म' 'मनो ब्रह्म' आदि वाक्यों से प्रतीति होगी कि उन्हे भी ब्रह्म समझना है, ऐसी स्थिति में 'नेदम्' मना कर देगा— उन्हे ब्रह्म मत समझो। 'नेदम्' में निषेध सुना जा रहा है और परिसंख्या फलतः निषेध ही है अतः वाक्य को परिसंख्या के लिये मानने में अभिरुचि है। यद्यपि नियम से यह सिद्ध हो ही जाता तथापि कोई युगपत् आत्मा-अनात्मा में ब्रह्मता की उपासना प्राप्त करा सकता है, उस स्थिति में परिसंख्या सार्थक है। आत्मा-अनात्मा ब्रह्म है यह प्रमा भले ही (अनिर्वाच्यवाद से अन्यत्र) संभव न हो लेकिन उपासना तो कथंचित् हो ही सकती है। प्रमा असंभव होने के बल पर ही वादी उपासना में तात्पर्य मान सकता है। अतः परिसंख्या जरूरी है। केवल परिसंख्या करें तो यह द्योतित न होगा कि समझना आवश्यक है अतः नियम भी कर दिया। अथवा विदित-अविदित से अन्य की तरह प्रत्यक्-पराक् से अन्य भी कुछ होगा और उससे आत्मा का भेदाभेद है-इस संभावना को हटाने के लिये नियम सार्थक है। अतः भाष्य में 'वा' समुच्चयार्थक है।

पञ्चमो मन्त्रः

मन्त्रः

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।५।।

पाँचवा मन्त्र : मन्त्रार्थ

आहुः = ब्रह्मवेत्ता बताते हैं कि **यद्** = जिसे (कोई) **मनसा** = मन से **न** = नहीं **मनुते** = सोचता, बल्कि **मनः** = मन ही **येन** = जिससे **मतम्** = विषय किया जाता है, **तद् एव** = उसे ही **त्वम्** = तुम **ब्रह्म** = ब्रह्म **विद्धि** = जानो **यद् इदम्** = जो यह **उपासते** = उपासना का विषय है **इदम्** = इसे **न** = ब्रह्म मत समझो।

शंकरानन्दजी कहते हैं कि चम्पक, केतकी आदि की सुगंधों में जो अन्तर है वह वाणी का तो विषय नहीं, फिर भी मन का विषय है ऐसे ही ब्रह्म वाणी का अविषय होने पर भी मन का विषय होगा ऐसी शंका हो सकती है अतः उसका निराकरण इस मंत्र से कर रहे हैं। कोई भी व्यक्ति मन से परमात्मा का विचार कर पाये यह संभव नहीं क्योंकि परमात्मा मन का प्रकाशक है और स्वप्रकाशक को कोई विषय नहीं करता। संस्कृत और प्राप्तोपदेश मन भी जब विषय करेगा— वृत्तिव्याप्ति होगी—तब भी अन्य न सही खुद मन (वृत्ति) तो उपाधि रहेगा ही अतः सोपाधिक ही विषय होगा। इसी से कहा है 'शुद्धं ब्रह्म न वृत्तिविषयः'। ऐसा ब्रह्म है यही कैसे समझें? मन उससे विषय होता है अतः ब्रह्म वैसा है यह समझ आता है। वह मन को जानता है, इसमें अपना प्रतिबिम्ब डालता है। अधिष्ठान रहते हुए वह मन में अध्यास भी किये है अतः अन्दर-बाहर से उसने मन को घेर रखा है। मन का सारा सामर्थ्य उसी से प्राप्त है। अतः ब्रह्म समझा जा सकता है। कुछ लोग 'मनसो मतम्' पाठ भी सूचित करते हैं। उसका अर्थ है : मन का जो मत अर्थात् मननसामर्थ्य है वह ब्रह्म से है। तात्पर्य वही है किन्तु भाष्यादि सर्वत्र 'मनो मतम्' ही पाठ है। वस्तुतः 'कोलब्रुक' और 'वेबर' नामक विदेशियों ने एक अथर्ववेदीय केनोपनिषत् और उस पर सटीक भाष्य का अस्तित्व माना है। कोलब्रुक ने अपने पास हस्तलेख होना बताया है और वेबर ने 'Indische Studien' में पाठान्तर दर्शाये हैं। 'मनसो मतम्' भी आथर्वण पाठ कहा गया है। अर्थदृष्टि से कोई भी अथर्वपाठ ऐसा नहीं है कि सामपाठ से अर्थान्तर हो। यथासंप्रदाय केनोपनिषत् सामशाखीय ही उपलब्ध है। उक्त भाष्य अप्रकाशित होने से उस पर विचार संभव नहीं।

प्रश्न होगा कि जैसे मन शुद्ध को विषय नहीं करता ऐसे ही शुद्ध भी तो मन को विषय नहीं करता, तब मन को विषय करने वाला होने से वह शुद्ध है यह कैसे समझा जाये? मन के भाव की तरह उसके अभाव का भी प्रकाशक होने से उसकी शुद्धि समझ आती है। वस्तुतः 'मन आत्मा को विषय करता है' कहने पर मन और विषय करने की समान सत्ता है जबकि 'आत्मा मन को विषय करता है' कहने पर आत्मा से विषय करने की सत्ता न्यून है, व्यावहारिक या अपारमार्थिक है। अतः आत्मा मन को विषय करने पर भी शुद्ध रह जाता है जैसे अपने ऊपर मरुमरीचिकारूप में अथाह जल रखने पर भी मरुभूमि सूखी ही बनी रहती है। कोई कह सकता है कि मन भी तो जिसे विषय कर रहा है वह वास्तव में शुद्ध ही है तो शुद्ध को मन विषय नहीं करता ऐसा क्यों कहना? यद्यपि यह ठीक है कि मन का विषय वास्तव में शुद्ध है तथापि उस दृष्टि से अखण्डज्ञान और घटज्ञान में कोई अन्तर नहीं है अतः उसे कहने का प्रकृत में विशेष फल नहीं। वैसे कहा ही जाता है कि ब्रह्म सर्वप्रत्ययवेद्य है, ब्रह्म काल की तरह सर्वेन्द्रियविषय है आदि। यहाँ 'यन्मनसा' में 'यत्' से निर्विशेष विवक्षित है और 'मनुते' से विषय-समसत्ताक मनन कहा जा रहा है। अतः जैसा ब्रह्म है वैसा वह विषय नहीं होता जबकि जैसा (व्यावहारिक) मन है वैसा वह विषय हो जाता है यह अन्तर मंत्र में बताया गया है।

मन से मनन प्रमाता करता है और मन प्रकाशित होता है साक्षी से अतः यह भी यहाँ सूचित है-'यत्' = साक्षी

'मनसा' = मन से 'न मनुते' = मनन नहीं करता, 'येन' = जिससे 'मनः' = मन 'मतम्' = प्रकाशित है। इससे बताया कि वाच्य अर्थात् जो मन से मनन करता है वह यहाँ ब्रह्म नहीं कहा जा रहा बल्कि लक्ष्य ही कहा जा रहा है। जो 'उपासते' के कर्त्ता हैं वे मन से सोचते हैं, उन्हे ब्रह्म नहीं समझना है, जो मन से नहीं सोचता उसे ही समझना है। जब तक हम मनसे सोचने वाले हैं तब तक हम अपने को ब्रह्म नहीं समझ पायेंगे यह भाव है।

मनःपदार्थः

यन्मनसा न मनुते। *'यन्मनसा' इत्यादि समानम्।* **मन इत्यन्तःकरणं बुद्धिमनसोरेकत्वेन गृह्यते। मनुतेऽनेनेति मनः सर्वकरणसाधारणं, सर्वविषयव्यापकत्वात्। 'कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव' (बृ.१.५.३) इति श्रुतेः कामादिवृत्तिमन्मनः।**

'मन' का अर्थ

श्रुति में 'मन' शब्द से अंतःकरण कहा गया है अतः बुद्धि व मन दोनों का संग्रह हो गया है। जिसके द्वारा विचार किया जाता है वह मन है। चक्षु आदि अन्य सभी इन्द्रियों को कार्यकारी होने के लिये मन का उपकार चाहिये क्योंकि यही सब विषयों को जान पाता है। मन की अनेक वृत्तियाँ हैं जैसे कामना, संकल्प, शंका, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, निश्चय, डर इत्यादि। कामना आदि वृत्तियों वाले को यहाँ मन कहा है। वेद ने 'अन्यत्रमना था अतः देख-सुन नहीं पाया' आदि अनुभव से मन को सिद्ध किया है। सूत्रकार (२.३.३२) का कहना है कि यदि मन न हो तो या हमेशा उपलब्धि होती रहेगी और या कभी भी नहीं होगी। अतः जिसके अवधान-अनवधान से (उस ओर उन्मुख होकर जागरूक रहने-न रहने से) उपलब्धि-अनुपलब्धि व्यवस्थित हैं वह मन है। भाष्यकार अन्यत्र (बृ. १.५.३) यह भी स्पष्ट करते हैं कि स्पर्श समान होने पर भी विना देखे जो यह पता चल जाता है कि यह हाथ का स्पर्श है, यह पैर का, इस जानकारी के लिये समर्थ साधन मन ही है। वाचस्पति मन का अनुमान संकल्पादि की व्यवस्था से करते हैं जो (संकल्पादि) अन्य इंद्रियों से संभावित नहीं हैं। सुख-दुःख का अनुभव भी मन के सहारे ही समझाया जा सकता है। मन को वेदान्ती अनित्य, सावयव और भौतिक मानता है। सूक्ष्मभूतों से निर्मित होने पर भी स्थूल भूत इसके उपचय-अपचय के हेतु बनते हैं। आहार का इस पर साक्षात् असर आता है। ज्ञानशक्ति के जितने विकास हैं उन सब में मन ही अनुगत कारण बनता है (बृ.भा. १.४.७)। यद्यपि क्रिया के लिये इसका उपयोग कोई कम नहीं तथापि वहाँ असाधारण योगदान प्राण का है। इन्द्रियविषयों से अतिरिक्त सूक्ष्म, व्यवहित, गूढ (=छिपे) आदि विषयों का भी ग्रहण मन से होता है। छान्दोग्यभाष्य में (८.१२.५) बताया कि निर्दोष होने पर यह सर्वोपलब्धि का करण बन जाता है। शास्त्राचार्योपदेश पाया हुआ और संस्कृत अर्थात् कामनादि दोषों से रहित मन ही आत्माज्ञान में भी असामान्य सहायक है यह गीताभाष्य में कहा ही है। अतः ऐतरेय भाष्य में (५.२) निगमन कर दिया 'तस्मात्सर्वकरणविषयव्यापारकमेकमिदं करणं सर्वोपलब्ध्यर्थमुपलब्धुः', सारी ही उपलब्धियाँ इसी के सहारे हो सकती हैं। मन को उपनिषदें बन्धन और मोक्ष का अकेला कारण कह देती हैं। इन्द्रियों को ही नहीं स्थूल शरीर को भी सामर्थ्य देने वाला मन है। 'मानसेन हि बलेन सम्पन्ना बलिनो दृश्यन्ते लोके' (छा.भा. ६.७.१) यह भाष्योक्ति है - लोक में बलशील वे ही दीखते हैं जिनके पास मानस बल है। मन ही वह अंतिम 'कला' (हिस्सा) है जिसके बचे रहने पर पुरुष अन्य सामग्री पाकर पूर्ण बन पाता है यह श्वेतकेतु ने प्रयोग करके निश्चय किया है। यह मन ही है जिसके रहने पर आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व होता है, मन न रहने पर नहीं होता (छा.भा. ७.३.१)। यद्यपि विचार, निर्णय, याद आदि कार्यो के आधार पर मन के चार व्यापार अधिक प्रसिद्ध हैं तथापि प्रमाण, विपर्यय आदि वृत्तियाँ मन की हैं और शास्त्र में कामनादि वृत्तियाँ मन की ही बतायी हैं। इसीलिये श्रुति मन को अनन्त भी कह देती है, अर्थात् उसकी वृत्तियाँ निःसीम हैं। वार्तिककार तो सब इंद्रियों को भी मन की वृत्तियाँ बता गये हैं 'इन्द्रियाण्यपि सर्वाणि स्वान्तस्यैव तु वृत्तयः' (बृ. १.५.११५)। श्रुति ने ही कह दिया है 'मन से ही देखता-सुनता है'

(बृ.१.५.३)। इसीलिये ऐतरेयभाष्य में स्पष्ट किया कि चक्षु हुए अंतःकरण से हम रूप देखते हैं, श्रोत्र हुए उसीसे शब्द सुनते हैं इत्यादि। भाष्यकार ने कहा है (सू.भा. २.४.७) कि जो उपलब्धि का साधन है उसे ही हम करण मानते हैं। मन ही उपलब्धि का साधन है तो उसे इंद्रियादिरूप कहना संगत है। इंद्रियों की संख्या के विषय में प्रश्न उठने पर भाष्य में (सू.भा.२.४.६) कहा गया है कि ग्यारह से ज्यादा काम उपलब्ध नहीं होते तो इनसे अधिक इंद्रिय मानना व्यर्थ है। अतः सूचित होता है कि इन्द्रियसंख्या अनुभवानुसारी माननी है, संख्याविशेष का अभिनिवेश नहीं है। सूत्रों में (२.४.१७ आदि) इन्द्रियों को तत्त्वान्तर सिद्ध किया है। श्रुतियों ने ही महाभूतों से और मन से भी पृथक् उल्लेख कर इनकी उत्पत्ति बतायी है। महाभूतों का तो कार्य होने से पृथक् उत्पत्ति है, अभौतिकता के अभिप्राय से नहीं। किन्तु मन और इंद्रियों को प्रायः पदार्थान्तर ही मानकर चला जाता है। वस्तुतः मन-प्राण पाँचों सूक्ष्मभूतों से निर्मित हैं और प्रत्येक इंद्रिय प्रत्येक सूक्ष्म भूत से—इस प्रसिद्ध व्यवस्था में उदाहृत वार्तिकादि वचन के आधार पर यह कल्पना सरल है कि जैसे पाँच अंगुलियों वाली हथेली कभी एक अंगुली से और कभी दूसरी से कुछ-कुछ कार्य कर लेती है ऐसे ही अपने तत्तत् महाभूतांश से कार्य करने वाले मन-प्राण ही हैं, अंगुली-स्थानीय महाभूतांश को ही चक्षुरादि इंद्रिय कहते हैं। मन-प्राण तो एक ही वस्तु हैं, काँच के अगले-पिछले हिस्से की तरह ही इनका भेद है। अतः ज्ञानेन्द्रियाँ - कर्मेन्द्रियाँ दोनों को मनोवृत्तिरूप (मन-प्राण की वृत्ति अर्थात् तत्तद् महाभूतीय तत्तद्गुणांश का व्यापार) मानने में कठिनाई नहीं है। इन्द्रिय-उत्पत्ति, उनकी तत्त्वान्तरता आदि हाथ की अपेक्षा अंगुली की पृथक् उत्पत्ति, तत्त्वान्तरता आदि की तरह समझना भी संभव है। सर्वथापि मन का इन्द्रियों की अपेक्षा प्राधान्य स्वीकार्य ही है। 'यद्वाचा' के तुरन्त बाद 'यन्मनसा' आने में कारण है कि वाक् मन की पत्नी है (बृ.१.४.१७)। वाक् ('शब्द') को मन ग्रहण करता है और उसका (इंद्रिय और 'शब्द' का) प्रयोग भी करता है। अन्यत्र भी श्रुति ने (जैमिन्युपनिषद्ब्राह्मण १.१८.३.३) मन को सरोवर और वाक् को उसकी नहर कहा है। सभी इंद्रियों से मन का सम्पर्क होने पर भी वाक् से विशेष है क्योंकि जैसे पत्नी के द्वारा ही स्वयं को पूरी तरह (पुत्र रूप में) प्रकट किया जा सकता है वैसे मन भी जितना स्पष्ट वाणी से व्यक्त होता है उतना इन्द्रियान्तर से नहीं। और 'शब्द'-रूप वाक् तो मन का सर्वस्व है! रूपादिबिम्बों (=संस्कारों) की अपेक्षा शब्दबिम्ब ही अधिक उपस्थित होते हैं एवं विचारादि में कार्यकारी होते हैं। अतः अन्यत्र भी 'वाचो निवर्तन्ते, मनसा' आदि में इन्हीं दो का उल्लेख है।

आत्मा और माया से अन्य सभी कुछ महाभूतात्मक मानना वेदान्त की मुख्य आरोप प्रक्रिया है जिससे सारा प्रपंच पहले पाँच पदार्थों में सीमित हो जाता है फिर कारण-अनन्यतादि न्यायों से मायारूप होकर बाधित हो जाता है। महाभूत ही ग्राह्य बनकर विषय और ग्राहक बन कर इन्द्रिय बने हैं। अतः मन को भौतिक बताया गया है। घड़े-कपड़े आदि की तरह उपलब्ध न होने से इंद्रियाँ सूक्ष्म ही स्वीकार्य हैं। अतः उनकी भौतिकता प्रमुखतः शास्त्र पर ही निर्भर है। इस दृष्टि से मन की भौतिकता को पारिभाषिक भी कहा जा सकता है। 'मन नहीं लग रहा, लगाने की कोशिश कर रहा हूँ, चंचल है' आदि अनुभवों से मन दृश्यकोटि का निश्चित होता है और ज्ञानादि के प्रति उसकी साधनता भी अनुभव में आती है। वस्तुतः ये 'अनुभूतियाँ' ही मन (= मनोवृत्तियाँ) है। शारीरिक अवयवों की प्रक्रिया विशेष, सहज हो चाहे कृत्रिम, जिन अनुभूतियों में कारण बनती है वे अनुभूतियाँ मन है। कादाचित्क होने से वे आत्ममात्र नहीं अतः मनोवृत्तिरूप हैं, सप्रतिबिम्ब होने से अनुभूतिता है। ये केवल ज्ञानात्मक अनुभूति हों यह ज़रूरी नहीं, इच्छा, क्रोध आदि सब रूपों वाली होती हैं। स्मृति के कारणरूप से ही संस्कार की सिद्धि है अतः संस्कार का मन में रहना यही है कि स्मृति आदि अनुभवों में वह कारण बनता है। कुण्ड में बेर की तरह तो मन में वे रहते नहीं। अतः यदि कारणरूप संस्कार स्थूल शरीर में रहते हैं, अर्थात् पंचीकृत भूतों के आकारविशेष हैं, तो भी उनको मनमें रहने वाला कहने में कोई रुकावट नहीं। इसी तरह मन का आकार ग्रहण करना, पिघलना आदि सभी के बारे में समझना चाहिये। आखिर मन को लाक्षा की तरह ठोस मान कर तो आचार्यों ने उसे पिघलने वाला या पानी-सा तरल मानकर इंद्रियों से बहकर विषय पर फैलकर आकार लेने वाला कहा हो यह संभव नहीं। अद्वैतसिद्धिकार ने (पृ.३९५) बताया है 'आकारश्च वृत्तिनिष्ठः कश्चिद् धर्मः असाधारणव्यवहारहेतुः'

अर्थात् असाधारणव्यवहार में कारण बनने वाली वृत्ति की विशेषता ही उसका आकार है। विशेषता भी उन्होंने बतायी है 'अस्तीत्यादितद्विषयकव्यवहारप्रतिबन्धकाज्ञाननिवर्तनयोग्यत्वस्य, तत्संनिकृष्टकरणजन्यत्वस्य वा तदाकारत्वरूपत्वात्' (पृ ४८३)। एवं च स्पष्ट है कि स्थूल दृष्टान्तों से केवल समझाया जाता है, मन का लम्बा-चौड़ा, लाल-पीला आदि होना नहीं विवक्षित होता। अतएव मनःशुद्धि के बारे में वार्तिककारों ने कहा है कि वैराग्य या प्रत्यक्प्रावण्य उसका स्वरूप है। अर्थात् ऐसे संस्कार बटोरने ज़रूरी हैं जो 'मन' में रागवृत्तियाँ न बनावें बल्कि प्रत्यगात्मा की ओर उन्मुख वृत्तियाँ बनावें। इसमें सत्कर्मों का उपयोग अदृष्टद्वारक होने से शास्त्रानुसार स्वीकार्य है, उपपत्तिसापेक्ष नहीं। मनोद्रव्य का स्थायित्व 'मेरा मन वही है' आदि अनुभव पर निर्भर है। यद्यपि अनुभूतियाँ तात्कालिक ही होती हैं तथापि उनमें कुछ अनुगत है तभी वे सब अनुभूतियाँ हैं। वह अनुगत वस्तु ही मनोद्रव्य है। उसका जन्मान्तरगामित्व शास्त्राधारित है। निद्रा को भी मन की वृत्ति माना गया है और निद्रा में मन का विलय भी कहा गया है। अतः निद्रातिरिक्त व्यापार न होने को विलय समझ सकते हैं और वृत्तिरूप होने से इसके लिये भी मन यदि स्थूल शरीर पर निर्भर है तो कोई आश्चर्य नहीं। मन में - अनुभूति में - यह विशेषता है कि वह आत्मा की चिच्छाया ग्रहण करता है। अतः वह स्थूलमात्र नहीं है; स्थूल में चिद्ग्राहकता नहीं है। इसीलिये स्थूल स्तर पर समान क्रिया प्रतिक्रिया होने पर भी मन में असमानता होती है। चिदध्यास (चिदाभास) से यह मन की विशेषता हो जाती है। चित् के सम्बन्धविशेष से (तादात्म्याध्यास से) जड में यह सामर्थ्य सर्वत्र देखी जाती है कि वह नियमित के साथ अनियमित भी हो जाता है। अतएव सर्वथा समान परिस्थितियों में दो यन्त्र समान कार्य कर सकते हैं पर दो पौधे हर तरह समान वृद्धि आदि वाले नहीं होंगे। घट से शरीर में अंतर है, ऐसे ही शरीर से मन में अन्तर है। अन्तर तादात्म्य की अधिकता से ही है यह आचार्यों ने बताया है। अतः जड होने पर भी मन को स्थूलदेहमात्र नहीं कह सकते। प्रकृत भाष्य में 'कामादिवृत्तिमत्' कहकर मनोद्रव्य का उल्लेख किया है। वह मनोद्रव्य निर्विशेष का 'आकार' नहीं ले सकता अर्थात् निरुक्त आकार ग्रहण करने पर भी सत्ता का अन्तर रहता है यह बता चुके हैं। अतः आत्मतुल्यसत्ताक मनोविषयता का निषेध है।

ब्रह्मणोऽमन्तव्यत्वे हेतुः

तेन मनसा यत् चैतन्यज्योतिर्मनसोऽवभासकं न मनुते न सङ्कल्पयति नापि निश्चिनोति लोकः, मनसोऽवभासकत्वेन नियन्तृत्वात्। सर्वविषयं प्रति प्रत्यगेवेति स्वात्मनि न प्रवर्ततेऽन्तःकरणम्।

ब्रह्म क्यों अमन्तव्य है?

जो चेतन प्रकाश मन को अवभासित करता है वह क्योंकि प्रकाशक होने से मन का नियन्ता है इसलिये लोग उक्त मन से उस चेतन का संकल्प, उसके बारे में निश्चय नहीं कर पाते। यहाँ 'लोकः' पद कुछ संस्करणों में उपलब्ध है, कुछ टिप्पणकार शेष करते हैं। अगले मंत्र में भाष्यकार ने 'लोक' लिखा ही है। इससे ध्वनित है कि सत्संस्कार-शून्य ऐन्द्रियज्ञानमात्र पर निर्भर लोग मन से आत्मनिश्चय नहीं कर पाते। संस्कारवान् तो करते ही हैं। 'संकल्प' से भी विशेषता का निर्धारण करना विवक्षित है। 'कामः सङ्कल्पः' आदि श्रुति में संकल्प का जो अर्थ है वही यहाँ समझना चाहिये। अथवा संकल्प का मतलब विचार है। पहले 'बुद्धिमनसोरेकत्वेन' कहा था अतः संकल्प से मन और निश्चय से बुद्धि को कह दिया। 'अवभासकम्' शब्द से बताया कि चेतन ही मन का अधिष्ठान है अतः मनका विषय नहीं। अवभासशब्द अध्यास को कहता है यह वाचस्पति ने स्पष्ट किया है। जैसे मृगमरीचिका का जल अपने अधिष्ठान को भिगा नहीं पाता ऐसे मन अपने अधिष्ठान चेतन को विषय नहीं कर पाता। इसलिये अधिष्ठानसमसत्ताक विषयता का ही निषेध है यह स्पष्ट हो गया। इतना ही नहीं, चेतन मन का प्रकाशक अर्थात् उससे प्रत्यक् भी है इसलिये भी मन विषय नहीं कर पाता। किंच चेतन है मन का नियन्ता; 'आधार' रूप से वह मन से एकमेक भी हो रखा है, यही नियन्तृत्व है, अतः 'खुद' को मन कैसे विषय करे? 'मनसोऽवभासकत्वेन नियन्तृत्वात्' का यही अभिप्राय है यह अगला भाष्यवाक्य ही प्रमाणित कर सकता

है जो इसी सूत्र का विवरण है।

साथ ही कैमुतिकन्याय से भी यह समझाते हैं – **सब विषयों की अपेक्षा अन्तःकरण ही प्रत्यक् है इसलिये अपने को विषय नहीं करता तो जो उसका भी आत्मा है उसे क्या विषय करेगा!** जैसे प्रमाण प्रमाणित नहीं हो पाते ऐसे ही मन भी 'मत' (विषयीकृत, व्याप्त) नहीं हो सकता और मन में प्रत्यक्त्व है ही। अतः प्रत्यक्त्व-अमतत्व का संबंध मन में निर्धारित होने पर आत्मा की प्रत्यक्ता से उसकी अमतता को समझने में कठिनाई नहीं होती। दृश्यों में होने वाले प्रत्यक्त्व की अंतिम सीमा मन में है। प्रत्यक्तम तो प्रत्यङ्मात्र है। देहादि प्रत्यक् होने पर भी मत हो जाते हैं पर प्रत्यक्तर मन नहीं हो पाता। अतः वास्तविक प्रत्यक्तम के लिये दृश्यों में जो प्रत्यक्तम है उसी का उदाहरण उचित है।

मनस्त्वात्मविषयः

अन्तःस्थेन हि चैतन्यज्योतिषाऽवभासितस्य मनसो मननसामर्थ्यम्। तेन सवृत्तिकं मनो येन ब्रह्मणा मतं विषयीकृतं व्याप्तम् आहुः कथयन्ति ब्रह्मविदः। *'मनो मत' मिति; येन ब्रह्मणा मनोऽपि विषयीकृतं नित्यविज्ञानस्वरूपेणेत्येतत्। सर्वकरणानामविषयं तानि च सव्यापाराणि सविषयाणि नित्यविज्ञानस्वरूपावभासतया येनावभास्यन्त इति श्लोकार्थः। 'क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति' (१३.३३) इति स्मृतेः। 'तस्य भासा' (मुं.२.२.१०) इति चाथर्वणे।*

मन तो आत्मा का विषय है

मन का मनन-सामर्थ्य, उसका 'मनस्त्व', इसी से है कि वह अपनी अपेक्षा प्रत्यग् रूप से स्थित चेतन-प्रकाश से अवभासित है। इसलिये ब्रह्मवेत्ता कहते हैं 'जिस ब्रह्म से वृत्तियों समेत मन विषय किया हुआ या व्याप्त है'। 'मन का मन' से जो कहा था वह सभी यहाँ समझ लेना चाहिये। 'अन्तःस्थेन' का मुख्यार्थ तो प्रत्यक्त्वेन स्थित ही है लेकिन आत्मा की प्रतिबिम्बरूप से मन में स्थिति भी विवक्षित है। चेतनज्योति मन को अवभासित करती है उससे प्रत्यक् रहकर और उसे प्रकाशमय बनाने के लिये वही ज्योति मन के अंदर स्थित हो जाती है, उसमें प्रतिबिम्बित हो जाती है। यही अभिप्राय विषयीकृत और व्याप्त से द्योतित है।

'मतं विषयीकृतं व्याप्तम्' कहा तो प्राप्त हुआ कि ब्रह्म द्वारा मन को विषय करना भी कोई यत्नादिसाध्य अनित्य कार्य ही होगा जैसे हम लोगों द्वारा घटादि को विषय करना। जैसे घट को मत बनाने के लिये हमें वृत्त्यादि चाहिये ऐसे ब्रह्म को भी कुछ अपेक्षित होगा। इस प्राप्ति को हटाते हैं – **'येन' ब्रह्म से अर्थात् नित्यविज्ञानस्वरूप से मन भी विषय किया गया है।** ब्रह्म अखण्ड ज्ञानमात्र है, मन का उसके संमुख होना (उस पर अध्यस्त होना) ही मन का उसके द्वारा मत होना है, विषय या व्याप्त होना है। हमारे द्वारा घटादि की तरह मन ब्रह्म द्वारा विषय नहीं किया जाता। वहाँ वैसी विषयता नहीं जैसे हम लोगों के व्यवहार में प्रसिद्ध है। अत एव भाष्यकार ने 'च्वि' का प्रयोग किया। लोकप्रसिद्ध विषय जैसा होता है वैसा न होने पर भी उसे ब्रह्म विषय बना देता है यह 'च्वि' का अर्थ संगत हो जाता है। अत एव वृत्त्यादिस्थानीय अन्य कुछ नहीं चाहिये। जैसे सूर्य घट को व्याप्त करने, विषय करने, के लिये कुछ नहीं चाहता ऐसे परमात्मा को भी कुछ अपेक्षित नहीं। श्रुति ने इसी बात को यों सूचित किया है: 'मनुते' से कर्तृत्व को प्रधान कहा जबकि 'मतम्' में कर्मव्याच्य का प्रयोग किया। मन विषय होता है यह तो ठीक है लेकिन ब्रह्म उसे विषय 'करता' नहीं, ब्रह्म से वह विषय हो जाता है। यद्यपि इससे ही काफी स्पष्टता है तथापि 'येन' से कहे कर्तृत्व से भी कहीं भ्रम न हो इसलिये श्रुति ने कहा कि उससे मन मत हो ऐसा नहीं, यह तो केवल 'आहुः' कहा जाता है! यद्यपि 'आहुः' सर्वत्र समझना चाहिये तथापि वाक्, चक्षु, श्रोत्र और प्राण पर्यायों में श्रुति ने 'आहुः' नहीं कहा, मनः-पर्याय में ही कहा क्योंकि अन्यत्र तो मनोद्वारक विषयता कथंचित् संभाव्य है पर मन की विषयता में ऐसा नहीं। मन ही 'प्रथमविकार' है; चूडामणि में अहंकार-नाम से इसे ही कहा है। यद्यपि यहाँ भी अविद्या को द्वार कह देते हैं तथापि अज्ञात ब्रह्म से अतिरिक्त अविद्या न मानने पर ब्रह्म से अलग

कर उसे द्वार कहना कठिन हो जाता है। अतः श्रुति का 'आहुः' पद सार्थक है।

तीसरे वाक्य में 'अविदितादधि' कहा था। चौथे आदि मंत्र उसी आगम के व्याख्याता हैं। वागादि सब विदित हैं। अविदित से अन्यता की व्याख्या यहाँ मन से ही की है। 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' आदि श्रुति के एवकार के अनुरोध से मन-शब्द अज्ञान का बोधक मानना पड़ता है। योगवासिष्ठ में कई जगह अज्ञान को मन शब्द से कहा गया है। अतः अज्ञान ब्रह्म को विषय नहीं करता, ब्रह्म ही उसे सत्ता-स्फूर्ति देता है, विषय करता है। यह भी इस मंत्र का द्योत्य अर्थ है। निर्विभाग चेतन का अज्ञान-आश्रय-विषय होना भी शुद्ध चेतन का मनोविषय होने की तरह ही समझना चाहिये अर्थात् विषयसमानसत्ताक आश्रयत्व-विषयत्व नहीं है। 'मै अज्ञ हूँ' 'मैं खुद को नहीं जानता' आदि में अज्ञान ही मत हो रहा है। बल्कि अज्ञान इसी तरह प्रत्यक्ष होता भी है, 'यह अज्ञान' इस तरह नहीं।

एवं च 'ब्रह्मणा विज्ञानस्वरूपेण सता' ऐसी योजना कर लेनी चाहिये।

चतुर्थादि मंत्रों का अभिप्राय संक्षेप में बता देते हैं - **सभी करणों का जो विषय नहीं है, बल्कि अपने व्यापारों और विषयों समेत सब करण ही जिससे इसलिये अवभासित होते हैं कि वह नित्यविज्ञानस्वरूपावभास है, वह ब्रह्म ही तू है। 'यद्वाचा' आदि श्लोकों का तात्पर्य यही है।** 'सभी' कहने से कारण भी गृहीत हो गया। कारण भी करण है ही। अतः अविद्या-तत्कार्य की अविषयता बता दी। केवल करण ही नहीं, व्यापारों और विषयों का भी वह विषय नहीं। भावप्रधान निर्देश कर बहुव्रीहि का प्रयोग होने से 'अविषयम्' कहा है। अर्थात् ब्रह्म अज्ञान का, शास्त्र का, अखण्ड वृत्ति का, और सब प्रत्ययों का विषय तो है, उसे विषय कहा-समझा तो जाता है, लेकिन उसमें इनकी किसी की भी विषयता नहीं है। जिससे सब करण अवभासित होते हैं वह नित्य अर्थात् सद्रूप है, विज्ञान अर्थात् चिद्रूप है, स्वरूप होने से प्रिय अर्थात् आनन्द है और अवभास अर्थात् अधिष्ठान है। जब तक वह अवभास है तभी तक ये अवभास्य हैं। अज्ञात ब्रह्म ही अधिष्ठान है, ज्ञात ब्रह्म अधिष्ठान नहीं तो उससे ये अवभास्य भी नहीं।

ब्रह्म ही सर्वावभासक है इसमें प्रमाण देते हैं - **स्मृति में कहा है कि क्षेत्री पूरे क्षेत्र को वैसे ही प्रकाशित करता है जैसे एक रवि इस सारे लोक को प्रकाशित करता है।** उक्त स्मृति में क्षेत्री से क्षेत्रज्ञ समझना चाहिये जिसे 'मां विद्धि' कहा जा चुका है। अतः क्षेत्री से परब्रह्म ही विवक्षित है यह स्पष्ट करने के लिये इसी अर्थ में श्रुति का प्रमाण देते हैं -**'उसके प्रकाश से यह सब विभात होता है' यह अथर्ववेद ने भी प्रकाशित किया है।** भाष्यकारों ने 'क्षेत्री' उद्धरण से त्वम्पदार्थ से प्रकाशित होना और 'तस्य' उद्धरण से तत्पदार्थ से प्रकाशित होना कहकर जिससे प्रकाशित होता है वह एक है यों वाक्यार्थ समझाया है। इससे सूचित होता है कि 'यद्वाचा' आदि श्लोकों के प्रथमार्ध को त्वमर्थपरक भी समझ कर द्वितीयार्ध से उसका तदर्थ से अभेद कहा है ऐसी योजना संभव है। हमारा साधारण अनुभव प्रायः यही है कि करणों को हम प्रयोग में लाते हैं और यह भी कि अपने करणों से हम विषय नहीं होते, हम खुद को देख-सुन-पकड़ आदि नहीं पाते। अतः उक्त ढंग से भी तात्पर्य समझा जा सकता है।

उत्तरार्धार्थः

तस्मात् तदेव मनस आत्मानं प्रत्यक् चेतयितारं ब्रह्म विद्धि। नेदम् इत्यादि पूर्ववत्।।५।।

मन्त्र के उत्तरार्ध का अर्थ

'विद्धि' और 'नेदम्' आदि का अभिप्राय वैसा ही है जैसा चौथे मंत्र के भाष्य में बताया था अर्थात् — ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ जानने के लिये यत्न नहीं करना चाहिये। 'विद्धि' 'जानो' कहने पर शंका होगी कि मन का अविषय कह रहे हो तो जानने को कैसे कहते हो? अतः टीकाकार कहते हैं कि 'जानो' का लक्षणा से अर्थ है उससे अतिरिक्त को मत

जानो, ब्रह्मातिरिक्त को जानने का प्रयत्न छोड़ो। 'ब्रह्म जानने के लिये यत्न करो' यह अर्थ नहीं है। ब्रह्मज्ञान के लिये विचारादि यत्न कर्तव्य है अर्थात् यत्न का विषय विचारादि है, ज्ञान नहीं। सर्वत्र ज्ञानविधि ('जानो' आदि) का तात्पर्य विचारादि उपायों के विधान में ही है।

जो विषय होता या हो सकता है वह अवश्य ही पराक् होने से आत्मा का व्यभिचारी होगा। उसे आत्मा माना तो उसमें प्रेम होगा ही पर वह प्रिय होने पर रुलायेगा, बिछुड़कर। जो विषय हो ही नहीं सकता वह परम प्रत्यक् आत्मा का व्यभिचारी भी नहीं हो सकता। उसे आत्मा जानने पर कभी रोना नहीं पड़ेगा। अतः भाष्यकार प्रत्यक्ता को हेतु बनाकर कहते हैं - **इसलिये वही जो मन का आत्मा है, भीतरी जानकार है, उस ब्रह्म को तू जान। 'नेदम्' आदि का अर्थ चौथे मंत्र की तरह ही है।** 'आत्मा' अर्थात् जो मन को व्याप्त करता है, ग्रहण करता है, मन में बैठकर विषयभोग करता है और हमेशा — मन न रहने पर भी—बना रहता है। 'चेतयिता' ण्यन्तप्रयोग है अतः 'ज्ञान कराने वाला' यह अर्थ है। मन में जो ज्ञान होता है उसे कराने वाला आत्मा है। मन के ज्ञान से जानकार आत्मा ही होता है, मन जानकार नहीं बनता, जानकारी बनकर रह जाता है। अतः मन की ज्ञानरूपता का कारण होने से चेतयिता जानकार कहा जाता है।।५।।

षष्ठो मन्त्रः

मन्त्रः

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूꣳषि पश्यति। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।६।।

छठा मन्त्रः मन्त्र का अर्थ

चक्षुषा = आँखों से लोग **यत्** = जिसे **न** = नहीं **पश्यति** = देखते, बल्कि **येन** = जिस चेतना से लोग **चक्षूंषि** = आँखों को **पश्यति** = विषय करते हैं, **तदेव** = उसे ही **त्वम्** = तू **ब्रह्म** = ब्रह्म **विद्धि** = जान **इदम्** = इसे **न** = नहीं **यद्** = जिस **इदम्** = इसकी **उपासते** = उपासना करते हैं।

अनुभूयमान ज्ञेय नाम-रूप-कर्मात्मक है। परमात्मा नामादि से वर्जित है। अतः अब तीन मंत्रों में क्रमशः रूप, नाम और कर्म तीनों का उसमें निषेध करने के लिये चक्षु, श्रोत्र और प्राण की अविषयता बता रहे हैं। आँख-कान से सब ज्ञानेन्द्रियाँ तो समझ ही लेनी चाहिये। लौकिक चीज़ों को समझने का प्रधान उपाय आँखे हैं और पारलौकिक को समझने का कान। आत्मा लौकिक नहीं अतः आँखों से नहीं दीखता। नीरूप तो कदाचित् दीख भी जाता है, जैसे क्रिया, किन्तु अलौकिक नहीं दीख सकता। आत्मा दीखे भले ही नहीं मगर है अवश्य क्योंकि उसी से तो हम जानते हैं कि 'मेरी आँखें हैं'। बाकी सब आँखों से जानें लेकिन आँखों को आत्मप्रकाश से ही जानते हैं। आँखों का मतलब गोलक नहीं, इंद्रियव्यापार समझने चाहिये। 'मैं देख रहा हूँ' यह किससे पता चलता है? मुझसे। यद्यपि कह सकते हैं कि मन से पता चलता है तथापि जब मन को ही प्रकाश्य कह चुके हैं तब वह प्रकाशक नहीं माना जा सकता। जैसे आरुण्यादि का क्रयण से ही संबंध है लेकिन गाय के द्वारा, ऐसे ही चक्षु आदि आत्मा से ही प्रकाश्य है, मन के द्वारा। बिना मन को द्वार बनाये आँख और आत्मा का सम्बंध हो नहीं सकता इसी से मन की जरूरत है, संबंध तो आँख का आत्मा से ही है।

शंकरानन्दजी ने 'चक्षूंषि अक्षिणी पश्यति अवगच्छति' का अर्थ स्पष्ट किया 'चक्षुषः सर्वकार्यकारणमित्यर्थः।' अतः उनका अभिप्राय है 'जिससे आँखें देखती हैं' - यह 'येन' आदि का अर्थ है, ऐसा नहीं समझना चाहिये क्योंकि तब वे 'अवगच्छतः' अर्थ करते। अतः 'आँखों को जानता है' यही अर्थ है। जानने का मतलब समझाया कि आँखें जो कुछ करें उसमें कारण होना, आत्मा के कारण ही आँखें देखती हैं। भाष्य में 'व्याप्नोति' से यह विवक्षित है यह तात्पर्य है। बहुवचन को द्विवचन इसलिए बनाया कि कोई यह न समझ ले कि 'जिससे दूसरों की आँखें देखता है' यह अर्थ है;

बहुवचन उपपन्न करने के लिये यही सहज ढंग होगा कि सब की आँखें विवक्षित हैं। ऐसा इसलिए नहीं समझना है कि दूसरे की आँखें अर्थात् इंद्रियाँ या उनकी वृत्तियाँ कभी हमें दीख नहीं सकती और गोलक यहाँ विवक्षित नहीं।

वस्तुतः 'मतम्' 'श्रुतम्' आदि की तरह 'दृष्टानि' आदि कुछ कहा होता तो श्रुतिवाक्य ही स्पष्ट रहता। तात्पर्य तो वही है। तथापि 'पश्यति' से इसी ढंग से मत होना, श्रुत होना आदि भी अनुभवारूढ कर लेना चाहिये।

मन्त्रार्थः

यच्चक्षुषा न पश्यति न विषयीकरोति अन्तःकरणवृत्तिसंयुक्तेन लोकः। येन चक्षूंःषि अन्तःकरणवृत्तिभेद-भिन्नाश्चक्षुर्वृत्तीः पश्यति चैतन्यात्मज्योतिषा विषयीकरोति व्याप्नोति। तदेव इत्यादि पूर्ववत्।।६।।

मन्त्रार्थ

अन्तः करणवृत्ति समेत चक्षु से जिसे लोग नहीं देखते बल्कि अन्तःकरणवृत्तिभेदभिन्न चक्षु-वृत्तियों को जिस चैतन्य-आत्मज्योति से विषय करते है, व्याप्त करते हैं, वही ब्रह्म है यह जानना है। 'अन्तःकरणवृत्तिसंयुक्तेन लोकः।' – यह क्वाचित्क पाठ है (प्राध्यापक हिरियन्ना ने यह पाठ लिया है)। आनंदाश्रमादि संस्करणों में 'लोकः' यहाँ नहीं है। तथापि 'संयुक्तेन चक्षुषेति पूर्वत्र सम्बन्धः' यह गोविन्दप्रसादिनी टिप्पणी है। अथवा 'संयुक्तेन ज्योतिषा पश्यति' यह अन्वय समझ सकते हैं। चिज्ज्योति मनोयुक्त होकर चक्षु-वृत्तियाँ दिखाती है। लोग जिस ज्योति से चक्षुओं को देखते हैं वह ज्योति मनोयुक्त होती ही है यह अभिप्राय है। 'अन्तःकरणवृत्तिभेदभिन्नाः' में भिन्नपद का अर्थ संभिन्न अर्थात् संयुक्त है ऐसा कुछ का कहना है। कुछ अनुवादक 'अन्तःकरण की नाना वृत्तियों की अपेक्षा भिन्न चक्षु-वृत्तियों को' ऐसा अर्थ करते हैं। 'अन्तःकरण की वृत्तियों के भेद से विभिन्न हुई' ऐसा भी अनुवाद मिलता है। 'येन स्वप्रवृत्तिनिमित्तेन अन्तःकरणवृत्तिविशिष्टचक्षुर्वृत्तयः चक्षूंषि पश्यति लोकः' यह उपनिषद्ब्रह्मयोगी की व्याख्या है। वस्तुतस्तु मनःपदार्थ के विचार में बृहदारण्यकवार्तिकादि के प्रमाण से इन्द्रियाँ मनोवृत्तिरूप हैं यह बता चुके हैं। सूत्रभाष्य में (२.५.७) कहा है 'यदेव ह्युपलब्धिसाधनं वृत्तिरन्यद्वा तस्यैव नः करणत्वं, संज्ञामात्रे विवादः'। अतः 'अन्तःकरणवृत्तिभेद रूप से भिन्न जो चक्षु नामक वृत्तियाँ, उन्हें' – यह सरल अर्थ है। वृत्तिभेद अर्थात् वृत्तियों का समूहविशेष या जातिविशेष, मन की जिन वृत्तियों को चक्षु कहते हैं उनसे तात्पर्य है। वे वृत्तियाँ 'भिन्न' हैं अर्थात् श्रोत्रादि वृत्तियों से भी अलग हैं और आपस में भी नाना व्यक्ति हैं। वृत्ति-वृत्तिमान् का भेद है इस दृष्टि से वे मन से भी भिन्न हैं। सर्वथापि चक्षु को 'देखने वाला' जो बनाता है वह चक्षुर्नियोजक ब्रह्म है।।६।।

सप्तमो मन्त्रः

मन्त्रः

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदꣳश्रुतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।७।।

सातवाँ मन्त्र : मन्त्राक्षरों का अर्थ

यत् = जिसे **श्रोत्रेण** = कान से लोग **न** = नहीं **शृणोति** = सुनते, **येन** = जिससे **इदम्** = यह **श्रोत्रम्** = कान **श्रुतम्** = 'सुना' जाता है **तद्** = उस **ब्रह्म** = ब्रह्म को **एव** = ही **त्वम्** = तू **विद्धि** = जान, **इदम्** = यह **यद्** = जो **उपासते** = उपासित होता है **इदम्** = इसे **न** = नहीं।

रूपरहित ब्रह्म चक्षु से नहीं दीखता, इसी तरह नामरहित ब्रह्म कानों से नहीं सुना जाता। श्रोत्र शब्द की उपलब्धि का साधन है। प्रायः सुनते हुए पता रहता है 'यह देवदत्त बोल रहा है, यह वीणा बज रही है' आदि और ऐसा लगता नहीं

कि 'शब्द सुनकर अनुमान कर रहा हूँ कि देवदत्त बोल रहा है' आदि। जैसे देवदत्त का रूप देखना देवदत्त को देखना है ऐसे ही उसका शब्द सुनना उसे सुनना है। प्रयोग भी होता है 'हमने गाँधी जी को सुना है, अमुक को सुनकर आ रहे हैं' आदि। मनोवृत्तिविशेष को श्रोत्र मान लेने पर ये सारे अनुभवादि संगत हो जाते हैं, अन्यथा अननुभूयमान वृत्त्यन्तरकल्पनायें करनी पड़ती हैं। इसलिये केवल शब्दात्मक न होने से वह न सुना जाता हो इतना ही नहीं, उसका कोई शब्द नहीं है इसलिये भी वह नहीं सुना जाता। 'आत्मा श्रोतव्यः' से ब्रह्म को शब्दात्मक मानने वाले शब्दब्रह्मवादी 'यच्छ्रोत्रेण' आदि की सहज व्याख्या नहीं कर सकते। इस प्रकार ब्रह्म शब्दात्मक न मानने वाले के लिये यह समस्या नहीं कि उसको सुनना प्राप्त ही नहीं तो निषेध क्यों, क्योंकि शब्दात्मक न होने पर भी उसका शब्द (अर्थात् वह बोलता आदि है) तो प्राप्त है ही जिसका निषेध कर रहे हैं। चेतन होने से उसका शब्द है यह मानना स्वाभाविक है तथा वादी लोग 'भगवान् की वाणी' मानते भी हैं, विधर्मी भी कहते हैं कि भगवान् शब्दों से उपदेश देते हैं जो पैगम्बरादि सुनते हैं। अतः यहाँ 'न शृणोति' से न केवल शब्दब्रह्मवाद का खण्डन है बल्कि भगवान् की वाणी मानने वालों का भी खण्डन है।

सिद्धान्ती जब शास्त्रादि को ईश्वर-उपदेश कहता है तब भी वह शास्त्र को व्यावहारिक और उपदेष्टा को औपाधिक ही मानता है। 'यत्' से 'जिसका उपदेश' — यह अर्थ करें तब तात्पर्य है कि लोग प्रायः वेदादि-सच्छास्त्र सुनते ही नहीं। सुनने वालों में भी अधिकतर मानते नहीं। बात मानना भी सुनना कहा जाता है जैसे कहते हैं 'न च कश्चिच्छृणोति मे'। किं च शास्त्रतात्पर्य का निर्धारण करने वाले भी महावाक्यादि से ब्रह्म को जानते हैं पर उसे कान से सुनते हों ऐसा नहीं। वाच्यार्थ ही कान से सुना जाता है, लक्ष्य नहीं।

वाक्, मन, चक्षु, प्राण किसी के लिये 'इदम्' नहीं कहा, श्रोत्र के लिए कहा। यद्यपि इससे सर्वत्र 'इदम्' समझ लेना चाहिये अर्थात् लोकप्रसिद्ध वागादि ही श्रुति कह रही है, तथापि यहीं 'इदम्' कहना भी विचारणीय है। भाष्य में दिगधिष्ठित आकाशकार्य श्रोत्र कहा है। शंकरानंदजी आकाश का प्रदेशविशेष ही उसे कहते हैं। 'इदम्' का यह अर्थ उन्होंने किया क्योंकि लोकप्रसिद्ध इसे ही कह सकते हैं। नैयायिक भी इससे सहमत होंगे। नैयायिक तो सूक्ष्म-स्थूल का भेद करते नहीं अतः (पंचीकृत) आकाश को ही श्रोत्र मान लेते हैं। शंकरानंदजी की दृष्टि से पुर्यष्टक में स्थित जो आकाशकार्यविशेष है वही आकाश का प्रदेशविशेष समझ सकते हैं। श्रोत्र को मनोवृत्तिरूप मानने पर भी आकाशकार्यता में कोई अनुपपत्ति नहीं यह मनोविचार में कह चुके हैं। अतः देवताधिष्ठितत्व में भी विरोध नहीं। 'इदम्' कहना इसलिये है कि जो वादी ब्रह्म को नीरूप, निर्गन्ध, 'निर्गुण' आदि भी मानते हैं, वे भी यह तो स्वीकारते हैं कि ब्रह्म को सुना अवश्य जाता है! अतः श्रोत्र ब्रह्मज्ञान का प्रसिद्धतर उपाय है यह 'इदम्' से कहा। श्रोत्र की यह भी महत्ता है कि यह पाँचो इंद्रियों के विषयों का पर्याप्त स्पष्ट ज्ञान करा पाता है। चक्षुरादि तो रूप का ही ज्ञान कराते हैं लेकिन साहित्यिक वर्णनादि सुनने पर रूपादि सभी का हमें काफी साफ़ ज्ञान हो जाता है। यह बताना भी 'इदम्' का कार्य है। जैसे वागिन्द्रिय के लिये भाष्य में 'वागिति जिह्वामूलादिषु अष्टसु स्थानेषु विषक्तमाग्नेयं वर्णानामभिव्यंजकं करणम्' कहा था, केवल जीभ में अभिव्यक्त होने वाला नहीं कहा था, क्योंकि रोगादि से जीभ न रहने पर भी लोग बोलते हैं, ऐसे ही श्रोत्र का गोलक भी कर्णशष्कुलीमात्र मानने की जरूरत नहीं, शरीर के जिन अवयवों का उसकी अभिव्यक्ति में विनियोग है वे सभी उसके गोलक हैं। यही न्याय इन्द्रियान्तर में भी समझना चाहिए। प्रकृत में श्रोत्र से गोलक नहीं इन्द्रिय विवक्षित है।

'श्रुतम्' अर्थात् सुना गया है, किन्तु तात्पर्य विषयीकृत होने से ही है। साथ ही श्रोत्र को श्रवणसामर्थ्य देने वाला ब्रह्म है यह सूचित किया है। अतः 'येनेदं श्रुतम्' और 'येनेदं श्रोत्रम्' ऐसे दो वाक्य हैं। श्रोत्र के श्रुत होने में हेतु है — 'इदम्'—उसका विषयरूप होना। 'यस्माद् इदं तस्माच्छ्रुतम्' यह तात्पर्य है। इससे बताया कि यहाँ गिने हुए ही नहीं, जो कुछ भी इदङ्कारास्पद है, युष्मत्प्रत्ययविषय है, वह ब्रह्म से ही अवभासित है, सामर्थ्य पाया हुआ है और उसी से प्रकाशित है। श्रुति ने अतः 'सर्वमिदं विभाति' कहा।

उत्तरार्ध का यह भी अन्वय है 'यद् इदम् इदम् (इति) उपासते तत् त्वं ब्रह्म नैव विद्धि'; 'यह-यह' यों प्रत्यक् से पृथक् कर उपास्य को ब्रह्म समझने की भूल नहीं करनी चाहिये। भगवान् बादरायण ने भी अधिकरण रचा है 'आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च' (४.१.२); वैदिकों ने न केवल ब्रह्म को आत्मा समझा है बल्कि अन्यों को भी यही समझाया है।

मन्त्रार्थः

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति दिग्देवताऽधिष्ठितेन आकाशकार्येण मनोवृत्तिसंयुक्तेन न विषयीकरोति लोकः; येन श्रोत्रमिदꣳश्रुतं यत् प्रसिद्धं चैतन्यात्मज्योतिषा विषयीकृतम्; तदेव इत्यादि पूर्ववत्।।७।।

मन्त्रार्थ

मन लगाकर भी कान से ब्रह्म को कोई नहीं सुन सकता। शब्द जानने का करणभूत कान आकाश का कार्य है और 'दिक्' नामक देवता की कृपा से कार्यकारी रहता है। ऐसे कान से भी परमात्मा को विषय कर सकें यह संभव नहीं। 'मनोवृत्तिसंयुक्तेन' से मनोवृत्तिरूप इन्द्रिय पक्ष में विरोध नहीं। क्योंकि 'अन्यत्रमना अभूवम्' आदि से यह सूचित है कि मन कार्यान्तरव्यासक्त हो तो सुनना आदि नहीं हो पाता, अत एव कामिनीजिज्ञासा सभी कार्यों में प्रतिबंध करती मानी जाती है और अनुभव भी है कि मन अन्य कुछ सोच रहा हो तो शब्द (रव) सुनने पर भी अर्थ समझ नहीं आता, शब्दविशेषों का भी ग्रहण नहीं होता; इसलिये 'मनोवृत्तिसंयुक्तेन' का अर्थ है 'मन को अन्यत्र लगाये बिना'। मन इकट्ठे ही कई वृत्तियाँ बनाता है। कणाद-गौतम के अनुयायियों की तरह हम मन अणु तो मानते नहीं, मध्यम परिमाणी मानते हैं। दृश्य-दर्शन-द्रष्टा तीन वृत्तियाँ प्रसिद्ध ही हैं, तीनों एक समय में अवश्य रहती हैं तभी 'मैं इसे देख रहा हूँ' यह अनुभव हो पाता है। सड़क पर चलते हुए, गाड़ी आदि यंत्र चलाते हुए युगपत् ही देखना-सुनना-करना सभी होता है। बीच-बीच में ऐसे क्षण मानने में कोई प्रमाण नहीं बल्कि अनुभवविरोध ही है कि हम बगल वाले की बात नहीं सुनते, सड़क नहीं देखते, गेयर नहीं बदलते आदि! ये सभी कार्य इकट्ठे होते हैं और इनके लिये मनोवृत्तियाँ चाहिये ही। अतः यहाँ युक्त नहीं संयुक्त कहकर भाष्यकारों ने एकाग्रता ही सूचिता की है। मन व इंद्रियों को तत्त्वान्तर मानने के पक्ष में भी यहाँ 'मैं सुनूँ' ऐसी सावधानात्मिका वृत्ति ही विवक्षित है। निर्वृत्तिक मन में भी बहुधा अचानक तेज आवाज से शब्दवृत्ति बनती ही है। अतः 'मनोवृत्तिसंयुक्तेन' को श्रोत्र करण हो इसके लिये अनिवार्य नहीं कह सकते। किंच तब 'मनःसंयुक्तेन' से ही काम चल जाता।

यद्यपि ब्रह्म से ही शब्द को सुनने का सामर्थ्य श्रोत्र पाये हुए है तथापि वह देवता से अधिष्ठित है। इसमें शास्त्र ही प्रमाण है। सूत्रकार ने यही हेतु दिया 'ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात्' (२.४.१५)। अत एव कल्पतरु में 'न चेश्वरेण सिद्धसाधनत्वम्' यह विचार उठा है। ईश्वर शास्त्रसिद्ध है तो शास्त्रोक्त देवताधिष्ठितत्व से परहेज क्यों? श्रोत्र में शब्द सुनने की योग्यता ईश्वरायत्त है, उसे विशेषों में विनियुक्त करने के लिये देवताव्यापार चाहिये और प्रायः जीवव्यापार भी चाहिये। जब हम कोशिश करके सुनते हैं तब हमारा भी व्यापार स्पष्ट है। अनचाहे सुनायी देता है अतः हमारा व्यापार अनिवार्य नहीं भी है। परिमलकार ने इसे व्यक्त किया है। जैसे कुछ कार्यों के लिये सरकार छोटे अफसर को अधिकार देती है कि बड़े अफसर की अनुमति होने पर वह अमुक आदेश देने में समर्थ है। ऐसे कार्य बड़े अफसर की अनुमति के बिना वह नहीं कर पाता यद्यपि छोटे अफसर को न चाहने पर भी बड़े अफसर के करने पर कार्य करना पड़ता है। दार्ष्टान्त में हम छोटे अफसर हैं, देवता बड़े अफसर हैं और सरकारस्थानीय ईश्वर है। एवं च 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' आदि से इंद्रियों का देवाधिष्ठित होने का विरोध नहीं। ऐसा नहीं कि देवतारूप ईश्वर से इंद्रियाँ लब्धसामर्थ्य हों; देवता केवल अधिष्ठाता हैं।

सर्वत्र प्रसिद्ध यह श्रोत्र ही चैतन्यात्मप्रकाश से विषय किया हुआ है। वह आत्मप्रकाश ही विज्ञेय है। 'चैतन्येन'

या 'चैतन्यज्योतिषा' ही न कहकर आत्मशब्द के निवेश से भाष्यकार ज्योति की प्रत्यक्ता बता रहे हैं। प्रथम पर्याय में 'चैतन्यज्योतिषा' कहा किन्तु 'विवक्षितेऽर्थे' से विवक्षु प्रत्यक् सूचित किया। द्वितीय में 'अन्तःस्थेन' शब्द से यही कहा। तृतीय-चतुर्थ-पंचम में आत्मपद रखा ही है। श्रौत 'येन' पद से प्रत्यक् की ही उपस्थिति नहीं होती अतः किसी परोक्ष को ही न समझ लिया जाये इसलिये भाष्यकार ने सावधानी बरती है। श्रोत्र का श्रोत्र यद्यपि परमेश्वर बताया जा रहा है तथापि उसे प्रत्यक्-स्थल पर समझाने के लिये, यह अभिप्राय है। किंच श्रोत्र नामक इंद्रिय भी यदि कथंचित् आँख आदि से दीख जाये तो भी आँखादि ब्रह्म नहीं हो जायेंगे क्योंकि केवल विषयीकरण विवक्षित नहीं, चित्प्रकाश से विषयी करण विवक्षित है, यह तात्पर्य है।।७।।

अष्टमो मन्त्रः

मन्त्रः

यत् प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।८।।

आठवाँ मन्त्र : अक्षरार्थ

प्राणेन = प्राण से लोग **यत्** = जिसे **न** = नहीं **प्राणिति** = विषय कर पाते, बल्कि **प्राणः** = प्राण ही **येन** = जिससे **प्रणीयते** = प्रणीत है, **यद्** = जो **इदम्-इदम्** = 'यह-यह' इस तरह **न** = नहीं **उपासते** = उपासित हो सकता **तद्** = उस **ब्रह्म** = ब्रह्म को **त्वम्** = तुम **विद्धि एव** = अवश्य जानो।

इस मंत्र में प्राण से घ्राण और पंचवृत्ति दोनों विवक्षित हैं। द्वितीय मंत्र में ही यह बात भाष्यकार स्पष्ट कर चुके हैं। अतः न ब्रह्म को सूँघ सकते हैं और न क्रिया से विषय कर सकते हैं—ये दो बातें यहाँ कही हैं।

सामान्य लोग मानते हैं कि चखने और छूने के लिये तो विषय से साक्षात् सम्बंध चाहिये लेकिन देखना, सुनना और सूँघना ये विषय दूर रहे तब भी संभव हैं। ब्रह्म दूर रहे तो भी ये तीन तो विषय कर सकेंगे — इस संभावना को हटाने के लिये श्रुति ने यहाँ तीन ज्ञानेन्द्रियों से अग्राह्य कहा है। ब्रह्म को सूक्ष्म, अलौकिक आदि तो प्रायः मानते ही हैं अतः उससे संयोगादि निकट का संबंध नहीं होता यह समझना कठिन नहीं इसलिये यह नहीं कहा कि उसे चख और छू नहीं सकते। अर्थतः वे भी विवक्षित हैं यह बात अलग है।

नाम-रूप के बाद कर्म आता है। प्रपंच कर्मात्मक भी है। ब्रह्म निष्प्रपंच है अतः उसका कर्म से सम्बन्ध नहीं। क्रिया भाव-अभावरूप है : जो, जहाँ या जैसा नहीं है वह, वहाँ या वैसा हो जाये—यही क्रिया है। पैर जहाँ नहीं है वहाँ हो जाये, जहाँ है वहाँ नहीं रह जाये इसी का नाम चलना है। इसमें सुरेश्वराचार्योक्त परिणाम-परिस्पन्द उभयविध क्रिया का संग्रह हो गया। घटभाष्योक्त परिणामवाद की भूमिका पर तो क्रिया को नित्य और व्यापक मान लेना पड़ेगा! अंतरिक्ष में अभिव्यज्यमान क्रिया भी पहले ही वहाँ ढकी थी यह स्वीकारना आवश्यक होगा। इन्ही असंगतियों से गीताभाष्य में परिणाम को आरम्भ के तुल्य योग-क्षेम वाला माना है। फिर क्रिया कैसे समझें? सजावट में बत्तियाँ जलाते हैं तो कई जगह ऐसी व्यवस्था होती है कि पंक्ति की एक बत्ती जलेगी तो दूसरी बुझेगी और दूसरी जलेगी तो पहली बुझेगी। यह प्रक्रिया काफी तेज़ी से चलती है। ऐसी पंक्ति देखने पर चलने का अनुभव स्पष्ट होता है। जैसे वह क्रिया है वैसे ही क्रियायें समझ लेनी चाहिये। अतः कहा जाता है कि हर 'कदम' स्थिर है, सब कदम मिलकर क्रिया हैं। किसी भी एक क्षण की दृष्टि से तो 'चलती' चीज़ भी स्थिर है लेकिन पूर्वोत्तर स्थितियों की अपेक्षा से वह चल रही है। अतः स्थिर स्थितियों का क्रमविशेष (पौर्वापर्य, पारंपर्येण भाव-अभाव) ही क्रिया है। अतएव अनित्य, अव्यापक में ही क्रिया संभव है। ब्रह्म में क्रिया असंभव है। उत्पाद्यादि ही क्रियाविषय भी होते हैं। वैसा न होने से वह क्रियाविषय भी नहीं।

उक्त दृष्टि से क्रिया ज्ञानाधीन है: जो वस्तु को विभिन्न स्थलों पर देख रहा है उसे वस्तु क्रियाशील दीखेगी, जो उसी वस्तु को एक स्थल पर देख कर विरत हो गया उसे तभी वही वस्तु निष्क्रिय दीखेगी। अतः क्रिया को प्रणीत (संभव) करने वाला चिदात्मा कहा गया। सृष्टिदृष्टि में भी भावाभाव परम्परारूप क्रिया ब्रह्माधीन है : अवच्छिन्न सद्रूप ब्रह्म का अनावृत रहना ही अवच्छेदक का भाव है, उसका आवृत रहना ही अवच्छेदक का अभाव है। अतः सद्ब्रह्म ही क्रिया का प्रणेता है। अथवा लोकसिद्ध है कि क्रिया चेतन-प्रेरित हुआ करती है अतः जहाँ चेतन प्रतीत नहीं होता वहाँ भी वह अनुमेय हो जायेगा। चिन्मात्र क्रियाप्रेरक न होने पर भी सोपाधिक चैतन्य प्रेरक होता ही है अतः अधिष्ठाता रूप से या ईश्वररूप से ही सर्वत्र क्रियाप्रणेता परमात्मा निश्चित हो जाता है।

प्राण प्रधानतः जीवनशक्ति को कहते हैं। उसका प्रणयन चेतन से होता है। अतः प्राण से चेतन का होना पता लगाया जाता है। प्राण न प्रतीत हो तो चेतन ने शरीर छोड़ दिया ऐसा माना जाता है। चेतनपद से सोपाधिक समझना है यह स्पष्ट है। कुछ वादी पशु पौधे आदि में प्राण मानकर भी चेतन नहीं मानते। वे ज्ञानशक्ति के विकसित रूपविशेष को, सीधा कहें तो केवल मनुष्य देह को, चेतन-अभिव्यक्ति का स्थल मानने को उत्सुक हैं। पशु आदि में 'कर्तव्यबुद्धि' है या नहीं इसे न जान सकने से वे उन्हे चेतन नहीं स्वीकारना चाहते। किन्तु बेहोश व्यक्ति (मनुष्य) को वे चेतन मान लेते हैं। यदि कोई बच्चा बेहोशावस्था में पैदा हो (या पागल ही पैदा हो) तो उसमें कर्तव्यबुद्धि है इसका निश्चय कैसे किया जायेगा? संभावना का आधार क्या होगा? यदि मनुष्यत्वजाति वाला होना यही संभावनाहेतु मानें तो क्या शव को मनुष्य मानेंगे, चेतन मानेंगे? शव में कर्तव्यबुद्धि का अभाव प्रमीयमाण कैसे? प्राण को चेतनसम्बद्ध नहीं माना तो प्राणाभाव से कर्तव्यबुद्धि का अभाव क्यों समझा जायेगा? प्राणविशिष्ट मनुष्य शरीर में चेतन माने तो गर्भस्थ शिशु को चेतन मानना ही पड़ेगा पर उसमें कर्तव्यबुद्धि संभावित नहीं। और यदि कथंचिद् वह गर्भ में मर गया तो उस 'व्यक्ति' में कभी भी उक्त बुद्धि होगी नहीं। वही व्यभिचारस्थल हो जायेगा। यदि प्राणविशिष्ट उत्पन्न मनुष्य शरीर में चेतन कहें तो भ्रूणहत्या को चेतनहत्या नहीं मान सकेंगे जो उनके आगम से विरुद्ध है। यदि भ्रूणत्वेन ही उसका नाश पापहेतु कहें, चेतनत्वेन नहीं, तो भी उत्पन्न होकर तुरंत मृत बालक जितने क्षण सप्राण रहा उतने क्षणों तक व्यभिचारभूमि स्पष्ट है। किंच मनुष्यमात्र को चेतन मानेंगे तो फरिश्तों को—और ईश्वर को—जड मानना पड़ेगा! उन्हे प्राणवान् न मानकर चेतन मानें तो मनुष्यशव को भी मानना पड़ेगा। अतः उनकी कल्पनायें केवल मनघड़न्त हैं, यौक्तिक नहीं। प्राणी चेतन होता है यही स्वीकारना संगत है। बुद्धि-तारतम्य तो मनुष्यों में भी है अतः पशुओं में बुद्धि की न्यूनता हो तो कोई विरोध नहीं। पौधों के भी विभिन्न प्रयत्नों से उनकी बुद्धिमत्ता मानी जा सकती है। उपयोगानुसार पदार्थ ग्रहण करना, इसके लिये असामान्य प्रक्रिया अपनाना इत्यादि वनस्पति-जगत् में प्रयत्न स्थूल दृष्टि से ही समझ आ जाते हैं। प्राण है तो उसका प्रणेता चेतन है। यद्यपि वह सोपाधिक है तथापि उपाधिमात्र प्रणेता न हो सकने से चिन्मात्र के प्रणेतृत्व में उपाधि का द्वारभाव मानना चाहिये जैसा भगवान् सर्वज्ञमुनि समझा गये हैं।

प्रश्न होगा कि प्राणप्रणेता क्या विज्ञानोपाधि को मानेंगे या अविद्योपाधि को? अविद्योपाधि को मानें तो मृत्यु की व्याख्या क्लिष्ट होगी अतः विज्ञानोपाधि को मानना चाहिये। तब प्रपदाग्र से क्रियाशक्ति के प्रवेश का प्रसंग कैसे समझा जाये? वह प्रसंग विवेकोपयोग के लिये है, प्रवेशान्तर के तात्पर्य से नहीं। पुर्यष्टक का इकट्ठा ही प्रवेश-निर्गम मानना चाहिये। मन-प्राण को दर्पण के प्राक्-पश्चात् भाग की तरह अभिन्न कहकर आचार्यों ने भी इस बात को स्पष्ट किया है। 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' आदि शास्त्र भी इसमें प्रमाण है। विज्ञानोपाधिसाक्षित्व को प्रणेतृत्वप्रयोजक मानना चाहिये, तब 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' आदि से एकवाक्यता बनी रहेगी।

शंकरानन्दजी ने व्याख्या की है : जो प्रसिद्ध प्राण का प्राणरूप है वह पाँच वृत्तियों वाले प्राण से प्राणचेष्टा नहीं करता बल्कि प्रसिद्ध जो पाँच वृत्तियों वाला प्राण वही उस प्राण के प्राण से प्रकर्षेण नीत होता है अर्थात् प्राण का प्राणरूप

ब्रह्म पंचवृत्ति प्राण से प्राण की चेष्टायें कराता है। उत्तरार्ध तो स्पष्ट है। पूर्वार्ध में तात्पर्य है कि साक्षी साँस नहीं लेता या अन्य प्राणचेष्टायें भी नहीं करता। सुषुप्ति में भी अहमाकारवृत्ति मानी गयी है अतः उस समय भी प्राण का चलना उस वृत्ति वाले आत्मा से मान लेना चाहिये। अथवा 'प्राणचेष्टां न करोति' का मतलब 'प्राणचेष्टाविषयं न करोति' है। तब तो पूर्वपर्यायों वाला ही अर्थ है। ऐसी व्याख्या कर उन्होंने यह सूचित किया है कि जैसे औपाधिक ज्ञान से अन्य स्वरूपज्ञान है ऐसे औपाधिक क्रिया से अन्य स्वरूपक्रिया नहीं है। उपाधि न होने पर भी आत्मा ज्ञान तो है पर उपाधि के बिना आत्मा क्रिया नहीं है। क्रिया भावमात्र न होकर भावाभावक्रमरूप होने से आत्मा भावमात्र रहते क्रिया नहीं हो सकता। जैसे निरुपाधिक आत्मा अज्ञान नहीं हो सकता ऐसे ही वह क्रिया नहीं हो सकता। तब क्रिया को आत्मायत्त क्यों मानें? मन का ज्ञान तो आत्मायत्त है क्योंकि ज्ञानरूप आत्मा का प्रतिबिम्ब है किन्तु यदि क्रियारूप आत्मा का प्रतिबिम्ब नहीं तो प्राणादिक्रिया आत्मायत्त कैसे? जैसे अज्ञान आत्मा का प्रतिबिम्ब न होने पर भी आत्माधिष्ठित होने से आत्मायत्त है ऐसे ही क्रिया को समझ लेना चाहिये। सद्रूप आत्मा की अपेक्षा से ही निरूपणीय होने से क्रिया का आत्मायत्तत्व है, प्रतिबिम्बतया नहीं। अत एव प्राणमय से मनो-विज्ञानमय की प्रत्यक्तरता है। इसीलिये कौषीतक्युपनिषत् में इन्द्रोपदेश के बाद अजातशत्रु का उपदेश है। कुछ आधुनिक आचार्यप्रवरों ने कह दिया है कि वेदान्तप्रकरणादि में आत्मा की क्रियाशक्ति की उपेक्षा की गयी है, ज्ञानशक्ति का ही विशेष विवेचन है। 'उपेक्षा' का कारण यही है कि जैसे 'ज्ञानं ब्रह्म' आदि श्रुतियाँ सैकड़ों मिलती हैं ऐसे 'क्रिया ब्रह्म' श्रुति श्रुतिगोचर नहीं हुई। अतः ज्ञान में मुख्यसामानाधिकरण्य संभव है, क्रिया में नहीं। वह है आत्मशक्ति इसमें संदेह नही, तथापि असात्त्विक शक्ति होने से मुमुक्षुजनों के लिये उपेक्षणीय है जैसे तामस शक्ति उपेक्षणीय है जिससे वेदान्त प्रकरणादि में सांसारिक पदार्थों का भी विवेचनादि नहीं है। अतः तथाकथित अद्वैती जो शिवाद्वयवादी हैं वे जिस क्रियाशक्ति की चर्चा करते हैं उसे लक्षण-प्रमाण से निरूपित करने में सक्षम हो नहीं पाते। यह सत्य है कि वेदान्तों ने क्रियाशक्ति को आत्मा समझने का उपाय बनाया है किन्तु यह भी सत्य है कि उपनिषत् स्वयं क्रियाशक्ति की कमजोरी जानती है।

मन्त्रार्थः

यत् प्राणेन घ्राणेन पार्थिवेन नासिकापुटान्तरवस्थितेन अन्तःकरणप्राणवृत्तिभ्यां सहितेन, यद् न प्राणिति गन्धवद् न विषयीकरोति; येन चैतन्यात्मज्योतिषाऽवभास्यत्वेन स्वविषयं प्रति प्राणः प्रणीयते। *'येन प्राण' इति—क्रियाशक्तिरप्यात्मविज्ञाननिमित्तेत्येतत्।* तदेव इत्यादि सर्वं समानम्।।८।।

।। इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छङ्करभगवत्पादकृतौ केनोपनिषत्पदभाष्ये प्रथमः खण्डः ।।

मन्त्रार्थ

प्राण अर्थात् घ्राणेन्द्रिय पृथ्वी के सत्त्वांश से बनी है और नथुने इसकी गोलक का प्रधान क्षेत्र है। यह इंद्रिय कुछ सूँघे इसके लिये इसे मन की सावधानी तो चाहिये ही, साथ ही साँस खींचने की भी आवश्यकता पड़ती है। किन्तु इन दोनों सहायताओं को पाकर भी यह इंद्रिय ब्रह्म को वैसे विषय नहीं कर पाती जैसे सुगन्ध-दुर्गन्ध को करती है। अब तक किसी पर्याय में भाष्यकार ने यह नहीं कहा था कि जैसे अमुक को विषय करते हैं वैसे ब्रह्म को नहीं करते। यहीं कहा 'गन्धवत्'। वैसे तो इससे सर्वत्र व्यतिरेकी दृष्टान्त समझ ही लेने चाहिये लेकिन यहीं क्यों कहा यह भी विचारणीय तो है ही। चक्षु, श्रोत्र और घ्राण तीन ज्ञानेन्द्रियों का यहाँ उल्लेख है। चक्षु प्रायः सभी के मत में और श्रोत्र भी कुछ के मत में विषय पर्यन्त जाकर उसका ज्ञान करता है। किंतु घ्राण को विषय तक जाने वाला नहीं मानते, गंध ही घ्राण तक आती है, चाहे सहज ढंग से साँस के साथ आये और चाहे कोशिश कर लेनी पड़े। वह घ्राण पर आयेगी तभी घ्राण उसे सूँघेगा। अतः सूचित है कि प्रकृत में ऐसा भी नहीं है कि ब्रह्म ही हमारे सामने ऐसे आ जाये कि हम उसे विषय करें। हमारे सामर्थ्य से ब्रह्म तक पहुँच कर उसे विषय नहीं कर पाते इतना ही नहीं, वह भी इस योग्य नहीं कि हमारे संमुख

आ सके और हमारा विषय बन सके। 'गन्धवद्' से यह भी कहा कि सूँघने वाले के रूप से तो घ्राण ब्रह्म को 'विषयी करोति' मानो विषय बनाता ही है! च्वि से यह पता चलता है कि विषय न होने पर भी विषय होता है। विषय होने का मतलब उसके बारे में गै़र जानकारी हटना या घटना। गंध विषय हुई का यही अभिप्राय है। घ्राण आत्मा की भी गै़र-जानकारी हटाने या घटाने का उपाय तो बन जाता है। वह उसे पराक् रखते हुए ज्ञात नहीं करा पाता। अत एव 'न गन्धं विजिज्ञासीत घ्रातारं विद्यात्' (कौ.३.८) और 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः' (बृ.३.४.२) की एकवाक्यता स्पष्ट हो जाती है।

घ्राण तो ब्रह्म को विषय नहीं कर पाता लेकिन खुद तो वह ब्रह्म का विषय ही बना रहता है क्योंकि उस चैतन्य-आत्म-ज्योति से अवभास्य होने के कारण ही वह अपने विषय (=गन्ध) तक ले जाया जाता है। परमात्मा से ही घ्राण को यह सामर्थ्य मिला है कि वह गंध से सम्पर्क कर पाता है और उसे जान पाता है। आत्मदेव ही उसे इस कार्य में नियुक्त करता है।

केवल घ्राणेन्द्रिय ही नहीं 'येन प्राणः' से उपनिषत् यह भी बता रही है कि क्रियाशक्ति भी आत्मविज्ञान के निमित्त से ही है। भाष्यकार ने 'वक्तुर्वक्तिर्नित्या वाक् चैतन्यज्योतिःस्वरूपा', 'मनसः अवभासकम्' 'मनस आत्मानम्' कहा था तथा चक्षुरादि के लिये 'येन ...... चैतन्यात्मज्योतिषा विषयी करोति व्याप्नोति' यह कहा था। क्रियाशक्ति के संबंध में ही वे कह रहे हैं 'आत्मविज्ञाननिमित्ता'। अतः ज्ञानशक्ति का तो उपादान भी आत्मविज्ञान है यही सूचित होता है। हल्दी पर नींबू निचोड़ें तो हल्दी में जो खटास आती है उसका निमित्त ही नहीं उपादान भी नींबू है लेकिन उससे हल्दी जो लाल हो जाती है उसमें तो नींबू निमित्त ही है। तात्पर्य है कि स्वरूपभूत ज्ञान उपाधि से परिच्छिन्न होकर ज्ञानशक्ति बन गया, ऐसे वह क्रियाशक्ति नहीं बना वरन् उसके उपाधि से परिच्छिन्न हो जाने से उपाधि सक्रिय हो गयी। जैसे हरे काँच के पीछे सफेद रोशनी हो तो काँच से निकलने वाली किरणें हरा प्रकाश देंगी। उनकी प्रकाशरूपता पीछे की रोशनी से है और हरेपन में कारण काँच है। यद्यपि रोशनी भी हरे प्रकाश का कारण अवश्य है, क्योंकि केवल काँच से हरा प्रकाश नहीं निकल सकता, तथापि हरेपन के अंश में यह निमित्त ही है। ऐसे ही ज्ञानशक्ति में आत्मा कारण है और क्रियाशक्ति में निमित्त ही है यह स्वयं भाष्यवचन से प्रतीत हो रहा है।

'क्रियाशक्तिरपि' इस अपि से यह कहा कि ज्ञान की तरह क्रिया की विषयता भी आत्मा में नहीं है। क्रियाविषयता उत्पत्त्यादिरूप है और नित्यादि आत्मा में वह संभव नहीं।

इस प्रकार प्रथम खण्ड में शिष्य के प्रश्न का सूत्र और व्याख्यान दोनो ढंगों से उत्तर दे दिया। उस परम महेश्वर की अविषयता को बार-बार कहा जो अगले खण्ड के प्रारंभ में हेतु बन जाता है। 'विद्धि' को 'प्रतिबोधविदितम्' से स्पष्ट किया जायेगा, 'विद्ध्येव' अन्वय को 'इह चेदवेदीत्' आदि से सूचित करेंगे और 'नेदम्' के 'इदम्' को तीसरे खण्ड में समझायेंगे। इसलिये यह खण्ड बाकी ग्रंथ का आधार भी है।।

।। इति प्रथमः खण्डः ।।

द्वितीयः खण्डः

प्रथमो मन्त्रः

भ्रमनिरासायाचार्ययत्नः

एवं 'हेयोपादेयविपरीतः त्वमात्मा ब्रह्म' इति प्रत्यायितः शिष्यः 'अहमेव ब्रह्मेति सुष्ठु वेद अहं माम्' इति गृह्णीयाद्— इत्याशङ्क्य आचार्यः शिष्यबुद्धिविचालनार्थं 'यदि' इत्याह।

पहला मंत्र : शिष्य में संभावित भ्रम हटाने के लिये आचार्य का प्रयत्न

आद्य खण्ड में समझाया कि ब्रह्म का स्वभाव लोक से विलक्षण है। लोक में वस्तुएँ त्याज्य या ग्राह्य होती हैं किन्तु परमात्मा न त्याग के और न ग्रहण के योग्य है। ऐसी वस्तु एक आत्मा ही है, वही ब्रह्म है। यह समझाने पर शिष्य को यह प्रतीति हो सकती है 'मैं ही ब्रह्म हूँ—यों मैं अपने-आप को सही तरह जानता हूँ'। ऐसा सोचकर शिष्य की मति को विचलित करने के लिये गुरु 'यदि' आदि द्वितीय खण्ड का पहला मंत्र बोल रहे हैं।

'वेदान्तार्थनिर्णयस्य सम्यग्दर्शनार्थत्वात्' ऐसा तर्कपाद के प्रारंभ में भाष्यवचन है। वेदान्तोपदेश इसलिये है कि परमात्मसम्बन्धी कोई ग़लत ज्ञान या अज्ञान न बच जाये। अतः गुरु सच्छिष्य को बारम्बार तरह-तरह समझाते हैं और यह पक्का करने के लिये कि वह कहीं ग़लत न समझा हो, उससे भी पूछते रहते हैं। जैसे आकाश चाहे जितना स्वच्छ हो, रात्रि भी अमावस्या की हो, बताने वाला खगोल-प्रवीण हो, सुनने वाला सावधान और स्वस्थ नेत्रों वाला हो, फिर भी उसने अरुन्धती को पहचाना या नहीं यह जानने के लिये उससे कई तरह पूछना पड़ता है क्योंकि तारे प्रायः एक से दीखते हैं, ऐसे ही मिथ्यात्माओं से घिरे मुख्यात्मा के उपदेश को सुनकर मुख्य को ही जाना है या किसी मिथ्या को ही, यह निर्णय करने के लिये आचार्य का यत्न अपेक्षित है। अन्यथा विरोचन की तरह ग़लत समझ कर ही शिष्य प्रसन्न हो जायेगा। यद्यपि तत्त्वज्ञान को फलावसायी कहा है अतः शिष्य को भ्रम होना संभव हो यह संगत नहीं लगता तथापि जैसे सोने में यदि केवल दो-तीन प्रतिशत ही खोट रह जाये तो भी उसे पूर्ण शुद्ध मानने में अनुभवविरोध नहीं रहता, परीक्षा से ही विरोध होता है, इसी तरह मिथ्यात्मसमूह से अनात्माओं को हटाते-हटाते जब कुछ-एक ही उपाधियाँ रह जाती हैं तब जिसे परमात्मानुभव नहीं है वह इस भ्रम में पड़ सकता है कि यही शुद्धतम रूप है, मुख्यात्मा है। उदाहरणार्थ आचार्य आनंदगिरि की टीका जिसने न देखी हो वह भाष्य पढ़कर निःशंक समझता है 'मैं भाष्य का पूरा आशय समझ गया'। वह तो टीका हाथ लगने पर पता चलता है कि आशय क्या वाक्य-विभाजन भी ठीक नहीं समझ पाये थे! या जिसने मीनाक्षी, कामाक्षी, ज्ञानप्रसूनाम्बिका, शारदा आदि के श्रीविग्रहों का दर्शन नहीं किया वह कैलेण्डरों की तस्वीरों को ही 'सुन्दर' मान लेता है; बनारस में ठण्ड के समय जिसने पान न खाया हो उसे चाहे जो पत्ता 'मघइ' बताया जा सकता है; ताज़े चम्पा के फूल न सूँघे हों तो 'चम्पा' की अगरबत्ती को चम्पा की खुशबू मानने में कठिनाई नहीं होती; चन्द्रिका, रत्नावली आदि से अपरिचित व्यक्ति परिभाषा की शिखामणि को ही परिष्कार की सीमा मान सकता है; आत्मपुराण न सुना हो तो सभी पठित व्यक्तियों को लगता ही है 'हम उपनिषत् पर विस्तार कर सकते हैं', इसी तरह मुख्यात्मा अनावृत होने से पहले स्थूलादि कुछ कोशों से छूटे आत्मस्वरूप को 'मुख्य' समझना सहज है। विवेक की काष्ठा को प्राप्त सांख्यवादी तक भोक्ता को आत्मा मान बैठे तो अन्यों का क्या कहना! अतः आचार्य यहाँ शिष्य को निरुपाधि में प्रतिष्ठित करने के लिये विकल्प उठा रहे हैं।

'मैं', 'अपने-आपको', 'सही तरह' और 'जानता' - ये सभी पद ग़लत ज्ञान देने में चतुर हैं। 'मैं' से प्रत्यक् कहा जाता है किन्तु यहाँ वह उस प्रत्यक् को कहे जो व्यापक है तब तो ठीक है और अगर परिच्छिन्न के साक्षी को ही कहे तो ठीक नहीं। 'अपने-आप को' में 'को' का अर्थ वह नहीं होना चाहिये जो 'घट को जानता हूँ' में होता है। 'सही

तरह' में 'तरह' कोई नहीं होनी चाहिये। 'जानता' से ज्ञानवान् कहा जाता है लेकिन यहाँ सिर्फ ज्ञान विवक्षित होना चाहिये। इतना ही नहीं, 'मैं अपने को ब्रह्म जान रहा हूँ' यह कहते समय ही पता होना चाहिये कि न मैं कह रहा हूँ, न कोई सुन रहा है! इन समस्याओं को ध्यान में रखकर ही आचार्य पूछ रहे हैं।

वस्तुतः श्रुति का अभिप्राय है कि श्रोता (श्रवणकर्ता) को चाहिये कि इस तरह अपने ज्ञान की परीक्षा करता चले, कहीं खाड़ी को ही समुद्र मानकर आगे बढ़ने की कोशिश छोड़ न दे। जिसे बन्धानुभव है उसे शास्त्र उपदेश दे रहा है। बन्ध की आत्यंतिक निवृत्ति के लिये प्रयत्न विधेय है। निवृत्ति आत्यंतिक है इसे निश्चित करना है। निवृत्ति तो सुषुप्ति-समाधि में भी हो जाती है अतः निवृत्ति की अनुभूति भी उसके आत्यंतिकत्व में प्रमाण नहीं। वह तो उक्तविध परीक्षा से ही पता चलती है। 'बाध' तो साँप का मालाज्ञान से भी हो ही जाता है, केवल 'साँप न था, न है, न होगा' जानने के लिये रस्सी जानना अनिवार्य नहीं। एक भ्रम दूसरे भ्रम से कटता ही है। किन्तु 'मौली अविद्या' बिना निर्विशेष अनावृत हुए हटती नहीं; उसका अनावृत होना ही इसका हटना है। यह न हटे तो मोक्ष होकर भी नहीं होता। सभी विषयों में चाहे जितना तल-स्पर्शी ज्ञान हो, कोई नहीं कह सकता — और न कोई तलस्पर्शी जानकार कहता ही है — कि वही 'तल' है। किन्तु जब तक 'नातः परमस्तीति' (प्रश्न ६.८) निर्णीत न हो तब तक आत्यंतिकता प्रतिज्ञात नहीं होती। यह ज्ञान से अधिक है, ज्ञान की 'परा निष्ठा' (गी.१८.५०) है। विशुद्ध बुद्धि अर्थात् अखण्ड का ज्ञान तो इसका आरम्भ है। इसके कई कदमों बाद परा भक्ति मिलती है (१८.५४) जिससे 'अभिज्ञान' होता है। उसके बाद जो ज्ञान है ('ज्ञात्वा' १८.५५) वही मोक्ष की प्रतिभू है। अतः इस खण्ड में आचार्य के मुख से प्रश्न कराकर श्रुति मुमुक्षु को इसी मार्ग पर प्रेरित कर रही है।

सप्रयोजनं यत्नस्वरूपम्

'यदि मन्यसे सुवेद' इति शिष्यबुद्धिविचालना, गृहीतस्थिरतायै। विदिताऽविदिताभ्यां निवर्त्य बुद्धिं शिष्यस्य, स्वात्मनि अवस्थाप्य 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि' इति, स्वाराज्येऽभिषिच्योपास्यप्रतिषेधेन, अथ अस्य बुद्धिं विचालयति— यदि मन्यसे 'सुवेदाहं ब्रह्मे'ति त्वं, ततोऽल्पमेव ब्रह्मणो रूपं वेत्थ त्वमिति नूनं निश्चितं मन्यत आचार्यः। सा पुनर्विचालना किमर्थेति? उच्यते— पूर्वगृहीते वस्तुनि बुद्धेः स्थिरतायै।

आचार्य का यत्न और उसका प्रयोजन

उपदेश से जिसका ग्रहण हुआ वह दृढ प्रतिष्ठित हो जाये इसलिये आचार्य शिष्य की बुद्धि विचलित कर रहे हैं। जैसे खूँटा गाड़ते समय प्रारंभ में थोड़ा थोड़ा ठोकते हैं फिर हिलाकर ढीला करते हैं, फिर और ठोकते हैं। जब आसानी से हिले नहीं, तब हिलाने की कोशिश छोड़कर जोर से ठोक देते हैं। इसे 'खूँटा गाड़ने का न्याय' (स्थूणा-निखनन-न्याय) कहते हैं। शिष्य को जो समझाया, उस पर शंका उठाने से वह अपनी समझ की आलोचना करेगा। गलत समझा होगा तो 'नाहमत्र भोग्यं पश्यामि' (छा. ८.९.२) यह जरूर अनुभव होगा। जब तक शंका संभव हो तब तक उठानी चाहिये। जब शंका संभव न रह जाये अर्थात् विकल्प (प्रश्न) उठाये जाने पर भी वे अपनी समझ को विषय करते न प्रतीत हों तब और शंका नहीं चाहिये। फिर तो 'ज़ोर से ठोकना' रूप निदिध्यासन ही पर्याप्त है। इसी स्थिति के लिये भगवान् का वचन सार्थक है कि केवल दुःख से ही विचलित न हो इतना ही नहीं 'न गुरुणाऽपि विचाल्यते' (गी.६.२२)।

पूर्वखण्ड में गुरु ने शिष्य की बुद्धि को विदित-अविदित के क्षेत्र से छुड़ाकर स्वात्मा में स्थापित किया और 'उसे ही तू ब्रह्म समझ' कहकर उसे स्वराट् पद पर अभिषिक्त कर दिया। क्योंकि उपास्य का निषेध हो गया इसलिये ब्रह्मरूप वह शिष्य स्वराट् है, उसका वन्दनीय कुछ नहीं है। 'स्व' का ही 'राजना' (विराजना और दीप्त होना) रहे यही स्वाराज्य है। जब उपास्य का निषेध किया कि 'उपास्य ब्रह्म नहीं है' तब जिसे पहले ब्रह्म मानते आये हैं उस आत्मा को ही तो उपास्यभिन्न बताया गया। 'जो उपास्य है वह तू नहीं है' यह तात्पर्य हुआ। ग्रन्थारंभ में अधिकारी बताया

था जो अनात्मा का अर्थी (=प्रार्थी) नहीं है अत: 'नेदम्' आदि सुनते ही समस्त दृष्ट-अदृष्ट उपास्य से उसका प्रेम निवृत्त हो गया। वह अकेला ही राजने लगा। ज्ञान तो हो गया, स्वाराज्य तो मिल गया, मगर परा-निष्ठा की कमी रह गयी। 'उप-नि-षत्' के तीन काम बताये हैं, दो हो चुके, तीसरा नहीं: गति और विशरण हो गया, अवसादन बाकी है। इसके लिये उपनिषत् आगे प्रयास कर रही है।

अब शिष्य की बुद्धि-पुष्करिणी में विकल्पवात से संदेह की लहरें उठाते हैं: आचार्य कहते हैं 'यदि तू मानता है कि तूने ब्रह्म को अच्छी तरह समझ लिया, तो मुझे लगता है कि तूने ब्रह्म का थोड़ा ही रूप समझा है!' गुरु के आक्षेप में 'यदि' ध्वनित करता है कि 'सुवेदाहं ब्रह्मेति मन्यसे' — इन शब्दों का सही अर्थ अनाक्षिप्त है, ग़लत अर्थ पर ही आक्षेप है। परकीय स्थिति जानी जाती नहीं अत: गुरु भी शिष्य को अस्थितप्रज्ञ घोषित नहीं कर रहे, 'यदि' कह रहे हैं। वस्तुतः आत्मपरीक्षा ही विधित्सित है। 'कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति'; अत: परभूत उपदेष्टा या उपदिष्ट कहाँ?

ऐसा कहकर शिष्य को अपने निश्चय के प्रति सशङ्क बनाने का प्रयोजन कहते हैं – **गुरु ने यह विचलित करना क्यों जरूरी समझा? इसलिये कि पूर्व के उपदेश से जिस वास्तविकता को समझा है उस पर बुद्धि स्थिर हो जाये।** खूँटे का न्याय कह ही चुके हैं। 'पूर्वगृहीते' से कहा कि गुरु को कोई नया उपदेश नहीं देना है, शिष्य स्वयं अपनी प्रज्ञा की पर्यालोचना करे, यदि कुछ उसे अटपटा लगे तो भले ही गुरु उसे पुन: वही तत्त्व प्रकारान्तर से समझा देगा। इन्द्र को प्रथम बार अनात्मोपदेश थोड़े ही दिया था! हर उपदेश में आत्मा को ही समझाया। कमी उपदेश में नहीं, समझने में रह जाती है। अत: यहाँ एक प्रयोजन तो यह निहित है कि 'छिद्यन्ते सर्वसंशया:' इस श्रुत्यर्थ की उपलब्धिपर्यन्त सन्तोष न कर लिया जाये, संशय की संभावना की समाप्तिपर्यन्त जागरूकता रखी जाये। दूसरा प्रयोजन है बुद्धि की इस अर्थ पर स्थिरता। लोक में भी कोई बात पूरी तरह समझने के बाद बुद्धि उसी के चिन्तन में न लगायें तो शनैः शनैः वह बात जानी हुई भले ही रह जाये किन्तु मौका आने पर जितनी उपयोगी होनी चाहिये उतनी उपयोगी बन नहीं पाती। व्याकरण जैसा स्थविष्ठ विषय भी आलोडित किया जाता न रहे तो भाषा-प्रयोगादि करते रहने पर भी कई बार सशंक रह जाना पड़ता है। ज्ञान— आत्मसाक्षात्कार— होने पर भी यदि उस पर स्थिर न रहे, पुन: पुन: उसी वृत्ति को दुहराते न रहे, निदिध्यासन न करते रहे, तो ज्ञान का परिपाक नहीं हो सकता, ज्ञाननिष्ठा नहीं हो सकती, मोक्ष नहीं हो सकता। इसीलिये भाष्यकारों ने 'ज्ञानमात्र' और 'मोक्षसाधन ब्रह्मविद्या' का भेद मुण्डकभाष्य के प्रारंभ में व्यक्त किया है। यहाँ निदिध्यासन से केवल वृत्तिविशेष का आवर्तन ही लें यह ज़रूरी नहीं, यद्यपि उसका भी उपयोग अवश्य है; श्रवण-मनन की आवृत्ति भी वही काम कर देती है जो ध्यानात्मक निदिध्यासन करता है। अत: 'ज्ञानमात्र' के बाद शमादि का अभ्यास कायम रखते हुए श्रवण-मनन की आवृत्ति भी निदिध्यासन हो जाता है ऐसा हमारे आचार्यचरणों का मानना है। यही सर्वज्ञगुरु का भी अभिप्राय है (सं.शा.३.३४५) जो उन्होंने वार्तिककारों को स्वीकृत माना है। आत्मदर्शन के लिये निरन्तर श्रवण-मनन करने से जो यह निश्चय बनता है कि 'ऐसा ही है', उसे वे निदिध्यासन कहते हैं। रत्नावलीकार ने भी यही संग्रह समझाया है 'निदिध्यासनं तु श्रवणमननयो: ऐकाग्र्यं पौनःपुन्यरूपम्' (पृ.१६८)। पंचपादिकाचार्य वाक्यार्थ के विषय में स्थिरीभाव को निदिध्यासन कहते हैं और यही विवरणकारों को भी स्वीकृत है क्योंकि वे भी कहते हैं कि विषय परिनिश्चित होने पर भी 'तदेकाकारं चित्तसमाधानम्' निदिध्यासन है। भामती का भी यही कथन है 'निर्विचिकित्सशाब्दज्ञानसंततिरूपोपासना' (पृ.५५), 'निर्विचिकित्सवाक्यार्थभावना' (पृ.५७) आदि। पंचपादिकाकार अपरोक्ष ज्ञान की आवृत्ति मानते हैं, भामतीकार परोक्ष ज्ञान की— यह दोनों में प्रसिद्ध अंतर है। फिर भी वार्तिकाभिमत पूर्वोक्त निदिध्यासन इन दोनों को 'निदिध्यासितव्य:' से विहित स्वीकृत नहीं। ज़रूरी उसे भी मानते हैं। आवृत्त्यधिकरण में 'न हि दृष्टेनुपपन्नं नाम' भाष्य की भामती व कल्पतरु (पृ.९३३-९३४) से यह स्पष्ट हो जाता है। विवरण में (पृ. २०) अवघात की तरह विधि मानकर श्रवणावृत्ति व्यक्त कर दी है। फिर भी श्रवण-मनन की आवृत्ति से अन्य निदिध्यासन दोनों प्रस्थान मानते हैं। वार्तिकप्रस्थान उक्त आवृत्ति से बार-बार होने

वाले निश्चय को ही पर्याप्त मानता है। प्रकृत में भाष्यकार ने जो 'स्थिरता' कही है वह तीनों प्रस्थानों के अनुसार समझी जा सकती है। आगे भाष्यकार कहेंगे कि शिष्य आचार्य की यह बात सुनकर एकान्त में जाकर बैठ गया और समाहित होकर आचार्य की शिक्षा के अर्थ का विचार करने लगा। उसने तर्क से भी निर्धारण किया और तब स्वानुभव करके आचार्य के पास लौटा। इस वर्णन में 'समाहितः', 'आगममर्थतो विचार्य' 'तर्कतश्च निर्धार्य' से भगवान् भाष्यकार निदिध्यासन, श्रवण और मनन कह देंगे। वार्तिकानुसार तो 'समाहितः' से 'समाहितो भूत्वा' का समाधान समझा जायेगा तथा 'विचार्य तर्कतश्च निर्धार्य' से श्रवण-मनन की आवृत्ति।

वस्तुतः साधन साधक-सापेक्ष होते हैं। निर्विचिकित्स साक्षात्कार हो जाये और फिर विस्मरण या कम-से-कम सावरण-विपर्यय की संभावना मिट जाये, इसके लिये ही ये उपाय कहे हैं। होना यह ज्ञाननिष्ठा से है। अतः 'न हि वरविघाताय' न्याय याद रखते हुए (अर्थात् कर्तृत्वभ्रम या भेदवासना बढ़े ऐसा कुछ न करते हुए) जिस किसी भी तरह 'मोक्षसाधन ब्रह्मविद्या' प्रकाशमान हो जाये वह सभी उपाय कर लेने चाहिये। इस बात को प्रकाशात्मश्रीचरण ने 'तर्क' शब्द के व्याख्यान में (विव. पृ.२८६) बहुत स्पष्ट किया है। 'यया यया भवेत्पुंसां व्युत्पत्तिः' आदि वार्तिक का भी यही अभिप्राय है। अतः तैत्तिरीय में वरुण ने 'तप' शब्द का प्रयोग किया। इस शब्द का अर्थ परिगणित नहीं किया जा सकता। इस उपनिषत् में भी इसी शब्द का प्रयोग करेंगे। प्रकृत में भी आचार्य ने 'मीमांस्य' कहकर छोड़ दिया। मीमांसा की इतिकर्तव्यता का कोई बँधा-रूप नहीं बताया। जिस ढंग से शिष्य ने समझा कि वह निःसंदिग्ध हो सकता है उसे उसने अपना लिया। एवं च 'पूर्वगृहीत वस्तु में बुद्धि की स्थिरता के लिये' कहकर भाष्यकार ने ज्ञान-निष्ठा की साधना प्रयोजन बता दिया, साधना का स्वरूप स्वयं ढूँढ सकते हैं।

ब्रह्मणो विषयताधीरनिष्टा

ननु इष्टैव 'सुवेदाहम्' इति निश्चिता प्रतिपत्तिः? सत्यमिष्टा निश्चिता प्रतिपत्तिः, न हि 'सुवेदाहम्' इति! यद्धि वेद्यं वस्तु विषयीभवति तत् सुष्ठु वेदितुं शक्यं, दाह्यमिव दग्धुमग्नेः, न त्वग्नेः स्वरूपमेव।

विषयरूप से ब्रह्म को समझना अनिष्ट है

प्रश्न होता है कि 'मैं अच्छी तरह जानता हूँ' ऐसी निश्चित समझ तो इष्ट ही होती है, ऐसी समझ पर आचार्य ने आक्षेप क्यों किया?

उत्तर है कि निश्चित समझ तो इष्ट है, लेकिन 'मैं अच्छी तरह जानता हूँ' यह समझ इष्ट नहीं है! जो ज्ञानकर्मभूत वस्तु विषयभाव को प्राप्त होती है उसी को अच्छी तरह जाना जा सकता है। जैसे जलाने वाली आग से जलाने योग्य लकड़ी आदि को ही अच्छी तरह जलाया जा सकता है, अग्नि के स्वभूत रूप को तो आग से अच्छी तरह नहीं जलाया जा सकता! ऐसे ही आत्मा के प्रकाश से अनात्मा अच्छी तरह जाना जा सकता है, आत्मा खुद नहीं। यहाँ 'अच्छी तरह जानना' विषयतया जानने को कह रहे हैं। प्रमाता के रहते जो ज्ञान होता है वही लोक में 'अच्छी तरह हुआ ज्ञान' माना जाता है। आत्मज्ञान प्रमाता के रहते नहीं होता; इतना ही यहाँ विवक्षित है। आत्मा का अज्ञान पूरी तरह नहीं हट सकता ऐसा अर्थ यहाँ नहीं समझ लेना चाहिये। उदाहरण भी स्पष्ट है। 'लकड़ी जलती है' और 'आग जलती है' में जलना-शब्द का अर्थ ही भिन्न है! लकड़ी एक पदार्थ है जिसका किन्हीं ख़ास पदार्थान्तरों से सम्बन्धविशेष होता है जिसके फलस्वरूप रोशनी व गर्मी उत्पन्न होती है और लकड़ी परिवर्तित होकर कोयला, राख आदि बन जाती है। यह हुआ लकड़ी का जलना। आग का जलना ऐसा नहीं। लकड़ी जलने से जो रोशनी व गर्मी हुई वही आग का जलना है। आग का होना ही उसका जलना है। वह एक प्रक्रिया है, न कि 'पदार्थ'। अतः जैसे कोई अवांछित कचरा आदि अच्छी तरह जला दिया जाता है ऐसे कोई कहे 'मैंने आग को अच्छी तरह जला दिया', तो निश्चय ही वह ग़लत बात मानी

जायेगी। इसी तरह घड़े को अच्छी तरह जानने जैसा यदि आत्मा को अच्छी तरह जानना कहा जाये तो ग़लत ही होगा यह भाष्याभिप्राय है।

अग्नि के सम्बन्ध में जो कहा कि वह 'पदार्थ' नहीं है, इस बात का अभिप्राय समझ लेना चाहिये। श्रुति ने सृष्टिप्रक्रिया अध्यारोपन्याय से बतायी है। हमें प्रायः अनुभव में जो चीज़ें आती रहती हैं उनका कारण परमात्मा को बताकर कहना है कि दुनिया में जो कुछ भी दृश्य है, नाना है, नाम-रूप है, वह वास्तव में है नहीं। उसका कारण परमात्मा से अन्य संभव नहीं और परमात्मा अज है, कुछ उत्पन्न करता नहीं। श्रुति पदार्थों की उत्पत्ति बताने को प्रवृत्त नहीं हुई है। कार्यविषयक 'विगान' का इसीलिये आचार्यों ने अभ्युपगम किया है। बादरायण महर्षि ने जो व्यवस्था का प्रयास किया है वह भी कार्य को व्यवस्थित करने के उद्देश्य से नहीं, केवल प्रसिद्ध औपनिषद स्थलों के भेद को देखकर कोई इस भ्रम में न पड़े कि उपनिषदें परस्पर समंजस उदेश नहीं देतीं, इसीलिए है। अतएव कई कार्यों के बारे में उन्होंने विचार नहीं किया है। काल की ही उत्पत्ति वेदों में कही है 'सर्वे निमेषा जज्ञिरे' इत्यादि, संवत्सर की उत्पत्ति आदि। स्वयं वेद का उत्पादक ईश्वर को सूत्रकार ने ही माना लेकिन सृष्टिक्रम-विचार में वेदका स्थान निर्धारित नहीं किया। ऐसे ही धर्म, वर्ण, दिशा, सूर्य, लोक, चंद्र, नाम-रूप, तम इत्यादि बहुतेरी 'चीज़ें' शास्त्र में ही कही हैं जिनका प्रसंग लाकर ताल-मेल की कोशिश नहीं की है। अन्य आचार्य किसी तरह अन्तर्भाव, औपाधिकत्व आदि की कल्पना कर पाँच भूतों में सारे प्रपंच को बाँधना चाहते हैं, किन्तु ऐसा करने में न कोई प्रमाण है और न अनुभव का बल। मायिक के विषय में आग्रहपूर्वक व्यवस्था का समर्थन वस्तुतः मायिकता का घातक है। व्यास जी ही नहीं स्वयं वेद का यह अभिमान नहीं है कि सृष्टि के सारे पदार्थों को या उनकी उत्पत्ति को प्रातिस्विक रूप से उसमें बताया गया है। प्रपंच का तो वेद अनुवाद करता है निष्प्रपंच के विधान के लिये।

सामान्य व्यवहार पृथ्वी आदि पदार्थों से होता रहता है अतः शास्त्र ने पाँच प्रसिद्ध भूतों की उत्पत्ति कही। भूत से तत्त्व (element) अभिप्रेत नहीं हैं। अर्थात् अन्त्यावयव पाँच तरह के हैं यह शास्त्र नहीं कह रहा। न अन्त्यावयवी ही परिगणित कर रहा है। जैसे लौकिक लोग जल जिस रूप से सुलभ है उसी रूप से उसे तत्त्व या अन्त्यावयवसमूह (जलबिन्दुओं का समूह) मान लेते हैं। कुछ रसायन-शास्त्री उसे दो 'पदार्थों' का समवेतरूप या कार्यरूप मानते हैं। कुछ अन्य वैज्ञानिक उन 'पदार्थों' को भी अणुविशेषों का पूर्वापरीभूत रूप ही कहते हैं। जैसे रासायनिक ९६,१०३ आदि अन्तिम पदार्थ मानते हैं ऐसे अन्य दो-तीन तरह के अणुविशेषों को ही अन्तिम कह सकते हैं जिनकी संख्या और संनिवेश के भेद से ९६ आदि तत्त्व बन जाते हैं। आगे कुछ कहेंगे कि वे अणु भी ऊर्जा का संघीभूत रूप ही है, अन्तिम 'पदार्थ' तो ऊर्जा है। इसी तरह यदि सर्वथा अन्तिम पदार्थ पूछें तो वेद ब्रह्म को ही कहेगा। द्वितीय अन्तिम पूछें तो माया कह सकता है। (सकता इसलिये कि ब्रह्म कह देने से ही यह गतार्थ हो जायेगी क्योंकि अज्ञात ब्रह्म से अन्य माया है नहीं। फिर भी अध्यारोप प्रक्रिया में माया को कहने में कोई विरोध नहीं)। इससे आगे के विकारों के बारे में शास्त्र को आग्रहपूर्वक कुछ नहीं कहना। ब्रह्म तो आग्रह अर्थात् तात्पर्य से बताया गया है। माया भी क्योंकि ब्रह्म बताने-समझने के लिये अनिवार्य होते हुए हमें अनुभवसिद्ध है इसलिये उसका सहारा लेकर ही शास्त्र प्रवृत्त हो गया। अन्य चीजों के बारे में श्रुति निराग्रह है। प्रपंच दृश्य है, प्रमाणविषय है अतः शास्त्रैक-समधिगम्य नहीं। इतना अवश्य है कि मानान्तर-विरोध न होने पर उसे भूतार्थवाद समझने में कोई कठिनाई नहीं है।

आकाशादि से शास्त्र केवल 'द्रव्यरूप' भूत ही नहीं कह रहा, सिद्धान्तात्मक भूत (principle) भी कह रहा है। 'वह्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टः' में 'वह्नि' एक सिद्धान्त है। गर्मी या ज्वाला (=रूप) तो उस सिद्धान्त को लागू करने पर अभिव्यक्त होने वाला भूत है। तेज का उष्णस्पर्श और रूप होगा ही ऐसा कहाँ कह सकते हैं! हर जगह अभिभूत, प्रतिबद्ध आदि कहना तो निर्वचनवाद के फन्दों में फँसने का सीधा उपाय है। गर्मी, रूप, जलाना, फैलाना (=विक्लित्ति, वाष्पीकरण

आदि) आदि कई बातें सिद्धान्तात्मक तेज हैं। ऐसे ही भूतान्तरों के बारे में समझ लेना चाहिये। हमारे व्यवहार में आती आग उसे लागू करने पर होने वाली एक अभिव्यक्ति है। ऐसे ही अनुभूयमान पृथ्वी, वायु आदि हैं। किसी एक रासायनिक, भौतिक या जैविक 'तत्त्व' को या कुछ 'तत्त्वों के कार्य को' पृथ्वी आदि नहीं कहते, बल्कि अनुभव में आने वाली धरती या मिट्टी को कहते हैं। इसीलिये जन्मादिसूत्रविचार में घटादि दृष्टान्तों से कथा चलती है। सब को जिसकी जानकारी है उसी के सहारे परमात्मबोध के लिये शास्त्र-प्रयास है, न कि पदार्थविज्ञान की पुस्तक तैयार करने का! भूतों को सूक्ष्म भी माना है तो इसीलिये कि इन्द्रिय-मन-प्राण आदि समझे जा सकें। वार्तिकादि में इंद्रियादि की भौतिकता को युक्ति से समर्थित किया। स्वयं बृहदारण्यक सूचित करती है कि एक ही भूत ग्राहक रूप से शरीर में और ग्राह्यरूप से बाहर अवस्थित है। अतः अनुभूयमान या अनुभव को उपपन्न करने के लिये प्रायः सर्वलोक-स्वीकृत 'पदार्थों' को ब्रह्मकार्य (=अब्रह्म का अकार्य) या मायिक (=मिथ्या, सद्विविक्त) सिद्ध करने के उपायरूप से ही उन्हे पांचभौतिक बताना है और क्योंकि वे सूक्ष्म (=इन्द्रियों के अविषय) हैं इसलिए उनके आरम्भक भूतों को भी सूक्ष्म कहना है। इसी दृष्टि से पहले भी कहा था कि करणों की भौतिकता 'पारिभाषिक' है। वस्तुतः वेदान्त में सारे ही प्रपंच की पांचभौतिकता पारिभाषिक है। अपवाद के लिये एक अनुभवानुसारी ढंग बनाने के लिये हम सब चीजों को पाँच भूतों में समेटते हैं। काणादादि वादियों की तरह भूतों के स्वरूप या संख्या आदि में हमें तात्पर्य नहीं। न हम सृष्टि आदि प्रपंच को प्रतिपिपादयिषित ही मानते हैं कि श्रुत्यक्षरों के सत्यापन को किसी भी हद तक ज़रूरी मानें। उन प्रसंगों का तात्पर्यार्थ वेदप्रतिपाद्य है, परम सत्य है। जैसे तन्त्रवार्तिक में (१.५.१) कहा है 'नातीवोपाख्यानेषु तत्त्वाभिनिवेशः कार्यः' वैसे वेदान्त में द्वैतविषयक सभी बातों में समझना चाहिए।

अतएव प्रकृत भाष्योक्त दृष्टान्त को समझने के लिये कह दिया कि वह 'प्रक्रिया' है, 'पदार्थ' नहीं। अथवा — आग स्वभिन्न काष्ठादि दाह्य को जला सकती है, अपने से अभिन्न अपने रूप को जला (अर्थात् भस्मीभूत) नहीं सकती— यह दृष्टान्तार्थ यथाश्रुत समझ कर सन्तोष कर सकते हैं।

उपनिषत्तात्पर्यम्

सर्वस्य हि वेदितुः स्वात्मा ब्रह्म— इति सर्ववेदान्तानां सुनिश्चितोऽर्थः। इह च तदेव प्रतिपादितं प्रश्नप्रतिवचनोक्त्या 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' (१.२) इत्याद्यया; 'यद्वाचाऽनभ्युदितम्' (१.४) इति विशेषतोऽवधारितम्; ब्रह्मवित्सम्प्रदायनिश्चयश्चोक्तः; 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' (१.३) इत्युपन्यस्तमुपसंहरिष्यति च 'अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्' (२.३) इति। तस्माद् युक्तमेव शिष्यस्य 'सुवेद' इति बुद्धिं निराकर्तुम्।

उपनिषत् का तात्पर्य

आत्मा 'अच्छी तरह जाना' नहीं जाता क्योंकि जानने का विषय नहीं है, बल्कि जो सबको जानता है उसका स्वरूप है जैसे वह्नि दाह्य नहीं बल्कि सबके दाहक का स्वरूप है यह बताया। किन्तु सब जानने वाले का वह स्वरूप है यह निर्णय कैसे हो? क्या यह जाना जायेगा कि वह सब जानने वाले का स्वरूप है? इस प्रश्न का उत्तर बहुत कठिन है। तत्त्व अप्रमेय है लेकिन शास्त्र-तात्पर्यरूप से उसका निश्चय हो जाता है—यही सारभूत प्रतिवचन है। आत्मा का विषय होना अनुपपन्न है अर्थात् मूलहानिकरी अनवस्था का आपादक है; उसका अनिश्चित रहना भी अनुपपन्न है क्योंकि तब कुछ भी निश्चित नहीं हो पायेगाः निश्चित गज से ही कपड़ा, जमीन आदि सब नापे जा सकते हैं, अनिश्चित से किसी को निश्चित नहीं किया जा सकता। इन दो अन्यथानुपपत्तियों का सहकार पाकर उपनिषदें ब्रह्म को तात्पर्यवृत्ति से बता देती हैं। प्रमाण पर अनुग्रह तर्क कर सकता है, प्रमा उत्पन्न नहीं कर सकता। शास्त्रप्रामाण्य तो सभी प्रामाण्यों की तरह स्वतः है। यदि कोई भी प्रमाण (=ज्ञानोपाय) उक्त अन्यथानुपपत्तियों का सहारा पाकर युक्ति-अविरुद्ध सत्य का तात्पर्यतः समर्पण करेगा तो वह वेदाविरुद्ध बात ही कह पायेगा अतः (वेदानुकूल होने से) संमान्य ही होगा। शास्त्र क्योंकि तात्पर्यपूर्वक उसे वेदिता का

स्वरूप बताता है इसलिये उसे ऐसा ही स्वीकारना चाहिये यह दिखाते हुए उसकी आत्मस्वरूपता में अप्रामाण्य की शंका हटाते हैं – **सभी उपनिषदों का यह एकवाक्यतापूर्ण और अविरुद्ध अर्थ है कि सारे ही वेदिता का स्वात्मा ब्रह्म है।** 'सुनिश्चिता' में 'सु' से समन्वयाध्याय और 'निश्चित' से अविरोधाध्याय को उद्धृत किया गया है। 'अर्थ' का मतलब है तात्पर्य। 'वेदिता' अर्थात् जानने वाला; यहाँ 'जानने वाला' से प्रमाता, साक्षी और ज्ञान ये तीनों क्रमशः समझ लेने चाहिये। ज्ञान ही अंतिम 'जानने वाला' भी है।

सब उपनिषदों का अर्थ है यह तत्र-तत्र भाष्यादि में दिखाया गया है, यहाँ प्रकृत उपनिषत् का यही तात्पर्य है यह स्पष्ट करते हैं – **इस उपनिषत् में भी वही परमात्मा प्रतिपादित है।**

i. **'श्रोत्र का श्रोत्र' आदि सवाल-जवाब का कथन कर उपनिषत् ने उसी स्वात्मब्रह्म को बताया है।** अर्थात् उपक्रम में परमेश्वर का प्रसंग है। प्रश्नबलात् उत्तर भी तद्विषयक ही है जैसे सूत्रकार ने निर्णय किया है कि नचिकेता के प्रश्नानुसार ही यम ने धर्मादि-विलक्षण आत्मा को ही बताया है, अजातशत्रु ने परमात्मोपदेश ही दिया क्योंकि 'क्वैष अशयिष्ट, क्व अभूत्, कुत आगात्' इस प्रश्न का उत्तर देने को प्रवृत्त हुआ (ब्र.सू. १.४.१८), मैत्रेयी ने भी क्योंकि पूछा है 'क्या मैं इससे अमृत हो जाऊँगी?' इसलिये याज्ञवल्क्य ने अमरताहेतुभूत ही उपदेश दिया है (ब्र.सू. १.४.१९), शौनक ने पूछा 'किसे जान लेने से यह सब जान लिया जाता है?' अतः अंगिरस ने जबाब भी उसी का दिया (ब्र.सू. १.३.६) इत्यादि। गीता में भी परम श्रेय का प्रश्न होने से भगवान् का उत्तर भी वही है। इस प्रकार शास्त्र में प्रश्न का बहुत माहात्म्य निर्धारित है। अतएव पूछने का भी ढंग माना 'विधिवत् उपसन्नः पप्रच्छ" (मुं. १.१.३), न केवल उपसत्ति विधिवत् है, प्रश्न भी विधिवत् है। बिना पूछे गुरु प्रायः गुह्य उपदेश नहीं देते, अतः आरुणि ने श्वेतकेतु से कहा था 'क्या तूने वह आदेश भी पूछा था जिससे सर्वज्ञता होती है?' जनक भी कामप्रश्न – 'जो चाहूँ सो पूछ सकूँ' – को बहुत महत्त्व देते थे। भगवान् ने परिप्रश्न पूछने पर उपदेश मिलेगा यह बताया ही है। इसलिये यहाँ भी शिष्य ने जिसका सवाल उठाया है उसका विस्तार से विचार भाष्यकार कर चुके हैं अतः कह रहे हैं कि आत्मविषयक प्रश्न है तथा आचार्य ने उत्तर में ब्रह्म बताया है तो आत्मा को ही ब्रह्म बताना अभिप्रेत है। 'प्रतिवचन' कहकर उपक्रमोपसंहार की एक वाक्यता बता दी। आगे भी उपसंहार एतद्विषयक ही है यह उल्लेख करेंगे।

ii. **'जो वाक् से अभ्युदित नहीं है' कहकर आत्मब्रह्म का ही विशेषतः निश्चय कराया गया है।** श्लोकपंचक के प्रदर्शन से अभ्यासरूप लिंग बता दिया है। 'विशेषतः' अर्थात् शास्त्र में ब्रह्म के जो विशेष बताये हैं उनका उल्लेख कर इसमें संदेह का स्थान नहीं रखा कि उपदेश किसका दिया जा रहा है। यह भी वैयासिक न्याय है (१.३.९) : उपदिष्ट धर्म ब्रह्म में ही उपपन्न होने से भूमा को ब्रह्म ही स्वीकारना आवश्यक है।

iii. **परमात्मा के जानकारों ने सम्प्रदायपरंपरा से जो निश्चय पाया है वह विदित-अविदित से अन्य कहकर बताया अतः ब्रह्म की सम्प्रदायसिद्धता स्पष्ट करने से उसे ही तात्पर्यविषय कह दिया।** इससे अपूर्वता द्योतित होती है। यह तत्त्व रहस्य है अत एव गुरुगम्य है यह तात्पर्य है।

iv. 'अमृतता पाता है' (२.४), 'तो सत्य है ...... अमृत होते हैं' (२.५), 'अनन्त महत्तम स्वर्ग लोक में प्रतिष्ठित होता है' (४.९) आदि फलकथन भी ब्रह्म में शास्त्रतात्पर्य द्योतित करता है।

v. देवता-आख्यायिका से परमेश्वर-प्रशंसा कर उपनिषत् अपने प्रतिपाद्य का अर्थवाद करती है।

vi. **'वह विदित से अन्य ही है और अविदित से ऊँचा है' – यह तात्पर्यविषयीभूत ब्रह्म को उपपन्न करने का औपनिषद तरीका है।** विदित इसकी अपेक्षा रखता है कि उसका विषय अविदित रहा हो। अनधिगत को ही प्रमाणविचारक

प्रमित मानते हैं। अविदित तो स्पष्ट ही विदित-सापेक्ष है। फलतः दोनों का निर्धारण तभी संभव है जब उन्हे परस्पर निरूपित किये बिना समझा जाये। इसके लिये अनिवार्य हो जाता है विदित-अविदित से अन्य का होना। इस प्रकार शास्त्र ने प्रतिपादित परमात्मा में युक्ति दिखा दी है।

मीमांसित निर्णय का अत्यधिक मूल्य है। उपक्रम का औत्सर्गिक पराक्रम सर्वमान्य है किन्तु कहीं उपसंहार का सहारा भी बहुत जरूरी हो जाता है। ऐतरेय में आत्मा से ही उपक्रम है यह निर्णय बाद में कहे विशेषणों से ही तो हुआ है या छान्दोग्य की श्वेतकेतुविद्या का सत् आत्मा ही है यह उपसंहार से ही तो निश्चित किया गया है (ब्र.सू. ३.३.१६)। गुरु ने जो उपदेश दिया उस पर एकाग्रता से चिन्तन करके शिष्य जिस अध्यवसाय पर पहुँचा वही गुरु का तात्पर्य हो सकता है जब उसका प्रत्याख्यान गुरु नहीं कर रहे। अतः शिष्य के विचारित अनुभव से भी उपनिषत् का तात्पर्य दिखाते हैं - **जिसका उपन्यास किया उसी का उपसंहार श्रुति करेगी 'जानने वालों को अविज्ञात है, नहीं जानने वालों को विज्ञात है!' कहकर।** विदित-अविदित से अन्य आगम ने कहा, शिष्य जिस निर्णय पर पहुँचा वह भी वही है। आगम से जिसका उपन्यास किया, जिसे सामने रखा, समझाया, शिष्योक्ति से उसे ही कहकर उसकी अपूर्व शिक्षा को समाप्त किया। प्रश्न शिष्य ने किया, उत्तर गुरु ने दिया और अंत में शिष्य ने अपनी समझ व्यक्त कर दी; परीक्षा में उत्तीर्ण हो गया। अतः पूछी बात का प्रसंग वहाँ तक चला है, शिष्यवचन से वह संदर्भ उपसंहृत हो गया। इसलिये गुरूक्ति का शिष्योक्ति से उपसंहार संगत है। 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' बालाकि का वाक्य है, 'यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता' राजा का वाक्य है, फिर भी ब्रह्म प्रक्रान्त होने से राजा ने ब्रह्म को ही वेदितव्य कहा है यह जैसे सूत्रकार ने (१.४.१६) निश्चित किया वैसे ही शिष्योक्ति से गुरूक्ति का उपसंहार समर्थनीय है। वस्तुतः प्रश्न से उपक्रम है अतः प्रष्टा की जिज्ञासा-शान्ति में ही उपसंहार संगत है।

क्योंकि स्वात्मरूप ब्रह्म में ही उपनिषत् का तात्पर्य निर्णीत है इसलिये 'सुवेद' - ऐसी यदि शिष्यबुद्धि हो तो उस पर आक्षेप करना गुरु के लिये उचित ही है।

आत्मनोऽदृश्यत्वम्

न हि वेदिता वेदितुर्वेदितुं शक्यः, अग्निरिव दग्धुमग्नेः। न चान्यो वेदिता ब्रह्मणोऽस्ति यस्य वेद्यमन्यत् स्याद् ब्रह्म। 'नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ' (बृ.३.८.११) इत्यन्यो विज्ञाता प्रतिषिध्यते। तस्मात् 'सुष्ठु वेदाहं ब्रह्म' इति प्रतिपत्तिर्मिथ्यैव। तस्माद्युक्तमेवाहाचार्यः- यदीत्यादि।

आत्मा दर्शनविषय नहीं हो सकता

जैसे आग से आग नहीं जल सकती, ऐसे जानने वाले से जानने वाला नहीं जाना जा सकता। पहले कह चुके हैं कि ब्रह्म आत्मा का स्वरूप है अतः वह विषय नहीं हो सकता। उसी का यह निगमन किया गया है। इस पर प्रश्न होगा कि एक जानकार को दूसरा जानकार जान ले और इस तरह आत्मा भी सुवेद्य हो जाये तो क्या हानि है? प्रथम खण्ड के तृतीय मंत्र में स्वप्रकाशतावाद में इस समस्या का समाधान बता चुके हैं कि प्रकाश न खुद से और न अन्य से ग्राह्य हो सकता है। स्वग्राह्यता में कर्तृकर्मविरोध मानकर यहाँ प्रश्न उठाया है अतः ग्रहीता एक ही होने से वह कभी ग्राह्य नहीं होता यह उत्तर देते हैं - **ब्रह्म से अन्य कोई जानने वाला है नहीं जिससे अन्यभूत हुआ ब्रह्म उसका वेद्य हो। श्रुति ही 'इससे अन्य विज्ञाता नहीं है' कहकर ब्रह्म से भिन्न जानकार का निषेध कर देती है। इसलिये 'मैं ब्रह्म को अच्छी तरह जानता हूँ' यह समझ ग़लत ही है। अतः 'यदि' आदि से आचार्य जो कह रहे हैं वह सर्वथा उचित है।** आचार्यकृत शिष्यबुद्धिविचालना के उपपादन के बहाने भाष्यकार ने ज्ञान के संबंध में वही स्थिति स्पष्ट की है जो उन्होंने बृहदारण्यकभाष्य में आनंद के सम्बन्ध में की (बृ.३.९.२८) है।

मन्त्रः

यदि मन्यसे सुवेदेति दहरमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपं यदस्य,
त्वं यदस्य देवेष्वथ नु मीमाꣳस्यमेव ते मन्ये विदितम्।।२.१।।

मन्त्रार्थ

आचार्य कहते हैं – '**यदि** = अगर **सुवेद** = 'मैंने ब्रह्म को अच्छी तरह जान लिया' **इति** = ऐसा **मन्यसे** = समझ रहे हो तो **त्वम्** = तुम **अस्य** = मेरे द्वारा प्रतिपादित इस **ब्रह्मणः** = ब्रह्म का **यद्** = जो **रूपम्** = रूप **वेत्थ** = जान पाये हो वह **नूनम्** = निश्चित ही **दहरम्** = अल्प रूप **एव** = ही है। **अस्य** = मुझे विवक्षित इस ब्रह्म का **यद्** = जो रूप **त्वम्** = तुम **देवेषु** = देवताओं में सीमित [**वेत्थ**] समझते हो, वह **अपि** = भी अल्प रूप ही है। **अथ** = इसलिये **नु** = अब भी **ते** = तुम्हारे लिये ब्रह्म **मीमांस्यम्** = विचारणीय **एव** = ही है [**मन्ये**] ऐसा मैं समझता हूँ।'

तब सोच-समझकर शिष्य बोला : '**मन्ये** = मैं समझता हूँ कि **विदितम्** = मैं समझ गया!'

शिष्य यदि भेदपरामर्श बनाये रखकर ब्रह्म को किसी भी ढंग से समझ रहा है तो निश्चय ही ग़लत समझ रहा है। समझने वाले का भी बाध कर जो समझना है उसमें न कोई समझता है, न किसी से—उपाय या करण से—समझता है, न किसी को समझता है, फिर भी समझता है, नासमझी ग़ैरसमझी आदि नहीं रह जाती। इस समझ तक पहुँचने के लिये गुरु यहाँ शिष्य को प्रेरित कर रहे हैं। अल्प को छोड़कर ब्रह्म को, व्यापक को ग्रहण करना है। सद्वितीय अल्प ही रहेगा अतः जहाँ तक द्वितीय उपस्थित हो वहाँ तक उसे छोड़ते जाना, बाधित करते जाना पड़ेगा। न ब्रह्म से ही मोह रखकर 'उसे' बचा सकते हैं और न ''मैं' बच जाऊँ' इसकी कोशिश कर सकते हैं। यद्यपि प्रायः कहते हैं कि 'बाध करने वाला तो बच ही जायेगा', तथापि वहाँ अभिप्राय बाध करने वाले के बचने में नहीं है बल्कि जिसके रहते बाध हुआ है उसके बचने से है। अर्थात् बाध करना तो एक जन्य ज्ञान है, चित्तवृत्तिविशिष्ट ज्ञान है, बाध करने वाला प्रमाता है, उसे बचने वाला नहीं कह रहे। इसका जो साक्षी है — बाध करने वाला भी जिसकी साक्ष्यकोटि में है — वह बचने वाला है। साक्षी बाध नहीं करता अन्यथा विकारी हो जायेगा तो साक्षी कैसा! अतः किसी भी तरह का विषयविषयिभाव या द्वैत रहे तो जो ब्रह्म की समझ है वह उसके अल्परूप की ही समझ है। अपने 'आविर्भूतस्वरूप' (ब्र.सू. १.३.१९) को इसीलिये पहले ही थोड़ा-बहुत किसी तरह समझ लेना पड़ेगा, अन्यथा मोक्ष पुरुषार्थ नहीं लग सकता।

ब्रह्म को अध्यात्म-अधिदैव में बँटा समझना भी पर्याप्त नहीं है। कई विचारक प्रपंच को मिथ्या न समझकर यह मानने को उत्सुक हैं कि इस सारे प्रपंच के आकार में परमात्मा है। कुछ लोग ऐसा समझना चाहते हैं कि सांसारिक सब चेतनों के रूप में परमात्मा है जैसे अंगुली, हथेली, पैर आदि रूप में हम ही हैं। अन्यों की मान्यता है कि प्रत्यक्त्वेन परिच्छिन्न तो सत्य है, विषयों को सत्य नहीं कह सकते क्योंकि 'विषयमात्र' हमारी पहुँच के बाहर है, हम जिसे समझ पाते हैं वह विषय का केवल हमसे सम्बद्ध रूप है। हमारी समझ (संस्कार, इन्द्रियसामर्थ्य आदि) से निरपेक्ष विषयमात्र से हमारा संपर्क नहीं। अतः उसके सत्यत्वादि की प्रतिज्ञा कैसे करें? मानना उसे पड़ता है क्योंकि तभी हमारा वैषयिक ज्ञान उपपन्न होता है। निश्चित तो हम अपने बारे में ही हैं अतः हम तो सत्य हैं, जानने वाला — विषयज्ञानी, प्रमाता — सत्य है। अपने परिच्छिन्नरूप को सच्चा मानने से ये लोग परमात्मा का उस रूप में सच्चा परिच्छेद स्वीकार लेंगे अर्थात् उसकी अपरिच्छिन्नता का मतलब होगा अनन्त परिच्छिन्नतायें! कुछेक ब्रह्म को पूर्ण, सत्य आदि तो मानते हैं लेकिन वह स्वयं को पूर्ण कर रहा है, अपनी पूर्णता पाने की प्रक्रिया में है — ऐसा भी कह देते हैं। इस मान्यता में भी अनित्य होने से वह पूर्णता सद्वितीय अतः अपूर्ण ही रहेगी। अन्यों ने तो कल्पना की है कि ब्रह्म है पूर्ण लेकिन उसकी अपनी होने से उसकी तरह ही सच्ची उसकी शक्ति है अपूर्ण बन जाने की! सच्चे ब्रह्म की सच्ची शक्ति से हुई अपूर्णता भी तो सच्ची होगी, तब

वह पूर्ण कैसे माना जाये? इस व्याघात से शक्तिसत्यत्ववादी कभी नहीं बचेगा। सर्वथापि सच्चिदानन्द से अन्य का, नाम-रूप का, सत्यत्व रहते ब्रह्म पूर्ण नहीं हो सकता। इसलिये शिष्य यदि ऐसा समझे कि 'परमात्मा मुझ में और देवताओं में बँटा हुआ — इन रूपों में अवस्थित—है' तब भी निर्विशेष न जान पाने से मोक्ष नहीं पा सकता। इस बात को मन में रखकर गुरु ने 'देवेषु' का विकल्प रख दिया।

आगमोपदेश प्राप्त होने के बाद योग्य अधिकारी के लिये एक ही काम है-मीमांसा, आगमार्थ की वास्तविकता के प्रति आश्वस्त होकर विचारादि सभी तरह उस अर्थ को आत्मसात् करना। 'वेदान्तार्थनिर्णयस्य च सम्यग्दर्शनार्थत्वात्' से आचार्य ने और 'न हि वेदान्तवाक्यानि निर्णेतव्यानीति निर्णीयन्ते, किन्तु मोक्षमाणानां तत्त्वज्ञानोत्पादनाय' से वाचस्पति ने (२.२.१) इस बात को स्पष्ट किया है। भाष्यकारों ने 'आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये' से ही यह व्यक्त किया है ऐसा आचार्य पद्मपादों ने रहस्य खोला है। आत्मा ऐसी वस्तु है कि इसकी विद्या (प्रमामात्र) उत्पन्न होने पर भी 'प्रतिष्ठित' नहीं हो पाती अर्थात् अपरोक्ष ज्ञान की जो सहज बलिष्ठता है वह इसमें स्फुट नहीं हो पाती। इसीलिये विचार चाहिये 'प्रकृते पुनर्विषये विद्योदितापि न प्रतिष्ठां लभते, असंभावनाऽभिभूतविषयत्वात्। ......तेन तत्स्वरूपप्रतिष्ठायै तर्कं सहायीकरोति। ......समुत्पन्नेऽपि ज्ञाने तावन्नाध्यवस्यति यावत्तर्केण विरोधमपनीय तद्रूपतामात्मनो न संभावयति। ततः प्राग्विद्योदितापि वाक्याद् अनवाप्तेव भवति। अवाप्तिप्रकारश्च वेदान्तेष्वेव निर्दिष्टः साक्षादनुभवफलोद्देशेन।' (पृ. २८०-२८५)। विवरणकार भी मानते हैं कि ब्रह्म बताया जाने पर यद्यपि अपरोक्षतया भासित होता है तथापि चित्तदोष के कारण 'परोक्षवदवभासते' (पृ.२८६) लगता है मानो परोक्ष है। फिर 'तर्क' से चित्त अपरोक्ष निश्चय का निमित्त होता है। 'तर्क' शब्द से वे ऐसे चित्त को ही कहते हैं जो सारे प्रतिबंधकों को हटाने में समर्थ हो। वाचस्पत्य से विशेष यह है कि विवरणमत में शब्द से अपरोक्ष हो जाता है किंतु फलप्रद नहीं हो पाता जब तक रुकावटें हट न जायें, यह भर्छु-दृष्टान्त से सर्वज्ञमुनि ने स्पष्टतर किया है, जबकि भामतीकार शब्द से परोक्ष ही ज्ञान मानकर मन से अपरोक्ष मानते हैं। यद्यपि विवरण में भी अपरोक्षनिश्चयनिमित्त चित्त को कहा है तथापि वहाँ प्रमाणत्वेन निमित्त नहीं विवक्षित है। हेतुत्व तो चित्त में स्वीकृत ही है। हर हालत में विचार के बाद ही सक्षम बोध संभव होने से 'मीमांस्यम्' यह श्रुति ने कहा। जप, तप, ध्यान, समाधि, कर्म आदि के प्रयास में लगने से तो कर्तृत्वादि भेदबुद्धि ही बढ़ेगी अतः उनसे रोक भी दिया 'एव' कह कर।

मीमांसा से निष्पन्न निश्चय गुरु को निवेदित करने का प्रयोजन शास्त्राध्येता को निर्भय करना है कि उक्त उपाय निश्चयप्रद है। ऐसा नहीं कि शिष्य जाकर गुरु को न बताये तो शिष्य का मोक्ष रुक जायेगा, या कोई दुरदृष्ट हो जायेगा! जैसे स्वादिष्ट मिष्टान्न खाकर हुई तृप्ति स्वानुभवरूप है, उसे व्यक्त करने से तृप्ति या तृप्ति वाले में कोई विशेष नहीं आता, केवल यह होता है कि अन्य व्यक्ति उसकी तृप्ति-अभिव्यक्ति सुनकर मिष्टान्न की ओर प्रवृत्त हो जाता है; इसी तरह तत्त्वनिष्ठ के उद्गार सुनकर हम तत्त्व की ओर आकृष्ट हो सकते हैं। इसीलिये उपनिषदों में या पंचदशी आदि में तत्त्ववेत्ता की प्रसन्नता के गीत या धन्यता के पद्य प्रकाशित हैं।

शंकरानंदजी का अभिप्रय है कि 'वेत्थ' से ही काम चल सकता था फिर 'त्वम्' इसलिये कहा कि उसके अभिमान को इंगित करना है: 'मैं ज्ञानी हूँ' ऐसा अभिमान है तो थोड़ा ही जान पाया है — यह तात्पर्य है। उपनिषद्योगी कहते हैं कि 'देवेषु' अर्थात् इन्द्रियों के निमित्त से ही यदि समझ रहे हो अर्थात् साक्षित्वविशिष्ट (!) को ब्रह्म समझ रहे हो, या सांख्यपुरुष को ही शुद्ध मान रहे हो, तो अभी अल्पज्ञ ही हो: 'स्वाधिष्ठानदेवतानुगृहीतत्वेन द्योतनाद् देवाः श्रोत्राणीन्द्रियाणि। तेषु देवेषु यदस्य ब्रह्मणो रूपं तद्धिताऽहितप्रवर्तकान्तर्यामिरूपं तत्प्रवृत्तिनिमित्तपराक्सापेक्षप्रत्यग्रूपं वा त्वं वेत्थ, तदपि दभ्रमेवं। अध्यात्माधिदैवोपाधिपरिच्छिन्नत्वाद् दभ्रत्वं युक्तम्।'

'यदि'-पदतात्पर्यम्

यदि कदाचिद् मन्यसे सुवेदेति—'सुष्ठु वेदाहं ब्रह्म' इति। कदाचिद् यथाश्रुतं दुर्विज्ञेयमपि क्षीणदोषः सुमेधाः

कश्चित् प्रतिपद्यते, कश्चिन्न, इति साशङ्कमाह यदीत्यादि।

'यदि' कहने का तात्पर्य

आचार्य शिष्य के प्रति कहना प्रारंभ करते हैं 'यदि' शब्द से : 'अगर कहीं तुम समझते हो 'मैं ब्रह्म को अच्छी तरह जानता हूँ' तो अभी तुम्हे सही बोध नहीं।' यहाँ 'यदि' इसलिये कहा कि यद्यपि जैसा बताया गया वैसा परमात्मा ठीक समझ पाना बहुत मुश्किल है तथापि ऐसा कोई जो दोषरहित निर्मल बुद्धि वाला होता है वह सही समझ भी लेता है और जो कोई ऐसा उत्तमाधिकारी नहीं होता है वह सही नहीं भी समझ पाता है। 'शिष्य नहीं ही समझा' यह निर्णय आचार्य कैसे करें? अतः 'ठीक समझा कि नहीं?' ऐसी शंका रखते हुए आचार्य ने कहा है। 'न च सकृत्प्रयुक्ते शास्त्रयुक्ती कस्यचिदप्यनुभवं नोत्पादयत इति शक्यते नियन्तुं, विचित्रप्रज्ञत्वात् प्रतिपत्तॄणाम्' ऐसा आवृत्त्यधिकरण भाष्य में भी कहा है। भाष्यकारों का मानना है कि विद्या दृष्टफलक होने से एक बार सुनकर ज्ञान हो जाये तो यह नहीं कह सकते कि मीमांसादि न करने के अपराध से वह मोक्ष नहीं देगा और एक बार सुनकर न हो पाये तो यह भी नहीं कह सकते कि मीमांसादि कोशिशों से भी नहीं हो सकेगा। जिसे सुनकर हो गया उसके लिये तो कोई समस्या नहीं, जिसे नहीं हुआ उसके लिये शास्त्र विविध उपाय बता रहा है, जैसे यहीं मीमांसा को उपाय कहा। नचिकेता (कठ.), शौनक (मुण्ड.), नारद (छान्दो.), बालाकि (बृ.), जनक (बृ. ४.२), प्रतर्दन (कौ.) आदि एक बार समझाने पर समझ गये थे। भृगु को कई बार 'तप' करना पड़ा (तै.), आत्मपुराणानुसार वामदेव (ऐत.) ने भी काफी प्रयास किया था, श्वेतकेतु व इन्द्र (छा.) ने भी बार-बार पूछा तब समझ पाये, मैत्रेयी भी एक बार सुनकर तो चक्कर में ही पड़ गयी – 'अमूमुहन्' (बृ. २.४.१३), श्वेताश्वतर महर्षि के शिष्य भी काफी विचार, ध्यानादि करते रहे। इन सब उदाहरणों से पता चलता है कि कोई-कोई अधिकारी पहली बार में ही सही बात समझ लेता है। इसलिये यहाँ आचार्य 'यदि' से बात प्रारंभ करते हैं कि अगर ग़लत समझा हो तो और कोशिश करें, अगर ठीक समझा होगा तो मेरी बात से विचलित होगा ही नहीं। यद्यपि 'यदि' के बिना कहते तब भी सही जान चुका होता तो विचलित नहीं होता, तथापि शिष्य का निरादर न हो इस आचार को दिखाने के लिये 'यदि' कहना ठीक है। शिष्य के विवेक को आदरबुद्धि से समझने पर ही शिष्य की स्वयं पर विश्वास हो पाता है। यदि उसे निश्चय हो कि गुरु उसे मूर्ख ही समझते हैं तो वह स्वयं अपने विवेक के प्रति निःशंक नहीं होता, निश्चय नहीं प्राप्त करता। बिना अपनी बुद्धि पर भरोसा हुए सूक्ष्म अर्थों की जानकारी के प्रति निःसंदेह नहीं हो सकते हैं। 'मैं जैसा समझ रहा हूँ वह कहीं गलत तो नहीं?' – ऐसी संशयात्मता रहेगी तो ज्ञानप्रतिष्ठा संभव नहीं। स्थूल विषयों के तो व्यवहार, वर्णन आदि कार्यों से जानकारी का सहीपन खुद या अन्यों से आँका जा सकता है किन्तु सूक्ष्म अर्थों के 'व्यवहारों' में बहुत अधिक अंतर नहीं होता, व्यवहर्त्ता की जानकारी से। जैसे विधि का अर्थ क्या समझ रहे हैं इससे यागादि की इतिकर्तव्यता में क्या भेद आयेगा? प्रकृष्टप्रकाशवाक्य से अखण्ड व्यक्ति समझा या प्रकृष्ट प्रकाश वाला, यह केवल बात-चीत से कैसे पता चलेगा? और जहाँ सारा ही व्यवहार न्यूनसत्ताक होना है उस अव्यवहार्य की समझ किसी भी व्यवहार से सत्यापित नहीं होगी इसमें कहना ही क्या! हृदय-ग्रन्थि का भेदन, सर्वसंशयनिवृत्ति, कर्तृभोक्तृत्व हानि, परमानन्दानुभव आदि से ख़ुद को पता चलेगा किन्तु वह होगा निष्ठा पर्यन्त पहुँचने पर और निष्ठा-प्राप्ति के लिये चाहिये ज्ञान पर श्रद्धा, अतएव यहाँ 'मीमांस्यम्' कहा अर्थात् पूज्यभाव रखकर विचार करना। इसलिये जिस विशुद्ध बुद्धि (गी.१८.५१) से ज्ञाननिष्ठा का प्रयास प्रारंभ करना है उसके बारे में संशयालु न हो यह आवश्यक है और इसके लिये अपनी बुद्धि के प्रति आश्वस्त होना पड़ेगा। अतएव अध्यात्ममार्ग के आचार्य शिष्यप्रज्ञा की प्रशंसादि कर शिष्य को प्रोत्साहित करते हैं। यह 'यदि' पद का अभिप्राय भाष्यकार बता रहे हैं।

यदि बुद्धि पर ही भरोसा करना है तब तो ब्रह्मज्ञान भी एक अभिमानविशेष ही क्यों न माना जाये? जैसे वशीकरण आदि से या स्वयं को ही बारम्बार समझाते रहने से, या भूतादि के आवेश से, अथवा दवा आदि से अभिमानविशेष उत्पन्न

हो जाते हैं जिनकी सत्यविषयता निश्चित नहीं की जा सकती, ऐसे ही शास्त्र-युक्ति-अभ्यास से 'मैं ब्रह्म हूँ, आनंद हूँ' आदि प्रतीति हो सकती है, उसे सत्य या मोक्षप्रद कैसे कहें?

इसी का समाधान यहाँ द्वितीय मंत्र में करेंगे। जैसे गुप्तचर अपना सारा व्यवहार करते हुए, पत्नी, पुत्र, मित्र आदि के साथ निरन्तर रहते हुए भी जानता है 'मैं भारतीय, देवदत्त आदि नहीं हूँ', इसी तरह तत्त्वनिष्ठ अपनी बुद्धि की अखण्डवृत्ति को भी जानता है 'यह ज्ञान नहीं है, इससे मैं ज्ञानी नहीं हूँ'। शुरू मन के सहारे ही होगा लेकिन मन को लाँघना पड़ेगा। संख्या के बारे में समझना प्रारंभ करते हैं तो सभी को पदार्थों का ही सहारा लेना पड़ता है किन्तु अंत में पता चलता है कि कोई भी पदार्थ अर्थात् द्रव्यादि चीज़ संख्या नहीं है, न उनमें कोई गुण ही संख्या है, वरन् वह एक संकल्पना है। ऐसे ही ब्रह्म को मनोवृत्ति से समझना प्रारंभ करेंगे तो मनवाले में (प्रमाता में) समझ उत्पन्न होगी यह ठीक है। प्रमा प्रमाता को ही होनी है। किन्तु समझ यह नहीं होगी कि 'मनवाला मैं ब्रह्म हूँ' बल्कि 'मनरहित जो मैं हूँ वह ब्रह्म हूँ'। इसीलिये त्वमर्थशोधनपूर्वक ही वाक्यार्थबोध संभव है। समझेगा कौन? प्रमाता। किसे? साक्षी को। इस प्रमातृप्रमेयभाव को दृष्टि में रखकर ही तत्त्वज्ञान को व्यावहारिक बताया जाता है। पारमार्थिक केवल तत्त्व है। अभिमान से इसमें अंतर यह है कि एक तो अभिमान प्रमातृविषयक ही होता है और दूसरा, अभिमान अविद्यानिवर्तक नहीं होता। क्योंकि अविद्या अनुभवमात्रसिद्ध है इसलिये अविद्यानुभव न रहने पर अविद्या के अभाव को प्रमित नहीं होना पड़ता। प्रमायोग्य प्रतियोगी के ही अभाव की प्रमा हो सकती है, अविद्या ही जब प्रमाण-विषय नहीं तब उसके अभाव में प्रमाण का प्रश्न ही व्यर्थ है। अतः अज्ञान के उच्छेद का काफ़ी ख़ुलासा न्यायरत्नावली के आरंभ में दिया गया है। तत्त्वधी से होने वाले मोक्ष की जो अंतिमता या पूर्णता है वह इसलिये है कि समग्र अपूर्णताओं का उच्छेद करते हुए वह तत्त्वधी उच्छिन्न होती है जैसा कल्पतरु में (पृ.५७) कहा है 'निरुपाधि ब्रह्मेति विषयीकुर्वाणा वृत्तिः स्व-स्वेतरोपाधिनिवृत्तिहेतुरुदयते'। इस प्रकार शिष्य को प्रोत्साहित करने के लिये 'यदि' है।

अन्यथाग्रहणे हेतवः १) पुरुषापराधः

दृष्टं च 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्म' (छां. ८.७.४) इत्युक्ते, प्राजापत्यः पण्डितोऽप्यसुरराड् विरोचनः स्वभावदोषवशाद् अनुपपद्यमानमपि विपरीतमर्थं 'शरीरमात्मा' इति प्रतिपन्नः।

तथेन्द्रो देवराट् सकृद्द्विस्त्रिरुक्तं चाऽप्रतिपद्यमानः स्वभावदोषक्षयमपेक्ष्य चतुर्थे पर्याये प्रथमोक्तमेव ब्रह्म प्रतिपन्नवान्।

आत्मसंबंधी ग़लतफ़हमी में हेतु - १. पुरुषापराध

यह देखा गया है कि स्वभावदोष के कारण 'शरीर आत्मा है' ऐसी युक्तिविरुद्ध और उपदिष्ट से उल्टी बात भी समझ ली जाती है। विरोचन साक्षात् प्रजापति का पुत्र था, पण्डित भी था, असुरों का शासक भी था, किंतु ब्रह्माजी ने जब कहा 'जो यह आँख में पुरुष दीखता है यह आत्मा है, यह अमृत अभय है, यह ब्रह्म है', तो उसने समझा कि जैसे प्रसिद्ध गाय आदि समझाये जाते हैं 'यह गाय है' इत्यादि ऐसे ही आँखो में शरीर की जो परछाईं दीखती है उसे ही ब्रह्मा जी आत्मा कह रहे है! 'स्वभावदोष' को ही 'पुरुषापराध' संज्ञा देकर सर्वज्ञात्ममहामुनि ने बहुत विस्तार से इस प्रसंग को ग्रंथ के उपक्रम में ही समझा दिया है। संक्षेप में तो साधनसम्पत् की कमी और शोधित पदार्थ का भान न होना ये ही स्वाभाविक दोष हैं। यद्यपि दर्पण से मुख पर असर कुछ नहीं पड़ता तथापि दर्पण के दोषों से मुख का सही ज्ञान नहीं हो पाता, कदाचित् ग़लत ज्ञान ही होता है, ऐसे ही चित्तदोषों से भी ज्ञान ठीक नहीं होता। लौकिक विषयों की भी सही जानकारी के लिये काफी हद तक मन को निष्पक्ष बनाना पड़ता है जो राग-द्वेष कम करने का ही नाम है। अपनी पूर्व मान्यताओं में राग न रखना और परकीय (या वैषयिक) अभिव्यक्ति के प्रति द्वेष न रखना, इसे ही

निष्पक्ष होना कहते हैं। समझने योग्यों की परा काष्ठा आत्मा है अतः इसके लिये निष्पक्षता की भी पराकाष्ठा चाहिये यह ठीक ही है। 'उपलंभता' अर्थात् अविद्या-कल्पनामात्ररूपता मानते हुए भी 'अग्रयाणतः' सबसे पहले भिक्षु को जो समझ लेना चाहिये उन्ही में पाक्य और आप्य को गिनकर आचार्यों ने (मां.का. ४.९०) यही बताया है कि इनकी पक्ति और आप्ति के बिना न हेय का हान संभव है, न ज्ञेय का ज्ञान। राग, द्वेष, मोह आदि कषाय कहलाने वाले दोषों को पाक्य कहा है। फोड़ा बिना पकाये सुखा दिया जाये तो भीतर दबा रहता है तथा और कहीं या और तरह से व्यक्त हो जाता है ऐसा प्रसिद्ध है। रागादि भी बिना पकाये दबायें तो निरंतर दुःख देते रहते हैं, साधनाभ्यास में रुकावट ही डालते हैं। उनका पाक निष्काम कर्म और विवेक से होता है। आत्मविचार में कुशलता, दम्भ दर्प अहंकारादि से रहितता और ज्ञानाभ्यास—इन्हें आप्य अर्थात् पाने योग्य कहा है। हेय की तरह आप्य व पाक्य भी भले ही असत्य हैं, पर हैं ये ही उपाय। 'स्वभावदोष' कहकर भाष्यकार ने बता दिया कि आत्मा को ग़लत समझना स्वाभाविक, सहज, अनादि है। मूलाज्ञान की तरह ही कार्याविद्या भी प्रवाहरूप से अनादि तो है ही, उसकी तरह दण्डायमान चाहे नहीं है। अतः दोष होने पर भी यह किसी की ग़लती नहीं कि वह आत्मा को सही नहीं समझता। ग़लती तब कही जाये जब अस्वाभाविक हो। यदि असहज है तो आत्मतत्त्वज्ञान। अविद्या परमात्मदेव की शक्ति है जिससे वह संसरण करता लगता है। अतः घोरतम नास्तिक या पापाचार का इसमें कोई दोष नहीं कह सकते कि वह आत्मविषयक भ्रम में है। धर्मनिष्ठ भी तो उसी भ्रम में है! स्वाभाविक के लिये किसे ज़िम्मेदार ठहरा सकते हैं? अतएव भाष्यकार में अमित सहिष्णुता और करुणा आलक्षित होती है तथा वे यह शिक्षा देते हैं कि स्वयं में (या शिष्यादि में भी) किसी हीनभावना को रखने की ज़रूरत नहीं कि 'मुझमें (या अमुक में) इतने दोष हैं'। दोष तो स्वभाव से हैं, उन्हे यत्नतः हटाने में पौरुष लगेगा। हर पुरुषार्थ फलेच्छा से प्रेरित होता है अतः मुमुक्षा तीव्र हुई तो खुद-ब-खुद व्यक्ति दोषों को हटायेगा। जिसे जाना ही हरद्वार है वह यदि गंगासागर की ओर प्रगति नहीं करता तो क्या यह उसका अपराध है! अमुमुक्षु बुभुक्षु यदि दोषाभिवृद्धि, भोगोपचारसमृद्धि करता है तो क्या यह उसकी ग़लती है? मुमुक्षु यदि दोष न हटाये तो मार्गभ्रष्ट हो रहा है, ग़लती पर है यह कहना उचित है। मोक्ष की प्रशंसादि से किसी को मोक्ष-इच्छुक बनाने की कोशिश भर की जा सकती है, जब तक वह मुमुक्षु हो न जाये तब तक उसकी बहिर्मुखता को अनुचित करार किया नहीं जा सकता। इसीलिये हमारे आचार्यचरण 'दिशा-निरूपित नैतिकता' (directional morality) शब्द का प्रयोग किया करते हैं। प्रकृत में तो मुमुक्षु की बात है, विरोचन भी आत्मबोधार्थ गया था, अतः दोष हटाना ही नैतिकता बन जाती है, यह अभिप्राय है।

यहाँ छान्दोग्योपनिषत् के प्रसंग को दृष्टान्त बनाया गया है। ब्रह्माजी ने घोषणा की थी कि आत्मा को जानना चाहिये, उसे जानने से सारे लोकों की प्राप्ति होती है, सारी कामनायें पूरी हो जाती हैं। आत्मा का स्वरूप भी पाप-जरा-मृत्यु-शोक-भूख-प्यास इन सबसे रहित तथा सत्यकाम, सत्यसंकल्प है ऐसा उन्होंने घोषणा में बताया था। यह घोषणा देवताओं ने और असुरों ने भी सुनी तो फल से लुब्ध होकर जानकारी पाने को उत्सुक हुए। देवताओं की ओर से इंद्र और असुरों की ओर से विरोचन ब्रह्माजी के पास पहुँचे। ब्रह्माजी ने उन्हे समित्पाणि आया देखकर समझ लिया कुछ शिक्षा लेने आये हैं अतः पहले ही कहा कि 'कुछ समय ब्रह्मचर्य के नियमों से यहाँ रुको।' बत्तीस वर्ष जब वे नियमपूर्वक रह लिये तब ब्रह्माजी ने प्रश्न पूछने का मौका दिया। उन्होंने कहा 'आपकी घोषणा सुनकर उसी आत्मा को जानने के लिये हम आये हैं।' ब्रह्माजी ने उपदेश दिया 'जो यह आँख में पुरुष दीखता है यह आत्मा है, यह अमृत अभय है, यह ब्रह्म है।' उनका मतलब तो था द्रष्टा से – 'चक्षुषश्चक्षुः' से – किन्तु दोनों ने छायारूप पुरुष को ही समझा, आँख में जिसकी परछाई पड़ती है उसे ही आत्मा समझ लिया। बात पक्की करने के लिये दोनों ने पूछा 'जल में, काँच में, अन्य चमकती तलवारादि में जो दीखता है, उनमें से यह आत्मा कौन है?' अर्थात् क्या सिर्फ़ आँख में दीखने वाला आत्मा है या इनमें दीखने वाला भी आत्मा है?

ब्रह्माजी समझ गये कि ये ग़लत समझे हैं किंतु सोचने लगे कि 'इन्हे सीधा कहेंगे तो इन्हे बुरा लगेगा और दुःखी

मन रजोगुणी होता है, उसमें सत्त्वकार्यभूत ज्ञान नहीं हो सकता। फिर भी इन्हे समझाना तो पड़ेगा। अतः और उपाय करूँगा।' यह सोचकर वे बोले 'यही है, यह सभी में दीखता है।' फिर देह की अनात्मता समझाने के लिये उन्होंने दोनों से कहा 'बर्तन में पानी भरकर अपने को देखो फिर आत्मा के बारे में जो न जानो वह मुझे बताओ।' उनका तात्पर्य था कि पापादिरहित आत्मा का लक्षण घटाकर जब ये लोग देखेंगे तो स्वयं प्राप्त होगा कि दीखने वाला आत्मा वैसा नहीं है। यह भी सोचेंगे कि शरीर को तो हम पहले ही जान रहे थे, उसकी जानकारी से हमारी कमनायें तो पूरी हुई नहीं। अतः मुझसे पूछेंगे।

किन्तु स्वदोष से विवेकविज्ञान प्रतिबद्ध होने से वे छायात्मा के बारे में निश्चित थे अतः 'आत्मा के बारे में अमुक बात नहीं जान पा रहे हैं' ऐसा न कह सके। ब्रह्माजी ने सोचा 'विपरीतग्राहिणौ च शिष्यावनुपेक्षणीयौ' (भाष्य) कि शिष्य ग़लत समझे तो उसकी उपेक्षा करना ठीक नहीं, सही समझाने की कोशिश करनी चाहिये। अतः पूछा 'क्या देख रहे हो?' उन्होंने यही जबाब दिया 'रोम और नख पर्यंत जैसे हम हैं वैसा अपने को देख रहे हैं।'

ब्रह्मा जी ने कहा 'नख, दाढ़ी आदि बनवाकर, अच्छे गहने कपड़े पहनकर आओ, फिर पानी में देखो।' उन दोनों ने यही किया। ब्रह्माजी का अभिप्राय था कि शरीर का रूप-रंग बदला दीखेगा और गहने भी परछाई में दीखेंगे तो ये ज़रूर सोचेंगे कि यह बदलने वाला आत्मा कैसे हो सकता है और यह तो गहनों की तरह ही हुआ अतः आत्मा से भिन्न ही होना चाहिये। अतः पूछा 'क्या देखते हो?' उन्होंने जैसा अपने को देखा वैसा ही वर्णन कर दिया।

ब्रह्माजी ने विचार किया कि 'अभी इनमें कषाय ब़ाकी है। मैं और ब्रह्मचर्यपालन के लिये आज्ञा दूँगा तो बेचारे दुःखी होंगे। दुःख से तप करेंगे भी तो कषाय पकेगा नहीं, ब्रह्मचर्य व्यर्थ जायेगा। लेकिन यदि मेरे उपदेश को बार-बार सोचेंगे तो वह आत्मविचार ही इनका कषाय घटाने में उपयोगी हो जायेगा और प्रतिबंध का क्षय होने पर सही बात समझ लेंगे। अतः आत्मा के स्वरूप को याद दिलाते हुए उन्होंने कहा 'यह आत्मा है, यह अमृत अभय है, यह ब्रह्म (व्यापक) है।' दोनों जने ग़ैर-समझी को ही ठीक समझ मानकर लौट चले।

विरोचन ने असुरों के पास पहुँचकर बता दिया 'शरीर को ही पिताजी ने आत्मा बताया है अतः शरीर ही पूजो, इसी की सेवा करो। इसी से इहलोक-परलोक दोनों मिल जाते हैं।' यह शरीरात्मबुद्धि जैसे उसे हुई थी वैसी उसने असुरों को भी करा दी। यह बात न युक्ति से उचित है और न ब्रह्माजी ने इसका उपदेश ही दिया है क्योंकि उन्होंने साथ ही अमृत आदि को आत्मस्वरूप बताया जो शरीर में है नहीं, फिर भी विवेक-वैराग्यादि की कमी से विरोचन व असुरों ने इस मत को मान्यता दे दी।

'प्राजापत्यः' से भाष्यकार सूचित करते हैं कि जन्म की उच्चनीचता से इस सही जानकारी में कोई अंतर नहीं आता, वह अपने में कोई अधिकारापादक नहीं बन पाता। 'पण्डितः' से यहाँ बहिर्मुखी बुद्धि कह रहे हैं। विषयी आत्मा प्रसिद्ध होने पर भी विरोचन उसे विषयरूप से समझने का प्रयत्न कर रहा था। अतः बहिर्मुख को ही पंडित कह दिया है। 'असुरराट्' से उसकी भोगलंपटता बतायी है जो बहिर्मुखता को उपपन्न करती है।

इस प्रकार दोष के कारण ग़लत समझना बताकर दोषक्षय से सही समझना भी उक्त कथा से ही दिखाते हैं: **इसी तरह देवराज इन्द्र पहली बार, दूसरी बार और तीसरी बार समझाये जाने पर ठीक नहीं समझ पाये किन्तु जब उसका स्वाभाविक कषाय विवेकविज्ञान का प्रतिबंध कर सकने जितना नहीं बचा तब चौथी बार बताने पर उसी ब्रह्म को समझने में सफल हुए जिसका उपदेश वास्तव में तो पहली बार ही उन्हे मिल गया था।**

विरोचन के साथ ही इंद्र भी लौटा तो था पर रास्ते में उपदेश पर चिंतन करने लगा। छायात्मा और शरीर को नाशवान् निश्चित जानकर इन्द्र ने सोचा कि इस ज्ञान से तो कोई फल नज़र नहीं आता। अतः वह ब्रह्माजी के पास लौट

आया और अपना उक्त विचार उनसे कहा। ब्रह्माजी ने कहा 'बात ठीक है। और बत्तीस साल रहो तब पुनः बताऊँगा।' उतने समय के बाद उन्होने कहा 'जिसे पापादिरहित कहा था, आँख में दीखने वाला कहा था, वह यही है जो सपने में स्त्री आदि द्वारा पूजित होता हुआ विविध भोग भोगता है। यह आत्मा है।' ब्रह्माजी का तात्पर्य था कि जाग्रत् से स्वप्न तक जाने पर यह अवस्थासाक्षी को समझेगा किन्तु इन्द्र ने स्वप्न शरीर या स्वप्न-भोक्ता को समझा। उसने सोचा कि देह के विकारों से सपने वाले में परिवर्तन नहीं आता अतः यह ठीक है कि वह आत्मा हो। इन्द्र लौट चला।

रास्ते में विचार हुआ कि स्थूल देह के विकारों से भले ही अछूता रहे पर सपने में तो यह भी पिटता है, कटता है, दुःखी होता है। यह कैसे निष्पाप आत्मा हो सकता है? वह प्रजापति के पास वापस आया और यह समस्या कह सुनाई। उन्होंने कहा 'ऐसा ही है, यह दोष उसमें है। तुम और बत्तीस वर्ष ब्रह्मचर्य से रहो, तब बतायेंगे।' समय आने पर उन्होंने उपदेश दिया 'जो अपहतपाप्मादि है, आँख में दीखता है, सपने में विचरण करता है वहीं जब सो जाता है तो क्योंकि विषयों और इंद्रियों से संयुक्त नहीं रहता तथा सपने भी नहीं देखता इसलिये पूरी तरह प्रसन्न रहता है। यह आत्मा है, अमृत, अभय, ब्रह्म है।' स्वप्न-शरीर में समझे दोष सुषुप्त-पुरुष में न देखकर इंद्र को संतोष हो गया और वह चल दिया।

किन्तु फिर मार्ग में उसने सोचा सुषुप्त तो जड-सा रहता है, न ख़ुद की ख़बर उसे रहती है और न किसी और को ही जानता है। वह तो मानो तब नष्ट हो चुकता है। कहा उसे सत्यकाम, सत्यसंकल्प है। अतः यह भी आत्मा हो यह समुचित नहीं। आकर जब ब्रह्मा जी से कहा तो उन्होंने स्वीकार किया और पाँच वर्ष ब्रह्मचर्यपालन करने को और कहा। यों एक सौ एक साल ब्रह्मचर्य रखकर जब ब्रह्माजी का उपदेश इंद्र ने सुना तब सही बात समझ पाया। ब्रह्माजी ने अंत में यह समझाया 'इन्द्रिय-मन समेत यह शरीर मरने वाला है, हमेशा मौत के मुँह में फँसा रहता है। अमृत और अशरीर आत्मा के भोग का यह स्थान है। सद् आत्मा जीवरूप से घुसकर इसमें बैठा है। किन्तु इसे केवल मकान न समझकर इससे तादात्म्य वाला हो जाने से जीव प्रिय-अप्रिय से बँधा रहता है। जब तक देह से तादात्म्य है तब तक इनसे छुटकारा नहीं। जो अशरीर है उसे तो प्रिय-अप्रिय छूते भी नहीं। वायु, बादल, बिजली और गरजन — ये अशरीर हैं, लेकिन, सूर्य की गर्मी पाकर आकाश से मानो उठकर ऐसे रूप ग्रहण कर लेते हैं जिन से वर्षा हो जाती है। बिना सूर्य की गर्मी पाये ये सब आकाश से एकमेक हो रखे थे, गर्मी पाकर इस स्थिति में आये कि पहचाने जा सकें, स्वरूपतः अभिव्यक्त हो जायें। इसी तरह आत्मा शरीर से एकमेक हो रखा है। गुरु के उपदेश से जब जीव शरीर से अपना भेद समझ लेता है, देह को आत्मा(=मैं) नहीं समझता, तब यह अपने निख़ालिस रूप में भासता है। वही उत्तम है, पुरुष है। एक बार उस रूप से अभिनिष्पन्न हो जाने पर (अपने निष्कृष्ट स्वरूप का अज्ञान मिट जाने पर) फिर चाहे यह जो भी लीला करता रहे, इसे कभी उपाधि में तादात्म्यनिश्चय नहीं होता। ऐसे उत्तम पुरुष को मैंने आँख में दीखने वाला क्यों कहा? जैसे गाड़ी में घोड़ा जोता जाता है ऐसे इस शरीर में प्राण जोड़ा गया है। ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति के संपिण्डित रूप को प्राण कहते हैं। शरीर में जो आँख है (देखने का उपकरण, गोलक, है) उससे संबद्ध आत्मा ही चक्षु में होने वाला पुरुष है। वह रूपोपलब्धि कर पाये इसके लिये उस गोलक में चक्षुरिन्द्रिय (जो उक्त प्राण का ही एक हिस्सा है) काम करती है। ऐसे ही अन्य गोलक और इंद्रियाँ हैं। 'आँख में दीखता है' से मेरा मतलब था कि आँख के निमित्त जो दर्शन होता है उस लिंग (चिह्न, हेतु) से ज्ञानरूप आत्मा समझा जा सकता है।'

इस व्याख्यान से देवराज को स्पष्ट पता चल गया कि तीनों अवस्थाओं का जो साक्षी इन तीनों से अछूता है वही पापादिशून्य आत्मा है। प्रजापति ने अंत में जो चक्षु, घ्राण, वाक्, श्रोत्र और मन का उल्लेख किया उससे इन्द्र ने यह भी समझ लिया कि प्रजापति ने पहली बार ही किस अभिप्राय से 'चक्षुषश्चक्षुः, प्राणस्य प्राणः' वाचो वाक्, श्रोत्रस्य श्रोत्रम्, मनसो मनः' का उपदेश दिया था। एवं च दोषक्षयापेक्षा से सही समझ हो पाती है यह पता चलता है। इसलिये ग़लत समझ का एक कारण हुआ पुरुषापराध।

ii) सूक्ष्मताऽर्थस्य

लोकेऽप्येकस्माद् गुरोः शृण्वतां कश्चिद्यथावत् प्रतिपद्यते, कश्चिद् अयथावत्, कश्चिद् विपरीतं, कश्चिद् न प्रतिपद्यते; किमु वक्तव्यमतीन्द्रियमात्मतत्त्वम्!

ii. दूसरा हेतु अर्थ की सूक्ष्मता

एक ही गुरु से लोक के विषय में ही सुनने वालों में कोई पूरा समझ लेता है, कोई आधा-अधूरा समझता है, कोई उल्टा समझ जाता है और कोई समझ ही नहीं पाता। जब लोक के बारे में समझने वालों का यह हाल है तब अतीन्द्रिय आत्मतत्त्व को कोई ग़लत समझ सकता है इसमें क्या कहना! 'लोक' अर्थात् जिसका प्रत्यक्षादि से अवलोकन किया जा सकता है। स्थूल विषयों में और किंचित् सूक्ष्म विषयों में ही जब उक्त अव्यवस्था दृष्ट है तब सूक्ष्मतम, अविषय के बारे में तो ऐसा होना और भी मुमकिन है। प्रायः शब्द किसी धर्म को पुरस्कृत कर ही अर्थ बताते हैं। अथवा सादृश्य से बताते हैं जैसे 'दर्द' शब्द का अर्थ यही समझ आता है कि अमुक परिस्थिति में मुझे जैसी अनुभूति होती है उसी की तरह इसे अनुभूति हो रही है जब यह कह रहा है 'मुझे दर्द है'। किन्तु परमात्मा में कोई धर्म नहीं, किसी से सादृश्य नहीं। अतः शब्द प्रायः बेसहारा होकर किसी तरह बताने की कोशिश करता है। समझने वाला भी शब्द के अर्थरूप में क्या समझता है यह कहना मुश्किल है। 'घड़ा' से क्या समझा—यह व्यवहार से कुछ हद तक पता चल भी जाये तो भी अर्थ के कौन से पहलू उसे स्फुरते हैं इसका वर्णन शायद वह ख़ुद भी न कर पाये! सूक्ष्म अर्थों में, जैसे मैत्री, प्रेम, रुचि आदि, तो दो व्यक्तियों का परस्पर संवाद लगभग अन्दाज़ पर ही आधारित रह सकता है। अतः सूक्ष्मतम इन्द्रियातीत परम सत्य को क्या-कैसा समझा गया है यह निर्णय काफ़ी प्रयत्न की अपेक्षा रखता है। गुरु-शिष्य का अनुभव हर तरह एक हो तभी गुरु सन्तुष्ट हो सकते हैं। इसलिये इस वस्तु में ग़लत-फ़हमी की अतिशय संभावना देखकर मीमांसा की ज़रूरत बतायी।

केवल अतीन्द्रियता ही कठिनाई का अकेला कारण नहीं, वह आत्मा है यह दूसरी समस्या है। अभी तक हम विषयों को ही जानते हैं। विषयज्ञान से अन्य ज्ञान की किसी प्रक्रिया से अनभिज्ञ हैं। ज्ञान से जो सम्बद्ध हो जाये वही हमें प्रकाशित हो जाता है। ज्ञान और विषय परस्पर सम्बद्ध होने को सदा उत्सुक हैं। संभव भी ज्ञान का सम्बंध अज्ञानरूप विषय से ही है। जिसका कभी ज्ञान से संबंध संभव नहीं, ज्ञानप्रकाश के संमुख जो कभी आ नहीं सकता उसे कैसे जानें? प्रायः संशय हो तो जानने की कोशिश होती है। अपने बारे में संशय होता नहीं। अपनी विशेषताओं के बारे में भले ही संशय हो पर अपने बारे में नहीं होता। किंतु इसका मतलब यह नहीं कि हम अपने को जानते हैं। हमें अपना अज्ञान भी है। अज्ञात और असंदिग्ध ख़ुद सामने आये तब तो उसका ज्ञान होता है यह लोकसिद्ध है और आत्मा का सामने आना संभव नहीं। अनात्मा पर किसी अतिशय का आधान होने पर वह जाना हुआ हो जाता है, आत्मा तो ऐसा भी नहीं कि उस पर कोई अतिशय किया जा सके। ज्ञान कहते हैं परिच्छेद को — 'मितिः सम्यक्परिच्छित्तिः' ऐसा तार्किकाचार्य लिख गये हैं; आत्मा व्यापक है, परिच्छिन्न किया नहीं जा सकता।

इस प्रकार जानने वाले की अयोग्यता पहला हेतु बताया और जिसे जानना है उसकी सर्वविध सूक्ष्मता दूसरा हेतु कहा।

iii) वादिविप्रतिपत्तिश्च

अत्र हि विप्रतिपन्नाः सदसद्वादिनस्तार्किकाः सर्वे। तस्मादविदितं [द् वि?] ब्रह्मेति सुनिश्चितोक्तमपि विषमप्रतिपत्तित्वाद् 'यदि मन्यस' इत्यादि साशङ्कं वचनं युक्तमेवाचार्यस्य।

III. तीसरा हेतु-वादियों में मतभेद

है-वादी, नहीं है-वादी सभी तार्किक आत्मा के बारे में परस्पर विलक्षण मत रखते हैं इसलिये भी आत्मा समझना कठिन हो जाता है। मनुष्य को तर्क पर काफी श्रद्धा है। यद्यपि प्रचार के, कुछ अनुभूतियों के और आशा के आधार पर प्रायशः लोग तर्कविरुद्ध प्रतिज्ञाओं को, करिश्मों को मानने के लिये उतावले रहते हैं तथापि वह स्वीकृति तभी तक रहती है जब तक मन अभिभूत या स्तम्भित रहे, चाहे यह स्तम्भन सामाजिक मन का सैकड़ों साल चल जाये। प्रामाणिक सत्य भी तर्कविरुद्ध बना रहे तो कालक्रम से शनैः शनैः अनास्था का आस्पद हो जाता है। (इसमें धर्म ही ज्वलन्त दृष्टान्त है)। क्रिया तो साफल्य पर आधारित होने से तर्क के बिना भी काफी हद तक मान ली जाती है यदि फलप्रद बनी रहे, यद्यपि वहाँ भी तर्क के सहारे परिवर्तनादि किये ही जाते हैं: भोजन पकाने की प्रक्रियाओं व उपकरणों में आमूलचूल परिवर्तन इसी से हुआ तथा हो रहा है कि प्रायः लौकिकों को कोई तर्क नहीं जँचाया जाता कि पकना एक-सा होने पर भी अमुक (कठिन) प्रक्रिया ही उचिततर हैं। या पीसने के लिये ये ही क्रियायें ठीक हैं। अतः क्रिया पर भी तर्क असर करता है किंतु ज्ञान के क्षेत्र में तो तर्क-साँड़ से सत्यसस्य की सुरक्षा अनिवार्य है। जो चमत्कारादि पर श्रद्धालु हैं वे फिर उन्हे ज्ञेय नहीं मानते। जब ज्ञान का प्रसंग होता है – चाहे लौकिक वैज्ञानिकादि ज्ञान ही हों – तो वे ही लोग तर्क से परीक्षा किये बिना मान्यता नहीं दे पाते। ज्ञान से अन्य मोक्ष का उपाय मानने वालों को इसीलिये तर्क की ख़ास परवाह करनी नहीं पड़ती। थोड़ा-बहुत उपयोग परमतनिरास के लिये कर लेते हैं ताकि उनके अनुयायी अन्य सिद्धान्तों को तर्कविरुद्ध समझें और उधर उन्मुख न हों। वस्तुतः यह उपयोग भी उनकी तर्कश्रद्धा का ही द्योतक बन जाता है पर वे स्वमतस्थापन में इसका उपयोग न कर सकते हैं और न बहुत ज़रूरी समझते भी हैं। किंतु ज्ञान को ही मोक्ष का उपाय मानने वाले को तर्क से अविरोध स्थापित करना अनिवार्य लगता है अन्यथा उसे स्वयं ही निश्चय नहीं हो पाता। तर्कसमर्थन तो यहाँ भी असंभव और अवांछित है, पर अविरोध संभव भी है, इष्ट भी। मोक्षोपाय चाहे जो मानें, आत्मा के बारे में कुछ-न-कुछ मान्यतायें सभी की हैं, सामान्य जन की भी, वादियों की भी। चाहे यही मानें कि आत्मा नहीं है, पर आत्मा के संबंध में कुछ मान्यता रखते ही हैं। वार्तिककारों ने कहा है कि सब वादी उपदेश देते हैं अतः यह स्वीकारना पड़ेगा कि वे यह मानते हैं (i) लोगों को अज्ञान है और (ii) प्रमाण से (उपदेशरूप या उपदेशदर्शित उपाय से) वह अज्ञान मिटेगा। चार्वाक को छोड़कर आत्मा को प्रत्यक्ष से तो कोई नहीं दिखाता। कुछ वादी उसमें शब्द को प्रमाण कहते हैं और बहुतेरे उसे अनुमानसिद्ध कहते हैं। किन्तु तीनों ही अपनी बात में या तर्क देते है या तर्कविरोध हटाने की कोशिश करते हैं। आनुमानिकों की तो तर्कानुग्रह आवश्यक माँग है क्योंकि निस्तर्क अनुमान निश्चायक वे भी नहीं मानते। इस तरह आत्मा के सम्बंध में तर्क का विनियोग करने से सभी को यहाँ 'तार्किक' कहकर भाष्यकारों ने एकत्र किया है।

'सदसद्वादिनः' से सभी संभव सिद्धान्त सिमट जाते हैं। सत्सापेक्ष, असत्सापेक्ष, उभयसापेक्ष, उभयनिरपेक्ष, अन्यतरनिरपेक्ष — ये ही मत रखे जा सकते हैं। 'अस्तीति' 'नायमस्तीति' ऐसी ही विप्रतिपत्तियाँ नचिकेता ने भी सुनी थीं। यही स्थिति चिद्-अचित् की और व्यापक-अव्यापक की है। अतः सत् से सत्-चित्-आनन्द तीनों समझने चाहिये। सब वादी इन तीनों के परिप्रेक्ष्य में आत्मा का वर्णन करते ही हैं। इस प्रकार उनके द्वारा वर्णित आत्मा का स्वरूप नाना प्रकार का हो जाता है। प्रमाणाधारित वादियों का भी वर्णन विविध ही होता है और वे भी अपने वर्णित रूप को तर्कानुकूल या तर्काऽप्रतिकूल बनाने से यहाँ तार्किकों के समकक्ष माने ही गये हैं। अतः 'सर्वे' पद संगत है। तर्कविरुद्ध अर्थ शब्द का प्रतिपाद्य समझाया नहीं जा सकता। तर्क को अप्रतिष्ठित बताया गया है अर्थात् वह हमेशा तर्कान्तर से कटने को तैयार रहता है। फलतः जिज्ञासु को जिससे संतोष हो जाये वही उसके लिये पर्याप्त तर्क हो जाता है, बाकी तर्कों को वह बाल की खाल निकालना, शुष्क होना, कुछ अतर्क्य मान्यताओं पर आधारित होना आदि विशेषताओं वाला मानकर उपेक्षित कर देता है। और अनुभूति तो चाहे जैसी होती ही है, रज्जुसर्प भी दीखता वैसा ही है जैसी रज्जु। इस परिस्थिति में आत्मा जानने के लिये प्रवृत्त होने पर कई स्वकीय तर्क और बाकी वादितर्क उपस्थित होना लाज़मी है। स्वकीय अर्थात् हर व्यक्ति, बिना

किसी वाद के सहारे कुछ तर्क अपनाये रखता है, उनसे अपना व्यवहार चलाता है। इनमें कारण चाहे संस्कारादि हों पर वह ख़ुद उन्हे स्वाभाविक मानता है। आत्मा को वह उन तर्कों से समर्थित चाहता है। वादियों के भी जो तर्क उसे जँचते हैं उनका समर्थन उसे अपेक्षित रहता ही है। जैसे लगभग समान मूल्य और समान गुण वाली चीज़ें लगें तो खरीददारी मुश्किल हो जाती है ऐसे ही जिज्ञासु को आत्मनिश्चय में कठिनाई का सामना करना पड़ता है। वह प्रमाणाधारित हो तो भी तर्काविरोध का निश्चय करने में सहसा तो अक्षम ही होता है। अतः वादी विप्रतिपन्न हैं का तात्पर्य है कि जिज्ञासु के सामने ये विविध प्रतिपत्तियाँ बिखरी पड़ी हैं जिनमें उसे चुनना पड़ेगा। विकल्प अनेक हैं; यहाँ तक कि कई विकल्प इकट्ठे भी चुने जा सकते हैं : जिस जिज्ञासु को यह न जँचे कि वस्तु में विकल्प नहीं होता वह अनेकान्तवाद को अपनाने में स्वतंत्र है। आख़िर यह एक तर्क ही है कि सत्य निर्विकल्प होता है।

प्रमातृप्रमेय-समस्याओं के बाद यहाँ प्रमाणसमस्या का उल्लेख किया गया है। प्रत्यक्ष भी तो अनुपपत्तिवश ही शंकास्पद होता है अन्यथा दो प्रत्यक्षों में सबल-दुर्बलभाव कैसे रहेगा? प्रमाणान्तरप्राबल्य भी अतः तर्क पर टिकता है। तर्क की अनवस्थिति और अनुभूतिमात्र की अनिर्णायकता के कारण ही श्रद्धा (और उसमें भी सहायक ईश्वरेच्छारूप प्रारब्ध) का प्राधान्य हो जाता है। यही तार्किकों से आगमिकों का मूल अंतर है। आगमिक भी तर्क का भरपूर प्रयोग करते हैं किन्तु निर्णय उस पर ही नहीं छोड़ते, निर्णय के लिये आगम की शरण लेते हैं। यह मान लिया जाता है कि वास्तविकता-बोधक आगम पर श्रद्धा होना सौभाग्य का विषय है, यद्यपि प्रायः हर आगमिक वास्तविक आगम उसे ही बताता है जिस पर उसे ख़ुद श्रद्धा है। ऐसी स्थिति में वेद ही एक ऐसी ज्ञानराशि है जिसे तर्क का पूर्ण बल तो प्राप्त है ही साथ में एक और भी बल है : प्रमाण और तर्क का सहारा सर्वथा बिना लिये भी निरज्ञान हुआ जाता है किंतु इसकी कोई स्थित प्रक्रिया न होने से इस निरज्ञानता को 'गुह्य' (mystic) कहते हैं। अत एव ब्रह्मज्ञान को भगवान् ने 'राजगुह्य' कहा। 'यमेवैष वृणुते' में 'एषः' से परमात्मा लेकर आचार्य शंकर ने भी इसे सूचित किया है। विश्व में अनेकत्र ऐसी निरज्ञानता (कम-से-कम) संभावित है और निरज्ञानों के उद्गार प्रायः द्वैत के असहिष्णु सुने गये हैं। इस तरह तर्क-प्रमाण के प्रतिबन्धों से छूटी निरज्ञानता का संवाद पाकर तर्कादिसम्मत श्रुति ही अलौकिक सत्य का ऐसा प्रतिपादक बन पाती है जो स्वयं को लाँघ जाये। इस हिम्मत से ही वेद आगमान्तरों की श्रेणि में नहीं आ पाता; कोई आगम यह नहीं कहता 'मुझे मानोगे तो फिर मुझे भी नहीं मानना पड़ेगा!' अकेले वेद का यह उद्घोष इसीसे है कि उसका प्रतिपाद्य भी उसके सापेक्ष नहीं है। सत्ता में आधिक्य तो है ही, 'गुह्य' रूप से प्रकट होकर वह वेद की समानसत्ता में भी अपनी वेदशब्दराशि से निरपेक्षता व्यक्त कर देता है।

हर हालत में विभिन्न वादियों के उपदेश जिज्ञासु को सही निर्णय तक पहुँचने में विलम्ब तो कराते ही हैं। अतः कहते हैं – **इसलिये शिष्य अच्छी तरह निश्चितकर भी कहे 'ब्रह्म जान लिया' फिर भी वस्तु दुर्बोध होने के कारण आचार्य का शंकायुक्त हो यह कहना 'अगर समझ रहे हो' इत्यादि युक्तियुक्त ही है।** 'तस्माद्विदितं ब्रह्मेति' यह प्राध्यापक हिरियन्ना आदि का पाठ है और उचित है। 'तस्मादविदितम्' ही पाठ हो तो यह अर्थ समझा जा सकता है : उक्त कारणों से 'ब्रह्म विदित-अन्य है' ऐसा भली-भाँति निश्चित कर कहने पर भी क्योंकि वास्तविक दुर्बोध है इसलिये शंका-युक्त हो आचार्य का यह कहना ठीक ही है 'अगर समझ रहे हो' इत्यादि। 'विदितम्' पाठ में 'उक्तं शिष्येण' शेष होगा, 'अविदितम्' में 'आचार्येण' शेष होगा। 'अविदितम्' पाठ में विदित-अविदित दोनों से अन्य — यह अविदित का अर्थ है। आनन्दाश्रम, कैलास तथा महेशानुसंधान संस्करणों में 'अविदितम्' ही पाठ है। श्रुति में 'विदितम्' ऐसा शिष्य ने अभी (='यदि' आदि मंत्र से पूर्व) कहा भी नहीं है अतः 'उक्तम्' से आचार्योक्ति ही लेना उचिततर है। शिष्यपक्ष में 'सुनिश्चितोक्तम्' से अभिप्राय है कि वह निश्चय पर पहुँच चुके फिर भी गुरु अपनी तसल्ली होने तक सशंक बना रहे। भाष्यकार यह आचार्य की ज़िम्मेदारी मानते हैं कि न्यायप्राप्त सच्छिष्य को अविद्यामहोदधि से उबारे। अतः अपनी ज़िम्मेदारी पूरी हुई या नहीं यह निर्णीत करने के लिये 'यदि' आदि वाक्य होना ठीक है। आचार्यपक्ष में तो दुर्बोधता समझते हुए मीमांसा के लिये प्रेरित

करना उनकी करुणा है यह सुस्पष्ट है। संभवतः उपनिषदों में ऐसी परीक्षा का अन्य प्रसंग दुर्लभ है जहाँ शिष्य सुनिश्चित कर कहे, गुरु विचलित करें, फिर शिष्य गर्ज कर अपनी दृढता प्रकट करे। शिष्योक्तिपक्ष में यह परीक्षास्थल मिल जाता है साथ ही अर्वाचीन आचार्यरत्नों ने जो प्रथमश्रुत-चरमश्रुत के संवाद का स्पष्टीकरण (द्रष्टव्य 'अद्वैतरत्नरक्षण' का उपान्त्य भाग) किया है उसका यह उपोद्बलन कर सकता है।

औपाधिकाऽनेकरूपताऽऽत्मनः

दहरम् अल्पम् एवापि नूनं त्वं वेत्थ जानीषे ब्रह्मणो रूपम्।

किमनेकानि ब्रह्मणो रूपाणि महान्त्यर्भकाणि च येनाऽऽह 'दहरमेव' इत्यादि?

बाढम्। अनेकानि हि नामरूपोपाधिकृतानि ब्रह्मणो रूपाणि। न स्वतः, स्वतस्तु 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यद्' (कठ.१.३.१५) इति शब्दादिभिः सह रूपाणि प्रतिषिध्यन्ते।

उपाधिवश आत्मा की अनेकरूपता

आचार्य ने कहा 'अगर तू समझ रहा है कि तू ब्रह्म को अच्छी तरह जानता है तो निश्चित है कि तू ब्रह्म का थोड़ा ही रूप जान पाया है।'

प्रश्न होता है कि क्या ब्रह्म के बड़े और छोटे अनेक रूप हैं कि 'थोड़ा ही' आदि कहा गया?

उत्तर है — हाँ, नाम-रूपात्मक उपाधि से ब्रह्म के अनेक रूप हैं। बिना उपाधिपरामर्श के उसे ख़ुद अनेक रूपों वाला नहीं कहा जाता। शास्त्र ने उसके नाम-रूपों का इसी दृष्टि से निषेध किया है कि ख़ुद वह उनसे रहित है, भले ही उपाधिवश नाम-रूप वाला लगे। 'शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध से रहित जो नित्य अव्यय है उसके निश्चय से ही मोक्ष होता है' ऐसा कठोपनिषत् में कहकर जैसे शब्द, स्पर्श, रस, गंध का निषेध किया वैसे ही रूप का भी किया है।

श्रीमान् मधुसूदनाचार्य बताते हैं कि अज्ञातमात्र होने से परमात्मा में शास्त्रविषयता है एवं अज्ञात और मिथ्याज्ञात दोनों होने से उसमें विचार-विषयता है। जिज्ञास्यता का समर्थन करते हुए भाष्यकार ने भी वस्तुतः यही सूचित किया है। एकरूप वस्तु अज्ञातमात्र होकर जिज्ञास्य हो यह संगत नहीं क्योंकि जिज्ञासा को अपेक्षा है कि जिज्ञास्य की कुछ जानकारी हो। 'कुछ' ज्ञान होना और 'अन्य' ज्ञान चाहना तब उपपन्न हो जब उसके कम से कम दो रूप हों, एक जो पहले जानें जिससे जिज्ञासापूर्वक विचार में प्रवृत्त हों और दूसरा जो विचार के बाद समझ आये। वास्तव में यदि यों अनेक रूपों वाला हो तो वह अखण्ड ब्रह्म नहीं होगा अतः उसके अनेक रूप काल्पनिक ही संभव हैं। अध्यस्त औपाधिक रूपों से जिज्ञास्य, जिज्ञासु तथा जिज्ञासोपयोगार्थ उपास्य-उपासक, पूज्य-पूजक आदि वही परमात्मा है यह वेदसिद्धान्त है। जैसे सांसारिक ज्ञानों में हम ब्रह्म को ही 'थोड़ा सा' जानते हैं — क्योंकि घटाकाश, करकाकाश आदि व्यवहार थोड़े-थोड़े आकाशों का ही व्यवहार है — वैसे ही वाक्य से भी यदि अखण्ड अद्वितीय की जगह किसी तरह के भी खण्ड वाले को जानेंगे तो 'थोड़ा-सा' ही जानेंगे, क्योंकि यदि महाकाश को घड़े से बाहर सर्वत्र प्रसृत जान रहे हैं तो भी उसे थोड़ा बनाकर ही जान रहे हैं, ज्यादा न सही घड़े जितनी जगह उसकी घटा रहे हैं। अतः आचार्य ने कहा कि 'यदि विषयतया जान रहा है तो अल्प ही जान रहा है।'

भाष्य में 'नामरूपोपाधिकृतानि' से नाम-रूपकृत एवं उपाधिकृत ऐसा अर्थ है अतः नाम-रूप की कारणभूत अविद्योपाधि से होने वाला जीवेश्वरादि भेद भी गृहीत है। या नाम-रूप का कारण ही नाम-रूप से कह दिया गया है, सभी रूप आविद्यक होने से इस तरह सब का ग्रहण हो जाता है।

ब्रह्म के अनेक रूपों के अभ्युपगम में रूपशब्द लाल-चौकोर आदि प्रसिद्ध रूपों को ही नहीं कह रहा, उन समेत अन्य भी रूपों को कह रहा है यह अगली शंका से स्पष्ट होगा अतः काठक उदाहरण में शब्दादिनिषेध से रूपनिषेध को पृथक्कर भाष्यकारों ने यहाँ बताया। अन्यथा 'शब्देन सह' कहना ही पर्याप्त था। शब्द नाम-रूप-उभयपक्षपाती है यह वार्तिकादि के अनुसार वागर्थविचार में कह चुके हैं। अतः कठश्रुति में 'शब्द' से भी न केवल रूपात्मक का बल्कि नामात्मक शब्द का भी ग्रहण समझना चाहिये।

चैतन्यं तस्य 'रूपम्' इति शङ्का

ननु येनैव धर्मेण यद्रूप्यते तदेव तस्य स्वरूपम्, इति ब्रह्मणोऽपि येन विशेषेण निरूपणं, तदेव तस्य रूपं स्याद्। अत उच्यते—चैतन्यं पृथिव्यादीनामन्यतमस्य,सर्वेषां विपरिणतानां वा धर्मो न भवति। तथा श्रोत्रादीनाम्, अन्तःकरणस्य च धर्मो न भवति। इति ब्रह्मणो रूपमिति। ब्रह्म रूप्यते चैतन्येन। तथा चोक्तम्-'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ.३.९.२८), 'विज्ञानघन एव' (बृ.२.४.१२), 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' (तै.२.१), 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐ.५.३) इति च ब्रह्मणो रूपं निर्दिष्टं श्रुतिषु।

चैतन्य उसका रूप है — यह शंका

यह जो कहा कि ब्रह्म का स्वतः कोई रूप नहीं, इस पर आक्षेप उठाते हैं - शंका होती है: जिस भी धर्म से जिसका निरूपण किया जाता है वही धर्म उस निरूपणीय वस्तु का अपना 'रूप' कहा जाता है अतः ब्रह्म का भी जिस विशेषण से, धर्म से, निरूपण हो वही उसका रूप मानना चाहिये। आप पूछेंगे 'किस विशेषण से ब्रह्म का निरूपण होता है?' अतः हम कहते हैं: पृथ्वी आदि किसी एक भूत का धर्म चैतन्य नहीं है, और न ही जब ये मिलकर देह बन जाते हैं तब ही चैतन्य इनका धर्म (=विशेषण) होता है क्योंकि इनके गन्धादि धर्म जैसे इन्द्रियविषय हुए दीखते हैं, ज्ञात होते हैं, वैसे चैतन्य नहीं होता, जबकि इनका धर्म होता तो इन्ही के अन्य धर्मों की तरह वह भी बाहर अर्थात् विषयतया दीखना चाहिये था। इतना ही नहीं, जैसे रूप भूतधर्म है तो भूतप्रकाशक नहीं है, ऐसे ही चैतन्य भी यदि भूतधर्म होता तो भूतप्रकाशक न होता। चैतन्य विषय बनता है नहीं और भूतप्रकाश करता है अतः वह भूतधर्म नहीं है यह निश्चित हो जाता है। श्रोत्रादि इंद्रियाँ, अंतःकरण व प्राण भी देह की तरह ही भूतकार्य हैं अतः चैतन्य उनका भी धर्म हो यह संभव नहीं। अतः इनसे भिन्न जो ब्रह्म है उसी का धर्म यह चैतन्य हो सकता है जो स्वतंत्र है अर्थात् अन्य किसी धर्मी से बँधा नहीं है। तर्क की सामान्य रीति है कि धर्मिसमूह के अवयवों की परीक्षाकर जो धर्म अन्य अवयवों में नहीं है यह निश्चित हो जाये उसे बचे हुए अवयव में मान लिया जाये जब तक यह प्रमाणित न हो कि वह उसमें भी नहीं है। इसे परिशेषन्याय या 'बचे हुए का न्याय' कहते हैं। इससे सिर्फ यौक्तिक संभावना होती है, यह बात अलग है।

केवल इतना ही नहीं कि धर्मों में चैतन्य और धर्मियों में ब्रह्म बचे रह गये तो हम तर्क से इन्हे जोड़ रहे हों, श्रुतियाँ भी चैतन्य को ब्रह्म का 'रूप' मानती हैं यह शंकावादी कहता है - चैतन्य से ब्रह्म का निरूपण किया जाता है, उसके सहारे ब्रह्म समझाया जाता है। स्पष्ट कथन हैं 'ब्रह्म विज्ञान (=चैतन्य) और आनन्द है', 'वह मानो मूर्तिमान् विज्ञान ही है', 'ब्रह्म सत्य, ज्ञान, अनन्त है', 'प्रज्ञान (=चैतन्य) ब्रह्म है'। इस तरह श्रुतियों में भी चैतन्य ब्रह्म का 'रूप' (निरूपक, असाधारण धर्म) कहा गया है। तब कैसे कहा कि स्वतः उसका कोई रूप नहीं?

चैतन्यस्यापि 'रूपत्वम्' औपाधिकम्

सत्यमेवम्, तथापि तद् अन्तःकरणदेहेन्द्रियोपाधिद्वारेणैव विज्ञानादिशब्दैर्निर्दिश्यते, तदनुकारित्वाद् देहादिवृद्धिसङ्कोचच्छेदादिषु नाशेषु च; न स्वतः। स्वतस्तु 'अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्' इति स्थितं भविष्यति। यदस्य 'ब्रह्मणो रूपम्' इति पूर्वेण सम्बन्धः।

समाधान—चैतन्य की रूपता औपाधिक ही है

पूर्वपक्षी ने चैतन्य को धर्म और ब्रह्म को धर्मी मानकर पारिशेष्यन्याय का प्रयोग किया था किन्तु उन्हे धर्म या धर्मी मानने में कोई प्रमाण दिया नहीं। अत एव उसका तर्क सदोष रह गया। ब्रह्म का अनौपाधिक स्वरूप ब्रह्म है यह तो श्रुतियाँ तात्पर्यवृत्ति से बता ही रही हैं, इसे सिद्धान्ती क्यों मना करेगा! वह स्वयं स्वप्रकाश आत्मा स्वीकारता है। सिद्धान्ती धर्मात्मक 'रूप' का निषेध कर रहा है और श्रुतियों से धर्मात्मक चैतन्य ब्रह्म में सिद्ध नहीं होता। चैतन्य, ज्ञान आदि शब्दों का अर्थ जो हमें समझ आता है वह मन:संवलित ही है और उस अर्थ में ज्ञान ब्रह्म का स्वरूप नहीं किन्तु 'रूप' बन जाता है क्योंकि उसके (=मन:संवलित ज्ञान के) सहारे स्वरूपज्ञान महसूस किया जा सकता है जैसा 'श्रोत्र का श्रोत्र' आदि कहकर सूचित किया था। लेकिन वह ब्रह्म का 'रूप' तभी बनता है जब उपाधि का, मन का, परामर्श रहे अर्थात् पहला श्रोत्र रहते ही उसे श्रोत्र का श्रोत्र कहना-समझना संभव होता है। आनन्द आदि आत्मा के धर्मरूप से अवभासित होते हैं। इन्हे 'वस्तुधर्म' भी कहा गया है और इसी आधार पर 'आनन्दादय: प्रधानस्य' (३.३.११) न्याय स्थापित है। स्वयं भाष्यकार वहाँ इन्हे 'ब्रह्मणो धर्मा:' कहते हैं। किन्तु उपास्यधर्मों से इनमें वे वैशिष्ट्य बताते हैं 'इतरे त्वानन्दादयो धर्मा ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनायैवोच्यमाना:' (३.३.१३)। अर्थात् इनकी धर्मता यही है कि ये स्वरूपप्रतिपादनप्रयोजनक हैं। यह कार्य भी विज्ञानादि पद वाक्यभाव को प्राप्त करने पर ही करते हैं यह अमलानन्द जी ने वहीं बहुत स्पष्ट किया है। इसीलिये पद्मपादाचार्य ने आनन्दादि को ब्रह्म से अपृथक् होते हुए भी पृथक् की तरह प्रतीत होने वाला माना है। प्रकृत में 'रूप' प्राय: लक्षण के अर्थ में आया है। मधुसूदन स्वामी सारसंग्रह में स्पष्ट कर गये हैं कि लक्षण धर्म ही हो ऐसा प्रतिबंध संभव नहीं अन्यथा अन्त्य विशेष का लक्षण ही नहीं होगा। जिस जानकारी से वस्तु की सही पहचान हो सके उस जानकारी का विषय ही लक्षण (यहाँ 'रूप') कहा जाता है। अत एव औपाधिकत्व रूपत्व का विघातक नहीं हो पाता। औपाधिक हो या निरुपाधि, यदि उसकी जानकारी से आत्मा की सही पहचान होती है तो वह आत्मा का 'रूप' है। शास्त्र बारम्बार आत्मा को रूपरहित बताता है फिर भी 'रूप' का प्रयोग करता है तो स्पष्ट हो जाता है कि उसका यही तात्पर्य है कि स्वत: नहीं औपाधिक रूप है। जैसे कोई प्रकाश्य न हो तो प्रकाश विद्यमान होने पर भी दीखता नहीं, बल्कि वहाँ अँधेरा दीखता है, लेकिन इतने से प्रकाश्य को प्रकाश का रूप नहीं कह सकते, इसी तरह चाहे 'श्रोत्रस्य' के सहारे ही 'श्रोत्रम्' समझ आये किन्तु 'श्रोत्रस्य' को 'श्रोत्रम्' का रूप नहीं मान सकते। दृष्टिविषय न होने पर भी वहाँ प्रकाश का अस्तित्व नकारा नहीं जा सकता ऐसे ही स्वरूपज्ञान अप्रमेय होने पर भी नकारा नहीं जा सकता। दृष्टांत में जैसे प्रकाश भरपूर रहते भी अँधेरा दीखता है ऐसे दार्ष्टान्त में अज्ञान दीख रहा है यह स्पष्ट ही है। ब्रह्मज्ञान के अनन्तर उपाधिमात्र न रहने पर भी अज्ञान दीखेगा? - इस प्रश्न का भाष्यकारों ने सीधा उत्तर दिया है : अभी भी अज्ञान किसे दीख रहा है? जब तक 'देखने वाला' है तब तक तो अज्ञान दीखेगा ही। तत्त्वज्ञान उस 'देखने वाले' को भी तो समाप्त कर देगा। जब देखने वाला नहीं तो अज्ञान दीखेगा किसे? चाहे भामती की दृष्टि से जीव को अज्ञानी मानें और चाहे आचार्यों की दृष्टि से जीवत्व से अवच्छिन्न में आवरण मानें, तात्पर्यत: कोई फ़र्क नहीं पड़ता, कम-से-कम भाष्य का अर्थ उभयथा सही समझ आ सकता है। 'स्वापरोक्षव्यवहृतियोग्य' स्वप्रकाश होता है पर यहाँ व्यवहृति कर्तृकर्मादिभेदघटित नहीं है। जैसे प्रकाश को तो अँधेरा नहीं दीखता ऐसे निरविद्य को अज्ञान; प्रकाश जड होने से नहीं देख पाता यह बात अलग है। उदाहरण में कुछ अन्तर तो होना ही पड़ेगा, सर्वांश में दृष्ट-दार्ष्टान्ततुल्यता नहीं होती। सर्वज्ञमुनि ने विस्तार से समझाया है कि ज्ञानादि पदों का अर्थ कैसे समझा जाता है और कैसे वह स्वरूपज्ञान के अवबोध का उपाय बनता है।

इस अभिप्राय से उक्त शंका का समाधान करते हैं - **यह ठीक है कि चैतन्य के सहारे ब्रह्म समझा जाता है फिर भी इतना निश्चित है कि विज्ञान आदि शब्दों से उसका निर्देश (=निरूपण) अन्त:करण देह-इन्द्रिय-उपाधियों द्वारा ही होता है।** इस उपनिषत् के प्रारंभ में ही ब्रह्म के निरूपण की यही प्रक्रिया अपनायी गयी है : श्रोत्रादि के भान से समझना है कि उनके भान का जो निमित्त है वह ब्रह्म है। अत: विज्ञान से ब्रह्म निरूपित अवश्य होता है किन्तु इस

निरूपण में उपाधिरूप विज्ञान का सहारा होता ही है। ऐतरेय के समाप्तिप्रसंग में यह बात बहुत स्पष्ट है। कौषीतकि में इन्द्र का उपदेश भी यह तथ्य व्यक्त करता है। वस्तुत: वेदांत में नाम-रूपमात्र परमात्मोपाधि है और सच्चिदानन्द का उपस्थापक है अत: किसी भी दृश्य से प्रकट किये सत्त्वादि के सहारे सदादि निरूपित हो जाता है। अत एव 'यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः' संभव है। यह सूचित करने के लिये भाष्य में देहेन्द्रिय के बाद उपाधि-शब्द है। विज्ञान का प्रसंग होने से और उसमें मन प्रधान होने से प्राण का उल्लेख नहीं किया किन्तु उसे भी यहाँ समझ लेना चाहिये।

प्रश्न होगा कि उपहित से जिसका सम्बंध हो वही उपाधि होती है और चैतन्यरूप आत्मा को आप असंग कहते हैं; तब देहादि आत्मा की उपाधि कैसे? उत्तर देते हैं - **देहादि के बढ़ने, घटने, कटने, नष्ट होने आदि पर आत्मा क्योंकि उनकी मानो नकल करता हो इसलिये उन देहादि उपाधियों द्वारा उसका निर्देश हो जाता है। ख़ुद जो उसका चित्स्वरूप है वह उसके निरूपण के लिये सहारा बनता हो ऐसा नहीं।** जल के हिलने आदि से सूर्य हिलता आदि लगता है, यही सूर्य का जल की नकल करना है। क्योंकि जल के धर्मों का सूर्य पर मिथ्या आरोप होता है इसीलिये जल को सूर्य की उपाधि कहते हैं, न कि किसी संयोगादि सम्बन्ध से। टीकाकार ने सीधा लक्षण कर दिया 'मिथ्यातद्धर्मभागित्वात्सवितुर्जलमुपाधिः'; एक के धर्मों का दूसरे पर आरोप—अध्यास—हुआ, जिस पर आरोप हुआ वह उपहित और जिसके धर्मों का आरोप हुआ वह उपाधि। जल उपाधि है, सविता उपहित है। प्रतिबिम्ब-आभास-अवच्छेद आदि सभी प्रक्रियाओं के लिये यह प्रतिपादन उपयोगी है। अन्योन्याध्यास तो स्मर्तव्य ही है क्योंकि सूर्य के चाकचिक्यादि का भी जल में अध्यास होता ही है। यदि यहाँ सूर्यप्रभादि से जलसम्बन्धादि प्रतीत हो तो यह दृष्टांत समझ सकते हैं : सामने चित्र यज्ञदत्त का है, हम समझ रहे हैं कि वह देवदत्त का है। ऐसे में उस चित्र के विकारादि से हम देवदत्त को विकारादि वाला समझते हैं। यहाँ चित्र उपाधि बन गया और देवदत्त उपहित। अभिप्राय वही है। इसी तरह अनादि अनवबोध से देहादि धर्म हम अपने पर मिथ्या आरोपित किये हुए हैं अत: शरीर लम्बा होने से समझते हैं 'मैं लम्बा हो गया', मन में बहुतेरे संस्कार स्फुट होने से समझते हैं 'मैं पण्डित हो गया', आँख के व्यापार करने पर हमें निश्चय है 'मैं देख रहा हूँ' इत्यादि। यही आत्मा का देहादि की नकल करना है। देहादिधर्म क्योंकि आत्मा पर आरोपित हो जाते हैं इसलिये उन्हे उपाधि कहना संगत है। उपहित होने के लिये आत्मा को संयोगादि वाला नहीं होना पड़ता। अनुकारित्व (=नकल) भी आरोपित होने से आत्मा असंग ही है। इस विषय पर ख़ुलासा देखना हो तो परमपूज्य आचार्यों के पट्टशिष्य श्रीपद्मपादमुनिवर की अहङ्कारटीका का अनुसन्धान करना चाहिये। राहु सूर्य या चन्द्र पर आरूढ हुआ ही दिखाया जा सकता है। उन पर आरूढ हुए उसे देख कर उसके बारे में हुआ ज्ञान उसके अनारूढ स्वरूप को भी अज्ञात नहीं रहने देता। इसी तरह आत्मा दिखाया तो उपाधि पर आरूढ ही जा सकता है पर फिर उसकी वास्तविकता भी अज्ञात नहीं रह पाती। अथवा कोई संख्या देखना चाहे तो संख्येय ही दिखाया जा सकता है पर उससे संख्या भी समझ आ जाती है, ऐसे समझ सकते हैं। या हमें अपने शरीर, इंद्रिय, मन आदि से प्रेम है इसी से तो पता चलता है कि हमें अपने से प्रेम है; निरुपाधि आत्मा की प्रियता उपलब्ध तो उपाधियों में प्रेम के रूप से ही होगी पर उससे समझ आ जाता है कि वास्तव में मैं ही प्रियतम हूँ।

जब आत्मा ख़ुद विज्ञानरूप है तो उस स्वरूपविज्ञान से उसका निरूपण न कर औपाधिक विज्ञान से निरूपण क्यों करना? चीनी का मिठास लड्डू के मिठास से निरूपित किया जाये यह कैसी बुद्धिमानी है! इस का समाधान करते हैं - **वह स्वरूप तो जानकारों के लिये न जाना ही रह जाता है, जो जानकार नहीं बनते उन्हें उसके बारे में कोई ग़लत फ़हमी या ग़ैर-जानकारी नहीं रह जाती। यह बात तीसरे मंत्र द्वारा उपनिषत् समझायेगी।** अभिप्राय यह है : ठीक है कि आत्मा विज्ञानरूप है लेकिन वह रूप अविषय है और निरूपण के लिये 'रूप' को विषय बनना पड़ता है। रूप को जानकर रूपी की पहचान होगी, अत: रूप को जानकारी का विषय होना आवश्यक हो जाता है। इसीलिये स्वत: जो विज्ञान है वह रूप नहीं बन पाता जब तक वह उपाधिसम्बद्ध न हो। वृत्तिमात्र तो आत्मलक्षक नहीं, सप्रतिबिम्ब वृत्ति लक्षक है, अर्थात् जो विज्ञान 'रूप' बन रहा है वह इस दृष्टि से तो आत्मा का स्वरूपविज्ञान ही है कि वह विज्ञान है,

क्योंकि विज्ञान एक है, किंतु वह विज्ञानमात्र नहीं है, उपाधिपरामर्श वाला विज्ञान है। जैसे आँख सबको देखती है पर ख़ुद को देखने के लिये बिना दर्पण के सक्षम नहीं, वैसे समझना चाहिये। चीनी आदि तो सभी विषयकोटि के हैं अतः प्रकृत में योग्य दृष्टान्त नहीं है। स्वरूपविज्ञान की यह अविषयता ही उदाहृत श्रुति से भाष्यकार ने व्यक्त की है।

यदि शंका हो कि ब्रह्म का जो स्वतः, निरुपाधिक, चैतन्य है उससे ब्रह्म निरूपित नहीं होता तो ब्रह्मानुभव कैसा होता है? तो इसका समाधान है : किसी विषय से (अहंकार से लेकर घटपर्यन्त किसी भी दृश्य से) असम्बद्ध रहते हुए, विषयरूप से न भासते हुए जो विज्ञान का प्रकाशमान होना है वही ब्रह्मानुभव है।

मन्त्र में पहली बार आये 'यद् अस्य' पदों का अन्वय बता देते हैं – 'यत्' का 'रूपम्' से और 'अस्य' का 'ब्रह्मणः' से सम्बन्ध है।

औपाधिकस्याल्पत्वम्

न केवलमध्यात्मोपाधिपरिच्छिन्नस्यास्य ब्रह्मणो रूपं त्वम् अल्पं वेत्थ, यद् अपि अधिदैवतोपाधिपरिच्छिन्नस्यास्य ब्रह्मणो रूपं देवेषु वेत्थ त्वं, तदपि नूनं दहरमेव वेत्थेति मन्येऽहम्।

औपाधिक अल्प होता है

आचार्य कहते हैं: मैंने 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' आदि से समझाया तो तुझे यह भ्रम संभव है कि शरीरादि उपाधियों से परिच्छिन्न जो वही ब्रह्म है। ऐसे ही जब मैंने कहा कि 'यदि ऐसा समझा है तो अल्प को समझा है', तब तुझे यह भ्रम हो सकता है कि देवताओं की शरीरादि उपाधियों से परिच्छिन्न जो है वही ब्रह्म है। किन्तु जैसे अपनी उपाधियों में सीमित को समझना ब्रह्म को थोड़ा ही समझना है इसी तरह देवताओं की उपाधियों में सीमित को समझना भी उसके परिच्छिन्न रूप को ही समझना है। दोनों ग़लतियों से बचना चाहिये ऐसा मैं मानता हूँ।

यहाँ भाष्यकार ने महावाक्य का प्रयोजन व्यक्त किया है। जीव के ज्ञान से मोक्ष होता है यह सांख्यादिवादी मानते हैं। ईश्वरदर्शन मोक्ष देता है यह आगमानुयायी कह सकते हैं। उपनिषदें तो बताती हैं कि जीव-ईश्वर के अभेद का ज्ञान मोक्ष देता है। अत एव उपदेश अनिवार्य है। 'मैं' का चिन्तन, विवेकादि करना हो सकता है साक्षित्वोपेत प्रत्यक् में निष्ठा दे सके, ईश्वर भी भक्ति आदि से प्रसन्न हुआ सम्मुख दर्शन दे सकता है, दोनों ही अपने में अतिमहत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं और इनका फल भी असीम है, किन्तु कैवल्य के लिये ये दोनों पर्याप्त नहीं, वह तो अखण्ड के साक्षात्कार से ही संभव है। अतएव औपनिषद मार्ग युक्तिमात्र पर नहीं टिकता, शास्त्र पर अवलम्बित है। यदि युक्ति ही मानकर स्थापित सिद्धान्त 'दर्शन' हैं तो वेदान्त दर्शन नहीं है। शास्त्रार्थ को युक्तिसमर्थित करना – इतना ही हमारा युक्तिवाद है। यौक्तिक अध्यात्मोपाधिपरिच्छिन्न को अन्तिम तत्त्व मान बैठते हैं। इसमें वस्तुतः अहङ्कार का प्राधान्य रह ही जाता है क्योंकि अध्यात्म से वे उन्ही उपाधियों को पकड़ते हैं जिनमें उन्हें तादात्म्य रहा है। दार्शनिक दृष्टि से वे भले ही अपने को देहातीत कहें लेकिन 'बाहर-भीतर', 'विषय-आश्रय' का विभाजन वे अहंकारास्पद को लेकर ही तो करते हैं। अतएव वे नानाजीववादी रह जाते हैं। इसीलिये उनका व्यवहारदर्शन भी – यदि वे शास्त्र को छोड़कर चलने वाले हैं तो – न यौक्तिक बन पाता है, न व्यावहारिक। अध्यात्मपरिच्छेदवादियों की कई बार तो प्रतिकर्मव्यवस्था भी असंगत ही बनती है। सांख्यों ने तो कई अंशों में स्मृत्यादि का अनुसरण कर कुछ व्यावहारिकता का परिचय दिया है किन्तु आधुनिक कुछ दार्शनिक प्रपंच मानते भी हैं, उसे नित्य अज्ञेय भी मानते हैं, और फिर अपना मत यौक्तिक कहते हैं जो हास्यास्पद है। इसी तरह तन्त्रागमानुसर्ता जब अधिदैवोपाधिपरिच्छिन्न को परतत्त्व मानते हैं तब क्योंकि स्व की परमता (=आत्यन्तिकता, वास्तविकता) नकारना संभव और इष्ट नहीं होता इसलिये द्वैत में ही अटकते हैं। द्वैत रहते भय हटना नहीं यह श्रौत नियम है। ईश्वर स्व से अन्य हो तो परप्रेमास्पद भी नहीं हो सकता अतः उनका मोक्षोपाय-भक्ति-भी संभव नहीं रह जाता। श्रुति तो स्पष्ट कहती है कि

आत्मा को ही प्रिय समझना है 'आत्मानमेव प्रियमुपासीत' (बृ.१.४.८), अन्य को प्रिय समझने पर वह अवश्य रुलायेगा! कुछ विचारशील जब अवैदिक आगमों का वेद से तालमेल बैठाने की कोशिश करते हैं तब 'भेदाभेद' नामक विचित्र मत का प्रणयन होता है और कितना तथा कैसा भेद एवं अभेद माना जाये इसे लेकर इस मत के नाना संस्करण प्रकाशित होते रहते हैं। अधिदैवोपाधिपरिच्छेद के सत्यत्व को स्वीकारने से इन संस्करणों में विभिन्न देवताओं के प्राधान्य के कारण ही काफ़ी विवाद हो जाता है चाहे दार्शनिक रूपरेखा लगभग एक-सी हो। अध्यात्मोपाधिपरिच्छेदसत्यत्ववादी कम-से-कम इस झगड़े से तो बचे रहते हैं क्योंकि पुरुषबहुत्व स्वीकार लेते हैं। किन्तु अधिदैवोपाधिपरिच्छेदसत्यत्ववादी ईश्वरबहुत्व स्वीकारते नहीं अतः उनके सामने यह समस्या बनी रहती है। 'देवेषु' का बहुवचन यह अभिप्राय व्यक्त करता है।

केनोपनिषत् इसीलिये सुस्पष्ट शब्दों में कह रही है कि जेल चाहे जितनी श्रेष्ठ हो, सुविधायुक्त हो, है जेल ही! क्या सोने का बना हो तो पिंजड़ा नहीं होता? उपाधि चाहे अध्यात्म हो चाहे अधिदैव, है उपाधि ही और इसीलिये उसके कारण कोई न कोई मिथ्या धर्म उपहित में भासेगा। मिथ्या धर्म वाले को (उस धर्म समेत) सत्य समझना सही जानकारी है नहीं अतः सोपाधि-परत्ववादी के लिये अभी आत्मा विचारणीय ही है। मीमांसाशब्द के प्रयोग से ध्वनित किया कि शास्त्र के सहारे से ही अद्वैतावगम संभव है, युक्ति के बल पर नहीं। वस्तुतः इसीलिये प्रायः वेदान्त के लिये 'शारीरकमीमांसा' या 'उत्तरमीमांसा' शब्द का प्रयोग होता है, दर्शन-शब्द का प्रयोग कम ही होता है। विशेषतः आधुनिक युग में 'दर्शन' से ग्रन्थ-अनाधारित विचार-प्रक्रियायें समझी जाती हैं अतः 'मीमांसा' कह देने से यह विशेषता व्यक्त हो जाती है। हमारे गुरुचरण तो प्रायः इस अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिये कह देते हैं 'वेदान्त दर्शन (philosophy) नहीं बल्कि एक धर्म है।' उसमें वेदान्तका साधनपक्ष और स्फुट हो जाता है। फिर भी अदृष्टोपायमात्र में 'धर्म' प्रसिद्धतर होने से और वेदान्त में प्रमुख साधन विचार ही होने से मीमांसा-शब्द भी पर्याप्त प्रतीत होता है।

इस प्रकार 'देवेषु' शब्दसे अधिदैवोपाधिपरिच्छिन्नरूप समझ कर अर्थ किया।

'देवेषु' इत्यस्य निर्धारणमर्थो वा

देवेषु *अपि 'सुवेदाहम्' इति मन्यते यः, सोऽपि अस्य ब्रह्मणो रूपं दहरमेव वेत्ति नूनम्। कस्मात्? अविषयत्वात् कस्यचिद् ब्रह्मणः।*

'देवेषु' का वैकल्पिक अभिप्राय

'देवेषु' का सीधा अर्थ होता है 'देवों में'। यह भी अर्थ प्रकृत में संगत है यह बताते हैं - **देवताओं में भी जो समझता है 'मैं ब्रह्म को अच्छी तरह जानता हूँ' वह भी ब्रह्म को थोड़ा ही जानता है क्योंकि ब्रह्म तो सभी के लिये अविषय है।** अर्थात् मनुष्यादि उसे विषयतया न जानें पर देवतादि वैसा जान सकें यह संभव नहीं। यदि परिच्छिन्न में ब्रह्मदृष्टि है तो वह मनुष्यादि को हो या देवादिक को, ब्रह्मप्रमा नहीं। उसका स्वरूप तो जैसा टीका में कहा था 'अविषयतयैव विषयानुपरक्तचित्स्फुरणं ब्रह्मानुभवः' वही है। बृहदारण्यक में इसीलिये कहा कि जिसने भी जाना आत्मा को ऐसा ही जाना (द्रष्टव्य बृ.१.४.१०)।

वस्तुतः भाष्यकार अधिदैवोपाधि से परिच्छिन्न को परमात्मा मानने वालों के सामने एक समस्या रख रहे हैं : ईश्वर क्या स्वयं को जीवों से भिन्न जानता है? यदि हाँ तब तो ख़ुद को परिच्छिन्न जानेगा और उसका ज्ञान प्रमा ही होने से वह सचमुच परिच्छिन्न होकर 'यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्' (ब्र.सू.२.३.७) न्याय से परम नहीं रह पायेगा। द्वितीय से भय होता है इस श्रुति से उसे जीवों से भय भी होगा। किंच जीव ईश्वरज्ञान का विषय होकर अप्रकाश होना पड़ेगा अतः जड होगा। इतना ही नहीं ईश्वर की तरह उसकी अधिदैवोपाधि को भी नित्य मानना पड़ेगा जिससे वह सर्वकर्त्ता नहीं रहेगा। उपाधित्वसाम्य से अस्मदादि-उपाधियों के दोषों की तरह वह भी काम-क्रोधादि वाला होगा। उपाधि में वैशिष्ट्य मान लें

तो भी वह उपाधि हमारा दृश्य है या नहीं? न हो तो अप्रामाणिक होगी। यदि हमारा दृश्य है तो भौतिकादि होगी क्योंकि हम भौतिकादि को ही विषय कर पाते हैं। अभौतिक को विषय मान भी लें तो वह जड ही होगी (तभी विषय होगी) और उससे वास्तव में परिच्छिन्न होगा तो जैसे हम शरीर-परिच्छेद से छूटना चाहते हैं ऐसे ही वह भी मुमुक्षु होगा। और अगर कहें कि ईश्वर तो स्वयं को जीवों से भिन्न नहीं जानता, तब या वह भ्रान्त है और या अभेद ही वास्तविक है। भेद-अभेद दोनों सच्चे होना असंभव है। अतः सोपाधिपरत्वमत असंगत है।

उभयथापि रूपमल्पम्

***अथवा, अल्पमेवास्याऽऽध्यात्मिकं मनुष्येषु* देवेषु *चाऽधिदैविकमस्य ब्रह्मणो यद्रूपं तदिति सम्बन्धः।* यदध्यात्मं यदधिदैवं तदपि च देवेषु उपाधिपरिच्छिन्नत्वाद् दहरत्वान्न निवर्तते।**

दोनों ही अर्थों में 'विषय' तो अल्प ही है

या आध्यात्मिक और आधिदैविक उपाधियों से परिच्छिन्न जो ब्रह्म का रूप है वह अल्प ही है यह वाक्य की (पूर्वोक्त) योजना स्पष्ट ही है। अर्थात् जो अध्यात्म रूप है वह और जो देवताओं में अधिदैव रूप है, दोनों ही उपाधि से सीमित होने से अल्पता से नहीं बच पाते।

पहले कहा था 'दहरमेव वेत्थ' और यहाँ उस रूप की ही दहरता (अल्पता) बतायी इसलिये 'अथवा' यह विकल्पवाचक संगत है। अर्थात् शिष्य को शंका हो सकती है कि गुरु का मतलब होगा 'अपने में और देवताओं में जो तूने रूप समझा है वह कम समझ है', अतः और कोशिश कर इन परिच्छिन्न रूपों की ही अधिक जानकारी पानी चाहिये। 'दहरम्' से भी लगेगा कि उनके बारे में और भी कुछ जाना जा सकता है। इस प्रकार परिच्छिन्नविषयक मीमांसा में प्रवृत्त न हो जाये इसलिये भाष्यकार इस योजना से बता रहे हैं कि जिस रूप को समझा है वही परिच्छिन्न है। 'परिच्छिन्न के बारे में तेरा ज्ञान ग़लत या कम हो ऐसा नहीं कह रहा बल्कि तेरे ज्ञान का विषय ही दहर है जो ब्रह्म है नहीं। पलाशपुष्प को अंगारा समझने जैसी स्थिति है' यह आचार्य का अभिप्राय है। अतः अब पदार्थों को लांघकर वाक्यार्थनिश्चय के लिये मीमांसा करने को कहा जा रहा है।

निरुपाधि न सुवेद्यम्

यत्तु विध्वस्तसर्वोपाधिविशेषं शान्तमनन्तमेकमद्वैतं भूमाख्यं नित्यं ब्रह्म, न तत् सुवेद्यमित्यभिप्रायः।

यत एवम् अथ नु तस्माद् मन्येऽद्यापि मीमांस्यं विचार्यमेव ते तव ब्रह्म।

निरुपाधिक ब्रह्म विषयों की तरह 'अच्छी तरह' नहीं जाना जाता

दहर की अपेक्षा विलक्षण जो ब्रह्म—अपरिच्छिन्न—है उसमें किसी उपाधिरूप या उपाधिकृत विशेष का सम्पर्क नहीं है। न स्वभाव से और न किसी हेतु से उसमें किसी तरह का उतार-चढ़ाव आता है, वह प्रशान्त है। वह अनन्त, एक, अद्वैत, भूमा कहाने वाला नित्य है। विषय जैसे 'अच्छी तरह' जाने जा सकते हैं वैसे वह नहीं जाना जा सकता। अनन्त से स्वगत परिच्छिन्नता का तथा एक, अद्वैत और नित्य से क्रमशः देशकृत, वस्तुकृत और कालकृत परिच्छिन्नताओं का निषेध किया है। भूमा से उसकी श्रुतिप्रसिद्ध सुखरूपता कही है। 'अनन्त' से यह भी बताया कि ज्ञान भी उसे घेर नहीं सकता अर्थात् वह ज्ञान का अविषय ही है। 'एक' से स्मरण दिलाया कि कोई दूसरा है भी नहीं जो उसे जाने। पहले (१.३) भी भाष्य में कहा था 'यो हि ज्ञाता स एव सः, सर्वात्मकत्वात्'। 'एक' की व्याख्या 'अद्वैत' है। 'एक' से एकत्व संख्या उपस्थित होती है अतः 'अद्वैत' से कहा कि द्वैतरहित होना ही उसकी एकता है। नाम-रूप ही द्वैत है, इससे अपरामृष्ट सच्चिदानन्द को ही वेदान्तों में अद्वैत कहते हैं। या विदित-अविदित द्वैत है, उससे अन्य होने से यह अद्वैत

है। अनन्त, अद्वैत आदि नञ्घटित प्रयोगों से कहीं उसे अभाव ही न मान लिया जाये इसलिये कहा कि उसे ही शास्त्र 'बहुतायत' कहता है। 'वह भूमा है' ऐसा नहीं लिखकर 'वह भूमा कहा जाता है' यह लिखा क्योंकि भाष्यकार शास्त्रीयता बताते हुए अवाच्यता बताना चाहते हैं। यद्यपि 'त्यब्नेर्ध्रुव इति वक्तव्यम्' इस कात्यायन वचन से ध्रुव अर्थ की विवक्षा से 'नि' के आगे 'त्यप्' प्रत्यय लगकर 'नित्य' शब्द बनता है तथापि 'जो निश्चित ही है' यह अवयवार्थ भी समुपयुक्त है। 'नित्य' से बता दिया कि विषयतया 'अच्छी तरह' जाना न जाने पर भी वह ऐसा है कि उसके बारे में संदेह संभव नहीं।

'विध्वस्तसर्वोपाधिविशेषम्' में विवक्षित अत्यन्ताभाव ही है पर विध्वस्त-शब्द से बताया कि यहाँ वर्णन बाध की दृष्टि से कर रहे हैं। इसीलिये अत्यन्ताभावप्रतियोगिभूत भी दृश्य का उच्छेद दृष्टतर्करहस्य ब्रह्मनिष्ठों द्वारा समर्थित है।

'क्योंकि निरुपाधि परमात्मा सुवेद्य नहीं है इसलिये मेरे विचार से तुझे अभी ब्रह्ममीमांसा करनी चाहिये' यह आचार्य की आज्ञा है।

मीमांस्यतायां हेतुः

अथ नु *इति हेतुर्मीमांसायाः। यस्माद् दहरमेव सुविदितं ब्रह्मणो रूपम्, 'अन्यदेव तद्विदिताद्' (१.३) इत्युक्तत्वात्, 'सुवेद' इति च मन्यसे, अतः अल्पमेव वेत्थ त्वं ब्रह्मणो रूपं यस्माद्,* अथ नु *तस्माद्* मीमांस्यमेव *अद्यापि* ते *तव। ब्रह्म विचार्यमेव यावद् विदिताऽविदितप्रतिषेधागमार्थानुभव इत्यर्थः।*

'क्योंकि' का तात्पर्य

'अथ नु' से श्रुति ने ही सूचित किया है कि मीमांसा कर्तव्य है इसमें कुछ कारण है। ब्रह्म का जो सुविदित (विषयवत् 'अच्छी तरह' जाना गया) रूप है वह उसका अल्प या औपाधिक रूप ही होता है, इसीलिये तो उसे विदित से अन्य कहा था; और शिष्य मान रहा है कि वह ब्रह्म को 'अच्छी तरह' जान रहा है, इसलिये निश्चित है कि उसे अभी ब्रह्म का अल्प रूप ही समझ आया है। यही कारण है कि उसे ब्रह्ममीमांसा अभी भी करते रहना चाहिये।

कृपा से प्रेरित होकर भगवान् शङ्कर स्पष्ट बताते हैं कि मीमांसा, और तदुपलक्षित समग्र साधनों का अभ्यास, कब तक अनवरत करते रहना चाहिये – **विदित-अविदित का निषेध करने वाले वेदवाक्य के (१.३) अर्थ का अनुभव जब तक न हो जाये तब तक ब्रह्मविचार करते ही रहना चाहिये — यह श्रुति का अभिप्राय है।** संन्यास त्वम्पदार्थविवेकप्रयोजनक कहा गया है किंतु उतना मात्र पर्याप्त नहीं ज्ञान की परानिष्ठा तक सभी साधनों का यथायोग्य आवर्तन कर्तव्य है। संन्यासयोग्यतालाभ से जैसे विविदिषावाक्योक्त कारकसाधन छूट जाते हैं ऐसे 'पश्येत्' (बृ.४.४.२३) के साथ कहे अन्तरंग व्यंजक साधन ज्ञाननिष्ठा से ही छूटते हैं। भूमिजयन्याय से पूर्व-अपरित्याग सहित श्रवणादि में आदरातिशय तो अभीष्ट ही है। यहाँ विवरणादि का वार्तिक से कुछ अन्तर मानकर अपनी मनःस्थिति के निर्धारणपूर्वक यह विकल्प चुनने योग्य भले ही हो कि समाधिसमकक्ष निदिध्यासन का अनुष्ठान करें या श्रवण-मनन के अभ्यास का। वासिष्ठ के अनुसार अधिकारिभेद से व्यवस्था है। विद्यारण्यश्रीचरण और उनके गुरु स्वामी श्री शङ्करानन्द जी की दृष्टि में भी कुछ वैशिष्ट्य है : गुरुजी का बहुत स्पष्ट बार-बार उपदेश है कि श्रवण-मनन मोक्षोपयोगी ज्ञान के लिये पर्याप्त नहीं, निदिध्यासन (समाधिसमता वाला) अनिवार्य है जबकि शिष्य की स्थापना है कि जीवन्मुक्ति के – अर्थात् भूमिकारूढता के – विलक्षण आनन्द के लिये ही उसे अनिवार्य कह सकते हैं, मोक्षोपयोगी ज्ञान के लिये वह अनिवार्य नहीं, चाहे किसी साधक को अवश्य अपेक्षित रहे। भाष्यकार तो 'अर्थानुभवः' कहकर साफ़ कर रहे हैं कि ब्रह्मविद्या का अवसान अनुभव में है, इसका फल दृष्ट होना है, अतः 'कब तक?' यह प्रश्न विशेष विचार के योग्य नहीं क्योंकि 'जब तक फल न मिले तब तक' यह स्पष्ट उत्तर है। अत एव साधनविशेष पर भी आग्रह रखना व्यर्थ है; जो ज्ञाननिष्ठा की साधना के योग्य बन चुका है वह ख़ुद

ही इसका निर्णय कर सकता है। शंकरानंदजी आदि तो सर्वविध अधिकारियों के मार्गदर्शक हैं अतः निदिध्यासु साधक के लिये उनके वे उपदेश कारगर हो जायेंगे तथा विद्यारण्य जी का कथन श्रोता-मन्ता साधक को विषय कर लेगा। प्रकृत भाष्य में अनुभव से अवगति विवक्षित है जिसे सूत्रभाष्य में कहा 'अवगतिपर्यन्तं ज्ञानं सन्वाच्याया इच्छायाः कर्म', जिसका अर्थ पद्मपादों ने किया 'ब्रह्मरूपतासाक्षात्करणमित्यर्थः'। तात्पर्य ब्रह्मविद्वरिष्ठता से है।

मीमांसया निश्चयः

एवमाचार्योक्तः शिष्य एकान्त उपविष्टः समाहितः सन् यथोक्तमाचार्येणागममर्थतो विचार्य, तर्कतश्च निर्धार्य, स्वानुभवं कृत्वा, आचार्यसकाशमुपगम्य उवाच—'मन्येऽहमथेदानीं विदितं ब्रह्म' इति।

मीमांसा से हुआ निश्चय

जब आचार्य ने कहा कि 'यदि ऐसा समझते हो तो अभी मीमांसा करो' तब शिष्य एकान्त में बैठ गया। आचार्य ने आगमवाक्य (१.३) जैसा सुनाया और समझाया था वैसा याद कर उसके अर्थ पर उसने एकाग्र होकर विचार किया। उस तात्पर्यार्थ को तर्कों से भी उपोद्बलित किया। इस तरह शास्त्र का यही अर्थ है और युक्ति से इसमें कोई विरोध नहीं यह निश्चय होने पर उसने अपने वास्तविक स्व का अनुभव किया और तब आचार्य के पास लौटकर बोला 'अब मैं मानता हूँ कि मुझे ब्रह्म अज्ञात नहीं रह गया है।'

यहाँ 'मीमांसा' का स्पष्टीकरण भाष्यकारों ने कर दिया है। आपातज्ञानानन्तर ज्ञाननिष्ठोपयोगी साधनकलाप मीमांसा है। अवयवों में भाष्यकार को—वस्तुतः किसी भी आचार्य को—आग्रह नहीं। आगम का अर्थतः विचार श्रवण है और आगमार्थ का यौक्तिक विचार मनन यह यहाँ भाष्य में प्रदर्शित है और यहीं से सर्वज्ञमुनि ने (३.३४३ सं. शा.) प्रेरित हो उनका वर्णन किया है। तर्क जैसे—यदि आत्मा ज्ञेय हो तो घटादि की तरह अनात्मा ही होगा इत्यादि समझ लेना चाहिये। आगमोक्त अर्थ सही न हो तो क्या-क्या युक्तिविरोध होंगे इस पर विचार करना तर्क-शब्द का अर्थ है। लगभग सभी वादप्रकरण, जिनका उत्स तो भिक्षुसूत्रों का द्वितीयाध्याय ही है, इसी उपयोग के हैं।

'निर्धार्य स्वानुभवं कृत्वा' में क्रम पर ध्यान देना चाहिये। भाष्यकार निर्धारण और स्वानुभव को पृथक् बता रहे हैं। यद्यपि 'निर्धार्य' इस स्वपद का ही व्याख्यान 'स्वानुभवं कृत्वा' हो सकता है तथापि पार्थक्य मानने में अर्थविशेष लब्ध होता है। अद्वैतरत्नरक्षण में (पृ.४४) समझाया गया है कि पहली बार किया श्रवण विचारप्रयोजक अपरोक्ष ज्ञान पैदा करता है। पुनः श्रवण करने से प्रमाणगत असंभावना, मनन से प्रमेयगत असंभावना और निदिध्यासन से विपरीत भावना हटती है। [यह स्थिति यहाँ 'निर्धार्य' से कही जिसमें अपरोक्ष ज्ञान भी हो चुका है और असंभावना-विपरीतभावना भी हट चुकी हैं।] तदनन्तर पुनः महावाक्य का अनुसंधानरूप तृतीय श्रवण करना पड़ता है जिससे अविद्या का उन्मूलन करने में समर्थ साक्षात्कार होता है। यह प्रक्रिया रत्नरक्षा में संक्षेपशारीरक के वचनों से पुष्ट की गयी है लेकिन इसका मूल प्रकृत भाष्य ही प्रतीत होता है।

आगमाचार्यात्मप्रत्ययानां सङ्गतिः

मन्ये विदितम् इति शिष्यस्य मीमांसानन्तरोक्तिः प्रत्ययत्रयसङ्गतेः। सम्यग्वस्तुनिश्चयाय विचालितः शिष्य आचार्येण 'मीमांस्यमेव त' इति चोक्त एकान्ते समाहितो भूत्वा, विचार्य यथोक्तं सुपरिनिश्चितः सन्नाह आगमाऽऽचार्याऽऽत्मानुभव-प्रत्ययत्रयस्यैकविषयत्वेन सङ्गत्यर्थम्। एवं हि सुपरिनिष्ठिता विद्या सफला स्याद्, न अनिश्चिता—इति न्यायः प्रदर्शितो भवति, 'मन्ये विदितम्' इति परिनिष्ठितनिश्चितविज्ञानप्रतिज्ञाहेतूक्तेः ।।१।।

आगम का, आचार्य का और शिष्य का ऐकमत्य

मीमांसा के बाद शिष्य ने जो कहा 'मन्ये विदितम्' आदि वह तीनों की मति में अविवाद व्यक्त कर देता

है। शिष्य समझ भी गया था तो लौटकर गुरु को सुनाने की क्या ज़रूरत? 'मन्ये विदितम्' आचार्योक्ति भी संभव है तो इसे शिष्योक्ति ही क्यों मानना? इन प्रश्नों का उत्तर प्रारंभ करने के लिये यह सूत्रवाक्य है। स्वयं इसे समझाते हैं – **आत्मवस्तु का सही निश्चय हो जाये इस प्रयोजन से आचार्य ने शिष्य को विचलित कर 'तेरे लिये मीमांसा ही कर्तव्य है' ऐसा जब कहा तब शिष्य ने एकान्त में एकाग्र होकर विचार किया।** उसने सोचा : 'ब्रह्म जान लिया' कहूँ या 'नहीं जाना' कहूँ? यदि कहता हूँ 'जान लिया' तो आचार्य और आगम ने जो तात्पर्य व्यक्त किया उससे तालमेल नहीं बैठेगा। ज्ञान का विषय ब्रह्म है – यह अर्थ प्रतीत होने से लगेगा कि घटादि की तरह वह भी अव्यापक ही है। इतना ही नहीं, 'जान लिया' का मतलब होगा कि मैं जानने वाला हूँ। इसका तात्पर्य निकलेगा कि मुझमें कोई परिवर्तन हुआ, जानकारी नाम की कोई चीज़ मुझ से जुड़ी। यह बात भी ठीक नहीं। मेरी तो अविद्या हटी है, जुड़ा कुछ नहीं। जिस विद्यावृत्ति से अविद्या हटी वह वृत्ति भी रह नहीं गयी है कि उसकी अपेक्षा से मैं अपने को 'जानकारी वाला' कहूँ। अविद्या का हटना भी कोई नयी चीज़ होती तब भी मैं मान लेता कि उसे ही 'जानकारी' शब्द से उपचारतः कह दूँ, लेकिन हुआ उसका भी बाध है। न होती हुई ही वह हटी है, हीन (=हमेशा छूटे हुए) का ही हान (=छूटना) हुआ है। अत एव स्वरूपप्राप्ति की दृष्टि से भी मैं स्वयं को जानकारी वाला कैसे कहूँ? वह भी तो प्राप्त की ही प्राप्ति है! किंच 'जान लिया' कहने पर जानकारी सच्ची है, ख़ुद वास्तविक है, यह भी समझा जायेगा। किन्तु ऐसी भी स्थिति नहीं। यदि ब्रह्मप्रमा भी सत्य हो तो ब्रह्म सद्वितीय होने लगेगा। विषयसत्यता को ज्ञानसत्यता मानकर भी ब्रह्मज्ञान को सत्य नहीं कह सकते क्योंकि विषय तो शुद्ध होता नहीं। कल्पतरुकार ने 'निरुपाधि ब्रह्मेति विषयी कुर्वाणा' कहने के साथ ही स्पष्ट किया 'स्वस्या अपि उपाधित्वाविशेषात्। ......एवं च नानुपहितस्य विषयता' (पृ.५७)। मधुसूदनस्वामी से भी जब पूछा गया कि 'शुद्धब्रह्म कुछ करता नहीं तो—विषयतया ही सही—अविद्या का नाश कैसे करता है' तब उन्होंने भी यही जवाब दिया 'वृत्तिमादायैव ब्रह्मण उपहितत्वेन शुद्धत्वाभावात्' (अ.सि.पृ.८८७)। आचार्य पद्मपाद भी शुद्ध ब्रह्म ज्ञान का विषय हो इसे 'शान्तिकर्म में वेताल की उत्पत्ति' ही मानते हुए (पृ.६३६) यही समझाते हैं कि वह कर्म बने इसकी अपेक्षा किये बिना ज्ञान का उपयोग है: 'ननु ज्ञानस्यापि न गोचरो ब्रह्मेत्युक्तं 'न च विदिक्रियाकर्मत्वेन कार्यानुप्रवेशो ब्रह्मण' इति वदता? सत्यम्, कर्मत्वं ज्ञानं प्रति निषिद्धं, न पुनरनुपयोग एवैकान्ततो ज्ञानस्याभिहितः' (पृ.६४९)।

तो क्या यह कहूँ कि नहीं जाना? यह भी ठीक नहीं। ग्वाले आदि जैसे ब्रह्म से बेख़बर हैं वैसा ही मैं अब नहीं रह गया हूँ। बल्कि यदि यही कहा 'नहीं जाना' तो गुरुजी पुनः समझाने का कष्ट करने लग पड़ेंगे जो अब अनपेक्षित है और सतीर्थ्यों को आगम की सार्थकता पर भी शंका हो सकती है कि 'इतना समझाने पर यह नहीं समझा तो कहीं यह आगम ही तो सदोष नहीं है?' जिसे नहीं तो नहीं ही जाना जा सकता उसे 'नहीं जाना' कैसे कहूँ? जिस तरह वह जानने का विषय नहीं उसी तरह न जानने का भी तो विषय नहीं है।

चुप ही रहूँ तो? यदि गुरु के संमुख व्यक्त करने का तरीका मिल सके तो बिना व्यक्त किये चुप रहना कोई बुद्धिमानी नहीं होगी। आख़िर गुरुजी ने भी तो कहकर ही मुझे समझाया। हो सकता है मुझसे भी कोई योग्य अधिकारी मुमुक्षु यही प्रश्न करे 'श्रोत्र का श्रोत्र कौन है?' आदि। यदि उसे मैं समझाने का ढंग न जानूँगा तो वह बेचारा कैसे जान पायेगा? अतः परमात्मा को व्यक्त करने के तरीके की स्फूर्ति न होना शोभनीय नहीं।

'जान लिया', 'नहीं जाना' और चुप्पी, तीनों पक्षों के दोषों को बचाना है तो मुझे उसी ढंग से कहना पड़ेगा जिससे गुरुजी ने आगमवाक्यद्वारा कहा था : 'विदित भी है अविदित भी' यों इकट्ठे ही कह देता हूँ। यद्यपि गुरुजी ने तो कहा था कि वह न विदित है और न अविदित, तथापि मेरा मतलब है कि क्योंकि उसके बारे में मुझे अज्ञान, संशय, विपर्यय नहीं हैं इसलिये वह विदित कहा जाये तो कोई हर्ज नहीं और क्योंकि वह ज्ञान का विषय नहीं हुआ इसलिये अविदित अर्थात् विदित से अन्य ही है। गुरुजी ने भी तो विदितान्य कहकर फिर 'विद्धि' कहा ही था! अतः जिस

अविदित से अन्य उन्होंने कहा था तद्रूप कहना मेरा अभिप्राय नहीं, मैं उसे अव्याकृत नहीं कह रहा। मैं तो 'विदित, फिर भी विदित नहीं' यह कह रहा हूँ। इससे स्पष्ट हो जाना चाहिये कि 'विद्धि', 'मीमांस्यम्' आदि आज्ञाओं का पालन कर लिया जबकि ब्रह्म विदितान्य (और अविदितान्य) ही रहा।

यह विचार शिष्य ने किया। उसका उत्तर 'मन्ये विदितम्' ऐसा है जिसे 'मन्येऽविदितम्' भी समझ सकते हैं। यह टीकाकार ने 'समुच्चितं वच्मि' से ध्वनित किया प्रतीत होता है। ओर्ट्ल (Hanns Oertel) नामक पाश्चात्य ने 'अविदितम्' ही छेद माना है। यद्यपि वह 'अविदितं मीमांस्यं मन्ये' यह अन्वय मानकर 'जो नहीं समझ पाये हो उसकी मीमांसा करो' ऐसा गुरुवाक्य ही मानना चाहता है जो भाष्यादि से समर्थित नहीं, तथापि प्रकृत टीका से ध्वनित लगता है कि शिष्यवाक्य होने पर भी इसमें द्विविध छेद विवक्षित है।

गुरु ने जैसा कहा था उसके बारे में जब उसका निश्चय दृढ हो गया, जब वह 'सुनिश्चितवेदान्तविज्ञानार्थ' हो गया, हृदय-ग्रन्थि खुल कर उसके सारे संशय क्षीण हो गये, तब उसने 'मन्ये विदितम्' यह कहा। आग़म जो ज्ञान देने में तात्पर्यतः समर्थ है, गुरु ने जो ज्ञान पाया और शिष्य को देना चाहते हैं तथा शिष्य को ख़ुद जो अनुभव हुआ, ये तीनों एकरूप हैं यह स्पष्ट करना शिष्य को अभिप्रेत है। ऐसा नहीं कि शास्त्र जिसके बारे में बता रहा है, गुरु का उपदेश और शिष्य का तत्त्वनिश्चय उसी के बारे में न हो। अविषयता पर अत्यधिक बल देने पर अज्ञेयता (=अज्ञान-अनिवर्त्यता) की प्रसक्ति हो सकती है। कुछ विचारक तो लैकिक विषयों पर भी परस्पर संवाद असंभव मानते हैं क्योंकि सब विषय-ज्ञानों को वे ज्ञाता की उपाधि से ऐसा संवलित मानते हैं कि हर ज्ञाता को सर्वथा एक विषय का ज्ञान हो नहीं सकता। सविशेष स्थलों में चाहे जो हो, यहाँ भाष्यकार साफ़ कर रहे हैं कि अद्वैत का अखण्ड साक्षात्कार ऐसा नहीं। उपनिषत् जो बता रही है वही हम समझें यह संभव है, यदि नहीं समझ रहे तो यह हमारा पुरुषापराध है। ज्ञेय-ज्ञातृभाव समाप्त हो जाने से ज्ञानों में ज्ञातृनिरूपित वैलक्षण्य यहाँ संभव नहीं यह तो स्पष्ट ही है, और ब्रह्म नानारूप है नहीं। अतः अविषयता सुरक्षित रहते ही अज्ञेयतावाद दूरनिरस्त हो जाता है। 'एकविषयत्वेन' से तदन्याऽविषयता समझ लेनी चाहिये।

शास्त्रतात्पर्य, गुरु को विवक्षितार्थ और शिष्य को विज्ञात, इन तीनों की एकवाक्यता कहने का प्रयोजन क्या? यह प्रश्न यदि तार्किक करे तो उत्तर है : तार्किक लोग प्रामाण्य को संवादाधीन मानते हैं। अर्थात् ज्ञानान्तर से सत्यापित होने पर प्रमा मानते हैं जैसे जल देखना तब प्रमाण मानेंगे जब उससे सफल प्रवृत्ति होना जान लें अर्थात् वह पीने आदि का काम कर सकता है यह निर्धारित कर लें। इनके यहाँ योग्य विषयों में प्रमाण-संप्लव अर्थात् अनेक प्रमाणों की विषयता मान्य है। जो एक ही प्रमाण के योग्य हो उसमें संप्लव नहीं होगा। यह वात्स्यायन मुनि ने ही (न्या.भा. १.१.३) व्यक्त किया है। आत्मा को वे वहीं प्रत्यक्षयोग्य भी कहते हैं 'अस्त्यात्मेत्याप्तोपदेशात्प्रतीयते; तत्रानुमानम्-'इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्' (१.१.१० गौ.न्या.सू.) इति; प्रत्यक्षम्—युञ्जानस्य योगसमाधिजमात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मा प्रत्यक्ष इति।' अतः आत्मा के बारे में शास्त्रप्रमाण से, गुरुप्रोक्त युक्ति अर्थात् अनुमान प्रमाण से और शिष्य के स्वानुभव से जब एक ही बात सत्यापित हो गयी तो ऐसे तार्किक जो मानते हैं कि योग्यविषयक बहुतेरे प्रमाण समान ज्ञान करावें तो निश्चय हो सकता है, उनका उपकार हो जाता है।

तार्किकों से विलक्षण हैं मीमांसक। वे स्वतःप्रामाण्यवादी कहे जाते हैं। उनका कहना है कि ज्ञान उत्पन्न होते हुए प्रमा पैदा होता है और जब उसे ज्ञान समझा जाता है तभी उसे प्रमा भी समझा जाता है। शबरस्वामी ने कहा है कि बाधक ज्ञान हो या ज्ञानसामग्री में दोष पता चले तभी किसी ज्ञान को असमीचीन मान सकते हैं, अन्यथा नहीं। अतः भाट्टों ने औत्सर्गिक प्रामाण्य स्वीकार कर अप्रामाण्य को अपवाद रूप से माना है। आनन्दबोध मुनीन्द्र ने न्यायचन्द्रिका (पृ५०-५४) में भाट्टमत प्रकाशित कर दिया है। प्राभाकरों को तो ज्ञान यथार्थ ही होता है, भ्रमज्ञान वे मानते नहीं, अतः वे भी स्वतः

प्रमाणवादी हैं। इन दोनों के मत में वस्तुतः प्रत्ययान्तरसंवाद के लिये कोई स्थान नहीं है क्योंकि इन्हे प्रमाणसम्प्लव मानना नहीं। उपलब्धविषयक उपलब्धि अनुवादरूप हो जाती है। फिर भी दोनों के अनुसार शास्त्र का अर्थनिर्णय न्यायाधीन माना गया है। मीमांसा की उपयोगिता शाबरभाष्य में प्रकट की गयी है 'सोऽयमविचार्य प्रवर्तमानः कञ्चिदेवोपाददानो विहन्येत, अनर्थं चर्च्छेत्, तस्माद् धर्मो जिज्ञासितव्यः।' (पृ.१३)। अतः शास्त्रतात्पर्य समझने में न्यायविनियोग स्वीकार्य है। तन्त्रवार्तिक में (१.३. अधि. ८ पृ. २८१) भट्टाचार्य शास्त्र से आत्मादि पदार्थों का अवगम स्वीकारते हैं : 'न च विधिप्रतिषेधविषयेणैव शास्त्रेण भवितव्यं, न प्रमेयस्वरूपज्ञापनार्थेनेत्येतद् ईश्वराज्ञासिद्धम्! न हि 'अविनाशी वा अरे अयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा' (बृ. ४.५.१३) इत्यादि, 'चतुस्त्रिंशदाश्वीनानि सरस्वत्या विनशनप्लाक्षप्रश्रवणे' (तां. महा. २५.१०.१६) इत्येवमादिवाक्यशेषाणां च शास्त्रगतानामर्थतत्त्वप्रतिपादनपरत्वं न लभ्यते। नापि तत्प्रतिपादने शास्त्रशब्दवाच्यत्वबाधः!' वहीं (पृ. २८८) वे आत्मविज्ञान का साफल्य भी स्वीकार कर लेते हैं। अतः शास्त्रतात्पर्य के निश्चय में गुरु की समझ का उपयोग मीमांसक को इष्ट ही होना चाहिये तथा आत्मा के केवल अवबोध को भी जब शास्त्रप्रेरित माना तो स्वानुभव से शास्त्रार्थ का निश्चय दृढ हो जाये यह भी उपपन्न है। यदि उपासनाविधि भी मान लें तब भी उपास्यस्वरूप के निर्णय में न्यायस्थानीय गुरुप्रत्यय का उपयोग रहेगा तथा आप्रायणाधिकरणन्याय से (ब्र.सू. ४.१.८.१२) अन्त्यकालिक साक्षात्काररूप दृष्ट द्वार स्वीकार्य होने से आत्मप्रत्यय का संवाद भी अपेक्षित है। उक्त स्थल पर कल्पतरु एवं परिमल में दृष्टद्वारता का प्रतिपादन किया ही है। इस प्रकार मीमांसानुकूल प्रयोजन भी प्रत्ययसंवाद का समझा जा सकता है।

वेदान्तसिद्धान्त में स्वतः प्रमाण्य का ही समर्थन किया गया है। हम कई प्रमाणों की एकमतता का इन्तज़ार नहीं करते, जैसा पञ्चपादिका में (पृ.५९५) कहा है 'न च संवादलक्षणं प्रामाण्यम्, अपितु बोधलक्षणम्।' भामतीकार भी कहते हैं 'न चैकस्य प्रतिभानेऽनाश्वास इति युक्तम्' (पृ.९९)। किन्तु भ्रम और स्मृति में भी प्रमात्व रहे या नहीं—इस पर आचार्यों ने प्रक्रियाभेद प्रस्तावित किया है।

न्यायचन्द्रिकाकार आनन्दपूर्ण, मधुसूदन सरस्वती आदि महानुभाव कहते हैं कि ज्ञानत्व और प्रमात्व तुल्यवृत्ति हैं अर्थात् ज्ञान होगा तो प्रमा ही होगा। भ्रम, संशय और स्मृति को अविद्यावृत्तिरूप होने से ज्ञान से बहिर्भूत मान लेते हैं (द्र. न्या. चं. पृ.३७)। अद्वैतरत्नरक्षा में (पृ.३२-३३) अज्ञातविषयक निश्चय को ही प्रमा मानने से क्योंकि भ्रमविषय अज्ञात रहा हुआ नहीं इसलिये भ्रम में प्रमात्व का प्रसंग नहीं तथा क्योंकि अप्रमा (भ्रमादि) अज्ञानविरोधी नहीं होती इसलिये उसे ज्ञान कहना भी व्यर्थ है — ऐसा समझाया है। ज्ञानाभास में भी ज्ञानत्वभ्रम से तत्प्रयुक्त प्रवृत्ति आदि की संगति बैठ जाती है। अन्तःकरण की वृत्ति ही प्रमा होगी अतः उसका प्रामाण्य साक्षिवेद्य ही है क्योंकि साक्षी ही वृत्ति को जानता है और ज्ञानग्राहक को ही प्रामाण्यग्रह होता है यही नियम है। दोष होने पर निश्चित विषय में भी संशय हो जाता है अतः प्रमा होने पर भी संशय होना असंभव नहीं। अत एव श्रद्धालु आस्तिक पण्डित आत्मा को स्थूलादि शरीर से भिन्न जानने पर भी 'मैं मोटा हूँ, अन्धा हूँ' आदि भ्रम से पीडित होता है क्योंकि दोष के कारण शास्त्रजन्य प्रमा भी सन्दिग्ध-सी हो जाती है। अथवा मान सकते हैं कि दोष रहते प्रामाण्य का ग्रहण ही नहीं होता; शास्त्रजन्य ज्ञान है तो प्रमा पर दोषसन्निधिवशात् साक्षी को ज्ञानत्वेन ग्रहण होने पर भी प्रमात्वेन ग्रहण नहीं होता। जैसे धुएँ आदि से विवर्ण होने से गहनारूप से दीखते हुए भी चाँदीरूप से नहीं दीखता। अतः गहने मात्र का व्यवहार हो सकता है, चाँदी का नहीं। ऐसे ही उस प्रत्यय को ज्ञान मान सकते हैं, प्रमा है यह कह नहीं सकते। अतः प्रमा का कार्य अविद्यानिवृत्ति वह नहीं करता। ज्ञानसामग्रीमात्र से प्रमात्व पैदा होता है। अप्रमात्व को तो पैदा होने के लिये दोषादि चाहिये। अतः अप्रमा में प्रामाण्य नहीं। इस प्रकार ज्ञान (अर्थात् मनोवृत्ति) प्रमा ही होता है, ज्ञानोत्पादक ही प्रमात्व को भी पैदा कर देता है तथा ज्ञानग्राहक ही प्रमात्व जान लेता है यह एक प्रक्रिया है।

विवरणकार (पृ. २८२-२८५) का कहना है कि प्रतिभासकाल में भ्रान्ति और सम्यग्ज्ञान का कोई अन्तर तो पता

चलता नहीं और भ्रम को भी प्रमा मानकर ही प्रवृत्ति आदि की जाती है। अतः उनके अनुसार जैसे जल स्वभाव से ठण्डा ही है पर अग्निसंयोग से गर्म हो जाता है या जैसे दोषप्रतिबंध के कारण आग में शैत्यस्पर्श हो जाता है ऐसे ज्ञान में स्वाभाविक प्रामाण्य होने पर भी दोष-सहित करण से अप्रामाण्य का जन्म हो जाता है। अप्रामाण्य की प्रतीति तो बाध से होती है यह बात अलग है। अतः जब तक दोषादि नहीं समझ आता तब तक स्वाभाविक प्रामाण्य के कारण ज्ञान से व्यवहारादि देखा जाता है:'स्वतः प्रामाण्यादेव च यावद्दोषावगमं ज्ञानादेव व्यवहारदर्शनम्।'

इसी आधार पर ब्रह्मानन्दजी ने न्यायरत्नावली में (पृ.९७) दो प्रामाण्य माने हैं : अनधिगत-अबाधितार्थविषयकत्वरूप प्रमात्व को वे स्वतोग्राह्य नहीं मानते। स्वतोग्राह्य वे उसे ही कहते हैं जो प्रवृत्ति-प्रयोजक होता है और बाध न होने तक भ्रम में, तथा स्मृति में भी रहता है। इसका लक्षण है 'मिथ्यात्वरूपेण यदज्ञातं तद्विषकत्वम्।' बाध के पहले तक भ्रम-विषय भी मिथ्यात्वेन ज्ञात होता नहीं अतः भ्रम में यह प्रमात्व रहना सर्वथा संगत है। यदि भ्रम भी प्रमा है तो भ्रम-प्रमा का विभाजन कैसे? वे कहते हैं कि जिसमें उक्त दोनों प्रमात्व हैं उसमें प्रकर्ष होने से उसे प्रमापद का वाच्य माना जाता है जो युक्त ही है।

इन दोनों प्रक्रियाओं में 'यह प्रमा ही है' ऐसे निश्चय में दोषाख्य प्रतिबन्धक संमत है। रत्नरक्षाकारों ने तो भ्रमसंस्कार को भी एक दोष माना है और स्पष्ट कहा है कि दोषसहित निश्चय विपरीत ज्ञान का विरोधी नहीं होता, दोषाभावसहित निश्चय ही उसका विरोधी होता है। आचार्य प्रकाशात्मपूज्यपादों ने बताया है 'तच्च चित्तस्यातिसूक्ष्मेऽनेकाग्रतादोषाद् विपर्ययसंस्कारदोषाच्च प्रतिबद्धं, भ्रान्त्या परोक्षवदवभासते' (पृ.२८६)। प्रमाण ख़ुद प्रमा को उत्पन्न करने में सक्षम होने पर भी प्रतिबन्धक हटाने के लिये सहायक बल चाहता है जैसा सर्वज्ञवचन है 'बृंहिणीमन्तरेण स्वार्थे युक्तिं वेदवाक्यं न पुष्टम्' (१.५५९)। अतः वेदान्तसिद्धान्त में स्वतःप्रामाण्य रहते ही प्रतिबन्धनिरास के लिये जो बल चाहिये उसमें प्रकृत प्रत्ययत्रयसंगति काम आ जाती है। भृगु को बारम्बार वरुण से अपने अनुभव का मिलान करने की ज़रूरत भी यही दिखाती है।

शास्त्रप्रत्यय का निर्णय अति कठिन है क्योंकि मतान्तरानुसारी योजना की असम्भवता की प्रतिज्ञा सरल होने पर भी शास्त्र के पौर्वापर्य पर गहन विचार करें तो सरल नहीं रह जाती; कुछ-न-कुछ मानकर तो सारी व्यवस्था संगत बनती चली जाती है पर वह 'कुछ' क्या माना जाये इसके विकल्पों का चुनाव यदि केवल युक्ति व प्रमाण के आधार पर करना हो तो (लगभग) असंभव ही है। आचार्यप्रत्यय का निर्णय तदपेक्षया सरल है क्योंकि कई तरह से पूछ कर समझा जा सकता है। वस्तुतः वह 'कुछ' आचार्यप्रत्यय के बल पर ही चुन लिया जाता है। परकीय सामान्य अनुभव का भी पूरा पता हमें नहीं लगता तो अचार्यप्रत्यय का भी सही-सही बोध हो नहीं सकता अतः श्रद्धा से प्रगति का प्रारम्भ हुआ करता है। अपना प्रत्यय ही हमें साक्षात् होता है अतः उसका निर्णय सरल है। सहज तो यह निर्णय भी नहीं है क्योंकि दोषसद्भाव की संभावना नकारना बहुत ही साहस की माँग करता है। जब आत्मप्रत्यय गुरुप्रत्यय से ताल-मेल खा जाये, अर्थात् प्रत्ययसंगति हो जाये, तब तो निर्णय सुलभ हो जाता है क्योंकि एक ही दोष उभयत्र—और आचार्य-परम्परा में सर्वत्र—हो यह निर्मूल कल्पना किसी को कष्ट नहीं दे पाती। प्रमा भी जब तक प्रमात्वेन (अबाधितविषयकत्वेन) निश्चित न हो तब तक कार्यक्षम होती नहीं अतः इस निश्चितता के लिये गुरुप्रत्यय से संगति अनिवार्य हो जाती है। गुरु एक प्राणी के रूप में उपस्थित हों यह इस संगति के लिये अनावश्यक है। गुरुप्रत्यय यथासंभव समझकर ही शास्त्रप्रत्यय का निर्णय करने में—श्रवण में—प्रवृत्ति हुई थी अतः वह याद रहता ही है, उसी से मिलान हो सकता है। एवं च जीवबहुत्व की प्रक्रिया न अपनाने पर भी प्रत्ययत्रयसंगति तो ज़रूरी ही है क्योंकि इससे हुआ निश्चिय ही एकजीव का भी बाध कर पायेगा। गुरुप्रत्यय से समान होकर बली हुआ आत्मप्रत्यय शास्त्रप्रत्यय पर जो श्रद्धा थी उसे अनन्तगुणित दृढता देकर अब अनपेक्षित हुए भी शास्त्र को अपने से अधिक सम्मान प्रदान करता है। अत एव शिष्योपदेशार्थ पूर्वगुरु की तरह आगम का ही प्रयोग होता है और इस तरह आचार्यपरंपरा शास्त्रार्थ को आत्मसात् कर चुकती है जिससे वेद कोई जड ग्रन्थ नहीं बचता या गुरु मर नहीं पाता, एक ही बात है।

एवं च यद्यपि प्रत्ययसंगति प्रमा के लिये नहीं चाहिये तथापि प्रमात्वनिश्चय के लिये चाहिये अतः मोक्षहेतु ज्ञान का वह औपचारिक कारण है। कारण की तरह अपेक्षित होने से कारण समझ लिया जाता है यह तात्पर्य है।

सन्देह होता है कि जिस श्रद्धा से जो चलता है वही प्रत्यय उसे होता है, वही उसके आचार्य का प्रत्यय है अतः इन दो की संगति से श्रद्धानुकूल ही शास्त्रप्रत्यय भी निर्धारित हो जाता है तो इनमें किसी की भी सत्यता कैसे परिभाषित की जाये? सविशेषश्रद्धा से प्रवृत्त आचार्य-परम्परा के सविशेष प्रत्ययों की तरह ही निर्विशेषश्रद्धा से प्रेरितों के वैसे ही प्रत्यय हैं। निर्विशेष की लगभग अनेकरूपता संभव ही न होने से उस श्रद्धा वाले विभिन्न पारम्परीणों के प्रत्ययों की संगति भी अकिंचित्कर हो जाती है। प्रत्यय मनोधर्म है— प्रमा मनोवृत्ति ही मानी गयी है—अतः मनोवैशिष्ट्य से अप्रभावित कैसे रहेगा? मन संस्कारों से अस्पृष्ट कैसे होगा? अतः जैसे चार ठग मिलकर पण्डित के बकरे को कुत्ता बना देते हैं ऐसी ही प्रत्ययत्रयसंगति की स्थिति है।

प्रपञ्चसत्यत्वपक्ष में और सर्वाऽसत्यत्वपक्ष में इस सन्देह का निवारण अशक्य ही है। प्रमाणनिरपेक्ष स्वप्रकाश सत्यात्म और जगद्-मिथ्यात्व सिद्धान्त में निवारण की स्पष्ट सम्भावना है। नरसमाकृति लोष्ट की (पंच.३.१९) बात छोड़ दें तो यह संभावना निश्चित उपाय भी कही जा सकती है। उपदेशसाहस्री में विशेषकर यह व्यक्त किया गया है। पंचदशी में (६.२४१ प्रभृति) भी यही ढंग अपनाया है। मन से स्व का भेद है यह मानकर यह प्रक्रिया चलती है अतः आत्मप्रत्यय में क्योंकि स्व मन को लाँघ जाता है, मन का वैषयिक ज्ञान कर पाता है अर्थात् मन की उसी तरह परीक्षा कर पाता है जैसे अभी हम घट की करते हैं, इसलिये इस स्थिति को न मानस कह सकते हैं और न मन से प्रभावित। प्रमावृत्ति भले ही मनोधर्म हो पर प्रत्यय को मनोधर्म कहना ग़लत है। निरावृत चित् (स्व) को प्रत्यय समझना चाहिये। घटप्रमा की वृत्ति नष्ट होने से हम बिना घटप्रमा वाले नहीं हो जाते, ख़ुद को घटज्ञानी ही जानते हैं। इसलिये यह भी असंभव नहीं कि अंतिमवृत्ति की 'बनावट' में फ़र्क हो 'ब्रह्माहम्', 'शिवोहम्', 'योऽसावसौ पुरुषः सोहम्', 'विदिताऽविदितान्यः', 'अशब्दादि महतः परम्', 'ज्योतिषां ज्योतिः', 'ॐ', 'आनन्दो ब्रह्म', 'इदमदर्शमिती३', 'आत्मैवेदꣳ सर्वम्', 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पन्नः', 'सत्यस्य सत्यम्', 'सर्वमात्मैवाभूत्', 'आत्मा सर्वान्तरः', 'अशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति', 'अस्थूलमनणु', 'अभयम्', 'ईशानं भूतभव्यस्य', या 'सोऽहमस्मि पूर्णो हरिः', – ये हैं सब अन्तिम वृत्तियाँ, बनावटों का अन्तर है। इनसे अन्य बनावटें भी अवश्य हो सकती हैं किन्तु क्योंकि इनका विषय एक ही है—प्रकृत भाष्य में 'एकविषयत्वेन'—अतः ये सभी, और ऐसी अन्य भी सभी, आपस में संगति वाली ही हैं। मधुसूदनस्वामी त्रयोदशाध्याय में 'अस्माकं तु तदेव' कह देते हैं, पंचदशाध्याय के अन्त में 'कृष्णात् परम्' और 'सोऽहमस्मि परः शिवः' एक-साथ कहते हैं, तथा अष्टादशाध्याय में खुद को तृणतुल्य कहकर मन को मोहने वाले पर सारे गुण-दोष डाल देते हैं 'इह योऽस्ति विमोहयन्मनः परमानन्दघनः सनातनः, गुणदोषभृदेष एव नस्तृणतुल्यो यदयं स्वयं जनः।।' एवं अद्वैतसिद्धि की समाप्ति में कहते हैं 'मयि नास्त्येव कर्तृत्वमनन्यानुभवात्मनि'; ये सब 'बनावटों' का अन्तर है, सभी वचन सर्वथा एक बात कह रहे हैं। इसलिये शब्दादि के भेद से कुछ भी फ़र्क नहीं पड़ने के कारण स्पष्ट है कि मानसिक भेदों से प्रत्ययभेद नहीं होता। अत एव तो प्रत्ययत्रय की संगति श्रुतिमुख से भाष्यकार दिखा रहे हैं : प्रत्यय तीन हैं पर इनकी संगति है, एकविषयता है। इसलिये ठग-दृष्टान्त से किंचित् भी तुलना संभव नहीं।

संगतिप्रदर्शन का फल बताते हैं – **इससे यह नियम व्यक्त हुआ कि अनिश्चित विद्या सफल नहीं होती, विद्या तभी सफल होती है जब वह (सु=) असंभावनाओं और (परि=) विपरीतभावनाओं के मिट जाने से (निस्) प्रमारूप से निश्चित (स्थिता) हो चुके। 'मैं समझता हूँ कि मुझे विदित है' यों परिनिष्ठित व निश्चित विज्ञान की प्रतिज्ञा ही इस न्यायप्रदर्शन के लिये हेतूक्ति हो गयी है अर्थात् यह प्रतिज्ञा कारण है कि हम उक्त न्याय को यहाँ प्रदर्शित बता रहे हैं।** भाष्यकार का तात्पर्य है कि 'नाहं मन्ये' आदि ही पर्याप्त कथन हो जाता, यहाँ पहले 'मन्ये विदितम्'

यह घोषणा करना व्यर्थ है। व्यर्थ होकर ही यह घोषणा ज्ञापित करती है कि समूचा जवाब यही न्याय बताने के लिये है कि परिनिष्ठित विद्या ही सफल है। 'ज्ञान से मोक्ष' सुनते-सुनते कई बार यह भ्रम हो जाता है कि भाष्यकार ज्ञान को 'छू मन्तर' जैसा कुछ मानते हैं जो 'तत्त्वमसि' सुनकर हो जाता है और मोक्ष कर देता है। किन्तु अनेक जगह उन्होंने स्पष्ट किया है कि ज्ञानमात्र और मोक्षफला ब्रह्मविद्या में भेद है तथा यह सुपरिनिष्ठित विद्या मोक्ष देती है यह उनका मतलब होता है जब वे 'ज्ञान से मोक्ष' कहते हैं।।१।।

द्वितीयो मन्त्रः

शिष्योक्तिप्रयोजनम्

परिनिष्ठितं सफलं विज्ञानं प्रतिजानीत आचार्यात्मनिश्चययोस्तुल्यतायै, यस्माद्धेतुमाह नाह मन्ये सुवेद *इति।* **कथमिति? शृणुत-**

शिष्यवचन का प्रयोजन

आचार्य के निश्चय और अपने निश्चय की तुल्यता निर्धारित करने के लिये शिष्य अपने परिनिष्ठित, प्रमात्वेन निश्चित, और फलहेतुभूत विज्ञान की प्रतिज्ञा, उपस्थापना, कर रहा है। वह अपने अनुभव की गुरु के अनुभव से मिलान करना चाहता है यह इससे पता चलता है कि 'मन्ये विदितम्' कहकर चुप नहीं हो गया बल्कि 'समझ गया' ऐसा मानने में 'नाहं मन्ये' आदि हेतु बता रहा है। पूर्व में जिस संगति को आवश्यक कहा था वही स्थापित करने के लिये यहाँ शिष्य का कथन है। वह अपने ज्ञान का प्रदर्शन केवल इसलिये कर रहा है कि गुरु कह सकें 'हाँ, ठीक समझा है।' कवियों ने भी विद्वानों के परितोषपर्यन्त अपने काव्यकौशल को साधु—अच्छा—मानने से इन्कार किया है। पहले विचार आ चुका है कि अनुभवमात्र अन्तिम सत्यता के लिये पर्याप्त नहीं क्योंकि व्यावसायिक गवाह की तरह वह प्रायः असत्यों के लिये भी साक्ष्य दे देता है। यद्यपि शिष्य ने परीक्षा कर ली है और संशय-विपर्यय से रहित प्रमा पहचान चुका है जिससे फलानुभूति हो चुकी है (अत एव भाष्य में 'सफलं विज्ञानम्' कहा) तथापि क्योंकि दोष रहते प्रत्यय का पूर्ण सहीपना होता नहीं और दोषाभाव का निश्चिय करने का कोई अन्य उपाय नहीं इसलिये संभावित सदोषता को निवृत्त करने के लिये गुरुप्रत्यय से संगतिस्थापन ज़रूरी हो जाता है। हरिद्रुमत गौतम के प्रति सत्यकाम जाबाल ने भी इसीलिये निवेदित किया था 'भगवाꣳस्त्वेव मे कामं ब्रूयात्। श्रुतꣳह्येव मे भगवद्दृशेभ्यः आचार्याद्ध वै विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयतीति' (छां.४.९)। इस तरह भाष्यकार के अनुसार ब्रह्मविद्या चाहे अनुभवावसाना है तथा दृष्टफला भी है और प्रमा में उत्पत्ति-ज्ञप्ति-स्वतस्त्व भी है, फिर भी प्रत्यत्रयसंगति अवश्य चाहिये। वस्तुतः यह एक ऐसे ढंग का निर्माण है जिसमें ग़लती न हो पाये (fool-proof system); प्रायः तो सही निश्चय के बाद सत्यापन से कोई विशेष नहीं होना किन्तु कुछ प्रतिशत अधिकारियों को अगर ग़लत निश्चय में ही सन्तोष हो जाये तो वे पुरुषार्थ से वंचित रह जायेंगे, ऐसा न हो इस करुणा से प्रेरित श्रुति ने यह संगतिन्याय निर्धारित कर दिया है जिससे निर्दुष्ट को कोई हानि नहीं, सदोष को बहुत लाभ है।

आचार्य ने पूछा, 'कैसे कहते हो कि समझ गये?' शिष्य ने कहा 'सुनिये, मन्त्र से बताता हूँ कि ऐसा क्यों कहा'

मन्त्रः

नाऽहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च। यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च॥२.२॥

मन्त्रार्थ

अहम् = मैं यह तो न (अह) = नहीं ही मन्ये = मानता इति = कि मैं ब्रह्म को सुवेद = 'अच्छी तरह' जानता

हूँ, लेकिन **नो** = यह भी नहीं **मन्ये** = मानता **इति** = कि उसे **न** = नहीं **वेद** = जानता क्योंकि **वेद** = जानता तो हूँ ही **च** = पर 'अच्छी तरह' वाली जानकारी मैंने नहीं रखी है। **नः** = हममें से **यः** = जो **तद्** = मेरी ऐसी विलक्षण बात **इति** = कि **'नो न वेद, वेद च'** = 'न नहीं जानता, न 'अच्छी तरह' जानता हूँ, फिर भी निरविद्य हूँ' **वेद** = समझता है वही **तद्** = श्रोत्रादि के श्रोत्रादिभूत ब्रह्म को **वेद** = समझने वाला समझा जा सकता है।

'सुवेद' या 'अच्छी तरह' जानने का अभिप्राय तो पहले मंत्र में समझा चुके हैं। विषयतया जानना सुवेदन है। 'वह होता तो मैं भ्रान्त होता, वह मुझे नहीं है' यह अर्थ है। जिस विषय का अज्ञान हो उसे ही नहीं जाना हुआ कह सकते हैं, आत्मा का अज्ञान मुझे रह नहीं गया अतः यह नहीं कह सकता कि 'नहीं जानता'। मेरा जानना यही है कि मैं सच्चिदानन्द हूँ और सकार्य अविद्या का कोई भान नहीं है, 'नहीं है' इस तरह भी वह नहीं दीख रही। जैसे सपने से जगने के बाद दिन भर ऐसा प्रतीत नहीं होता रहता कि 'सपना नहीं है, सपना नहीं है', वह प्राप्त ही नहीं होता कि उसका निषेध हो, ऐसे ही मेरा जानना है। विषय, आश्रय या अन्य भी किसी 'तरह' से जान नहीं रहा, भाव या अभाव कोई धर्म नहीं भास रहा। संशयसंभावना भी न होने से मैं कह सकता हूँ कि यही पारमार्थिक है और मेरी अभिव्यक्ति भी तदनुकूल है अतः इसे समझने वाला ब्रह्मदर्शी ही है।—यह शिष्योक्ति का अभिप्राय है।

शङ्करानन्दस्वामी समझाते हैं कि 'न सुवेद' से ब्रह्म की अतिदुर्बोधता बतायी, 'नो न वेद' से बताया कि वह शास्त्र से ही समझा जा सकता है, 'वेद' से उसके बारे में संशयादिरहितता कही और 'च' से वह साक्षात्कार कहा जो सारे भेद को मानो खा जाता है। तात्पर्य हुआ कि 'मैं वह ब्रह्म हूँ जो समझा जाना बहुत मुश्किल है, सिर्फ़ शास्त्र से उसका पता चलता है, उसके बारे में संदेह करने की गुंजाइश नहीं और वह सभी भेदों से रहित है।' शंकरानंदजी की योजना में 'योनस्तद्वेद तद्वेद' कहकर शिष्य चुप हुआ तो किसी ने (गुरु या सहपाठी) पूछा 'क्या तुम उसे जान रहे हो?' इस पर शिष्य ने जवाब दिया 'नो न वेदेति वेद च' 'नहीं जान रहा ऐसा नहीं, जान रहा हूँ ऐसा भी नहीं।'

नारायणानुसार 'नाह मन्ये सुवेदेति' से ब्रह्म को विदित से अन्य, 'नो न वेदेति' से अविदित से अन्य और 'वेद च' से उसे स्वप्रकाश कहा है। इन्हें क्रमशः वे फलव्याप्ति का निषेध, वृत्तिव्याप्ति का स्वीकार और आत्मप्रकाश में अन्यप्रकाश की अनपेक्षा बताना मानते हैं।

उपनिषद्ब्रह्मयोगी ने प्रसंगवश यहाँ संशयादि पाँच दोष बताये हैं जिनसे रहित ब्रह्मज्ञान ही सफल होता है। (i) 'अहं ब्रह्म न वेत्येष संशयो वस्त्वनिर्णयात्'; वास्तविक आत्मस्वरूप का निर्णय न करने से 'मैं ब्रह्म हूँ या नहीं' यह संशय पहला दोष है। इस दोष के रहते ब्रह्म का ज्ञान अपरोक्ष होने पर भी परोक्षवत् ही लगता रहता है। संशय का कारण त्वमर्थशोधन नहीं करना ही है।

(ii) 'प्रतीचि देहोऽहमिति विपर्यासात्मिका मतिः'; दूसरा दोष है विपर्यय—उल्टा ज्ञान अर्थात् प्रत्यक् के बारे में 'मैं देह हूँ' ऐसा निश्चय होना। प्रायः 'देह हूँ' प्रतीत न होने पर भी देहधर्मों का तो अभेदाध्यास होता ही है जिससे देह में अभेदभ्रम अर्थसिद्ध है। यह निश्चय रहते महावाक्यार्थ लग नहीं सकता क्योंकि देहद्वयपरिच्छेद और भूमा विरुद्ध हैं।

(iii) 'नास्ति ब्रह्मेति या बुद्धिः सैवाऽसंभावनेरिता'; 'ब्रह्म नहीं है' ऐसा निश्चय असंभावना है। इसका मूल या शास्त्र को ग़लत समझ पाना और या शास्त्र में अश्रद्धा होता है।

(iv) 'ब्रह्मास्ति यद्यस्मदादितुल्यं सच्चित्सुखं न तत्। इयं धीर्विपरीताख्यभावनेत्यभिधीयते।।' 'अगर ब्रह्म है, तो भी वह हम जैसा ही होगा, सच्चिदानन्द नहीं है' यह निश्चय विपरीत भावना है। यह तत्पदार्थ को न समझना है। तत्पदार्थ समझे बिना भी वाक्यार्थबोध कैसे होगा?

(v) 'ब्रह्मणो विश्वताभानम् अन्यथाभावनेरितम्', माया की अनिर्वाच्यता न समझने से आधुनिक 'शुद्धाद्वैत' जैसी भ्रान्ति हो जाती है और परमात्मा अपनी शक्ति से प्रपंच के आकार में उपस्थित है ऐसा मान लेते हैं। यह अन्यथाभावना है। इससे प्रपंचमिथ्यात्व की संभावना रह नहीं जाती। जब जीव और देहद्वय ब्रह्म ही है तो विवेक को कहाँ स्थान होगा? वैराग्यादि की कथा ही व्यर्थ हो जायेगी। इस प्रकार मोक्ष के सभी द्वार बंद करने का यह उत्तम उपाय रागिगणों ने खोजा है।

योगी कहते हैं कि इन दोषों के छूटने तक श्रवणाभ्यास करना चाहिये तभी सही शास्त्रार्थ जाना जाता है 'दोषपञ्चकशान्त्यन्तं कर्तव्यं श्रवणं बुधैः। ततः शास्त्रजविज्ञानमप्रमादं भवेत्तराम्।।' ये श्लोक किसी स्मृति से उन्होंने उद्धृत किये हैं।

'मन्ये विदितम्' में 'मन्ये' से जो मननकर्तृत्व प्रतीत हुआ था उसका भी 'न मन्ये' से निषेध समझ लेना चाहिये।

शिष्यप्रतिवचनम्

नाऽहं मन्ये सुवेदेति नैवाहं मन्ये 'सुवेद ब्रह्म' इति।

शिष्य का उत्तर

शिष्य कहता है 'मैं ऐसा नहीं मानता कि मैं ब्रह्म को 'अच्छी तरह' जानता हूँ।' यह 'यदि मन्यसे सुवेदेति' का जवाब हो गया।

'अह' इति पाठेऽर्थः

अह *इत्यवधारणार्थो निपातः, 'नैव मन्य' इत्येतत्।*

'अह' पाठ में अर्थ

शाखान्तर में 'नाहम्' की जगह 'नाह' पढ़ा जाता है। सायणाचार्य श्रुति में पाठभेद को शाखाभेदनिबन्धन मानते हैं। उस पाठ का भी अर्थ कर देते हैं — 'अह' यह शब्द 'ही'-अर्थ बताया करता है अतः 'नहीं ही मानता' यह तात्पर्य है। अव्ययविशेष को निपात कहते हैं यह 'अधि' के विचार में (१.३) बता चुके हैं।

द्वितीयपादार्थः

'नैव तर्हि विदितं त्वया ब्रह्म' इत्युक्त आह— नो न वेदेति वेद च। *यावदपरिनिष्ठितं विज्ञानं तावत् 'सुवेद – सुष्ठु वेदाहं ब्रह्म' इति विपरीतो मम निश्चय आसीत्, सोऽपजगाम भवद्भिर्विचालितस्य यथोक्तार्थमीमांसाफलभूतात् स्वात्मब्रह्मत्वनिश्चयरूपात् सम्यक्प्रत्ययाद् विरुद्धत्वात्। अतो नाह मन्ये सुवेदेति।* वेद च इति 'च'-शब्दाद्—न वेद च। *यस्माच्च तत्रैव 'न वेद' इति मन्य इत्यनुवर्तते, अविदितब्रह्मप्रतिषेधात्। कथं तर्हि मन्यसे?—इत्युक्त आह* 'वेद च।' *'च'-शब्दाद्—वेद च, न वेद चेत्यभिप्रायः, विदिताऽविदिताभ्यामन्यत्वाद् ब्रह्मणः। तस्माद् 'मया विदितं ब्रह्म' इति मन्य इति वाक्यार्थः।*

मंत्र के दूसरे चरण का अर्थ

जब शिष्य ने कहा कि ''अच्छी तरह' जाना ऐसे नहीं मानता' तो किसी ने पूछ लिया 'तब क्या तुमने ब्रह्म जाना ही नहीं?' इस पर उसने कहा 'नहीं जाना ऐसा भी नहीं क्योंकि जानता हूँ।' इसे भाष्यकार शिष्यमुख से ही स्पष्ट कराते हैं –'जब तक आत्मविज्ञान परिनिष्ठित नहीं हुआ था – जैसी स्थिति वाला होना चाहिये वैसा नहीं हुआ था – तब तक मुझे ऐसा ग़लत निश्चय था कि 'मैं ब्रह्म को 'अच्छी तरह' जानता हूँ'। जब आपने मुझे उस समझ के प्रति

विचलित किया, उसकी सम्यक्ता पर सन्देह उत्पन्न कराया, तब जैसी शास्त्रादि में कही है वैसी मैंने मीमांसा की, विचारादि साधन किये। उसका फल हुआ कि मुझे स्वात्मा की ब्रह्मता का निश्चय हो गया, विषयरूप से उसकी उपस्थिति नहीं रही। यही सही प्रत्यय था अतः इससे विरुद्ध होने के कारण जो पहले ''अच्छी तरह' जानता हूँ' ऐसा मान बैठा था वह 'अच्छी तरह' समझना समाप्त हो गया। इसलिये कह रहा हूँ कि ''अच्छी तरह' जानता हूँ ऐसा नहीं मानता'। विपरीत ज्ञान और सही ज्ञान का आपसी विरोध है अतः सही ज्ञान होते ही ग़लत ज्ञान समाप्त हो जाता है। ग़लत निश्चय हटाने का अकेला सक्षम साधन सही निश्चय है। पहले स्पष्ट हो चुका है कि सही ज्ञान होना मात्र पर्याप्त नहीं, दोषरहित होने से उसके सहीपन का निश्चय होना चाहिये। अतिशुद्धचित्त वाले को एक बार सुनकर भी ऐसा निश्चय हो सकता है लेकिन जो वैसे शुद्धबुद्धि नहीं हैं उन्हे विचारादि से ही वह साक्षात्कार होता है जिसका प्रामाण्य उन्हे निश्चित हो। यद्यपि आचार्य कह गये हैं कि ज्ञान अज्ञान का ही विरोधी है (पंचपा. पृ. २७) तथापि विवरणकारों ने आगे जाकर स्पष्ट किया है 'तत्त्वावभासविरोधिनः अग्रहणमिथ्याज्ञानादेः तत्त्वज्ञानेन निवृत्तिदर्शनात्' (पृ. ५९) और इसीलिये वे कह देते हैं कि जो ज्ञान से निवृत्त हो वह अज्ञान ही है, 'ज्ञाननिवर्त्यस्य चाज्ञानत्वात्' (पृ. ६३) एवं अत एव अखण्डानन्दजी साधारण नियम मानते हैं 'ज्ञानस्य विरोधिनिवर्तकतया लोके दृष्टत्वात्' (तत्त्वदी. पृ. ५९)। अतः विपरीतज्ञान या भ्रम भी सही ज्ञान से तुरन्त हट जाता है यह भाष्य यथाश्रुत स्पष्ट है। इनका आपसी विरोध यही है कि पूर्वोक्त बल वाली तत्त्वप्रमा का नाम ही अज्ञान का नाश है : 'न हि वृत्तिरज्ञाननाशिका, किन्तु अज्ञानाधिकरणक्षणावृत्तिः, वृत्तेरेवाज्ञाननाशत्वात्' (न्या. रत्न. पृ. १०)। इतना ज़रूर याद रखना चाहिये कि यह विरोध सत्यत्वनिश्चय के प्रति है अर्थात् तत्त्वप्रमा से अज्ञान-तत्कार्य में सत्यत्वनिश्चय नहीं रहता। प्रतीति तो यावत्प्रारब्ध हो सकती है। अप्रतीति तो कई चीज़ों की हमें तत्त्वज्ञान के बिना भी होती ही है, गहरी नींद में व्यक्त संसार की अप्रतीति ही है, अतः अप्रतीति तत्त्वप्रमा का फल नहीं किन्तु प्रतीयमान की सत्यता का निश्चय न रहना उसका फल है। यह भी जीवन्मुक्तिसुखानुभूतिलहरोत्सृष्ट सुधाबिन्दुओं से प्रोक्षित, श्रुति की दीप्ति को अधिक व्यक्त करने वाले न्यायों से अत्यन्त मूल्यवान्, वेदान्त के सभी पक्षों के उपपादन में तत्पर न्यायरत्नावली-ग्रंथ में समझाया है 'स्वसमानविषयका-ऽज्ञान-तत्सम्बन्ध-तदधीनदृश्यसत्यत्वधीविरोधित्वनियमस्तु तत्त्वधीमात्रस्य न व्याहतः' (पृ. ७)। आवरण का और वृत्ति का विरोध भी बताया है 'आवरणकालपूर्वत्वानधिकरणक्षणाऽव्यवहितोत्तरत्वमेव आवरणविरोधित्वम्' (पृ. १११)। अर्थात् तत्त्वप्रमा से पूर्व के क्षण में आगे आवरण रह पाये इसका सामर्थ्य नहीं है। क्षणनिवेश भी भाष्यानुसारी है क्योंकि माण्डूक्यभाष्य में (मंत्र७) कहा है 'ज्ञानस्य द्वैतनिवृत्तिक्षणव्यतिरेकेण क्षणान्तराऽनवस्थानात्' और बृहदारण्यकभाष्य में भी बताया है 'आत्मविषयं विज्ञानं यत्कालं तत्काल एव तद्विषयाज्ञानतिरोभावः स्यात्' (१.४.१० पृ. ९८)। यही इनका—अज्ञान-सत्यज्ञान का—विरोध है। इनमें सम्यक् ज्ञान ही अज्ञानादि हटाने में समर्थ है, विपरीत नहीं, यही शांकरमत है। अतएव अज्ञान अनादि कहा गया है और यह माना गया है कि तत्त्वप्रमा हमें आज तक हुई नहीं है। अतः जो कुछ लोग प्रकाश-विमर्शादि की मनगढन्त चर्चाओं से शांकर औपनिषद सिद्धान्त की समता मानना चाहते हैं वह चिन्त्य ही समझना चाहिये।

यहाँ सम्यक्प्रत्यय को मीमांसाफलभूत कहा है। अभिप्राय पूर्वोक्त ढंग से प्रतिबंधक या दोष की निवृत्ति को मीमांसाफल कहने में है। निश्चय ख़ुद तो श्रवणज है, प्रमा प्रमाण से पैदा होती है।

आगे शिष्य कहता है कि मेरा संशय-विपर्यय ही हटा हो इतना ही नहीं, मेरा तो अज्ञान भी नष्ट हो चुका है अतः **विज्ञान निश्चित है: 'नो न वेदेति' के बाद 'वेद च' कहा। 'वेद' अर्थात् जानता हूँ। 'च'—और—से कहा कि जानने पर भी वह है तो जाने गये से अन्य ही। पहले कहा 'न सुवेद' और अन्त में 'च' से भी 'न वेद' कहा तो क्या वह अविदित है? इस पर शिष्य कहता है नो 'न वेदेति - नहीं जानता' ऐसा मैं नहीं मानता। पूर्व में जो आपने उसे अविदित से अन्य कहा था, वह भी मुझे समझ आ गया है।' गुरु ने पूछा कि 'फिर क्या मानता है?' 'न सुवेद' और 'नो न वेद' दोनों नहीं मानता तो क्या मानता है? इसका उत्तर देने के लिये ही शिष्य ने कहा - 'वेद च' - 'जानता हूँ,**

नहीं जानता', यही मेरा मानना है क्योंकि ब्रह्म न जानने का और न न जानने का विषय है।' तात्पर्य यही है कि शिष्य ने यही व्यक्त किया कि 'जैसी सही समझ होनी चाहिये वैसी मुझे हो चुकी है'।

चकारस्यार्थान्तरम्

अथवा 'वेद च' इति नित्यविज्ञानब्रह्मस्वरूपतया 'नो न वेद, वेदैव चाहम्', स्वरूपविक्रियाऽभावात्। विशेषविज्ञानं च पराध्यस्तं, न स्वत इति परमार्थतो 'न च वेद' इति।

'वेद च' का अन्य अर्थ

या 'वेद च' से यह तात्पर्य समझ सकते हैं : 'नहीं जानता' ऐसा नहीं बल्कि जानता ही हूँ क्योंकि मेरा स्वरूप वह ब्रह्म है—या उस ब्रह्म का मैं स्वरूप हूँ— जो नित्यविज्ञान है, और स्वरूप कभी विकृत नहीं होता, बदलता या छूटता नहीं। किन्तु वृत्तिद्रशा में जो विशेष अनुभव है वह अनात्मभूत वृत्ति के सहारे ही अध्यस्त है, वह विशेषानुभव मैं ख़ुद नहीं हूँ अतः उस अनुभव के बारे में तो कहूँगा ल्कि 'नहीं जानता, वह अनुभव मेरा अव्यभिचरित स्वरूप नहीं है।' इस प्रकार पूर्वव्याख्या विषयतादृष्ट्या थी, यह आश्रयतादृष्ट्या है।

'नो न वेद' अर्थात् आत्मा के अज्ञान का निषेध किया कि आत्मा का स्वरूपभूत ज्ञान है, अज्ञान नहीं। आत्मस्वरूप ज्ञान यदि अनित्य होता तो उसकी उत्पत्ति से पहले या नष्ट होने के बाद अज्ञान की संभावना की जा सकती थी। किन्तु आत्मस्वरूप ज्ञान अनित्य है नहीं वह तो सनातन चैतन्य है। वही व्यापक चिन्मात्र मेरा स्वरूप है अतः कहा कि मैं न जानता हुआ कभी नहीं हूँ। इतना ही नहीं, यदि जानने के लिये मुझमें किसी हेर-फेर की, परिवर्तन की, ज़रूरत पड़ती तब भी क्योंकि परिवर्तन अनित्य ही होते हैं इसलिये शंका हो सकती थी कि मैं कभी जानता हुआ और कभी न जानता हुआ हो सकता हूँ; लेकिन स्थिति ऐसी है नहीं कि जानता हुआ होने के लिये मुझमें किसी बदलाव की आवश्यकता पड़े। स्वरूपभूत विज्ञान में परिवर्तन होना ही संभव नहीं है। जो बदलता है वह तो स्वरूप ही नहीं होता। बदलते धर्मों वाली चीज़ ख़ुद भी बदलने वाली अतः अनित्य होती है। आत्मा अनित्य है नहीं क्योंकि एक तो शास्त्र ने उसे नित्य कहा है और उसकी अनित्यता में प्रमाण हो नहीं सकता। इसलिये 'वेद च' अर्थात् जानता ही हूँ, हमेशा ही मेरा ज्ञस्वभाव एक-रस है। प्रश्न होगा कि 'जानना' वहाँ कहा जाता है जहाँ 'न जानना' संभव हो, यदि आत्मा में 'न जानते हुए होना' संभव ही नहीं तो उसे 'जानने वाला' कैसे कहें? उत्तर है कि ज़रूरी नहीं कि ऐसी संभावना होने पर ही उक्त प्रयोग हो सके। प्रायः 'खड़ा है' उसे ही कहते हैं जो चल सके लेकिन 'पहाड़ खड़े हैं, पेड़ खड़े है' आदि भी कहा-समझा ही जाता है। इसी तरह ठीक है कि सामान्य लोक में क्योंकि 'ज्ञान' से हम एक व्यवहारविशेष ही समझते हैं जो अनित्य ही होता है इसलिये 'न जानने' की अपेक्षा से 'जानना' कहा-समझा जाता है लेकिन आत्मस्थल में 'जानता होना' व्यवहाररूप जानकारी को नहीं बताता बल्कि स्वप्रकाश तत्त्व को ही बताता है। 'मीठा होना' लड्डू-पेड़े के संदर्भ में समझा जाये तो 'चीनी-युक्त होना' है किन्तु मिठास के संदर्भ में कुछ-भी-युक्त नहीं है; काँच या हीरा 'चमकता' है तो निश्चित ही रोशनी उस पर पड़ती है लेकिन क्या इतने से सूर्य या बिजली 'चमकती' नहीं? गाड़ी-घोड़े का 'चलना' ज़रूर रुकने से सापेक्ष है पर 'चलना' ख़ुद क्या कभी रुका देखा है? अतः लोकानुभवसिद्ध ज्ञानमात्र की दृष्टि से प्रश्न उचित है कि आत्मा जानने वाला कैसे कहा जाये, किन्तु विवक्षितार्थ की दृष्टि से यह प्रश्न नहीं उठ सकता। आत्मा को 'जानता हुआ' कहना और 'देवदत्त घड़ा जानते हुए बैठा है' कहना अलग-अलग 'जाननों' के अभिप्राय से है। एक जानना है सिर्फ़ परिवर्तनरूप; कह सकते हैं कि वह 'भौतिक जानना' है जिसके बारे में आज के सब वैज्ञानिक विचार कर सकते हैं, जिसे अवयव-विन्यास, रसायन या बिजली के परिवर्त्तनों के रूप में कुछ लोग समझते हैं। एक जानना है जो कूटस्थ है, जिसे उपनिषत् समझाती है। हमारा रोज़मर्रे का जानना इन दोनों 'जाननों' की खिचड़ी है। न हम कुछ लोगों की तरह घड़े की तरह 'जानने' को सर्वथा अपने से अलग भौतिकरूप से पहचानते हैं और न उसे चिन्मात्र जानते हैं। हम उसमें परिवर्तनशीलता

भी मानते हैं और उसे निज से पृथक् भी नहीं मानते। यही है खिचड़ी जानने का मतलब। यह जानना तो अनित्य है ही। किन्तु जब आत्मा को 'जानता हुआ' कहते हैं तब इस जानने के तात्पर्य से नहीं बल्कि कूटस्थ 'जानने' के तात्पर्य से। जिसे अभी हम अनित्य जानने से एकमेक किये हुए हैं, 'जानना' है वही पर एकमेक के—खिचड़ी के—ढंग से नहीं है, उससे इस दृष्टि से अलग ही है कि वह खिचड़ी नहीं है। जैसे बीन लेने पर चावल कोई नया नहीं मिलता, दाल, कंकड़ आदि से मिला हुआ नहीं रह जाता बस इतना ही होता है, ऐसे ही आत्मस्वरूप ज्ञान कोई अन्य वस्तु नहीं है, अनात्मभूत ज्ञान से—भौतिक या वृत्तिरूप ज्ञान से—मिला हुआ नहीं है, बस इतना ही है। यह विषय पूरा तो संक्षेपशारीरक के अध्ययन से ही स्पष्ट हो सकता है। यहाँ टीकाकारों ने भाष्य के 'वेदैव' इस एवकार के अभिप्राय को उक्त ढंग से अतिसंक्षेप में व्यक्त किया है। इस प्रकार 'ख़ुद के होने में ख़ुद ही प्रमाण है' या 'ख़ुद रहने पर हमेशा होने वाली जानकारी ख़ुदरूप ही है' इस तात्पर्य से भाष्यकार ने 'एव' कहा यह स्पष्ट होता है।

या तो 'सर्वं वाक्यं सावधारणम्' न्याय से 'वेद' का 'वेदैव' अर्थ समझ सकते हैं और या 'च' से एवकार और 'न वेद' इन दोनों को कहा मानकर 'च' का एक अर्थ एव-से बताकर 'न वेद' यह दूसरा अर्थ बताया कि विशेष-विज्ञान की दृष्टि से 'मैं नहीं जानता' यही कहना उचित है। चाहे उक्त भौतिक ज्ञान लें और चाहे खिचड़ी ज्ञान, वे दोनों ही आत्मस्वरूप नहीं हैं यही 'नहीं जानने' का यहाँ अर्थ है। शास्त्र का गुरुमुख से श्रवण कर और मीमांसा कर जो ज्ञान उत्पन्न हुआ वह मन की वृत्तिरूप है, भौतिक ज्ञान है, और वही इस बात को व्यक्त करता है कि व्यापकतत्त्व ही आत्मा है, परमात्मा और प्रत्यगात्मा यह भेद वास्तविक नहीं है। इसे ही 'मैं ब्रह्म हूँ' यह अखण्डाकार वृत्ति कहते हैं। उत्पन्न तो होती है वृत्ति किन्तु हम उसे कूटस्थ से एकमेक कर ज्ञान समझते हैं। यही 'विशेषविज्ञान' विशेष अनुभव है। इसमें ज्ञान को जो हम उत्पन्न हुआ और अखण्डाकार समझते हैं वह हमारी ग़ैर-समझी ही है लेकिन यह वह ग़ैर-समझी है जो सारी ना-समझी को ख़त्म करेगी। जैसे पानी में कुछ भी मिल जाने से पानी मैला हो जाता है यही उत्सर्ग है। लेकिन कतकरेणु या फिटकरी पानी में पड़ जाये तो सारी मैल—ख़ुद फिटकरी भी—बैठ जाती है और पानी साफ हो जाता है, ऐसे ही आत्मा किसी भी अनात्मा से—प्रकृत में, वृत्तियों से—एकमेक समझा जाता है तो यह ग़ैर-समझी है लेकिन अखण्डवृत्ति से एकमेक समझा जाते ही न केवल अन्य ग़लत फहमियाँ वरन् इस वृत्ति से आत्मा को एकमेक समझना रूप ग़लत फ़हमी भी रह नहीं जाती। अतएव 'मैं ब्रह्म हूँ' इस जानकारी वाला फिर आत्मा नहीं रहता यह 'न वेद' से कहा। ऐसा नहीं कि अपने को ब्रह्म से अलग समझने लगता हो, वहाँ तो 'अपना', 'ब्रह्म' और 'समझना' ये अलग-अलग हैं नहीं कि 'अपने को' 'ब्रह्म', या 'ब्रह्म को' 'मैं' यों 'समझा' जाये। जो मैं है (सत्) वही ब्रह्म है (आनन्द) वही समझना(चित्) है। परमार्थ में आत्मा ज्ञान 'वाला' नहीं जैसे रोशनी प्रकाश 'वाली' नहीं , वह स्वयं ज्ञान है। आत्मा का ज्ञान 'वाला' होना, यदि विचारदृष्टि से देखा जाये तो 'अज्ञान वाला होना है'। अर्थात् जब कहते हैं 'आत्मा ज्ञान वाला' है तब वस्तुस्थिति यह है कि हम उसे अज्ञान वाला समझ रहे हैं क्योंकि जिसे हम 'ज्ञान' कह रहे हैं वह है खिचड़ी ज्ञान और इसीलिए वह परमार्थज्ञान से अलग ही है तथा उस ज्ञानवाला हम आत्मा को खुद को समझ रहे हैं; इस प्रकार ज्ञान-भिन्न को, खिचड़ी को, ज्ञान मानकर हम कहते हैं 'हम ज्ञानवान् हैं'! अतः ज्ञानी होना ही तो अज्ञानी होना है! यही अन्योन्याध्यास भाष्यकारों ने सूत्रव्याख्या के प्रारंभ में स्पष्ट किया है। वासिष्ठ में भी यह विषय काफ़ी विस्तार से प्रकाशित है। शृंगार के द्रव्य—गहना, कपड़ा, कुंकुम आदि—सौन्दर्य नहीं है, अन्यथा बदसूरत को भी वे सुन्दर बनाते जबकि वे बना उसे और बदसूरत देते हैं। सुन्दर पर ही शृंगार सुन्दर लग सकता है। हमें दीखता है कि शृंगार से वह सौन्दर्यवान् है जबकि वस्तुतः उससे शृंगार सौन्दर्यवान् हुआ। हमने पहले उसके सौंदर्य का आरोप शृंगार पर किया और फिर शृंगारसौन्दर्य से उसे सौन्दर्यवान् समझ लिया। यह है अन्योन्याध्यास। ऐसे ही स्वरूपज्ञान के कारण ही तो वृत्ति भी ज्ञान बनी है, अब हम वृत्तिज्ञान से स्वरूप को ज्ञानवान् समझते हैं। अतः कहा कि अखण्डवृत्ति भी मनउपाधिवश आत्मा पर अध्यस्त ही है, वास्तव में आत्मा ज्ञानवान् हो ऐसी बात नहीं।

गुरुर्विचालयति

ननु विप्रतिषिद्धं— 'नाऽहं मन्ये सुवेदेति, नो न वेदेति, वेद च'—इति। यदि न मन्यसे 'सुवेद' इति, कथं मन्यसे 'वेद च' इति? अथ मन्यसे 'वेदैव' इति, कथं न मन्यसे 'सुवेद' इति? एकं वस्तु येन ज्ञायते, तेनैव तदेव वस्तु न सुविज्ञायत इति विप्रतिषिद्धं, संशयविपर्ययौ वर्जयित्वा। न च ब्रह्म संशयितत्वेन ज्ञेयं विपरीतत्वेन वेति नियन्तुं शक्यम्। संशयविपर्ययौ हि सर्वत्राऽनर्थकरत्वेनैव प्रसिद्धौ।

गुरु पुनः विचलित करने की कोशिश करते हैं

जैसे विपक्षी वकील गवाह की परीक्षा करता है तब हाकिम गवाही सच्ची समझता है ऐसे गुरु भी शिष्य की कृतार्थता के प्रति निःसंदेह होने के लिये उससे पूछते हैं – **अरे! तुम ये आपस में विरुद्ध बातें क्या बोल रहे हो 'मैं नहीं मानता कि 'अच्छी तरह' जानता हूँ', 'नहीं जानता ऐसा भी नहीं', 'जानता हूँ ही' लेकिन 'नहीं जानता'? अगर 'अच्छी तरह जानता हूँ' ऐसा नहीं मानते तो 'जानता हूँ ही' यह कैसे मानते हो? और अगर 'जानता हूँ ही' मानते हो तो यह कैसे नहीं मानते कि 'अच्छी तरह नहीं जानता'? यह तो केवल संशय या भ्रम में हो सकता है कि एक ही चीज़ जिसके द्वारा जानी जाये उसी के द्वारा वही वस्तु अच्छी तरह नहीं भी जानी जाये। संशय और भ्रम को छोड़ दें तो ये दोनों बातें आपस में विरुद्ध हैं। अगर यह नियम किया जा सकता कि ब्रह्म का संशय या भ्रम ही हो सकता है तब तो तुम्हारी जानकारी ब्रह्मज्ञान मानी जा सकती थी पर ऐसा नियम मानना संभव नहीं। प्रसिद्ध तो सब जगह यही है कि चाहे जिस विषय में हो, संशय और भ्रम से कोई पुरुषार्थ नहीं सिद्ध होता जबकि ब्रह्मज्ञान से मोक्षरूप परमपुरुषार्थ सिद्ध होना लोक व शास्त्र में प्रसिद्ध है। अतः तुम्हारा कथन ब्रह्मज्ञान को व्यक्त करता नहीं प्रतीत होता।**

शिष्यो दार्ढ्यं प्रकटयति

एवमाचार्येण विचाल्यमानोऽपि शिष्यो न विचचाल। 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' **इत्याचार्योक्तागमसम्प्रदायबलाद्, उपपत्त्यनुभवबलाच्च जगर्ज च ब्रह्मविद्यायां दृढनिश्चयतां दर्शयन्नात्मनः। कथमिति?** उच्यते— यो यः कश्चिद् नः अस्माकं सब्रह्मचारिणां मध्ये तद् उक्तं वचनं तत्त्वतो वेद, स तद् ब्रह्म वेद। ***'यो नस्तद्वेद तद्वेद' इति पक्षान्तरनिरासार्थमाम्नायः, उक्तार्थानुवादात्।*** यो नोऽ*स्माकं मध्ये स एव* तद् *ब्रह्म* वेद, *नान्यः, उपास्यब्रह्मवित्त्वादतोऽन्यस्य, यथाऽहं वेदेति।*

शिष्य अपनी दृढता व्यक्त करता है

आचार्य ने यों विचलित करने की कोशिश की पर शिष्य विचलित नहीं हुआ। 'वह विदित से अन्य ही है और अविदित से ऊँचा है' इस आगम का जो सम्यक् प्रदान आचार्य ने उसे किया था उसी से शिष्य को काफी बल प्राप्त हो गया था और आचार्याज्ञा मानकर जो उसने मीमांसापूर्वक अनुभव किया था उससे तो वह अब बलिष्ठ हो चुका था। उसे जो ब्रह्मविद्या हुई थी वह संशय-विपर्यय नहीं बल्कि दृढ निश्चयरूप थी। अपनी ब्रह्मविद्या की यह निश्चयरूपता गुरु के संमुख निवेदित करते हुए पूर्वोक्त बल से मानो गरज कर कहने लगा : 'मेरे सहपाठियों में जो कोई मेरी बात सही-सही समझा है वही ब्रह्म को जानता है, जिसे ब्रह्मस्वरूप की जानकारी नहीं उसे मेरी बात समझ नहीं आनी।'

पूर्व में 'खूँटा गाड़ने का न्याय' यही बताया था कि जब तक हिलाने पर न हिले तब तक खूँटा हिलाकर, ढीला कर, फिर ठोकना चाहिये। गुरु भी 'मीमांस्यम्' से पहले हिलाकर ठोक चुके हैं अब फिर हिलाने की कोशिश उन्होंने की और पाया कि अब यह हिलने वाला नहीं। अतः खूँटा पक्का गड़ गया है। अतः अब 'यस्यामतम्' आदि ठुकाई बेधड़क

करेंगे। (यद्यपि भाष्य में तृतीयादि मंत्र गुरुवाक्यत्वेन न मानकर श्रुतिवाक्यत्वेन माने हैं तथापि 'खूँटा न्याय' भी पहले मंत्र में टीकाकार सूचित कर चुके हैं और हिलना रुकने के बाद भी खूँटे को ठोकना पड़ता ही है अतः कथादृष्टि से उन्हे भी गुरुवाक्य मानने में कोई दोष नहीं है।)

भाष्य में शिष्य के पास दो बल बताये (i) आचार्योक्तागमसम्प्रदायबल और (ii) उपपत्त्यनुभवबल।

(i) पहले बल में तीन धागों को बट कर रस्सी तैयार की गयी है : आचार्योक्तत्व, आगम और सम्प्रदाय। यद्यपि प्रत्येक धागा भी कुछ बल रखता ही है तथापि तीनों जब बटे जाकर एक रस्सी बन जाते हैं तब उस रस्सी का बल इन तीनों के कुल बल से कई गुणा अधिक होता है यह तात्पर्य है। पहले (१.३ में) भाष्यकार ने 'आचार्योपदेशपरम्परया' और 'आगमपारम्पर्याविच्छेदम्' कहा था, यहाँ सम्प्रदाय कहा है, बात एक ही है। यह ठीक है कि सौ भी अन्धे रूप के बारे में कहें तो प्रमाण नहीं होते लेकिन जब सौ आँखों वाले किसी को हरा कहें तब जो उसे काला समझ रहा है वह अवश्य अपनी आँखें परीक्षणीय मानता है। यद्यपि आचार्य ही पर्याप्त है तथापि जब परंपरा का भी संवाद मिल जाता है तब सत्यता-निश्चय सोत्साह होता है। बिना ब्रह्म-निष्ठ गुरु मिले तत्त्वबोध संभव नहीं यह श्रौतमर्यादा सूचित की जा रही है यह भी कह सकते हैं।

कुछ लोग समझते हैं कि असाम्प्रदायिक विभिन्न व्यक्तियों का संवाद—एकवाक्यत्व—तो ज़रूर मायने रखता है पर एक ही सम्प्रदाय के नाना व्यक्तियों के संवाद की कोई कीमत नहीं क्योंकि उन्हे तो जो जानने को प्रेरित किया गया वही उन्होंने देखा है फलतः आदिप्रेरक व्यक्ति के ही छायाचित्र-स्थानीय सम्प्रदाय के अन्य व्यक्ति हैं अतः वे एक ही बात दुहरा रहे हैं जिससे संवाद की संभावना नहीं।

उपासनाधारित सम्प्रदायों की यह स्थिति मानी जा सकती है किन्तु विचारपूर्वक ज्ञान पर आधारित संप्रदाय को इस ढंग का कहना भूल होगी। वेदान्ताचार्यों की घोषणा है कि जो सम्प्रदाय नहीं जानता वह वैसे ही उपेक्षा के योग्य है जैसे कोई मूर्ख, चाहे शास्त्र उसने सब बाँच रखे हों। सविचार-ज्ञान-संप्रदाय इस पर बल देता है कि विचार में नवीनता हो; पूर्वपक्ष का उपस्थापन घोरतर हो; शङ्काओं की कल्पना की जाये। श्रुति, गीता, सूत्र, गौडपाद, भाष्यकार, वार्तिक, पद्मपाद, भामती, विवरण, संक्षेपशारीरक, खण्डन, चित्सुख, नृसिंहाश्रम, शङ्करानन्द, विद्यारण्य, मधुसूदन, अप्पयदीक्षित, गौड ब्रह्मानन्द आदि का आपात अवलोकन भी यह स्फुट कर देता है। इनमें किसी ने भी स्वयं को पुराने ढर्रे में बाँध कर नहीं रखा। सभी ने कई तरह की नई संकल्पनायें उपस्थित की हैं और विचार-परिपाटी में ही अन्तर लाया है। किसी ने रहस्यात्मक अनुभूति की ओर से प्रवृत्ति की है, किसी ने आचारात्मक अभिव्यक्ति की सार्थकता के आधार पर सत्य का महत्त्व समझा है, किसी ने वचन-सामंजस्य को स्थापित करने की प्रक्रिया अपनाई है, किसी ने बौद्ध युक्तियों को आधार मानने में संकोच नहीं किया है, किसी ने शास्त्र और तर्क के सन्तुलन पर बल दिया है, किसी ने मीमांसा की स्थापनाओं को संदेहदृष्टि से देख कर विचार किया, किसी ने मीमांसास्थापनाओं को लोकसिद्ध मानकर उन्हे अनुकूल रखते हुए चिन्तन किया है, किसी ने षड्दर्शनी की मान्यताओं को आत्मसात् कर दुरुक्तचिन्ता-पर्यन्त विश्लेषण का ढंग अपनाया है, किसी ने यौक्तिक क्रम के निर्माण को दृष्टि में रखा, किसी ने शब्दार्थ के निर्धारण को ही विशेष महत्त्व का समझा, किसी ने तार्किक परिभाषाओं की निर्मम आलोचना का मार्ग अपनाया, किसी ने उन्हीं परिभाषाओं में बँधकर उनकी परीक्षा की और यौक्तिक परिभाषाओं की स्थापना की है, किसी ने कुछ परिभाषाओं को परिष्कृत और कुछ अभिनव परिभाषाओं को उद्भावित किया है, किसी ने समस्याओं को अनेक विकल्पों में बाँट कर हर विकल्प का विस्तार से विवेचन कर तथा लौकिक शब्दप्रयोगों को मूल्य देकर अपने भाव व्यक्त किये हैं, किसी ने 'चित्र-चिन्तन' की शैली से नाना रूपकों (models) द्वारा अभिप्राय-अभिव्यक्ति के सार्थक प्रयास किये हैं, किसी ने अपने मत को नपे-तुले शब्दों में बाँध कर फिर संभव तार्किकविरोधों के परिहार से और साधनविषयक समन्वयात्मक नवीन प्रयोग से अपनी समझ पुरस्कृत की है, किसी

ने भावना की सर्वोत्कृष्ट भूमिका पर आरूढ होकर तब शास्त्रमर्यादा से तत्त्वनिर्धारण किया है, किसी ने हर विचार की इतनी सूक्ष्मता तक जाने का ढंग अपनाया है कि समझने में मुश्किल भले ही हो गया हो पर एक बार समझ लें तो उस विचार को अन्य विचारों रूप भूसे के ढेर में भी सरलता से पहचान लें; इत्यादि अनन्त विलक्षणतायें आचार्यों में सहज ही देखी जा सकती हैं। सुरेश्वराचार्य, भामतीकार, श्रीहर्ष, मुधुसूदन स्वामी और अप्पय दीक्षित कम-से-कम वेदांतसम्प्रदाय के वे सर्वमान्य आचार्य हैं जिन्हे 'जो जानने को प्रेरित किया वह देखा' वाली कोटि में कोई भी गिन नहीं सकता। सुरेश्वर-मधुसूदन-अप्पय का त्रिक तो मतान्तरप्रविष्ट था यह ऐतिहासिकों से छिपा नहीं है। अत: उपासनासम्प्रदाय्रों का न्याय विचारसम्प्रदाय पर लागू किया जायेगा तो उसे अन्याय ही कहना पड़ेगा।

शंका होगी कि यदि इतनी स्वतंत्रता है तो संप्रदाय पर बल क्यों? इसका समाधान सूचित तो किया ही जा चुका है कि यह एक सुरक्षा-प्रबन्ध है : तात्पर्य है कि सामान्य व्यक्ति ऐसी प्रज्ञा वाला नहीं है कि ख़ुद सत्य समझे अत: उसके लिये एक सुरक्षित प्रारूप निर्मित किया गया है जिससे क़दम-क़दम वह बढ़ सके। जो स्वयंप्रज्ञ है (या जिस पर दिव्यानुग्रह है) वह तो सत्य जान लेगा यदि अविच्छिन्न परंपरा का लाभ न हो तो भी। भाष्यकार ने अत एव असंप्रदायवित् को उपेक्षणीय ही कहा, वह सत्य से अनभिज्ञ है यह नहीं कहा। अभिप्राय है कि उससे हम सीखने जायें इसके लायक वह इसलिए नहीं कि उसकी प्रज्ञा किसी के द्वारा परीक्षित नहीं हुई है। ख़ुद वह यदि सत्य पर पहुँचा है तो वह ब्रह्मनिष्ठ ही है इसमें संदेह नहीं। हम उसकी उपेक्षा करें इससे उसे तिलभर भी अंतर नहीं आता। कथानक के अनुसार आचार्य ने काशी में चाण्डाल से यह नहीं पूछा 'तुम किस गुरु के शिष्य हो?' उन्होंने सीधे ही स्वीकारा कि सत्य प्रज्ञा जहाँ है वह ब्रह्मवित् है, ब्रह्म ही है। उसकी सम्प्रदायहीनता से वह उपेक्षणीय हो सकता है लेकिन वेदान्तमर्यादा उसके ब्रह्मज्ञत्व में शंका नहीं रखती। लोक में भी परीक्षक यदि परीक्ष्य से अन्य हो तब परीक्षा का मूल्य अधिक होता है बजाये इसके जब परीक्ष्य ही परीक्षक हो। किन्तु यह मूल्य परदृष्ट्या है; स्वदृष्ट्या तो परीक्ष्य ख़ुद ही परीक्षक रहता है। अत: यहाँ भी साधकदृष्ट्या सिद्ध की साम्प्रदायिकता का मूल्य है, सिद्धदृष्ट्या तो वह खुद ही संप्रदाय है क्योंकि संप्रदाय का जो कुछ हुआ है वह सब उससे अलग नहीं रह गया है।

आचार्योक्तत्व और संप्रदाय के साथ तीसरा धागा आगम है। यह औत्सर्गिक नियम है कि प्रमा प्रमाण से होती है। अपवाद यहाँ भी सुलभ हैं : वस्तुगत्या वह्निमान् पर्वत पर उड़ती धूल को धूम मानकर किया 'पर्वतो वह्निमान्' निर्णय प्रमा तो है ही, प्रमाणमूलक भले ही न हो। ऐसे ही जिह्वादोषादि से कभी वक्ता एक-आध अक्षर ग़लत भी बोल जाता है तो प्राय: श्रोताओं को पता नहीं चलता, वे तो 'सही' शब्द ही 'सुन' लेते हैं और शाब्दबोध ठीक ही होता है, विवक्षितार्थ ही समझते हैं और 'यही हमने सुना' ऐसा उन्हे निश्चय रहता है। अत: अबाधितार्थकता से प्रमा निश्चित रहती है, प्रमाण-जन्य न होने मात्र से वह अप्रमा नहीं हो जाती। ऐसे अनेक अपवाद होने पर भी सही जानकारी का मान्य उपाय तो प्रमाण ही माना जाता है। इसी तरह आत्मप्रमा बिना आगम के हो नहीं सकती ऐसा नहीं कहते लेकिन उसका मान्य उपाय तो आगम ही रहेगा। यद्यपि व्याख्याताओं ने अनेक वचनों के गंभीरतर अभिप्रायों के संगत आविष्कार किये हैं जो सहृदयों को जँचते भी हैं तथापि वेदान्तों की यह महत्ता कही जा चुकी है कि वे प्रतिज्ञापूर्वक तात्पर्यत: सत्य के प्रकाशक हैं इसे समझने के लिये कठोर वाक्यशास्त्रीय मर्यादाओं में बँधकर विचार किया जा सकता है, केवल सहृदयों को सुनायी देने वाली ध्वनि का भरोसा नहीं करना पड़ता (यद्यपि वह भी यहाँ सुस्पष्ट रहती है)। 'निष्पीडितादहह निर्वहते विचारात्' से हर्षमिश्र ने इसे व्यक्त किया है। अत: वेदान्तों को ही आगमशब्द से समझने का हमारा आग्रह है न कि यह मानना है कि ग्रन्थान्तरों का ऐसा अभिप्राय वर्णित किया नहीं जा सकता। अन्य प्रबंधों के अर्थों में विकल्प संभावित रहेंगे और घोर विचार करने योग्य ढंग से वे ग्रन्थ उपस्थित ही नहीं हैं तथा न उनके साम्प्रदायिक अध्येताओं ने ऐसे न्यायों का उद्भावन किया है जिनके परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति उन ग्रंथों का परीक्षण कर सके। अत: स्वमनीषा से उनका आध्यात्मिकादि तात्पर्य समझा जा सकता भले ही है, और अनेकों ने संभवत: समझा भी है, लेकिन उसी तात्पर्यविशेष में उन्हे नियत करना संभव

नहीं है। वेदान्तों में यह संभव है, सभी आचार्यों ने श्रवणरूपसे यही किया भी है। प्रश्न होगा कि वैष्णवादि वादी वेदान्तों से द्वैतादि भी समझते हैं तो वेदान्तों को निर्णीततात्पर्य वाला कैसे कहें? उत्तर है कि प्रथमतः तो वैष्णवादि वेदान्तों से द्वैतादि नहीं समझते हैं। उनका ख़ुद का कहना और विश्वास है कि उनको वास्तविकता स्वसंप्रदायलब्ध वैखानसादि आगमों से पता चलती है। अतः उन्हे ही वे निरपेक्ष प्रमाण मानते हैं। वेदान्तों का वे तदनुरोध से उन्नयन करते हैं। द्वैती तो शारीरकमीमांसा तक को 'ब्रह्मतर्क' आदि के सापेक्ष मानते हैं, स्वयं में पर्याप्त शास्त्र नहीं स्वीकारते। तथाकथित अद्वयवादी त्रिकदार्शनिकों की भी तान्त्रिकश्रद्धा वेदप्रावण्य की उपरोधक ही रही है यह स्पष्ट है। अतः वेदान्तों से द्वैतादि समझते हैं यही बात नहीं है। दूसरी बात यह है कि वे लोग जो अन्यथानयन करते हैं वह वाक्यशास्त्रीय मर्यादाओं के विरुद्ध ही करते हैं यह सभी विद्वानों को प्रत्यक्ष है। 'उपक्रमपराक्रम', 'मध्वतंत्रमुखमर्दन', 'शांकरपादभूषण', 'शतभूषणी', 'वेदान्तसुधा' आदि प्राचीन-अर्वाचीन आलोचनाओं में यह विषय और भी व्यक्त किया गया है। अतः वे जो कोशिश करते हैं वह भी अर्थनिर्धारण की मान्य प्रक्रियाओं को ताक पर रखकर, जिससे वह एक मनमानी हो जाती है। ऐसा नहीं कि वे यह न समझते हों, वे इसे स्वीकारते हैं कि वे नये ढंग के न्याय निकाल रहे हैं। उनके आदिगुरु तो लोक-शास्त्र सर्वत्र अत्यन्त अप्रसिद्ध 'शाखाओं' की 'श्रुतियाँ' उद्धृत कर अपना पक्ष पुष्ट करते हैं यह सभी जानते हैं। वे 'श्रुतियाँ' अपने संदर्भों सहित न उन्होंने बतायी हैं, न उनके साम्प्रदायिक शिष्यों को उपलब्ध हैं कि उनकी परीक्षा की जा सके। अतः वेदान्ततात्पर्य संशयित है यह भ्रम संभव नहीं। अत्याधुनिक माध्व भी अद्वैत को अवैदिक भले ही घोषित करने का साहस करते हैं पर द्वैत को वैदिक कहने की हिम्मत नहीं बटोर पाते। उन्हे मान्य पदार्थ वेदों मे ध्वनित भी नहीं हैं यह उन्हे भी स्पष्ट ज्ञात है। अतः आगम का बल मिल जाने से यह आचार्य-संप्रदाय-आगम की रस्सी काफ़ी मज़बूत हो जाती है।

(ii) दूसरा है 'उपपत्त्यनुभवबल'। प्रामाण्यस्वतस्त्व और मीमांसितत्व के विचार में इस बल को स्पष्ट किया जा चुका है। भाष्यकार ने न केवल श्रुति आदि को वरन् 'अनुभवादि' को ब्रह्म में प्रमाण माना है क्योंकि ब्रह्मज्ञान 'अनुभवावसान' है (सू.भा.१.१.२)। वहाँ आनन्दगिरिस्वामी लिखते हैं 'श्रुत्यादीनाम् अनुमानादीनां च शब्दशक्तितात्पर्यावधृतिद्वारा अनुभवमुत्पाद्य ब्रह्मणि प्रामाण्यम्, अनुभवस्य साक्षादेव तदविद्याध्वंसित्वेनेति'। अतः श्रुति से भी अनुभव का स्थान उच्च है। आचार्योक्त्यागमसम्प्रदायबल तो सेनास्थानीय है जबकि यह निजी बल है जो सेना रहने-न रहने से बदलता नहीं। अनुभव का अर्थ कल्पतरु में (पृ.९०) किया 'इहानुभवः स्वरूपाभिव्यक्तिः, न वृत्तिः। ......न वृत्तिरनित्यत्वाद्विचारस्य पुष्कलं फलमित्यर्थः।' अर्थात् साक्षात्कार को यहाँ अनुभवबल कहा जा रहा है। निरज्ञान चित् ही साक्षात्कार है। यह होता वृत्ति से है पर इसे बने रहने के लिये वृत्ति चाहिये नहीं। आत्मा अपरोक्ष होने से ज्ञान इसका अपरोक्ष होने पर भी दोषों के कारण परोक्षवत् रहता है। दोष हटने से; उपपत्ति से; अपरोक्ष ही रहता है। यह भी विषयतया या आश्रयतया अपरोक्ष नहीं है यह कहा ही जा चुका है। सामान्यतः किसी से कहें 'तुम बहुत सुखी हो' तो उसे 'मैं सुखी हूँ' यह ज्ञान तो हो जाता है पर अपने सुख का साक्षात्कार वह नहीं कर पाता। उसे बतायें 'तुम्हारा शरीर, इंद्रियाँ, मन आदि स्वस्थ हैं, माता-पिता आदि की छत्रछाया है, पत्नी-पुत्रादि विनयी हैं' इत्यादि तब कुछ समय तक उसे अपने सुख का साक्षात् अनुभव भी हो जाता है। पुनः अन्य वार्ताओं में लगता है तो वह साक्षात्कार रहता नहीं यद्यपि यह नहीं कह सकते कि तब वह सुख नहीं रहा। बहुत कुछ इसी तरह आत्मा की समझ परोक्ष-अपरोक्ष-परोक्ष होती रहती है। मनन-निदिध्यासन या पूर्वोक्त मीमांसा से यही होता है कि अपरोक्ष टूटता नहीं, बीच-बीच में परोक्षवत् भान नहीं होता। यद्यपि 'भान' से निश्चय ही अभिप्रेत है तथापि लगभग सब आचार्यों के अनुसार यथासंभव परोक्षवद् भान भी प्रारब्ध के अतिशय वेग से ही स्वल्प ही हो तभी बलिष्ठ साक्षात्कार कहना उपयुक्त होता है। इसी दृष्टि से कुछ आचार्यों ने भूमिकारोहण को जीवन्मुक्ति का क्रम माना है। जिस पक्ष में विचार ही पर्याप्त उपाय है उस पक्ष में दृढ साक्षात्कार के बाद परोक्षवद् भान आदि को आहार्यवृत्ति माना जाता है। यह न्यायरत्नावली में (पृ.२९) दर्शनीय है। यद्यपि अप्रतीति को अधिक महत्त्व वेदान्तप्रक्रियाओं में दिया नहीं जाता तथापि साधकावस्था में भेदप्रतीति को न्यून-न्यूनतर करना ही विहित होने से तादृश संस्कारों से प्रायः अनुभवदशा

में भी भेदप्रतीति में वृद्धि तो इष्ट नहीं ही है। हर हालत में उस प्रतीति को प्रारब्धहेतुक मानकर और आधिकारिकों से अन्यों के लिये प्रारब्ध भी प्राय: वर्तमान जन्म में सीमित मानकर प्रतीति को अनिवार्य होने से ही स्वीकारा गया है यह तो स्पष्ट है। लघुचंद्रिका के प्रारंभ में ही 'विदेहताकालीनोऽस्तमय एव मुख्यो मोक्ष:' कहकर यही व्यक्त किया है। अत: परोक्षवद् भान की कमी भी निष्ठादार्ढ्य में उपयोगी है यह मना नहीं किया जा सकता। प्रकृत में तो उपपत्तिसहित अर्थात् मीमांसित अनुभव को ही भाष्यकार ने बल कहा है। तात्पर्य है कि श्रुत मत का साक्षात्कार दृढ होने से शिष्य मुक्त है चाहे जीवनकाल में उसकी दृढता में तारतम्य रहे। वस्तुतस्तु लघुचंद्रिका के उक्त वाक्य का अभिप्राय ऐसा समझना चाहिये कि जीवन्मुक्ति का जीवन्-अंश मोक्ष की छाया है : आत्मा ही मोक्ष है। जैसे सच्चित् और आनन्द की छाया चित्त में पड़ती है ऐसे ही मुक्तात्मा की – अर्थात् मोक्ष की – छाया भी चित्त में पड़ती है। वह जो प्रतीयमान अहंकार है – 'प्रतीयमान' इसलिए कि वह तादात्म्याध्यासस्वरूप नहीं है, आहार्यस्वरूप है – वह जैसे है, जैसे जानता है, जैसे प्रिय है वैसे ही मुक्त है। जिस तरह गहना पहने हुए का प्रतिबिम्ब ही गहना पहने दीखेगा, गहना पहनने से पूर्व उसी का प्रतिबिम्ब बिना गहने ही दीखेगा इसी तरह मोक्ष (अविद्यानिवृत्ति) से पूर्व आत्मा का चित्त में प्रतिबिम्ब पड़ने पर भी प्रतिबिंब मुक्त (या मोक्ष) नहीं दीखता पर मोक्ष के बाद प्रतिबिम्ब मुक्त ही दीखता है। प्रतिबिम्ब होने से उपाधिधर्मादि का इसमें उल्लेख स्वाभाविक है। निवृत्ताविद्य आत्मा तो एकरूप तारतम्यरहित मोक्ष ही है, उसकी अपेक्षा से जीवन्मुक्ति व विदेहमुक्ति का भेद नहीं। उसका प्रतिबिम्ब ही जीवन्मुक्त है और इसी की अपेक्षा से आत्मा विदेहमुक्त है। उपाधिपक्षपाती होने से इसमें तारतम्यादि भी होना संगत है। भाष्यकार जिसे मोक्षहेतु ज्ञान कहते हैं वह अविद्यानिवृत्ति करने वाला है। उससे अतिरिक्त जो दृढता का प्रसंग आता है वह जीवन्मुक्त या प्रतिबिम्बमोक्ष के संदर्भ में है। अत: यहाँ शिष्य को मुक्त मानकर भाष्य प्रवृत्त हुआ है और उसी का प्रतिबिंब गर्जना करता बताया जा रहा है।

श्रुति के 'न:' से भाष्य में सहपाठियों का उल्लेख माना है। यदि ऐसा न मानकर सामान्य अर्थ मानें तो अभिप्राय होगा कि 'हम में—इसमें गुरु भी शामिल हैं—जो समझा है' इत्यादि। अर्थात् शिष्य कह रहा है कि यदि 'गुरुजी भी मेरी बात नहीं समझे तो वे भी ब्रह्मज्ञ नहीं हैं!' बिना ब्रह्मनिष्ठ से उपदेश मिले कोई ब्रह्मज्ञ हो नहीं सकता अत: ऐसी शिष्योक्ति असंभव जानकर भाष्य में सहपाठियों का परामर्श माना है, फिर भी इस सामान्य उक्ति में ओज अधिक व्यक्त होता है।

शिष्य के कथन से यह भी निश्चित होता है कि ब्रह्मविज्ञान का और कोई ढंग नहीं है। ऐसा नहीं है कि विदित या अविदित उसे समझा जाये और वह सही ज्ञान हो। यही कहते हैं –'**यो नस्तद्वेद तद्वेद**' यह कथन इसलिये है ताकि **शिष्य ने जो समझ पायी है उससे अन्य कोई सही समझ परमात्मा की हो सकती है यह संभावना समाप्त हो जाये। क्योंकि शिष्य ने अपनी जानकारी बताते हुए भी 'नो न वेदेति वेद च' कहा था और उसे ही ब्रह्मवेत्ताओं द्वारा ही समझा जा सकने वाला वाक्य मानकर दुहराया है, इसलिये वह इससे अन्य किसी जानकारी को ब्रह्मविज्ञान नहीं मान रहा यह पता चलता है। उसका कहना है 'हममें से जो उस ब्रह्म को विदित-अविदित से अन्य समझता है वही मेरी बात भी समझेगा, अन्य नहीं। जैसा मैंने समझा है उससे अन्य अर्थात् किसी प्रकार से जो जानता है वह उपास्य ब्रह्म का ही जानकार है, परब्रह्म का नहीं**। परमात्मा निर्विशेष होने से ब्रह्मप्रमा निष्प्रकारक ही हो सकती है। उसमें कोई प्रकार भासे तो निश्चित ही सविशेष जाना जा रहा है। छायामुक्त को अन्य अधिकारी आदि दीखना सुसंगत होने से अन्यों को सप्रकारक ज्ञान में ब्रह्मप्रमात्व का बोध न हो इसलिये शिष्य ने यह स्पष्ट किया कि सही समझ यही है, अन्य नहीं। यह तो याद रखना ही चाहिये कि इन शब्दों में बँधकर बोध को नहीं कहा जा रहा। विदित-अविदित से अन्य कहना, धर्म-अधर्म से अन्य कहना, हिलने और न हिलने वाला कहना, सभी का तात्पर्य एक ही है। अत: टीका के 'प्रकारान्तरेण' या 'अन्येन प्रकारेण' का यह मतलब नहीं है कि शिष्य ने भी किसी 'प्रकार' से जाना है और उससे अन्य प्रकार का यह निषेध किया है। मतलब यही है कि उसने किसी 'प्रकार' से नहीं जाना और वह सभी 'प्रकारों' का निषेध कर रहा है।

गुरुशिष्ययोरेकवाक्यता

किं पुनस्तद्वचनम्? इत्यत आह— नो न वेदेति वेद च इति। यदेव 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' इत्युक्तं वस्तु अनुमानाऽनुभवाभ्यां संयोज्य निश्चितं वाक्यान्तरेण, 'नो न वेदेति वेद च' इत्यवोचद्; आचार्यबुद्धिसंवादार्थं, मन्दबुद्धिग्रहणव्यपोहार्थं च। तथा च गर्जितमुपपन्नं भवति— 'यो नस्तद्वेद' इति।

'वेद च' इति पक्षान्तरे ब्रह्मवित्त्वं निरस्यते। कुतोऽयमर्थोऽवसीयत इति? उच्यते— उक्तानुवादाद्; उक्तं हि अनुवदति— 'नो न वेदेति वेद च' इति।।२।।

गुरु-शिष्य की एकवाक्यता है

वह कौन-सा वचन है जिसे सचमुच सिर्फ़ तत्त्वज्ञानी समझ सकता है? यही वचन है : 'नो न वेदेति वेद च'।

कोई यह न समझे कि आचार्यवचन से अन्य ही कोई वचन शिष्य ने उपस्थित किया है इसलिये भाष्यकार स्पष्ट करते हैं - जो परमार्थ वस्तु 'वह विदित से अन्य ही है और अविदित से ऊँचा है' (१.३) द्वारा आचार्य ने कही थी उसे ही अनुमान और अनुभव से उपोद्बलित कर अपने लिये निश्चित कर 'नो न वेदेति वेद च' इस अन्य वाक्य से शिष्य ने कही है। दोनों वाक्य एक ही वस्तु कह रहे हैं। कहा उसने इसलिये कि आचार्यप्रत्यय से अपने प्रत्यय का संवाद स्थापित किया जा सके और इसलिये भी कि आचार्य यह समझकर कि 'यह मन्दमति है, मेरा उपदेश नहीं समझा' मुझे समझाने के उपायान्तर ढूँढने में व्यग्र न हों। इन प्रयोजनों के कारण ही उसका गर्जन करना संगत है। आचार्य की बात से अलग बात कह रहा होता तो यह गर्जना संगत नहीं होती। आचार्य ने कहा 'मीमांसा करो।' मीमांसाकर लौटने पर शिष्य वही बतायेगा जो गुरुवाक्य से वह समझा है। यही बताने में उसने 'नो न वेदेति वेद च' कहा और इसे ही ऐसा वाक्य कहा जो ब्रह्मवेत्ता ही समझ सके अतः स्पष्ट होता है कि गुरुवाक्योक्त अर्थ ही वह स्ववाक्य से कह रहा है। यदि अर्थान्तर कहता तो गुरु को जो प्रतिवचन दिया था उसकी अपेक्षा अन्य ही कोई शब्दरचनादि की होती। अतः शिष्य ने गुरु के उपदेश को जैसा समझा है वैसा ही व्यक्त किया है।

'वेद च' पर्यन्त के वाक्य से शिष्य न केवल आचार्य-प्रत्यय से संवाद स्थापित कर रहा है वरन् यह भी स्पष्ट कर रहा है कि इससे अन्य किसी पक्ष का समाश्रयण करने पर परब्रह्म की जानकारी नहीं हो सकती। यह बात कैसे निर्धारित होती है? इसलिये कि उसने पूर्वोक्त का ही पुनः कथन किया है। 'नो न वेदेति वेद च' यही उसने गुरु को जवाब दिया था और यही उसने फिर कहा कि यही वह वाक्य है जो तत्त्वज्ञ ही समझ सकता है। अतः पता चलता है कि वह पक्षान्तर में ब्रह्मज्ञता नहीं हो सकती यह कह रहा है। अभ्यास को तात्पर्यसूचक माना गया है। अभ्यास से अभ्यस्यमान की अर्थान्तर की अपेक्षा उत्कृष्टता पता चलती है ऐसा लघुचंद्रिका में (पृ.४२५) बताया है। इस उत्कर्ष से वह तात्पर्यविषय है यह निर्धारित हो जाता है। अतः अविषय रूप से ही ब्रह्मानुभव होता है इस बात को अभ्यास से बताकर स्पष्ट किया जा रहा है कि यही उत्कृष्ट अनुभव है। अन्य अनुभव इससे निकृष्ट ही हैं, परब्रह्म के अनुभव नहीं हैं।२।।

तृतीयो मन्त्रः

अथाऽनाख्यायिकाश्रुतिवचनम्

'यस्याऽमतम्' इति श्रौतम् आख्यायिकार्थोपसंहारार्थम्। शिष्याचार्योक्तिप्रत्युक्तिलक्षणयाऽनुभवयुक्ति-प्रधानयाऽऽख्यायिकया योऽर्थः सिद्धः स श्रौतेन वचनेन आगमप्रधानेन निगमनस्थानीयेन सङ्क्षेपत उच्यते। शिष्याचार्य-

संवादात् प्रतिनिवृत्य स्वेन रूपेण श्रुतिः समस्तसंवादनिर्वृत्तमर्थमेव बोधयति 'यस्याऽमतम्' इत्यादिना।

आख्यायिका समाप्त कर श्रुति का वचन

'यस्याऽमतम्' आदि मन्त्र आख्यायिका के तात्पर्य का उपसंहार करने के लिये श्रुति में आया है। 'केनेषितम्' से 'वेद च' तक शिष्य-आचार्य के सवाल-जवाब के ढंग से प्रचलित कथा में अनुभव और युक्ति की प्रधानता रही। उस कथा से जो अर्थ निष्पन्न होता है उसे संक्षेप में यह मंत्र कहने जा रहा है। यहाँ सर्वथा नयी बात नहीं कहेंगे बल्कि जैसे परार्थानुमान की समाप्ति में पुनः कह दिया जाता है कि अमुक बात निश्चित हुई वैसे केवल कह देंगे कि गुरु-शिष्य के संवाद का सारार्थ यह हुआ। जिस तरह काव्यादि में कुछ वचन नायक के होते हैं, कुछ नायिका के और बाकी परिस्थिति आदि का वर्णन कवि का वचन कहा जाता है जबकि वास्तव में तो सारा ही काव्य कवि का ही वचन है उसी तरह यहाँ पूर्व ग्रंथ शिष्य या आचार्य के वचन थे और अब श्रुति का वचन है। अतः इस मंत्र में श्रुति शिष्य-आचार्य संवाद की शैली छोड़कर सारे संवाद से निष्पन्न अर्थ को ही अपनी तरफ से समझाती है। जैसे काव्यादि में प्रायः मानते हैं कि पात्रों के मुख से कही बात ज़रूरी नहीं कि कवि को संमत मत हो क्योंकि पूर्वपक्षादि का स्थापन भी इस ढंग से किया जाता है, किन्तु जो पात्रों के मुख से न कही बात होती है वह अवश्य कवि का सिद्धान्त माना जाता है ऐसे ही किसी को लग सकता है कि संवादरूप से कहने में श्रुति का यही अभिप्राय होगा कि 'कुछ लोग ऐसा मानते हैं' अतः यह श्रुतिसंमत बात नहीं होगी; ऐसा भ्रम न हो जाये इसीलिये श्रुति अब कथोपकथन की प्रक्रिया छोड़कर उक्त अर्थ का वर्णन करना प्रारंभ करती है जिससे निश्चित हो कि पूर्वोक्त बातें श्रुति को सिद्धान्त रूप से अभिप्रेत हैं।

यदि शंका हो कि आचार्य को पता कैसे चला कि यहाँ तक श्रुति ने गुरुमुख या शिष्यमुख से कहा और आगे उनके मुखों से नहीं कह रही है? तो उत्तर स्पष्ट है: 'केनेषितम्' आदि शिष्यवचन है यही कैसे पता चला? ख़ुद भी पूर्वपक्ष उठाये ही जाते हैं। 'त्वं विद्धि' आदि मनुष्यसामान्य को विषय कर सकता है जैसे कर्मविधियाँ करती ही हैं। ऐसे ही 'यदि मन्यसे' भी वेदाध्येता को कहा जा रहा है। इसी दृष्टि से 'मन्ये विदितम्' आचार्योक्तित्वेन भी अन्वित कर दिया था। 'नाऽहम्' से भी उपदेष्टा ऋषि ही अपनी समझ व्यक्त करें इसमें कोई असंगति नहीं। एवं च श्रुति ने ख़ुद यह व्यक्त नहीं किया है कि यह संवाद है जैसे अन्यत्र कठ, प्रश्न, मुण्डक, भृगुवल्ली, श्वेतकेतु आदि प्रसंग, याज्ञवल्क्य संवाद, इन्द्र-प्रतर्दन संवाद, श्वेताश्वतर आदि में वही स्पष्ट करती है कि संवाद है। अतः भाष्यकारों ने ही समझने की सरलता सोचकर यह स्वाभाविक ढंग अपनाया और श्रुतिवचनों का शिष्योक्ति-आचार्योक्ति में विभाजन किया। अतः अब संवाद का समापन भी वे मान रहे हैं तो इसमें शंका का क्या मौका है?

'यस्यामतम्' आदि गुरुवचन हो तो भी हानि नहीं यह पहले बताया जा चुका है। शंकरानन्द जी की योजना से लगता है कि वे इसे शिष्यवचन मानते हैं। अतः इस विषय में कोई आग्रह नहीं रखा जा सकता।

अवतरणिका

यदुक्तं विदितादन्यद्, वागादीनामगोचरत्वात्; मीमांसितं चाऽनुभवोपपत्तिभ्यां ब्रह्म; तत्तथैव ज्ञातव्यम्। कस्मात्? —यस्याऽमतम्।

अवतरणिका

श्रुति यों पूवोक्त का निष्कर्ष बता क्यों रही है यह समझाते हैं – वाणी आदि का अविषय होने से जिससे ब्रह्म को 'विदित से अन्य' कहा था, जिसकी मीमांसा की थी अर्थात् अनुभव तथा उपपत्ति से जिस ब्रह्म का निश्चय किया था, उसे उसी ढंग से जानना चाहिये यह हेतु-सम्मत बताने के लिये श्रुति स्ववचन से कह रही है। पहले

भाष्यकार ने कहा था 'मीमांस्यं विचार्यम्', 'मीमांस्यं... विचार्यमेव यावद्... आगमार्थानुभवः'। यहाँ 'अनुभवोपपत्तिभ्यां मीमांसितम्' कहा। अनुभव को भी मीमांसा का उपाय बता दिया। तात्पर्य है कि मनन-निदिध्यासन करते हुए जो कभी कभी निर्विशेष अनुभव होता है—चाहे क्षणिक ही हो, प्रतिबद्ध ही हो, अगले ही क्षण विपरीतभावना से अभिभूत हो जाये या मनन की अपरिपूर्णता से असंभावना से भी ग्रस्त हो जाये—उसे भी मीमांसा का अंग बना लेना चाहिये। जितना हो सके वे क्षण बढ़ाने तो चाहिये ही, साथ ही उस स्थिति पर बाद में विचार भी करना चाहिये। आख़िर वह भी हमारा ही अनुभव है अतः द्वैतादि-अनुभवों के कम-से-कम तुल्य बल वाला तो है ही। अद्वैतश्रुति से द्वैतानुभव यदि उपपन्न होता नहीं लगता तो द्वैतभूमिका से वे क्षणिक अनुभव भी उपपन्न होते नहीं। क्योंकि उन क्षणों में मन भी विषयतया भासता है इसलिये उन अनुभवों को मन की ही किंचित् स्तब्ध अवस्था मानना अंधविश्वास होगा। यह तो ठीक है कि तब मन शांत है और इसीलिये मनोगोलक में भी कुछ विशिष्ट चेष्टायें पहचानी जा सकती हैं क्योंकि शांत स्थिति में मन जगा रहे इसके लिये गोलक में चेष्टा अपेक्षित होने में कोई असंगति नहीं, लेकिन इतने से यह कहना नहीं बनता कि मन को भी विषयतया बहिर्भूत कर हुई अनुभूति भी मनोमात्र ही है। इस तरह वार्तिकरीति से जो निदिध्यासन है — श्रवण-मनन की आवृत्ति करते हुए बार-बार होने वाला निश्चय — उसे यहाँ मीमांसा का साधन बताया जा रहा है। अथवा कूटस्थदीपादि में कहा वृत्तिसंधि में आत्मस्फुरण अनुभव है, उस के प्रति जागरूक होकर फिर उस अनुभव पर विचार करना मीमांसा का अंग है यह अभिप्राय है। अथवा 'विदितान्यत्' यह गुरु द्वारा 'उक्तम्', फिर शिष्य द्वारा 'मीमांसितम्' और अन्त में शिष्य द्वारा ही 'अनुभवोपपत्तिभ्याम् उक्तम्'; हेत्वर्थक पंचमी है : अनुभव और उपपत्ति के कारण उसने पुनः ब्रह्म वैसा ही बताया जैसा आचार्य ने कहा था। इसलिए अर्थात् गुरुप्रोक्त होने से और अनुभूत व उपपन्न होने से ब्रह्म ऐसा ही जानना चाहिये, विदित या अविदित नहीं, यह भाव है।

मन्त्रः

यस्याऽमतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥२.३॥

मन्त्रार्थ

यस्य = जिसे ब्रह्म **अमतम्** = विदित नहीं है **तस्य** = उसे **मतम्** = वह सही समझ आया है; **यस्य** = जिसे वह **मतम्** = विदित लगता है **सः** = वह **न** = नहीं **वेद** = जानता। **विजानताम्** = अनुभवी विद्वानों के लिये **अविज्ञातम्** = ब्रह्म विज्ञात से अन्य रहता है। **अविजानताम्** = जिन्हे सही जानकारी नहीं है उन्ही के लिये **विज्ञातम्** = वह विज्ञात है।

पूर्व ग्रन्थ का संग्रहभूत अर्थ यही है कि ब्रह्म की समझ ऐसी नहीं कि ब्रह्म गाय-घोड़े की तरह जाना जाये। विदित-अविदित से अन्य, अव्यावृत्त-अननुगत प्रत्यङ्मात्ररूप ही ब्रह्मबोध है। अतः जानकार उसे ज्ञेयकोटि का अर्थात् विदित नहीं मानता। यद्यपि ध्येयब्रह्म और ज्ञेयब्रह्म ऐसा विभक्त वर्णन किया जाता है तथापि वह विषयतया ज्ञेयता के अभिप्राय से नहीं है, अविद्यानिवृत्ति के अभिप्राय से है। 'एतज्ज्ञेयम्' (श्वे.१.१२) आदि भी ऐसे समझे जा सकते हैं पर वहाँ तो ध्येय को ही ज्ञेय कहा यही समर्थनीय है क्योंकि पूर्व में 'अभिध्यानात्' (११) एवम् उत्तरत्र प्रणव से ध्यान का (१४) विधान है। परब्रह्म को विदित समझना उसे विषय, परिच्छिन्न, अनात्मा समझना हो जाता है अतः वह ग़लत-फ़हमी ही है। अत एव वैषयिकविज्ञानों की प्रक्रियाओं के अनुसार आत्मा के बारे में सोचना — पक्ष में भी, विपक्ष में भी— पाटलीपुत्र से हरद्वार जाने के लिये गंगासागर का रास्ता पकड़ने जैसा है। आश्रय का ही ज्ञान जब उन प्रक्रियाओं से नहीं हो सकता तो आश्रय-विषय दोनों से अतीत का कैसे हो सकेगा? मन भी सामान्य लोगों के लिये एकान्तेन विषयकोटि में नहीं है, चिच्छायोपेत होने से उसमें आश्रयता भी है। अतः घटादि पदार्थों के विज्ञानों के नियमों मे बँधकर अगर मन को समझना चाहेंगे तो कभी सफलता नहीं मिल सकती। उसे समझने के लिये अध्यात्मविज्ञान का विकास अपेक्षित है। जैसे घर में घुसे रहते हुए हम घर को पूरी तरह—अंदर-बाहर से—नहीं जान सकते ऐसे मनस्तादात्म्य रहते उसे भी नहीं

जान सकते यह तो उसकी अनिर्वाच्यता का अनिवार्य प्रभाव रहेगा ही। घर को तो बाहर निकलकर जान भी सकते हैं पर मन से जब समझ-बूझकर बाहर निकलेंगे तो फिर इसमें समझने लायक कुछ बच नहीं जाता है। अतः प्रतिक्रियाओं से अनुमान करते रहना वस्तुतः मन का विज्ञान कहा जाये यह विडम्बना ही है। अत एव शरीरसंरचना के नियमन से ही मनोनियमन की प्रत्याशा भी हमेशा आशा ही रहने वाली है। गोलक के अन्तर से प्रतिक्रियाओं में तो अन्तर आ ही सकता है पर एतावता मन को परिवर्तित कैसे कहा जा सकता है? अतएव अन्नमय अर्थात् भौतिक होने पर भी उसे सूक्ष्मकार्य माना गया है कि अन्नादि से उसकी क्षमताओं पर असर पड़ने पर भी स्वरूपतः वह स्थूल अन्नादि का विकार नहीं है। अत एव पूर्व में उसकी भौतिकता को 'पारिभाषिक' कह दिया था। जब मन का यह हाल है तब 'यन्मनसा न मनुते' का क्या कहना! हमें जो बहुत बड़ी अड़चन लगती है आत्मा समझने में वह यही है कि हम विदित के न्यायों को लाँघ नहीं पाते।

श्रीशंकरानन्दजी के अनुसार जब यह प्रश्न उठाः 'तुम्हारे कथन से यह सिद्ध हुआ कि 'नहीं जानता' ऐसा जानने वाले को वह ज्ञेय है और 'जानता हूँ' ऐसा जानने वाले के लिये अज्ञेय है; किन्तु यह बात प्रमाणानुसारी नहीं है। अतः तुमने ऐसा क्यों कहा?' तब इस मंत्र से उत्तर दिया जा रहा है। अमत का अर्थ कर्तृकर्मादि अर्थात् आश्रय-विषय भाव से वह अधिगत नहीं है। उत्तरार्ध का हेतुरूप से अन्वय कर उन्होंने यह अर्थ किया है : क्योंकि वह विज्ञों को अविज्ञात है और अविज्ञों को विज्ञात है। विज्ञ अर्थात् जिन्हे ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय आदि विविध बुद्धियाँ हैं। उन्हे ब्रह्म अविज्ञात अर्थात् अनधिगत है क्योंकि ब्रह्म देश-काल-वस्तु की परिच्छिन्नताओं से—सीमाओं से—रहित है। अविज्ञ अर्थात् जिन्हे उक्त भेद-बुद्धियाँ नहीं हैं उन्हे ब्रह्म विज्ञात है अर्थात् जैसा वह स्वरूप से है वैसा उन्हे समझ आया हुआ है। यह भाष्य की अपेक्षा अलग ही योजना है पर अर्थ वही है।

यहाँ श्रुति ने विदित के वेत्ताओं को जो अविज्ञ कहा है वह परब्रह्म की दृष्टि से। अर्थात् सविशेष के उपासक के लिये ब्रह्म विदित है, उसे अविज्ञ इसलिये नहीं कहा कि उसे लोकतुल्य कहना है वरन् तत्त्वनिष्ठ वह नहीं है यही बताने के लिये ऐसा कहा। 'यदिदमुपासते' से जो उपासक कहे गये थे उन्हे यहाँ परामृष्ट किया है। उनसे अन्य भी जो परमेश्वर को अनात्मा — 'मैं' से अन्य—मानने से उसे विषयकोटि में ही रखते हैं वे चाहे उसे ज्ञेय मानें, ध्येय मानें, भक्ति का विषय मानें, सभी यहाँ 'अविजानताम्' के अन्तर्गत ही हैं। अत एव प्रकृति आदि दृश्यतत्त्वों को ही अंतिम सत्य मानने वाले भी अविज्ञ ही हैं।

प्रथमपादार्थः

यस्य यस्य *विविदिषाप्रयुक्तप्रवृत्तस्य साधकस्य* ब्रह्मविदः अमतम् अविज्ञातमविदितं ब्रह्मेति मतम् अभिप्रायो निश्चयः; *'अमतमविज्ञातमविदितं ब्रह्म' इति— आत्मतत्त्वनिश्चयफलावसानावबोधतया विविदिषानिवृत्तेत्यभिप्रायः।* तस्य मतं ज्ञातं सम्यग् ब्रह्मेत्यभिप्रायः। *तस्य मतं—ज्ञातम्; तेन विदितं ब्रह्म येन अविषयत्वेन आत्मत्वेन प्रतिबुद्धमित्यर्थः। स सम्यग्दर्शी यस्य विज्ञानानन्तरमेव ब्रह्मात्मभावस्यावसितत्वात् सर्वतः कार्याभावः।*

पहले पाद का अर्थ

ब्रह्म समझने की तीव्र उत्कण्ठा से प्रवृत्त हुए जिस साधक ने ब्रह्म-ज्ञान वास्तव में प्राप्त किया है उसका तो यह निश्चय रहता है और वह साभिप्राय यह मानता है कि ब्रह्म अविज्ञात है अर्थात् विदित से अन्य ही है। भाष्यकार ने साधक का विशेषण दिया 'विविदिषाप्रयुक्तप्रवृत्तस्य' अर्थात् विविदिषा से प्रयुक्त भी है और प्रवृत्त भी है या प्रवृत्त का मतलब प्रवृत्ति होने से विविदिषा से प्रयुक्त प्रवृत्त वाला; अर्थ एक ही रहता है। आत्मप्रेम प्राणिमात्र में स्वाभाविक होने से आत्मोन्मुखता को विविदिषा इदम्प्रथमतया, अर्थात् पहले-पहल, उत्पन्न करती हो ऐसा नहीं है। आत्मा सच्चिदानन्द है। सत्य को अपने से छिपा रहने देना कोई नहीं चाहता यह विस्तार से कठचिन्तन नामक कठोपनिषद्व्याख्यान में हमारे

गुरुचरणों ने प्रकाशित किया है। आनन्द हमसे अछूता रहे यह कौन चाहता है? अत: आत्मप्रावण्य सर्वत्र सहज है इसीलिए वार्तिककार ने मुमुक्षा को सर्वसुलभ माना है। तब आचार्य उसे तीन दुर्लभ वस्तुओं में कैसे गिनते हैं? इसका यहाँ समाधान किया है 'विविदिषाप्रयुक्त' कहकर। पञ्चपादिका में (पृ.३६४) स्पष्ट किया है कि निर्विशेष अब तक अप्रकाशमान होने से उसके लिये प्रवृत्ति स्वाभाविक नहीं है बल्कि रागियों को तो उससे उद्वेग ही होता है अत: सविशेष सच्चिदानन्द की ओर रुझाव स्वाभाविक है, निर्विशेष की ओर दुर्लभ यह निष्कर्ष है। सविशेष के परिप्रेक्ष्य में सोचने पर कभी सम्भव नहीं कि केवल सही जानकारी को किसी भी फल का उपाय समझकर उसके लिए प्रवृत्ति हो। यह तो निर्विशेष की संकल्पना कुछ-न-कुछ स्पष्ट हुए बिना हो ही नहीं सकता कि बाह्याभ्यन्तर कर्ममात्र को, सत्-असत् सभी कर्मों को, उपासना-भक्ति-योग को एक जैसा तुच्छ समझकर केवल जानकारी पाने को कोई व्याकुल हो सके। यमराज ने आत्मतत्त्व को धर्माधर्म से अन्यत्र कहा है : जो हम करें या कर सकें वह सभी धर्माधर्म में सिमट जाता है उसकी पहुँच में आत्मतत्त्व नहीं है। जितनी व्यर्थ ब्रह्म हत्या है उतना ही ज्योतिष्टोम, अश्वमेध भी है; अगर ईसाप्रोक्त मार्ग अनर्थक है तो श्रौत-स्मार्त कर्मोपासनकाण्ड भी कम अनर्थक नहीं है; यदि मृतपुत्र के ध्यान से मोक्ष नहीं है तो चतुर्भुजी के साक्षात् दर्शन से भी नहीं है; इस निश्चय या कम-से-कम श्रद्धा के बिना सिर्फ़ ज्ञान की अर्थिता निश्चित असंभव है। जब तक स्ववर्णाश्रम धर्म के पालन से, सात्त्विक यज्ञ-दान-तप आदि से चित्त में शुद्धि संपादित कर नहीं लेते तब तक यह श्रद्धा हो ही नहीं सकती। सारे धर्मानुष्ठानका वेदान्तानुसार विनियोग है यह निश्चय होना 'नास्त्यकृत: कृतेन', करने से मोक्ष नहीं होता। केवल धर्म की व्यर्थता समझना फल नहीं, अधर्म की भी, 'करने' मात्र की व्यर्थता समझना फल है; अन्यथा उत्पथादिप्रवृत्ति तो और भी अधोगति का हेतु है। अभी हम आत्मोन्मुख प्रवृत्ति करते हैं पर ज्ञानमात्रके लिये नहीं, भोग के लिये : 'मुझे (=मैं और मेरे को) भोग मिले' यही हमारी 'आत्मन: कामाय सर्वं प्रियम्' की समझ है। श्रुत्यर्थ जो भी हो! यहाँ भाष्यकार साधक उसे कह रहे हैं जो विविदिषा से जानने मात्र की इच्छा से प्रयुक्त है। अतएव पुराणादि में कहा है कि अविवेकदशा में जो प्रीति विषयों में है वही विवेकदशा में आत्मा में केंद्रित हो जाती है। तृप्तिदीप में (२०१-५) यह विषय स्पष्ट किया गया है। जैसे फैले सूर्यप्रकाश को आतशी शीशे से एकाग्र कर दिया जाता है ऐसे विविध प्रयोजकों से जो आत्मोन्मुखता है उसे विविदिषा से एकाग्र करना है। इसी के लिये वेदानुवचन, यज्ञ, दान, तप, अनशन सभी विहित हैं।

इससे भी कठिन है 'प्रवृत्तस्य' : कुछ भी करना अत्यन्त व्यर्थ है इस निश्चित विश्वास के बाद फिर प्रवृत्त होना—करना—श्रवणादि में तत्पर होना यह बहुत मुश्किल है। यह समझते हुए कि रस्सी में साँप देखो या माला कुछ अंतर नहीं फिर माला देखने की कोशिश कौन बुद्धिमान् करेगा? ऐसे ही घटवृत्ति हो चाहे ब्रह्मवृत्ति अखण्ड चिन्मात्र में दोनों एक-सी कल्पित हैं इस विश्वास वाला पूर्ण प्रयास ब्रह्मवृत्ति बनाने का करे यह बुद्धिसंगत कैसे हो? जिस शास्त्र को स्वरूपत: मिथ्या मान रहे हैं उसी पर भरोसा करना किस मनीषी के लिये संभव है? अत: यदि कथंचित् शिवानुग्रह से किसी दुर्लभ महापुरुष में सचमुच विविदिषा उत्पन्न भी हो जाये तो भी आगे प्रवृत्त होना दुर्लभतर है। यह तो जिसने अविविदिषु रहते हुए श्रवणादि में बेहद रुचि पैदा कर ली है वही शुद्धचित्त होने पर विविदिषु होकर भी प्रवृत्त हो सकता है। यद्यपि श्रोतव्यादि को भाष्यकारादि ने विधि कहा है तथापि वास्तविक विविदिषु उन विधियों से प्रेरित नहीं हो सकता। विविदिषु को साक्षात्कार भले ही नहीं है पर उसे दृढतर विश्वास है कि दृश्य मिथ्या है; इसीलिये तो वह सदृश्य आत्मा से विमुख हो पाया है। जिस युवराज ने अभी शव देखा नहीं लेकिन अपनी माँ से सूचना पायी है कि उसके पिता का देहावसान हो गया है, वह जब अपने वृद्ध मंत्री आदि के 'निर्देश' को सादर स्वीकारता है तब वह उसकी पूर्वार्जित सुशीलता ही है, न कि आज्ञाकारिता। ऐसे ही श्रवणादि का शील ही विविदिषु की प्रवृत्ति का हेतु बन सकता है, अन्य कुछ नहीं। विधि मानना हम लोगों के उपकार के लिये है—विविदिषा के बिना भी हम श्रवणादि में लगे रहें ताकि वह बोधाभ्यास भी शुद्धि आदि कर विविदिषा का उत्पादक बने, यह आचार्यों का करुणामूलक अभिप्राय है। जैसे विविदिषु की प्रवृत्ति वैसे ही ज्ञान पाकर ज्ञाननिष्ठा पाने की प्रवृत्ति भी कठिन ही समझनी चाहिये। भाष्यकार पहले ही कह चुके हैं कि मोक्ष तो निष्ठा तक

पहुँचे हुए ज्ञान से होता है। अतः यह प्रवृत्ति भी है आवश्यक, पर होना मुश्किल ही है।

जो साधक विविदिषाप्रयुक्त होकर प्रवृत्त हो गया उसे ही कहा 'ब्रह्मविदः', वही ब्रह्मवेत्ता हो सकता है, होगा ही। उसी का यह निश्चय रहेगा कि ब्रह्म 'अमत' है। निश्चय को ही भाष्यकार ने अभिप्राय भी कह दिया। अभि+प्र+अय का मतलब यहाँ सही समझ है। भ्रान्त या आभिमानिक निश्चय नहीं वरन् 'अभि' निःसंदिग्ध 'प्र' प्रामाणिक 'अय' अधिगम है। प्रायशः जो बात अक्षरारूढ न की हो पर तात्पर्यविषय हो उसमें अभिप्राय-शब्द प्रचलित है। यहाँ भी समझ सकते हैं कि वह ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म को 'अमतम्' किसी अभिप्राय से, तात्पर्य से, समझता है। मतामत-निरपेक्ष के अभिप्राय से वह अमत मानता है यह पहले स्पष्ट कर चुके हैं।

वह ब्रह्म को अमत मानता है यह कहने का तात्पर्य ख़ुद ही बताते है - **'उसे ब्रह्म अमत अर्थात् अविज्ञात या अविदित है' यह कहने का अभिप्राय यह नहीं कि ग्वाले आदि की तरह वह ब्रह्म से बेख़बर है बल्कि तात्पर्य है कि उसकी विविदिषा इसलिये निवृत्त हो चुकी है क्योंकि उसका अवबोध 'ब्रह्म आत्मा है' यह निश्चयरूप फल देकर समाप्त हो चुका है।** चरम वृत्ति से ब्रह्म 'मत' है तो भी उस वृत्ति का फलभूत जो निश्चय है वह ब्रह्म को 'मत या विदित' नहीं करता। अतः हम लोगों को तो ब्रह्म अज्ञात होने से 'अमत' है अर्थात् 'मत' का अप्राप्तप्रतिषेध है जबकि यहाँ उसकी चर्चा है जिसके लिये प्राप्त 'मत' का प्रतिषेध है, ब्रह्म ज्ञात होने से अमत है। भूखा और तृप्त दोनों भोजन-रहित तो हैं ही! क्षमाशील और बुझदिल दोनों दुश्मन को 'माफ़' तो करते ही हैं। यह पूर्व में भी कह चुके हैं कि निश्चय निवृत्ताविद्य आत्मा है, न कि वृत्तिरूप। वृत्ति से अविद्यानिवृत्ति होने से निश्चय होता है। आत्मत्वनिश्चय है फल जिसमें अवसान या समाप्ति वाला है अवबोध, उस अवबोध वाला जो हो चुका है वह इसी कारण से विविदिषा से छूट गया है, कुछ समझना नहीं चाहता, सर्वज्ञ-सर्ववित् है। विचारपूर्वक वह इस बारे में निःसंदिग्ध हो चुका है कि श्रुति-युक्ति अनुभव से यही निष्पन्न होता है कि ब्रह्म आत्मा है अतः आत्मा से अन्य कुछ माता-मान-मेय न होने से मन्तव्य नहीं है। यही उसके लिये ब्रह्म का 'अमत' होना है।

इस तरह जिसे ब्रह्म अमत है उसे ही ब्रह्म मत है, उसी ने ब्रह्म ठीक समझा है। 'तस्य मतम्' का अर्थ है कि उसे ब्रह्म-सम्बन्धी कोई अज्ञान नहीं रह गया है। जिसने अविषय आत्मा रूप से प्रतिबोध पाया है उसे ही ब्रह्म ज्ञात है। विज्ञान के बाद बिना किसी अन्तराल के ही जिसे ब्रह्मात्मता पूर्ण निश्चित होने से जिसके लिये किसी तरह का कार्य नहीं रह गया है वही सम्यग्दर्शी है।

'अविषयत्वेन' की अभावात्मताध्वनि काटने के लिये 'आत्मत्वेन' कहा, इसकी भावात्मताध्वनि तो उक्त ध्वनि काटने में ही गतार्थ हो जाती है! 'प्रतिबोध' उत्तर मन्त्र का विषय है। तात्पर्य है कि ब्रह्मज्ञान अनेक ज्ञानों में कोई एक ज्ञान नहीं रह गया है, जैसे हमें घटज्ञान, पटज्ञान, मठज्ञान सब होते हैं ऐसे ही एक ब्रह्मज्ञान उसे और हो गया हो ऐसा नहीं है; वह सकल बोध विवक्षित है, बाकी सब बोध फिर जिसके 'अंशुप्रतान' (मां. मंगल) ही रह जाते हैं। ब्रह्मज्ञानी की कृतकृत्यता बताते हुए याज्ञवल्क्य महर्षि भी 'यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्मा' (बृ. ४.४.१३) कहते हैं। 'अनुवित्तः अनुलब्धः, प्रतिबुद्धः साक्षात्कृतः, कथम्, अहमस्मि परं ब्रह्मेत्येवं प्रत्यगात्मत्वेनावगत आत्मा' यह वहाँ भाष्य है। आगे 'अनुवित्तः प्रतिबोधेन', 'प्रतिबुद्धतयाऽनुवित्तः' भी कहा है। वार्तिक में 'वित्तो बुद्ध्यादिसाक्षीशः, प्रतिबुद्धस्तथैकलः' (श्लो. ६१६) यों सविशेष-निर्विशेष को समेट कर समझाया है। अत एव विद्वान् को वे ईश्वररूप वहीं कहते हैं 'विविच्य येन विज्ञातः स स्याद्विश्वकृदीश्वरः' (६१९)। यहाँ जो भाष्य में कहा 'सर्वतः कार्याभावः' उससे भी संकेत बृहदारण्यकमंत्र का मिलता है। वहाँ तत्त्वज्ञ की कृतकृत्यता कही है 'प्रत्यग्याथात्म्यसम्बोधात् सर्वं तेन कृतं भवेत्। निःशेषपुरुषार्थाप्तेर्न कार्यं शिष्यते परम्'।।६२०।।

'विज्ञानानन्तरमेव' - यह एवकार विज्ञान की निरपेक्षसाधनता और इसी पर आधारित बन्धमिथ्यात्व को स्पष्ट

करने के लिये है। इसमें काल की ध्वनि भी है जिसे न्यायरत्नावली में स्पष्ट किया है यह बताया जा चुका है। कार्याभाव में ज्ञान ही हेतु बना अतः ज्ञाननिवर्त्यत्वलक्षण मिथ्यात्व व्यक्त होता है। 'अवसितत्वात्' से निश्चयफलावसानरूपता ही कही है। प्राथमिकादि अखण्ड वृत्तियाँ विज्ञान तो हैं लेकिन अवसित नहीं होती, दोषवश प्रतिबद्ध रहती हैं; आगे संशयविपर्यय होते रहते हैं। जब निष्ठापर्यन्त ज्ञानपरिपाक हो जाता है तब विज्ञान अर्थात् अखण्डवृत्ति के अनन्तर ही ब्रह्मात्मभाव अवसित हो जाता है, अज्ञान बाधित हो चुकने से संशय-विपर्यय संभव नहीं रह जाते। ज्ञान के अनन्तर सहायक या किसी भी रूप से कार्य—कर्तव्य, कर्तृत्वाध्यास रहता नहीं। अत एव प्रारंभ में समुच्चयवाद का खण्डन किया था। कार्याभाव से कार्य प्रपंच का अभावनिश्चय भी समझ लेना चाहिये। प्रतीयमान द्वैत भी मिथ्यात्वोल्लेख से दीखता है ऐसा अनुभवी आचार्य बता ही गये हैं। अज्ञान का ही कार्य संशय विपर्यय हैं अतः उनका अभाव भी कह दिया। 'सर्वतः' अभाव से ध्वंस की व्यावृत्ति कर अत्यंताभाव सूचित किया, अर्थात् सविलास-महामोह का बाध होता है, नाश नहीं। अतः भाष्यकार ज्ञानमात्र से सम्यग्दर्शी नहीं मानते यह सुस्पष्ट हो जाता है।

द्वितीयपादार्थः

विपर्ययेण मिथ्याज्ञानो भवति। कथम्? **यस्य पुनः मतं मतं ज्ञातं विदितं मया ब्रह्मेति निश्चयः, न वेद एव सः न ब्रह्म विजानाति सः।** ***'विदितं ज्ञातं मया ब्रह्म' इति यस्य विज्ञानं स मिथ्यादर्शी विपरीतविज्ञानः, विदितादन्यत्वाद् ब्रह्मणः; न वेद स—न विजानाति।***

दूसरे चरण का अर्थ

उक्त ब्रह्मवेत्ता की समझ से उल्टा जो जानता है वह ग़लत ज्ञान वाला है। उल्टा जानने वाला ग़लत समझता है यह कैसे? क्योंकि श्रुति कह रही है कि 'मैंने ब्रह्म जान लिया, मेरे द्वारा वह विषय कर लिया गया है' ऐसा जिसे निश्चय है उसे ब्रह्मविज्ञान नहीं है। सही विज्ञान में ब्रह्म 'जाना गया' नहीं होता अतः जो उससे उल्टी जानकारी है कि 'ब्रह्म मुझसे 'जाना गया' हो गया' वह ग़लत जानना ही है। इससे निश्चित है कि विपरीत विज्ञानवाले को मिथ्या दर्शन ही हुआ है। ब्रह्म क्योंकि विदित से अन्य है इसलिये विदित को ब्रह्म समझना भ्रम ही संभव है। भ्रान्त को अज्ञानी ही कहना उचित है अतः श्रुति ने कह दिया 'वह नहीं जानता'।

सामान्य नियम है कि वास्तविकता वैकल्पिक नहीं होती। यद्यपि कुछ विचारक इस नियम को स्वीकारने में हिचकिचाते हैं क्योकि उनका मानना है कि वास्तविक से हम वही समझ सकते हैं जो हमें ज्ञात है और वस्तु का हर ज्ञात स्वरूप किसी परिप्रेक्ष्य में, किसी अपेक्षा से, सत्य हो सकता है जबकि दूसरे परिप्रेक्ष्य में वह सत्य न हो यह भी हो सकता है जिससे यह संभव नहीं रह जाता कि अनेक ज्ञात स्वरूपों में किसी एक से पक्षपात किया जा सके, फलतः सभी ज्ञात स्वरूपों को तुल्य मान्यता देकर हम वास्तविक को वैकल्पिक मानें यही संगत है; तथापि उनका विचारक्षेत्र दृश्य प्रपंच होने से उनकी यह सूक्ष्मेक्षिका द्वैतमिथ्यात्व के लिये उपयोगी ही है, दृश्य अनिर्वचनीय होने से ऐसी ही वास्तविकता वाला है जो वैकल्पिक बनी ही रहेगी, वैकल्पिक वास्तविकता या व्यावहारिकता एक ही बात है, परन्तु द्रष्टा की दृष्टि के लिये इस दृश्यन्याय का अतिदेश नहीं हो सकता। यद्यपि कुछ वादी आत्मा को भी 'नहीं है', 'है भी, नहीं भी है' इत्यादि मानते हैं, ऐसे ही उसकी चिद्रूपता व आनन्दरूपता में मतभेद रखते हैं, जिससे लगता है कि जिस सरलता से भाष्यकार कह देते हैं 'सर्वो हि आत्मास्तित्वं प्रत्येति, न 'नाहमस्मि' इति' (सू.भा. १.१.१) वह ठीक नहीं; तथापि विचार करने पर पता चलता है कि वादी जिन अभिप्रायों से शब्दप्रयोग कर रहे हैं उनमें महान् भेद होने से वे वास्तविक को वैकल्पिक नहीं कह रहे। 'मैं' का अर्थ, 'आत्मा' का अर्थ, 'है' का अर्थ आदि जब उन वादियों के अनुसार समझने जाते हैं तब स्पष्ट होता है कि भाष्यकार किसी और ही 'आत्मा की', अन्य ही 'अस्तित्व' की, विलक्षण ही 'प्रत्यय' की बात कर रहे हैं। जैसे कलकत्ता और बम्बई के वर्णनों को 'विरुद्ध' नहीं कह सकते, उनसे न कलकत्ता का स्वरूप वैकल्पिक होता है न

बम्बई का, ऐसे ही वादियों के पक्षों से वास्तविक का वैकल्पिक होना संभव नहीं। जो परिप्रेक्ष्यों में होता है, अपेक्षाओं से समझा जाता है, उसके नियम वहाँ कैसे काम करेंगे जो परिप्रेक्ष्यों से, अपेक्षाओं से अतीत है? दृश्यविशेष आत्मा (या परमात्मा भी) हो तब तो अवश्य संभव है कि हम उसे सापेक्ष मानें, वैकल्पिक मानें, अपने-अपने संस्कारों के पर्दों से छनकर दीखे उसके रूपों को तुल्य बल वाला मानें। जो द्रष्टा-दृश्य को लाँघे हुए है, ये दोनों जिसमें एक-से हैं (या नहीं हैं) वह सापेक्ष हो तो किसके? वह 'दीखे' (विदित या मत बने) तब तो छनकर दीखा या नहीं इसका प्रश्न उठे। जब वह है ही अमत, अविदित, तो किन रूपों के ज्ञानों को तुल्यबल वाला मानें? इसीलिए भाष्य में स्वप्रकाशता पर विचार पूर्वखण्ड में कर लिया था कि यहाँ जब उसे अमत और मत एक साँस में कहें तो कोई कष्ट न हो। वस्तुतस्तु यदि हम सिर्फ अनुभव की शरण लें तब तो यह नामुमकिन नहीं है कि आत्मसत्य को भी वैकल्पिक मान बैठें क्योंकि समग्र अनुभूति-प्रवाह का क्षेत्र वैकल्पिक वस्तु है और अनुभूति का क्षेत्र छोड़कर अनुभूतिमात्र सहज में भासे यह दुर्लभ है, लेकिन क्योंकि शास्त्र-आचार्य-युक्ति का भी हमें महान् सम्बल है इसीलिए हम यह निर्णय कर सकते हैं कि वास्तविकता विकल्पासहिष्णु (सि.बि.७) है। यह शंका अब नहीं उठ सकती—कौन सा शास्त्र, कौन आचार्य, क्या युक्ति? क्योंकि हम देख चुके हैं कि सब शास्त्र, सब आचार्य, सब युक्तियाँ जिसके बारे में कहें वह एक हो यह ज़रूरी नहीं है। और जो शास्त्र-आचार्य-युक्ति एक के बारे में कहते हैं वे फिर उसे वैकल्पिक कहते भी नहीं। अतः जैसे जो सामान लेना हो बाजार में उसकी दुकान पर ही जाते हैं चाहे बाकी दुकानें कुछ भी बेचा करें, वैसे ही ब्रह्मविविदिषु ब्रह्मशास्त्र, ब्रह्माचार्य, ब्रह्मयुक्ति का अनुसरण करे, बाकी शास्त्रादि चाहे जो प्रतिपादित करें। उनसे हमें विरोध नहीं पर हमें उनसे कोई प्रयोजन नहीं। 'तेनायं न विरुद्ध्यते' (मां.का.३.१९) और 'एवं का क्षतिरस्माकं तद्द्वैतमवजानताम्' (२.१०१), 'अनुशोचाम एवान्यान् न भ्रान्तैर्विवदामहे' (६.१५) आदि पंचदशीवचनों का यही अभिप्राय है।

सर्वतार्किकप्रस्थानानां मिथ्यार्थता

ततश्च सिद्धमवैदिकस्य विज्ञानस्य मिथ्यात्वम्, अब्रह्मविषयतया निन्दितत्वात्। कपिलकणभुगादिसमयस्यापि विदितब्रह्मविषयत्वाद्, अनवस्थिततर्कजन्यत्वाद्, विविदिषाऽनिवृत्तेश्च मिथ्यात्वमिति। स्मृतेश्च

'या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रोक्तास्तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः।।' (मनु.१२.९५)

इति; विपरीतमिथ्याज्ञानयोरनिष्टत्वात्।

सभी तर्काश्रित मार्ग मिथ्या को विषय करते हैं

इसलिये सिद्ध होता है कि वेदविरुद्ध अनुभव मिथ्या है। वह ब्रह्म के बारे में होता नहीं अतः उसकी निन्दा भी की गयी है जिससे पता चलता है कि वह मिथ्या है। अनुभव का मिथ्यात्व यही होता है कि उसका विषय बाध्य हो। 'सर्पदर्शन नहीं हुआ था' यह नहीं कह सकते। इतना ही कह सकते हैं 'जो दीखा था वह साँप था नहीं'। स्वतः अनुभव मिथ्या नहीं होता। य विवरणादि में स्पष्टतर है। अतः वेदविरुद्ध अनुभव अनात्मविषयक होने से मिथ्या है यह भाष्यार्थ है। वेदविरुद्ध का मतलब भी वेदतात्पर्यविषय से अन्य विषय वाला होना। वार्तिककार ने लिखा है 'विरोधो न तु मानानाम्' (बृ.वा.२.१.५५४) अतः यह हमारा पक्ष नहीं है कि वेदेतर प्रमाणों का वेद से विरोध है। इसीलिये आचार्यों ने चक्षुरादि भी सीधे तो सन्मात्र में ही प्रमाण माने हैं। बिन्दुग्रंथ में सरस्वतीस्वामी ने कहा है 'घटादिद्वैतज्ञानस्यापि अद्वैतसन्मात्रांशेऽज्ञाते प्रामाण्याभ्युपगमात्' (पृ.९४)। इसी तथ्य को व्यक्त करने के लिये यहाँ भाष्य में 'अब्रह्मविषयतया' कहा। अतः उन विज्ञानों की निन्दा संगत है। निर्विशेष मोक्ष के प्रयोजक न बन पाने से वे निन्दित हैं। विधेयस्तुति के अभिप्राय से अन्यकी निंदा शिष्टों में प्रचलित है। तात्पर्य है कि स्व-स्वविषयों में उन अवैदिक विज्ञानों की स्थापनाओं के

बारे में हम तटस्थ हैं। उनमें जो भी व्यवहारानुकूल लगेगा (और शास्त्रविरुद्ध नहीं होगा अर्थात् पापाचरण नहीं होगा) वह मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं है। अतः जो जँचेगा नहीं, अनुभव से कटेगा, अयौक्तिक होगा, वह चाहे कितनी ही प्रचीन परंपरा से चला आ रहा हो, चाहे बड़े लोगों ने उसका आदर किया हो, उसे मान्यता देने को हम बाध्य नहीं हैं। यहाँ तक कि हमारे पूर्वाचार्यों ने भी द्वैतविषयक जो बातें वादान्तरों की मान ली हैं, जिन प्रक्रियाओं को सिद्धवत् कर वे विचारादि प्रस्तुत करते हैं, उन्हे भी अनुभवादि से विरुद्ध पायेंगे तो हम छोड़ देंगे, ढोते नहीं रहेंगे। प्रसिद्ध है कि वेदान्ती व्यवहार में भट्टन्याय मानते हैं लेकिन पंचपादिकादि में स्पष्ट है कि कई बातें हमने व्यवहार की ऐसी मानी हैं जो भाट्टों से विपरीत हैं बल्कि प्राभाकरों से ही कुछ नज़दीक पड़ती हैं। पुराणादि में सांख्य की तत्त्वमीमांसा मानकर उसके आधार पर अद्वैत समझा दिया जाता है जबकि अर्वाचीन साहित्य न्याय-वैशेषिकों की मर्यादाओं में रहते हुए अद्वैत समझाता है। क्योंकि हम मानते हैं कि समझाने के उपाय वास्तविक सत्य हैं नहीं इसलिये शब्द, शब्दार्थ, परिभाषा, तार्किक-प्रक्रिया, पदार्थमीमांसा आदि के बारे में हम अनाग्रही हैं। जिन बातों को मानने से हम अद्वैत समझ सकेंगे उन्हे मान लेंगे चाहे वे कपिल या गौतम के अनुयायियों को सर्वथा अस्वीकार्य हों।

'अब्रह्मविषयतया' से शंका होगी कि वैदिक विज्ञान भी तो ब्रह्म को 'विषय' नहीं करता तब फ़र्क क्या है? वह ब्रह्माज्ञान का निवर्तक है यही फ़र्क है। अन्य विज्ञान इसे नहीं हटाते।

कपिल, कणाद आदि के सिद्धान्त भी विदित ब्रह्म को ही विषय करने से मिथ्या हैं। उन वादों की उत्पत्ति तर्क से हुई है और तर्क टिकाऊ होता नहीं, इसलिए भी वे मिथ्या हैं। इतना ही नहीं उन दर्शनों से ब्रह्म को जानने की इच्छा पूरी होती नहीं इससे भी उनका मिथ्या होना निश्चित है। यहाँ भाष्यकार ने तीन स्पष्ट कारण बता दिये किसी सिद्धान्त को मिथ्या कहने-समझने के। मिथ्या-शब्द से सामान्यतः नीचता की ध्वनि मिलती है किन्तु भाष्यकार कह रहे हैं कि ऐसे किसी तात्पर्य से हम किसी वाद को मिथ्या नहीं कह रहे। बड़े बड़े ऋषियों ने इनका प्रणयन किया, मनीषियों ने संवर्धन किया, लोक में काफी उपयोग है, ऐसे सिद्धान्तों को नीच कहना हमें क्योंकर रुचिकर होने लगा? बल्कि हमारे आचार्य तो 'न हि ते मुनयो भ्रान्ताः' तक कहने में संकोच नहीं करते। हम जब अवैदिकों को मिथ्या, भ्रान्त, तमस्वी मूर्ख (द्र.पंचदशी २.३०.३१; ६.५८), मीमांसाहत (उप.सा.१६.६४), धुएँ से काली हुई बुद्धि वाले (नै.सि.), बिना सींग-पूँछ के बैल (बृ.भा.), व्यर्थ, निर्हेतुक, अनादर्तव्य, चाटभट (प्रश्नभाष्य ६.३) आदि कहते हैं तब हमारा तात्पर्य उन पर किसी दोष का आरोप करने से नहीं है बल्कि ये तीन बातें कहना चाहते हैं:

१. वे दर्शन अपना वर्ण्य—तात्पर्यतः प्रतिपाद्य—जिसे मानते हैं वह ज्ञेयकोटि का है। और ज्ञेय जो भी होगा वह बाध्य ही होगा।

२. वे दर्शन अपना आधार मानते हैं तर्क को। और तर्क कभी स्थायी रहता नहीं, हर तार्किक अपने पूर्वजों के ही नहीं अपने ही पूर्व प्रयुक्त तर्क को भी परिष्कृत ही करता मिलता है। कुछ तार्किकरुचि वाले ग्रंथकारों का अनुभव सुनने में आया है कि स्वरचित श्लोक के ही एक-आध पाद के लिये उन्हें कालान्तर में पाठान्तर स्फुरित होता है तो प्रकाशन के समय वे टिप्पण में पाठान्तर भी दे देते हैं! 'न विलक्षणत्वाधिकरण' में (२.१.३) सूत्रकार व भाष्यकार ने तर्क की अस्थिरता का बहुत ख़ुलासा किया है। खण्डन, चित्सुखी, आनन्दगिरीय तर्कसंग्रह आदि ग्रंथों का तो पावन उद्देश्य उसी अधिकरण को स्पष्टतर करना है। रघुनाथ शिरोमणि का 'पदार्थतत्त्वनिरूपण' देखने से इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि तर्क अप्रतिष्ठित या अनवस्थित है। जिस दर्शन का आधार तर्क है— ख़ुद उस दर्शन के अनुयायी तर्क को अपना आधार मानते हैं — उसे हम मिथ्या कहते हैं क्योंकि हमारा मानना है कि अमुक तर्क ठीक ही है यह किसी भी तर्क से निर्णय होगा नहीं अतः अनिर्णीत सहीपने वाले तर्क पर टिके दर्शन को हम सत्य नहीं स्वीकारेंगे।

३. उन दर्शनों के ही अनुसार उनसे हमें सच्चिदानन्द ब्रह्म साक्षात् नहीं होगा। कोई कहते हैं मोक्ष में बिना ज्ञान के, बिना सुख के रहना है, कोई कहते हैं भोक्ता बने ही रहना पड़ेगा, कोई भी यह नहीं कहता कि हमारा अनुसरण करने से अद्वितीय सच्चिदानन्द रहोगे। अतः जो ऐसा ज्ञान नहीं देते जिससे हमारी ब्रह्मजिज्ञासा शांत हो वे चाहे लौकिक चिकित्सा-विद्युत्-शिल्पादि विज्ञान हों चाहे कापिल, काणाद आदि, सभी को हम मिथ्या कहते हैं। निर्विशेष मोक्ष के इच्छुक को तृप्त न कर पाना हमारे लिये मिथ्या होना है। अतः जो वाद तर्क पर नहीं भी आधारित हैं और किन्ही 'दिव्य ग्रन्थों' पर ही टिके हैं उन्हे भी हम प्रथम व तृतीय हेतु से मिथ्या मानते हैं। उनके ग्रंथों के उपदेशों के खण्डन की हमें ज़रूरत नहीं। वे जिन फलों के लिय जिन उपायों का विधान करते हैं वे वैसे ही हों, हमें विरोध नहीं। हमें अभीष्ट मोक्ष तो वे मानते ही नहीं तो उसका उपाय क्या बतायेंगे? जिसे मथुरा से हरद्वार जाना है वह उज्जैन का रास्ता बताने वाले से क्यों विरोध करने लगा?

इसी दृष्टि से यह मनुवचन समझना चाहिये - **'जो वेद-विरोधी स्मृतियाँ और कुदृष्टियाँ हैं उन सभी को निष्फल कहा गया है क्योंकि वे तमोनिष्ठ मानी जाती हैं' - इति स्मृतिवचन से भी अवैदिक विज्ञानों का मिथ्यात्व निर्धारित होता है। विपरीत समझना और मिथ्या अर्थात् ग़लत समझना दोनों अभीष्ट न होने से ब्रह्म के सम्बन्ध में जो विपरीत और जो मिथ्या जानकारी दें वे निष्फल और तमोनिष्ठ माने जायें यह ठीक ही है।** वेदबाह्यस्मृतियों से सभी अवैदिक प्रस्थानों का ग्रहण है चाहे वे तार्किक हों या ग्रन्थाधारित। कुदृष्टियाँ उन्हे कहा है जो वेद को ग़लत ढंग से समझते-समझाते हैं। उन्हे क्यों भ्रम होता है आदि चित्रदीप में (श्लो.५९ आदि) वर्णित किया गया है।

साँप का मुँह दायीं ओर है, पूँछ बायीं ओर लेकिन हम देखते साँप ही है पर बायीं ओर मुँह और दायीं ओर पूँछ समझ लेते हैं - यह हुआ विपरीत समझना। इसमें चीज़ तो वही समझी जो है किन्तु उल्टी समझ ली। धर्मी का अध्यास नहीं हुआ, धर्म का ही हुआ। हम उसे जिधर मुँह समझ रहे हैं उधर पकड़ने जायेंगे तो वह पलट कर डस लेगा अतः विपरीत समझना भी ख़तरनाक ही है। इतना ज़रूर है कि उसे रस्सी नहीं साँप ही समझ रहे हैं अतः हम पूरी सावधानी से ही उसे पकड़ने जायेंगे तो इसलिये बच पायें यह भी संभावना तो है ही। इसी तरह जो वेद को समझने में लगे हैं वे अग़र किन्ही कारणों से उल्टा समझते हैं तो उन्हे मोक्ष नहीं मिलेगा यह निश्चित है किन्तु क्योंकि प्रमाण निर्दुष्ट अपनाया है तो संभव ज़रूर है कि विचारादि करते हुए कभी अपनी भूल समझ आ जाये और सही अर्थ भी समझ लें। इसी अभिप्राय से नास्तिकादि से आस्तिकों को बेहतर माना जाता है और दर्शनों में भी आचार्यों ने क्रम देखा है। पहले जैसे (२.१ के प्रसंग में) 'दिशा-निरूपित नैतिकता' निजाचार्यवचनानुसार बतायी थी वैसे ही दर्शनों का तारतम्य समझ सकते हैं। दर्शनों को यदि अनुभव-उपपादन पूर्वक अभीष्ट स्थिति पाने की व्यवस्था माना जाये तो उनकी सचाई को दिशा-निरूपित (directional validity of systems) कह सकते हैं। 'सदाचारानुसन्धान' में (श्लो.२६) 'तार्किकाणां तु जीवेशौ वाच्यावेतौ विदुर्बुधाः। लक्ष्यौ च सांख्ययोगाभ्यां वेदान्तैरैकता तयोः।।' कहकर आचार्यपादों ने एवं 'दर्शनीयतमम्' इस तमप्-प्रयोग से ब्रह्मानन्दस्वामी ने संभवतः यह तथ्य सूचित किया है। वैसे पुराणों में—विशेषकर सूतसंहिता में—ऐसे प्रसंग हैं जिनसे भी इसी तरह की धारणा बनायी जा सकती है। वार्तिककारों ने अतएव वात्स्यायनादि को भी उपकारक मानने में संकोच नहीं किया है। बुद्ध भी वैराग्यादि के सम्बन्ध में काफ़ी सिखा सकते हैं। किंतु इतना अवश्य याद रखना चाहिये कि दिशा का निर्धारण केवल व्यवस्था की स्थिति और इष्ट की स्थिति पर निर्भर नहीं करता, अधिकारी की स्थिति पर भी निर्भर करता है। अतः यह ठीक है कि केदार उत्तर में व रामेश्वर दक्षिण में हैं लेकिन इसका यह क़तई मतलब नहीं है कि काशी से केदार जाने के लिये पहले रामेश्वर जाना पड़े! तात्पर्य है कि अधिकारी अपनी स्थिति पर टिककर आगे बढ़े तो उचित है, पीछे फ़िसले तो अनुचित है चाहे वह पीछे वाली स्थिति भी अपने से पिछली की अपेक्षा आगे ही है। वैदिक को वैराग्य सीखने बुद्ध की शरण लेने की कोई ज़रूरत नहीं, बल्कि वह पिछड़ना कहा जायेगा। यद्यपि लौकिक भोगी यदि बुद्ध से वैराग्य की शिक्षा ले तो उसकी उन्नति कही जायेगी। प्रकृत में तो भाष्यकार मिथ्याज्ञान से अलग विपरीतज्ञान

कहकर संभवतः उन्हीं का ग्रहण कर रहे हैं ज़ो समझ ब्रह्म को रहे हैं पर उल्टा समझ रहे हैं। आस्तिकदर्शनों द्वारा आत्मा को व्यापक नित्य सत्य मानना इसी का द्योतक माना जा सकता है।

साँप को रस्सी समझ लेना मिथ्याज्ञान है। इसमें न केवल धर्म वरन् धर्मी भी अध्यस्त है। यह और भी ख़तरनाक है। अनात्मवाद, परिच्छिन्नात्मवाद, द्वैतवाद, जडवाद (यह मानना कि जडक्रिया-प्रतिक्रियाओं से अन्य चैतन्य कुछ नहीं है), आदि को इस श्रेणि में समझना चाहिये। इनकी धारणायें और प्रक्रियायें ही ऐसी हैं जिनसे ब्रह्मबोध की ओर जाने का मौका मिल नहीं सकता। विचार की प्रगति संस्कारों पर आश्रित होती है अतः इनसे संस्कृत चित्त की स्वाभाविक विचारसरणि हर तरह से आत्मदिशा से दूसरी ओर चलेगी। उदाहरणार्थ योगी की स्वाभाविक चिन्तन-शैली होती है आत्मोन्मुखः मुझसे कोई वैर रखता है तो मतलब है मेरे चित्त में अभय प्रतिष्ठित नहीं है, मैं सबको अपनी ओर से अभय नहीं दे पा रहा हूँ। यह योगी का ढंग होगा इसलिये वह बाह्य परिवर्तन के लिये ख़ुद को परिवर्तित करने की कोशिश करेगा, यह उसकी दिशा हुई। जो लोग अध्यात्म और अधिभूत के परस्परसंपर्क को महत्त्व नहीं देते, अध्यात्म के भी परिवर्तनों को जो अधिभूत से ही जनित मानते हैं, वे इस ढंग से कभी नहीं सोचेंगे बल्कि जिसने वैर किया है उसी में दोष ढूँढेंगे। आगे उसके दोषों का हेतु फिर किसी बाह्य को मानेंगे — माता-पिता, अध्यापक, मित्रादि को। पुनः उनमें दोष के लिये इसी तरह बाहर की ओर बढ़ते जायेंगे और अन्त में (वास्तव में किसी अंत पर तो पहुँचेंगे नहीं पर कुछ कोटियों बाद) इस निश्चय पर पहुँचेंगे 'इस विकृति के लिये मेरे अतिरिक्त सारी दुनिया कारण है'। जो अध्यात्म-अधिभूत के सम्पर्क को महत्त्व देगा वह वैर के प्रति दोनों जगह कारणता ढूँढेगा। कुछ अपने में, कुछ बाह्य में उसे कारणता लगेगी। व्यवस्था सब बनायेंगे, अन्य व्यवस्थाओं में कमियाँ सब दिखा देंगे। अतः निर्विशेष मोक्ष की दिशा से जो दर्शनप्रक्रिया विमुख ही रहे उसे यहाँ मिथ्याज्ञान से समझना चाहिये।

यह प्रश्न यहाँ नहीं उठाना चाहिये कि उक्त ब्रह्मवाद को गन्तव्य मानें तब दिङ्निर्धारण हो पर उसे ही गन्तव्य मानें क्यों? कारण यह है कि स्वप्रकाशवाद, आगमप्रामाण्यसमर्थन, यौक्तिकता, 'गुह्य' अनुभव, प्रत्ययत्रय-संवाद आदि पूर्व प्रसंगों में इस विषय पर विचार हो चुका है; लेकिन वस्तुतः गन्तव्य-निर्धारण गन्ता की इच्छा से होता है और कवियों ने कहा है 'न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते'। अतएव भाष्यकार मुमुक्षु को अधिकारी मानकर ही शारीरक दर्शन का प्रख्यापन करते हैं। अतः प्रश्नभाष्य में स्पष्ट ही कहा है 'नादर्तव्या मुमुक्षुभिः' (६.३)। इसलिये 'गन्तव्य क्यों मानें?' इस प्रश्न का कोई औचित्य ही नहीं है। हम रोज़ स्वादिष्ट भोजन करने में सुखी होते हैं, जैन तापस भूखे रहते हुए, जल भी छोड़कर मर जाने को अपना आदर्श मानते हैं। यदि वे सिखाने से ऐसे हुए हैं तो हम भी सिखाने से ही ऐसे रह गये हैं। हम जैसों की संख्या ज्यादा होना यदि हमें उचित बनाये तो सर्वाधिक संख्यक लोग प्रयत्न किये बिना सुरक्षित सम्पत्ति चाहते हैं अतः वही उचित मान लेना चाहिये और किसी भी प्रकार का शारीरिक-मानसिक श्रम अच्छा समझने वालों को कुशिक्षित मान लेना चाहिये। इसलिये यद्यपि विविध तरीकों से निर्विशेष का सद्दीपन समझाया जा सकता है तथापि गन्तव्यनिर्धारण का अंतिम आधार तो व्यक्ति की स्वतंत्र इच्छा ही है। इच्छा में हमारा स्वातंत्र्य कितना, कैसा है आदि विचार संभव है किन्तु यथानुभव स्वातंत्र्य मानना अवश्य पड़ता है, इतना ही अभिप्राय है।

उत्तरार्धार्थः

विद्वदविदुषोर्यथोक्तौ पक्षाववधारयति— अविज्ञातम् अमतमविदितमेव ब्रह्म विजानतां सम्यग्विदितवतामित्येतत्। विज्ञातं विदितं ब्रह्म अविजानताम् असम्यग्दर्शिनाम् इन्द्रियमनोबुद्धिष्वेवात्मदर्शिनामित्यर्थः।

दूसरी अर्धाली का अर्थ

विद्वत्पक्ष और अविज्ञपक्ष को जैसा बताया वैसा स्वयं श्रुति उन्हे उत्तरार्ध से निश्चित करती है—जिन्होंने

सम्यक् अर्थात् अज्ञान, अन्यथाज्ञान, संशय आदि से रहित होकर समझा है वे ब्रह्म को विदित से अन्य ही पाते हैं। जिन्हे सम्यग्दर्शन नहीं है वे ब्रह्म को विदित माने रहते हैं। सम्यग्दर्शन नहीं इसलिए हो पाता कि वे इन्द्रिय-मन-बुद्धि को ही आत्मा समझते रहते हैं।

यहाँ भाष्यकार ने असम्यग्दर्शन का निदान कर दिया है। पदार्थ-शोधन न होने से ही वाक्यार्थ का सही ज्ञान नहीं हो पाता। उपदेशसाहस्री (पद्य.१८) में इस बात का और विस्तार है। 'तत्त्वमस्यादिवाक्येषु त्वंपदार्थाविवेकतः। व्यज्यते नैव वाक्यार्थो 'नित्यमुक्तोऽहम्' इत्यतः।।१८१।।' आदि वहीं देखना चाहिये। जैसे यदि शब्द सुनकर वाक्यार्थ नहीं भासता तो श्रोता की व्युत्पत्ति की कमी कारण होती है न कि शब्द में कोई कमी उसका कारण है - 'प्रथमश्रवणे यत्र न शब्दार्थावधारणम्। तत्राऽव्युत्पन्नता हेतुः शब्दानां न त्वशक्तिता'॥ बृ. वा. १.१.८७५॥ — या 'ध्वनि' के प्रति बधिर की अरसिकता से काव्य नीरस नहीं हो जाता, ऐसे ही विविध पुरुषापराधों से — जिसे पूर्व में (२.१) भाष्यकार ने 'स्वभावदोषवशाद् प्रतिपन्नः' से कहा था— हमें वाक्य का तात्पर्य ग़लत ही समझ आता है। तत्पदार्थ शास्त्रैकबोध्य होने से किंचित् व्युत्पन्न को संभवतः उसका लक्ष्य कुछ समझ आ भी जाये पर त्वमर्थ को तो साक्षात् समझे बिना कोई फ़ायदा होगा नहीं और त्वम् के लक्ष्य को समझने में कोश-अवस्था-शरीर रुकावट करेंगे ही। यहाँ इन्द्रिय कहकर इन्द्रिय समेत जितनी बाह्य उपाधियाँ संभव हैं उनका संग्रह कर दिया है। क्योंकि न्यायमत में गोलकातिरिक्त कर्मेन्द्रियाँ नहीं हैं तथा कुछ भौतिकवादी तो गोलकातिरिक्त ज्ञानेन्द्रियाँ भी नहीं मानते इसलिये इन्द्रियपद से शरीर समझा जा सकता है। 'पुरुषस्तु कर्ता सन् मन्वानो मन इत्युच्यते' (बृ.भा.१.४.७) आदि भाष्य से तथा मनोधर्मत्वेन प्रसिद्ध गुणों को आत्मगुण मानने वाले होने से वैशेषिकसंमत आत्मा को प्रकृत में भाष्यकार ने मन कहकर परामृष्ट किया है। कापिलात्मा को बुद्धि कहा है : वेदान्त में अहङ्कार को बुद्धिरूप मानते हैं जबकि सांख्यवादी अहम् इस प्रकार आत्मा का उल्लेख मानते हैं यह पंचपादिका में (पृ.५०२) कहा है 'ननु भोक्तापि तर्हि नासौ, तदुल्लेखाभावाद्? नैतदेवम्, अहमिति चेतनत्वसमुल्लेखात्, तदर्थत्वात्सर्वस्य, तदात्मकमेव भोकृत्वमिति भोक्तैव केवलमिति युक्तं मन्यन्ते।' एवं च पहले जो कपिल-कणभुगादि समय कहे थे उनमें कपिल व कणाद का आत्मविज्ञान स्पष्ट कर दिया और आदि से कहे विज्ञानों को इन्द्रिय कहकर व्यक्त कर दिया। क्षणिकविज्ञानवाद भी बुद्धिपद से समझ सकते हैं।

'अविजानताम्' इत्यस्यार्थः

न तु अत्यन्तमेव अव्युत्पन्नबुद्धीनाम्! न हि तेषां 'विज्ञातमस्माभिर्ब्रह्म' इति मतिर्भवति। इन्द्रियमनोबुद्ध्युपाधिष्वात्मदर्शिनां तु ब्रह्मोपाधिविवेकाऽनुपलम्भाद् बुद्ध्याद्युपाधेश्च विज्ञातत्वाद् 'विदितं ब्रह्म' इत्युपपद्यते भ्रान्तिः, इत्यतः असम्यग्दर्शनं पूर्वपक्षत्वेनोपन्यस्यते— 'विज्ञातमविजानताम्' इति।

'अविजानताम्' का अर्थ

जो लोग इन्द्रियादि किसी को पारमार्थिक आत्मा समझे बैठे हैं उन्ही को श्रुति अविज्ञ कह रही है न कि उन्हे जिनकी मति कुछ-भी सोचने-समझने लायक नहीं है क्योंकि ऐसे जो सोच-विचार से विहीन सामान्य लोग होते हैं वे 'हमने ब्रह्म को जान लिया' ऐसा नहीं समझा करते। जो लोग इन्द्रिय, मन, बुद्धि उपाधियों को 'यही वास्तविक आत्मा (अतः ब्रह्म) है' ऐसा समझ लेते हैं उन्ही का यहाँ उल्लेख है। ब्रह्म और उपाधि में जो अन्तर है वह समझ न पाने से इन्हे उपाधि में आत्मबुद्धि हो जाती है। बुद्धि आदि उपाधि विज्ञात ही है, दृश्य ही है, चिद्भास्य ही है, अतः 'हमें ब्रह्म विदित हो गया' ऐसा इन्हे भ्रम हो जाता है। इसलिये इन्हे जो असम्यग्दर्शन, ग़लत फ़हमी है उन्हे पूर्वपक्ष रूप से यहाँ रखा 'अविज्ञों को विज्ञात है' कहकर।

भाष्य का आशय है कि वेद यह नहीं कह रहा कि अज्ञानी या भ्रान्त ब्रह्मवेत्ता हैं बल्कि यह कह रहा है कि जो

ब्रह्म को विदित मानते हैं ज्ञेय, दृश्य, अनात्मा मानते हैं वे अविज्ञ हैं। एवं च 'मतम्' से अन्वय कर लेना चाहिये 'विजानताम् अविज्ञातम् (इति) मतम्, अविजानतां विज्ञातम् (इति) मतम्'। विज्ञात समझने वाले वास्तव में विज्ञान से रहित हैं यह तात्पर्य है। विज्ञात कहने वालों को उद्देश्य कर उनकी अविज्ञता के विधान में वेद का तात्पर्य है।

यद्यपि अत्यन्त अज्ञ को भी 'अविजानताम्' से कहा जा सकता था तथापि भाष्यकार का कहना है कि वे तो ब्रह्म के जिज्ञासु होंगे, वे उसे विज्ञात तो मानेंगे नहीं अतः 'विज्ञातम्' के अनुरोध से उन्हे नहीं लिया जा सकता। किंच श्रुति विज्ञात समझने को ग़लत समझ कहना चाहती है अतः उसे पूर्वपक्ष अर्थात् खण्डनीय मत के रूप में रखा है। ब्रह्म का अज्ञान तो सर्वानुभवसिद्ध है, वह पूर्वपक्ष नहीं है, निरसनीय भले ही है खण्डनीय नहीं। अतः 'हमें ब्रह्म की जानकारी नहीं' इतना ही मानने वाले सामान्य लोगों का यहाँ संग्रह नहीं, अब्रह्म को ब्रह्म समझने वालों का ही संग्रह है। इसीलिये कदाचित् अज्ञ से भ्रान्त को निकृष्ट माना जाता है। किसी बाह्य लेखक ने भी कहा है 'भगवान् के बारे में कोई मत न रखना बेहतर है बजाय इसके कि हम उनके बारे में ऐसा मत रखें जो उनके योग्य नहीं है।' लोक में भी जो कहे 'मुझे कोई दवा नहीं पता' उससे नीम-हकीम को ही ख़तरनाक कहते हैं।

उत्तरार्धप्रयोजनम्

अथवा हेत्वर्थ उत्तरार्धः— 'अविज्ञातम्' इत्यादिः। *'अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्' इति पूर्वहेतूक्तिः, अनुवादस्याऽनर्थक्यात्। अनुवादमात्रेऽनर्थकं वचनमिति पूर्वोक्तयोः 'यस्याऽमतम्' इत्यादिना ज्ञानाऽज्ञानयोर्हेत्वर्थत्वेनेदमुच्यते—*

दूसरी अर्धाली का प्रयोजन

यह देखा जाता है कि जिन्हे शुक्ति आदि अधिष्ठान तत्त्व का विज्ञान हो जाता है उनके लिये चाँदी आदि अध्यस्त वस्तुएँ अविज्ञायमान हो जाती हैं। अध्यस्त उन्हे ही विज्ञायमान होता है जो अधिष्ठान से अनभिज्ञ हैं। सोपाधिक स्थल में अध्यस्त दीखने पर भी वह सच्चा नहीं लगता। ब्रह्म में भी ज्ञेयता अध्यस्त ही है अतः तत्त्ववेत्ताओं को ब्रह्म ज्ञात नहीं लगता, तत्त्वज्ञान से रहितों को ही वह ज्ञात लगता है। इस लौकिक दृष्टान्त को हेतुरूप से अभिप्रेत कर श्रुति ने उत्तरार्ध कहा है। किंच शास्त्र-प्रसिद्ध विद्वानों को और प्रसिद्ध आत्मवादियों को भी दृष्टान्त बनाते हुए उत्तरार्ध प्रवृत्त हुआ है। इन अभिप्रायों से उत्तरार्ध का प्रयोजन बताते हैं – **पहले तो पूर्वोक्त विज्ञ-अज्ञ पक्षों को निश्चित करना उत्तरार्ध का प्रयोजन कहा था। विकल्पतः यह भी समझना चाहिये कि 'अविज्ञातम्' आदि उत्तरार्ध पहले कही बात में हेतु बताने के लिये है। सिर्फ़ अनुवाद रूप हो तब तो निष्प्रयोजन हो जायेगा। निष्फल पुनरुक्ति दोष मानी जाती है अतः यहाँ पुनरुक्ति को सफल समझना चाहिये इसलिये यह मानना संगत है कि 'विजानताम्' से सही ज्ञान वालों को और 'अविजानताम्' से ग़लत ज्ञान वालों को क्यों कहा।** न्यायसूत्रों की विश्वनाथवृत्ति में स्पष्ट किया है 'निष्प्रयोजनं पुनरभिधानं हि पुनरुक्तम्' (५.२.४)। अतः शब्दतः या अर्थतः पुनः कथन हो तो उसका प्रयोजनविशेष होना उचित है इसलिये पहले 'अवधारयति' कहकर अवधारण को प्रयोजन कहा था। 'सर्वं वाक्यं सावधारणम्' न्याय से यदि उतने मात्र को पर्याप्त प्रयोजन न मानें तो 'अथवा' से अन्य भी प्रयोजन बता रहे हैं।

विजानताम् 'अविज्ञातम्' इति सम्यग्ज्ञानम्

'अविज्ञातम्' अविदितम्, आत्मत्वेनाऽविषयतया ब्रह्म विजानतां यस्मात् तस्मात् तदेव ज्ञानम् यत्तेषाम्।

'अविज्ञात' यह विज्ञों को ठीक ज्ञान है

क्योंकि जो ब्रह्म के जानकार हैं वे उसे अविदित ही समझते हैं कारण कि वह आत्मा होने से विषय है

नहीं, इसलिये उन्हे जो जानकारी है वही ठीक ज्ञान है। पूर्व के जो ब्रह्मज्ञ हुए हैं उन्होंने ब्रह्म को अविज्ञात ही माना है। 'पूर्वेषाम्' का उल्लेख कर 'विदितादन्यदेव' कहा ही था (१.३)। याज्ञवल्क्य महर्षि ने भी 'अदृष्टः ···अश्रुतः ···अमतः ···अविज्ञातः' (बृ.३.७.२३), 'अदृष्टम् ···अश्रुतम् ···अमतम् ···अविज्ञातम्' (बृ.३.८.११) बताया है। इसलिये अब भी जो सही समझे उसे भी उस परमात्मा को विदित नहीं समझना चाहिये।

अविजानतां 'विज्ञातम्' इत्यसम्यग्ज्ञानम्

'विज्ञातं' विदितं व्यक्तमेव बुद्ध्यादिविषयं ब्रह्म अविजानताम्; विदिताऽविदितव्यावृत्तम्, आत्मभूतं, नित्यविज्ञानस्वरूपम्, आत्मस्थम्, अविक्रियम्, अमृतम्, अजरम्, अभयम्, अनन्यत्वादविषयम्—इत्येवम् अविजानतां बुद्ध्यादिविषयात्मतयैव नित्यं विज्ञातं ब्रह्म। तस्माद् विदिताऽविदित-व्यक्ताव्यक्तधर्माध्यारोपेण कार्यकारणभावेन सविकल्पम्, अयथार्थविषयत्वात्, शुक्तिकादौ रजताद्यध्यारोपणज्ञानवद् मिथ्याज्ञानं तेषाम्।।३।।

'विज्ञात' यह ग़ैर जानकारों का ग़लत ज्ञान है

जो ब्रह्मसाक्षात्कार से रहित हैं वे क्योंकि जो व्याकृत प्रपंचात्मक बुद्धि आदि हैं उन्हें ही ब्रह्म समझते हैं इसलिये मानते हैं कि ब्रह्म विदित है। पूर्व के जो अज्ञानी हुए हैं उन्ही ने माना कि ब्रह्म विदित हो चुका। बृहदारण्यक में (२.१) बालाकि गार्ग्य माने हुए था 'एतावद्धीति' (१४) – ब्रह्म इतना ही है और मुझे विदित है। तब अजातशत्रु ने कहा 'नैतावता विदितं भवतीति' इतना जानना सही जानकारी नहीं है। तार्किकादि भी परमात्म-स्वरूप के जानकार न होने से ही उसे प्रमेय, वाच्य आदि मानते हैं। अतः जैसे प्राचीन अज्ञों को ब्रह्म विदित लगा ऐसे ही अब भी जो अज्ञ होते हैं वे ही मनमाने विचारादि से इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि ब्रह्म विदित है। जो है असल में बुद्धि उसे ही ये आत्मा मान लेते हैं अतः इन्हे लगता है कि वह विदित है। ऐसे ही मन, इन्द्रिय आदि को आत्मा मानने वाले भी ग़लती कर बैठते हैं। वेदविचार से दूर रहने वाले बौद्धादि के लिये क्षणिक विज्ञान ही ब्रह्म है यह प्रसिद्ध ही है। यद्यपि वे उसे ब्रह्म नहीं कहते तथापि उसे पारमार्थिक मानने से ब्रह्म-स्थानापन्न ही वह हो जाता है। शुद्धविज्ञानधारा में प्रवेश को ये मोक्ष मानते हैं ऐसा न्यायरत्नावली में (पृ.४८) कहा है।

वास्तव में ब्रह्म विदित-अविदित दोनों से अन्य है, प्रत्यग्रूप है, कालनिरपेक्ष अनुभूति—यों उसे समझ सकते हैं, वह अपनी ही महिमा में प्रतिष्ठित है (द्र.छां.७.२४.१), किसी परिवर्तन से उसका कोई सम्बन्ध नहीं, किसी अभाव की उसमें प्रतियोगिता नहीं अर्थात् कैसा भी न होना ब्रह्म का नहीं होता, निर्विशेष होने से विशेषण-न्यूनता उसमें नहीं आ पाती, अद्वितीय होने से वह निर्भय है, हम से अन्य न होने से वह हमारा विषय नहीं है। किन्तु इस तथ्यपुंज से जो अनभिज्ञ हैं उनके लिये ब्रह्म हमेशा विज्ञात है क्योंकि बुद्धि आदि जो सचमुच हैं विषय, तत्स्वरूप ही वे ब्रह्म को समझते हैं। इसलिये विदित, अविदित, व्यक्त, अव्यक्त आदि किसी भी धर्म के आरोप के कारण जो ब्रह्म का सविकल्पक अर्थात् सविशेष (सप्रकारक) ज्ञान है, या कार्यमात्र का कारण मानकर उसका कारणत्वेन—कारणत्वविकल्प वाला—ज्ञान है वह मिथ्याज्ञान ही है क्योंकि वह जिसे विषय करता है वह सविकल्पक वस्तु वास्तव में आत्मा है नहीं। जैसे सीप आदि को चाँदी आदि समझना भ्रम है ऐसे ही सविकल्प को ब्रह्म समझना—भ्रम है।

'नित्यम्' इसलिये कहा कि बुद्ध्यादिसाक्षी से वे सर्वथा बेख़बर रहते हैं। नैयायिकादि 'साक्षी', 'प्रमाता' इनके बारे में कुछ भी विवेक नहीं रखते। इसीलिये कभी मन से अलग आत्मा उन्हे भासता नहीं, तो स्वाभाविक है कि वे मन को ही आत्मा मानें। कार्य-कारणभाव भी मायिक ही है, यदि परमात्मा सचमुच कारण समझा जाये तो यह भी भ्रम है। सचमुच कार्य हो तभी वास्तव में कारण हो सकता है। झूठ-मूठ के कार्य का सच्चा कारण कैसे होगा? वन्ध्यापुत्र का पिता

कहाँ मिलेगा? इसीलिये जगज्जन्मादिकारणता को वेदान्तों में तटस्थ लक्षण ही माना है।

इस प्रकार इस मंत्र में कथानक से हटकर ख़ुद श्रुति ने 'अन्यदेव तद्विदितात्' (१.३) आदि जो आगमवचन पूर्व में उद्धृत हुआ था उसकी सुस्पष्ट व्याख्या कर दी।।३।।

चतुर्थो मन्त्रः

अवतरणिका

'अविज्ञातं विजानताम्' इत्यवधृतम्। यदि ब्रह्म अत्यन्तमेवाऽविज्ञातं, लौकिकानां ब्रह्मविदां चाऽविशेषः प्राप्तः! 'अविज्ञातं' 'विजानताम्' इति च परस्परविरुद्धम्। कथं तु तद् ब्रह्म सम्यग्विदितं भवति? इत्येवमर्थम् आह-

चौथा मंत्र—अवतरण

पूर्वत्र कहा कि तत्त्ववित् के लिये ब्रह्म अविज्ञात है। यदि ज्ञातरूप से ब्रह्म का दर्शन विद्वानों को नहीं होता तो 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञानात्मक और कथनात्मक व्यवहार वे कैसे करते हैं? व्यवहार्य तो वही देखा गया है जो ज्ञात हो। और अगर 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा व्यवहार न हो तो न अविद्यानिवृत्ति हो सकती है और न शिष्य को उपदेश। यह शंका सहज है। लेकिन हम यह चिंता करें कि ज्ञानी 'मैं ब्रह्म हूँ, यह व्यवहार कैसे करता है?' उसी तरह होगा जैसे ईंटें ढोने वाले मज़दूरों को चिन्ता हो जाये कि 'जौहरी लोग रत्नों के डिब्बे कैसे ढोते होंगे?'! (यहाँ टीकाकार ने उदयनाचार्य से प्रेरित हो वादी को उसके प्रश्न का खोखलापन दिखाने का प्रयास किया है।) आख़िर जब तुम कहते हो कि ज्ञात चीज़ ही व्यवहार्य होती है तब तुम्हारा मतलब इतना ही हो सकता है कि जिसका व्यवहार होता है वह वस्तु प्रकाशमान हुआ करती है। वस्तु का प्रकाशमान होना यदि अपने से अतिरिक्त किसी कारण से हो तब उसे सचमुच ज्ञातता वाला कहा जा सकता है, और यदि बिना किसी अन्य कारण के हो तो उसमें सच्ची ज्ञातता नहीं कही जा सकती। लेकिन व्यवहार को इससे फ़र्क़ नहीं पड़ता, वह तो इतना ही चाहता है कि वस्तु प्रकाशमान होनी चाहिये, वह चाहे अन्य से प्रकाशमान हो, चाहे अन्य से प्रकाश पाये बिना प्रकाशमान हो। अतः विद्वान् का व्यवहार ब्रह्म को प्रकाशमान सिद्ध करता है न कि यह भी कि वह अन्य से प्रकाशित अर्थात् ज्ञात है। और प्रकाशमान वह है यह पहले बता ही चुके हैं। इस प्रसंग को स्पष्ट करने के लिये भगवान् भाष्यकार चौथे मंत्र की भूमिकारूप से प्रश्न उपस्थित करते हैं - **पिछले मंत्र में यही निश्चित किया कि वास्तविक जानकारों को परमात्मा अविज्ञात है किन्तु यदि उन्हे ब्रह्म बिल्कुल ही अननुभूत हो तो सामान्य लोकों में ('लोक' एक जातिविशेष है जिनमें पठन-पाठनादि आज भी नहीं जैसा ही है) और शास्त्रादि में प्रशंसित ब्रह्मवेत्ताओं में कोई अन्तर ही नहीं रहेगा! साथ ही साधनानुष्ठान व्यर्थ ही सिद्ध होगा। इतना ही नहीं, उन्हे विज्ञान वाला कहा और उनके प्रति उसे अविज्ञात कहना आपस में विरुद्ध बात है जैसे कोई कहे 'मुझे बद्रीनारायण की मूर्ति दीखी तो नहीं पर मैंने देख ली'! ऐसी वदतोव्याघात वाली बात से तो कुछ समझना संभव नहीं। यह मान लिया कि ब्रह्म में विज्ञाततारूप कोई धर्म न होने से उसे अविज्ञात कहा फिर भी यह बताना चाहिये कि उन्हे ब्रह्म की कैसी जानकारी है कि उन्हे सम्यग्ज्ञान वाला श्रुति ने माना। अतः इसी प्रयोजन को ध्यान में रखकर चौथा मंत्र प्रवृत्त हो रहा है।**

'नीला', 'पीला' आदि आकारों वाली जो बुद्धिवृत्तियाँ हैं वे हैं यद्यपि जड क्योंकि भौतिक अंतःकरण के विकार हैं, तथापि लगती हैं चेतन अर्थात् ज्ञानरूप। 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' आदि में बताये ढंग से जिस वास्तविक चेतन से व्याप्त - घिरी हुई, एकमेक हुई, अविविक्त हुई, उसकी छाया पाकर, उसे मानों अपने में सिमेट कर - होने से वे चेतन लगती हैं वह है साक्षी। पहले 'मैं' शब्द से किसी तरह उसे समझना है अर्थात् 'मैं' से वह साक्षी अभिप्रेत होने से अभी उससे अतिरिक्त जो कुछ 'मैं' में हम बटोरे हुए हैं उसे हटा कर उस अकेले साक्षिरूप में अवस्थित होना है। 'मैं' शब्द की शक्ति तो साक्षी

में नहीं है किंतु लक्षणा-समकक्ष व्यापार से यह समझा जा सकता है अतः 'साक्षी को उपलक्षित कर' ऐसा प्रयोग किया जाता है। इस विषय में न्यायरत्नावली (पृ.१६) काफी स्पष्टता देती है। अथवा, जब तक साक्षी समझा जाता है तब तक साक्ष्य-निरूपितता रहेगी ही अतः साक्ष्य छूटेगा नहीं, यह बताने के लिये 'साक्षिणमुपलक्ष्य' यह टीका-प्रयोग है। तात्पर्य है कि महावाक्यार्थ समझे बिना विवेक या पदार्थशोधन साक्षी के स्वरूप में स्थित नहीं कर पाता, साक्षित्वेन ही साक्षी की—अपनी—समझ हो सकती है। हर हालत में पहले इस स्थिति पर पहुँचना ही पड़ेगा कि 'मैं' से हमें साक्षी समझ आये। तब महावाक्य से 'वह 'मैं' - आत्मा - ब्रह्म हूँ' यह समझा जाता है। विषयरूप से, 'यह' इस तरह अपने से अलग कर ब्रह्म नहीं समझा जाता। ऐसा जानकार सम्यग्वेत्ता श्रुति को अभिमत है। अतः सामान्य लोकों के समान ब्रह्मवेत्ता हो जायेगा, साधना व्यर्थ होगी आदि भय बेकार है। सामान्य लोग तो साक्षी को ही नहीं जानते, सामान्यों को छोड़ो न्याय-वैशेषिक दर्शन वाले तक नहीं जानते! तो ब्रह्म को क्या जानेंगे? उन्हे तो संभवतः यह भी नहीं पता कि हम ब्रह्म नहीं जानते। यह बात 'चरम लक्ष्य' नामक पुस्तिका में हमारे गुरुचरणों ने विस्तार से समझायी है। साक्षी समझ कर उसकी ब्रह्मरूपता के अज्ञान की निवृत्ति वेदान्तप्रोक्त सम्यग्ज्ञान है यह इस मंत्र में बताया जायेगा।

मन्त्रः

प्रतिबोधविदितं मतम् अमृतत्वं हि विन्दते। आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्॥२.४॥

मन्त्र का शब्दार्थ

जब **प्रतिबोधविदितम्** = प्रतिबोध—अर्थात् प्रत्ययों का प्रत्यगात्मा—ब्रह्म समझा जाता है तब **मतम्** = वह निर्दुष्ट जानकारी है **हि** = क्योंकि इसी जानकारी से **आत्मना** = आत्मरूप से **अमृतत्वम्** = मोक्ष **विन्दते** = मिलता है। **विद्यया** = आत्मविद्या से ही **अमृतम्** = वह अविनाशी **वीर्यम्** = बल **आत्मना** = आत्मा से अभिन्न हुआ **विन्दते** = प्राप्त होता है, जो अविद्या-तत्कार्य से अप्रतिहत रह कर उसे निःशेष समाप्त कर देता है।

('आत्मना' पद का तन्त्र से प्रयोग है। दोनों अर्धालियों के बीच होने से देहलीदीपन्याय से भी यह दोनों से सम्बद्ध हो जाता है अर्थात् तन्त्रन्याय की जगह प्रसंगन्याय से भी उक्त अन्वय संगत है। उभयत्र अन्वय भाष्य में ही स्पष्ट है।)

'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' को यहाँ प्रतिबोध कह दिया : वहाँ 'श्रोत्रस्य, मनसः, वाचः' आदि से जो कहे थे वे यहाँ बोध या प्रत्यय हो गये और जो 'श्रोत्रं, मनः, वाचम् (वाक्)' था वह उनका प्रत्यगात्मा, प्रतिबोध हो गया। अगले मंत्र में तो फल और अर्थवाद बताना है अतः परम प्रकृत के उपदेश को यहाँ उपसंहृत कर रहे हैं। वहाँ भी 'ज्ञात्वा' का अध्याहार कर 'अमृता भवन्ति' कहा था और यहाँ भी 'हि अमृतत्वं विन्दते' से वही बताया है। प्रतिबोध की विद्या आत्मा पर कल्पित सारी दुर्बलता हटा देती है तो उसका स्वाभाविक अप्रधृष्य बल सर्वोत्कर्षेण बना ही रहता है। जैसे जाम्बवान् आदि के कथन से हनुमान् जी को अथाह वीर्य मानो मिल गया, ऐसा ही यहाँ है।

शंकरानन्दस्वामी बताते हैं कि जब कहा 'जिनके लिये ब्रह्म अविदित है वे सम्यग्ज्ञानी हैं' तो शंका हुई कि सुषुप्ति आदि में सभी के लिये वह अविदित होने से सभी को सम्यग्ज्ञानी क्यों न माना जाये? ध्यान रहे कि शंकरानंदजी की पूर्वमंत्र-योजना अन्य ही ढंग की थी यद्यपि तात्पर्यतः कोई अंतर नहीं है। इस शंका का समाधान यहाँ किया जा रहा है कि सब बुद्धिवृत्तियाँ उपरत होने पर अर्थात् सुषुप्ति आदि में उन्हे सम्यग्ज्ञान है ऐसा नहीं वरन् हर बुद्धिवृत्ति के साक्षी रूप से वे उसे समझते चलते हैं इसलिए सम्यग्ज्ञान है। इस सम्यग्ज्ञान का महान् फल है। श्रुति के 'आत्मना' पद का अर्थ है 'आत्मज्ञान से'। आत्मा के सम्यग्ज्ञान से ही अमरता मिलती है, अविद्या और उसके जो मरना-जीना आदि कार्य हैं उनसे रहित ख़ुद ही प्रकाशमान आनन्दघन प्रत्यङ्मात्र रह जाता है। वीर्य से वह चरम साक्षात्कार कहा है जो अविद्यानिवृत्ति में

समर्थ कारण है। 'विद्यया विन्दतेऽमृतम्' से कहा कि यह बात प्रसिद्ध ही है कि पूर्वोक्त वीर्य से आत्मरूप अमरता मिलती है। विद्या का मतलब है अधिष्ठान तत्त्व का यथार्थ अपरोक्ष प्रमा निश्चय। अमरता देने के लिये उस विद्या को कर्म की गंध भी नहीं चाहिये। वह अधिष्ठान ही अमृत है क्योंकि अपनी वास्तविकता में वह अपनी ग़ैरजानकारी, अपने बारे में ग़लत फ़हमी और उसी से होने वाले मरणादि से रहित, निर्विकार है। अपने में कल्पित अपनी ग़ैरजानकारी व उससे होने वाले ग़लत फ़हमी आदि हटने से वह ख़ुद को मानो पा लेता है।

उपनिषद्योगी ऐतरेय में (३.५) कहे संज्ञानादि प्रत्ययों का बोधशब्द से ग्रहण करते हैं। 'प्रतिबोध' से हर बोध कहा होने से भी बोधों का—प्रत्ययों का—ग्रहण हो जाता है। वे सभी प्रत्यय उस प्रत्यग्धातु, प्रत्यङ्मात्र, से व्याप्त हैं जो उन से विलक्षण है। सभी बोधों के होने न होने का प्रकाशक जो प्रत्यक् है वही ब्रह्म है यह पहले समझ आती है पर फिर प्रकाश्यों की अपेक्षा से उसे प्रकाशक नहीं समझना पड़ता, प्रकाशमात्र ब्रह्म रहता है। वे बताते हैं कि क्योंकि साक्षित्व भी कल्पित है इसलिये साक्षित्व वाले की अपेक्षा भी चिद्धातु—चिन्मात्र विलक्षण ही है। लेकिन जो प्रत्यय, उनके साक्षी और चिद्धातु की यथार्थता से अनभिज्ञ हैं वे आत्मा के बारे में विभिन्न कल्पनायें करते हैं। विवेकादिपूर्वक वेदान्तश्रवणादि से समझ आता है कि विदित-अविदित का प्रतिषेधरूप जो ज्ञान है—दृश्यात्यन्ताभावनिश्चय है—वह जिस प्रत्यक् को है उससे ब्रह्म अभिन्न है। किन्तु निष्ठाकाल में किसी भी अन्य की अपेक्षा से रहित स्वमात्र ही रहता है। स्वमात्रतया विदित ही प्रतिबोधविदित है, वही ईशादि सकल वेदान्तों को 'मतम्' संमत है। वही अमृत है जिसे आत्मज्ञ पाता है। 'हि' से कहा कि इसमें कोई संशय नहीं। योगिराज कहते हैं कि धन, मन्त्र, तन्त्र, तप, योग आदि से प्राप्त वीर्य जन्य अतः क्षणिक है और अज्ञाननिर्मूलन का उसमें कोई सामर्थ्य नहीं है। वह वीर्य तो ख़ुद भी मृत्युरूप ही है, मृत्यु का विनाश क्या करेगा! आत्मविद्या से मिला बल ही अज्ञाननिर्मूलन अतः मृत्यु आदि सकल दुःख का निवारण करता है।

जब हम किसी चीज़ को जानते हैं तो पहले पूरी कोशिश कर दुनिया के हर पदार्थ से अलग कर, हम जो उसे देखने वाले हैं उससे भी अलग कर, उसे, सिर्फ़ उसे ही जानते हैं। किसी वस्तु की सही जानकारी का ढंग ही यह है कि बाकी अपेक्षायें भूलकर उसे उसी के परिप्रेक्ष्य में समझा जाये। लेकिन इस तरह हुआ उसका ज्ञान उसकी समग्रता का ज्ञान नहीं है। जब तक भूत, वर्तमान, भविष्य सारे जड-चेतन संसार के परिप्रेक्ष्य में उसे और उसके परिप्रेक्ष्य में सारे संसार को न समझ लिया जाये तब तक यह नहीं समझना चाहिये कि उस वस्तु की समग्रता हमने जान ली। किसी पदार्थ की उसी समझ को प्रतिबोध कहना चाहिये जिससे वह पदार्थ अपनी समग्रता में भासे, न किसी से वह और न उससे कुछ अछूता रह जाये।

ऐसे ही ब्रह्म-प्रतिबोध है : पहले द्वैत-असहिष्णु बोध ही होगा पर वही अपने परिपाक में सर्वसह हो जाता है। विवेककाल में कोई कितना ही भेदभञ्जन में तत्पर हो, प्रतिबोध काल में कह ही उठता है 'न चैतावत्येवाक्षमा युक्ता भवतः, सर्वं हि नानात्वं ब्रह्मणि कल्पितमेव' (बृ.भा.१.४.१०) या 'अक्षमा भवतः केयम्?' (वहीं वार्तिक)। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि फिर परमात्मा अनुवृत्त दीखता हो। वह तो अव्यावृत्त-अननुगत वस्तु ही रहता है, विदित-अविदित से अधि ही रहता है, धर्म-अधर्म से अन्यत्र ही रहता है; पर ये सब ऐसे नहीं रहते कि उससे अलग रह सकें। जैसे ज्ञानी तो उसे जानता है यद्यपि वह विदित नहीं है, ऐसे ही जड-चेतन सारा प्रपंच उसी के ताने-बाने में है, उसी से ओत-प्रोत (बृ.३.६) है, चाहे उसमें यह कभी किसी तरह नहीं है। यही श्रीकृष्ण का ऐश्वर योग है (गी.९.४-५)। जैसे नहुष, हरिश्चन्द्र, दुष्यन्त, अग्निमित्र, उदयन, चन्द्रगुप्त, चारुदत्त आदि सब हमें नट में ही मिलेंगे, चाहे नट में वे कतई न रहें ऐसे ही प्रतिबुद्ध को संसार अपने उसी स्वरूप में दीख जाता है जिसमें वह (=संसार) कभी है नहीं। अमलानंदजी ने शङ्करकथन कहकर यह दृष्टान्त प्रकट किया है। इसीलिये पूर्वमंत्र में ही बृहदारण्यक का (४.४.१३) संदर्भ सूचित किया था। वस्तुतस्तु वहाँ का प्रसंग 'तदेते श्लोकाः' आदि आठवें मंत्र से इक्कीसवे मंत्र तक और माध्यन्दिन में ४.२.११ से २३ तक केन के

प्रकृत प्रसंग और 'ब्राह्मी उपनिषत्' से अवश्य तुलनीय है। इस प्रतिबोध में ही जीवन्मुक्ति, आधिकारिकाधिकरण, लोकसंग्रह आदि सभी का समाधान है।

हमें पता है कि टाँग वैज्ञानिक नहीं है, इसलिये किसी विद्वान् वैज्ञानिक की टाँग कट जाये तो हम नहीं मानते कि उसकी वैज्ञानिकता घट गयी या समाप्त हो गयी। ऐसे ही मन तो मुक्त है नहीं अतः किसी का मन चाहे दैवी संपत् से देदीप्यमान हो, चाहे आसुरी संपत् से सड़ा गला हो, या पागल ही हो जाये, हम कैसे उसकी मुक्तता को घटा या हटा मान सकते हैं? यह तो हमारा पदार्थ-अशोधन ही हमें दृश्यधर्मों को आत्मा पर अध्यस्त करा कर दिखाता है जिससे हम शरीर से, कम से कम सूक्ष्म शरीर से पृथक् बिना किये ही मुक्त को समझना चाहते हैं, जिन्हें भाष्य में पूर्वत्र कहा था 'इन्द्रियमनोबुद्ध्युपाधिष्वात्मदर्शिनाम्', वे ही हम रह जाते हैं। प्रतिबुद्ध जीवन्मुक्त है, नट की तरह; उसे पता है वह हरिश्चन्द्र नहीं और न ही नटी तारामती है, संभवतः वैसे भी वह नटी उसकी पत्नी या कोई भी सम्बन्धी नहीं है। उसे इसमें कोई अज्ञान या भ्रम नहीं कि न उसका राज्य गया है, न वह दास है, न उसका पुत्र मरा है, संभवतः वैसे भी उसका अभी कोई पुत्र न हो। लेकिन क्या उसका नाटक बिगड़ जाता है? इसी तरह मुक्त को प्रपंच ख़ुद में दीखे तो इससे वह सद्वितीय नहीं हो जाता। अतः भयभीत नहीं है, चाहे धर्म के या चाण्डाल के भय से ही तारामती से उसका पहना हुआ कपड़ा फड़वा रहा है। यदि मुक्त शरीरद्वय के दोषों से सदोष है तब तो ब्रह्म ही अनन्त शरीरों के अगणित दोषों से दुष्ट ही मानना होगा। आख़िर वही ब्रह्म तो हम बनना चाहते हैं जो हम हैं! 'तदेव सन्तस्तदु तद्भवाम:' (माध्यं.बृ.४.२.१५)।

हाँ, बोध में यह वीर्य नहीं है। जैसे विज्ञान का प्रतिबोध होने पर नहाते हुए बर्तन में पानी का स्तर ऊँचा होना, सेब का नीचे गिरना, चाय बनाते हुए बर्तन से भाप निकलना, प्रातः काल पुष्प का रंग बदलता दीखना आदि चाहे जहाँ वैज्ञानिक रहस्य ही अपना दर्शन कराते रहते हैं किन्तु विज्ञान का छात्र—या सामान्य विद्वान् भी—तो कक्षा या प्रयोगशाला में समाहित होकर ही विज्ञान समझ सकता है, इसी तरह ब्रह्मबोध व्युत्थानदशा में मानों सो जायेगा पर प्रतिबोध में वह अमृत वीर्य है जिससे 'मुनिर्न व्यामोहं भजति गुरुदीक्षाक्षततमा:' (जीवन्मुक्तानन्दलहरी)। अतः यह प्रतिबोध ही ज्ञान की चरमावस्था है जिसमें हर प्रत्यय - (चाहे 'प्रत्यय' शब्द कर्तृव्युत्पत्ति से हो, कर्मव्युत्पत्ति से या करण व्युत्पत्ति से) - परमात्मा का निष्कलंक मुखचन्द्र प्रतिबिम्बित कर निष्प्रत्ययदशा के निरवच्छिन्न आनन्द में कुछ भी न्यूनता नहीं आने देता।

'प्रतिबोधविदितम्' इत्यस्य सिद्धान्तेऽर्थः

प्रतिबोधविदितं बोधं बोधं प्रति विदितम्। *'प्रतिबोधविदितं मतम्' इति वीप्सा प्रत्ययानाम् आत्मावबोधद्वारत्वात्। बोधं प्रति, बोधं प्रति—इति। वीप्सा सर्वप्रत्ययव्याप्त्यर्था।* बोधशब्देन बौद्धाः प्रत्यया उच्यन्ते। सर्वे प्रत्यया विषयीभवन्ति यस्य स आत्मा सर्वबोधान् प्रति बुध्यते; सर्वप्रत्ययदर्शी चिच्छक्तिस्वरूपमात्रः प्रत्ययैरेव प्रत्ययेषु अविशिष्टतया लक्ष्यते। नान्यद् द्वारमात्मनो विज्ञानाय। *बौद्धा हि सर्वे प्रत्ययाः तप्तलोहवद् नित्यविज्ञानस्वरूपात्मव्याप्तत्वाद् विज्ञानस्वरूपावभासाः, तदन्यावभासश्चात्मा तद्विलक्षणोऽग्निवदुपलभ्यत इति तेन ते द्वारीभवन्ति आत्मोपलब्धौ।*

'प्रतिबोधविदितम्' का सिद्धान्तसंमत अर्थ

कुछ भी समझने का तरीका हमने सीख रखा है कि वस्तु को सामने कर, अपने संमुख रख हम उसके बारे में देखें, सुनें, सोचें इत्यादि; जिस भी प्रमाण का वह विषय हो उसका हम उस पर प्रयोग करें। ऐसा तरीका हमें विषयज्ञान ही देगा। आत्मा को विषयरूप से समझना मना कर दिया तो कोई तरीका बताना चाहिये जिससे उसे समझ भी लिया जाये और उसे विषय भी न करना पड़े। यही तरीका बताने को अब श्रुति प्रवृत्त हुई है। यहाँ बताये ढंग को पहले शान्ति से एकाग्रतापूर्वक प्रयोग में लाना चाहिये, फिर शनैः शनैः कुछ सरल-सहज व्यवहारों के समय यह जागरूकता बनानी चाहिये। और लम्बे अभ्यास से सारे जाग्रत् काल में इसे बनाया रखा जा सका है लेकिन वह स्थिति तत्त्वनिष्ठाकाल में ही

होगी। इस अभिप्राय से आचार्य व्याख्या करते हैं-बोध बोध में अर्थात् दरबोध जो विदित है उसे प्रतिबोधविदित कहा। प्रतिबोध-शब्द का प्रयोग इसलिये किया कि इससे पता चले कि हर बोध आत्मा समझने का तरीका बन सकता है। निरन्तर पुनः-पुनः होने वाले अनेक व्यक्तियों को इकट्ठा कर संख्या-विवक्षा छोड़कर कहना हो तब ऐसे प्रयोग करते हैं, जैसे प्रतिदिन। इससे जो अर्थ प्रतीत होता है उसमें बोध या दिन शब्द-अर्थ बार बार चलने वाली श्रृंखला भासती है। इस पौनः पुन्यं (बार बार होते रहना) को वीप्सा कहते हैं। इस तरह जब आत्मा को दरबोध विदित कहा तो हर बोध का आत्मा से सम्बंध भी कह ही दिया गया जैसे 'दरबाल्टी खीर रखी है' से पता चलता है कि प्रत्येक बाल्टी में खीर का संयोग है। यह कहने का अभिप्राय श्रुति का है कि हर बोध आत्मा को समझने का मानों दरवाजा है अर्थात् उपाय है। आत्मा बोध के अभिमुख है अर्थात् बोध की ओर मुँह किये हुए है, बोध उसके (=मेरे) सामने ही पड़ता है, बोध उसका विषय होता है। इस बोध के भी आत्मा प्रतिमुख है, उस बोध के भी, और बोधों के भी; वीप्सा के कारण पता चला कि सारे ही बोधों के वह अभिमुख है। सब बोधों को व्याप्त अर्थात् विषय करता है। यही बोधों से उसका सम्बन्ध है। ध्यान रहे कि 'प्रतिबोधम्' इस समास में प्रति-शब्द से वीप्सा पता चली। किन्तु 'बोधं प्रति बोधं प्रति' यह जो भाष्य है इसमें प्रति का मतलब वीप्सा नहीं बल्कि अभिमुखता है। पहले जो प्रतिज्ञा की कि 'बोधों को उपाय वीप्सा से बताया है' इसी को स्पष्ट करने के लिये कहा 'बोधं प्रति बोधं प्रति'। यहाँ 'बोधम्, बोधम्' यह जो बार बार (क्योंकि दो की गिनती में तात्पर्य नहीं, जितने बोध हैं वे सब, किन्तु एक-एक कर—यह तात्पर्य है) बोध उपस्थित हुआ यह तो वीप्सा से सीधा ही होगा। 'प्रतिबोधविदितम्' इतने समास से हर बोध और विदित होने का जो सम्बन्ध (खीर और बाल्टी के संबंध की तरह) सूचित हुआ उसे भाष्य में 'बोधं प्रति' कहकर प्रति-शब्द से व्यक्त किया। वीप्सा के कारण ज्ञात हुआ कि एक-आध या अमुकाकार वाले या सात्त्विकादि कुछ बोध ही आत्मसंबद्ध हों ऐसा नहीं, सभी बोध उससे सम्बद्ध हैं। इस तरह स्पष्ट किया कि बोध का विषय उसे नहीं बनाना वरन् बोध को उसका विषय बनाना है। फलतः वह बोध से प्रत्यक् रह जायेगा। अभी हमें अपना 'बोधवान्' यही अनुभव है। जब बोध को विषय कर देखने की कोशिश करेंगे तो ख़ुद बोध से हटे हुए भासेंगे अतः वृत्तिविशिष्ट की अपेक्षा वृत्त्युपहित ख़ुद को महसूस करेंगे। इसमें जो 'बोध को देखना' है वह भी धीरे-धीरे छोड़ना पड़ेगा यह पहले उपनिषद्ब्रह्मयोगी के अनुसार बता चुके हैं। सिर्फ़ अपना महसूस होना बचेगा। जब यह स्थिर हो जायेगा तब कभी-कभी बोध 'दीखते' हुए भी महसूस होना तिरोहित नहीं होगा। जब बोध दीखना-न दीखना इसमें कोई अंतर न डाल पाये कि हम बोध को ('दीखते हुए' रूप में या 'न दीखते हुए' रूप में) उपस्थिति (प्रसक्त) किये बिना ख़ुद महसूस होते रहें तब वृत्ति से अपना विवेक भास सकता है।

यह महसूस होना भी वृत्ति की अपेक्षा रखता है। समानाकार वृत्तियों का प्रवाह या जब तक विच्छिन्न न हो तब तक एक दण्डायमान वृत्ति रहते ही यह महसूस होना बना रह सकता है। इसीलिये गहरी नींद में—बल्कि स्वप्नावस्था में भी—महसूस होता हुआ नहीं रहता। अन्य वृत्तियोंके साथ ही एक समनन्तर वृत्ति बनी रहे तभी तक हम ख़ुद महसूस होते हुए रह सकते हैं। इस दृष्टि से यह भी भले ही एक बोध ही है किंतु क्योंकि इसमें अन्य कोई धर्म नहीं भास रहे इसलिये इसमें साक्षी का सही प्रतिबिम्ब पड़ रहा है, इस बोध से साक्षी को सही समझा जा रहा है। भाष्य में 'अस्मत्प्रत्ययविषय' जो आत्मा को कहा है वह इस अस्मत्प्रत्यय में स्पष्ट होता है। सामान्य अस्मत्प्रत्यय में अन्यान्य धर्म भी रहते हैं और साक्षी की छाया भी। इस अस्मत्प्रत्यय रूप बोध में बाकी कुछ नहीं रहता, साक्षी की छाया रहती है। अतः यह साक्षी की प्रमा है। इसीलिये बोध ही हो सकती है क्योंकि प्रमा चित्तवृत्ति होती है। यह महसूस होना बोधविशेष होने पर भी जो महसूस हो रहा है वह साक्षी इससे स्पष्ट हो जाता है अतः बोधों से (ख़ुद को छोड़कर अन्य सभी से; क्योंकि साक्षी की सही जानकारी या साक्षी के महसूस होने से अतिरिक्त साक्षी प्रकाशमान नहीं हुआ।) साक्षी का विवेक हो जाता है। क्योंकि साक्षी समझा जाता—भासता, महसूस होता—रहे इसके लिये वृत्ति अनिवार्य है इसीलिये साक्षी को (साक्षित्वविशिष्ट को)

मिथ्या माना गया है। अत एव सांख्यप्रक्रिया पर्याप्त नहीं हो पाती। इस साक्षी की प्रमा में, समझ में, हमें हम परिच्छिन्न ही भासते हैं। यद्यपि देश-काल-वस्तु उपस्थित नहीं होते अतः 'किस से परिच्छिन्न है' यह नहीं प्रतीत होता, लेकिन क्योंकि भूमरूप नहीं भासता इसलिए सच्चित् तो स्फुरता है, आनन्द नहीं स्फुरता। इस अनुभूति में जडता तो नहीं है लेकिन भावभूत अनावृत आनन्द भी नहीं है। महावाक्यीय बोध में ही वह अलौकिक सामर्थ्य, वीर्य है जो उस आवरण को हटाता है। उस बोध में भूमरूप भी भासता है, अनुल्लिखित नहीं रहता। तब आनन्द स्फुरण (=चित्) है (=सत्)। होते समय वह भी बोधसापेक्ष है, वृत्ति की ज़रूरत है लेकिन होकर, फिर नहीं। फिर जो विज्ञान है हमारे अभी के सारे सोचे समझे विज्ञानों से विलक्षण है, अलग है। वह प्रमा नहीं क्योंकि किसी अज्ञान को नहीं हटाता। (जब अज्ञान था तभी वह उसे नहीं हटा रहा था तो अब जब अज्ञान है ही नहीं तो क्या हटायेगा!) न वह भ्रम है, कटता नहीं है। न वह किसी को है, न किसी के बारे में है। इसीलिए वह अनुभूतिपद का वाच्य नहीं, भले ही अनुभूति किसी तरह उससे समानता रखती है इसलिए अनुभूति कहकर उसे अभी हम संतोष कर लेते हैं। यही उस आनंद का हाल है : वह भी हमारे किसी आनंद जैसा नहीं है। और उसका होना भी ऐसा नहीं जैसा हमने समझा है या समझ सकते हैं। पर न नहीं है, न दुःख है, न अननुभूति है। हम उसे प्रकाश कहते हैं लेकिन वह प्रकाश बिल्कुल नहीं है, बस अँधेरा नहीं है। इसीलिये उसे समझना भी एक बोध ही है, समझाने के लिये भी हम बोध का ही सहारा लेते रहेंगे किन्तु वह तो बोध के प्रति ही है। हमने आज तक रंग को रोशनी के ही संदर्भ में समझा है। सारी रोशनी का संदर्भ हटा कर क्या हम रंग की कोई संकल्पना बना पाते हैं? ऐसे ही हम बोध के संदर्भ में ही ख़ुद को समझे हुए हैं अतः सारे बोधों को—'मैं'-बोध को भी और 'मैं ब्रह्म'-बोध को भी—छोड़कर अपनी कोई संकल्पना बना ही नहीं सकते। इसलिये जैसे कुछ लोग कहेंगे कि रोशनी से अतिरिक्त रंग कुछ है ही नहीं ऐसे ही कुछ और लोग कहेंगे कि बोध से अतिरिक्त हम भी कुछ नहीं हैं। बात ठीक है : होने का जो कोई भी मतलब समझा जा सकता है उस मतलब से तो यही कहना उचित है कि हम नहीं हैं। लेकिन नहीं होने का भी जो कोई भी मतलब समझ सकते हैं वह अगर 'हम नहीं हैं' से समझा तो ग़लत है। जैसे वह विदित-अविदित से अन्य है वैसे ही वह होने-न होने से अन्य है — 'न सत्तन्नासदुच्यते' (गी.१३.१२)।

श्रुति में 'बोध'-शब्द से बुद्धि की वृत्तियाँ कही गयी हैं। सभी वृत्तियाँ जिसका विषय बनती हैं, जिसके सामने आती हैं, वह आत्मा सब बोधों के प्रति — बोधों की ओर मुँह करने वाला — समझा जाता है। वह सभी बोधों का दर्शक है। वह न केवल उन्हे देखता है वरन् उन्हे भी घटादि दिखाता है। प्रारंभ में (१.२) ही कहा था कि श्रोत्र खुद जड है अतः उपलब्धारूप से भासक नहीं हो सकता। वह जो उपलब्धारूप से भासक बनता है इसमें आत्मा ही कारण बनता है : 'यच्छ्रोत्रस्योपलब्धृत्वेनावभासकत्वं तदात्मनिमित्तत्वाच्छ्रोत्रस्य श्रोत्रमित्युच्यते।' और वह उनके प्रति रहने से तो उनका दर्शक है ही। **ख़ुद वह केवल ऐसा 'स्व' है जिसमें कह सकते है कि ऐसी शक्ति है कि प्रत्ययों में चेतना हो जाती है।** चित् या चेतना का जो स्वरूप समझा जा सकता है वह परमात्मा के कारण है— इसी रूप से, ढंग से परमात्मा को बताना इस उपनिषत् में आरंभ किया। परमात्मा वह चेतन नहीं है जो चेतन हम समझते हैं। अतः भाष्यकार उसे सिर्फ़ चित् नहीं कह रहे, चिन्मात्र भी नहीं कह रहे। वे उसे चिच्छक्ति कह रहे हैं। उसमें चित् की शक्ति है, चित् उसका शक्य है। मतलब यही है कि चित् या चेतन उसकी बदौलत है। क्योंकि यह भाष्यकार यहाँ भी और अन्यत्र कह चुके हैं कि उससे कुछ होता नहीं, श्रुति ने ही कह दिया है 'न तस्य कार्यम्' (श्वे.६.८), इसलिये यह शक्ति भी मानो उसमें है, सचमुच है यह तात्पर्य नहीं। चित्-शक्ति वाला वह है कौन? स्वरूपमात्र। स्व ही उसका रूप या लक्षण है लेकिन स्व जैसा भी हमें समझ आ सकता है वह उसका रूपमात्र ही है, लक्षणमात्र ही है। स्व समझने से वह समझ ज़रूर आ जाता है यद्यपि वह स्व ही हो ऐसा नहीं। गाय सास्ना ही तो नहीं है। **बोधों के साथ ही, बोधों से अलग हुए बिना, उनमें अनुगतरूप से, उनसे एकमेक हुआ यह दीखता है अतः बोध ही आत्मा को देखने का दरवाज़ा है, और कोई दरवाज़ा नहीं।** आत्मा दीखता—समझ आता—है तो बोधों से ही। बिना बोधों के वह दीखता नहीं, समझ नहीं आता। बोध

होते हैं तो वह उनसे एकमेक हो जाता है और क्योंकि बोध दीखते हैं इसलिए वह भी दीख जाता है। बोध तो इसलिए दीख सकते हैं कि जड हैं। वह नहीं दीख सकता क्योंकि चेतन है। बिना दीखे वह मोक्ष का हेतु बनता नहीं। अतः उसे देखना भी ज़रूरी है। उसका जो प्रत्यय से एकमेक हुआ रूप है वह क्योंकि वह-मात्र नहीं है इसलिए दीख जाता है। क्योंकि प्रत्ययों में अन्य सब रूप हटाये जा चुके हैं इसलिए वह उसका रूप है बिल्कुल यथार्थ, लेकिन है प्रत्ययवाला ही जैसे साफ़ दर्पण में मुँह का यथार्थ ज्ञान होता है चाहे दीखता प्रतिबिम्ब ही है इसीलिए वस्तुतः ग़ैर-मुँह ही दीखता है। किन्तु अपने मुँह की प्रमा ही होती है, भ्रमादि नहीं। केवल इतना ही नहीं कि वह बोध से एकमेक हुआ दीखता है, उसका जो दीखना है वह भी बोध से ही है। वह तो सब दीखनों के प्रति है अतः उसका जो दीखना है उसके भी प्रति है। यह ठीक है कि प्रत्यय-अविशिष्ट उसके रूप को प्रत्यय देख उसी के अनुग्रह से पाते हैं लेकिन देखते प्रत्यय ही हैं। अतएव पंचदशीकार तत्त्वज्ञान को व्यवहार या जीव की अवस्था कहते हैं। इसीलिए भाष्यकार बोध को ही एकमात्र दरवाज़ा कह रहे है।

तपा लोहा आग से व्याप्त हो जाता है इसलिए लगता है वही आग है, लोहे और आग का कोई फ़र्क नहीं लगता। इसी तरह बुद्धि की सभी वृत्तियाँ, बोध, नित्य-विज्ञान-स्वरूप आत्मा से व्याप्त हैं इसलिये विज्ञानस्वरूप लगते हैं, बोधों से अलग विज्ञान कुछ नहीं लगता। वह जो बोधरूप अवभास है, विज्ञान् है, उससे अन्य ही कोई अवभास है जो आत्मा का स्वरूप है। बोधरूप अवभास से आत्मा विलक्षण ही है। लेकिन यह बात उन बोधों से ही — पदार्थ और वाक्यार्थ विषयक बोधों से — उस बोधरूप अर्थात् बोध से एकमेक हुए विज्ञान को समझने से ही समझी जाती है अतः आत्मा की उपलब्धि में वे द्वार बन जाते हैं। यद्यपि आग लोहे या किसी भी ईंधन से एकमेक हुई ही दीखती है तथापि उसी रूप को सही तरह देखकर अग्निमात्र समझ आ जाती है, इसी प्रकार यहाँ है। पूर्ववत् ही यदि ईंधनों से सर्वथा निरपेक्ष आगमात्र नाम की कोई चीज़ नहीं है तो कोई हर्ज़ नहीं यह याद रखना चाहिये। अतः स्वप्रकाशतावाद ग्रंथारंभ में ही रखा गया था।

यहाँ टीकाकार ने यह विचार किया है : हमारे शरीर में जो बुद्धिवृत्तियाँ हैं वे जड होने पर भी क्योंकि संवेदन वाली लगती हैं इसलिए यह संभावना या अर्थापत्ति की जाती है कि वे चित् से व्याप्त होने के कारण ऐसी लगती हैं क्योंकि जडों में स्वाभाविक, अपरायत्त, प्रकाश होना संगत नहीं। इसी प्रकार सभी शरीरों में जो बुद्धिवृत्तियाँ या बोध हैं वे भी क्योंकि संवेदन वाले लगते हैं इसलिए यह संभावना की जा सकती है कि वे भी चित् से व्याप्त हैं और अत एव यह भी संभावना होती है कि जिससे व्याप्त होने से वे संवेदन वाले लगते हैं वह अवश्य है। इस प्रकार वेदान्त का श्रवण करने वाला जो अधिकारी मैं, उस मेरे शरीर में सीमित जो बोध हैं उन्हे व्याप्त करने वाला चित् या साक्षी त्वंपदार्थ हुआ और मेरे अतिरिक्त बाकी सब शरीरों में होने वाले बोधों को व्याप्त करने वाला जो चित् साक्षी है वह हुआ तत्पदार्थ। जैसे भाष्यकार ने अस्मत् से अन्य सब कुछ 'युष्मत्प्रत्ययगोचर' में समेट दिया ऐसे यहाँ सभी ग़ैर-मैं तत्पदार्थ में सिमट गये। प्रकृत उपनिषत् सृष्टिप्रक्रिया से तो शुरु हुई नहीं अतः ईश्वर का साक्षिरूप से ही यहाँ उल्लेख स्वकारना पड़ेगा। वाक्यशेष के अर्थवाद में आये ईश्वररूप का अनुवाद कर क्योंकि जीव से अभेद इसमें कहीं कहा नहीं इसलिये उसे तत्पदार्थ का उपस्थापक मानना व्यर्थ होगा। 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि' यही यहाँ महावाक्य आया है। वहाँ तत् से बोध को व्याप्त करने वाला साक्षी ही कहा है। अतः साक्षी को ही यहाँ तत्पदार्थ लेना पड़ेगा। इसलिए टीकाकार समझा रहे हैं कि अध्यात्मपरिच्छेद में प्रतिबोधविदित साक्षी त्वम्पदार्थ है और उससे अपरिच्छिन्न जो प्रतिबोधविदित साक्षी है वह तत्पदार्थ है। क्योंकि अध्यात्मपरिच्छेद से बाहर बोध अनुमेय ही हैं अतः उनका साक्षी भी अनुमेय ही है अतः उसमें पारोक्ष्य ही रहेगा और अनुमेय होने से ही लाघवतर्क से वह एक भी सिद्ध होगा, इसलिये वह ईश्वररूप है। अध्यात्मपरिच्छन्न जो बोधविशिष्ट है वह त्वम्पद का वाच्य है और जो प्रतिबोधविदित साक्षी है वह त्वम्पदलक्ष्य है। इसी तरह तत्पदवाच्य हुआ अध्यात्म से अपरिच्छिन्न बोधों से विशिष्ट, वह भी अनुमित होने से एक है। और वे बोध जिससे व्याप्त हैं वह है तत्पद का लक्ष्य जो

एक है ही। यहाँ वेदान्तपरिभाषा के ईश्वरसाक्षी का परामर्श संगत हो जाता है। इस प्रकार दोनों पदार्थों का निर्धारण और शोधन हुआ।

चिन्मात्र अर्थात् दोनों लक्ष्य पदार्थों में भेद करने वाला कोई धर्म उपलब्ध हो नहीं सकता क्योंकि सभी धर्मों को बोध के क्षेत्र में डाल चुके हैं और जो बोध के प्रति है उसे ही लक्ष्य किया है। इतना ही नहीं, यदि दोनों लक्ष्य अलग-अलग हों तो उन्हे भी जड होना पड़ेगा। 'यावद्विकारं विभागो लोकवत्' न्याय से (२.३.७) तो जडता सिद्ध होगी ही, वे अलग-अलग होंगे तो उनके अलगाव में प्रमाण होना पड़ेगा। प्रमाण बोधरूप होने से अपने ही अलगाव को बताकर गतार्थ हो जायेगा, जो उसके प्रति है उसमें अलगाव कैसे बतायेगा? जैसे 'अग्निर्यथैकः' (कठ.५.९) में अग्नि एक ही मानी क्योंकि भेद ईंधनभेद को ही विषय कर गतार्थ हो जाता है ऐसे ही यहाँ है। इसलिये प्रमाण उसके अलगाव को सिद्ध नहीं करता। अलगाव को स्वतः सिद्ध मानें तो दो स्वप्रकाश मानने पड़ेगें। स्वप्रकाश का स्वभाव है कि वह पर को प्रकाशित करता ही है अतः दोनों को परस्पर प्रकाशित मानना पड़ेगा। प्रकाशित होंगे तो स्वप्रकाश या आत्मा नहीं रह जायेंगे। इसलिए कहा कि वे परस्पर विभक्त हों तो जड हो जायेंगे। जड होने पर परिच्छिन्न, विनाशी, अप्रिय आदि भी होंगे ही अतः टीका में 'अनात्मत्वादिदोष' लिखा है। इस प्रकार युक्ति से लक्ष्य पदार्थों की एकता या अभिन्नता संभावित अर्थात् अर्थापत्तिलभ्य है।

यही अभेद 'तदेव ब्रह्म त्वम्' यह महावाक्य कहता है। असंभावनादि दोष तो हट ही चुके हैं। महावाक्य से जो बुद्धिवृत्ति या बोध उत्पन्न होता है उसमें वही अभेद पता चल जाता है। जैसे साक्षी को समझा बोध में ही था, क्योंकि समझ तो वही रूप आयेगा जो बोध से एकमेक हो रखा है, लेकिन समझा उसे बोध के प्रति ही था, विषय की तरह, घटादि की तरह नहीं समझा था। ऐसे ही यह अभेद भी समझा बोध में ही जाता है : वाक्य से जो 'अभेद' ऐसा बोध हुआ, उससे एकमेक हुआ जो वास्तविक अभेद का रूप है वही समझा जाता है, साक्षात् होता है। आत्मरूप अभेद की प्रमिति होती है यह तात्पर्य है। जैसा अभी ही भाष्य में कहा था 'प्रत्ययैः प्रत्ययेषु अविशिष्टतया लक्ष्यते' वही समझ लेना चाहिये।

यदि 'प्रतिबोधविदितम्' आदि मंत्र केनोपनिषत् का सर्वस्व है तो इस उपनिषत् की दार्शनिक प्रक्रिया का प्राण टीका की ये पाँच-छह पंक्तियाँ हैं। यहाँ 'श्रोतृशरीरावच्छिन्न' कह कर स्पष्ट किया कि एकजीव-अनेकजीव का विवाद इस प्रक्रिया में स्थान नहीं रखता। जो कोई भी श्रोता है, श्रोतृत्वाभिमानी है, वह स्वशरीरावच्छिन्न को त्वमर्थ और तदितरावच्छिन्न को तत्पदार्थ समझे। इस दृष्टि से देवदत्त श्रोता होगा तो यज्ञदत्तादि सारा प्रपंच उसे ईश्वर लगेगा और यज्ञदत्त श्रोता होगा तो देवदत्त उसके ईश्वर का एक हिस्सा होगा। 'विश्व' में अध्यात्माभिमान है अतः उससे बाहर का 'विराट्' ईश्वरशरीर हो जायेगा। विराडादित्रिक तत्पदवाच्य हैं, ब्रह्म लक्ष्य है। अतः प्रणवप्रक्रिया यहाँ अनुकूल है। इस ढंग से साधक विवेकदशा में निरन्तर ईश्वर से व्यवहार कर सकता है क्योंकि जहाँ उसे 'मैं' अभिमान नहीं है अर्थात् जो उसके शरीर से अवच्छिन्न नहीं है वह ईश्वर का ही अवच्छेदक हो गया। 'बौद्धप्रत्यय' से यद्यपि चेतन शरीरों में ही यह बुद्धि संभव बतायी है कि उन्हे ईश्वरावच्छेदक समझा जाय तथापि यदि भावना पर बल दें तो समस्त स्थूल में यह दृष्टि सूपपाद्य है। कठचिन्तन नामक उपनिषद्व्याख्यान में हमारे आराध्यपादों ने 'वैराग्यपूर्वक वेदान्तश्रवण में जाने वाले को ईश्वरदर्शन तो अवश्यंभावी ही है, यदि किसी कारण से उसका परब्रह्म में अवस्थान प्रतिबद्ध हो जाये तो भी।' (पृ.५१) कहकर इसी ईश्वर-दर्शन का वर्णन किया है। रुद्राध्याय, विभूतियोग आदि इसी के व्याख्यान हैं। यह सहज भक्ति वेदान्तों में प्रकाशित साधन है। इसमें भक्ति और कर्म के सभी आयामों का सामंजस्य है लेकिन उससे अधिक भी बहुत कुछ है। हमारा ग़ैर-हम से देह-वाणी-मन से जो कोई भी व्यवहार है वह इस जागरूकता से हो कि साक्षात् परमेश्वर से हो रहा है तो यह भजन संभव है। अतएव साक्षात् महादेव भगवान् शंकराचार्य कहते हैं 'सपर्यापर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम्' जो कुछ भी 'मे' त्वम्पदार्थ का

विलास है वह 'तव' तत्पदार्थ ईश्वर की सपर्या के पर्याय या क्रम हैं, उपचारों का समर्पण है। यही 'मनस्ते पादाब्जे' (श्लो.७) 'सदा त्वत्पादाब्जस्मरण' (श्लो.१०) 'सदा यस्यैवान्तः' (श्लो.१२) 'कदा वा त्वां दृष्ट्वा' (श्लो.२६) 'सारूप्यं तव पूजने' (श्लो.२८) 'त्वत्पादाम्बुजम्' (२९) 'वस्त्रोद्धूतविधौ' (३०) 'स्मराम्यन्वहम्' (३५) 'धीयन्त्रेण' (४०) 'जिह्वाचित्तशिरोऽङ्घ्रिहस्तनयनश्रोत्रैः' (४१) 'नित्यं शंकरपाद' (४५) 'मच्चेतोमणिपादुका' (६४) 'यच्चेतस्तव पादपद्मभजनम्' (६५), 'यत्कर्माचरितं मया च भवतः प्रीत्यै भवत्येव तत्' (६६) 'बुद्धिः स्थिरा' (७७) 'नित्यं योगिमनः' (७९) 'कंचित्कालम्' (८१) 'वद ते प्रीतिकरं' (८९) 'सेवे नित्यं श्रीकरं त्वत्पदाब्जम्' (९१) 'निरन्तरं रमताम्' (९३) आदि सारी शिवानन्दलहरी में भरा पड़ा है। इसी अव्यभिचारिणी भक्ति से मन ज्ञानसामर्थ्य पा सकता है। सारा भक्तिशास्त्र, नीतिशास्त्र, सदाचार, सौन्दर्यशास्त्र, सामाजिक व्यवस्था, वैज्ञानिक-तकीनीकी प्रगति, सभी इस भक्ति के पर्याय—क्रम, इतिकर्तव्यता—बन जाते हैं। हर अध्यात्मपरिच्छेद में यह भाव हो तो अशान्ति, युद्ध, आतंक, प्रतियोगिता, अत्याचार, क्रूरता, ईर्ष्या आदि को संग्रहालयों में ही बचा कर रखना पड़े! तितिक्षा और तप इस साधक का दैनंदिन जीवन है। परोपकार इस वेदान्तीय भक्तिसरिता की लहरें हैं। स्वार्थ और परार्थ में अंतर क्या हो? जब सभी स्वार्थ हो रहा है, हम भक्ति कर रहे हैं, हमें ही फल मिलना है, तो उसे परार्थ कैसे कहें? यहाँ असन्तोष को स्थान नहीं। समग्रता पर्याप्त है। प्रेम की इस मिठाई में दुःख की ही चासनी है। इसे खायें तो 'तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोनुघासम्' - भगवत के शब्दों में - हर कौर सन्तोष की पूर्णता है, पुष्टि की बलवर्द्धक गुटिका है, हर भूख का मिटना है। साधना में यह भक्ति है, सिद्धि में यही लोकसंग्रह है, गुरु की कृपा है, शास्त्र का अनुग्रह है, प्रारब्ध का आनुकूल्य है, ईश्वर का संकल्प है। यही व्यावहारिक नित्य सत्य है। इस सम्पर्क में, त्वम्-तत् की क्रीडा में, श्रुति को ईश्वर का उपदेश कहो, जीव की प्रार्थना कहो, ऋषि का दर्शन कहो या गडरिये का गीत कहो, कुछ भी—सचमुच, तिलभर भी—अन्तर नहीं पड़ता : वह यह सभी कुछ तो है!

वेदान्तशास्त्र भक्तिहीन कर्ममात्र को कोई महत्व देना नहीं चाहता यद्यपि हृदयहीन को उसी का उपदेश दे देता है। विद्या-अविद्या का समुच्चय ईशोपनिषत् में यही है कि कर्म व भक्ति में अंतर न रहे। अतएव भक्त का कर्मत्याग नहीं है। भक्ति सिर्फ़ प्रेम—मनोवृत्तिरूप ही—नहीं है, प्रेममय जीवन है, अभिव्यक्ति है, क्रीडा है, पूजा है। शिवरहस्य, शिवभक्तविजय और प्रायः पुराणों से भी यही सत्यापित होता है। यही स्मार्त्तपरंपरा भी है। कर्म चाहे दैहिक हो या मानस, है कर्म ही। भक्ति नैष्कर्म्य का साधन है, ख़ुद नैष्कर्म्य नहीं है। इसलिये न केवल उपासनाकाण्ड वरन् कर्मकाण्ड का भी इस प्रक्रिया में बहुत सशक्त उपयोग टीकाकार ने प्रतिपादित कर दिया।

विचारदृष्टि से तत्पदार्थ नित्य परोक्ष मानना पड़ेगा ही। ईश्वर हमें कहाँ दीखता है! लेकिन यहाँ केनप्रक्रिया का ईश्वर चाहे अनुमेय या अर्थापत्तिलभ्य ही है, लेकिन दीखता है। और यह ज़रूरी भी नहीं कि अनुमान परोक्ष ही ज्ञान दे! परिमल और लघुचंद्रिका दोनों ने अनुमान को भी योग्यविषय में अपरोक्षबुद्धि का हेतु स्वीकारा है। लेकिन फिर भी चाहे वह अपरोक्ष न हो किंतु उतना ही परोक्ष है जितना देवदत्त को यज्ञदत्त। दीखता शरीर है, यज्ञदत्त तो अनुमेय है, परोक्ष है। यज्ञदत्तादिस्थानीय ही परमेश्वर को बना दिया। अतः एक विशेषता तो यह हुई कि ईश्वर को सामने लाकर खडा कर दिया, सबके लिये। दूसरी विशेषता है उसे बोधों के प्रति—ऐसे ही समझा कर सिर्फ ग्रंथगम्य नहीं छोड़ा। 'मैं हूँ' जैसा निश्चय 'ईश्वर है' हो गया। हमारे गुरुदेव कई बार कहते हैं कि वेदांत की दृष्टि से ईश्वर का निषेध अपने निषेध का ही दूसरा पहलू है। उसका यही मतलब है। इस तरह न केवल सहज प्रमाण मिला वरन् विवेक का मार्ग भी साथ ही साथ प्रशस्त हो गया।

मायावच्छिन्न ईश्वर, जगज्जन्मादि हेतु, कर्मफलदाता, आदि ढंगों से ईश्वर को समझकर जब तत्पद के वाच्य-लक्ष्य का प्रसंग आता है तो सामान्यतः सभी को बहुत कष्ट होता है। पाश्चात्य, ख़ासकर ईसाई तो घबरा जाते हैं। उन्हे लगता है ईश्वर का क़त्ल हो गया। जिसे वे व्यक्तिरूप ईश्वर कहते हैं, वे सोचते हैं उसे वेदान्त में स्थान ही नहीं है। वेदांत ही नहीं ख़ुद उन्ही के कुछ गुह्य-अनुभव-कर्ताओं ने जब इस विवेक को पाया तो सामान्य ही नहीं बड़े धार्मिक गुरु भी डर गये,

उन्हे अधार्मिक, ईश्वरविरोधी मानने को तत्पर हुए। वे ही नहीं हम लोग भी इस विवेक में विविध कठिनाई देखते ही हैं। और कई बार विवेक के नाम पर और भ्रान्त हो जाते हैं। सविशेषविरोधी विचारधारा इसी मोड़ पर तो भटकी। शांकर संप्रदाय ही उस भयंकर विकल्प को न ग्रहण कर बचा रहा। फिर भी भारत में बाकी संप्रदाय इस विवेक से भय खाते हैं अतः या सविशेषपक्षीय हैं या निर्विशेषपक्षीय। ग़लती किसी की नहीं, समझना है ही लगभग असंभव। किन्तु यहाँ केनप्रक्रिया में इस समस्या को मानो उठने ही नहीं दिया जा रहा। यदि मैं व्यक्ति हूँ तो ईश्वर भी व्यक्ति है ही। फिर भी मैं बोध के प्रति हूँ तो वह क्यों न हो? व्यक्ति होने और प्रति होने में विरोध नहीं। अज्ञान रहते इनका सामंजस्य ही है, ज्ञान के बाद की चिन्ता तो टीकाकार कह ही चुके हैं 'किमनयेष्टकावाहकानां रत्नपेटकचिन्तया!' अतः तत्पदार्थ के लक्ष्यरूप की बिल्कुल स्पष्ट समझ संभवतः अन्य प्रक्रियाओं में इतनी सरलता से संभव न हो। एवं च विवेक में भी यह प्रक्रिया महत्त्वपूर्ण विशेषता वाली है। पूर्वोक्त भक्तिवर्णन से वैराग्य, शमादि तो और भी सहज हो गये। मुमुक्षा तो आत्मप्रेम का ही नामान्तर है और प्रेम के लिये प्रक्रिया से क्या पूछना? इस तरह साधन-सम्पन्न कराना इसका पावन उद्देश्य पूरा होना कठिन नहीं है।

तर्क का स्थान दर्शन में वही है जो तीसरा आयाम देखने में दूसरी आँख का। सूक्ष्म व्यवहार तीनों आयामों को देखे बिना नहीं चलता, स्थूल कार्य तो चलता रहता है। अध्यात्म-संबंध में भी यदि कोई शास्त्रकाण हो या तर्ककाण, काम तो चलता ही रहेगा। आखिर आँख तो है ही। लेकिन सही समझना हो तो काणापन मिटाना पड़ेगा। बिना तर्क के या बिना शास्त्र के वास्तव में 'दर्शन' होगा नहीं, यदि लगता है कि है तो पूरी संभावना है कि जारज है। वेदान्त में अतः इस आँख के लिये बहुतेरी दवाइयाँ खोजी गयी हैं। प्रकृत प्रक्रिया में 'संभावितमेकत्वम्' कहकर पितृस्थानीय तर्क का प्रतिपादन है यह स्पष्ट है। यही बीज मातृस्थानीय श्रुति में बढ़ेगा तभी बुद्धिवृत्ति उत्पन्न होगी। कठचिंतन की पीठिका (पृ.ग) कहती है 'अतर्क्यता ही असत्य की जननी बनती है। सत्य अनुभूति पर आधारित अर्थात् अनुभूति माता से तर्क पिता द्वारा उत्पन्न होता है।' अनुभूति श्रुति का संग्राहक है क्योंकि वेदान्त-सूत्रों में श्रुति का एक नाम 'प्रत्यक्ष' है।

लेकिन ध्यान देने योग्य बात है कि 'व्यावर्तकधर्मानुपलम्भात्' और '......दोषप्रसंगात्' दोनों ही जो तर्क दिये हैं वे 'विषय' नहीं कर रहे चिन्मात्र को। अनुपलंभ का विषय है व्यावर्तक धर्म और इस अनुपलंभ प्रमाण पर तर्क टिका है, युक्ति बनी है। इससे सिद्ध है चिन्मात्र लेकिन फिर भी विषय नहीं बना। सर्वज्ञगुरु ने दूसरे अध्याय में (श्लो.१३८-४३) जीव-ईश्वर के पारमार्थिक भेद के खण्डन में इसी तर्क का बख़ूब उपयोग किया है। ऐसे ही 'विभक्तत्वे च' से भी कहना यही है कि ऐसा मानें तो यह दोष होगा अतः मत मानो। इसलिये यहाँ भी सीधे तर्क उसे नहीं विषय कर रहा। एवं च विदितान्यता की सुरक्षा है, 'नैषा तर्केण' का अक्षरक्षः पालन है, तर्क की अप्रतिष्ठा की आज्ञा शिरोधार्य करते हुए उसके छिछलेपन का चिन्मात्र पर असर नहीं आने दिया है और साथ ही मन्तव्यविधि की अवज्ञा से बच गये हैं। प्रथम तर्क सर्वसुलभ है, हर 'श्रोता' समझ लेगा। दूसरा तर्क रसिकों के लिये है, विचारकौशल चाहता है। एक से भी काम पूरा ही चलेगा अतः कौशलहीन के लिये भी भीतिस्थान नहीं। इसमें न पारिभाषिक पदार्थों का उपयोग है, न तीन-पाँच अवयवों का विवाद! फिर भी तार्किक बल जो किसी भी तर्क में हो सकता है वह पूर्ण है। 'एकत्वं प्रकाशते' का अर्थ 'अद्वितीयं ब्रह्म प्रकाशते' कैलास की टिप्पणी में किया है जिससे कई संभावित शंकाओं का समाधान व्यक्त है।

भक्ति से निदिध्यासन और तर्क से मनन हो चुके तभी अंगीश्रवण का मौका आये। उसे 'सम्भावितम्' के बाद टीकाकार ने रख दिया - 'वाक्यज'। शब्द की अचिन्त्य शक्ति है यह वार्तिककार ने प्रत्यक्ष किया था। उनका जीवन मानों केनोपनिषत् का अनुवाद था। कर्मोपासना परिपूर्ण थी, 'मीमांस्यम्' - विधि का पालन शास्त्रार्थ से हो गया तो वाक्य की शक्ति क्यों न अचिन्त्य लगेगी? शायद उन्ही की जीवनी को बाद के दार्शनिकों ने 'क्रम-समुच्चय वाद' के नाम से अपने ग्रंथों में उल्लिखित किया है। अतः यहाँ वाक्यज से श्रवण ही समझना चाहिये। मधुसूदन स्वामी की गणना में इसे तीसरा

श्रवण भी मान सकते हैं। कम से कम दूसरे-तीसरे का संमिलित रूप तो है ही। प्रथम को तो 'श्रोतृशरीर' से ही कह दिया था। इसलिये वाक्यजवृत्ति में प्रकाशता है सीधा ही कह दिया, मध्य में और कुछ नहीं चाहिये।

इस प्रक्रिया में जीवन्मुक्ति भी ठीक बैठती है। बोध तो शरीरावच्छिन्न ही रहेगा। अतः ज्ञानी का ईश्वर से अभेद 'प्रति' रूप से है, बोधरूप से नहीं। इसलिये सारे दृष्टविरोध मिट जाते हैं। लोक-संग्रह बोधपक्षपाती ही रहता है। उपदेशादि में बोध ही चाहिये। जीवन रहते न रहते विदेहमुक्ति तो एक-सी बनी ही रह जाती है। केवल अविद्या-निवृत्ति होने पर भी उपलम्भ की समस्या है तो वह सभी प्रक्रियाओं में समान होने से इसको कलंकित नहीं कर सकती। और प्रक्रिया मिथ्या हो इसलिये कुछ कलंक चाहिये भी।

टीकाकार ने अत्यन्त संक्षेप में यहाँ इस उपनिषत् का हृदय खोलकर रख दिया है, यह आपाततः देखने से भी व्यक्त है।

सम्यग्दर्शनम्

तस्मात् प्रतिबोधावभासप्रत्यगात्मतया यद्विदितं तद् ब्रह्म, तदेव मतं ज्ञातम्। तदेव सम्यग्ज्ञानं यत् प्रत्यगात्मविज्ञानं, न विषयविज्ञानम्, आत्मत्वेन। 'प्रत्यगात्मानमैक्षद्' (क.२.१.१) इति च काठके। **अतः प्रत्ययप्रत्यगात्मतया विदितं ब्रह्म यदा, तदा तन्मतं, तदा तत् सम्यग्दर्शनमित्यर्थः।**

सर्वप्रत्ययदर्शित्वे च उपजननाऽपायवर्जितदृक्स्वरूपता, नित्यत्वं, विशुद्धस्वरूपत्वम्, आत्मत्वं, निर्विशेषता, एकत्वं च सर्वभूतेषु सिद्धं भवेत्, लक्षणभेदाऽभावाद्, व्योम्न इव घटगिरिगुहादिषु।

विदिताऽविदिताभ्यामन्यद् ब्रह्म इत्यागमवाक्यार्थ एवं परिशुद्ध एवोपसंहृतो भवति। 'दृष्टेर्द्रष्टा श्रुतेःश्रोता मतेर्मन्ता विज्ञातेर्विज्ञाता' (बृ.३.४.२) इति हि श्रुत्यन्तरम्।

सम्यग् दर्शन

बोध ही परस्पर बहुत-से होने के कारण अन्य हैं। उन अन्यों का अवभास करने वाला आत्मा है : उन्हे जानता है और उन्हे भी इस लायक बनाता है कि वे जानें। इस तरह विषय किये बिना भी क्योंकि सभी जडों से विलक्षण परमात्मतत्त्व समझा जा सकता है **इसलिये हर बोध का अवभास करने वाला 'प्रति' प्रकाशमान आत्मा है - बस इसी तरह जो समझा जाये उसे भूमतत्त्व से सर्वथा अभिन्न समझना है। यही श्रुति को संमत है, यही तत्त्व, यही तत्त्वज्ञान और उसकी प्रक्रिया आचार्यों को ज्ञात है। प्रत्यक् साक्षी ही परमात्मा है यह निर्दोष अनुभूति ही सम्यग्ज्ञान है। जिस बोध में परमात्मा विषय बने वह ठीक ज्ञान नहीं है क्योंकि आत्मा होने से ब्रह्म विषय बन नहीं सकता।**

यहाँ भाष्य में यह सम्यग्दर्शन बताया है: हर बोध में अवभासरूप है चित्प्रतिबिम्ब। बोध तो ख़ुद जड है, वह अवभास इसीलिए बन गया है कि चित् उससे एकमेक हो गया, घुलमिल गया है, प्रतिबिम्बित है। उन प्रतिबिम्बों का जो बिम्ब है वह उनसे प्रत्यक् है, उनसे उल्टा है, प्रकाशमान है। वही उन प्रतिबिम्बों को सस्वरूप बना रहा है और इस तरह वही बोधों को अवभास भी बना रहा है। बोध और प्रतिबिम्बों का 'प्रति' और 'अक्' (=प्रकाशमान) रूप जो आत्मा वह अत एव उनका स्वरूप है। उनमें न बदलने वाली चीज़ यही है। वे तो सब बदलते जा रहे हैं, यही नहीं बदल रहा। उनसे बिल्कुल अलग है, फिर भी है उनका स्वरूप! क्योंकि इसी से वे हैं, प्रतिबिम्ब भी और अवभासरूप बोध भी। यह बिम्बकल्प आत्मा ही त्वम्पदलक्ष्य है। इसे ऐक्येन अर्थात् अभेदेन ब्रह्म समझना—यही सम्यग्र्शन है।

'आत्मत्वेन विषयविज्ञानं न सम्यग्ज्ञानम्' यह भी अन्वय है। जैसे रजतत्वेन शुक्तिविज्ञान भ्रम है ऐसे विषय को — बुद्ध्यादि उपाधियों को —आत्मा समझना भ्रम है यह तात्पर्य है।

'प्रत्यगात्मा को देखा'-ऐसा कठोपनिषत् में भी कहा है। कठ में उसे विषयात्मा न कहकर प्रत्यगात्मा कहा इसलिए यही सम्यग् बोध है, शास्त्रसमन्वय से सिद्ध है यह तात्पर्य है। भाष्य में जो 'च'-'भी'-कहा उसका अभिप्राय है : जो अद्वितीय, निरवच्छिन्न आनन्दरूप, सर्वज्ञतादि धर्मों वाला ब्रह्म है, जिसे केवल शास्त्र से ही सही समझ सकते हैं, वह तटस्थ अर्थात् हमसे अन्य हो तो हमें अपरोक्ष नहीं होगा इसलिये वह प्रत्यक् रूप से ही है—यह उपपत्ति उक्त श्रुति का यथाश्रुत ही अर्थ समर्थित करती है। परमेश्वर अपरोक्ष न हो तो क्या हर्ज़ है? यही कि वह कुछ हो ही नहीं सकेगा! प्रमेय होगा तो वाच्य, जड, परिच्छिन्न होगा। स्वप्रकाश होगा तो हमारा प्रतिद्वन्द्वी होगा और उस युद्ध में हम तो स्वयं अपरोक्ष हैं अतः जीत ही जायेंगे फलतः हमारा प्रकाश्य बनकर अनात्मा, एक कल्पना ही रह जायेगा।

क्योंकि श्रुतिसमन्वय से भी यही सिद्ध होता है इसलिये बोधों के प्रत्यग्-आत्मा रूप से जब ब्रह्म समझा जाये तब वह समझ श्रुत्यादि को जैसी स्वीकृत है वैसी होती है अर्थात् वही सम्यग्दर्शन है।

जिस चिन्मात्र स्वरूप से मैं इस अपने शरीर में साक्षी हूँ वह चिन्मात्र अन्य सब शरीरों में भी एक ही है, अलग नहीं हो सकता यह पहले बता चुके हैं। 'स्वरूप से' अर्थात् बोध और प्रतिबिम्बों को मैं सस्वरूप बनाता हूँ अतः मैं उनका स्वरूप हूँ। मैं चित् हूँ क्योंकि उनमें मेरे कारण चैतन्य उपलब्ध होता है अर्थात् मुझे चित् सिर्फ़ इसलिये कह देते हैं कि जहाँ भी चैतन्य होता है वह मेरे कारण होता है; इसलिये नहीं कि 'चित्' इस शब्द या ज्ञान से जो समझा जाता है वह मैं हूँ। इस तरह मुझ चित् में भेद न होने से एक ही इस शरीर में मैं साक्षी नहीं हूँ वरन् सभी दृश्यों का मैं अकेला ही साक्षी हूँ। भेद, जन्म, नाश आदि साक्ष्य में ही उपलब्ध हैं अतः वे साक्षी को कैसे अनेक द्योतित करें? अनन्त प्रकाश्य क्या सूर्य को बहुतेरा सिद्ध करते हैं? इसलिये साक्षी एक है, नित्य है आदि शास्त्र-संमत बातें इसी युक्ति से निष्पन्न हो जाती हैं। यह कहते हैं - **आत्मा क्योंकि सभी बोधों का दर्शी है इसलिये ये सब बातें सिद्ध होती हैं :**

१) वह ऐसा दृक्स्वरूप है जिसका न जन्म है न विनाश। पहले जिसे 'सभी बोधों का दर्शक'-'सर्वप्रत्ययदर्शी चिच्छक्तिस्वरूपमात्रः'-कहा था उसे ही यहाँ दृक् कहा। 'स्वरूप' का अर्थ ऊपर बता ही चुके हैं। आत्मा का जन्म तभी हो जब पहले वह न हो और 'वह नहीं है' यह सिद्ध होना है आत्मा से ही, क्योंकि 'नहीं होना' तो कहेगा नहीं कि आत्मा नहीं है। इसलिए जन्म संभव नहीं, अत एव मरण। यह अतिस्फुट होने से भाष्य में 'उपजनन' कहा। जन्म से कुछ ही हटी हुई उपलब्धि। घट उपलब्ध होते ही 'घट उत्पन्न हो गया' ऐसा व्यवहार होता है। आत्मा की उपलब्धि का अपाय नहीं होता, वह छूटती नहीं। यद्यपि विषय या आश्रय रूप से वह नहीं उपलब्ध होता तथापि उपलम्भस्वभाव होने से उसकी उपलब्धि हटती तो नहीं ही है। गहरी नींद में भी वह अनुपलब्ध नहीं होता, 'मैं सो नहीं रहा था' ऐसी स्मृति नहीं आती। अतः अव्यभिचरित दृक्स्वरूपता से तात्पर्य है।

२) वह नित्य है। आत्मा, साक्षी सदा एकरूप है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। परिवर्तन अनात्मपक्षपाती ही उपलब्ध होता है। सांख्यीय प्रकृति जन्म-नाश वाली न होने पर भी बदलती रहती है। यह वैसा नहीं कूटस्थ है। पैदा और मरता तो वन्ध्यापुत्र भी नहीं! मैं वैसा नहीं; जब तक कालकल्पना है तब तक मैं हूँ, उसके न होने से भी मेरे होने में अंतर नहीं है। काल के उत्पत्ति-विनाश का भी साक्षी कौन है? वही महाकाल जो क्योंकि जड नहीं अतः 'मैं' है। अर्थात् दृक्त्व को लोकसंवृतिसत्य न मान लिया जाये इसलिये नित्य कहना ज़रूरी है। यह ठीक है कि दृष्ट से ही 'दृक्' यह कल्पना है लेकिन जिसे 'दृक्' ऐसा कल्पित किया वह कल्पना नहीं है। जैसे कारणत्व कल्पित है पर कारण कल्पित नहीं यह जन्मादिसूत्रव्याख्यानों में व्यक्त है, ऐसे ही समझना चाहिये। आचार्य अमलानन्द के 'लक्ष्यव्यक्तिरपि ब्रह्म सत्यत्वं न जहाति नः' (कल्प.९४) का भी यही तात्पर्य है। कुछ आधुनिक विचारशीलों को शून्यवाद में भी यही युक्ति दीख जाती है और वे कहते हैं कि वेदान्ताचार्यों का शून्यखण्डन हृदयहीन है क्योंकि शून्य का 'सही' अर्थ खण्डित नहीं किया गया। वस्तुतस्तु वेदान्ताचार्यों का ही आशय संभवतः 'सही' न समझने से उन्हे ऐसा लगता है क्योंकि वेदांताचार्यों का कहना यही है कि

श्रुतिप्रोक्त अद्वैत सच्चिदान्द ब्रह्म से हटकर अगर कुछ प्रतिपादित किया जा रहा है तो ग़लत है केवल शून्य नाम से तो कोई द्वेष नहीं। मैत्र्युपनिषत् में (६. ३१) ही कह दिया है 'कतम आत्मेति? शून्यः।' वृद्धों ने भी 'यच्छून्यवादिनां शून्यं तद्ब्रह्म ब्रह्मवादिनाम्' कहा ही है। अतः यदि ब्रह्म का नामान्तर शून्य रखा तो 'शून्यवाद' नामक सौगत-सिद्धान्त कहाँ हुआ? वेदविरोध कर सौगत जिसे स्वाभिप्रेत कहते हैं उसमें ब्रह्मसिद्धांत से जिस भी अंश में भेद मानते हैं उन्ही अंशों का खण्डन वेदान्ताचार्यों को अभिप्रेत है। यदि वे सर्वथा ब्रह्मवाद स्वीकारते हैं तो सौगतत्व का अभिमान छोड़ दें! यही युक्ति उल्टी नहीं लगेगी क्योंकि सौगत भी वैदिक को पूर्ववर्ती ही मानते है, ख़ुद को ही नया कहते हैं। सौगत ही नहीं अन्य भी यदि कोई मत ब्रह्मवाद का यथावत् अनुवाद हो तो भाषाभेद से वह हमारा दूष्य नहीं होगा क्योंकि अनुवाद होने से हमारा प्रतिवादी बनेगा ही नहीं।

३) विशुद्ध जो 'स्व', वही उसका 'रूप' है। स्वतः परिणामी नहीं इतना ही नहीं किसी अन्य से भी उसमें अशुद्धि न आ सकने से अन्यहेतुक परिणाम भी उसमें नहीं होता यह उसके स्वरूप की विशुद्धि है। किं च 'स्व' की जो विशोधित, परिष्कृत स्थिति है, प्रमाता-इषीका से निष्कृष्ट साक्षी-तूल है, प्रमाता के अन्वेषण से पाप्मदोषादिवर्जित जो है, जो बोधों और प्रतिबिम्बों के 'प्रति' है, वही इस कूटस्थ नित्य का 'रूप' है। जो जिसके व्यवहार का कारण बने वह उसका रूप कहा जाता है। विशोधित स्व ही इसमें कारण है कि परमात्मा नित्यशुद्धबुद्धमुक्तादि समझा और कहा जाता है। जब तक स्व का शोधन नहीं होता तब तक परमात्मा को मुँह से भले ही नित्यादि कह दें पर जब नित्यतादि का भाव वर्णित करते हैं तो अनित्यतादि की गन्ध सुव्यक्त रहती है। यमराज ने अतएव कहा कि उस परमेश्वर से अन्य रहते हम उसे क्योंकर समझ पायेंगे? 'कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति' (१.२.२१)। जैसे ख़ुद बात-बात पर झूठ बोलने वाला ही दूसरे पर भी विश्वास नहीं कर पाता, सोचता है कि गप्प मार रहा होगा, ऐसे ही हम अपने को अनित्यादि जानते हुए परमात्मा को भी ऐसा ही समझ सकते हैं, बहुत बड़ा भले ही मान लें। जैसे जन्मान्ध रूप का चाहे जैसा वर्णन सुने, कर भी दे, पर उसे सही में रूप का अर्थ भासता नहीं, ऐसे ही विदित-अविदित के क्षेत्र में ही बँधे रहकर हम उनसे अतीत को नहीं समझ पाते। अतः विशुद्ध हुए हम ही परमात्मा की समझ में हेतु हैं, वे हम ही उसके रूप हैं।

४) वही आत्मा है। अनात्ममात्र उसी से विद्ध है अतः उसने सारे अनात्मा को घेर रखा है और सत् या सच्चित् या सच्चिदानन्द रूप से भी सभी में घुसा हुआ भी है। अनात्मा का मुखौटा ओढ़कर वही सब को ग्रहण करता है, सारी क्रियायें करता है। उसी मुखौटे से वह उपभोग भी करता है, सारे ज्ञान करता है। इन सभी प्रक्रियाओं में एक-सा बना रहने वाला वही है। प्रक्रियाओं के क्रम की अपेक्षा से वह बना रहने वाला हो ऐसा नहीं वरन् उसकी जो लगातारी है उसी की अपेक्षा से प्रक्रियाओं के क्रम निरूपित हैं। कठभाष्य में 'प्रतीच्येवात्मशब्दो रूढो लोके नान्यस्मिन्' (२.१) कहा है अतः यहाँ भी सर्वप्रत्ययदर्शी प्रत्यक् से अतिरिक्त नहीं है यह तात्पर्य है।

५) आत्मा में कोई विशेष नहीं है। व्यावर्तक को विशेष कहते हैं। आत्मा को व्यावृत्त नहीं कर सकते, वह अव्यावृत्त है। कुछ भी ऐसा नहीं जिसे कह सकें 'यह आत्मा नहीं है' अतः आत्मा की व्यावृत्ति संभव नहीं। आत्मा की ऐसी कोई ख़ासियत नहीं जिससे कह सकें 'आत्मा यह नहीं' इसलिये भी वह निर्विशेष है। तात्पर्य है कि जिससे—अवधि से—व्यावृत्त करना है उसे कुछ मानकर ही आत्मा उससे व्यावृत्त किया जायेगा पर ऐसा कुछ मिलेगा नहीं। व्यावृत्त कहते ही प्रश्न होगा 'किससे?' और इसका उत्तर न मिले तो व्यावृत्त कहना मायने नहीं रखता। अत एव विवेक को प्रथम श्रेणि पर ही रखा है। विवेक है भेदज्ञान। सम्यग्दर्शन है अभेदज्ञान। इस दृष्टि से 'सम्यग्दर्शन विवेक को समाप्त कर देता है' — यह कहना आश्चर्यजनक नहीं लगना चाहिये।

६) सभी भूतों में वह एक है। भूतों से प्राणधारी समझने चाहिये। जिन्हे भी हम चेतन, जीवित समझते हैं वे भूत हैं। उनमें आत्मा, साक्षी एक है। बोधों में प्रतिफलित, अहङ्कारात्मिकावृत्ति से परिच्छिन्न प्रमाता अनन्त हो सकते हैं पर

जिसके वे प्रतिफलन हैं वह 'प्रति' एक है। वह एक है यह कह कैसे सकते हैं? **क्योंकि वह 'प्रति' निर्विशेष है इसलिये उसमें विभिन्न लक्षण हैं नहीं जिनसे वह हर प्राणी में अलग है यह कहा जा सके। जैसे आकाश घड़ा, पहाड़ी गुफा, शहरी मकान आदि में अलग-अलग नहीं कहा जा सकता क्योंकि अवकाशरूप वह सर्वत्र एक मिलता है ऐसे ही दृक् एक मिलने से प्राणियों में विभिन्न दृक् नहीं कहे जा सकते।** दृष्टान्त से स्पष्ट किया कि प्रतीति भले ही अलगाव की हो पर स्वरूप के अभिप्राय से एकत्व समझा जा सकता है। साक्षी को जब तक साक्षित्वविशिष्ट समझेंगे तब तक वह प्रतिप्राणि विभिन्न होगा। साक्षित्व साक्ष्यनिरूपित होने से साक्ष्यभेद के कारण भिन्न हो जायेगा। अतः साक्षित्वों में भेद रहने से उनसे विशिष्ट में भेद होगा ही। इसीलिये एक प्राणी के सुख-दुःखादि साक्षिभास्यों का दूसरे प्राणी को—उसके साक्षी को—भान नहीं होता। ऐसे ही एक को रज्जुसर्प दीखने से या स्वप्न दीखने से सब नहीं देखने लग जाते। जब केवल दृक् के अभिप्राय से समझते हैं तब अभेद पता चलता है। इस समझ में न अपने सुखादि साक्षी को भासते हैं न अन्यों के। कुछ विलक्षण व्यक्ति ऐसी अनुभूति सूचित करते हैं जिसमें वे ख़ुद को सब प्राणियों का आत्मा देखते हैं। उन्हे भी सब प्राणियों के मनोभाव आदि नहीं पता चलते। हैं मनोभाव साक्षिभास्य पर तभी जब साक्षी साक्षित्वविशिष्ट हो। जब विशेषण नहीं है तब दृक् साक्षी है। उसका ऐक्य उन्हे अनुभूत है। अत एव कितने प्राणियों में? क्या देव-दानव आदि में भी? आदि प्रश्नों के वे उत्तर नहीं दे पाते क्योंकि इन सभी विशेषों के प्रकाश के लिये विशिष्ट ही होना पड़ेगा और विशिष्ट होते ही 'उसके' साक्षी से 'हमारा' साक्षी मानों कट जायेगा, अलग हो जायेगा। अतः उन अनुभवों के समय वे लोग स्वयं को देह परिच्छिन्न या मनुष्यादि भी अनुभव नहीं कर सकते। जो उन्हे कभी-कभी अनुभव होता है उसे विचार से समझना विवेक है, प्रमाता-साक्षी का भेदज्ञान है। इस साक्षी को समझना ही विवेक है, केवल घटद्रष्टा से अन्य सुखद्रष्टा को समझना नहीं। सुखादिद्रष्टा को ही साक्षी मान बैठने से सांख्यवाद में पुरुषबहुत्व रह गया है यह स्पष्ट है। ऐसा नहीं कि यहाँ दो साक्षी मानने को कहा जा रहा है, एक विशिष्ट और दूसरा अविशिष्ट! अशोधित दृष्टि से जो विशिष्ट है शोधन होने पर वही अविशिष्ट है। अतः भाष्य में आकाश का दृष्टांत दिया।

इन बातों से अतिरिक्त यह भी सिद्ध होता है कि आत्मा विदित-अविदित से अन्य है क्योंकि विदितता और अविदितता साक्ष्यपक्षपाती ही हैं यह बताते हैं – **इस तरह समझने पर जो यह आगमवाक्य था कि 'ब्रह्म विदित और अविदित से अन्य है' उसका उपसंहार पूरी तरह अनात्मविलक्षण तत्त्व में ही है यह यहाँ स्पष्ट हो जाता है।** अर्थात् जिस श्रोत्र आदि का उपदेश प्रारंभ किया था उसमें ही यहाँ उपनिषत् उपदेश समाप्त कर रही है। 'प्रतिबोधविदितम्' का पूर्ववर्णित अर्थ ही इसलिये भी संगत हो गया कि इस अर्थ को मानने पर उपक्रम से एकवाक्यता बन जाती है यह अभिप्राय है। यहाँ प्रतिबोधविदित को जानने का फल मोक्ष बताने से भी प्रतिबोधविदित का मतलब चिन्मात्र समझना चाहिये क्योंकि अन्यत्र भी 'ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये' (कै.१.९) कहा है। उस आत्मा का स्वरूप दर्शन श्रवण आदि विकारात्मक ज्ञानों से अन्य ही है यह भी शतपथ में बताया है यह कहते हैं – **'दृष्टि का द्रष्टा, श्रुति का श्रोता, मति का मन्ता, विज्ञाति का विज्ञाता' ऐसा अन्य श्रुतिवचन है ही।** यद्यपि 'द्रष्टारम्' आदि द्वितीयांत पाठ ही प्रसिद्ध वाक्य में मिलता है तथापि अर्थतः उद्धरण है। यहाँ दृष्टि, श्रुति आदि से दर्शन, श्रवण आदि बोध कहे हैं और द्रष्टा, श्रोता आदि से 'प्रति' को कहा है। दृष्टि आदि की अपेक्षा से उसे द्रष्टा आदि अलग-अलग नाम भी दे दिये हैं यद्यपि वह है एकरूप यही विवक्षित है। यह साक्षित्वविशिष्ट और सर्वभूतों में एक साक्षी का भेद है।

'प्रतिबोधविदितम्' इत्यस्याऽयुक्तार्थषट्कम्; i) आद्यः शङ्क्यते

यदा पुनर्बोधक्रियाकर्त्तेति बोधक्रियालक्षणेन तत्कर्तारं विजानातीति बोधलक्षणेन विदितं प्रतिबोधविदितमिति व्याख्यायते, यथा यो वृक्षशाखाश्चालयति स वायुरिति तद्वत्,

'प्रतिबोधविदितम्' के छह ग़लत अर्थों में i) प्रथम अर्थ उपस्थित करते हैं

कुछ लोग ऐसी व्याख्या करते हैं : बोध या ज्ञान एक क्रिया है, धात्वर्थ है, जिसका कर्ता आत्मा है। अतः

जैसे 'जो पेड़ों की डालियाँ हिलाता है वह वायु है' यों क्रिया से उसका कर्ता पता चलता है ऐसे ही बोधरूप क्रिया वह असाधारण चिह्न है जिससे उसका कर्ता आत्मा जाना जाता है। अतः 'बोधरूप चिह्न से जाना गया' यह 'प्रतिबोधविदितम्' का अर्थ है। हर बोध से उसका पता चलने के कारण उसे प्रतिबोधविदित कहा।

तत्र दोषः

तदा बोधक्रियाशक्तिमानात्मा द्रव्यं न बोधस्वरूप एव; बोधस्तु जायते विनश्यति च, यदा बोधो जायते तदा बोधक्रियया सह विशेषः; यदा बोधो नश्यति तदा नष्टबोधो द्रव्यमात्रं निर्विशेषः। तत्रैवं सति विक्रियात्मकः, सावयवः, अनित्यः, अशुद्ध इत्यादयो दोषा न परिहर्तुं शक्यन्ते।

इस व्याख्या में ग़लती

ऐसी व्याख्या करेंगे तो आत्मा बोधरूप क्रिया के सामर्थ्य वाला द्रव्य ही सिद्ध होगा, वह स्वरूप से बोध ही है यह श्रुतिसंमत बात सिद्ध नहीं होगी। क्रिया होने से बोध अनित्य ही रह सकता है। जब बोध पैदा होगा तब उस क्रियारूप विशेष वाला आत्मा हो जायेगा। या क्रियारूप कार्य का कर्ता बनेगा तो आत्मा में कोई विशेषता भी माननी पड़ेगी जिससे कारणता आत्मा में ही नियत रहे अर्थात् कारणता का अवच्छेदकरूप विशेष आत्मा में क्रियारूप कार्य के साथ ही मानना पड़ेगा। फिर जब बोधरूप क्रिया समाप्त हो जायेगी तब उस (बोधादिरूप) विशेष से रहित हुआ बोधहीन द्रव्यमात्र आत्मा रह जायेगा। इस मान्यता में आत्मा परिवर्तनशील, अतः अवयवों वाला, अकूटस्थ, अशुद्ध इत्यादि होगा जो वैदिकों को इष्ट नहीं।

भाष्य में 'सहविशेषः' समास मानकर कैलासटिप्पणी में 'वोपसर्जनस्य' से स-आदेश का विकल्प होने से शब्द का औचित्य समर्थित है और 'क्रियया' इस तृतीया का अर्थ अभेद मानकर 'बोधात्मकविशेषवान्' यह अर्थ किया है।

प्रतिबोधविदित के उक्त अर्थ में आत्मा आगंतुक धर्मों वाला होने से 'उपयन्नपयन् धर्मो विकरोति हि धर्मिणम्' न्याय से आत्मा विकारी सिद्ध होता है। भाष्यकार मानते हैं कि परिवर्तन को अवयव-अन्यथाभाव के रूप से ही समझाया जा सकता है। अतः वे परिवर्तनशील को सावयव ही मानते हैं। इससे स्पष्ट है कि परिणाम सावयव का ही संभव है तथा वास्तविक बदलाव का अभिप्राय उनकी दृष्टि में अवयवविन्यास का हेरफेर ही है। अतः यदि शक्ति या ऊर्जा को भी परिणामी समझना हो तो उसे सावयव ही समझना चाहिये यह उनका अभिप्राय है। परिस्पन्द की तरह परिणाम भी क्रिया होने से अव्यापक में ही संभव है और अव्यापक सावयव ही उपलब्ध है। निरवयव अव्यापक में प्रमाण नहीं। यदि कहीं सूक्ष्मतावश नहीं उपलब्ध हो रहा तो वहाँ भी और सूक्ष्म दृष्टि प्राप्त कर देखना चाहिये यह भाव है। दृश्य सावयव होगा यदि परिवर्तनशील है तो। अतः आत्मा को यदि परिवर्तन वाला मानें तो उसे सावयव भी मानना पड़ेगा जो उसे अनात्मादि ही बना देगा। दृश्य नियम दृक् में क्यों लगाना? यह प्रश्न सिद्धान्ती से पूछ नहीं सकते क्योंकि प्रकृत में तो वादी ही यह कार्य कर रहा है : बोध का उपजन-अपाय आत्मा पर लगा रहा है। बोध होता-समाप्त होता रहे, उससे आत्मा में सबोधता या बोधकर्तृतादि की कल्पना वह कैसे कर रहा है? -यह प्रश्न सिद्धान्ती ही उससे पूछ सकता है। सिद्धांती का तो इतना ही कहना है कि परिवर्तनशील हो तो कूटस्थ-नित्य आत्मा नहीं होगा और यह शास्त्रसमन्वय से विरुद्ध है। 'न परिहर्तुं शक्यन्ते' से बता दिया कि वे वादी जो ऐसा बदलने वाला आत्मा मानते हैं वे वास्तव में उसे कूटस्थ-नित्य मानते ही नहीं क्योंकि शास्त्र से सरोकार नहीं रखते। प्रकाश-विमर्श आदि कपोलकल्पित परिभाषाओं के ललित विन्यास को शुष्कतर्क से विभूषित कर साहित्यिकों में भले ही प्रतिष्ठा पा लें, औपनिषदों के लिये उपेक्ष्य ही हैं।

बोद्धुरविक्रियत्वशङ्का

यदपि काणादानाम्— आत्ममनःसंयोगजो बोधः आत्मनि समवैति अत आत्मनि बोद्धृत्वं, न तु विक्रियात्मक

आत्मा; द्रव्यमात्रस्तु भवति, घट इव रागसमवायी।

बोद्धा अविक्रिय हो - यह शंका

कणाद महर्षि के अनुयायी मानते हैं कि आत्मा से मन का संयोग-विशेष होने से बोध या ज्ञान नामक 'गुण' उत्पन्न होता है जो 'समवाय' नामक सम्बन्ध से आत्मा में रहता है। क्योंकि आत्मा में समवाय से पैदा हुआ बोध रहता है इसलिये आत्मा बोद्धा—जानकार—है, न कि किसी विकार के—अवयवविन्यास के हेरफेर के—कारण। वह तो केवल द्रव्य है अत: जैसे घड़े में लाल आदि रंग समवाय से रहता है, पकने आदि से रंग बदलता है पर घड़ा वही बना रहता है, 'घड़ा बदल गया' यह नहीं कह सकते, ऐसे ही गुण बदल जाता है पर आत्मा विक्रियारहित रहता है।

इस पक्ष के अनुसार 'बोधरूप चिह्न से आत्मा विदित है' यह अर्थ करने पर पूर्वोक्त दोष नहीं होगा - यह शंका है।

तत्रेति समाधि:; क) श्रुतिविरोधात्

अस्मिन् पक्षेऽपि— अचेतनं द्रव्यमात्रं ब्रह्म, इति 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्याद्याः श्रुतयो बाधिताः स्युः।

समाधान में पाँच हेतु - प्रथम हेतु

उक्त मत में सबसे मुख्य दोष है कि श्रुतियों का बाध होता है। श्रुतियाँ अनेक जगह तात्पर्यत: स्पष्ट करती हैं कि परमात्मा ज्ञान है, आनन्द है। इन तार्किकों की मान्यता है कि वह ज्ञान नहीं है, ज्ञान से अन्य ही एक द्रव्यमात्र है, घड़े आदि की तरह एक पिण्ड-सा है। अत: श्रुति का विरोध करने वाला होने से यह मत अत्यन्त अनास्था करने योग्य है।

प्रधानवाद का खण्डन तो बादरायण महर्षि ने अत्यंत विस्तार से किया पर परमाणुकारणतावाद उन्हे इतना अनर्गल लगा कि कुछेक (कुल सात) सूत्रों में ही उसके दोष एकत्र कर दिये। भगवान् भाष्यकार ने कलियुग की प्रवृत्ति पहचान कर तार्किक प्रस्थान की सत्य से दूरी स्पष्ट करना ज़रूरी समझा। तर्क पर आधारित पक्ष को तर्कसह होना चाहिए अन्यथा वह भी ग्रन्थाधारित ही हो जायेगा, चाहे ग्रंथ नया हो। अत: भाष्यकार जिन तर्कों से वैशेषिक अपनी मान्यतायें उपस्थित करते हैं उन्ही तर्कों के प्रहार उन पर पूर्ण निर्ममता से करते हैं। अन्य मतों के खण्डन में आद्याचार्य के वचनों का उद्धरण दे-देकर परस्पर और प्रक्रिया से विरोध भाष्यकारों ने कहीं नहीं दिखाया है। मीमांसा के चार-छह सूत्र उद्धृत भी किये हैं तो उन्हें जैमिनि के अनुसार धर्म में उपपादित भी कर दिया है, केवल उन्हें ब्रह्ममीमांसा में अतिदिष्ट करने से मना किया है। गौतम सूत्र को उद्धृत किया तो 'आचार्यप्रणीतं न्यायोपबृंहितं सूत्रम्' (समन्वयसूत्रभाष्य) यों महत्त्व देते हुए। लेकिन वैशेषिक प्रकरण में 'काणभुजानि सूत्राणि', 'सूत्रकारोऽपि भवताम्' (२.२.११), 'तथा चाहु:' (२.२.१८) ऐसे ही उपस्थित किया है और खण्डन किया है संभवत: भाष्य में किसी अन्य पक्ष के पदार्थों का अपनी ओर से खण्डन नहीं किया गया, केवल वैशेषिकों का किया। इस प्रसंग में भाष्यकार उत्साह से वादी का खोखलापन व्यक्त करते हैं यह उनके वाक्य द्योतित करते हैं: 'तदीययैव प्रक्रियया व्यभिचरति', 'किन्तव च्छिन्नम्' (२.२.११); 'तस्मादनुपपन्नोयं परमाणुकारणवादः' (२.२.१२-१६) यह वाक्य तो ध्रुवपद की तरह हर सूत्र की समाप्ति को गुंजित कर रहा है! 'न कैश्चिदपि शिष्टैः केनचिदप्यंशेन परिगृहीत इत्यत्यन्तमेव अनादरणीयो वेदवादिभिः' (सूत्र १७) इसके बाद सूत्रों से हट कर अपनी ओर से 'अपि च', 'किंचान्यत्' आदि कहकर उस मत का तिलशः खण्डन करने को प्रवृत्त हुए हैं। वहीं उन्हें निरंकुश कल्पना करने वाला कहते हैं 'यस्मै यद्रोचेत तत्तत् सिद्ध्येत्!' और अन्त में सूत्र को विधि बनाते हुए यह सार निकाला है 'असारतरतर्कसन्दृब्धत्वाद्, ईश्वरकारणश्रुतिविरुद्धत्वात्, श्रुतिप्रवणैश्च मन्वादिभिः अपरिगृहीतत्वाद्, अत्यन्तमेव अनपेक्षा श्रेयोऽर्थिभिः कार्या-इति वाक्यशेषः।'

क्या आश्चर्य कि टीकाकार इस पक्ष को 'ग्रंथतोऽर्थतश्च' बहिष्कार के योग्य कहते हैं। भाष्यकार यही बताना चाहते हैं कि अध्यात्मक्षेत्र में आतंक मचाने के उद्देश्य से जो तार्किक प्रवेश करते हैं वे 'असारतरतर्क' का फटाटोप रचते हैं। सामान्यतः लगता है बड़ी युक्तियुक्त बात है पर बात होती है सर्वथा निर्युक्तिक। वे केवल अपनी मान्यताओं को सिद्धवत् मानकर बाकी सब सिद्धान्तों को संशयग्रस्त बनाना चाहते हैं। जब उनकी मान्यता पर प्रश्न उठे तो निरुत्तर हो जाते हैं या आधुनिक काल में तर्क की जगह भुजबल या धनबल का प्रयोग करने लगते हैं। आज के तथाकथित वैज्ञानिक रीति वाले दार्शनिक व अन्य विचारक भी इसी कोटि के हैं। वास्तविक वैज्ञानिक रीति तो उसके साधनों से अज्ञात के बारे में चुप रहने की है, न्यायभाषा में – प्रतियोगिज्ञान के बिना निषेध न करने की है, और यदि कुछ कहना है तो प्रचलित उपायों के अनुष्ठान से जानकारी पाकर या पाने की कोशिश कर तब अपनी संभावनायें स्थापित करने की है। किन्तु वर्तमान बहुसंख्यक सभी विचारक इन मर्यादाओं को मानना नहीं चाहते अतः जैसा आचार्यों ने कहा 'यस्मै यद्रोचेत तत्तत् सिद्ध्येत्' यही हो रहा है। भाष्य के उक्त निर्देश का पालन करते हुए ही हमारे आराध्यपादों ने आधुनिक भौतिक और मानसिक विज्ञान की प्रक्रियाओं की आलोचना स्वकीय ग्रंथों में की है तथा श्रौत सिद्धान्त पर किये गये आक्षेपों का परिहार आक्षेसा की भूमिका पर किया है, न कि केवल स्वकीय तर्करीति से, क्योंकि तार्किक से जल्प इसी 'समय' पर किया जा सकता है कि दोनों वादी तर्क की समान मर्यादायें मानेंगे। नास्तिक को वेदवाक्य या श्रौतार्थापत्ति का भय नहीं दिखा सकते।

प्रकृत में भाष्यकार श्रुतिबाध उपस्थित इसीलिये कर रहे हैं कि काणाद अपने को आस्तिक घोषित करता है और यहाँ 'प्रतिबोधविदितम्' इस श्रुति की व्याख्या करने को उद्यत हुआ है। उसकी यह कल्पना कि 'जहाँ कहीं भी श्रुति आत्मा को ज्ञान, आनंद आदि कहती है वहाँ सर्वत्र मत्वर्थीय प्रयोग है', बिना प्रमाण के मानी नहीं जा सकती। यथाश्रुत असिद्ध होकर केवल मत्वर्थीय से ही यदि श्रुतिसमन्वय सम्भव हो तभी ऐसी कल्पना वाक्यशास्त्रीय मर्यादाओं को संमत है। जब सिद्धान्तरीति से बिना कल्पना के वाक्यार्थ संगत है, बल्कि लाघवादि युक्तियों से भी समर्थित है, तब बिना किसी प्रमाणोल्लेख के अर्थान्तरकल्पना ग़लत है यह भाष्य का तात्पर्य है। सिर्फ़ तर्क के दोष आगे दे रहे हैं, यहाँ बताया कि शास्त्र का अर्थ अपनी कल्पना से नहीं लगा सकते और न काट सकते हैं।

ख) संयोगासम्भवात्

आत्मनो निरवयवत्वेन प्रदेशाभावाद्,

दूसरा हेतु

काणाद ने माना था कि जैसे आग के संयोग से घट में लाली पैदा होती है ऐसे मन के संयोग से – मनःसंयोगरूप असमवायी कारण से – ज्ञानभिन्न आत्मा में ज्ञान उत्पन्न होता है। यह बात श्रुतिविरुद्ध है इतना ही नहीं, संभव भी नहीं है यह कहते हैं – **आत्मा अवयवरहित है अतः मनःसंयोग के योग्य कोई प्रदेश उसमें है नहीं कि ज्ञानोत्पादक संयोगविशेष संभव हो।** लोक में यही देखा गया है कि दो वस्तुएँ जो प्रदेश वाली – हिस्से वाली – होती हैं उनके वे प्रदेश निकट आयें और दोनों के आमने-सामने वाले प्रदेशों के बीच खाली जगह बिल्कुल न बचे तो दोनों का संयोग होता है। हाथों का संयोग, घर-भूतल का संयोग आदि में यही देखा गया है। काणाद का आत्मा और मन दोनों निरवयव हैं तो इनका संयोग कैसे संभव होगा? सूत्रभाष्य में भी यह दोष कहा है 'अण्वात्ममनसामप्रदेशत्वान्न संयोगः संभवति, प्रदेशवतो द्रव्यस्य प्रदेशवता द्रव्यान्तरेण संयोगदर्शनात्।' (२.२.१७)। भामती में स्पष्ट किया है कि प्रथमतः तो अप्रदेश आत्मा से मन का संयोग संभव नहीं, फिर भी मानें तो आत्मव्यापी संयोग मानना पड़ेगा, क्योंकि आत्मा में प्रदेश है नहीं कि उसमें ही संयोग मान सकें; फलतः मन को परममहान् होना पड़ेगा, अणु नहीं रह सकता। यह काणाद को इष्ट नहीं और इसमें अन्य दोष आते हैं।

ग) नित्यसंयोगेऽपि दोषात्

नित्यसंयुक्तत्वाच्च मनसः स्मृत्युत्पत्तिनियमानुपपत्तिरपरिहार्या स्यात्।

तीसरा हेतु

वैशेषिक कहता है: आत्म-मनःसंयोग असंभव कहा सो ठीक नहीं। आत्मा सर्वगत माना गया है और सर्वगत का मतलब है सब मूर्त द्रव्यों से संयोग वाला होना। मन सक्रिय अतः मूर्त द्रव्य है तो आत्मा सर्वगत हो इसलिये ज़रूरी है कि मन से संयोग रखे।

सिद्धान्ती जवाब देता है-**सर्वगत होने से संयुक्त मानो तो मन आत्मा से हमेशा ही संयुक्त मानना पड़ेगा और तब याद आने का जो क्रमनियम है वह संगत नहीं किया जा सकेगा।** याद का एक तो यह नियम है कि अनुभव के समय नहीं होती, बाद में ही होती है। दूसरा यह कि सारी ही यादें एक-साथ ही नहीं उठती, किसी क्रम से एक-एक कर उठती हैं। वैशेषिक न तो यही कह सकेगा कि जब जिसे जिसका अनुभव है तभी उसे उसी का स्मरण भी साथ ही क्यों नहीं हो जाता और न यही बता सकेगा कि सभी स्मृतियाँ इकट्ठी ही क्यों नहीं उठती। संस्कारों वाले आत्मा से मन का संयोग एक-सा है, फिर ग्रहण के समय क्यों नहीं याद भी आती? और सारी यादें इकट्ठी क्यों नहीं आती? इनके उत्तर में भगवान् को याद करता है! कहता है अदृष्टवश क्रम होता है। यदि इतना ही उसे भगवान पर भरोसा है तो युगपत् ज्ञानों की अनुत्पत्ति से भी उसे वे ही क्यों नहीं याद आते? वहाँ क्यों मन की कल्पना करता है? अतः स्पष्ट है कि मनःसंयोग मानने की बात व्यर्थ है।

घ) अशास्त्रीयकल्पनाप्रसङ्गात्

संसर्गधर्मित्वं चात्मनः श्रुतिस्मृतिन्यायविरुद्धं कल्पितं स्यात्। 'असङ्गो न हि सज्जते' (बृ.३.९.२६), 'असक्तं सर्वभृद्' (गी.१३.१४) इति श्रुतिस्मृती द्वे।

चौथा हेतु

जडात्मवादी वैशेषिक ने सर्वगत आत्मा हो इसके लिये उसका सर्वमूर्तसंयोग मानने को कहा था। वह भी बेकार बात है। किसी से व्यवहित न होना ही आत्मा की सर्वगतता है, किसी से संयुक्तादि होना नहीं। सब कार्यों का वह अधिष्ठान है अतः सबसे तादात्म्य है, यही उसे सर्वगत बनाता है। स्पष्ट ही सद्रूप आत्मा से तादात्म्यापन्न सब पदार्थ दीखते हैं, अतः उसका अव्यवधान व्यक्त है। वही सब का आत्मा है, सबका 'स्वयम्' है। इसलिये उस कल्पना को सदोष बताते हैं - **संयोग-गुण वाला आत्मा को मानना श्रुति-स्मृति-न्याय से विरुद्ध है। 'वह असंग है, संग वाला नहीं होता', 'सबका भर्ता परमात्मा संगरहित है' ये दो श्रुति-स्मृति स्पष्ट ही विरुद्ध हैं।** प्रथम दोष था श्रुतिबाध का, यहाँ अश्रुत-कल्पना दोष दिया है, यह भेद है। किंच वहाँ ज्ञानगुण मानने में शास्त्रविरोध बताया था, यहाँ ज्ञान का हेतुभूत मनःसंयोग मानने में शास्त्रविरोध कह रहे हैं यह भी अंतर है।

ब्रह्मसूत्रों में स्पष्ट ही ब्रह्म की परमता से उसकी सर्वगतता का समर्थन है 'अनेन सर्वगतत्वायामशब्दादिभ्यः' (३.२.३७) में यह सूत्र और भाष्य में मुखतः कहा है। इसी तरह सूत्रकार ने 'सम्बन्धानुपपत्तेश्च' (२.२.३८) में कहा है कि मिथ्या संबंध से अन्य कोई संबंध आत्मा में होना संभव नहीं। अत एव वे परमात्मा को 'अधिक' (२.१.२२) भी कह देते हैं। 'ज्योतिश्चरणाधिकरण' (१.१.१०.२४) में भी संसार से असंबद्ध परमात्मरूप मानकर ही ज्योति शब्द परमात्मपरक निश्चित किया है। 'अन्तर उपपत्तेः' (१.२.४.१३) में यही उपपत्ति है कि आँख में कुछ भी पड़े तो उससे सम्बद्ध नहीं हो पाता, तुरन्त बहकर बाहर आ जाता है, अतः 'आँख में' कहकर बताया परमात्मा ही हो सकता है क्योंकि वही ऐसा है

जिससे कुछ भी संबद्ध नहीं होता। अतः परमात्मा क्योंकि जगत् का उपादान है - 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' (१.४.२३) - इसलिये कुछ भी उससे दूर नहीं हो सकता - 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' (२.१.१४), यही सर्वगतता शारीरक न्यायों से सिद्ध होती है। वैशेषिक कल्पना इन न्यायों से विरुद्ध है। ये न्याय शास्त्राधारित हैं, उसकी कल्पना प्रमाणहीन, केवल उत्प्रेक्षा पर टिकी है और उत्प्रेक्षा में असंगति बता ही चुके हैं।

ङ) न्यायविरोधाच्च

न्यायश्च—गुणवद् गुणवता संसृज्यते, नातुल्यजातीयम्। अतो निर्गुणं निर्विशेषं सर्वविलक्षणं केनचिदप्यतुल्यजातीयेन संसृज्यत इत्येतद् न्यायविरुद्धं भवेत्।

पाँचवा हेतु

दृष्ट न्याय का भी विरोध है यह कहते हैं - **लोक में देखा गया है कि गुणवान् का गुणवान् से संसर्ग होता है; असमान जाति वाले परस्पर संयोग नहीं करते। अतः गुणों से रहित, सभी विशेषताओं से वर्जित, समस्त दृश्य से हर तरह विलक्षण परमात्मा अपने से असमान जाति वाले किसी भी पदार्थ से सम्बद्ध होता है यह बात युक्ति से विरुद्ध है।** भाष्य का अभिप्राय है कि संसार में सम्बंध सविशेषों में देखा गया है तो यही व्याप्ति ग्रहण की जा सकती है कि सविशेषता और संसर्गिता का साहचर्य है। परमात्मा जब विशेषों से वर्जित है तो संसर्गी कैसे माना जाये? यदि संसर्गिता में हेत्वन्तर भी कहो तो सविशेषता उपाधि रह जायेगी। निर्विशेष संसर्गी हो तो संसर्गविशेष से निर्विशेषता-हानि हो जायेगी अतः उपाधि सबल है। किंच दृश्य-दृक्, अनित्य-नित्य, संसार-मोक्ष आदि हर तरह जब आत्मा जगत्पदार्थों से विलक्षण है तो इनकी तरह संसर्गी ही कैसे होगा?

सविशेषों का ही परस्पर सम्पर्क होता है इसमें शिष्टों के व्यवहार का उदाहरण दिया : शिष्ट सज्जन या उनसे सम्पर्क रखते हैं जो अपने से समान गुणों वाले हों या उनसे जो समान जाति वाले हों। याज्ञिकों का कवियों से, पौराणिकों का मीमांसकों से, ज्योतिषियों का नैयायिकों से, मल्लविशारदों का धनुर्धारियों से, न्यायपालिका वालों का योद्धाओं से, कृषकों का औद्योगिकों से, व्यापारियों का पशुपालकों से, लोहारों का कुम्हारों से, बढइयों का जुलाहों से, संगीतरसिकों का खिलाड़ियों से, चित्रकारों का सूपकारों से सम्पर्क कहाँ दीखता है? इसी प्रकार भिन्न जातियों में परस्पर सम्बन्ध शिष्टों में प्रचलित नहीं है। इससे यह भी ध्वनित है कि मनोवृत्तियों को अनुकूल रखने के लिये स्वसदृशों से ही सम्पर्क रखना चाहिये अन्यथा विभिन्न आदर्श मन में उपस्थित होने पर अन्तर्द्वन्द्व, अनिर्णय, एक भी ओर पूरा प्रयास न कर पाना, अतएव नैराश्य, असफलता, ग्लानि, स्वधिक्कार, इसकी बाह्य प्रतिक्रियायें जो हिंसा, प्रतिशोध, दूसरे को नीचा करना आदि नाना विकृत रूप लेती हैं, ये सब बचा पाना संभव नहीं। 'सर्वारम्भा हि दोषेणावृताः' यह भगवान् ने स्पष्ट कह दिया है। अतः सभी व्यवस्थायें, समाजप्रक्रियायें, आर्थिक संतुलन, शिक्षाप्रयोग, सत्ताविभाजन, जो कुछ भी किया जा सकता है सब में खामियाँ रहेंगी ही। किसी एक के अनुसार ढल कर सब चलें तो प्रगति संभव है। सब अपनी अलग व्यवस्था से चलें तो कुल मिलकर गति कुछ नहीं होती, परस्पर विरुद्ध दिशाओं में खींची जाती रस्सी की तरह मेहनत पूरी होती है, रस्सी जाती कहीं नहीं। इसीलिये अपने मन में विसदृश समाजों के आदर्श भरने से, विदेशीय शिक्षादि नीति उपस्थित करने से, अप्रासंगिक उद्योगों की संभावनाओं को मूर्तरूप देने से द्वन्द्वादि कष्ट ही बटोरे जा सकते हैं, शान्ति और प्रगति नहीं। अतः कहा 'गुणवद्गुणवता संसृज्यते'।

यह नहीं पूछना चाहिये कि परमात्मा की कोई जाति हो तब उसके अतुल्यजातीय की चर्चा की जाये। तुल्यजातीय न होना ही अतुल्यजातीय होना है।

निगमनम्

तस्माद् नित्याऽलुप्तविज्ञानस्वरूपज्योतिरात्मा ब्रह्मेत्ययमर्थः सर्वबोधबोद्धृत्व आत्मनः सिद्ध्यति, नान्यथा। तस्मात् 'प्रतिबोधविदितं मतम्' इति यथाव्याख्यात एवार्थोऽस्माभिः।

प्रथम ग़लत अर्थ की परीक्षा का निर्णय

इस प्रकार यही निश्चित हुआ कि जब सब बोधों का बोद्धा, 'प्रति', आत्मा कहा जाये तभी यह शास्त्रसंमत बात सिद्ध होती है कि नित्य, कभी व्यभिचरित न होने वाला विज्ञान, स्वरूप, ज्योतियों की ज्योति, आत्म-शब्द का अर्थ जो तत्त्व है वह ब्रह्म है। इसलिए हमने पहले ही जैसा व्याख्यान किया, 'प्रतिबोधविदितम्' का वही अर्थ शास्त्र-युक्ति से समर्थित है। अर्थात् शास्त्रसमन्वय के अनुरोध से एकवाक्यता की सुरक्षा भी सिद्धान्ती द्वारा किये अर्थ में ही रह सकती है, एकदेशी की व्याख्या में नहीं। 'ज्योतिषां ज्योतिः' (बृ.४.४.१६) आदि से भी बोधज्योतियों का प्रकाशक आत्मज्योति को कहा है यह श्रुति आदि से सिद्ध है।

ii) द्वितीय आशङ्क्य दूष्यते

यत् पुनः — स्वसंवेद्यता 'प्रतिबोधविदितम्' इत्यस्य वाक्यस्यार्थो वर्ण्यते; तत्र भवति सोपाधिकत्वम्, आत्मनो बुद्ध्युपाधिस्वरूपत्वेन भेदं परिकल्प्य 'आत्मनाऽऽत्मानं वेत्ति' इति संव्यवहारः — 'आत्मनैवात्मानं पश्यति' (मैत्र्युप.६.२०; नृ.उत्त.६), 'स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम' (गी.१०.१५) इति। न तु निरुपाधिकस्यात्मन एकत्वे स्वसंवेद्यता परसंवेद्यता वा सम्भवति; संवेदनस्वरूपत्वात् संवेदनान्तरापेक्षा च न सम्भवति, यथा प्रकाशस्य प्रकाशान्तराऽपेक्षाया न सम्भवस्तद्वत्।

ii. द्वितीय ग़लत अर्थ — शंका-समाधान

कुछ विचारक 'प्रतिबोधविदितम्' से स्वसंवेद्यता समझते हैं। प्रथम ग़लत अर्थ में 'विदितम्' से 'अनुमितम्' समझा गया था, दूसरे ग़लत अर्थ में उसका अर्थ केवल 'ज्ञेयम्' है। अतः 'प्रतिबोधेन विदितम्' यही समास है, अर्थ है 'ज्ञान से ज्ञेय' अर्थात् स्वसंवेद्य। स्वप्रकाश और स्वसंवेद्य में अन्तर समझना चाहिये यद्यपि बहुत बार इन्हे पर्याय रूप से प्रयोग कर लिया जाता है। विषय-विषयिभाव रहे तब स्वसंवेद्यतापक्ष है, वह भाव न रहे तब स्वप्रकाशतापक्ष है। यहाँ प्रश्न उठा है कि 'प्रतिबोधविदितम्' से स्वसंवेद्यता कही गयी क्यों न मानी जाये?

उत्तर यह है : लोक में यही देखा गया है कि जिसे जानते हैं वह घटादि और उसे जो जानता है वह देवदत्तादि परस्पर भिन्न होते हैं। इसलिये अनुभैवकशरण विचारकों को यह नियम प्रतीत होता है कि जानकारी का विषय और आश्रय—वेद्य और वेदिता, ज्ञेय और ज्ञाता—परस्पर पृथक् होते हैं। अतः वास्तव में स्वसंवेद्यता अर्थात् ज्ञान का एक ही विषय और आश्रय होना संभव नहीं। फिर भी 'मैं ख़ुद को जानता हूँ' यह सबको अनुभव है। इसे समझने के लिये उक्त नियम का आदर करते हुए यह व्यवस्था उचित है कि बुद्धि आदि उपाधि में आत्मता का अध्यास हो जाने से आत्मा का जब वह उपाधिजात वेद्य बनता है तब 'मैं ख़ुद को जान रहा हूँ' यह असंभव बात भी प्रतीत हो जाती है। जैसे दर्पण के कारण 'मैं ख़ुद को देख रहा हूँ' यह असंभव बात भी प्रतीत होती है वैसे ही उपाधिपरिच्छिन्न की विषयता उपहित में प्रतीत होने से वह प्रतीति संभव है। अतः 'प्रतिबोधविदितम्' स्वसंवेद्यता कहे तो उपाधिपरिच्छेद वाले आत्मा का प्रतिपादक होगा जो उपक्रमादि से विरुद्ध है और अन्यत्र आये आत्मोपदेश से भी विरुद्ध है।

यही बताते हैं - उनके अनुसार यहाँ उपदिष्ट आत्मतत्त्व उपाधियुक्त ही हो सकेगा। 'आत्मा से (ख़ुद से) आत्मा को (ख़ुद को) जानता है' यह जो समझा और कहा जाता है वह पहली बार कहे आत्मा से दूसरी बार कहे

आत्मा में भेद की कल्पना कर कहा-समझा जाता है। बुद्धि आदि उपाधियों को आत्मा मानकर उस रूप से आत्मा को आत्मा से अलग कर लेते हैं जैसे घटाकाश को आकाश से अलग समझकर कहते हैं 'घटाकाश भी आकाश में है'। लोक में ही नहीं शास्त्र में भी 'आत्मा से ही आत्मा को देखता है', 'ख़ुद ही आप अपने को जानते हैं' आदि प्रयोग होते हैं जिन्हे इसी तरह समझना चाहिये। उपाधिपरिच्छेद भूल जायें तो उपाधिसम्पर्कशून्य अखण्ड आत्मा न स्वसंवेद्य है न परसंवेद्य यह स्वप्रकाशतावाद में (१.३) पहले बता आये हैं।

काणाद कह सकता है : मैं मानता हूँ जो है वह वेद्य (प्रमेय) अवश्य होता है। यदि स्वसंवेद्य नहीं तो आत्मा को परसंवेद्य होना पड़ेगा। तब वेदान्ती भी जडात्मवादी ही हो जायेगा।

श्रीचित्सुखाचार्य ने कहा है 'न च प्रशस्तपादभाष्यं मनुवचनम्!' (तत्त्वप्र. पृ.३००)। अतः काणाद का प्रमेयतानियम मानना ही हो यह ज़रूरी नहीं। वेदान्ती सुभाषित तो बालक का भी स्वीकारता है पर सदोषवचन केवल किसी महत्त्वपूर्ण नाम से अभिभूत होकर नहीं मान सकता। आचार्यपाद ने तर्कचरण के उपोद्धात में समझा दिया है कि 'महाजन-परिगृहीत', 'सर्वज्ञभाषित' आदि देख-सुनकर उसे सम्यग्दर्शन मन्दमति ही मानेगा क्योंकि पाराशरियों को तो प्रथमसूत्र में ही शिक्षा मिल गयी है 'अविचार्य यत्किञ्चित् प्रतिपद्यमानो निःश्रेयसात् प्रतिहन्येतानर्थं चेयात्।' वादादि में उभयसंमत प्रक्रिया अपनाने का यह मतलब नहीं कि एक दूसरे की सब बातें मान ली जायें; तब विचार ही क्या उठेगा? उसका इतना ही अभिप्राय है कि दोनों के सिद्धान्तों से अविरुद्ध जिन बातों को मानकर परस्पर शंका-समाधान हो सकें उन बातों को स्वीकार कर विवादास्पद विषयों का निर्णय किया जाये। भाष्यकार की यह आज्ञा ('अविचार्य' आदि) ही वेदान्ताचार्यों द्वारा प्रतिपादित विभिन्न प्रक्रियाओं के रूप में फली है। पर साधक को ख़ुद के लिये विचार करना पड़ेगा - यह वेदान्त की मर्यादा है। 'भाष्यकार, विद्यारण्यस्वामी या लघुचन्द्रिकाकार विचार कर गये, हम उनकी बातें मान लें' यह हमारी प्रक्रिया नहीं। वह 'मान लेना' आध्यात्मिक दृष्टि से हमारे लिये बेकार है। यही पैग़म्बरी धर्मों से वेदसिद्धान्त का सबसे बड़ा अन्तर है। प्रत्येक जीव ख़ुद के लिये पैग़म्बर बने तभी उसे मोक्ष मिल सकता है यह वेदवाद है। अतः भाष्यकारादि कोई भी हमारी प्रक्रिया में पैग़म्बरस्थानीय नहीं हैं। ऋषियों को मंत्रदर्शन हुआ पर वहाँ भी ऐसा नहीं कि दूसरों को नहीं होगा। इस कल्प में सर्वप्रथम उन्हे हुआ यही उनका वैशिष्ट्य है। आख़िर कल्पान्तर में जीवान्तर ही ऋषि बनेंगे। पारंपरिकता का सम्मान हमारे यहाँ सीढ़ीस्थानीय है : जहाँ तक पहले से सीढी है वहाँ तक उस पर चढकर उससे आगे और पौड़ियाँ बना सकें तभी उन्नति है। यदि हर व्यक्ति ज़मीन से ही प्रारंभ करे तो बढोत्तरी कैसे हो? जैसे जानवर पीढ़ी-दर-पीढ़ी वही ग़लती करते हैं क्योंकि पूर्वज के अनुभव से शिक्षा नहीं ले पाते, वैसी हमारी स्थिति होगी। हर मानव बालक अपनी भाषा का निर्माण करे तो जो समाज, ज्ञान-विज्ञान की अवस्था रहेगी, वही अध्यात्म की होगी यदि हर अधिकारी सिर्फ़ अपने बल पर प्रारम्भ से सब क़दम लेना चाहेगा। यदि इस कारण अध्यात्म को क़ैद हुआ माना जाये जो समस्त भाषा, कला, विज्ञान, तकनीक, अर्थतन्त्रादि को भी क़ैद हुआ ही मानना पड़ेगा। और तब तो सामाजिकता मनुष्य का अभिशाप ही मानना उचित है, वही सबसे बड़ी क़ैद है। जानवरों को ही इस क़ैद से मुक्त अतः मनुष्य से बेहतर स्वीकारना ही तब उचित निर्णय होना चाहिये। बल्कि पौधों में ऐसी क़ैद और कम है! यदि भाषा, विज्ञान आदि में यह संभव है कि 'कैदी' रहते हुए भी नवीन स्थापनायें हो जाती हैं तो अध्यात्म में ऐसा न किया जाये ऐसी ही कौन सी राजाज्ञा है? बल्कि अध्यात्म-जगत् में प्रयोगात्मक प्रवृत्ति की पर्याप्त सफलता प्राचीनतम काल से उपलब्ध है, संभवतः विज्ञानादि में वह प्रवृत्ति वहीं से प्रेरित है। अध्यात्म की यह माँग कि 'सत्य का साक्षात् हमें चाहिये, किसी भूतकालिक महापुरुष को हुआ साक्षात्कार हमारा प्रेरक हो सकता है, हमें फलप्रद नहीं', - यही विज्ञान में प्रविष्ट होकर परिष्कारों का एकमात्र हेतु बनी। साम्प्रदायिकता का महत्त्व उसके मोचकत्व से है, बन्धकत्व से नहीं।

अतः काणाद की शंका का समाधान करते हैं - **आत्मा संवेदनरूप है, ज्ञानात्मक है, अतः यह संभव नहीं कि**

उसे किसी अन्य संवेदन की ज़रूरत पड़े। जैसे प्रकाश को दूसरा प्रकाश नहीं चाहिये होता ऐसे ज्ञान को अन्य ज्ञान। स्वप्रकाशतावाद में इसका विस्तार कर चुके हैं अतः यहाँ उल्लेख ही पर्याप्त है। तात्पर्य है कि काणाद का यह नियम कि 'जो है वह वेद्य है', हमें मान्य नहीं। वस्तुतः उसे भी प्रमाण को अप्रमेय ही स्वीकारना पड़ता है यह आचार्यों ने अन्यत्र विचार किया है अतः जैसे प्रकाश अर्थात् प्रमाण में उक्त नियम का व्यभिचार इष्ट है वैसे ही ज्ञानरूप आत्मा में होना चाहिये यह भाष्यकार का आशय है।

सौगतस्वसंवेद्यतामतनिरासः

बौद्धपक्षे स्वसंवेद्यतायां तु क्षणभङ्गुरत्वं निरात्मकत्वं च विज्ञानस्य स्यात्। 'न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' (बृ.४.३.३०), 'नित्यं विभुं सर्वगतम्' (मुं.१.१.६), 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयः' (बृ.४.४.२५) इत्याद्याः श्रुतयो बाध्येरन्।

बौद्ध-सम्मत स्वसंवेद्यता का खण्डन

बौद्ध लोग जिस तरह विज्ञान को स्वसंवेद्य मानते हैं उस तरह मानने से ही उन्हे विज्ञान क्षणभंगुर और निरात्मक स्वीकारना पड़ता है। हम वैसा नहीं मानते क्योंकि तब श्रुतियों का बाध होगा। वेद स्पष्ट कहता है 'जानने वाले की जानकारी कभी हटती नहीं क्योंकि जानकारी अविनाशी है', 'विभु सर्वगत आत्मा नित्य है', 'आत्मा महान् है, जन्मरहित है, जरा-मरण से वर्जित है, अमृत अर्थात् अबाध्य है, निर्भय है' इत्यादि। 'अमृत' का अर्थ 'निरन्वयनाशशून्य' विद्यारण्यस्वामी ने किया है।

बौद्ध की विचारसरणि में क्षणिकता अनिवार्यतः प्रविष्ट हो जाती है। प्रत्यक्ष क्योंकि विषयजन्य होता है इसलिये प्रत्यक्ष केवल वर्तमान वस्तु का अवभास कर पाता है। विज्ञान यदि स्वसंवेद्य है तो एक क्षण में सीमित विज्ञान उसी क्षण में सीमित स्वयं को उसी क्षण जान सकता है। अगले-पिछले क्षणों वाले ख़ुद को भी वह उस मध्य क्षण से सीमित हुआ प्रत्यक्ष नहीं कर सकता क्योंकि उन पूर्वोत्तर क्षणों से विशिष्ट उसका स्वरूप मध्यक्षण में है ही नहीं। फलतः विज्ञान अगर ख़ुद में ख़ुद ही प्रमाण है तो वह सिर्फ़ वर्तमान क्षण में रहने वाला हो सकता है। आगे-पीछे वह ख़ुद है इसमें कोई प्रमाण नहीं मिल सकता। प्रत्यक्ष इसलिए नहीं कि अगला-पिछला काल ही अभी विद्यमान नहीं है और प्रत्यक्ष विद्यमानग्राहक ही होता है। अनुमान इसलिए नहीं कि साहचर्यज्ञान का उपायभूत प्रत्यक्ष पूर्वोत्तर कालों को विषय नहीं करता। अन्य कोई प्रमाण वे मानते नहीं। दीपज्वाला में व्यभिचारी होने से प्रत्यभिज्ञा उनके लिए भ्रम है। अतः विज्ञान क्षणिक है यह स्वीकार्य है। विज्ञान को खुद का वेद्य मान लेने से उन्हे साक्षी मानना नहीं पड़ता अतः स्थायी नित्य आत्मा उनको मान्य नहीं। आत्मा कहते ही व्यापक को हैं। बिना आत्मा के उनकी व्यवस्था चलती है अतः वे विज्ञान भले ही मानें, आत्मा न मानने से निरात्मवादी हैं। विज्ञान की निरात्मकता यही है कि वह न आत्मा है, न आत्मा से सम्बन्ध वाला। तार्किक यद्यपि विज्ञान को तीन क्षण ही रहने वाला मानना चाहते हैं तथापि उनके अनुसार वह रहता आत्मा में ही है, उसी का गुण है, अतः आत्मसम्बद्ध है। वेदान्त में विज्ञान आत्मरूप है। बौद्ध विज्ञान को दोनों ही तरह आत्मा से कोई मतलब नहीं।

इस विचार की तार्किकता का खण्डन अन्यत्र भाष्यकार कर चुके हैं अतः केवल श्रुतिविरोध दिखा कर छोड़ दिया। 'अनुस्मृतेश्च' (२.२.२५) में प्रत्यभिज्ञा या स्मृति के अनुरोध के क्षणिक अनुभविता का विस्तृत खण्डन है। बौद्ध सम्मत उत्पत्ति, कार्यकारणता, बन्ध-मोक्ष आदि का विरोध भी उस अधिकरण में क्षणिकता के प्रति उपस्थापित किया गया है। प्रश्नोपनिषद्भाष्य में (६.२) भी विस्तार से विज्ञानवाद का खण्डन किया है। विज्ञान स्वविज्ञेय नहीं हो सकता यह भी वहाँ स्पष्ट किया है। 'आत्मतत्त्वविवेक' में तार्किकाचार्य उदयन का विज्ञानवादखण्डन भी मार्मिक है। विषय-विषयी का अभेद मानकर क्षणिकत्व, निरात्मत्व का निगमन है। जब वह अभेद ही संभव नहीं तो निगमन तक पहुँचने का प्रश्न ही नहीं। अतः उक्त स्थलों पर इसी अभेद का प्रमुख खण्डन है।

यहाँ तो आचार्य का तात्पर्य है कि अपना स्थायित्व सर्वानुभवसिद्ध और असंशयग्रस्त है, श्रुति-युक्ति से समर्थित है अतः अपने क्षणिकत्वादि की प्राप्ति का निरास करना व्यर्थ परिश्रम होगा। श्रुतिव्याख्या चल रही है। स्थायी आत्मा प्रथम खण्ड के आदि में ही समझा आये हैं। प्रष्टा शिष्य उस विषय में निःशंक है। अतः उस पक्ष पर विशेष विचार की ज़रूरत नहीं। भाष्यकार सूचित कर रहे हैं कि जो अपनी समस्या न हो, हमारा प्रश्न न हो, उसे सुलझाने की झंझट में नहीं फँसना चाहिये। बौद्ध, जैन, नैयायिक आदि क्या-क्या मानते हैं, उनकी मान्यताओं से वेदान्त पर क्या क्या दोष आ सकते हैं, उनके क्या परिहार हो सकते हैं इत्यादि विचार मननरूप साधना नहीं है। जिसे बौद्धादि संस्कार हैं, जिसे वेदान्त पर वे प्रश्न उठते हैं, वह उनका उत्तर खोजे तो मननरूप साधना है। पहले मेहनत कर पूर्वपक्ष समझो फिर उसके उत्तर समझो यह कीचड़ लगा कर धोना मुमुक्षु के लिए काम का नहीं। आचार्य आदि समर्थ विद्वान् ब्रह्मवेत्ताओं ने तो हर तरह के मुमुक्षु के उपकार के लिये सभी समस्यायें जो उनके काल में प्रचलित थीं उनका विचार कर वेदान्त को आक्षेपों से रहित किया है। इसमें भी सामयिकता स्पष्ट होती है। गौडपादाचार्य के मुख्य प्रश्नकर्ता बौद्ध संस्कारों वाले हैं। कुमारिल भट्ट के कनिष्ठ समकालीन आचार्य और उनके प्रमुख दोनों शिष्यों ने अधिकतम विचार मीमांसाविरोध पर किया है। व्यास जी को सांख्यवादी ही समस्या दीखता रहा, प्रायः प्रथम पाँच पाद उसी का खण्डन हैं। सर्वज्ञमुनि के सामने मीमांसकों में प्राभाकर और वेदान्तियों में मण्डनानुयायी पूर्ववादी हैं। श्रीहर्ष, चित्सुखाचार्य न्याय-वैशेषिकों से जूझते रहे। अप्पय दीक्षित, मधुसूदन स्वामी माध्वों की शंकाओं को प्रमुख मानते हैं। ब्रह्मविद्याभरणकार आदि ने रामानुजमत को आलोच्य समझा। इससे इन आचार्यों ने यही व्यक्त किया कि शंका-समाधान कोई व्यायामरूप से मन्तव्य में विहित नहीं है बल्कि वेदान्तार्थ के निश्चय में आने वाली रुकावटों को हटाना ही उस विधि का अर्थ है। अतः आज यदि गंगेशोपाध्याय की रीति से हमारी बुद्धि नहीं चल रही या द्वादशाध्यायी-न्यायों का विरोध हमें पग-पग पर नहीं खटकता तो परिमल या लघुचन्द्रिका समझने की कोशिश को विविदिषु के लिये मनन नहीं मान सकते, पाण्डित्य के लिये चाहे उपादेय हो। जिसे उन तन्त्रों के संस्कार पड़ गये हैं वह अवश्य मननरूप से नये या ऐसे अन्य सभी ग्रंथ गुरुमुख से पढ़े। सम्प्रदाय में प्रविष्ट अधिकारियों का तो यह कर्तव्य है कि पूर्वार्जित सभी परिष्कारों को यथावत् गुरुमुख से ग्रहण करें तथा आगे परम्परा में करायें ताकि किसी भी संभावित पूर्वपक्ष का निराकरण भविष्य में भी किया जाता रहे अन्यथा प्राचीन काल से सुरक्षित निधि हाथ से खोना महामूर्खता होगी, किन्तु विविदिषुमात्र के लिये यह अपेक्षित नहीं। इस तात्पर्य से भाष्यकार ने यहाँ केवल श्रुतिविरोध उपस्थित किया।

iii-iv) पक्षान्तरद्वयप्रदर्शनम्

यत् पुनः—प्रतिबोधशब्देन निर्निमित्तो बोधः प्रतिबोधः, यथा सुप्तस्येत्यर्थं परिकल्पयन्ति;
—सकृद्विज्ञानं प्रतिबोध इत्यपरे।
निर्निमित्तः, सनिमित्तः, सकृद्वाऽसकृद्वा प्रतिबोध एव हि सः!

iii - iv. तीसरा-चौथा ग़लत अर्थ

कुछेक विचारक 'प्रतिबोध' से निर्निमित्त ज्ञान समझते हैं जैसा सोये व्यक्ति को बिना निमित्त के आनंदादि बोध होता है। जब साधक 'मैं ब्रह्म हूँ' यह चिन्तन करता है और चित्त-व्यापार चल रहा है अर्थात् ऐसी वृत्ति बन रही है तब तक सम्प्रज्ञात समाधि है। गूढार्थदीपिका में (६.२९) भी कहा है 'सम्प्रज्ञातसमाधौ हि आत्मैकाकारवृत्तिप्रवाह-युक्तमन्तःकरणसत्त्वं साक्षिणाऽनुभूयते'। रत्नावलीकार ने (पृ.१९) भी बताया है 'ब्रह्मास्मीति शाब्दज्ञानोत्तरं तु तादृशधीप्रवाहरूप एव'। इस अभ्यास के परिपाक से जब चित्त-व्यापार अर्थात् वृत्तिप्रवाह भी निवृत्त हो जाता है तब असंप्रज्ञात समाधि है। जैसे सुषुप्ति में आनंदानुभूति मनोव्यापार के बिना ही होती है ऐसे तब परमानन्द साक्षात्कार होता है। उसे प्रतिबोध कहना चाहिये यह प्रकृत पक्ष है। इसमें यह वार्तिकोक्ति अनुकूल है 'निदिध्यासन उस बोध को कहते हैं जो (वृत्ति आदि) किसी

अन्य के सहारे से न हो' (बृ.वा. २.४.२१७)।

अन्य व्याख्याता उस विज्ञान को प्रतिबोध समझते हैं जो एक बार होते ही तुरन्त मुक्तिहेतु बन जाने से पुनः नहीं होता। निष्क्रिय परमात्मा से प्रत्यगात्मा के अभेद का अनुभव हो जाने पर परिच्छिन्नोपाधि में अध्यास न रह जाने से प्रमातृत्व नहीं बचता अतः पुनः बोध होना संभव नहीं क्योंकि प्रमारूप बोध प्रमाता को ही होता है। एवं च वह अभेदानुभव होते ही तुरंत विदेहकैवल्य प्रदान कर देता है। एक ही बार हुआ, पुनः हो सकता नहीं अतः उसे 'सकृद्' अर्थात् एक बार होने वाला विज्ञान कहते हैं। प्रकृत व्याख्याता इसे ही यहाँ प्रतिबोध समझना चाहते हैं और इस मान्यता में कि विज्ञान एक ही बार होता है, यह वार्तिक अपने अनुकूल पाते हैं 'क्रिया-कारक रूप धारण किये हुए अज्ञान को आगमजन्य ज्ञान एक बार प्रवृत्त (=उत्पन्न) होते ही मर्दित कर देता है अतः अज्ञान और ज्ञान इकट्ठे नहीं रहा करते।' (बृ.वा.३.३.७१)।

भाष्यकार इन दोनों पक्षों में अरुचि व्यक्त करते हुए कहते हैं – **बिना निमित्त के हो, निमित्त से हो, एक बार हो, बार-बार हो, है तो प्रतिबोध ही!** लगभग ऐसी ही बात बृहद्भाष्य में (१.४.१०) कही है 'य एव अविद्यादिदोष-निवृत्तिफलकृत्प्रत्यय आद्यः, अन्त्यः, सन्ततः, असन्ततो वा स एव विद्येत्यभ्युपगमात्र चोद्यस्यावतारगन्धोऽप्यस्ति।' प्रकृत में दोनों वादी 'प्रतिबोधविदितम्' का मतलब 'तत्त्वसाक्षात्कार से निवृत्ताविद्य' यही करना चाह रहे हैं। इसमें फलितार्थ तो निर्विशेष आत्मा ही आता है अतः इन्हे खण्डित करने में आचार्य प्रवृत्त नहीं हुए। तथापि इनकी व्याख्यायें समुचित नहीं यह 'सनिमित्तः असकृद्वा' कहकर सूचित कर ही दिया है जिसका अभिप्राय टीकाकारं बताते है।

जो बोध अनादि अविद्या को निवृत्त करने वाला है उसे निर्निमित्त, बिना कारण होने वाला, कैसे कहोगे? वह बोध तो अनादि है नहीं अन्यथा अज्ञान रहा ही न होता। बोध को कार्य भी मानो और निष्कारण भी यह संभव नहीं। गहरी नींद में होने वाला सुखादि ज्ञान भी अकारण नहीं होता। सुषुप्ति अनादिकाल से होती आयी है। सुषुप्ति में मन आदि अविद्या में विलीन होते हैं यह विलय ही निरोध है। पिछली निरोधावस्थाओं के संस्कार अविद्या में हैं। उनके कारण सुषुप्ति में अविद्या की वैसी ही सुखाकार वृत्ति बनती है जैसी पिछली बारों में बनती रही है। उस वृत्ति के निमित्त से अभिव्यक्त चैतन्य ही तब सुखसाक्षात्कार है। अतः वह भी सनिमित्त ही है। सुषुप्ति में सुखानुभूति की अन्यथानुपपत्ति से तब वृत्ति स्वीकारनी पड़ती है। मन लीन हो चुकता है अतः वह अविद्यावृत्ति ही हो सकती है। इस विषय में विवरण (पृ. १७१), श्रीनृसिंहाश्रम का वेदान्ततत्त्वविवेक (पृ.३४५), सिद्धान्तबिन्दु व रत्नावली (पृ.१६४-६५) आदि में बहुत विचार देखा जा सकता है। वार्तिकमत का भी वास्तविक अभिप्राय तथा वृत्तिसंख्या (अर्थात् तीन वृत्ति चाहिये या एक से काम चलेगा) के सम्बन्ध में अद्वैतसिद्धि एवं लघुचन्द्रिका (पृ.५५८-५५९) का अवलोकन अनिवार्य है। वेदान्तप्रक्रिया सीधी बात मानती है कि जो कभी हो-कभी न हो उसके लिये आगंतुक कारण चाहिये। सुख तो सारा ही आत्मरूप है फिर भी जैसे जाग्रदादि में रसगुल्ला आदि निमित्त से हुई मोदादि वृत्ति की ज़रूरत है ऐसे सुषुप्ति में भी है, इतना ही मतलब है। बिना वृत्तिविशेष के तो प्रियतामात्र है, सुषुप्ति में जो ख़ास सुख है वह वृत्ति के होने में प्रमाण है। यह भी ख़्याल रखना चाहिये कि मनोवृत्ति न मानकर अविद्यावृत्ति मानने का अभिप्राय क्या है: प्रकटार्थकार श्रीमदनुभूतिस्वरूपाचार्य माण्डूक्यकारिकाभाष्यटीका में (३.३२) कहते हैं 'सङ्कल्पो हि मनसो व्यावहारिकं रूपम्'। अत एव मन को संकल्प-विकल्पात्मक कहते हैं। सुषुप्ति में संकल्पात्मक कोई व्यापार न होने से मन अपने व्यावहारिक या कार्यकारी रूप से वहाँ विद्यमान है ऐसा नहीं कहा जा सकता। मनोलयसहित अज्ञान को सुषुप्ति माना गया है (न्या.रत्ना.पृ.५८)। विलयावस्थ मनोरूप अज्ञान या मनोलयविशिष्ट अज्ञान कहें, बात एक ही है। मन का निरवशेष नाश सुषुप्ति में स्वीकृत नहीं है अतः वहाँ लीनरूप से मन रहता है। अत एव जीव की ही वह अवस्था है और सुषुप्ति में भी जीव परमात्मा से अलग बना रहता है यह विवरण (पृ.१९२) आदि में सुव्यक्त है। इसलिए 'सुषुप्ति में मन नहीं है' का अर्थ है कि जिस ढंग से वह जाग्रत्-स्वप्न में कार्य करता है उस ढंग से कार्य करने लायक नहीं है। अत एव सुषुप्ति में वृत्ति को मन की वृत्ति नहीं कह सकते।

उस स्थिति में जब मन है तब वह अज्ञान रूप से है जैसे पिघला गहना सोना-रूप से होता है। उसी अज्ञान की वृत्ति तब मानी जा सकती है। अत एव शरीर में सुषुप्ति होती है, क्योंकि मन शरीर में रहता है। अज्ञान तो व्यापक है पर देह से बाहर तो सुषुप्ति होती नहीं! क्योंकि विलीन मन को वैसे ही मन नहीं कह सकते जैसे पिघलने के बाद उपलब्ध घोल को गहना नहीं कह सकते इसलिये उसे अज्ञान कहते हैं। सुषुप्ति के जन्यानुभव का हेतु जो जन्य वृत्ति है वह अतएव अज्ञानवृत्ति है। वृत्ति से समनियत शारीरिक प्रक्रियाविशेष का होना भी इसीलिए उचित है अर्थात् जैसे मनोवृत्ति स्वगोलक के परिवर्तनविशेषों से समनियत पहले बतायी थी वैसे ही अविद्यावृत्ति भी – जो कि अवस्थाद्वयवैशिष्ट्य को छोड़े हुए मन की ही वृत्ति है – गोलक के परिवर्तनविशेषों से समनियत हो यह संगत है। एवं च सुषुप्ति का भौतिकांश, अर्थात् शरीर के अवयवविशेषों के परिवर्तनविशेष, उतना ही ज़रूरी है जितना रूपदर्शन में; जैसे वहाँ भौतिक अर्थात् स्थूलभूत के कार्यरूप गोलकों के परिवर्तनों की अपेक्षा से मन में वृत्ति बनती है वैसे सुषुप्ति की वृत्ति भी उनकी अपेक्षा रखती है। गोलकव्यापार से अतिरिक्त वृत्ति की ज़रूरत जैसे रूपदर्शनादि में समझा चुके हैं वैसे यहाँ भी समझ लेनी चाहिये। वृत्ति होकर समाप्त होती है इसलिए सुखस्मृति होना भी उसी तरह उपपन्न है जिस तरह घटस्मृति होना। इस प्रकार 'यथा सुषुप्तस्य' यह जो दृष्टान्त तीसरे ग़लत अर्थ वाले ने दिया था वह असिद्ध हो गया क्योंकि वहाँ भी निर्निमित्त बोध नहीं है।

वह कह सकता है कि सम्प्रज्ञात-दशा में की गयी आवृत्ति (वृत्ति-पौनःपुन्य) के प्रभूत संस्कार तो रहेंगे ही अतः असम्प्रज्ञात में चित्त भले ही निवृत्त हो जाये उन विद्यमान संस्कारों के कारण अखण्ड तत्त्व अभिव्यक्त हो सकता है और क्योंकि वह असम्प्रज्ञातदशा की किसी वृत्ति आदि किसी निमित्त से नहीं है इसलिये निर्निमित्त भी माना जा सकता है।

उसके कहने में दोष यह है : असम्प्रज्ञात दशा में प्रमावृत्ति के बिना अभिव्यक्त चेतन अविद्यानिवृत्ति का हेतु नहीं बनेगा। जैसे पुत्र मर जाता है तो माता उसके बारे में निरंतर चिंतन करते हुए कभी उसे देखती भी है लेकिन वह दीखना प्रमा नहीं है क्योंकि अविद्याानिवर्तक नहीं हो रहा, कारण कि अविद्यानिवृत्ति की सामग्री वहाँ नहीं है; अपरोक्ष ज्ञान की सामग्री में विषय विद्यमान होना चाहिये, पुत्र का अपरोक्ष है जब कि वह विद्यमान नहीं है। ऐसे ही वृत्ति न होने पर तत्त्व अभिव्यक्त हो जाये तो भी अविद्या न हटाने से व्यर्थप्राय होगा। यद्यपि योगप्रक्रिया का अवलंबन कर गूढार्थदीपिका में (६.२५) 'निर्निमित्तश्चिदाकारः', 'वृत्तिं विनैव निर्विघ्नमात्मानुभूयते' आदि कहकर आत्माकार वृत्ति बनाने का भी मुखतः निषेध किया है तथापि क्योंकि आगे (६.२९) वे स्वयं योगप्रक्रिया को शांकरों के लिये विशेष उपयोगी नहीं मानते – 'अत एव भगवत्पूज्यपादाः कुत्रापि ब्रह्मविदां योगापेक्षां न व्युत्पादयाम्बभूवुः।' – इसलिए सिद्धान्त में वृत्तिस्वीकार पक्ष ही समर्थनीय है यह पंचदशी (१.५५-५७), वेदान्तसार, न्यायरत्नावली (पृ.१९-२०) आदि में स्पष्ट है। 'अपरायत्तबोध' आदि जो वार्तिक उद्धृत किया था वह भी इतना ही कह रहा है कि वाक्यार्थ के ज्ञान के प्रतिबंधक हट चुकने से शमादियुक्त श्रवण-मनन करने से वाक्यतात्पर्यनिश्चय आराम से हो जाता है। उससे निर्निमित्त बोध तक की बात समझना उचित नहीं। उस श्लोक की शास्त्रप्रकाशिका में यही व्याख्या भी है ' श्रवणमनने शमादियुक्ते कृत्वा स्थितस्य वाक्यार्थज्ञानान्तरायहीनस्य अनायासेन वाक्यीयो वाक्यार्थबोधो निदिध्यासनवाक्ये निदिध्यासनमित्युच्यते।' भाष्य में तो वहाँ निदिध्यासन का सीधा अर्थ 'निश्चयेन ध्यातव्यः' ही किया है।

समाधिवादी यदि यह माने कि असम्प्रज्ञातदशा के स्फुरण का क्योंकि शब्दजन्य वृत्त्यात्मक तत्त्वप्रमा से संवाद है – जो उस वृत्तिदशा में भासा था वही समाधि में स्फुर रहा है – इसलिये उस स्फुरण को नष्टपुत्रदर्शन की तरह न मानकर प्रमा ही मानना चाहिये; तब तो वह प्रामाण्य-परतस्त्ववादी हो जायेगा और इसमें आने वाले दोषों पर पहले ही चर्चा हो चुकी है। यहाँ वाचस्पत्यपक्ष पर भी कटाक्ष समझना चाहिये। उसके समर्थन में यही कहा गया है 'मूलप्रमाणदार्ढ्येन न भ्रमत्वं प्रपद्यते' (कल्प.पृ. ५६)। यद्यपि ' न च प्रामाण्यपरतस्त्वापातः, अपवादनिरासाय मूलशुद्ध्यनुरोधात्' (वहीं) से वे प्रमा के स्वतस्त्व की रक्षा करते हैं तथापि उसे शब्दमूलक या वाक्यजज्ञान की भावना से जन्य मानने पर उसे निर्निमित्त

तो नहीं ही माना जा सकता। तात्पर्य है कि पंचदशी में (१.५७) कहे ढंग से तत्काल कोई प्रयास न होने पर भी असंप्रज्ञात में स्थित होने का प्रथम प्रयास तो उस दशा का असाधारण निमित्त है ही। इस प्रकार 'प्रतिबोध' से निर्निमित्त बोध समझना ठीक नहीं यह स्पष्ट हुआ।

जो चौथी ग़लत व्याख्या थी कि सकृद् विज्ञान को प्रतिबोध कहते हैं उसमें भी यह समझना चाहिये: श्रुति ने बोध-शब्द रखा है, उसका मतलब केवल आत्मप्रमा ही कैसे समझें? सभी ज्ञानों को श्रुति कह रही है यही समझना चाहिये क्योंकि बोध-शब्द से लोक में सभी ज्ञान कहे जाते हैं और लौकिक अर्थ का ग्रहण उपपन्न रहते अलौकिक या पारिभाषिक अर्थ का ग्रहण मीमांसा-मर्यादाओं के ख़िलाफ है। यह भी पहले कह चुके हैं कि आत्मप्रमा भी प्रतिबद्ध-अप्रतिबद्ध भेद से द्विविध है और प्रतिबद्ध प्रमा की पुनः पुनः आवृत्ति होने में कोई दिक़्क़त नहीं। बल्कि 'ब्रह्मसंस्थता' (छां.२.२३.२) 'अध्यात्मज्ञाननित्यता' (गी.१३.११), 'ब्रह्मनिष्ठता' (ब्र.सू.भा.३.४.२०) आदि से इस बोध का असकृत्त्व समर्थित है। अप्रतिबद्ध आत्मप्रमा भी प्रारब्ध-उपाधि से जो वर्तमान प्रमातृत्व है उसके भान को निवृत्त नहीं करती, बाध ही करती है यह जीवन्मुक्ति-शास्त्र से, 'ब्रह्मनिष्ठं गुरुमभिगच्छेत्' विधि की अन्यथानुपपत्ति से तथा 'जीवन्मुक्तिस्तावदस्ति प्रतीतेः' आदि सर्वज्ञगुरु आदि आचार्यों के स्वानुभव से स्वीकार्य है। अतः अप्रतिबद्ध प्रमा होने के बाद भी पुनः अखण्डवृत्ति बन ही सकती है। गुरु जब उपदेशादि करेंगे तब उनके चित्त में महावाक्यार्थभूत आत्मा का अखण्ड बोध क्यों नहीं होगा? ज़्यादा-से-ज़्यादा यही कह सकते हैं कि निवर्तनीय अज्ञान न बचने से अज्ञाननिवर्तकत्वरूप प्रमात्व उसमें नहीं रहेगा लेकिन प्रमाणजन्यत्व और अबाधितार्थकत्व रूप प्रमात्व तो रह जायेगा। ऐसे ही चित्त में आत्मस्मृति भी हो ही सकती है। काकाक्षि आदि दृष्टान्त से (११.१२८) ब्रह्मानन्द-योगानन्द प्रकरण में यह तथ्य काफी प्रकाशित किया गया है। पंचपादिकाकारों ने 'संस्कारादप्यग्रहणानुवृत्तेः संभवाद्, भयानुवृत्तिवत्' (पृ.२९०) से जीवन्मुक्ति का उपपादक संस्कार माना है जिसकी निवृत्ति में तत्त्वज्ञान के अनुसन्धान का विनियोग प्रकाशात्मश्रीचरण ने बताया है 'तत्त्वज्ञानानुसन्धानादेव च क्रमेण संस्कारनिवृत्तेः' (पृ.२९१)। वस्तुतः यही शंकरानंदस्वामी द्वारा प्रतिपादित तथा विद्यारण्यस्वामी द्वारा विस्तारित मनोनाश-वासनाक्षय या भूमिकारोहण पक्ष का बीज है। यद्यपि प्रारब्धसमाप्ति ही संस्कार या लेश के न रहने का अर्थात् प्रतिभास न बचने का पर्याप्त हेतु है यही सभी आचार्यों को स्वीकृत है तथापि जैसे हम लोगों का नींद में पक्षपात है (पंचदशी ११.७६) अर्थात् बार-बार निद्रासुख लेना चाहते हैं, वैसे ब्रह्मज्ञ का आत्माकार मानसस्थिति में पक्षपात स्वाभाविक है यही विवरण या शंकरानन्दादि महानुभावों का तात्पर्य है। स्वयं भाष्य में (बृ.१.४.७) कह दिया है 'पक्षे प्राप्तं ज्ञानप्रवृत्तिदौर्बल्यं, तस्मात् त्यागवैराग्या-दिसाधनबलावलम्बेन आत्मविज्ञानस्मृतिसन्ततिः नियन्तव्या भवति।' यद्यपि यह अपूर्व का खण्डन कर नियमविधि मानना भी वार्तिक में (१.४. श्लो.९२१) अभ्युपेत्यवाद बताया गया है तथापि वह इसलिए है कि भाष्यकार वहीं पहले कह आये हैं कि ब्रह्मनिष्ठ को आत्मानुसंधान स्वतः सिद्ध है 'पारिशेष्याद् आत्मैकत्वविज्ञानस्मृतिसन्ततेः अर्थत एव भावाद् न विधेयत्वम्। शोकमोहभयायासादिदुःखदोषनिवर्तकत्वाच्च तत्स्मृतेः।' उसका वार्तिक में (श्लो.८४२-७) भी यही व्याख्यान है कि आत्मस्मृति स्वतः प्राप्त है। अतः शंकरानन्दस्वामी आदि भी इसी बात का विस्तार कर रहे हैं यही मानना चाहिये। यद्यपि उनके गीताव्याख्यान से और जीवन्मुक्तिविवेक में विद्यारण्यमुनि के वचनों से समाधि-अभ्यास में आदरविशेष निश्चित होता है तथापि तृप्तिदीप में 'न समाधिस्ततो मम' (श्लो. २६५) और 'अन्योन्यवृत्तान्तानभिज्ञौ' (२७३) से पंचदशी में यह स्पष्ट कर दिया है कि यदि प्रारब्ध, पूर्ववासनादि से चित्त इच्छादि वाला होकर प्रवृत्त होता भी है तो बेगार की तरह किसी तरह भोग को निपटाता है (श्लो.१४०) अतः अल्प ही भोग कर पाता है (श्लो.१६५) और चित्त मानो अपने पूर्व किये अपराधों का प्रयश्चित्त करते हुए ध्यान में तत्पर हो जाता है (श्लो.२३७)। इसलिए चिन्तन, कथन, प्रबोधन (श्लो.१०६) को निदिध्यासन का विघातक नहीं माना है (श्लो.१२२-३)। इस प्रकार तात्पर्य हुआ कि जिस मन में अप्रतिबद्ध तत्त्वप्रमा हुई है वह आत्मस्मृति में प्रवण रहता है, यह प्रावण्य चाहे समाधिरूप से प्रकट हो चाहे चिन्तनादि रूप से इसमें आग्रह नहीं। तत्त्वनिष्ठ उस मनःप्रवृत्ति से तादात्म्यापन्न नहीं होता अतः न समाधि करता है न चिन्तनादि। ध्यान और लीला दोनों

ही श्रुति ने आत्मा में तो आरोपित ही माने हैं। एवं च बोध का सकृत्त्व ही हो सकता है इस बात को आदर नहीं दे सकते। जो 'सकृत्प्रवृत्त्या' आदि वार्तिक उद्धृत किया था वह भी 'मृद्नाति' से बाध ही कहता है अप्रतीति नहीं, अतः वार्तिक सकृत्त्व पक्ष का समर्थक नहीं है। जो तो भाष्य, वार्तिक आदि ज्ञानावृत्ति का विरोध करते हैं वह अज्ञाननिवृत्ति के प्रति आवृत्ति की साक्षात् कारणता का ही विरोध करते हैं। परंपरा से कारणता तो आवृत्त्यधिकरण से (४.१.१) समर्थित है। उनका कहना है कि आवृत्ति आदि चाहे जिन उपायों से हो, जो विद्यावृत्ति इस सामर्थ्य वाली है कि होते ही अज्ञान हटा देती है उसे ही 'तमेव विदित्वा' आदि में विद् से कहा गया है अतः विद्यावृत्ति की आवृत्ति अनपेक्षित है। वे उसे अनावश्यक ही कहते हैं, असंभव नहीं। बल्कि पूर्वोक्त संदर्भों से उन्हे स्वतः सिद्ध आत्मवृत्तिप्रवाह इष्ट ही है। केवल कर्तव्यरूप से वे उसे नहीं रख सकते। अतः सकृत्त्व में कोई प्रमाण नहीं।

हर हालत में यहाँ तो भाष्यकार कहते हैं कि चाहे जैसे मानो, 'प्रतिबोध' का अर्थ परमात्मा है यह समझ लो। सही अर्थ तो यही है कि हर बोध के 'प्रति' साक्षिरूप से भासता है अतः परमात्मा प्रतिबोध कहा गया है।

'अमृतत्वं हि विन्दत' इत्यस्यार्थः

'अमृतत्वं हि विन्दत' इति हेतुवचनं, विपर्यये मृत्युप्राप्तेः। विषयात्मविज्ञाने हि मृत्युः प्रारभत इत्यात्मविज्ञानम् अमृतत्वनिमित्तमिति युक्तं हेतुवचनम्— अमृतत्वं हि विन्दत *इति।* **अमृतत्वम् अमरणभावं स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षं हि यस्माद् विन्दते लभते यथोक्तात् प्रतिबोधात् प्रतिबोधविदितात्मकात् तस्मात् प्रतिबोधविदितमेव मतमित्यभिप्रायः।**

आत्मज्ञानेन किममृतत्वमुत्पाद्यते? न। कथं तर्हि? आत्मना विन्दते स्वेनैव नित्यात्मस्वभावेन अमृतत्वं विन्दते, नालम्बनपूर्वकम्। 'विन्दत' इत्यात्मविज्ञानापेक्षम्। **बोधस्य हि प्रत्यगात्मविषयत्वं च मतममृतत्वे हेतुः।** *यदि हि विद्योत्पाद्यममृतत्वं स्याद्, अनित्यं भवेत्, कर्मकार्यवत्। अतो न विद्योत्पाद्यम्।*

'अमृतत्वं हि विन्दते' का अर्थ .

प्रतिबोध की जानकारी ही सही जानकारी है यह कहा। प्रत्यक् अर्थात् साक्षी रूप परमात्मा की समझ ही सही है ऐसा क्यों? इसलिए कि वही सार्थक, सफल, है।

प्रामाण्य विचार में एक प्रश्न उठता है कि क्या सफलता प्रमाण का अनिवार्य गुण है? वेदान्ताचार्यों का कहना है कि अर्थानुसारी ज्ञान जो अज्ञातार्थप्रकाशक है वह प्रमा है, सफल हो चाहे न हो। रास्ते चलते बहुतेरी चीज़ें दीखती हैं जिनसे दृष्टादृष्ट कोई फल नहीं, क्या एतावता उनका दीखना भ्रम हो गया? पद्मपादाचार्य ने बोधलक्षण प्रामाण्य माना है (पृ.५९५)। इस पर विचार करते हुए विवरणकार 'प्रमेयमात्र-अवबोधनिबन्धन प्रामाण्य' का समर्थन करते हैं (पृ.५९७)। यह पक्ष अंगीकारवाद छोड़कर है यह तत्त्वदीपन में कहा है अतः इसे ही मुख्य मानना चाहिये। अतः कहीं कहा गया है 'अफलत्वापराधेन न प्रामाण्यं विहन्यते।' सर्वज्ञमुनि भी 'अज्ञातमर्थमवबोधयदेव मानं तच्च प्रकाशकरणक्षममित्यभिज्ञाः' (२.८) से यही ध्वनित करते हैं। इस आधार पर प्रतिबोध के वेदन को सही वेदन कहना इसलिए ठीक है कि यह यथार्थ बोध है, प्रमाण से पैदा हुआ है, अज्ञान हटाता है और किसी अन्य बोध से कटता नहीं है।

तथापि कुछ विचारक लौकिक प्रमाणों से शास्त्र में यह भेद करना चाहते हैं कि शास्त्र-प्रतिपाद्य को सफल होना ही चाहिये। यह भी पंचपादिका में (पृ.५९६) समझाया गया है। यद्यपि पूर्वोक्त रीति से यह मान्यता गौरवग्रस्त है तथापि इससे कोई हानि न होने से प्रायः इसे मानकर वेदान्ती भी चलते हैं। वस्तुतः वेदान्त के ढंग में इस बात को स्थान अन्य तरह से दिया ही गया है : शब्द—लौकिक हो या शास्त्रीय—अपने तात्पर्यविषय में प्रमाण होता है यह वेदान्तमर्यादा है। वक्ता ने यदि ग़लती से या ग़लत-फ़हमी से किसी शब्द का प्रयोग कर दिया तो उस अपराध से हम उसे नाज़ायज़ दबाव

देकर यह नहीं मानते कि वह झूठ बोल रहा है। वह जो बताना चाह रहा है, जो समझाने के लिये उसने वाक्य कहा है, वह बात यदि ग़लत है तभी हम मानेंगे कि उसने ग़लत बात बतायी। इसलिए यह समझना ज़रूरी है कि वाक्य का तात्पर्य क्या है। कहने वाला उपस्थित हो तब तो उसी से कई तरह पूछा जा सकता है, हम अपने शब्दों में कहकर भी उससे जँचवा सकते हैं कि हम जो समझे वही उसका तात्पर्य है या नहीं। किन्तु जहाँ वक्ता है नहीं वहाँ तात्पर्यनिर्णय कैसे हो? इस पर अनुसंधान करते हुए आचार्यों ने छह चिह्न ढूँढे हैं जिनसे निश्चय होता है कि शब्दतात्पर्य क्या है? द्वितीय खण्ड के प्रारंभ में इन्ही के आधार पर भाष्यकार ने केनोपनिषत् का तात्पर्य समझाया था। 'तद्बुद्धिमात्रफलतैव च तत्परत्वम्' (१.४६६-७०) आदि संक्षेपशारीरक और उस पर सारसंग्रह का अवलोकन इस प्रसंग में बहुत उपकारक है। तात्पर्यनिर्णय के लिंगों में फल की गणना है। सफल बात बताने के तात्पर्य से वाक्य प्रवृत्त होता है। वह 'बात' चाहे सिर्फ़ सुनी जाने से फल दे और चाहे उसे सुनकर कुछ करना पड़े तब फल हो, यह फ़र्क हो सकता है। अतः मनोरंजक बात को मनोरंजनफलक समझना पड़ेगा। यदि किसी वाक्यसंदर्भ के अन्य लिंगों से तात्पर्यविषयतः सिद्ध बात सिर्फ़ मनोरंजन करती है तो फलान्तरकल्पना व्यर्थ है। कुछ शब्द सुनने से ही पुण्य माना गया हो तो उनका उच्चारण उसी तात्पर्य से मानना पड़ेगा। यदि शब्दप्रतिपाद्य की जानकारी अन्य फल दे तो भी शब्द प्रमाण है ही। इस प्रकार प्रामाण्यघटक रूप से न सही किन्तु तात्पर्यनिर्णायक रूप से साफल्य वेदान्त में स्वरसतः आवश्यक माना गया है। अतः शास्त्रप्रतिपाद्य में साफल्य की अनिवार्यता मानने से हमें कोई विरोध नहीं। भाष्यकारों ने ही कहा है : 'श्रेयःप्राप्तिदर्शनाद् यथार्थतां प्रतिपद्यामहे, विपर्यये चानर्थप्राप्तिदर्शनात्। ....प्रयोजनाभावादयुक्तमिति चेद्? न, 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्', 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' इति फलश्रवणात्; संसारबीजाऽविद्यादि-दोषनिवृत्तिदर्शनाच्च'। (बृ.भा.१.३१)। अतः सर्वज्ञगुरु भी बताते हैं 'सप्रयोजनकबुद्धिकारणं वाक्यमाहुरिह तत्परं बुधाः' (१.४६९)। वाचस्पति भी कह गये हैं 'स्वाध्यायाध्ययनविध्यापादितपुरुषार्थत्वस्य वेदराशेः एकेनापि वर्णेन नापुरुषार्थेन भवितुं युक्तम्' (भामती ३.२.७)।

वेदान्तबोध का फल बन्धनिवृत्ति है। 'ययाऽचिरात् सर्वपापं व्यपोह्य परात्परं पुरुषं याति विद्वान्' (कै.१.१), 'अमृतस्यैष सेतुः' (मुं. २.२.५) 'ईशं तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति' (श्वे.३.७), 'निचाय्येमां शन्तिमत्यन्तमेति' (श्वे.४.११), 'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः' (श्वे. ४.१६), 'कःशोक एकत्वमनुपश्यतः' (ई.७), 'धीरो हर्षशोकौ जहाति' (कठ.१.२.१२), 'एतद्यो वेद निहितं गुहाया सोऽविद्याग्रंथिं विकिरतीह सोम्य' (मुं.२.१.१०), 'आनंदं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन' (तै.२.९) इत्यादि श्रुतियों से ज्ञान और मोक्ष का कार्यकारणभाव निश्चित है। बन्धन अपरोक्ष है यह विवादयोग्य नहीं। उसे ज्ञान से हटना है यह ऊपर कहे शास्त्रवचनों से सिद्ध है। ज्ञाननिवर्त्य मिथ्या होता है यह लोकसिद्ध है। किन्तु अपरोक्ष भ्रम परोक्ष ज्ञान से हटा नहीं करता यह भी अनुभवसिद्ध है। तात्पर्य है कि अपरोक्षविषयक भ्रम परोक्षविषयक ज्ञान से नहीं मिटता है। सामने चाँदी दीख रही है, कोई कहे 'तुम्हारे पीछे ज़मीन में चाँदी गड़ी हुई नहीं है' तो इससे सामने चाँदी है यह भ्रम कहाँ हटेगा? इसी तरह 'मैं बद्ध हूँ' यह अनुभव 'ब्रह्म नामक कोई नित्यमुक्त तत्त्व है' इस ज्ञान से क्योंकर हटने लगा? जिसके बारे में भ्रम है उसी के बारे में कहना पड़ेगा तभी भ्रम हट सकता है। अतएव विवरणाचार्य ने स्पष्ट किया कि बाध अभावबोध वहीं कराता है जहाँ प्रतियोगी उपलब्ध हो रहा हो 'प्रतिपन्नोपाधौ रजतादेरभावं बाधो बोधयति' (पृ.१०६)। चित्सुखीय मिथ्यात्वलक्षण में भी 'स्वाश्रय' कहकर यही स्पष्ट किया है। अतः 'मैं बद्ध हूँ' यह अनुभव 'मैं मुक्त हूँ' इसी प्रमिति से बाधित हो सकता है।

प्रतिबोध का अर्थ साक्षी अर्थात् मेरा ही निरुपाधिक रूप हो, उसे समझकर बंधनिवृत्ति हो, तभी प्रतिबोधवेदन को 'मतम्' या सम्यग्ज्ञान कहना उचित हो सकता है। इसीलिए 'मतम्' में 'हि' से हेतु देते हुए श्रुति ने 'अमृतत्वं विन्दते' कहा है। इस विषय को भाष्यकार समझाते हैं - **'अमृतत्वं हि विन्दते' यह प्रतिबोधविदित की जानकारी ही सम्यक् है इस बात में हेतु बताने के लिये कहा गया है क्योंकि इस आत्मतत्त्व को ग़लत जानने से मौत के मुँह में पड़ना पड़ता है। जो वास्तव में विषय हैं, चिद्भास्य अतः अनात्मा हैं, उन्हे 'मैं' समझने से या अपने से भिन्न किसी वस्तु को**

उपास्यादि रूप से पारमार्थिक आत्मा समझ लेने से मौत ही होती है क्योंकि इन दोनों ही समझों से 'मैं कर्ता हूँ' यह भ्रान्ति तो हटती नहीं और कर्तृत्वाभिमान रहते फलभोग अनिवार्य है। बुद्धि आदि अनात्मा को 'मैं' समझने से तो हर बार बुद्धि आदि कुछ हिस्सा जब शरीरादि हिस्से से विलग होगा तब 'मैं मरा' यह लगेगा ही अतः मौत से नहीं छूट सकते। भिन्न को वास्तविक मानेंगे तो भी डर बना ही रहेगा क्योंकि दूसरे से हमेशा ही डर लगता है। भय न हटना ही मरते रहना है। वेद ने भी कहा है कि जो परमात्मा को अपना आपा नहीं समझ कर किसी और ढंग से उसे समझते हैं उन पर दूसरों का राज बना रहता है, वे स्वतंत्र नहीं हो पाते, और क्षयिष्णु भोग ही पाते रहते हैं (छा.७.२५.२)। विषय को आत्मा समझना उल्टी समझ है अतः जो अविषय है उसे आत्मा समझना सही समझ हो यही युक्त है। 'आत्मवेत्ता शोकसागर से पार हो जाता है' (छां.७.१.३) इत्यादि श्रुति भी आत्मसाक्षात्कार को ही अमरता का हेतु कहती है, विषयविज्ञान को नहीं। इसलिए यहाँ भी श्रुति जिसे अमरता का हेतु कह रही है वह विज्ञान आत्ममात्र के याथात्म्य का साक्षात्कार ही हो यही ठीक है। अतः प्रथम पाद में कही बात में दूसरे पाद से हेतु दिया गया है यह समझना चाहिये। 'पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः' (२.४.१) अधिकरण में औपनिषद आत्मज्ञान की श्रेयोहेतुता का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार द्वितीय पाद का प्रयोजन बता दिया।

यह तो ठीक है कि हम स्वयं को कर्ता-भोक्ता अर्थात् बद्ध जान रहे हैं अतः हमें स्वयं के ज्ञान से ही मोक्ष हो सकता है पर वह स्वयं का ज्ञान क्या है? यह बताते हुए द्वितीय पाद समझाते हैं-**प्रतिबोधविदितरूप जो पूर्वोक्त प्रतिबोध अर्थात् समझ है उससे अमृतत्व मिलता है इसलिये कहा कि तभी सम्यग्दर्शन है जब प्रतिबोधविदित अर्थात् प्रत्ययों का प्रत्यगात्मा ब्रह्म समझा जाता है।** 'पूर्वोक्त प्रतिबोध' का मतलब है महावाक्य की सही समझ। 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि' को महावाक्य कहा था। 'तत्' से उसे कहा था जो श्रोत्रादि का श्रोत्रादि है और जिसे श्रोत्रादि विषय करते नहीं। उसे अपना आपा समझना है तो हम अपने आप को जो समझ रहे हैं उसे समझते रहते स्वयं को 'तत्' नहीं समझ सकते। जब तक हम 'सुनने वाले' हैं तब तक हम 'सुनने वाले के सुनने वाले' कैसे हो सकते हैं? प्रतिबिम्ब रहते हुए ही वह बिम्ब क्योंकर होगा? अर्थात् इन्द्रिय-मन-बुद्धि को 'मैं' समझना ठीक समझ है यह विश्वास रहते 'तत्' मैं हूँ - यह निश्चय नहीं हो सकता। इसलिये यह समझना ज़रूरी है कि जब 'मैं' को 'तत्' कह रहे हैं तो 'मैं' से क्या अभिप्रेत है। जो अभिप्रेत है उसे ही शास्त्रीय भाषा में त्वम्पद का लक्ष्यार्थ कहते हैं। पूर्व में जो साक्षी समझाया गया था वही अभिप्रेत या लक्ष्य अर्थ है। जब विवेकातिशय से या समाधिनिष्ठा से इन्द्रियादि उपाधियों को 'मैं' समझना समाप्त हो जाये और साक्षी ही 'मैं' समझा जाये तब मानना चाहिये कि महावाक्यघटक त्वम्पद का विवक्षित अर्थ पता चला। पदार्थज्ञान वाक्यार्थज्ञान में हेतु पड़ता है अतः पहले यही आवश्यक है। पदार्थ समझने के बाद ही वाक्यार्थ समझा जा सकता है। विवक्षित या लक्ष्य पदार्थ समझ लेने पर महावाक्य से 'मैं परमात्मा हूँ' यह ज्ञान उत्पन्न होता है, इसे ही श्रुति सम्यग्ज्ञान कह रही है क्योंकि इसी से अमरता मिलती है।

त्वम्पद के लक्ष्य की तरह तत्पद के लक्ष्य की समझ भी वाक्यार्थबोध से पूर्व चाहिये। इस उपनिषत् की प्रक्रिया में व्यष्टि को छोड़कर जो समष्टि-साक्षी है उसे ही ईश्वर या तत्पदार्थ कहा था। 'श्रोत्र का श्रोत्र' आदि से ऐसे ही तत्पदार्थ का उपन्यास है। इस दृष्टि से कह सकते हैं कि तत्पदलक्ष्य को ही यहाँ बताया होने से तत्पदार्थ में विवेक की ज़रूरत नहीं लेकिन जैसा पहले बता चुके हैं, साक्षित्वविशिष्ट को ईश्वर समझेंगे तो तत्पदवाच्य ही हाथ लग सकता है, लक्ष्य नहीं। जैसे त्वम्पदार्थ का भी साक्षिरूप ही बताया है पर अनुभवसिद्ध देहादितादात्म्य के कारण— और वस्तुतः अज्ञान के ही कारण— हम स्वयं को साक्षिमात्र नहीं समझ पाते तथा यत्किंचित् विवेक से समझते भी हैं तो साक्षित्व नहीं छूटता अर्थात् देहादि से स्वयं को भिन्न और अपरिच्छिन्न समझकर भी यह नहीं अनुभव हो पाता कि 'जहाँ देहादि नहीं है वहाँ भी मैं हूँ', ऐसे ही तत्पद का अर्थ भी हम वास्तविक साक्षित्व वाला ही समझ पाते हैं। अतः तत्पदार्थ के भी शोधन की, वाच्य छोड़कर लक्ष्य समझने की ज़रूरत है। त्वमर्थ में तो प्रत्यक्षविरोध होने से कठिनाई ज्यादा है। जब त्वमर्थ शोधित हो जाये लक्ष्यरूप

में अवस्थिति हो जाये, तब तदर्थ भी शोधित किया जा सकता है। क्योंकि यहाँ की प्रक्रिया में 'जैसे मैं अध्यात्मबोधों का दर्शक हूँ ऐसे जो अनध्यात्मबोधों का दर्शक है वह ईश्वर है' इस तरह ईश्वर समझा गया है इसलिए लक्ष्य भी स्व-दृष्टान्त से ही समझना पड़ेगा। अतः पदार्थद्वय के लक्ष्य स्वरूप को समझने पर ही महावाक्यार्थ समझा जा सकता है।

भाष्यकार ने प्रतिबोध को यहाँ 'प्रतिबोधविदितात्मक' कहा है। तात्पर्य है कि यदि पूछें 'प्रतिबोध कैसा है?' तो उत्तर होगा 'जैसा प्रतिबोधविदित अर्थात् ब्रह्म है।' गीता में (१८.५०) 'निष्ठा ज्ञानस्य या परा' का अर्थ बताते हुए आचार्य कहते हैं 'कीदृशी सा (=निष्ठा)? यादृशमात्मज्ञानम्। कीदृक् तत्? यादृश आत्मा। कीदृशोऽसौ? यादृशो भगवतोक्त उपनिषद्वाक्यैश्च न्यायतश्च।' उसी के अनुरूप यहाँ भी प्रतिबोध को ब्रह्मरूप कहा है यह समझना चाहिये। किं च वृत्ति की बोधरूपता तो आत्मा से ही है अतः उसे आत्मरूप कहना उचित है। 'स्थितोऽप्यसौ' आदि पंचदशी (७.९४) स्पष्ट करती है कि बुद्धिवृत्ति स्वभावतः चिच्छायोपेत होने से ब्रह्मवृत्ति में भी उसका निषेध नहीं कर सकते, उसका उपयोग नहीं—यही कह सकते हैं। अतः प्रकृत व्याख्यान संगत है। भाष्य का यह भी अभिप्राय है कि वास्तविक सम्यक्त्व तो उस प्रतिबोध का (वृत्तिज्ञान का) है जो अब केवल आत्मरूप ही रह गया है, वृत्तिरूप नहीं रह गया है। वृत्ति-उत्पत्ति के बाद अविद्या हट चुकने पर जो निवृत्ताज्ञान आत्मा है, तत्त्वज्ञान की फलावस्था है, निश्चय है, वही सचमुच सम्यक् प्रतिबोध है। वृत्ति-सापेक्ष रहते उसे वास्तविक सम्यक् नहीं कह सकते। पहले कह आये हैं कि 'निश्चय' पैदा वृत्ति से होता है, रहता उसके बिना भी है।

अमृतत्व का क्या मतलब? **अमृतत्व से यहाँ मरण-भिन्न भाव अर्थात् सत्स्वरूप कहा गया है, देवतादि योनिविशेष की प्राप्ति नहीं। यह मोक्ष है। अपना जो पारमार्थिक आत्ममात्र है, वही बने रहना अमृतत्व है।** मरण कल्पित है यह अभी कहा था 'विषयात्मविज्ञाने हि मृत्युः प्रारभते'। मरने के लिये हेतु चाहिये अतः वह औपाधिक है। हेतु बताया उपाधि में आत्मबोध। सत्यज्ञान से कल्पित का बाध हो जाता है। जैसे बालक ख़ुद को देहमात्र जानता है पर शास्त्रादि पढ़ने पर आस्तिक हो तो निश्चित हो जाता है कि 'मैं देहमात्र नहीं हूँ, पहले कहीं देहान्तर में रहा था, आगे भी देहान्तर में चला जाऊँगा।' इसी प्रकार जब जाने-आने वाले पुर्यष्टक से भी अपना अन्तर स्फुट हो जाये और यह उतना ही साफ़ दीखे कि वे उपाधियाँ न होती हुई ही प्रतीत हो रही हैं जितना अभी उनका होना दीख रहा है, तब 'आना'-रूप जन्म या 'जाना'-रूप मरण अपने में निश्चित रह नहीं सकता। काँच फूटने पर प्रतिबिम्बनाश दीखते हुए ही अपनी अनष्टता जैसे हमें स्पष्ट है ऐसे ही कला-विलय दीखते हुए, तद्विशिष्ट का नाश भी दीखते हुए, अपनी अनष्टता का स्फुरण बना रहेगा। अतः भाष्य में 'अमरणभाव' कहा। अमरण अर्थात् जो मरण से अलग है। मरण का मतलब वह सब कुछ है जो विषयात्मविज्ञान होने पर प्रारंभ होने वाला कहा। उस सब से अन्य ही है आत्मा जो उस सब के 'प्रति' है सबका साक्षी है। जिस मुझमें मरण (अर्थात् उपाधिनिमित्तक जो कुछ भी) अनुभव में आ रहा है उसी मुझे अमरण अर्थात् उस मरण से रहित कह रहे हैं। यहाँ अद्वैतसिद्धिकार ने (पृ.१२८-३१) जो बताया है कि 'नेदं रजतम्' में मिथ्यात्वप्रतीति आर्थिक है, 'नात्र रजतम्' में कण्ठोक्त है, उसी ढंग से समझकर 'अमरण' से मरण का मिथ्यात्व निर्णीत हो जाता है। मरण क्योंकि हमसे तादात्म्यापन्न ही दीख रहा है इसलिये हमें ही अमरण कहना उचित है जैसे पुरोवर्तितादात्म्येन दीखती चाँदी का पुरोवर्तितादात्म्येन निषेध उचित है। अतः जैसे अघट भूतल सच्चे घड़े वाला होता है वैसे अमरण आत्मा सच्चे मरण वाला हो यह संभव नहीं रह जाता। एवं च मरण अर्थात् कर्तृत्वभोक्तृत्वादि सकल दृश्य जो हमें तादात्म्येन प्रतीयमान है, वह जिस मुझ अधिष्ठान में अध्यारोपित है वह मैं अमरणपदार्थ हूँ। इतना ही कहने से भावान्यरूपता का भ्रम होकर शून्यादि वादियों के निर्वाणादि की प्रतीति हो सकती है अतः उस अमरण को 'भाव' कहा। भाव अर्थात् सत्ता। 'सत्ता' में तद्धित स्वार्थ में है यह वार्तिकादि में स्पष्ट है। अतः यहाँ 'भाव' से सत्स्वरूप समझना चाहिये। 'स्वात्मनि' से आनन्दस्वरूप कहा गया है। 'स्व' कहकर उसकी प्रियता सूचित करने से वह आनंदद्योतक है। आत्मपद भी व्याप्त्यर्थक होने से भूमवाचक होकर आनन्दरूप का उपस्थापक है। 'अवस्थान' से चित्स्वरूप कहा गया है क्योंकि भानातिरिक्त अवस्थानपदार्थ लोक में भी निर्वाच्य नहीं है एवं च शून्यवादी ही नहीं तार्किकादि के मोक्षों से भी वैलक्षण्य स्पष्ट कर दिया। सारसंग्रह चतुर्थाध्याय

के प्रारंभ में मधुसूदनस्वामी ने अत्यन्त विस्तार से प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध अनेक वादियों द्वारा माने मोक्षस्वरूपों का ख़ुलासा देकर अन्त में कहा है 'औपनिषदास्तु निरतिशयाद्वयानन्दबोधरूप आत्मैवानाद्यविद्यानिवृत्त्युपलक्षितः मोक्ष इत्याचक्षते।' ऐसा ही उन्होंने कल्पलतिका में भी विस्तृत विचार से निर्णीत किया है। सिद्धि में (पृ.८९०) भी 'तस्मात् स्वप्रकाशचिदभिन्नं सुखं पुमर्थः' निर्णय है। अतएव सिद्धि के आदि-मंगल के व्याख्यान में 'अविद्योच्छेदोपलक्षितः पूर्णानन्दरूप आत्मा मोक्षः' (पृ.५), 'मोक्षं कीदृशम्? तत्राह-परमेत्यादि। निरतिशयाऽपरिच्छिन्नसुखमात्रस्वरूपमित्यर्थः' (पृ.६) इत्यादि लघुचन्द्रिका इस बात की ही प्रतिज्ञा करती है। अमरणभाव-शब्द का ऐसा अर्थ करने में ये पंचपादिकावाक्य प्रेरित करते हैं 'अविद्यानिवर्तनेन नित्यमुक्तात्मस्वरूपसमर्पणं मोक्षम्' (पृ.६४१), नित्यमुक्तात्मस्वरूपसमर्पणात्' (पृ.६३८), 'कूटस्थनित्यं ब्रह्म जिज्ञास्यत्वेन प्रक्रान्तं यत्स्वरूपावगमो जीवस्य मोक्षोऽभिप्रेयते' (पृ.६२३), 'मोक्षाख्यम्अशरीरत्वं स्वभावसिद्धं नित्यम्' (पृ.६२२)। इस अंतिम वाक्य पर विवरण है - 'शरीरात्मनोः मिथ्याज्ञानसम्बन्धव्यतिरिक्तस्य सर्वप्रकारसम्बन्धस्य अत्यन्ताभावः स्वाभाविकमशरीरत्वं, मिथ्याज्ञानसम्बन्धान्नैमित्तिकं शरीरित्वम्।' यह विवरण प्रकृत केनभाष्य के 'विषयात्मविज्ञाने हि मृत्युः' और 'अमरणभावं स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षम्' का व्याख्यान करता प्रतीत होता है। अनेक आधुनिक नास्तिक मत स्वर्गेतर मोक्ष समझते-मानते नहीं हैं। उनकी संस्कृति की भाषाओं में मोक्षवाचक अर्थात् जिसे हम मोक्ष कहते हैं उस अर्थ का समर्पक कोई शब्द भी कोशादि या साहित्य में उपलब्ध नहीं है। अतः पंचपादिका में ठीक ही कहा है 'अतो वेदैकगोचरो निर्वाणमिति वेदविदः प्रतिपेदिरे' (पृ.६३८)। पंचपादिकाभूमिका में हमारे गुरुचरण भी संभवतः केनभाष्य का अनुवाद करते हैं 'Liberation according to the view of the Upanisads is nothing more or less than being, knowing and residing in one's own true self which is Brahman.' (पृ.I) यहाँ being से अमरणभाव, knowing and residing आदि से 'स्वात्मन्यवस्थानम्' - यही कहा गया है। इस प्रकार यहाँ उक्त लक्षण ही प्राचीन आचार्यों को संमत है और वर्तमान तत्त्ववेत्ता भी इसका समादर कर रहे हैं यह स्पष्ट हो जाता है।

क्या यह मोक्ष आत्मज्ञान से उत्पन्न होता है? नहीं। तो फिर 'तरति शोकम्' आदि श्रुतियों में 'बुद्धिमान् कृतकृत्यः' आदि स्मृतियों में तथा 'पुरुषार्थोऽतः' आदि न्यायों में आत्मज्ञान अमृतत्व के निमित्त रूप से कैसे प्रसिद्ध है? आत्मज्ञान मरण-भ्रम हटाता है अतः मोक्ष जो अमरणरूप है वह आत्मविज्ञान के सापेक्ष समझा जा सकता है इसलिये शास्त्रों में प्रसिद्धि संगत है।

सूत्रभाष्य में 'यस्तूत्पाद्यो मोक्षः' (१.१.४) इत्यादि से मोक्ष की कार्यता के सभी विकल्पों की संभावनायें उठाकर उनका निरास किया गया है। यहाँ भी 'उत्पाद्यते' से वह सब विवक्षित समझना चाहिये। सभी पक्षों के खण्डन का आधार यहाँ अगले शीर्षक के अन्तर्गत बता ही दिया जायेगा।

वेदान्तसिद्धान्त मोक्ष को नित्य मानते हुए उसे प्रयत्नसाध्य कहता है अतः उसका अभिप्राय यही है कि जैसे भूल से घर में पड़ी चीज़ खो गयी—ऐसा भ्रम हो और कोई बता दे 'यहाँ पड़ी है' तो कह देते हैं 'तुमने दिला दी', वैसे ही हम अनादि अज्ञान से इस भ्रम में हैं कि हम बद्ध हैं, शास्त्र बताता है तब समझ आती है इसलिये व्यवहार होता है कि 'शास्त्र समझने से मुक्ति मिलती है'। इसलिये अमरता का मिलना एक औपचारिक प्रयोग है। यही 'विज्ञानापेक्षम्' का अर्थ है। 'षड्भिर्मासैस्तु युक्तस्य नित्यमुक्तस्य देहिनः' (मैत्रायणी.६.२८), 'प्रविश्याऽमूढो मूढ इव व्यवहरन्नास्ते माययैव तस्माद्द्वय एवायमात्मा सन्मात्रो नित्यः शुद्धो बुद्धः सत्यो मुक्तो निरञ्जनः' (नृ. उत्त.९), 'नित्यो महिमा' (बृ.४.४.२३) आदि श्रुति से, अनाधेयविशेषत्वादि लिंग से, 'विमुक्तश्च विमुच्यते' (कठ.५.१) आदि वाक्य से, ज्ञानैकफल होने से अर्थात् प्रकरण से या अन्यथानुपपत्ति से, 'अकृतः' (मुं.१.२.१२) आदि समाख्या से तथा प्रसिद्धि और विद्वदनुभव से मोक्ष को नित्य स्वीकारा गया है। 'सततं विमुक्तः' (१०.१) आदि में साक्षात् और 'नान्यदन्यत् भवेद्यस्मात्' (१५.१) आदि में तर्कतः मोक्षनित्यत्व उपदेशसाहस्री में प्रतिपादित है। 'जन्या न मुक्तिर्घटते कुतश्चिद्' (५.३२) आदि से संक्षेपशारीरक में भी यह समर्थित है।

यदि नित्य और स्वरूप है तो 'प्राप्ति' कैसी? 'आत्मना विन्दते' ख़ुद-रूप से अर्थात् **सनातन आत्मरूप जो हमारी सत्ता है तन्मात्र ही जो अमृतता है वही 'प्राप्त' होती है, उसकी अप्राप्ति का भ्रम हटता है।** जैसे कर्ण को कौन्तेयता 'प्राप्त' हुई, चाहे हमेशा से उसमें थी, वैसे समझना चाहिये। भ्रममात्र बंधनशरीर होने से तत्त्वप्रमा अकेली ही उसे हटा देती है यह स्पष्ट करते हैं- **किसी उपास्य का सहारा लेकर उसकी उपासना से साध्यरूप प्राप्ति नहीं है।** भाष्य में सर्वत्र विस्तार से यह तथ्य प्रकाशित है कि मोक्ष बाह्य-आभ्यन्तर कर्मों से साध्य नहीं अन्यथा अनित्य होगा तथा शास्त्र में कही ज्ञानमात्रफलरूपता और नित्यता का बाध होगा। चतुर्थसूत्र में सम्पदादिरूपता का लम्बे विचार से खण्डन किया ही है। बृहदारण्यक के पहले अध्याय में ही काफी ऊहापोह इस विषय पर है और वार्तिककारों ने यह वेदान्तसिद्धान्त की मर्यादा पूर्णतया प्रकट कर दी है। संभवत: अन्य कोई ग्रंथ इस समस्या का साकल्येन सांमना नहीं करता पर वार्तिक में इसके सभी पहलू सम्यग् आलोचित हैं।

यह याद रखना ही चाहिये कि वेदान्तसूत्रकारों ने स्पष्ट किया है कि विद्या अपनी उत्पत्ति के लिये कर्म-उपासना दोनों की अपेक्षा रखती है उत्पन्न होकर फल देने के लिये और किसी की अपेक्षा नहीं रखती। इस बात को ध्यान में रखते हुए श्रेय:प्रेप्सु जीवमात्र के निर्व्याज मार्गप्रदर्शक भगवान् भाष्यकार ने दोनों बातें कही हैं: 'तस्मान्मुमुक्षुर्देवाराधनपरः श्रद्धाभक्तिपरः प्रणेयः अप्रमादी स्याद्विद्याप्राप्तिं प्रति।' (बृ.भा.१.४.१०) और उससे कुछ पहले वहीं 'यदुक्तं ब्रह्मप्राप्तिफलं प्रति देवा विघ्नं कुर्युरिति; तत्र न देवानां विघ्नकरणे सामर्थ्यम्। कस्मात्? विद्याकालानन्तरितत्वाद् ब्रह्मप्राप्तिफलस्य।' और इस बात को कि ब्रह्मज्ञान ही ब्रह्मप्राप्ति है, श्रुतिवाक्य से ही उन्होंने समझाया है 'विद्यया तदपोहनमात्रमेव लाभः। ....तस्माद् निःशङ्कमेव ज्ञान-लाभयोः एकार्थत्वं विवक्षन्नाह ज्ञानं प्रकृत्य अनुविन्देदिति।' (बृ.भा.१.४.७) इन्ही आचार्यवचनों के अनुसर्ता गुरुचरणों ने कठोपनिषत् की व्याख्या में द्वितीय वर पर गंभीर विचार किया है और उपासना की शांकरसाधनक्रम में अनिवार्यता पर बल दिया है। यद्यपि सुरेश्वराचार्यीय मानसोल्लास की व्याख्या में उन्होंने शैवमर्यादाओं का आदरातिशय कर उनकी कई प्रक्रियाओं को अद्वैतसाधना के उपयोगी स्वीकारा है तथापि कठव्याख्या में प्रक्रिया या इतिकर्तव्यता को गौण कर उपासना को जो निश्चय-भावना का समवेत रूप प्रकट किया है वह शांकरग्रंथों में कहे भक्ति या उपासना के प्रसंगों में अधिक स्फुट होने से व्यापक या सैद्धान्तिक वर्णन है जिसका एक व्यावहारिक पक्ष मानसोल्लासव्याख्या में व्यक्त किया है ताकि अनुष्ठान करने वाला यह समझ सके 'क्या करना है'। सर्वथापि उपासना की ज़रूरत औपनिषदों को है इसमें सन्देह नहीं। भाष्यकारों ने 'अथ' के अर्थ में साधन सम्पन्न का ही ग्रहण किया और सम्पत्ति-प्राप्ति का उपाय सर्वापेक्षादि में (३.४.२६) बताया। इस प्रकार उन्होंने आनन्तर्य अर्थ मानकर दोनों काण्डों का गठबन्धन कर दिया है। स्वर्ग या सायुज्यादि के लोलुप पूर्वकाण्ड से कृतार्थ हो सकते हैं पर मोक्षकांक्षी केवल उत्तरकाण्ड से कृतार्थ नहीं हो सकता। यद्यपि कर्म-आनन्तर्य का खण्डन किया है तथापि वह 'ऐहिकमपि' (३.४.५१) आदि ध्यान में रखकर किया गया है अर्थात् कर्मोपासना का फल साधनसम्पन्नता जिसे प्राप्त है उसे कर्म छोड़ना चाहिये, वह संपन्नता यदि ब्रह्मचर्यावस्था में ही हो जाये तो आनन्तर्यानुरोध से कर्मप्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये — यह भाष्यार्थ है। भाष्यकार यह कहीं नहीं कहते हैं कि विवेकादि सम्पत्ति से रहित के लिये कर्म व्यर्थ है बल्कि सभी जगह उसे उस संपत्ति के उद्देश्य से कर्मतत्पर होने को कहते हैं। सर्वज्ञादि आचार्यों ने भी अधिकारी का इसी तरह निरूपण किया कि जो सकलकर्मों से विविदिषा पा चुका वह संन्यस्तकर्मा हो शमादिपूर्वक श्रवणादि-तत्पर हो। कारक-साधनों का वर्णन इसीलिये उन्होंने किया यद्यपि 'संक्षेप' के लिये उन्होंने उन सब हिस्सों को छोड़ा है जो 'अथ' से पहले चाहिये। अत: कपड़ा-मिल जैसे कपास की खेती के सापेक्ष है ऐसे उत्तरकाण्ड पूर्वकाण्ड के सापेक्ष है। वह गठबन्धन संन्यास से खोला जाता है। मुमुक्षु साधनरहित तो 'विविदिषन्ति' श्रुति से प्रेरित हो पूर्वकाण्डानुसारी कर्मादि करता है अत: तब तक गाँठ है, क्योंकि बिना इस गाँठ के केवल पूर्वमीमांसा के आधार पर विविदिषा में कर्मों का विनियोग सिद्ध नहीं होता। साधनसहित हो जाने पर अनपेक्षित कर्मों का त्याग ज़रूरी हो जाता है क्योंकि एक तो शास्त्रविहित ही है कि ज्ञानार्थप्रयास कर्मत्यागपूर्व हो और दूसरी बात 'तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि' श्रुतिसिद्ध अनिवार्य

विस्तार का अनादर न कर सकने वाला श्रद्धालु शमादिपूर्वक श्रवणादि के लिये समय और मनःस्थिति नहीं पा सकता। ऐतरेयभाष्यादि में यह सब बताया गया है। अतः यह गाँठ खोलने के लिये अनुष्ठानानन्तर्य का निषेध है, यह कहने के लिये नहीं की गाँठ पहले भी नहीं थी।

एवं च 'नालम्बनपूर्वकम् विन्दते' यह अन्वय है। यद्यपि 'विन्दते' का पूर्वप्रदर्शित बृहद्भाष्यानुसार ज्ञान-अर्थ करने पर आलम्बनपूर्वकत्व का निषेध नहीं कर सकते तथापि ज्ञान व लाभ में प्रयोज्य-प्रयोजकत्व मानकर ही प्रायः व्यवहार होता है।

अमृतत्व में यदि बोध को हेतु मानें तो भी बोधजन्यता होने से अनित्यता ही होगी यह मानकर समझाते हैं - **बोध का प्रत्यगात्मा को विषय करना-यह अमृतत्व में हेतु माना गया है। यदि अमृतत्व विद्या से भी उत्पाद्य हो तो कर्मकार्य की तरह अनित्य ही होगा अतः उसे बोधजन्य नहीं मानते।** यह भाष्यपंक्ति पंचपादिका के प्रकाश में ही स्पष्ट होती है। पद्मपादाचार्यों ने माना है कि चैतन्य क्योंकि अहंकार में व्यवहारयोग्य होता है इसीलिये उसे अस्मत्प्रत्ययविषय कहा (पंच.पृ.१९५)। उसके अनुसार यहाँ भाष्य का अर्थ है कि बोध में प्रत्यगात्मा व्यवहारयोग्य होता है। अतः प्रत्यगात्मा का बोध में व्यवहारयोग्य होना—यह अमृतत्व में हेतु माना गया। बोध की प्रत्यगात्मविषयता यही है कि बोध में वह व्यवहारयोग्य होता है। एवं च नित्य प्रत्यगात्मा को अमृतत्व-हेतु मानने से जन्यताप्रसंग नहीं उठता। 'बोध में व्यवहारयोग्यता' रही प्रत्यगात्मा की और वह उसमें स्वरूप से ही है अतः प्रत्यगात्मा ही हेतु हुआ। इसमें 'विवृणुते तनूं स्वाम्' (कठ.२.२३) 'नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता' (गी.१०.११) आदि श्रुति-स्मृति प्रमाण हैं। 'सूर्यकान्तारूढ' आदि वार्तिकोक्त न्याय भी यहाँ संगत हो जाता है। टीकादिकारों ने वृत्ति को ईंधनस्थानीय और स्वरूपज्ञान को ही अग्निस्थानीय बताकर तत्र-तत्र इस बात को स्पष्ट किया है। जैसे प्रतिबन्धनिवृत्तिसापेक्ष होने पर भी कार्य में प्रतिबंधनिवृत्ति को कारण नहीं मान सकते, ऐसे ही प्रकृत में अमृतत्व वृत्तिसापेक्ष होने पर भी वृत्ति अमृतत्व के प्रति कारण नहीं बन पाती। एवं च मोक्ष-साधनत्वेन अभिमत प्रत्यगात्मा का स्वरूपविशेष तथा मोक्ष दोनों नित्य होने पर भी वृत्तिसापेक्षता उचित ठहरती है। ख़ुद को ख़ुद के प्रति कारण कहना ठीक नहीं इसलिए भाष्य में 'मतम्' कह दिया - माना गया है। वास्तविक कारण-कार्यभाव कहीं भी इष्ट नहीं और मानना हो तो जहाँ यथासंभव संगत हो वहीं मान लेना चाहिये यही सिद्धान्त है। अतः नित्य मोक्ष का वास्तव में तो कारण होगा ही नहीं, मानना है तो किसी नित्य को ही मानना पड़ेगा क्योंकि अनन्तरभावी को पूर्वभावी का कारण मानना संगत नहीं। नित्य एक आत्मा ही है अतः वही हेतु माना गया है।

भिन्नब्रह्मलाभो न मोक्षः

न हि आत्मनोऽनात्मत्वममृतत्वं भवति। आत्मत्वादात्मनोऽमृतत्वं निर्निमित्तमेव। *यदि चात्मनैवामृतत्वं विन्दते, किं पुनर्विद्यया क्रियत इति? उच्यते-* एवं मर्त्यत्वमात्मनो यद् अविद्ययाऽनात्मत्वप्रतिपत्तिः। *अनात्मविज्ञानं निवर्तयन्ती सा तन्निवृत्त्या स्वाभाविकस्यामृतत्वस्य निमित्तमिति कल्प्यते यत आह— 'वीर्यं विद्यया विन्दते'।*

मोक्ष अपने से भिन्न किसी ब्रह्म की प्राप्ति नहीं है

सामान्यतः मुक्तोपसृप्य कोई ब्रह्माण्ड से बहिर्भूत परमेश्वर माना जाता है जिसे पा लेना मोक्ष होगा यह कल्पना होती है। अद्वैती से अन्य सभी की ऐसी मान्यता है। जिन तार्किकादि को मोक्ष में भी ईश्वरप्राप्ति स्वीकृत नहीं उनकी तो बात अलग है पर प्रायः लोग तथा अन्य वादी कम-से-कम मोक्षदशा में तो ईश्वर से निकटता चाहते हैं। नास्तिक आधुनिक पैग़म्बरी धर्म स्वर्ग में ईश्वर की समीपता चाहते हैं। यह तो कुछेक आस्तिकंमन्य कापिल-काणादादि तथा बौद्धादि नास्तिक ही ईश्वर से इतना परहेज़ रखते हैं! अतः सभी बोधों का प्रकाशक प्रत्यक् चेतयिता ही परमात्मा है जो मोक्ष में हमारा अकेला स्वरूप रहता है यह कैसे?

सूतसंहिता (४.३९) आदि को दृष्टि में रखकर आचार्यों ने सहस्रिका में स्पष्ट किया है कि एक वस्तु सचमुच दूसरी वस्तु नहीं बन सकती। यदि क्रिया या भावना से लगे भी कि बन गयी तो भी कुछ समय ही वैसी लगेगी, बनी रह नहीं सकती है (उप.सा.पद्य.१५)। अतः हमसे अन्य परमात्मा हो और हम ज्ञान-ध्यानादि से तद्रूप बन सकें यह संभव नहीं। किसी परमात्मा की संनिधि, दर्शन आदि भी अनित्य दशा ही संभव है, कुछ समय में वह संनिकटता समाप्त हो जायेगी। पुराणों में ये प्रसंग भरे पड़े हैं कि निकटतम लोगों को विभिन्न हेतुओं से परमेश्वर से वियुक्त होना पड़ा यहाँ तक कि साक्षात् भगवती को भी लम्बे समय तक भगवान् के विरह में रहना और तप करना पड़ा। अतः शास्त्रोक्त नित्य और ज्ञानैकलभ्य मोक्ष की अन्यथा-अनुपपत्ति सहकृत तत्त्वमस्यादि अद्वैततात्पर्यक श्रुतियों से सिद्ध यही तथ्य स्वीकार्य है कि परमात्मा से हम वास्तव में किंचित् भी अन्य नहीं हैं, केवल इसे न जानने के कारण क्लेश पा रहे हैं अतः जानने से क्लेश समाप्त हो जायेगा और जो हमारा वास्तविक परमात्मस्वरूप है उसी स्वरूप में हम बने रहेंगे जो मोक्ष है। अज्ञान कहीं भी पैदा होने वाली चीज़ है नहीं कि दुबारा हो सके अतः मोक्ष नित्य हो जाता है। अज्ञान भी वास्तव में तो हुआ है नहीं कि उसके हटने से सचमुच मोक्ष शुरु होगा। यह तो जैसे यदि कहीं केवल चतुर्थांक का मंचन हो तो नाटक में नटी शकुन्तला बनी बहुत दुःखी और दुष्यन्त के लिये आतुर रहती है जब कि तब दुष्यन्त कोई नट भी नहीं बना है; ऐसे ही परमेश्वर जीव बना 'दुःखी' हो रहा है! नटी को पता है यह खेल है, शकुन्तला खेल समझे तो खेल ही न कर पाये; बीच-बीच में मुस्कुराती शकुन्तला से क्या चतुर्थांक का मंचन हो सकता है?

इस अभिप्राय से कहते हैं - **यदि आत्मा से अन्य कोई आसमान से भी ऊपर रहने वाला परमात्मा हो और तद्रूप बनना आत्मा का मोक्ष हो तब तो मतलब होगा कि आत्मा अनात्मा (=आत्म से अन्य) बने तब मुक्त हो। किन्तु यह तो अमृतता नहीं कही जा सकती।** जैसे पंचदशीकार ने महावाक्य से परोक्ष ज्ञान मानने वाले पण्डितों की हँसी उड़ायी है कि व्याज के लोभ में वे मूल ही डुबा रहे हैं वैसे ही प्रकृत में है। उनके श्लोक हैं: 'स्वतोऽपरोक्षजीवस्य ब्रह्मत्वमभिवाञ्छतः। नश्येत् सिद्धाऽपरोक्षत्वमिति युक्तिर्महत्यहो।। वृद्धिमिष्टवतो मूलमपि नष्टमितीदृशम्। लौकिकं वचनं सार्थं सम्पन्नं त्वत्प्रसादतः।। (७.८१-८२)।। जीव मुक्त होना चाहता था, कभी-कभी होने वाले दुःखों से बचकर निरन्तर सुख चाहता था। यदि मुक्त होने के लिये वह आत्मा ही न रह पाये, उसे आत्मा से अन्य अर्थात् अनात्मरूप कोई ब्रह्म बनना पड़े तो यह आत्महत्या हुई या मोक्ष? इसे मृति कहें या अमृतता?

अतः यही मानना चाहिये कि उपाधिनिमित्तक भिन्नता से अखण्ड ब्रह्म को जीव-ईश्वर भेद वाला समझा जा रहा है, ख़ुद वह अद्वितीय आत्मा ही है। इसलिये - **क्योंकि परमात्मा भी आत्मा ही है इसलिये जीवात्मा की अमृतता स्वभाव-सिद्ध है, किसी निमित्त से नहीं है।**

यदि इस तरह अमृतत्व स्वाभाविक ही है, आत्मा को आत्मरूप से ही बने रहना है, यही प्राप्ति है, कुछ नया नहीं मिलना, तो विद्या क्या करती है?

इस तरह विद्या व्यर्थ है - यह संभावना होने पर - बताते हैं : **अविद्या से देहादि को आत्मा समझ बैठना-यह आत्मा का मर्त्य होना है। इस ग़लत फ़हमी का मूल जो आत्मा का अनादि अनिर्वचनीय अज्ञान है जिसके कारण अनात्मा को आत्मा समझा जाता है, उसे विद्या हटा देती है, उसका बाध कर देती है। अविद्या हटने से स्वाभाविक अमृतत्व भासमान बना रहता है। विद्या को अमृतता का निमित्त इसीलिए कह दिया जाता है कि वह उस अविद्या को हटाती है जिससे लग रहा था मानों आत्मा मर्त्य है।**

किसी को शंका हो सकती है कि पुनः कोई अज्ञान उदय हो जायेगा जिससे बन्धन फिर हो जायेगा अतः अमृतता कैसे? इसका समाधान श्रुत्यक्षरों में दिखाते हैं- **क्योंकि श्रुति कह रही है कि विद्या से वीर्य—सामर्थ्य—मिलता**

है इसलिये समझ आता है कि विद्या के कारण वह बल हमें प्राप्त हो जाता है जो अज्ञान को पुनः होने नहीं देता। आगे बतायेंगे कि यह बल भी आत्मरूप ही है अतः 'मिलने' वाला होने पर भी अनित्य नहीं, बिछुड़ने वाला नहीं। वस्तुतस्तु अज्ञान अनादि होने से पुनरुत्पन्न हो नहीं सकता और बहुतेरे अज्ञान हैं नहीं कि एक हट जाये तो दूसरा छा जाये। अज्ञान का अनादित्व, एकत्व आदि शास्त्र व अर्थापत्ति से ही निश्चित होता है यह विवरण (पृ. ५५ आदि) आदि से स्पष्ट होता है। उसके सादित्व, अनेकत्व आदि में भी प्रमाण तो है नहीं अतः संभावनामात्र से शंका उपपन्न नहीं होगी; अर्थात् अज्ञान सादि, अनेक क्यों नहीं हो सकता? इसका उत्तर यही है कि आदि वाला या अनेक है इसमें प्रमाण नहीं अतः पता चलता है कि नहीं हो सकता। 'मैं' की विस्मृति भी अप्रामाणिक होने से मैं-रूप मोक्ष भी मृत्यु आदि से विस्मृत होगा- यह शंका भी नहीं उठ सकती। संभावनामात्र तो की ही जा सकती है लेकिन उसका दार्शनिक या यौक्तिक बल तभी हो जब संभवपक्ष में कोई प्रमाण हो। बिना प्रमाण के वह व्यर्थ है।

आत्मना वीर्यम्

कथं पुनर्यथोक्तयाऽऽत्मविद्ययाऽमृतत्वं विन्दत इति? अत आह- आत्मना स्वेन रूपेण विन्दते लभते वीर्यं बलं सामर्थ्यम्। ***वीर्यं सामर्थ्यम् अनात्माध्यारोपमाया-स्वान्तध्वान्तानभिभाव्यलक्षणं बलं विद्यया विन्दते। तच्च किं विशिष्टम्?*** **अमृतम्** ***अविनाशि।*** **धनसहायमन्त्रौषधितपोयोगकृतं वीर्यं मृत्युं न शक्नोति अभिभवितुम्, अनित्यवस्तुकृतत्वात्।** ***अविद्याजं हि वीर्यं विनाशि, विद्ययाऽविद्याया बाध्यत्वात्। न तु विद्याया बाधकोऽस्तीति विद्याजम् अमृतं वीर्यम्।*** **आत्मविद्याकृतं तु वीर्यमात्मनैव विन्दते, नान्येन, इत्यतः अनन्यसाधनत्वाद् आत्मविद्यावीर्यस्य तदेव वीर्यं मृत्युं शक्नोत्यभिभवितुम्।** ***अतो विद्याऽमृतत्वे निमित्तमात्रं भवति। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' (मुं.३.२.४) इति चाथर्वणे। लोकेऽपि विद्याजमेव बलमभिभवति, न शरीरादिसामर्थ्यं, यथा हस्त्यादेः।***

बल भी आत्मरूप से मिलता है

जैसी बतायी गयी वैसी आत्मविद्या से अमरता कैसे मिलती है? अर्थात् मरणधर्मता हटाने की ताकत के बिना हम अमरता कैसे पा सकते हैं? अथवा, जब तक कोई नित्य सामर्थ्य न हो तब तक यह प्रतिज्ञात कैसे किया जा सकता है कि आत्मविद्या से जो मिला है वह बना ही रहेगा?

इसका उत्तर देते हैं : विद्या के कारण 'आत्मना' अर्थात् ख़ुद रूप से बल अर्थात् सामर्थ्य मिलता है जिससे निश्चित है कि मोक्ष समाप्त नहीं होता। 'ख़ुद रूप से' का मतलब है कि वह आत्मा से किसी ग़ैर चीज़ का बल नहीं है कि कभी घटे या खत्म हो। इसे स्वयं आगे स्पष्ट करेंगे।

बल को समझाते हैं- **विद्या से मिलने वाले सामर्थ्य का असाधारण स्वरूप वह आत्मा है जो विद्या के निमित्त से ऐसा बन चुका है कि इन तीन से अभिभूत होने योग्य नहीं रह गया-**

१. **अनात्मा का अध्यास;** अर्थात् 'मनुष्य हूँ' आदि अभिमान। आत्मा अर्थात् प्रत्यक् में प्राथमिक अनात्मा-अध्यास का नाम अहंकार है ऐसा चूडामण्यादि में कहा गया है। आगे जितने अध्यास प्रत्यक् में होंगे वे इस अध्यास से विशिष्ट प्रत्यक् में ही होंगे अतः यही सब अन्य अनात्माध्यासों का मूल भी समझा जा सकता है। यह तथ्य सिद्धान्तबिन्दु में (पृ.८०) बहुत स्पष्ट किया गया है। अहन्त्वाध्यास की बाह्यसीमा देहधर्म हैं अतः यहाँ टीकाकार ने 'मनुष्यत्वादि' कहा। यह भी उक्त बिन्दुग्रंथ में व्यक्त है। अहंकार की मौलिक अनात्माध्यासरूपता से यही अध्यासभाष्य का मुख्य परीक्ष्य है यह पञ्चपादिकाकार की अहङ्कारटीका से निश्चित होता है। मिश्रजी ने भी कहा है 'प्रत्यगात्मनि अनात्माध्यास एव सर्वानर्थहेतुः, न पुना रजतादिविभ्रमाः!' (भाम.पृ.४०)। इससे अभिभूत होकर ही हम सारी दीनताओं से पीडित हैं। ममकार भी इसे पुरस्कृत किये बिना होता नहीं है। अभिभव का मतलब है कि यह अध्यास होने पर हमारी

स्वाभाविक जो अपरिच्छिन्नता, असंगता आदि है उसे सर्वथा नज़रन्दाज़ कर इस अध्यास को ही पूर्ण श्रद्धा से मानकर अगले अध्यासक्रमों में बहते चले जाना। ज़्यादा नहीं, स्वप्न-सुषुप्ति को भी जाग्रत् के तुल्य अपना ही अनुभव मानकर उस पर विचार करें तो भी बहुतेरे अहन्त्व-ममत्वों के आग्रह छूट सकते हैं। हमारे गुरुचरण कहा करते हैं कि जो लोग पुनर्जन्म में निश्चय वाले हैं ख़ुद को हिन्दुस्तानी, पाकिस्तानी, हिन्दू, ब्राह्मण, मनुष्य आदि कैसे मान सकते हैं? आज भले ही हम मनुष्य हैं पर पिछले-अगले जन्मों में भी तो मनुष्य ही नहीं हैं! आखिर यह तो दुर्लभ योनि है। आज का ब्राह्मण पूर्व या पर जन्म का चाहे कुछ हो सकता है। आज जो भारत के प्रति वफ़ादारी को धर्म कह रहा है वही पूर्वजन्म में अंग्रेज़ होकर यहाँ अत्याचार नहीं कर रहा था या आगे चीन का नागरिक पैदा होकर भारत पर आक्रमण को धर्म नहीं मानेगा इसमें कोई प्रमाण है? अतः ये आग्रह सिर्फ़ अभिमान के नशे में रह सकते हैं। इनसे हम अभिभूत हैं। आत्मा के याथात्म्य का साक्षात्कार हमें ऐसा बना देगा कि इनसे हम दब नहीं सकते। प्रतीत ये होते रहें, यथाव्यवहार इन्हे मानते भी रहें, यह तो हो सकता है, पर इन्हे सर्वस्व या वास्तविक नहीं मानते रह सकेंगे। यही बंधन का ढीला पड़ना 'उपनिषत्' का एक फल बताया गया है।

२. **माया;** अर्थात् परमेश्वर की शक्ति। 'जगद्रक्षायै त्वं नटसि ननु वामैव विभुता!' कहकर महिम्नःस्तोत्र में (श्लो.१३) पुष्पदन्ताचार्य ने विचित्र रहस्य उद्घाटित किया है। आचार्यों ने माना है 'क्रीडार्थं सृजसि प्रपञ्चम्' (शिवानन्द.६६)- भगवान् ने जगत् खेल के लिये बनाया है। इसे बनाने की उनकी शक्ति को माया कहते हैं। हम अपनी मूर्खतावश इससे अभिभूत हो जाते हैं, इसे खेल याद रखते नहीं अतः विभिन्न आग्रहों से जकड़े रहकर अत्यन्त क्लेश पाते हैं। परमेश्वर पर भी वैषम्य-नैर्घृण्य की शंका करते हैं! कुछ महानुभाव उन शंकाओं का बड़ा विस्तृत समाधान भी देते हैं, परमेश्वर को कर्मफलप्रदाता आदि न जाने क्या-क्या बताते हैं! कुछ इसी में परेशान हैं कि वह सर्वशक्ति और कारुणिक दोनों है तो संसार में दुःख क्यों? इसका भी तालमेल बैठाने में प्राच्य-पाश्चात्य विद्वानों ने कई प्रयास किये हैं। यह सब इसीलिए कि हम माया से अभिभूत हो गये, यह मानने को क़तई तैयार नहीं कि यह खेल है। भगवान् को हमसे जो अपार प्रेम है-क्योंकि अपना स्वरूप निरतिशय प्रिय ही हो सकता है-उसी से वे हम से जगद्रूप केलि कर रहे हैं पर, 'वामैव विभुता!', हम अभिभूत हैं अंतः कार्य-कारणतादि जाल बुनकर फँसते चले जा रहे हैं। जब सूक्ष्म पदार्थों के विचार में वैज्ञानिक कार्यकारणता विश्रृंखलित देखते हैं तो भी हृदय से मान नहीं पाते, कहते हैं 'भगवान् जुआ थोड़े ही खेलेंगे!' भाष्यकार तो स्पष्ट कह देते हैं 'ईश्वरस्याप्यनपेक्ष्य किञ्चित्प्रयोजनान्तरं स्वभावादेव केवलं लीलारूपा प्रवृत्तिः ****परमेश्वरस्य लीलैव केवलम्।' (ब्र.सू.२.१.३३)। इससे अभिभूत न होना अर्थात् इसकी बाधितता स्फुरते रहने से इसे यथादर्शन खेल जानते हुए यावत्प्रारब्ध इस खेल में भाग लेते रहना। अनात्माध्यारोप से अनभिभव द्वारा कहा था कि त्वम्पदार्थ में कोई अशुद्धि नहीं रह जाती। माया से अनभिभव कहकर बताया कि तत्पदार्थ के बारे में कोई भ्रम-संशय आदि नहीं रह जाता। यही अवगति 'उपनिषत्' का दूसरा फल बताया है।

३. **हमें मानो ख़त्म करने वाला अँधेरा;** अज्ञानान्धकार मानो हमें समाप्त किये है, हम जो-जैसे हैं वह-वैसा स्वयं को मानते-जानते नहीं तो ख़त्म जैसे ही हैं। अज्ञानवश ही हम परिच्छिन्न, सीमित हो रखे हैं। हमें जो अपने में जीवपना—कर्तृत्व-भोक्तृत्व—स्पष्ट भास रहा है उसमें निमित्त है हमारा अपना अज्ञान। हम—'जीव'—तो वास्तविक हैं पर हमारा जीवपना केवल कल्पित है। 'स्वाविद्याविभवप्रसूत ····भागशो मन्वते' आदि वार्तिकमंगल तथा 'स्वाज्ञानकल्पित-जगत्परमेश्वरत्वजीवत्वभेदकलुषीकृतभूमभावा' आदि सर्वज्ञमंगल एवं इनके व्याख्यानों में यह विचार स्पष्ट किया गया है। पारमेश्वरी माया ही जीवत्व को निमित्त कर आच्छादक अज्ञान बन गयी है यह भी संक्षेपशारीरक में बहुत विस्तार से समझाया है। खेल तभी तो हो जब 'चोर' की आँखों पर पट्टी बाँधी जाये! माया व अज्ञान दो नहीं, एक ही क्रीडांगन की दो पालियाँ है जिनमें एक ओर ईश्वर और दूसरी ओर जीव रहकर परस्पर खेल रहे हैं। अज्ञान से अभिभूत होना अर्थात् परमेश्वर से अपना अभेद न समझना। विद्या से वीर्य मिलता है तो यह अभिभव संभव नहीं।

वाक्यार्थ भूत अखण्डता का अज्ञान पूरी तरह बाधित हो जाता है। अज्ञानसमापन ही 'उपनिषत्' का तीसरा फल कहा गया है। इसे पाकर चाहे जब तक जैसा भी खेल चले, यह नहीं लगता 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ'। आधिकारिक होकर जन्मान्तर का खेल भी कोई अंतर नहीं लाता। चाहे लोगों से ख़ुद को पुजवाने का खेल हो (पंच. ४.५७) या दर्द से कराहते हुए प्राण छोड़ने का (पंच.२.१०६), स्वान्तध्वान्त से अभिभव का प्रसंग ही नहीं उठता।

यहाँ भाष्य में उक्त तीनों से अनभिभाव्य आत्मा को ही वीर्य का लक्षण कहा है क्योंकि आगे बातायेंगे कि वीर्य आत्मा से अतिरिक्त कुछ नहीं है। यह पहले कह चुके हैं कि लक्षण धर्म ही होना चाहिये यह निर्बन्ध संभव नहीं।

कुछ अनुवादक अनात्माध्यारोपादि का ऐसा अर्थ करते हैं 'अनात्मा के अध्यारोपरूप माया में रहने वाले अन्धकार (अज्ञान) से जिसका पराभव नहीं हो सकता ऐसा बल'। इस अर्थ में न केवल माया-पद व्यर्थ है वरन् उसमें रहने वाला अज्ञान भी अप्रसिद्ध है। टीकाविरोध तो है ही।

कुछ साम्प्रदायिकों ने 'स्वान्त' से मन का ग्रहण कर यह अनुवाद किया है: 'अनात्मा के अध्यारोप, माया और अन्तःकरण के कारण प्राप्त हुए अज्ञान से जिसका पराभव नहीं हो सकता, ऐसा सामर्थ्य'। यहाँ अज्ञानप्राप्ति में अन्तः करण को 'कारण' भी क्लेशपूर्वक ही समझाया जा सकता है। विवरणकार सुषुप्ति में भी जीव-ब्रह्मविभाग स्वीकारते हैं और तब उसे केवल 'अविद्यासम्बन्धदोष' वाला कहकर स्वप्न में अविद्योपादानक अन्तःकरण से अवच्छेद वाला मानते हैं (पृ.१९१)। अत: मधुसूदन स्वामी 'अज्ञानाध्यासविशिष्टचैतन्येऽहङ्काराध्यासः' (सि.बि.पृ.८०) लिखते हैं। कार्योपाधिपक्ष में भी क्योंकि अनादिजीव माना गया है और अंन्तःकरण की उत्पत्ति श्रुत है इसलिये उसके कारण अज्ञान की प्राप्ति में क्लिष्ट कल्पना ही है।

श्रीविष्णुदेवानन्दजी महाराज ने तो टिप्पण में पंचदशी के अनुसार समझाते हुए माया-अविद्या का अभेद मानकर ही व्याख्या की है:'पारमेश्वरी शक्तिरिति—परमेश्वरत्वोपाधिः शुद्धसत्त्वप्रधाना त्रिगुणात्मिका प्रकृतिरित्यर्थः। जीवत्वनिमित्तमज्ञानमिति—जीवत्वोपाधिरविद्या मलिनसत्त्वप्रधानं प्रकृतेरेव रूपान्तरम्; 'माया चाविद्या च स्वयमेव भवती' ति श्रुतेः।'

टीकाकार आगे तृतीयखण्ड में 'प्रकटार्थे द्रष्टव्यम्' कहेंगे अत: यहाँ भी संभवतः प्रकटार्थप्रक्रिया से व्याख्यान कर रहे हैं। प्रकटार्थकार का मानना है कि चिन्मात्र के परतन्त्र माया में प्रतिबिम्बित चैतन्य सर्वज्ञत्वादि धर्मोंवाला ईश्वर है। उस माया के परिच्छिन्न अनिर्वचनीय अनन्त प्रदेश हैं जिन्हे अज्ञान कहते हैं और जो आवरण-विक्षेप शक्ति वाले हैं, उनमें प्रतिबिम्बित चैतन्य जीवव्यवहार का विषय बना है अर्थात् जीव कहा जाता है। तत्त्वज्ञान से अज्ञान का भंग होता है, माया स्वरूपतः समाप्त नहीं होती। अत: जीव का मोक्ष होने पर भी मायाविवर्त महाभूत आदि प्रपंच विद्यमान रह जाता है। अज्ञान व तज्जन्य अतंःकरण हट चुकने से मुक्त को संसारानुभव वैसे ही नहीं होता जैसे अंधे को रूप का ग्रहण नहीं होता। माया मिथ्या तो है किंतु जैसे अनादि है वैसे उसका उच्छेद भी नहीं है। मिथ्या होने से उसके कारण अद्वैतव्याहति भी नहीं। यह प्रकटार्थ के प्रारंभ में (पृ.३-४) ही स्पष्ट कर दिया गया है। इसी दृष्टि से प्रकृत में 'पारमेश्वरी शक्तिर्माया' और 'जीवत्वनिमित्तमज्ञानम् स्वान्तध्वान्तम्' समझ सकते हैं। अत: वे आगे कहते हैं कि विद्या के कारण अनादिसिद्ध अज्ञान आदि (=अभिमान) का नाश हो जाने से निश्चित है कि विद्या अमृतता का हेतु है। माया स्वतः जीव को बाँधती नहीं। (स्वत: अर्थत् स्वप्रदेशभूत अज्ञान के बिना)। नया अज्ञान तो उत्पन्न होता नहीं क्योंकि अनादि होने से उसका कोई कारण है नहीं। प्रारब्ध के कारण जो लेशाविद्या और द्वैतदर्शन है वे विद्वान् को अभिभूत करते नहीं क्योंकि विद्वान् ने जिस विद्या को आत्मसात् किया है उससे ये दोनों दुर्बल हैं, बाधित हैं। अत: विद्या अमृतत्व का हेतु हो यह ठीक ही है। यदि टीका में भी माया और स्वान्तध्वान्त में भेद न मानना हो तो 'स्वतः' का अर्थ 'जीवत्व के बिना' कर लेना चाहिये। जीवत्व न

होने से जैसे ईश्वर का बंधन वह नहीं कर पाती ऐसे ही विद्या से जीवत्व का बाध होने से वह अब जीव को भी बाँध नहीं पाती यह तात्पर्य है।

उस वीर्य की और क्या ख़ासियत है? वह अमृत अर्थात् ऐसा है कि कभी लुप्त नहीं होता। दैव-मानुष वित्त, जीवान्तर की सहायता, मन्त्र, दवा, शरीर मन से अधिकाधिक सहन कर जाना, चित्तवृत्तियों को निरुद्ध कर लेना— इनसे जो बल मिलता है वह क्योंकि ख़ुद अनित्य चीज़ों से पैदा हुआ है इसलिये मृत्यु को अभिभूत नहीं कर सकता। अविद्या से उत्पन्न सामर्थ्य का नाश अनिवार्य है क्योंकि परमार्थविद्या से अविद्या बाधित ही होने लायक है। विद्या का तो कोई बाधक है नहीं अतः विद्याप्रयुक्त बल ऐसा है जिसकी कभी अस्फूर्ति नहीं होती।

पायी वस्तु हाथ से निकल सकती है यह स्वाभाविक भय बच्चों तक में—और पशुओं में भी—देखा जा सकता है। यही क्षेमचिन्ता सामाजिक-राजनैतिक व्यवस्थाओं की प्रेरणास्रोत है। चाहे ज्ञान या धर्म के क्षेम के लिये हो; चाहे सम्पत्ति या क्षेत्र के क्षेम के लिये, ये व्यवस्थायें हैं क्षेम के लिये ही। यद्यपि योग भी इनका विषय बनता है तथापि इनकी उत्पत्ति तो क्षेम के ही लिये है और क्षेमार्थ ही योग भी अपेक्षित होने से ये योगपरायण होती हैं। अतएव जिसका क्षेम चाहिये ऐसा कुछ जब नहीं रह जाता तब उसके क्षेम के लिये निर्मित ये व्यवस्थायें खोखली होने से अतिशीघ्र ध्वस्त हो जाती हैं। जितना यत्न व्यवस्था चलते रहने के लिये चाहिये उससे अधिक क्षेम के विषय के बने रहने के लिये चाहिये। जब यत्न का अनुपात बदल जाता है तब हावी होकर शनैः शनैः व्यवस्था सारा यत्न माँगती है और विषय क्षीण होते होते समाप्त हो जाता है जिसके बाद व्यर्थ हुई व्यवस्था भी अस्त हो जाती है। जो कुछ नया योग प्राचीन क्षेम के लिये बटोरा गया है वही अब क्षेम का विषय रह जाता है और उसी के लिये पुनः व्यवस्था निर्मित होती है। ध्वंस-जन्म का क्रम क्योंकि अकस्मात् नहीं होता इसलिये सामान्यतः इसके प्रति हम जागरूक रह नहीं पाते। कुछ कुशाग्रधी लोग अवश्य इसे पहचान सकते हैं। यदि वे अभीष्ट क्षेम-विषय को बनाये रखने में यत्नशील हो जाते हैं तो संभावना होती है कि चली आयी व्यवस्था बनी रहेगी। अन्यथा उनका पहचानना वैसा ही है जैसे दुर्बल व्यक्ति के सामने ही उसका घर लूट लिया जाता है। क्षेमविषय अवश्य बनता है, क्या बने—इसमें अंतर रहता है। सुविचारित हो तो व्यवस्था और उससे व्यवस्थित व्यक्ति शान्ति आदि अभिलषित-प्राप्ति की ओर बढ़ते हैं, अविचारित हो तो जैसा भाष्यकार सूत्रभाष्यारंभ में कहते हैं, कल्याण से च्युत होकर अनर्थ पाते हैं। आध्यात्मिक जीवन भी इस भय से मुक्त नहीं है। यदि अद्वैत रत्न है तो उसके रक्षण के लिये भी उद्यत होना पड़ेगा। वेदान्तसमन्वय और समन्वितार्थ का प्रमाणान्तर से अविरोध स्थापित होना पर्याप्त न मानकर यति को यत्नतः क्या करना चाहिये, उसका 'कृत्य' क्या है, यह बताने के लिये ही महर्षि बादरायण नें तृतीयाध्याय का प्रणयन किया। 'सारसङ्ग्रह' के तीसरे अध्याय के प्रारंभ में (व ३.३ में) श्रीमधुसूदनस्वामी ने यह प्रसंग बहुत स्पष्ट किया है। जैसे विवेक, वैराग्य, मन-इंद्रिय-नियन्त्रण आदि की प्राप्ति के बाद इनके परिरक्षण के लिये नित्य सावधानी चाहिये-जैसा गीता शङ्करानन्दीय व्याख्या में सुव्यक्त है-वैसे ही क्या चरम साक्षात्कार के लाभ के बाद चाहिये? - यह प्रश्न स्वाभाविक है। अगर चाहिये तो जीवन्मोक्ष या संभव नहीं और या पंचदशी के शब्दों में एक व्रतविशेष होगा। इतना ही नहीं, यदि यत्नापेक्ष क्षेम वाला मोक्ष होगा तो यत्नोपकरणभूत मन-देहादि की जरूरत बनी रहेगी अतः विदेहमोक्ष तो असंभव ही होगा। कथंचित् मोक्ष हुआ भी तो क्षेमार्थ यत्न के अभाव में नष्ट भी होगा ही अर्थात् नित्य नहीं हो सकता। नित्य न होने पर वेदान्तों की प्रतिज्ञाहानि होगी और वे अतएव प्रामाणिक न हो सकेंगे। फलतः वेदेतर मोक्षोपायबोधक प्रमाण समबल होने से विनिगमनाविरहवश मुमुक्षु की प्रवृत्ति आकस्मिक रह जायेगी और निश्चित साधन के बिना गुरुतर प्रयत्नसाध्य सागरतरणादि कार्यों में अप्रवृत्ति की तरह मोक्षोपाय में किसी की प्रवृत्ति न होने से मुमुक्षु-दौर्लभ्य के कारण निरधिकारिक शास्त्र आरंभयोग्य ही नहीं रहेगा। यह विचार कर आचार्य श्रीशंकर 'अमृतं वीर्यम्' अन्वय बताते हुए श्रुतिप्रमाण से मुमुक्षु का भय दूर कर रहे हैं।

विद्या जैसे मोक्ष प्रदान करती है वैसे ही ऐसा अनश्वर बल भी जो उस मोक्ष को बनाये रखने के लिये पर्याप्त है। जैसे माता बच्चे को केवल जन्म देकर नहीं छोड़ देती, पाल-पोस कर इस लायक बनाती है कि वह ख़ुद अपना जीवन चलाता रह सके और माता मर भी जाये तो बना रह सके, ऐसे विद्या भी उस परा निष्ठा तक पहुँचाती है जिसके बाद मोक्ष के लिए विद्या भी बनी रहे इसकी कोई अपेक्षा नहीं रहती। अन्तिम दृढतम साक्षात्कार मोक्ष और बल इकट्ठे ही दे देता है, माता की तरह उसे लम्बे समय तक कोशिश नहीं करनी पड़ती यह बात अलग है। जैसे सत्य, ज्ञान आदि अभिन्न होते हुए ही विभिन्न पदों के अर्थ हैं, ऐसे मोक्ष और वीर्य भी। अतः मुमुक्षु इस बात से निश्चिन्त रह सकता है कि मोक्ष का सिर्फ रास्ता ही है, गन्तव्य कुछ नहीं; चलना ही है, पहुँचना नहीं। ऐसी परिस्थिति बिल्कुल नहीं है। बल्कि चलना छूटना ही मोक्ष है। वासिष्ठ में यही बंधन कहा है कि हम अपने को छुड़ाने की कोशिश कर रहे हैं। यहाँ तो भाष्यकार 'सर्वकर्तव्यताहानि' से साधक को विभूषित करने को उतावले हैं। 'कर्म हेयं मुमुक्षुणा' कहकर साहस्री में (पद्य.१.१५) वे साधक के बन्धन खोलने से ही ग्रन्थारंभ करते हैं। विद्यासाधक नित्यादि-कर्मबोझ से तो छूटे, यह उनका करुण अभिप्राय है। अतः जो साधन वे या श्रुतियाँ बताती हैं वे धीरे-धीरे सभी यत्नों को समाप्त करने वाले ही हैं। नवीन यत्न जोड़ना उपनिषत् को इष्ट नहीं यद्यपि कतकरेणुन्याय से लग सकता है कि वह यत्नपरिवर्तन करती है। इसलिये मोक्ष की प्राप्ति भी यत्नसाध्य नहीं और उसकी रक्षा भी यत्नसाध्य नहीं, वह नित्य है।

इस रहस्य से अनभिज्ञ रहे तो साधक भ्रमवश बलान्तर एकत्र करने में लग सकता है अतः आचार्य अन्य बलों को नामतः बताकर उनकी व्यर्थता सूचित कर रहे हैं। धन से ऐहिक और स्वर्गादि आमुष्मिक फल पाये और कुछ हद तक बचाये जा सकते हैं। न धन और न उससे साध्य फल नित्य हैं कि अनन्त बने रहें। उपासना भी ब्रह्मलोकादि पारलौकिक फलविशेष देती है, निर्विशेष अपरिच्छिन्न मोक्ष न देती है न इसकी रक्षिका है। बल्कि प्राप्ति में प्रतिबंधक भले ही हो सकती है क्योंकि वैध होने से सुखफल देकर सुखसंग से बाँधती है। पैग़म्बरी धर्म जीवान्तर की सहायता के बल पर नित्य स्वर्ग की आशा दिखाते हैं। यद्यपि ईसाई मसीहे को जीवविशेष नहीं मानते वरन् ईश्वरत्रिक का एक घटक मानते हैं तथापि उसे ईश्वर से अत्यन्त अभिन्न भी नहीं मानते और जीव का भी ईश्वर से अत्यंत घनिष्ठ संबंध मान ही लेते हैं अतः ईश्वराऽभेदाऽभाव उभयत्र समान होने से उसे भी जीवान्तर कहना संगत हो जाता है। उपनिषत् के अनुसार तो हरेक को स्वयं अपना मसीहा बनना पड़ेगा। अतः गीता 'बन्धुरात्मात्मनः' (६.६) 'आत्मनाऽऽत्मानमुद्धरेत्' (६.५) 'आत्मा एव हि आत्मनो बन्धुः' (६.५) आदि में सावधारण यह बात कहती है। ईश्वर से यत्किंचित् भी भेद वाला निरतिशय सामर्थ्यवान् संभव न होने से उसका सहारा भी अन्ततः डूबने वाली नाव का ही सहारा है। वेदान्त में गुरु का उस अर्थ में सहारा नहीं है जिस अर्थ में मसीहे का सहारा है। यहाँ गुरु मार्गदर्शकमात्र है, चलना मार्ग पर ख़ुद को है, पहुँचना भी ख़ुद को है। यहाँ तो मार्ग का भी सहारा नहीं! वह भी वैसे ही ख़त्म हो जाता है जैसे भटके हवाई जहाज़ का । अतः मन्त्र या वेदाक्षरों की भी सहायता नहीं रहेगी। 'त्यजेद् ग्रन्थमशेषतः' (ब्र.बि.१८) आदि स्वयं शास्त्र की आज्ञा है। अन्य भी मान्त्रिक प्रयोग अध्यात्मपथ में व्यर्थ हैं। यहाँ यह भी ध्वनित है कि मंत्रबल पर मोक्ष टिका नहीं है कि 'तत्त्वमसि' वाक्य की शक्तिविशेष के कारण नित्य मोक्ष हो! मोक्ष ख़ुद प्रतिष्ठित है, मंत्र तो केवल उसके सामने आने वाला आईना है जिसमें मोक्ष स्वयं को देख सकता है। मन्त्र से ही मन्त्रकृत वृत्ति भी समझ लेनी चाहिये, उसका भी बल अमृत नहीं है, चाहे उससे मिला बल अमृत हो। शक्ति देने वाला बना रहे यह ज़रूरी नहीं, अणु तो फूटकर ही अत्यधिक शक्ति देता है। कुछ लोग नशा आदि से बन्धनहीनता में स्थित होने की कोशिश करते हैं। चार्वाक देह को बचाने के लिये अरबों रुपये दवा खोजने में लगाते हैं। औषधि से सभी भौतिक उपायों की उपलक्षणा समझनी चाहिये। अतः तान्त्रिक आदियों के विविध प्रयोग भी—जो अवैदिक होने से 'धन' में नहीं गिने गये थे—मोक्ष के लिये निरर्थक हैं। जैनादि तपस्या को महान् उपाय मानते हैं। व्रतोपवास तीर्थस्नान आदि विभिन्न तपों पर बहुत लोगों को काफी भरोसा होता है कि ये स्थायी फल दे सकेंगे। अतः भाष्यकार ने तप का भी ग्रहण कर लिया कि यह भी अनित्य फल ही दे सकता है। परम तप कहा जाने वाला ऐकाग्र्य आख़िर रोज़

स्वप्न-सुषुप्ति में नष्ट होता ही है। यही चित्तवृत्तियों के निरोध और उसके अंगों की स्थिति है। सांख्य-योग तथा न्याय-वैशेषिक चारों योग के सहारे ही मोक्ष मानने वाले दर्शन है। योग-बल को मोक्षप्रसंग में अपर्याप्त कहकर उन सभी का निरास हो गया है। योगज सिद्धियाँ भी अतएव अपेक्षित नहीं हैं। विद्यारण्यस्वामी तो यहाँ तक कहते हैं कि अगर विक्षेप से बचना इतना सफल हो तब तो घट आदि की निष्ठा सबसे अधिक होगी! (पंच.७.१८८)। अन्य भी बलजनक उपाय यहाँ उपलक्षित हैं। सबमें समान दोष है कि ये अनित्य साधनों से पैदा हुए हैं अतः मौत को रोक नहीं सकते। तत्त्वधी जब अज्ञान का बाध करती है तो उसका कार्य स्वतः ही बाधित है। तत्त्वज्ञान का बाधक कुछ है नहीं (पंच.२.१०८)। अतः उससे प्रयुक्त आत्मबल अमृत हो यह उचित ही है।

ज्ञानलब्ध बल मिलता है तो 'संयोगा विप्रयोगान्ताः' न्याय से छूटता भी होगा? इस शंका को हटाते हैं – **आत्मविद्या-प्रयुक्त बल आत्मरूप से ही प्राप्त होता है, आत्मा से अन्य हुआ कोई बल आत्मा को मिलता हो ऐसा नहीं। क्योंकि आत्मविद्यानिमित्तक बल अन्यभूत साधन नहीं है, आत्मरूप ही है, इसलिए वही मृत्यु को अभिभूत करता है, अन्य कोई बल मृत्यु को अभिभूत कर नहीं सकता।** अपनी नित्यमुक्तता की दृढतम प्रमा विद्याकृत बल हैं। मुक्तस्वरूपता तो स्वाभाविक और पारमार्थिक ही है क्योंकि निरवयव आत्मा आकाश की तरह सारे ही शरीर आदि से किसी संबंध वाला है नहीं। अतः 'मैं नित्यमुक्त ही हूँ' यह कम्पसम्भावनारहित परीक्षित निश्चय विद्याकृत बल समझना चाहिये। निश्चय क्योंकि निरविद्य आत्मा ही होता है इसलिये यह आत्मरूप है, नित्य है। देहसमाप्ति तक चलने वाला द्वैतदर्शन विद्या से बाधित होता ही रहता है-या बाधित हुआ ही दर्शन चलता है, जैसी सर्वज्ञोक्ति है 'स्वाविद्याया बाधितायाः प्रतीतिः' – अतः वह मुझे अभिभूत कर सके यह संभव ही नहीं' यह ध्रुव निश्चय या निष्ठा वीर्यरूप से रहने के कारण मोक्ष ही बना रहता है, उसकी समाप्तिरूप मृत्यु नहीं हो पाती। अर्थात् जीवन्मुक्तिकाल में भी द्वैतप्रतीति कुछ अंतर नहीं डाल पाती। आत्मरूप यह निष्ठा अविनाशी है ही। वृत्तिरूप निश्चय यद्यपि ख़ुद समाप्त हो ही जाता है तथापि क्योंकि अबाध्य है इसलिए उसे भी अमृत या अविनाशी कह देते हैं ताकि विनाशी बल देने वालों से उसे पृथक् समझा जा सके। **आत्मरूप से बल देने वाली होने से विद्या अमृतत्व में सिर्फ़ निमित्त है, जनक हेतु नहीं, स्वरूपभूत अमृतत्व का काल्पनिक आवरण हटाने वाली होने से उसे निमित्त कहा जाता है। 'यह आत्मा बलहीन को नहीं मिलता' आदि अथर्ववेद का वचन भी आत्मप्राप्ति में इसी बल की आवश्यकता कह रहा है, भुजबल, धनबल, योगबल आदि की नहीं। लोक में भी ज्ञानबल अन्य बलों को दबाता देखा गया है जैसे हाथी आदि का देहसामर्थ्य अत्यधिक होने पर भी बुद्धिपूर्वक उसे नियंत्रित करने वाला मनुष्य उसे दबा लेता है। हिन्दी में कहावत भी है 'अक़्ल बड़ी कि भैंस!'**

विद्ययाऽमृतम्

यत एवमात्मविद्याकृतं वीर्यमात्मनैव विन्दते, अतो विद्यया आत्मविषयया विन्दतेऽमृतम् अमृतत्वम्। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' (मुं.३.२.४) इत्याथर्वणे। अतः समर्थो हेतुः 'अमृतत्वं हि विन्दत' इति।

विद्या से अमृत मिलता है

इस तरह क्योंकि आत्मज्ञान से आत्मरूप हुआ बल ही मिलता है इसलिये आत्मविषयक परा विद्या अमरता देने वाला इकलौता उपाय है। वह न केवल मोक्ष देती है वरन् उसकी सुरक्षा के लिये ज़रूरी अविनाशी बल भी देती है। बिना बल के तो आत्मा का ध्रुव लाभ संभव नहीं यह अथर्ववाक्य बताता ही है। अत एव निष्ठापर्यन्त न पहुँचा ज्ञान अमृतत्वहेतु नहीं है। इस खण्ड का उपक्रम इसी तथ्य से हुआ था। अतः 'अमृतत्वं हि विन्दते' को जो **'हेतुवचन' कहा था वह सुसंगत है क्योंकि प्रत्यगात्मरूप से ब्रह्मसाक्षात्कार ही सम्यग्ज्ञान है इस प्रतिज्ञा के लिए यह हेतु सबल है कि विद्या से अमृतता मिलती और सुरक्षित रहती है।**

v-vi) प्रतिबोधशब्दस्य रूढार्थाविह न सङ्गच्छेते

अथवा 'प्रतिबोधविदितं मतम्' इति सकृदेवाऽशेषविपरीतनिरस्तसंस्कारेण स्वप्नप्रतिबोधवद् यद् विदितं तदेव मतं ज्ञातं भवति-इति;

अथवा गुरूपदेशः प्रतिबोधस्तेन वा विदितं मतम् इति

उभयत्र प्रतिबोधशब्दप्रयोगोऽस्ति, 'सुप्तप्रतिबुद्धः', 'गुरुणा प्रतिबोधित' इति। पूर्वं तु यथार्थम्।।४।।

v-vi. 'प्रतिबोध'-शब्द के पाँचवा-छठा गलत अर्थ

व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थात् अवयवलभ्य अर्थों का तो विचार कर चुके, अब प्रतिबोध के दोनों रूढ अर्थों की भी परीक्षा कर लेते हैं।

एक विकल्प है कि 'प्रतिबोधविदितं मतम्' का अर्थ है : हमारे लिये हमेशा उल्टा आचरण करने वाला है मन अतः वह 'विपरीतं' कहा जाता है। जिस साधक का 'विपरीत' बच नहीं गया है अर्थात् मनोनाश हो चुका है और जिसने संस्कारों का निरास कर लिया अर्थात् वासनाक्षय कर लिया है उसे जो सपने से जगने की तरह एक ही बार में ज्ञान होता है वही वास्तविक समझ है। अर्थात् 'विदितं मतम्' में भावार्थक निष्ठाप्रत्यय है। 'अशेषविपरीत', 'निरस्तसंस्कार' इन्हें साधकविशेषण मानकर अनुवाद है। टीकाकारों ने इसकी ऐसी व्याख्या की है : जो बोध पूरी तरह विपरीत है और जिसने संस्कार का निरास कर दिया है वह प्रतिबोध है जो इकट्ठे ही सारी अविद्या और उसके कार्यों को निवृत्त करता है और तुरंत मोक्ष का हेतु होता है। बाकी बोध दृश्यगोचर हैं अतः तत्त्वबोध को विपरीत कहना ठीक है। कुछ लोगों ने 'विपरीत' को 'संस्कार' का विशेषण मानकर अर्थ किया है जो भाष्यगत समास देखते हुए संगत नहीं जान पड़ता।

एक यह भी विकल्प है कि गुरु के उपदेश को प्रतिबोध माना जाये, उससे विदित को प्रतिबोधविदित समझें।

प्रथम विकल्प में ख़ुद जगने को कहा, यहाँ गुरु के उपदेश से ज्ञान पाने को कहा, यह अन्तर है। योगवासिष्ठ में (उपशम.सर्ग ७) दो ढंग कहे हैं; 'अपवर्गक्षमौ राम! द्वाविमावुत्तमौ क्रमौ। एकस्तावद्गुरुप्रोक्तादनुष्ठानाच्छनैः शनैः।। जन्मना जन्मभिर्वापि सिद्धिदः समुदाहृतः। द्वितीयस्त्वात्मनैवाशु किञ्चिद्व्युत्पन्नचेतसा।। भवति ज्ञानसंप्राप्तिराकाशफलपातवत्।।' (श्लो.२-४)।।

सर्वसामान्य तरीका तो गुरु से उपदेश पाकर धीरे-धीरे साधना करते हुए जन्म-जन्मान्तर में मोक्ष पाना है। दूसरा है जो किसी भाग्यवान् मेधावी पण्डित में दीख सकता है जिसमें ज्ञान होना वैसा ही आकस्मिक है जैसा आकाश से किसी के हाथ में फल टपक पड़ना। अतः भाष्य में रूढार्थ के प्रथम विकल्प में इस दुर्लभ क्रम को बताया और द्वितीय में सामान्य क्रम कहा यह समझना चाहिये।

ये दो विकल्प उठे क्यों? **इन दोनों अर्थों में प्रतिबोध-शब्द का प्रयोग होता है - सोया व्यक्ति प्रतिबुद्ध हो गया अर्थात् जग गया, गुरु द्वारा यह प्रतिबोधित हो गया अर्थात् समझा दिया गया है।** रघुवंश में भी 'अप्रतिबोधशायिनी' (८.५८) आदि में प्रथम अर्थ में प्रयोग है तथा 'प्रत्यबोधयत्' (१.७४) में द्वितीय अर्थ है। भ्वादि और दिवादि में 'बुध वेदने' धातु है और भ्वादि में एक 'बुध विज्ञापने' भी धातु है। शब्दकल्पद्रुम में उक्त अर्थ कहा है, कौमुदी में 'बुध अवगमने' और 'बुधिर् बोधने' पाठ है, तात्पर्य वही है अवगमन अर्थात् समझाना या बताना तथा बोधन अर्थात् जानना या जगना।

'प्रतिबोध'-शब्द की नानाविध व्याख्या दिखायी अतः किसी को संदेह न हो कि सिद्धान्तानुसारी कौन-सी है इसलिए निर्णय बताते हैं – **सबसे पहले जो व्याख्या बतायी थी वही यथार्थ है।**

रूढार्थ में अरुचि का मूल है कि सोये के जगने की तरह प्रतिबोध समझने पर जो यह मानना पड़ता है कि तत्त्वज्ञान होने के साथ ही विदेहकैवल्य है, जीवन्मुक्ति नहीं है, यह बात शास्त्र और अनुभव से विपरीत है। ऐसे ही सिर्फ़ गुरु के उपदेश से पता चले तब तो विरोचन को भी चलना चाहिये था। अतः यह मानना ही पड़ेगा कि गुरु से सुनकर भी हर बोध में व्यापक आत्मा के अनुसंधान के बिना अपरोक्ष साक्षात्कार नहीं होता। इस तरह जब यह व्यापार मानना ही है तो इसे ही प्रतिबोध-शब्द से अभिप्रेत समझने में लाघव है।

यद्यपि रूढि को योग से बलवान् माना गया है तथापि उस उत्सर्ग का अपवाद भी शास्त्र में दिखाया गया है। अक्षराधिकरण में (१.३.३.१०) यही अपवाद है ऐसा शारीरकन्यायसंग्रह में विवरणाचार्यों ने कहा है 'केवलाया रूढेः विवक्षितलिङ्गानुगृहीता योगवृत्तिर्बलीयसी, तात्पर्यवत्त्वात्।' आकाशाधिकरण में (१.१.८.२२) भी यही स्थिति है। वहाँ भाष्य में ही कहा है 'प्रथमतरं प्रतीतमपि सत्, वाक्यशेषगतान् ब्रह्मगुणान् दृष्ट्वा न परिगृह्यते।' इसी तरह यहाँ भी प्रतिबोध के दोनों रूढ अर्थ उपस्थित हो जायें तो भी उन अर्थों में वह योग्यता नहीं कि तात्पर्यविषयीभूत वाक्यार्थ में घटक बन सकें, अतः 'मतममृतत्वं हि विन्दते, आत्मना' इत्यादि वाक्य में अन्वययोग्यता के अभाव से वे अर्थ अग्राह्य हैं यह भाष्याभिप्राय है। वस्तुसामर्थ्य को लिंग कहते हैं यह प्रसिद्ध ही है।

भाष्य में मुखतः रूढार्थ में दोषप्रदर्शन इसलिए नहीं किया कि यदि प्रथम विकल्प में जगने को दृष्टांतमात्र समझा जाये और इसलिये सद्योमुक्ति का प्रसंग न लाया जाये तथा द्वितीय विकल्प में फलमुख मानकर गौरव सहा जाये और सिद्धान्तोक्त अर्थ को व्यापारस्थानीय मान लिया जाये तो ये अर्थ भी सिद्धान्त से अविरुद्ध ही हैं।

केन के इस मंत्र का संकेत संक्षेपशारीरक (३.७) में भी है – 'ब्रह्मैव संसरति मुच्यत एतदेव दौवारिकं भवति संसरणं तु तस्य। मुक्तिः पुनर्भवति चिद्वपुषैव तस्य स्वाऽज्ञानतः स्वमहिमप्रतिबोधतश्च।।' सिद्धान्त है कि संसरण व मोक्ष अखण्ड परमात्मा का ही है। बृहदारण्यक में (१.४) भाष्य-वार्तिकादि में यह स्पष्ट है। चित्सुखी में (पृ.५८९) भी कहा है 'तदेवं स्वाऽविद्यया ब्रह्मैव संसरति स्वविद्यया च मुच्यते।' सर्वज्ञमुनि तो यह बात अनेक जगह कहते हैं। 'पंचप्रक्रिया' में इस प्रसंग का उन्होंने और ख़ुलासा दिया है। प्रकृत श्लोक में भी बताया है कि 'स्वाऽज्ञानतः संसरति' अपने अज्ञान से परमात्मा संसरण कर रहा है और इस संसरणारोप में द्वार बना है सूक्ष्मशरीर से सम्बन्ध। द्वार में ही स्वार्थप्रत्यय से दौवारिक शब्द बना है। पहले भी जीवत्व से संसरण नियत है यह दिखा चुके हैं। अपनी महिमा के प्रतिबोध से चिद्वपुरूप से मोक्ष उसी परमात्मा का हो जाता है। केन के 'आत्मना' को ही 'चिद्वपुषा' कह दिया है और 'मुक्तिः' से 'अमृतत्वम्' को। यहाँ जो द्वार है वही केन में बोधों में अनुगति है।

इस मंत्र पर भाष्य, टीका आदि में बहुत विस्तृत विचार हुआ है। कारण यही है कि यह मंत्र अपने में सम्पूर्ण उपदेश है। कैसे और कहाँ विवेक करना है इस प्रथम साधन से लेकर सवीर्य अमृतत्व पर्यन्त सभी कुछ इसमें बता दिया गया है। टीकाकार ने अपनी दिव्य दृष्टि से जो केनप्रक्रिया प्रकाशित की है उस के द्वारा सभी आरात्-सन्निपत्य साधनों सहित विद्या का स्पष्टीकरण हो गया है। प्रतिबोधविदित इतने से अध्यारोप और क्योंकि इसे ही 'मतम्' कह दिया है अतः इसी के तात्पर्यार्थ से अपवाद यहाँ प्रकट किया गया है। बुद्धि से देह तक सभी की अनात्मता का इसमें स्थापन है। उपायान्तर से व्यावृत्त कर साधक को प्रत्यक्प्रवण होने के लिये प्रतिबोधशब्द श्रुति ने कहा और भाष्यकार ने तो धन, सहाय आदि का नाम लेकर उनकी व्यर्थता दिखायी है। यद्यपि अविरोधाध्याय जगत्कारणविषयक मतान्तरनिरास में तत्पर है तथापि वह इसलिए नहीं कि व्यासजी मोक्षोपायविषयक मतान्तरनिरास करना नहीं चाहते थे बल्कि इसलिए कि

उपायविषयक मतान्तर उन्हे अतितुच्छ लग रहे थे और जिज्ञासासूत्रण से एवं पुरुषार्थाधिकरणन्याय से वे मानते हैं कि सभी मतान्तरोक्त उपाय भी खण्डित हो गये। भाष्यकार ने कृपा कर तत्र तत्र इस बात को और स्पष्ट किया है कि नित्य मोक्ष में अन्य उपाय संभव नहीं। सारे विस्तार को प्रकृत मंत्र में उन्होंने संग्रह रूप से रख दिया। 'नान्यद् द्वारमात्मनो विज्ञानाय' यह मंत्रव्याख्या के प्रारंभ में ही कह दिया है।

श्रुत्यन्तर संवाद दिखाते हुए युक्तिप्रदर्शनपूर्वक यही सम्यग् दर्शन है इसे भाष्य में सावधारण प्रतिपादित किया है। विक्रियात्मक आत्मा और ज्ञानरूप न होने वाला आत्मा— इन दोनों प्रसिद्धतर तार्किक मतों का स्वारसिक खण्डन विविध युक्तियों से किया। वैशेषिक-प्रक्रिया में उन्ही के ढंग से असंभवता दिखायी। स्वसंवेद्यता और बौद्धस्वीकृत स्वप्रकाशता की परीक्षा कर सिद्धान्तसंमत स्वप्रकाशता की प्रतिष्ठा भी इस मंत्र के भाष्य की विशेषता है। यही स्वप्रकाशता शास्त्र-युक्ति-अनुभव को संमत हो सकती है अन्यथा इन तीन की एकवाक्यता नहीं होगी यह भाष्यकार और उनके सभी अनुयायियों का मीमांसित अभिप्राय है।

बोध अवश्य किसी कारण से होगा क्योंकि कादाचित्क है। इससे शास्त्राचार्य की अपेक्षा भी द्योतित होती है। यद्यपि वासिष्ठ में 'आकाशफलपातवत्' कह दिया है तथापि उसके स्पष्टीकरण में जो आख्यायिका दी है उसमें सिद्धगीतों के श्रवण का निवेश कर महर्षि ने बता दिया है कि वे निर्निमित्त नहीं कहना चाह रहे वरन् यही कह रहे हैं कि प्रसिद्ध क्रम के बिना भी सूक्ष्म हेतु से फलोत्पत्ति हो सकती है। आधुनिक रमण महर्षि भी अरुणाचलेश्वर को अपना गुरु बताते थे, 'बिना गुरु मैंने जाना' ऐसा नहीं कहते थे। यही आकाशफलपात का तात्पर्य समझना चाहिए। साथ ही भाष्य में स्पष्ट किया कि तत्त्वज्ञान धीरे-धीरे होता है या एक झटके में, इस झगड़े में पड़ना व्यर्थ है। जब तक हो न जाये तब तक लगे रहना पड़ेगा। इसमें किसी को लगेगा थोड़ा-थोड़ा ज्ञान हो रहा है, टिक रहा है और किसी को वह 'थोड़ा-थोड़ा' भी अज्ञानक्षेत्र दीखेगा। यह व्यक्तिगत दृष्टि या संस्कारों पर निर्भर है। दृढबोध की स्थिति में किसी में मतभेद नहीं, वही प्रतिबोध है।

मोक्ष किंरूप है और उसकी प्राप्ति किंरूप है इस पर भी गंभीर विचार इसी मंत्र में आचार्यों ने कर लिया है। नित्य मोक्ष भी हेतुसापेक्ष कैसे हो सकता है - यह समस्या बड़ी कुशलता से सुलझायी गयी है। मर्त्यत्व की सरल परिभाषा कर अमृत ब्रह्मस्वरूपता का प्रतिपादन भाष्य में प्रकट है। मोक्ष के योग का वर्णन कई जगह मिल सकता है पर उसके क्षेम का वर्णन कम स्थलों पर ही उपलब्ध होता है। केनभाष्य में इस विषय पर बहुत विस्तार कर दिया गया है। युक्तियों को बताकर अन्त में मुण्डक का भी संवाद दिखा दिया है ताकि मुमुक्षु इस बारे में निश्चिन्त होकर शमादिपूर्वक प्रतिबोधविदित में निष्ठा के लिये तत्पर रह सके।

इस तरह जैसे ईशोपनिषत् के प्रथम दो मंत्र पूर्वोत्तरकाण्डों के सारसंग्रह माने गये हैं, गीता के ग्यारहवें अध्याय के अंतिम श्लोक को 'सर्वस्य गीताशास्त्रस्य सारभूतोऽर्थो निःश्रेयसार्थोऽनुष्ठेयत्वेन समुच्चित्योच्यते' एवं अठारहवें के छयाछठवें श्लोक को 'सम्यग्दर्शनं सर्ववेदान्तसारविहितं वक्तव्यमित्याह' कहकर भाष्यकार अवतरित करते हैं, 'पूर्णमदः' आदि के लिये वे कहते हैं 'यः सर्वोपनिषदोर्थो ब्रह्म स एषोऽनेन मन्त्रेणानूद्यते', इसी तरह 'प्रतिबोधविदितम्' आदि की भी गम्भीरता पहचानी जा सकती है।।४।।

पञ्चमो मन्त्रः

अज्ञानात्कष्टम्

कष्टा खलु सुरनरतिर्यक्प्रेतादिषु संसारदुःखबहुलेषु प्राणिनिकायेषु जन्मजरामरणरोगादिसम्प्राप्तिः अज्ञानात्। अतः –

पाँचवा मन्त्र—अज्ञान से कष्ट

परमार्थतत्त्व न जानने से अत्यन्त कष्टमय स्थिति हमारी है। चाहे देवतादि श्रेष्ठ योनियों में जन्म हो, चाहे मध्यम मनुष्य योनि में या निकृष्ट जानवर, भूत-प्रेत आदि योनियों में, हैं सब जन्म संसार के अंतर्गत ही । संसार में बहुतायत सिर्फ दुःख की है। जरा, रोग, मृत्यु आदि विकार सभी प्राणियों को पीडित करते ही हैं। यह पीडामय अवस्था का मूल हमारा अज्ञान है। अतः अगले मंत्र से भगवती श्रुति सारा प्रयत्न कर ज्ञान पाने को प्रेरित करती है।

वेदान्तशास्त्र के अनुसार स्वाभाविक बन्धन से छूटने का इच्छुक ज्ञानाधिकारी है। जो अपनी परिस्थिति से या जिन उपायों से वह उन पर नियंत्रण रखने की कोशिश कर रहा है उनसे सन्तुष्ट है, उसके लिये वेदान्त को कोई विधान नहीं करना। जो उससे प्रसन्न नहीं, अपनी अशक्ति जिसे वेदना देती है, असीम आनन्द के उल्लास की जिसे आशा है, अपनी स्थायिता के प्रति आश्वस्त होने से क्षणिक दुःखनिवृत्ति-सुखप्राप्ति को जो महत्त्व दे नहीं पा रहा, केवल भोगमयता की अधिकाधिक उन्नति को भी खोखला समझ रहा है, जीवन की निरुद्देश्य दिङ्मूढता से निराश हो लक्ष्य खोज रहा है,भरपूर क्रियायें होती दीखने पर भी कार्य कुछ नहीं हो रहा यह जिसे व्यक्त है, सिर्फ़ अतिदूर भविष्य की मंगलमयता की प्रतीक्षा में समय बिताना असह्य हो रहा है, किसी दूसरे का नाम लेकर अपनी जान बचाने में जिसे लज्जा आ रही है, खुद उस परिस्थिति का सामना करना चाहता है जहाँ वह बच सकता है, धैर्य रखकर श्रम करने को उत्सुक है, काफी समय से मानी जा रही और बहुतेरों को संमत बातों की भी स्वयं परीक्षा करने को और असत्य सिद्ध होने पर छोड़ने को तैयार है, अयौक्तिक आग्रह कि 'ऐसा नहीं हो सकता, कोई या मैं नहीं जान सकता, अटपटी लगती चीज़ ग़लत होती है, अभी तक समझी श्रेणियों से (ज्ञान-अज्ञान, कार्य-कारण, विषय-विषयी आदि से) अन्य कुछ हो नहीं सकता' आदि जिसने नहीं पाल रखे हैं—उसके सामने उपनिषदें एक सनातन, उज्ज्वल, निकटतम, व्यापक, अटल, असपत्न वस्तु अनावृत करने को प्रवृत्त होती हैं।

वेदान्तों में संसार की दुःखमयता और दोषबहुलता का वर्णन इसी परिप्रेक्ष्य में समझा जाना चाहिये। जैसा पूर्व प्रसंग में कहा था, सृष्टि को उपनिषदें 'रमण' के प्रयोजन वाली मानती हैं, अरति हटाने के लिये महादेव का विलास ही समस्त संसार है। अज्ञान समेत सारा संसार वास्तव में परम महेश्वर से किंचित् भी अन्य नहीं है। अतः शुद्ध आनन्दरूप शिव से अनन्य प्रपंच को वास्तव में दुःख-दोषमय कहें यह कैसे संगत है? वास्तविकता में तो सम्पूर्ण जगत् को नन्दनवन, सभी लोगों को कल्पवृक्ष, सभी जलबिन्दुओं को पावन गङ्गा, सभी क्रियाओं को पुण्य, समस्त वाणियों को निर्दोष श्रुति, समग्र भूमि को मोक्षक्षेत्र वाराणसी कहने वाले आचार्य ही जब संसार को कष्टमय, दोषभूयिष्ठ आदि कहते हैं तो उनका क्या अभिप्राय है?

'अज्ञानात्' से प्रकृत में भाष्यकार ने अपना आशय व्यक्त कर दिया है। न जाना हुआ सुख ही दुःख है। वेदान्तों के अनुसार वास्तविकता एक अखण्ड सच्चिदानन्द है। सत् नहीं जाना—इसी का नाम है 'न होना' या अभाव। चित् नहीं जाना—इसका नाम है अचेतन, जड । आनन्द नहीं जाना—इसका एक शब्द है 'दुःख'। ऐसे ही कूटस्थ-विकार, अभय-डर, अखण्ड-भेद, व्यापक-परिच्छिन्न आदि सभी समझ लेने चाहिये। अतः दुःखादि वास्तविक हो नहीं सकते। पित्तग्रस्त खा चीनी रहा है पर कड़वी लग रही है, उल्लू देख सूर्य रहा है पर अँधेरा दीख रहा है, म्लेच्छ सुन वेद रहा है पर कर्णकटु हल्ला सुनाई दे रहा है; इसी तरह नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव 'बहुत' चीज़ों की 'कमी' से 'दुःखी' है। इसलिये श्रुति कहती है कि खेत में गड़े खजाने को न जानकर सूखा पड़ने से न हुई फसल के लिये रोने या भूखे मरने तक की नौबत जिस खेतीहर पर आये उसी की तरह हमारी स्थिति है।

संसार में कष्ट है या दोष है यह विधान आचार्य नहीं करते, अनुवाद करते हैं, विधान तो शुद्ध आनंद का करते हैं। 'जो साँप है वह रस्सी है' कहने वाले पर यदि वदतोव्याघात लगे तभी वेदान्ताचार्यों पर वह दोष लग सकता है।

दुःखादि से पीडित को कहते हैं कि 'ये सब दुःख वास्तव में नहीं हैं, एकमात्र सुख है।' पूरा वाक्य न सुनने वाले अनुवादभाग सुनकर उछल पड़ते हैं 'शंकराचार्य ने अमुक की निन्दा की, अमुक को दोषी कहा, अमुक को अनर्थ कहा' इत्यादि। ये आलोचक भी उन्ही चीज़ों के अमुक प्रयोग या विनियोग की निन्दा करने में नहीं चूकते तो क्या विशिष्ट की निन्दा से विशेष्य निन्दित नहीं होता? दुरुपयुक्त को बुरा कहना भी उपयुक्त को बुरा बताना नहीं है? सड़ा चावल बदबू दे रहा है तो क्या चावल बदबू नहीं दे रहा? लेकिन अपने प्रयोगों में उन्हे संगतता लगती है कि विशेषण ही निन्द्य है, विशेष्य नहीं। फिर जब गै़र-समझे ब्रह्म की निन्दा होती है तो गै़र-समझी की निन्दा है यह क्यों नहीं समझ आता?

सभी को यदि दुःख है ही तो अनुवाद की क्या जरूरत? साधनरूप से संसार में दोषदर्शन का विधान क्यों? जहाँ दुःख दीख नहीं रहा वहाँ ज़बर्दस्ती उसका आरोप क्यों करना?

आचार्यों का कारुणिक उद्देश्य है कि 'आसमान से गिर कर ताड़ पर अटकना' – यह हाल हमारा न हो। बुद्ध जब गृहत्याग कर जंगल गये तब वहाँ के तापसों से पूछने लगे, 'क्यों तप कर रहे हो?' उन्होंने संसार की असारता बताकर कहा 'इससे असंतुष्ट हैं अतः तप कर रहे हैं।' बुद्ध ने पूछा, 'फल क्या चाहते हो?' उनमें किसी ने राज्यादि, किसी ने दिव्यभोगादि, किसी ने सिद्धियाँ आदि फल बताये। बुद्ध ने विचार किया 'तत्रैव लग्ना यत एव भीताः।' इह लोक में चाहे थोड़ी मात्रा में हों चीजें तो ये ही हैं, इन्ही से परेशान हुए और इन्हीं के लिए फिर इतनी मेहनत! ऐसे ही हम लोग एक दृश्य से पिटकर सहलवाने के लिये दूसरे दृश्य की ओर बढ़ते हैं जो फिर हमें पीडा देता है तो तीसरे की ओर मुँह करते हैं। ऐसा न हो, स्थालीपुलाकन्याय से परीक्षा कर निर्णय कर लें और फिर उधर से लौट पड़ें, उसी जंगल में न भटकते रहें, इसलिये शास्त्रों में इतने विस्तार से प्रपंच के हर आयाम के क्लेशों और दोषों का वर्णन है। वे क्या संसार में सचमुच हैं? – यह प्रश्न औपनिषद से पूछना व्यर्थ है। जो संसार ही सचमुच नहीं मानता वह उसके दुःख दोषों को सचमुच क्या मानेगा! सुख व शुद्ध की आशा में संसार की ओर मत जाना – बस इतना ही वह कहता है।

अज्ञान ही सारा बंधन, दुःख, अशुद्धि, अशान्ति, नैराश्य, असंतोष आदि है – यही आधार है ज्ञान को मोक्ष का इकलौता साधन मानने का। भाष्यकार कह रहे हैं कि यह हमारी कल्पना या पारंपरिक मान्यता नहीं स्वयं वेद का अभिप्राय है। अतः मनः-शासक-प्रशासक की विद्या के उपसंहार मंत्र में श्रुति ज्ञान की अवश्यकर्तव्यता बता रही है।

मन्त्रः

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥२.५॥

मन्त्रार्थ

चेद्=यदि **इह**=यहाँ **अवेदीत्**=आत्मा का यथार्थ ज्ञान पा लिया **अथ**=तो **सत्यम्**=सार्थकता है, **चेद्**=अगर **इह**=यहाँ **न**=नहीं **अवेदीत्**=जान पाये तो **महती**=महान् **विनष्टिः**=विनाश है। **धीराः**=बुद्धिमान् लोग **भूतेषु-भूतेषु**=सभी भूतों में **विचित्य**=एक ही आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर **अस्मात्**=इस **लोकात्**=लोक से **प्रेत्य**=पूर्णतः विमुख होकर **अमृताः**=अमृत **भवन्ति**=होते हैं।

'श्रुत्या सानुक्रोशमेतदुक्तम्' – शंकरानन्दस्वामी कहते हैं – कोमल करुणा से श्रुति ने यह मंत्र कहा है। 'महान् विनाश' का डर दिखाना श्रुति का अभिप्राय नहीं यह इसी से पता चलता है। मौका चूकना नहीं चाहिये, इसलिये वेद याद दिला रहा है कि मानव देह में इस बंधन से छूटने का मौका है, कोशिश करो। दूसरे देहों में मौका नहीं ऐसा बताने की यहाँ मर्जी नहीं है, पर हमारे काम की इतनी ही बात है कि यहाँ मौका है अतः यही बताने की इच्छा है। शास्त्र में मनुष्य

को अधिकारी माना जाने का भी यही अभिप्राय है। अतः 'क्षिप्रं हि मानुषे' (गी.४.१२) आदि का क्षिप्र शब्द एवं देवताधिकरण और 'यो यो देवानाम्' (बृ. १.४.१०) आदि श्रुति संगत है। वस्तुतस्तु जन्म-जन्मान्तर आदि की चर्चा का भी यही औचित्य है कि भूत-भावी की चिंता छोड़ कर वर्तमान का पूर्ण महत्त्वशाली विनियोग कर लेना चाहिये। पूर्व अनेक जन्मों में जीव ने कष्ट भोगे हैं या आगे अनन्त जन्मों में वह कष्ट भोगेगा इसमें शास्त्र का तात्पर्य नहीं। यह कहना इसीलिए है कि इस जन्म का योग्य उपयोग हो जाये। अतः कोई पूर्वापर जन्मादि माने या न माने, विद्यमान का प्रयोग कर ले तो श्रुति का अभीष्ट सिद्ध हो जाता है जब कि चाहे अनादि-अनन्त भवप्रवाह मानता रहे लेकिन पारमार्थिक स्वार्थ में प्रमाद करे तो श्रुति को खेद ही रहेगा। वेद को आचार्यों ने मनोवृत्तिरूप माना है। मनःपद ज्ञानशक्त्युपाधिपरक मानना चाहिये अतः शास्त्रयोनिन्याय से ईशसृष्ट वेद मायावृत्तिरूप हो जायेगा। इस विषय में सारसंग्रह (२.९) का अवलोकन करना लाभप्रद है जहाँ सर्वज्ञगुरु का अभिप्राय मधुसूदनस्वामी ने व्यक्त किया है। अतएव वेद की कृपालुता संगत है। अथवा गुरु की मनोवृत्तिरूप वेद मानकर कृपालुता समझ लेनी चाहिये। कुछ लोग वेद के अधिष्ठाता की कृपा को वेद की कृपा कहते हैं। वहाँ भी अधिष्ठाता देवताविशेष, ईश्वर या गुरु – तीनों विकल्प संभव हैं।

श्रुति ज्ञान की महत्ता पर बल दे रही है : जान लिया तो सच्चाई हाथ लग गयी, नहीं जाना तो झूठ के जाल में फँसे रहे। झूठ ही विनाश है। अन्यत्र जो श्रुति ने कार्य को विनाश कहा है वह भी इसीलिये कि कार्य झूठ है, सत्य कारण होता है – 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्'। झूठ की उपयोगिता को श्रुति मना नहीं कर रही पर उसे विनाश कह रही है। तात्पर्य है कि व्यवहार सारा झूठ से ही चलता है और यही उसकी विनाशरूपता में प्रयोजक है। विनाश का मतलब वस्तु की वह स्थिति जिसमें उसका निजी रूप पूरी तरह दीखना बन्द हो जाता है। व्यवहार आत्मा का विनाश है क्योंकि इसमें आत्मा का सच्चिदानन्दरूप पूरी तरह ढक जाता है। यद्यपि परिच्छिन्न हुआ प्रतीत वही होता है तथापि क्योंकि उसका रूप है तो अपरिच्छिन्न ही और वह बिल्कुल भासता नहीं तथा इतरेतराध्यास स्वीकृत होने से जो सदादिरूप भासता है वह भी संसृष्टतया अध्यस्त होने से झूठा ही है इसलिए इसे आत्मा का विनाश समझना चाहिये। यह विनाश भी झूठा है यह बात अलग है। अतः मंत्र का अभिप्राय है कि जान लिया तब तो भूमरूप में प्रतिष्ठारूप सत्यमात्र की स्थिति है और न जाना तो यह व्यवहाररूप आत्मविनाश की ही स्थिति रहेगी। इस विनाश को महान् इस दृष्टि से कहा कि इसी में अविनाश के बीज निहित हैं। बिना इस विनाश के अविनाशरूप मोक्ष संभव नहीं। स्वरूपमात्र मोक्षहेतु है नहीं, व्यवहारविशेषरूप वृत्ति ही उसका हेतु है, जो बोधों के 'प्रति' है वह काफी नहीं, 'बोध' हुए बिना निस्तार नहीं। 'प्रतिचक्षणाय' (बृ.२.५.१९) आदि श्रुति व्यवहार की इसी उपयोगिता को व्यक्त करती है अर्थात् विनाश सच्चे अर्थ में विनाश इसलिए है क्योंकि उसके होने का यही प्रयोजन है कि वह विनष्ट हो, विनाश में ही उसका पर्यवसान है। यही विनाश की महत्ता है कि वह स्वोत्सर्ग करता है। जैसे हर वस्तु अपनी महत्ता व्यक्त करने के लिये अनुकूल परिस्थिति, सामग्री आदि चाहती है, वैसे ही विनाश को भी अपनी महत्ता प्रकट करने के लिए अर्थात् अपने महान् रूप को सम्पन्न करने के लिये बहुत कुछ बटोरना पड़ता है। 'धीराः', 'विचित्य' और 'प्रेत्य' से इसे सूचित कर दिया गया है।

यह स्मरण रखना चाहिये कि औपनिषद विनाश कापिल प्रकृति नहीं है जो खुद कुछ अच्छा या बुरा करे। वेदान्त सारी जिम्मेदारी चेतन की मानता है, जड को वह किसी भी स्थिति के लिये उत्तरदायी नहीं ठहराता। जब तक हम उपाधि से मिलें नहीं, सत्ता-स्फूर्ति से उसे उज्ज्वलित न करें, तब तक सत्-चित् से तादात्म्य-अनापन्न उपाधि न कुछ भला करेगी, न बुरा। जगत्कारण भी अज्ञान नहीं अज्ञात चेतन है। जन्मादिसूत्र तथा प्रायः सारा प्रथमाध्याय यही समझाता है। अतः उपाधिमात्र को हम न बंधक मानते हैं, न मोचक। भगवान् ने भी इसलिए आत्मा को बन्धु और रिपु कहा तथा आत्मा से उद्धार करने के लिये कहा। अज्ञानमात्र बन्धक नहीं है, 'मैं अज्ञ' – यों हम जब उससे जुड़े तब हमने उसे अपना बंधक बनाया। अतः ईश्वर अज्ञान से बद्ध नहीं। इसमें भी संक्षेपशारीरक का पठन बहुत उपकारक होगा। इस स्वातंत्र्य से ही मोक्ष भी संभव है अन्यथा सांख्यानुसार 'प्रकृति मोचक क्यों बनती है?' – यह अनुत्तरित प्रश्न रहता है। स्वभाव हो तो बंधकत्व

अनुपपन्न है। कादाचित्क में आगंतुक अप्राकृत कारण की अपेक्षा माननी अनिवार्य है जो उस मत में असंभव है। वेदान्त में क्योंकि अज्ञान नहीं बाँधता, हम उससे बँधते हैं इसलिये हम उससे छूट भी सकते हैं। प्रश्न होगा कि आत्मा अकर्ता आदि है, वह कैसे तो अज्ञान से जुड़े और कैसे छूटे? इसका उत्तर सुस्पष्ट करना भाष्यकार भगवान् की अनुपम विशेषता है जो अध्यासभाष्यादि में व्यक्त है और प्रायः सभी वेदान्ताचार्यों ने विस्तार से व्यक्त की है। इसलिए विनाश को महान् भी हम बनायेंगे यह 'अवेदीत्' से बताया। यदि नहीं जाना तो भी किसने? हमने। तब बड़ा भारी नुक़सान है। विनाश न केवल इसलिए महान् है कि अविनाशगर्भित है वरन् इसलिए भी कि वह अपने धरातल पर ख़ुद भी अविनाशी है। तात्पर्य है कि पारमार्थिकभूमिका पर वह तुच्छ है, सद्विलक्षण है, अत्यन्ताभावप्रतियोगी है किन्तु उस भूमि पर आरूढ हुए बिना तो वही वह है। सौगतखण्डन में भाष्यकारों ने यही तथ्य प्रकाशित किया कि किसी पारमार्थिक के सहारे के बिना संसार काटा नहीं जा सकता। तार्किकाचार्य भी इसी अभिप्राय से कहते हैं कि परब्रह्म की शरण न ली तब तो जैसा दीख रहा है वैसा ही संसार तथ्य माना जायेगा, तथागतमत को स्थान कहाँ? यदि वह शरणागति हो गयी तब वेदान्तसिद्धान्त को विजयश्री की प्राप्ति है। सिद्धि, परिभाषा आदि में यही बात पारमार्थिकत्वेन आदि तरह से कही है। जैसा विद्यारण्यमुनि बताते हैं, हमें बाध से मतलब है, अप्रतीति से नहीं; अतः संसार अप्रतीत होता है यह क्योंकि हमें कहना नहीं इसलिए भी यह महान् है। वह प्रतीत होता ही है यह भी कह नहीं सकते, सुषुप्ति आदि में ही नहीं होता, लेकिन यह भी प्रतिज्ञा नहीं कि बाधित होने पर अप्रतीत ही है। बाधित होकर भी प्रतीत हो सकता है यही इसकी अविनाशिता है। हर हालत में, बिना तत्त्वसाक्षात्कार के तो यह अपना रूप ऐसा दिखाता है कि हमें दुःखी बनाये रखता है। 'यह दिखाता है' का भी मतलब है 'हम इसे यों देखते हैं'। एवं च महान् विनाश यही है कि हम स्वयं को संसारी समझते रहेंगे। वार्तिकाचार्य ने इसे ही हमारा अनर्थ बताया है।

'चेत्' का प्रयोग उभयत्र किया – 'अवेदीच्चेत्, नावेदीच्चेत्।' क्या वेदन की तरह अवेदन भी दुर्लभ है? श्रुति का अभिप्राय है कि सारी सामग्री रहते न जानना भी आश्चर्य ही है। जैसे स्फीतालोकमध्यवर्ती घट को चक्षुष्मान् न देख पाये तो आश्चर्य ही माना जायेगा वैसे अपरोक्ष आत्मतत्व को श्रुतिचक्षु रहते हम न देखें तो आश्चर्य कैसे नहीं है? दसवाँ ख़ुद के लिये परेशान था— इस कथा से क्या हमें आश्चर्य नहीं होता कि ऐसा आदमी कहाँ होता है? ऐसे ही श्रुति कह रही है कि यह भी एक आश्चर्य है कि 'मैं बता रही हूँ, फिर भी परमात्मदेव बारबार कहे जा रहा है 'मैं ख़ुद को नहीं जानता', आनन्दघन रो रहा है 'मैं बड़ा दुःखी हूँ', नित्य सत्य को भय है 'मैं मर जाऊँगा, बचूँगा नहीं',यह सब बड़े अचम्भे की ही बात है!' महामाहेश्वर भट्ट जगद्धर ने भी आर्तनाद किया है 'धिग्धिङ्मां सति शास्त्रचक्षुषि सति प्रज्ञाप्रदीपे सति स्निग्धे स्वामिनि मार्गदर्शिनि शठः श्वभ्रे पतत्येव यः।' बात एक ही है। यद्यपि सहकारी बहुतेरे अपेक्षित बता दिये जाते हैं तथापि विचार करें तो वह भी एक विडम्बना है। हम—जो निरपेक्ष चिद्रूप हैं—कहें कि हमें ख़ुद के अवगम के लिए सहकारी चाहिये तो क्या यह विश्वसनीय बात हो सकती है? सूर्य को क्या कोई भी सहायक चाहिये? अतः 'चेत्' से यहाँ यह भी अजीब हालत द्योतित है। यक्षानुरूप बालि होती है यह प्रसिद्धि है, अतः चाहे जितनी अयौक्तिक लगे, है तो हमें ज़रूरत ज़रूर, हमें सहारा तो चाहिये ही। जैसे मनोरोगी के बहम हटाने के लिए वैद्य भी कुछ न कुछ कहानी गढ़ कर उसे क्रम से ले चलते हैं ऐसे श्रुति आत्मदेव का उपचार करने के लिये बहुतेरी साधन सामग्री की फ़हरिस्त बता देती है। उन सहायकों को बटोरने में वह लग जाता है तो धीरे-धीरे उसका बहम भी निकल जाता है। लगता है – 'व्यर्थ ही इतने चक्कर में पड़ा! मैं तो हमेशा यही था! कोई बंधन था कहाँ कि मैं उससे छूटता!'

'भूतेषु-भूतेषु' में भूत से सिर्फ़ प्राणी ही समझें यह बंधन नहीं। जो भी 'होता' है वह भूत है, उसमें 'है' समझना है। 'है' को 'होना' जानना ग़ैर-समझी है, 'होने' को 'है' जानना सही जानकारी है: रस्सी को साँप देखा तो ग़लत ज्ञान है, साँप को रस्सी जान लिया तो सही ज्ञान है। जैसे पहले प्रतिबोध में वीप्सा थी वैसे यहाँ भी है। यद्यपि 'भूतेषु' इस बहूक्ति से ही समस्त भूत ग्रहण हो जाते हैं तथापि वेद ने दो बार प्रयोग क्यों किया? वेद बताना चाहता है कि हर 'होने'

में होता हुआ जो 'है' है वही सचमुच 'होने' वाला नहीं है—यह समझना है। 'है' वस्तुतः न होता है, न नहीं होता अत एव कभी होने वाला हो जाता है तो कभी न होने वाला, जैसे स्फटिक कभी लाल हो जाता है, कभी नीला। विदित-अविदित से अधि परमात्मा होने-न होने से भी तो अधि है, सन्मात्र है। इस अनुगतिमूलक जो अननुगत का अवगम है, जो बोध उसे न अनुवृत्त समझता है न व्यावृत्त ही मानता है, वह यहाँ विवक्षित है। अथवा एक 'भूतेषु' से होने वाले को कहा है, दूसरे से उनके होने को अर्थात एकत्र कर्त्ता में निष्ठा है, अन्यत्र भाव में। इस प्रकार न केवल जड (दृश्य) वरन् जडसंवलित चित् (द्रष्टा) से भी उसे 'अधि' समझने को कहा गया है। चाहे संसर्गतः ही सही, है तो वह भी अध्यस्त ही। एवं च बोध और जो उन्हे 'बोध' बना रहा है दोनों से अतीत का ज्ञान विवक्षित है। जैसे प्रत्यक् में वैसे पराक् में, क्योंकि केनप्रक्रिया में पराक् जो कुछ उपलब्ध है वह ईश्वरदेह है और उसमें जो जानने वाला है वह तत्पदार्थ है। इन दोनों से अतीत जो है वही तत्पद का लक्ष्य है। इस प्रकार पदार्थद्वयशोधन को 'भूतेषु भूतेषु विचित्य' से समझ लेना चाहिये। अशुद्धांश से व्यावृत्ति ही इस लोक से प्र-याण है, शुद्ध रूप में स्थित रहना, अशुद्ध में आत्मता-निश्चय न रहना, यही 'प्रेत्यास्माल्लोकात्' है। इस अवस्था में ही अखण्डबोध संभव है।

अमृत 'होना' अखण्डवृत्ति का नाम है। जब तक लक्षणादि का आयास अपेक्षित है तब तक वस्तुतः महावाक्यबोध ज्ञानात्मक की बजाये उपासनात्मक है। भाष्यकार ने माना है कि 'कोशिश करके होना' यह उपासनावृत्ति की विशेषता है, ज्ञानवृत्ति प्रमाण-प्रमेय पर ही निर्भर है, किसी कोशिश पर नहीं। अतः जब पद से वही पदार्थ उपस्थित हो जो वाक्यार्थान्वयी है और इस उपस्थिति में कोशिश न करनी पड़े, तभी वास्तव में वाक्यार्थ का ज्ञान कहा जा सकता है। वस्तुतः, लक्षणा के बिना शक्ति से ज्ञान मानने वाले वेदान्ताचार्यों की भी यही दृष्टि समझनी चाहिये। सरस्वती स्वामी ने भी इसी अभिप्राय से शक्यैकदेश-उपस्थापकत्व को लक्षणा से कहकर यह स्पष्ट किया है। सर्वज्ञगुरु ने जिस ढंग से सत्यादि पदों की शक्ति निर्धारित की है उससे यही मत पुष्ट होता है। जैसे वैयाकरण अप्रसिद्ध शक्ति मानते हैं या अन्यों ने निरूढ लक्षणा को शक्तितुल्य कहा है वैसे ही शोधितपदार्थ विवेकी अधिकारी को महावाक्यीय पद झटिति, अर्थात् लक्षणापरिश्रम के व्यवधान के बिना, जब लक्ष्य उपस्थित करायें तभी उसे वाक्यार्थ का ज्ञान हो सकता है, उससे पूर्व वह विचारादि से जो समझेगा वह उपासनातुल्य ही रहेगा। अतएव अवान्तरवाक्यों के विचारादि से एवं एकाग्रता से-'समाधान' से-जब तक लक्ष्य के संस्कार पटुतम न हों तब तक महावाक्यार्थ का ज्ञान संभव नहीं। साहस्री में आचार्य इसीलिए इस पर बहुत ज़ोर देते हैं कि पदार्थबोध में अत्यधिक परिश्रम करना चाहिये। वस्तुतः प्रस्थानत्रयी साहित्य अतएव पदार्थनिरूपणबहुल है; महावाक्य तो तत्र-तत्र ही मिलेंगे, प्रायः पदार्थों का ही विस्तार मिलता है। गीता में यह बहुत स्फुट है। शारीरकमीमांसा में तो यह और भी अधिक व्यक्त है क्योंकि मुखतः कोई भी अधिकरण महावाक्यार्थप्रतिपादन करता प्रतीत नहीं होता, अर्थतः तो प्रत्यध्याय बहुतेरे अधिकरण यहं बात बताते हैं। इसका यही मतलब है कि सबसे कठिन और महत्वपूर्ण है पदार्थद्वयशोधन, उसी का प्रयास करना पहले ज़रूरी है। यद्यपि उसे पर्याप्त नहीं कह सकते क्योंकि कहीं भी वाक्यार्थबोध के बिना पदार्थमात्रबोध पर्याप्त नहीं माना जाता और वस्तुतः वाक्य में अघटित पद को बोधक मानना भी संगत नहीं होता, कारण कि स्मारक से अतिरिक्त वह हो न पाने से नवीन ज्ञान न देता हुआ प्रमा का अनधिगतांश पूरा नहीं कर पाता। अतएव सांख्यादि की अपूर्णता शास्त्रप्रसिद्ध है। किं च वे तत्पदार्थ से अनभिज्ञ बने रहते हैं। केनप्रक्रिया में तो तत्पदार्थ भी कोई दूर की चीज़ है नहीं कि छोड़ी जा सके। प्रक्रियान्तर में भी शास्त्रप्राप्त तत्पदार्थ है ही अतः उसे सही न समझ पाना एक बड़ी कमी है ही। लौकिक भी प्रायशः तो ईश्वरवादी ही मिलते हैं; चाहे ईश्वर की संकल्पना सब की जितनी भी अलग-अलग हो पर सभी उसे चेतन तो मानते ही हैं। अवैदिक ईसाई-मुसलमान आदि भी ईश्वर स्वीकारते हैं, उसे चेतन, कल्याणगुणोपित, सर्वज्ञादि, न्यायकारी, कृपालु, पापविरोधी, जगत्कारण आदि ही बताते हैं। सांख्य, मीमांसक, बौद्ध आदि आस्तिक-नास्तिक अनीश्वरवादी सैद्धान्तिक रूप से भले ही मौजूद हों पर जनमानस में उनका मत अनादृत ही मिलता है। बुद्धादि ही सामान्य बौद्ध धार्मिक की दृष्टि में ईश्वरस्थानीय हो जाते हैं। मीमांसासंप्रदाय में तो खण्डदेवादि की मुखतः ऐसी उक्तियाँ हैं जो

मीमांसक सिद्धान्त के खोखलेपन को व्यक्त करती हैं। वर्तमान साम्यवादी-प्रचार के बावजूद मौका मिलने पर ईश्वरपरायणता का अप्रत्याशित दर्शन इसमें प्रमाण है कि ईश्वरप्रेम कम-से-कम मनुष्य में स्वाभाविक है। परमपुरुषार्थलाभ की प्रक्रिया में उस महादेव को स्थान न देना सांख्यों के सहोदर पातंजलों को ही सहन न हुआ तो और किसे रुचेगा? प्रायः तो ईश्वरदर्शन या अन्य किसी भी तरह का ईशसम्बंध चाहकर ही मनुष्य मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होता है। अनन्तरकालिक दार्शनिक स्पष्टता होने पर ही वह 'अध्यात्म' की ओर उन्मुख होता है। अतएव सभी अध्यात्मपथिक अन्त तक ईश्वर को भुला नहीं सकते। यदि उन्हें अपने स्वीकृत दर्शन में वह नहीं मिलता तो भी उसका प्रवेश कराने को आतुर रहते हैं यह नव्य मीमांसकों की तरह नव्य सांख्यों में भी देखा जा सकता हैं। बौद्धों ने भी 'सत्यं च परमार्थतः' कहकर तथा शून्य को शिवादि विशेषण देकर यह कमी रहने नहीं दी है यद्यपि अपनी तार्किकता के अभिमान के पोषण में वे स्पष्टतः ईश्वरप्रवेश से बचते ही हैं। एवं च पदार्थद्वय का सही ज्ञान अत्यावश्यक है।

त्वमर्थ अपरोक्ष होने से उसका विवेकज स्पष्ट बोध भी अपरोक्ष निश्चय होता है। तात्पर्य है कि 'मैं' से हम जो बोधों के 'प्रति' है उसे ही समझें, तदन्य को - अहङ्कारादि को - 'मैं' न समझें, जैसे अभी 'मैं' से देवदत्त, स्थूल, विद्वान् आदि ही उपस्थित होता है वैसे 'मैं' से हमें अपनी केवल साक्षिता अनुभूत हो, हमें यह अनुभव न हो - न लगे - कि हम प्रमाता हैं, कर्ता-भोक्ता हैं, तब त्वमर्थ का शोधन हुआ यह कहा जा सकता है। जैसे नाटक के राम से 'राम' ऐसा सारा व्यवहार करते हुए जानते हैं कि वह राम नहीं है, ऐसे शरीर-मन आदि वाले रूप को 'मैं' कहते-समझते हुए भी यह बोध जाग्रत् रहे कि वह रूप मैं नहीं हूँ, तभी शुद्ध त्वमर्थ जाना यह समझना चाहिये। इसके बाद ही महावाक्य समझ आये यह संभव है। ईश्वर परोक्ष है अतः उसका शोधित रूप भी अपरोक्ष नहीं भासेगा। परोक्ष का यहाँ इतना ही मतलब है कि जैसे देवदत्त जब यज्ञदत्त से व्यवहार करता है तो दोनों को एक दूसरे के देह दीखने पर भी दोनों (जीवित व्यक्ति) परस्पर परोक्ष ही बने रहते हैं, ऐसे ही परमेश्वर हमारे लिये परोक्ष है। वेदांत में - और केन में खासकर - ईश्वर कोई आसमानी 'व्यक्ति' नहीं है; ईश्वर वह है जिसमें हम समेत यह सभी कुछ ओत-प्रोत है। यदि कपड़े के लिये धागा दूर हो सके, यदि दही-घी-मक्खन-मलाई के लिये दूध दूर हो सके, यदि घटाकाश, करकाकाश, स्थाल्याकाश के लिये आकाश दूर हो सके, यदि साँप-जलधारा-माला के लिये रस्सी दूर हो सके, यदि शकुन्तला के लिये नटी दूर हो सके, यदि सपना देखते देवदत्त के लिये देवदत्त दूर हो सके, तभी इस जड-चेतन संसार से शिव दूर रह सकेगा। 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्' का सरलार्थ इतना ही है। ईश्वर का परोक्ष ज्ञान कहने का यही मतलब है कि उसे हम 'मैं' नहीं समझ सकते, 'यह' 'वह' 'तू' ही समझ सकते हैं। अतः जीवित पुत्र के लिये स्तन्य पिलाती हुई माता जितनी परोक्ष है, शिष्य के लिये उपदेश देता गुरु जितना परोक्ष है, हाथ पकड़ कर चलना सिखाते हुए पिता पुत्र से जितना परोक्ष है, क्रीडा करते हुए साथी परस्पर जितने परोक्ष हैं, हमें होती सिरदर्द हमारे लिये जितनी परोक्ष है (क्योंकि वह भी 'मैं दर्द' ऐसे न भासकर 'मुझे' यों 'मैं' से अलग भासती है) हमारे सुख-दुःख हमें जितने परोक्ष हैं, बस उतना ही परोक्ष ईश्वर है। अतः शुद्ध ईश्वर भी सिर्फ इतना ही अप्रत्यक्ष है, ग़ैर-अपरोक्ष है। पहले भी यह प्रसंग आ चुका है कि ईश्वर साक्षात्कार अखण्डसाक्षात्कार की पूर्वपीठिका है; बिना ईश्वर-दर्शन के अखण्डबोध असंभव है। अतएव आचार्यादि ने उपासना या भक्ति की अवश्यकर्तव्यता का विधान किया है। यह अवश्य है कि मोक्षौपयिक भक्ति या ईश्वरदर्शन वैष्णवादि प्रसिद्धियों से हर तरह विलक्षण है, बल्कि लोकप्रसिद्धि से भी पूरी तरह अलग है, किन्तु निरवधि प्रेम-घटित अत्यंत निकटता को यदि भक्ति समझें तो इसे अप्रसिद्ध कहना ग़लत है। 'कठचिन्तन' के द्वितीयवर का प्रसंग इस विषय पर भरपूर प्रकाश डालता है। गीताभाष्य, गूढार्थदीपिका आदि में तो ये बातें स्फुट हैं ही, वेदान्त 'शास्त्र' के एक 'अंश' के एक 'निर्माता' अप्पय दीक्षित की घोषणा भी है 'तथाप्यनुग्रहादेव तरुणेन्दुशिखामणेः'- ईशानुग्रह से ही अद्वैतनिष्ठा संभव है, इसमें हेत्वन्तर नहीं है। सामान्यतः वेदान्तग्रंथों में यह बात पुनः पुनः इसीलिए नहीं कही जाती कि हम निठल्ले न पड़े रहें, शरणागति के भ्रम में हम तामस संसारोन्मुखी न रह जायें। वस्तुतः तो सारे साधनों से होना इतना ही है कि हम केवल शिवशरण रह

जायेंगे। मोक्ष में अव्यतिरेकी अकेला पर्याप्त कारण वे ही हैं इसमें संदेह नहीं। 'सूर्यकान्तोपारूढन्याय' से भगवान् सुरेश्वर ने वेदान्त का यही मर्म प्रकाशित किया है।

तत्-त्वम् पदार्थों के विवक्षित स्वरूपों की सुस्पष्ट निःशंक जानकारी वाला श्रद्धालु अधिकारी करुणामूर्ति श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के मुख से जैसे ही महावाक्याख्य महामन्त्र सुनता है वैसे ही उसे जो अखण्डबोध होता है उसी का नाम है 'अमृत-भवन' - 'अमृता भवन्ति'। यह भवन - 'होना' - पकता भी है पर फल के पकने की तरह इसे काल की कोई ज़रूरत नहीं, यहाँ पाकोपयोगी तेज है निष्ठारूप : निष्ठा के अनुपात से भवन परिपक्व होता है। निष्ठावृद्धि किसे कहेंगे? निष्ठा की पूर्णता क्या होगी? इन प्रश्नों का बाह्यवस्तुओं के दृष्टान्तों से या उनकी बढोतरी आदि के मापदण्डों से कोई उत्तर नहीं। सुख-दुःख का बढ़ना जैसे नापा जाता है - और यहाँ सुखादि से तज्जनक पदार्थादि नहीं कहे जा रहे, उनसे होने वाला सुख-पदार्थ कहा जा रहा है - वैसे निष्ठावृद्धि भी। प्रेम की पूर्णता, उसका गांभीर्य जैसे भासता है वैसे ही निष्ठा की पूर्णता।

यहाँ एक तरह से प्रकरणसमाप्ति है। अगला खण्ड इस विद्या का शेष या खिल है। ईश्वरविचार में यह बात स्वयं आचार्यादि स्पष्ट करेंगे। अतएव 'उक्ता त उपनिषद्' यह भी संगत होता है। इसलिये जो मन आदि का 'इषिता-प्रेषिता' है, जो श्रोत्रादि का श्रोत्रादि है, जो चक्षुरादि का विषय नहीं, विदित-अविदित से अन्य है, पारंपरिक तत्त्ववेत्ताओं के उपदेश के सहारे जिसे किसी तरह समझा जा सकने पर भी जो वाणी द्वारा कहा गया नहीं होता क्योंकि वाणी आदि ही उसके द्वारा बोलने आदि वाली बनती हैं, जिसे यदि घटादि की तरह समझें या समष्टि-व्यष्टि में बँटा समझें तो वह नासमझी ही होती है, बिना 'मीमांसा' के उसके संबंध में सम्यक् जानकारी असंभव है, जिसे 'अच्छी तरह समझा हुआ' और 'न समझा हुआ' दोनों नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह यद्यपि समझा हुआ नहीं होता तथापि न समझा हुआ हो नहीं सकता अर्थात् उसके बारे में अज्ञान या संशयादि का सर्वथा न रहना होने पर भी किसी समझ की सीमा में वह बँधता नहीं, जो उसे समझने जाता है उससे वह परमात्मा दूर ही भागता है पर जो उसे समझने जाता कहीं नहीं किंतु सही मायने में उसे समझ लेता है वह उसे विदित के क्षेत्र से बाहर ही रखता है, अनुभवी तो उसे अनुभवरूप होने से अनुभव के अयोग्य अनुभव करते हैं जबकि जिनके अनुभव में कुछ-न-कुछ कमी है वे उसका अनुभव करते हैं - इस तरह वही सबके अनुभव में भासता है, चाहे अधूरा और चाहे पूरा- जो सभी 'बोधों' के 'प्रति' है, वेदादिद्वारा 'मत' या तात्पर्यतः प्रतिपादित है, प्रकाशमान हुआ जो अमरता का अकेला हेतु-फल दोनों है, जो प्रत्यग्रूप से ही मिलता है, जिसका सच्चा बोध सबसे ज्यादा बलवान् है, जिसे यहीं - देश-काल-वस्तु के किसी व्यवधान से निरपेक्ष - जानना वास्तव में सत्य है, जिसे न जान पाना ही विनाश है, जो हर 'भूत' में है, जिसका आलोक है नाम-रूप का चाकचिक्य और इससे जो चकाचौंध हुए बिना विवेकशीलता से - शास्त्रविवेचनतत्परता से - बुद्धिमान् बन जाता है वह अमृत हो जाता है, वही देवाधिदेव महादेव इस केनोपनिषत् का प्रतिपाद्य तत्त्व है। इसे आगे स्वयं भगवती उमा बतायेंगी। क्योंकि वह स्वभाव से क्रीडनशील है इसलिये वह यक्ष - विचित्राकार - बन कर इंद्रादि सबको अचंभे में डालता है और उससे अभिभूत हो जब अहंकार विनष्ट होता है तभी इंद्रादि भी श्रेष्ठता पाते हैं। इसी श्रेष्ठता का लाभ हो - यही करुणा उसे मन आदि का 'इषिता-प्रेषिता' बनाकर 'यक्ष' रूप से दिखाती है: वह न केवल देखने को मजबूर करता है वरन् स्वयं को ही विचित्राकार में दिखाता भी है। अतएव इंद्रियादि को वह जो भेजता है वह भेजना प्रकृष्ट है। सामान्यतः भेजने वाले से दूर ही कुछ भेजा जा सकता है पर यहाँ तो भेजने वाला और जिसकी ओर भेज रहा है वह सर्वथा एक है। इतना ही नहीं, 'मैं भेजा जा रहा हूँ' ऐसा समझने वाला भी उससे अन्य कुछ भी नहीं है, बोधों में बोधृता भी वही है। जब तक यह समस्त-एकता के लिये कुछ भी कोशिश है तब तक उपासना या भक्ति है, जब बिना किसी यत्न के यही है तब ज्ञान है और जब समस्त-एकता या असमस्त-अनेकता दोनों से विलक्षण, जब-तबसे रहित सिर्फ 'है' - 'अस्ति' का तिङ् पूरा छूटकर 'अस्' का भी लक्ष्य - सिर्फ 'जानकारी' - 'ज्ञा' का लक्ष्य - सिर्फ 'आनन्द' - 'प्रीङ् प्रीतौ' धात्वर्थ का लक्ष्य - यही मोक्ष है।

ज्ञाने फलम्

इह चेदवेदीद् *इत्यवश्यकर्तव्यतोक्तिः, विपर्यये विनाशश्रुतेः। इह मनुष्यजन्मनि सति अवश्यमात्मा वेदितव्य इत्येतद् विधीयते।* इह एव चेद् मनुष्योऽधिकृतः समर्थः सन् यदि अवेदीद् आत्मानं यथोक्तलक्षणं विदितवान् यथोक्तेन प्रकारेण, अथ तदा अस्ति सत्यं मनुष्यजन्मन्यस्मिन्नविनाशः, अर्थवत्ता वा सद्भावो वा। परमार्थता वा सत्यं विद्यते। *कथम् ? इह चेदवेदीद् विदितवान् अथ सत्यं परमार्थतत्त्वम् अस्ति अवाप्तं, तस्य जन्म सफलमित्यभिप्रायः।*

ज्ञान होने पर फल

'इह चेदवेदीत्' आदि से श्रुति सब अधिकारियों को एक आवश्यक कर्तव्य बता रही है क्योंकि वह कह रही है कि अगर यह कार्य नहीं किया तो विनाश निश्चित है। वेद यह विधि कर रहा है कि मनुष्य जन्म हो गया तो ज़रूर आत्मा अपरोक्षानुभूति रूप से प्रकाशमान रहे इसके लिये हर संभव यत्न करना चाहिये। यह भाष्यपंक्ति बहुत विलक्षण है। एक तो इसमें ज्ञान को नित्यकर्मतुल्य मान लिया है, दूसरी बात उसे 'कर्तव्य' कह दिया है, तीसरी बात 'मनुष्य'-जन्म मात्र को ही पर्याप्त निमित्त माना गया है और चौथी बात ज्ञान के लिये विधि स्वीकार ली है। इनमें प्रत्येक स्थापना अत्यंत गंभीर है और प्रस्थानत्रयी भाष्य के प्रकाश में ही हरेक को समझना ज़रूरी है अन्यथा ग़लत-फहमी संभव है, लेकिन इतना ज़रूर है कि यहाँ भाष्यकार सरलतम शब्दों में अपने अनुयायियों को बता रहे हैं कि उनकी दृष्टि में हमारे लिये करने लायक काम क्या है।

नित्यतुल्यता के संबंध में यह समझना चाहिये कि स्मृतियों में भी 'आत्मापहरण' को सर्वपापात्मक कहा होने से और 'नहीं सुनेगा तो विनष्ट होगा' ऐसा भगवान् द्वारा कहा होने से तथा सभी आरंभों को दोषावृत बताया होने से ज्ञान से अन्य कुछ पवित्र नहीं है यही शास्त्रसंमत है। ज्ञान को कर्तव्य तो बादरायण महर्षि ने ही माना है क्योंकि जिज्ञासासूत्र में 'कर्तव्या' का अध्याहार शिष्टसंमत है। जो वहाँ विचार है वह सब यहाँ समझ लेना चाहिये। अतएव ज्ञान विधेय भी है। सर्वत्र ज्ञानविधि ज्ञानानुकूल यत्न के विधान में पर्यवसित होती है। और 'मनुष्या मन्यन्ते' (बृ.१.४.९) तो श्रुति ने ही कह दिया है। भगवान् ने भी 'अधिकारिणाम्', 'द्विजानाम्' 'विप्राणाम्' 'पुरुषाणाम्' आदि कुछ न कहकर 'मनुष्याणां सहस्रेषु' (७.३) से यही बताया है। इसीलिये पाराशर्य मुनि ने 'मनुष्याधिकारत्वात्' (१.३.२५) सूचित किया है। वय, अवस्था, लिंग, जाति, वर्ण, देश, काल, आर्थिकादि परिस्थितियों से निरपेक्ष होकर मनुष्य मात्र को वेदान्तबोध से अन्यत्र कहीं अधिकार न है, न हो सकता है। परमेश्वर से निरवधि प्रेम, सत्य की निरंकुश इच्छा, स्वातन्त्र्य की निरर्गल उमंग, खुद पर बेहद भरोसा, टुटपुँजिया चीज़ों की निर्मम उपेक्षा – ये जिस भी मनुष्य में हैं उसे विवेकादि साधनों को एकत्र करने से चरमसाक्षात्कार तक सारी वेदान्त-इतिकर्तव्यता में पूर्ण अधिकार है अर्थात् वह यदि इतिकर्तव्यता पूरी करे तो फल में कोई रुकावट नहीं होनी। स्मरण रहे कि यहाँ धर्मक्षेत्र के क्रियाकलापों में अधिकार का जिक्र नहीं है अतः इस ज्ञानाधिकार से मनुष्य को कोई भी अन्य अधिकार नहीं आता। तात्पर्य है कि जैसे ज्ञानाधिकारी को प्रधानमंत्री या मुख्य-न्यायाधीश या सेनाध्यक्ष के अधिकार भी मिल जाते हों ऐसी बात नहीं वैसे ही उसे ब्राह्मणादिनिमित्तक अधिकार भी मिल जायें यह नहीं हो सकता। हर अधिकार के अपने निमित्त हैं। ज्ञानाधिकार के निमित्त की यहाँ चर्चा है, अन्य अधिकारों के निमित्तों की नहीं। अतः पुराण, भाषा-प्रबंध आदि सभी साधनों से क्योंकि तत्त्वज्ञान एक ही होता है इसलिये निमित्तान्तर का अभाव ज्ञानाधिकार को प्रतिबद्ध नहीं करता, अतएव विविदिषु संन्यास भी हर विविदिषु के अधिकार का विषय है; यहाँ भी उसे यतित्वनिमित्तक पूजादि में अधिकार है यह नहीं कह रहे। दृष्टादृष्ट सभी प्राप्त कर्तव्य छोड़कर पूर्ण वैराग्य से देहद्वयनियन्त्रण-सहनशीलता-श्रद्धापूर्वक विवेकाभ्यास करते हुए जीव-ब्रह्म के अभेद के प्रतिपादक वचनों का अनुसंधान, इस तथ्य की सत्यता पर विचार और इसी निश्चय पर टिकना – इन साधनों में अनवरत यत्न करने में तथा अपने जीवन और उक्त यत्न के लिये अनिवार्यतः अपेक्षित भोजन वस्त्र पुस्तक दवा आदि किसी से भी माँग लेना, मिले तो इनका प्रयोग कर लेना

पअन्यथा शांति से सह जाना – यह संन्यास विविदिषा से अन्य किसी भी निमित्त की अपेक्षा नहीं रखता। सभी अधिकारप्रतिरोध के पक्षधर जिन बातों के कारण अधिकार सीमित करना चाहते हैं वे उक्त संन्यास से अन्य ही किसी संन्यास के लिए हैं अतः वेदान्तापेक्षित संन्यास में अधिकार कोई नहीं रोकता। कर्तव्य छोड़ने से दोष बताकर भी विविदिषु उक्त संन्यास से रोका नहीं जा सकता। जब लौकिक महत्त्वाकांक्षी ही संसार के अनेक सुखों से वंचित रहने और अनेक कष्टों से प्रताडित होने को तैयार होकर अपनी यात्रा प्रारंभ करता है तो जो साक्षात् शिवभाव पाने को तत्पर है उसे प्रत्यवाय का भय दिखाकर क्योंकर रोका जा सकेगा? उसे भगवान् पर भरोसा है और वे तो स्पष्ट कहते हैं कि इस धर्म का थोड़ा भी अनुष्ठान महान् भय से बचा लेता है। इहलोक के ही दुःखों की नहीं परलोक के भी दुःखों की तितिक्षा साधक को बटोरनी है। अतः यदि – और यह तुष्यतु-न्याय से कह रहे हैं – कर्तव्यहानपूर्वक शिवैक्यतत्परता निरयद्वारक भी है तो विविदिषु निर्भय है। उपमन्यु ने कहा है 'पशुपतिवचनाद् भवामि सद्यः कृमिरथवा तरुरप्यनेकशाखः' आचार्य दीक्षित ने भी कहा है 'कीटा नागास्तरव इति वा किन्न सन्ति स्थलेषु ......तेष्वेकं वा सृज' (आत्मार्पण. ३७)। अतः प्रत्यवाय का भय जिसे तिलभर भी विचलित कर सकता नहीं वह ब्रह्मसंस्थ होकर अमृतत्व पाता है और वही भाष्यकार का अनुयायी 'मनुष्य' है।

जो मनुष्य विवेकादि से युक्त होने के कारण अधिकारी है और देहद्वयदार्ढ्यादिसम्पन्न होने के कारण समर्थ है वह यदि पूर्वोक्त असाधारण स्वरूपवाले आत्मा को बताये गये ढंगों से यहीं जान लेता है तब उसका होना सच्चा है। 'सच्चा है' मतलब उसने मनुष्यजन्म होने पर अविनाश-स्वरूप पा लिया है। अतः उसका होना सार्थक है – संसार में प्रविष्ट होने का जो अर्थ या प्रयोजन है वह उसने सिद्ध कर लिया है। 'होने' की अच्छाई भी, सुन्दरता-पवित्रता यही है कि परमात्मा पर अज्ञान का कलंक भासमान भी न रहे। यह नित्य, अजात, 'होना' ही पारमार्थिक है। तत्त्वनिष्ठ का 'होना' ही वह व्यवहारातीत तथ्य है जो सबकी अर्थना का चरम विषय है।

'यथोक्तेन प्रकारेण' अर्थात् सर्वप्रकार-रहित बोध से। न केवल जानने का ढंग है वरन् जानकारी का भी ढंग है, दोनों विवक्षित हैं। यद्यपि भाष्यकार प्रमाण-प्रमेय पर बेहद भरोसा रखते हैं और इसलिए प्रमा के बारे में निश्चिंत रहते हैं तथापि करुणावश बारंबार वे कुछ ढंगों पर जोर देना भूलते नहीं। कारण यह है कि अध्यात्म मार्ग कोई घण्टापथ या राजमार्ग नहीं है। हर तरफ़ भँवरों वाली, तेज़ बहने वाली, अतिशीतल (अतः निष्करुण) तथा बड़े-बड़े जलचरों से नित्य आन्दोलित लम्बी नदी की पूरी लम्बाई ख़ुद तैर कर पार करना—यह अध्यात्म-साधना है। शास्त्र, गुरु, सतीर्थ्य, ये सभी बड़े सहारे हैं, रक्षक हैं, साँस लेने की जगहे हैं, पर हर बार हाथ-पैर चलाना साक्षात् मौत का सामना करने से कम नहीं है। हमेशा जागरूक रहना अनिवार्य है। न अपने विवेक पर भरोसा कर सकते हैं न वैराग्य पर। दोनों मौके पर धोखा देने को उतावले हैं। नियंत्रण और मिथ्याचार का अंतर कितना सूक्ष्म है यह केवल किसी ईमानदार साधक को केवल अपने भीतरी स्तर पर पता चल सकता है। 'सावधानी हटी दुर्घटना घटी' की चेतावनी सिर्फ़ इसी मार्ग पर सार्थक लगती है। अतएव पुनः पुनः आचार्य ढंग पर बल देते हैं। यह ठीक है कि एक ही ढंग का कोई आग्रह उन्हे नहीं है, पर वे इतना ज़रूर मानते हैं कि न्यूनतम मुश्किल और ख़तरे वाले ढंग को अपनाना सही है। यही वेदांत में 'साम्प्रदायिकता' है।

ज्ञानप्राप्ति से अविनाश है अर्थात् विनाश से अन्य जो परमेश्वर है वही है। मनुष्यजन्म होने पर यह अविनाशरूप होना, यही होने की सच्चाई है। लौकिक दृष्टि से लम्बा जीवन सत्य कहा जाता है, तत्त्वधी होने पर फिर मरना होता नहीं, इसलिए भी ज्ञान के बाद के होने को सच्चा कहा। वेद ने माना है कि संसार में प्रवेश इसीलिए है कि अपने भूम रूप का आविर्भाव हो, अतः ज्ञान से होने वाला होना ही सार्थक भी है। दैव-मानुष वित्त से युक्त को लोक में भी अर्थवान् इसीलिए कहते हैं कि वह उस धन के समुचित विनियोग से शिव बन सकता है। वास्तविक कीर्ति भी ज्ञानी की ही है। अतएव शास्त्र ने माना है कि बाकी लोग तो अपना 'नाम' ख़ुद लिये घूमते हैं, एक तत्त्वज्ञ ही ऐसा है जो अपनी सब 'कलायें' छोड़ देता है और बाकी कलायें 'प्रतिस्थिति' पा जाती हैं, नाम ख़ुद चलता रहता है। वेदान्तदृष्ट्या सौंदर्य भी

यह भूमभाव ही है; इसी के आवरण के तारतम्य का विचार सौन्दर्य-शास्त्र है, आवरण के विनाश का विचार उपनिषत् है। तारतम्य अर्थात् आवरण का झीना होना और सौंदर्य का अधिक होना सम-अनुपाती हैं। परिच्छेद, कमी, सीमितता, भेदभाव—इनका अधिकाधिक होना आवरण की गहनता है जो सौंदर्य घटने के समान अनुपात वाली है। सौंदर्य व्यापक आनन्द की प्रकाशमान सत्ता है। इसे बना नहीं सकते, केवल उघाड़ सकते हैं। परमार्थतः सौंदर्य विषय-आश्रय-भाव से निरपेक्ष है अतः व्यवहारतः उभयत्र है। चाहे इसमें आश्रयसापेक्षता अधिक लगे फिर भी कहा जा सकता है कि इसकी विषयसापेक्षता का कोई कम मूल्य नहीं: आश्रयप्राधान्य विषय में परिवर्तन का प्रेरक है तो विषयप्राधान्य आश्रय-शिक्षण में। तात्पर्य है कि जो सौंदर्य को द्रष्टा में ही निहित कहते हैं वे मानते हैं कि द्रष्टा सुंदर चीज़ों का चुनाव करता है लेकिन यह भी कहा ही जा सकता है कि सुंदर चीज़ें उन्हे पहचानने वाले की—सहृदय, क़द्रदाँ की—तलाश करती हैं। एकत्र पक्षपात में हेतु नहीं। अतः वेदान्त की दृष्टि से द्रष्टा और दृश्य दोनों ही उस सौंदर्य को परिच्छिन्न किये हैं और इन दोनों का मिलन उस परिच्छेद को हटाये यही सौंदर्याभिव्यक्ति है। जैसे घटत्वेन गृह्यमाण मृत् का मृत्त्व नहीं भासता ऐसे ही हर अनुभूति में सौंदर्य अनावृत नहीं होता। पर है हर अनुभूति में यह संभावना कि सौंदर्य का प्रकाश हो क्योंकि सौंदर्य नित्य व्यापक प्रकाशमान सत् है। दृश्य व द्रष्टा में यह योग्यता लानी पड़ेगी कि उसके आवरण को उनका संपर्क हटाये। कला दृश्य में और शिक्षा द्रष्टा में यह योग्यता लाने की प्रक्रिया है। कलाकार और शिक्षक की श्रेष्ठता का यही मापदण्ड भी है कि वे अपने-अपने 'विषयों' को कितना योग्य बना पाते हैं। पूर्ण सहृदय का हर अनुभव सौंदर्य का अनावरक है। पूर्ण कलाकार की हर चेष्टा का फल भी सौंदर्य का अनावरक है। जो सिर्फ एक-आध क्षेत्र में कलाकार है — केवल संगीतज्ञ, केवल चित्रकार आदि है, या सिर्फ किसी विषय में शिक्षित है — केवल भौतिकी जानता है या केवल भाषा जानता है आदि, वह कलाकार और शिक्षित है ज़रूर पर बहुत ही सीमित दृष्टि से। हर कोशिश होनी चाहिये कि हम जो कुछ करें — सामान्य जीवनयोनि प्रयत्न से साम्राज्यचालन पर्यन्त — और जो कुछ समझें — प्रातः करदर्शन से ऋणानु की गति पर्यन्त — वह सब सौंदर्य के अनावरण के पुण्यकर्म में सहयोगी हों। इसका मतलब यह नहीं कि प्रत्येक जीव को नारदजी जैसा संगीतज्ञ या नल जैसा पाकवेत्ता या भोज जैसा पारखी बनना पड़ेगा; इसका मतलब यह है कि हर मनुष्य को व्यापक सौंदर्य के प्रति जागरूक रहना पड़ेगा और हर क्षण इस स्मृति को बनाये रखना होगा कि उसे सौंदर्य उघाड़ना है। लंगड़े को देखकर अपनी टाँग की खुशी तो सबको होती है, शिक्षित को अपनी टाँग की अनुभूति अनवरत खुशी है। वेदांती कलाकार सिर्फ चित्रपट पर कूची फेरते हुए सौंदर्य निर्माता नहीं वरन् शौचालय में झाडू लगाते हुए भी सौंदर्य का ही निर्माता है। कोशिश से यह करे तब तक सौंदर्य का उपासक है और बिना कोशिश ही उससे जो हो वह ऐसा ही हो तब सौंदर्य में उन्मुक्त है। इस सुन्दर जीवन को भाष्यकार ने 'सद्भाव' शब्द से व्यक्त किया है।

'सद्भाव' में पवित्रता की ध्वनि भी है। क्योंकि अखण्ड सौन्दर्यमूर्ति शिव ही हैं इसलिये सौन्दर्य व पवित्रता का सम्बंध वेदान्त में इष्ट है। वस्तुतः अपवित्रता का मूल परिच्छिन्नता ही है। लोक में भी थोड़ा पानी खराब हो जाता है पर बड़े सरोवर आदि में प्रायः पानी सड़ता नहीं। अतिसीमित परिच्छेद में बँधने पर ही ऐसे कार्य संभव हैं जो अपवित्र हुआ करते हैं। अज्ञान और कामना ही अपवित्रता का मूल है। जिस कार्य में अज्ञान व कामना जितने अधिक हेतु हों वह उतना अधिक अपवित्र होता है। सौन्दर्य व्यापक है अतः पवित्र है यह उचित ही है। उसकी अभिव्यक्ति होगी तो आवरण की कमी से या आवरण हटने से, लेकिन उसे हटाने की प्रक्रिया में जो अपवित्रता होगी उसका आरोप सौंदर्य पर भी हो जायेगा। जैसे सुखमात्र तो एकरूप है पर शराब पीने से होने वाले में अपवित्रता प्रतीत होती है चन्द्रदर्शन से होने वालों में नहीं, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये। अतः सौन्दर्य के प्राकट्य के साधन — द्रष्टा व दृश्य दोनों ही — यदि अपवित्र हैं तो सौंदर्य प्रकट भले ही हो, अपवित्र ही माना जायेगा। मिट्टी का बना होना समान होने पर भी मलभाण्ड और गांगभाण्ड में अन्तर सर्वानुभवसिद्ध है, इसी तरह सुन्दर-रूप से समान होने पर भी भेद उपपन्न है। अज्ञान व कामना, संक्षेप में कहें तो परिच्छिन्नता, जिसका मूल है वह न केवल सौंदर्यप्रकाश भी सीमित ही कर पायेगा वरन् उस प्रकाश में अपवित्रता की

गंध भी ले आयेगा। वैयक्तिक रुचिभेद, दैशिक-कालिक-पारिस्थितिक परिवर्तन, वस्तुगत योग्यता आदि सब को समुचित स्थान इस सौन्दर्यविचार में है किन्तु आधार वही है कि सीमितता की अधिकता अपवित्रता का आपादन करती है। यद्यपि अभिव्यक्त होने वाली वस्तु की निःसीमता ही सौंदर्य का आधार है अतः वास्तव में अपवित्र से सौंदर्याभिव्यक्ति संभव हो नहीं सकती तथापि जैसे महल में प्रवेश के लिये सदर दरवाजा और पैखाने का दरवाजा दोनों रास्ते हैं यह मना नहीं कर सकते, एक ही बात कहने के शिष्ट और अशिष्ट दोनों तरीके हैं, ऐसे ही पवित्र व अपवित्र उपायों से सौन्दर्य को अभिव्यक्त किया जा सकता है। इतना अवश्य है कि जैसे वस्त्र में छोटा छिद्र होगा तो बाहरी रोशनी कम आयेगी पर आयेगी ज़रूर या काँच पर गन्दगी होगी तो उस पार दीखेगा तो सही लेकिन कुछ धुँधला, इसी तरह अपवित्र उपाय सौंदर्य को प्रकाश में लायेगा भी तो या बहुत कम, या धुँधला। साहित्य, संगीत, कला, शिल्प, पाक, सूचीकार्य आदि जितने उपाय हैं — प्रसिद्ध तो कलायें चौसठ हैं — सभी में अपवित्रता या अश्लीलता आदि 'दोष' का यही मापदण्ड है। मूल और फल में जितनी ज्यादा अज्ञान-कामना की अधिकता है वह उतना ज्यादा अश्लील है। सौंदर्यानुभूति में प्रशान्ति है, उत्तेजना या उन्माद नहीं। अतः सौन्दर्य उकता नहीं पाता जबकि जो उपाय उत्तेजक, उन्मादक अश्लील आदि होते हैं वे काफी शीघ्र उद्वेजना भी देने लगते हैं। विदेशी कवियों ने भी माना है कि 'सुन्दर वस्तु हमेशा के लिये सुख है' ('A thing of beauty is a joy for ever')। 'हमेशा-सुख' कभी भी अपवित्र तरीके से होने वाली सुन्दरता में नहीं रहता। और यदि कदाचित् रहता है तो उसकी अपवित्रता के बारे में पुनर्विचार अनिवार्य हो जाता है। वेदान्त द्वैतक्षेत्र में निर्वचनवादी नहीं है कि परिभाषा के बंधन से अनुभूति को नकारे या जैसी संस्कृत में कहावत है कि अनुप्रास के अनुरोध से भूप को कूप में डाल दे! सौंदर्य अद्वैत है, तथ्य है। उसका स्वरूप कूटस्थ है, न कि अनिवर्चनीय। उसके उद्घाटन की प्रक्रिया द्वैत है, मिथ्या है। उसका स्वरूप परिवर्तन है, अनिर्वचनीय है। हम अद्वैत के आयामों में द्वैत को नापते हैं, विपरीत नहीं। अतः पहले जैसे दिशानिरूपित नैतिकता का प्रसंग आया था वैसे ही यहाँ भी दिशानिरूपित सौन्दर्याभिव्यंजन समझना चाहिये। अद्वैत सुन्दर की ओर बढ़ता अभिव्यंजन विकासोन्मुख है, उससे दूर होता हुआ पिछड़ता जाता है। अन्य सभी मापदण्ड — चाहे वे धार्मिक भी क्यों न हों — बदल जाते हैं क्योंकि अन्य सब बदलने वाला ही है। एक शिव ही अपरिवर्तन है अतः उसी से मापना स्थायी हो सकता है। अतएव रससिद्धान्त में हमारे आचार्यों ने भक्तिरस को ही अमृत माना है। अन्य रसों की रसता इसी सापेक्षता से नापी जा सकती है। साहित्यिकों ने करुण की जो प्रधानता दी है वह भी इस पवित्रता की दृष्टि से ही क्योंकि करुणा की पवित्रता आबालवृद्ध सर्वत्र संमत है। किंतु करुणा में कहीं न कहीं दुःख का संबंध है जो सौन्दर्य के निखार में बाधक होता है। अतः प्राधान्य भक्ति का है जिसमें आनन्दमय प्रेम से अन्य कुछ न होने से सौन्दर्य की परिपूर्णता निःसंदिग्ध है। आचार्यों के भक्तिवाद में समष्टि को महत्त्वपूर्ण स्थान है अतः यहाँ 'व्यक्तिवाद' का प्रवेश इस दृष्टि से नहीं हो सकता कि सौन्दर्य प्रतिव्यक्ति सीमित हो जाये, यहाँ तो समष्टि के परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति सौन्दर्ययुक्त होता है एवं व्यक्ति के सौन्दर्य से ही समष्टि में सौन्दर्य होता है। वेदान्तों में मधुविद्या प्रसिद्ध है। तदनुसार समस्त दृश्य-द्रष्टा प्रपंच परस्पर माधुर्य से उपेत है। अन्य सबसे वियुक्त हुआ कुछ सुन्दर (=सौन्दर्याभिव्यंजक) हो सकता है यह संभव ही नहीं। वेदान्त में सुन्दर की अभिव्यक्ति अकेला दृश्य या अकेला द्रष्टा तो कर ही नहीं सकता। आवरण हटाने के लिये इनकी केलि अपेक्षित है, उपाधियों का एकत्र होना ज़रूरी है। अतएव सौन्दर्यमीमांसा जितना व्यक्ति का — दृश्यव्यक्ति व द्रष्टाव्यक्ति दोनों का — विचार करेगी उतना ही समष्टि का। वस्तुतः पंचीकरण आदि में आचार्यों ने जो व्यष्टि-समष्टि के अभेद का प्रतिपादन किया है वह वेदान्त की एक आधारभूत दृष्टि है जो उसके सौन्दर्यशास्त्र में भी उपस्थित रहती है। यही कारण है चाहे तर्क का सौन्दर्य हो, भाषा का सौन्दर्य हो, अलंकारों का सौन्दर्य हो, शास्त्र के अर्थाविष्कार का सौन्दर्य हो, पूर्वोत्तर पक्षों के उपस्थापन का सौन्दर्य हो, मांगलिकता का सौन्दर्य हो — हर तरह की पूर्ण सुन्दरता भगवान् भाष्यकार की कृतियों में देदीप्यमान है। उनके ही नहीं उनकी परंपरा में आये अन्य आचार्यों के ग्रंथ भी सौन्दर्य की मानों खानें हैं। विद्यारण्य, अप्पय, मधुसूदन आदि प्रत्येक ऐसे आचार्य हैं जिनमें यह पूर्णता अपने पूर्ण विकसित रूप में है। इनके विचार और अभिव्यक्ति दोनों को 'हमेशा के लिये सुख' कहने में इनके प्रतिपक्षी भी लज्जा नहीं कर सकते। यह सौंदर्य की पवित्रता

है। इसमें संघर्ष उपशान्त है। अंशान्तरों में चाहे मतभेद रहे पर सौंदर्यांश में कोई विप्रतिपत्ति नहीं। और यह सुन्दरता व्यक्ति की सीमाओं को लाँघे हुए है लेकिन व्यक्ति को छोड़े हुए नहीं है। सिमेटते हुए लाँघ जाना—यह व्यष्टि-समष्टि का सामंजस्य सौंदर्य का वह ज़रूरी असाधारण रूप है जो उसे देश-काल-वस्तु के परिच्छेदों से उन्मुक्त करता है।

'सद्भावः साधुभावः ख्यातिः' यह टीकाकार ने कहा है। ख्याति अर्थात् सत्कीर्ति। यह सौंदर्य के संदर्भ में वेदांतसंमत पारंपरिकता है। स्वातंत्र्य और परंपरानुसारिता में जैसे अध्यात्मानुभूति के प्रसंग में कोई विरोध नहीं यह पहले बताया था वैसे ही यहाँ भी है। ख्याति अर्थात प्रसिद्ध कुछ ढंग हैं जिनका अनुसरण कर नव-नव प्रयोग संभव हैं। ढंगों में भी नवीनता हो सकती है, होनी पड़ती है, पर वह नवीनता 'ख्याति' से विरुद्ध नहीं होती, पारंपरिक ढंगों से विरुद्ध नहीं होती। विकसित होना या पूरक होना विरोधी होना नहीं है बल्कि वह पोषक, अनुयायी या सेवक होना ही है। पूर्व-प्रसिद्ध हेतु में परिष्कार होने पर वस्तुतः वह हेतु ही पुष्ट हुआ है, सत्यापित हुआ है। चाहे जितना 'आमूलचूल' हो, जीर्णोद्धार से प्राचीन इमारत को ही स्थायित्व दिया जाता है। परंपरा विकास का मार्ग है, रोधक नहीं। बढ़ता वृक्ष बीज की पूर्णता में सहयोगी है, बीज के नाश का स्मारक नहीं है। और इसीलिये वृक्ष बीज का विरोधी नहीं है। वेदान्तानुसार सौंदर्य-प्रक्रिया की विकासशीलता का उसकी सांप्रदायिकता से विरोध संभव नहीं। निचली पौड़ी का क्या अगली पौड़ियाँ विरोध कर सकती हैं? जीवन की तरह किसी भी प्रक्रिया को खूँटों से बाँधा नहीं जा सकता। प्रक्रिया की क्रियारूपता ही तब बाधित हो जायेगी। कालिदास ने भी स्पष्ट कहा है कि पुरानापन सौंदर्य का माप नहीं है। अतः 'ख्याति' अर्थात् परंपरा का सही अर्थ याद रखना चाहिये। जहाँ बोया आम का ब़ीज है वहाँ पेड़ उगे बबूल का तब समझा जायेगा कि विरुद्ध कार्य हुआ। वहाँ आम का ही पेड़ हो तब विरुद्ध नहीं समझा जायेगा। यही परंपरा का तात्पर्य है। पवित्र ढंग से व्यापक प्रकाश का अनावरण—यह चलता रहे तो परंपरा चल रही है, अन्यथा विच्छिन्न या उच्छिन्न भी हो रही है।

यह भी एक स्मर्तव्य विषय है कि सौंदर्य-सुख का समीकरण वेदान्त में इसलिये समंजस है कि यहाँ दोनों व्यापक परमात्मा का रूप ही हैं। अतः वेदान्त का सौंदर्यशास्त्र जिस सुख से संबद्ध है उसका स्वरूप भूलने से ग़लती संभव है। उपयोग, उपभोग आदि को स्थान देने के लिये इस मूल भाव को तिरोहित नहीं होने दिया जा सकता। यद्यपि उन सब को स्थान देना है अवश्य क्योंकि अन्यथा पूर्णता में कमी रहेगी - एक भी तरब की तार बेसुरी रह जाये तो कुशलतम वादक की भी रागाभिव्यक्ति के सौंदर्य में कमी किसे नहीं खटकती? - तथापि जैसे चौकीदार की सुविधा के लिये ऐसा नहीं किया जाता कि धन ही बाँटकर ख़त्म कर दिया जाये, या पुजारी को आराम देने के लिए देवता ही विदा कर दिये जायें, ऐसे ही उपयोग-उपभोग आदि के लिए 'सुख' को तिलांजलि देना सौंदर्यविघातक ही माना जायेगा।

टीकाकार ने बताया है कि 'सत्यमस्ति' के भाष्य में इतने सारे विकल्प ब्रह्मवित् की या विद्या की स्तुति के लिए हैं। वस्तुतः ब्रह्मरूप अवस्थान विद्याफल है, अन्य जो कुछ कहा वह इस वास्तविकता की स्तुति है। अविनाश, सार्थकता, सद्भाव — ये सब ब्रह्मवित् को मिलते हैं यह उसकी और विद्या की प्रशंसा है। इसका यह मतलब नहीं कि ये उसे मिलते नहीं, सिर्फ कहा गया है, झूठी बात है, इसका मतलब है कि वह इतना श्रेष्ठ है — विद्या इतनी श्रेष्ठ है — कि ये सब तो आनुषंगिक ही हैं। जिसके गौणफल ऐसे उत्तम हैं उसकी स्तुत्यता का क्या कहना! जैसे जिनके शिष्य पद्मपाद-सुरेश्वर जैसे दिग्गज हैं उन आचार्यों की दिव्यता का क्या कहना! जीवन्मुक्त प्रायशः इस अविनाश-सार्थकता-सद्भाव का प्रकटीकरण होते हैं ताकि अन्यों के सामने एक उदाहरण बना रहे। 'कुर्यात् तथा' से भगवान् ने बता दिया कि उससे कर्मी भी सीख सकते हैं। 'चतुर्विधा भजन्ते' में ज्ञानी गिनकर कह दिया कि उपासक या भक्त भी सीख सकते हैं। 'बुद्धिमान् स्यात्' से समझाया कि ज्ञानमार्गी के लिये उससे सीखने को बहुत कुछ है। अतएव वेदान्तमार्ग में सप्राणता बनी रहती है; जीवित वस्तु में जो बदलना, बदलाव सहना, बलवत्तर होना आदि ज़रूरी हैं बने रहने के लिये वे इस मार्ग में स्पष्ट उपलब्ध होते हैं। यह स्तब्ध या अवरुद्ध नहीं होता। चाहे जितने बाँध बनें, पानी बहने के लिये रास्ता ढूँढ ही लेता है, ऐसे ही द्वैत

प्रतिबंधों को धत्ता बताकर अद्वैत उद्दीप्ति अनावृत हो ही जाती है।

आत्मा जान लेने पर ही होने की सत्यता क्यों है? कारण क्या है कि आत्मा को ज़रूर जानना चाहिये? ज्ञान से ही होने की सत्यता इसलिए है कि उससे ही परमार्थ तत्त्व प्राप्त हो जाता है। जानना ज़रूर चाहिये क्योंकि जानकार का जीवन ही फलसहित है। बुद्धिमान् कृतकृत्य होता है। मोक्षरूप फल से युक्त जीवन तत्त्ववेत्ता का है अतः जानना आवश्यक भी है और तभी होना सच्चा भी है। उससे पूर्व हम जिसे 'होना' समझते हैं वह वास्तव में होने-न-होने की खिचड़ी है। संक्षेपशारीरक में (१.१८४) यह स्पष्ट किया गया है। आकाश में है-पना कुछ और है, आत्मा का है-पना और ही कुछ है। हम लोग जिसे 'है' का अर्थ समझते हैं वह इनका मिला-जुला रूप है। अतः सच्चा 'होना' वह नहीं है जिसे हम 'होना' समझ रहे हैं; इससे विलक्षण ही वह 'होना' है जो सच्चा है, ज्ञान होने पर होता है। परमार्थ तत्त्व की प्राप्ति ज्ञानात्मक होती है यह तो पहले भाष्य में ही कह चुके हैं 'विन्दत इत्यात्मविज्ञानापेक्षम्।' फल अपने में स्वतंत्र कोई चीज़ नहीं हो सकती, जिसे वह मिलना है उससे जुड़ा हुआ ही फल होता है। जैसे अत्ता से असंबद्ध तो द्रव्यादिमात्र है, अन्न नहीं, ऐसे अधिकारी से पृथक् पड़ा फल भी नहीं होता। जिसके होने पर हम ही न रह सकें, क्या उसे हम फल कह सकते हैं? वेदांतों में ज्ञानप्रयास विहित है अतः उससे फल मिलना निश्चित है। उस फल के साथ बने रहना ही स-फल जन्म है। जीवन्मुक्ति को ही जन्मसाफल्य कहते हैं। जीते हुए अनुभूयमान बंधनों से छूटना चाहने वाला जीते हुए छूटा रहने को ही फल समझ सकता है। तत्त्ववेत्ता जीवित भी है और फलोपेत भी। जीवन का फल से साक्षात् संबंध न होने पर भी जीवित-द्वारक है: जीवन जिसका है, फल उसका ही है। एक का ही क़ल्पितरूप जीवन है और वास्तविक रूप फल। मोक्ष मुक्त का स्वरूप ही है, अन्य कुछ नहीं। जीवन भी उसी की कल्पना है। कल्पना पहले भी थी पर जानकारी न होने से उसे भ्रम से सत्य समझा था। कल्पना अब भी है पर जान चुकने से अब भ्रम नहीं है। साँप का सच्चाई से इतना ही संबंध है कि रस्सी सच्ची है। जीवन भी फल से इतना ही जुड़ा है कि आत्मा फलरूप है। मुक्त खुद फल है, उसका जन्म स-फल है।

ज्ञानाभावे संसारः

न चेदिहावेदीदिति। न चेद् इह जीवंश्चेदधिकृतः अवेदीद् न विदितवान्, *न चेदिहावेदीन्न विदितवान्, वृथैव जन्म। अपि च* तदा महती दीर्घाऽनन्ता विनष्टिः विनाशनं जन्मजरामरणादिप्रबन्धाऽविच्छेदलक्षणा संसारगतिः। *महती विनष्टिर्महान् विनाशो जन्ममरणप्रबन्धाविच्छेदप्राप्तिलक्षणः स्याद् यतः तस्मादवश्यं तद्विच्छेदाय ज्ञेय आत्मा।*

ज्ञान न होने से संसरण है

अधिकारी अगर जीवित रहते परमात्मसाक्षात्कार नहीं कर पाया, यदि कम सामर्थ्य होने पर उसने परमात्मा के स्वरूप को समझकर उपासना भी नहीं की, तो उसका जीवन बेकार ही गया। पूरी योग्यता हो तो अपरोक्ष दर्शन और कुछ कमी हो तो बौद्धिक समझ पाकर उपासना करने से ही मानव जीवन सार्थक है। उपासना भी साक्षात् न सही पर है मोक्ष का निश्चित उपाय! कल्पतरुकार तो उपासना अगर सविशेष की हो तो भी निर्विशेषदर्शन में फलीभूत होने वाली मानते हैं क्योंकि उनका कहना है कि उपासित परमेश्वर स्वयं ही अपनी वास्तविकता दिखा देता है। 'विवृणुते' आदि श्रुति भी इसे समर्थित कर सकती है। गीता में भी ऐसा अभिप्राय स्पष्ट है। ध्यानदीप में निर्विशेष की उपासना मोक्षफलक मानी ही है। कुछ उपासनाओं को क्रमशः मोक्षप्रद सूत्रकारों ने स्थापित किया ही है। अतः यहाँ भाष्यकार सब अधिकारियों का संग्रह कर कह रहे हैं कि यथायोग्यता ज्ञान या उपासना के लिए तत्पर होना मनुष्यमात्र का कर्तव्य है। जो उपासना में भी असमर्थ हो वह गीतोक्त रीति से भगवदर्पण बुद्धि से कर्म ही करना आरंभ करे। तात्पर्य है कि भगवत्परायण तो अवश्य हो। मधुसूदन स्वामी गीताटीका में (१८.६६) कहते हैं 'सर्वेषां तु शास्त्राणां परमं रहस्यम् ईश्वरशरणतैव··· तामन्तरेण संन्यासस्यापि स्वफलाऽपर्यवसायित्वात्।' मनुमहाराज ने भी आत्मबोध में जन्म-साफल्य माना है। क्योंकि ईश्वरार्पण कर्म

तथा ईश्वरोपासना व निर्विशेषोपासना 'महान् विनाश' का हेतु नहीं बनते इसलिये द्वितीय पाद से विपक्ष में जो दण्ड कहा है उसको ध्यान में रखते हुए यहाँ 'अवेदीत्' से इन सभी का ग्रहण समझना चाहिये। भाष्यकार का उपदेश मनुष्यमात्र के लिए है। श्रीपद्मपादाचार्य ने बताया है कि 'लोकों' पर अनुग्रह कर सम्यग् ज्ञान में प्रवृत्त कराना ही भाष्यकार के अवतार का प्रयोजन है इसलिए उनके निर्देशों को आगमविधियों के तुल्य मानना चाहिये 'तस्माद् ब्रह्मविदामेकपुण्डरीकस्य लोकानुग्रहैकरसतया सम्यग्ज्ञानप्रवर्तनप्रयोजनकृतशरीरपरिग्रहस्य भगवतो भाष्यकारस्य मतमागमयितव्यम्।' (पृ. १७२) ऋजुविवरण में व्याख्या की है 'आगमवदाचरितव्यम्।' लोक-शब्द महत्त्वपूर्ण है। वैदिकों के लिये तो वेदरूप आगम भी पूरा ही सहारा है, उन्हे तो भाष्य भी आगमव्याख्या लगेगा और वे भाष्यानुसार आगम को समझकर आगम का अनुसरण कर कल्याण पायेंगे। अत: जो वैदिक नहीं हैं — या तो जन्मादि से ही वेदानधिकारी हैं और या परिस्थितिवश वेदाध्ययन-तदर्थबोधादि में समर्थ रह नहीं गये हैं — उन्हें भाष्यकार की आज्ञाओं को अपने लिये वैसा ही मान लेना चाहिये जैसा वैदिक लोग वेदाज्ञाओं को मानते हैं। अत: सर्वलोक भाष्यकार के नियोज्य हैं। म्लेच्छादि भी 'लोक' में गृहीत हैं। एवं च 'मनुष्यजन्मनि' 'मनुष्योऽधिकृत:' जो प्रकृत भाष्य में कहा था वह सर्वथा संगत है। इसलिये सिर्फ़ श्रेष्ठ साक्षात्काराधिकारियों को ही नहीं, सभी को वे यहाँ वेदन के लिये प्रेरित कर रहे हैं। जो जिस अधिकार-श्रेणी में आता है वह वहीं से आगे बढ़ना आरंभ करे यह उनका अभिप्राय है। लोक में किसी हीनभावना का निवेश करने को वे 'वृथैव जन्म' नहीं कह रहे; वे यह नहीं मान रहे कि अपरोक्ष द्रढिष्ठ साक्षात्कार नहीं हुआ तो जन्म बेकार गया, यह कोई शोक का विषय है; वे इतना ही कह रहे हैं कि अपने अधिकार के अनुसार यदि हम शिव की ओर कुछ-न-कुछ नहीं बढ़े तो जीवन व्यर्थ गया, अनुताप का विषय है। अत: 'अवेदीत्' से साक्षात्कार, परोक्षज्ञान, उपासना और कर्म — सभी को समझ लेना ज़रूरी है। वर्णाश्रम धर्म से तप का पृथक् उल्लेख कर हरितोषणहेतुक साधनसंपल्लाभ अन्यत्र आचार्यपाद ने कहा ही है। विधुराधिकरण में भी सामान्य धर्मों का मोक्ष में विनियोग माना है। भगवान् ने वाचिकादि जो तप कहे हैं उनमें बहुतेरों को मनुष्यमात्र करे इसमें किसी शास्त्र का विरोध है भी नहीं। अत: यहाँ भाष्याज्ञा सब को विषय कर रही है। अर्थिता तो सभी विधियों में अधिकारिविशेषण होती ही है अत: जो स्वकीय जन्म का साफल्य चाहे वह अधिकारी होगा यह ठीक है। विवरणोपन्यास में (पृ. ९०-९१) विचार आया है कि जब विधि का अर्थ है श्रेय:साधनता तब पहला प्रश्न उठता है 'किसका श्रेय?' अत: फलभूत श्रेय जिसे श्रेयोरूपेण भासमान है वही उसे अपना इष्ट मानकर विधिप्रोक्त कर्म को इष्टसाधन निश्चित कर 'यह मेरा कर्तव्य है' ऐसा समझ सकता है। यह प्रक्रिया नियोगवाद के नज़दीक है जैसा संक्षेपशारीरक में (१.४७४) कहा है 'नियोगवादे स्वाम्ये स्थिते सति भवेदथ कर्तृभाव:', फिर भी विवरणानुयायियों को स्वीकृत है और अनुभवानुसारी भी है। बृहती तथा ऋजुविमला में (१.१.२) यह व्यक्त किया है कि फलकामना से कर्तव्यता की सिद्धि होती है, अकेली विधि से नहीं। वैसे तो तन्त्रवार्तिक में (३.४.१०.२८, पृ. ९६०) भी कह दिया है 'न हि विधिशतेनापि तथा पुरुष: प्रवर्तते यथा लोभेन!' और भाष्यकार ने गीताभाष्यादि में नित्य-नैमित्तिक को भी काम्यकोटि का ही माना है। एवं च सर्वत्र कामना ही प्रवर्तक है, विधि केवल उपाय-प्रदर्शक है। इसी प्रकार प्रकृत में 'सर्वदु:खनिवृत्तिपूर्वक परमानन्दाविर्भाव मुझे अभिलषित है' ऐसी कामना वाले को उपाय भाष्यकार बता रहे हैं यह स्पष्ट हो जाता है। भाष्यसिद्धान्त द्विजमात्र या वैदिक मात्र को विषय करे ऐसा मानने की ज़रूरत नहीं, वह मुमुक्षु मनुष्यमात्र को विषय करता है यही मान्य है।

आत्मा की वास्तविकता न जानी तो केवल जन्म बेकार गया इतना ही नहीं, दीर्घकालिक विनाश भी होगा अर्थात् ज्ञान के बिना समाप्त न होने वाली संसारगति ही चलती रहेगी, जन्म-बुढ़ापा-मरना आदि का चक्र टूटेगा नहीं। यह वस्तुस्थिति का अनुवाद है अर्थात् अभी जो स्थिति है वह समाप्त नहीं होगी। जीवित रहते मोक्ष के इच्छुक को यदि जीवित रहते मोक्ष नहीं मिला तो उसके लिए इष्टविघातरूप विनाश ही है। अत: यदि कोई मानता हो कि मरने के बाद जन्मादि प्रबंध चलता नहीं रहेगा तो भी उसके लिये महान् विनाश तो है ही। जैसे जन्मान्तरवादी या स्वर्गवादी भी जिस ऐहिक वस्तु का अभिलाषी हो, अगर उसे जीवित रहते न पा सके तो अपने जीवन को व्यर्थ ही मानता है, वैसे ही जो

जन्मांतर या स्वर्गादि नहीं भी मानता वह मोक्ष को यदि जीवन का लक्ष्य बनाता है तो जीवन में उसे न पाकर जीवन व्यर्थ ही समझ सकता है। एवं च स्वर्गादिवादी नास्तिक ही नहीं अपरलोकादिवादी नास्तिक भी मुमुक्षु बन सकते हैं। जीवन्मुक्ति मानने का यह भी एक प्रमुख प्रयोजन समझना चाहिये। इस सम्बन्ध में कठचिन्तन (पृ. ३४-३५) का विचार अनुसन्धेय है। भाष्य के जन्मजरामरणादि से ज़रूरी नहीं कि भवान्तरीय जन्मादि का ही ग्रहण हो, यहीं की दुःखपरंपरा को 'प्रबन्ध' समझा जा सकता है। इसकी प्रबंधता या चक्रात्मकता तो प्रसिद्ध है क्योंकि हर क्रिया की प्रतिक्रियायें, संवादी-क्रियायें, साक्षात् फल, परंपरा फल, उपफल, अर्थतः प्राप्त फल आदि लगभग अनन्त परिस्थितियाँ बनती हैं जिनमें हर-एक आगे कई परिस्थितियों को जन्म देती है। दवा के बारे में प्रसिद्ध है कि वह एक रोग हटाती है तो चार के बीज बो जाती है। खेती बचाने के रसायनों से होने वाली हानियों से निपटने के उपाय अपनाने पर होने वाली असुविधाओं के कारण हुए तनावों का फल जो शारीरिक विकार हैं उनसे पुनः खेती पर ही असर पड़ता है। जीवन्मुक्ति के बिना यह प्रबंध भी टूटेगा नहीं। मुक्ति होने पर तो यह सारा प्रबंध एक-सा बाधित हो जायेगा अतः टूटा हुआ ही है।

क्योंकि अज्ञान रहते इस चक्र से स्वयं को प्रताडित समझना रूप महान् विनाश निश्चित है इसलिए इस प्रबन्ध को तोड़ने के लिये अवश्य ही आत्मा जान लेना चाहिये। तात्पर्य वही है कि आत्मज्ञानार्थ स्वस्थित्यनुसार हर संभव उपाय कर लेने चाहिये। श्रुति में केवल कहा था 'जान लिया तो सच है, नहीं जाना तो महान् विनाश है' किन्तु इसका अभिप्राय है 'जानने की कोशिश करो', यह व्यक्त करने के लिये भाष्य में 'स्याद्यतः तस्मात्' इस प्रकार यह वाक्य कहा गया है। अर्थात् 'सत्यमस्ति' को रात्रिसत्रन्याय से फल मान कर विधि की कल्पना करनी चाहिये और 'महती विनष्टिः' को उस विधि का अर्थवाद मानना चाहिये क्योंकि निन्दा विधेय की स्तुति के लिए होती है यह मीमांसकों को संमत है। ज्ञानविधि उपाय की अनुष्ठेयता में पर्यवसित होती है यह तो प्रसिद्ध ही है।

उत्तरार्धार्थः

ज्ञानेन तु किं स्यादिति ? उच्यते—भूतेषु भूतेषु। तस्मादेवं गुणदोषौ विजानन्तो ब्राह्मणा भूतेषु भूतेषु सर्वभूतेषु स्थावरेषु चरेषु च, *चराचरेषु सर्वेष्वित्यर्थः*, एकमात्मतत्त्वं ब्रह्म विचित्य विज्ञाय साक्षात्कृत्य; *'विचित्य' पृथङ्निष्कृष्य एकमात्मतत्त्वं संसारधर्मैरस्पृष्टम् आत्मभावेनोपलभ्य इत्यर्थः। अनेकार्थत्वाद् धातूनाम्। न पुनः चित्वेति सम्भवति, विरोधात्।* धीरा धीमन्तः प्रेत्य व्यावृत्य; *धीरा धीमन्तो विवेकिनो विनिवृत्तबाह्यविषयाभिलाषाः प्रेत्य मृत्वा।* **ममाहम्भावलक्षणादविद्यारूपाद् अस्माल्लोकाद् उपरम्य** *अस्माल्लोकाच्छरीराद्यनात्मलक्षणाद् व्यावृत्तममत्वाहङ्काराः सन्त इत्यर्थः।* **सर्वात्मैकत्वभावमद्वैतमापन्नाः सन्तः अमृता भवन्ति** *अमृता अमरणधर्माणो नित्यविज्ञानामृतत्वस्वभावा एव भवन्ति,* **ब्रह्मैव भवन्तीत्यर्थः। 'स यो ह वै तत्परं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु.३.२.९) इति श्रुतेः।।५।।**

।। इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छङ्करभगवत्पादकृतौ केनोपनिषत्पदभाष्ये द्वितीयः खण्डः।।

।। इति द्वितीयः खण्डः ।।

दूसरी अर्धाली का अर्थ

आत्मज्ञान से क्या होता है? इस प्रश्न का उत्तर दूसरी अर्धाली से बताया जा रहा है।

जो ब्राह्मण आत्मज्ञान में मोक्षहेतुकतारूप गुण समझते हैं और आत्मज्ञान से वंचित रहने में अनवरत संसार में आवृत्ति बनी रहेगी यह दोष समझते हैं वे स्थावर-जंगम सभी भूतों में ब्रह्मरूप एक आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करते हैं अर्थात् नाम-रूप से अलग कर अस्ति-भाति-प्रिय परब्रह्म को प्रत्यग्रूप अनुभव करते हैं और अखण्डबुद्धि पाकर न केवल धन पुत्रादि वरन् देह मन आदि में भी 'मैं-मेरा' ऐसा निश्चय छोड़कर दृश्यमात्र में तनिक भी रति

नहीं रखते और अद्वैत, नित्य-विज्ञानरूप, अविनाशस्वभाव ब्रह्म ही हो जाते हैं।

'विचित्य' से ईंटों की तरह किसी की चिनाई नहीं कही जा रही बल्कि विविक्त कर साक्षात्कार करना कहा जा रहा है क्योंकि 'चिनाई' अर्थ प्रकृत में विरुद्ध है और धातुओं के अनेक अर्थ हुआ ही करते हैं। चिनाई में चीज़ें ऊपर-नीचे रखी जाती हैं जबकि एक निरंश चिन्मात्र में ऐसा हो नहीं सकता अतः प्रसिद्ध धात्वर्थ का ग्रहण विरुद्ध होने से अर्थान्तर ग्राह्य है यह तात्पर्य है।

यहाँ 'ब्राह्मणाः' कहकर भाष्यकार ने ब्राह्मण के लिये भारातिशय माना है कि ब्राह्मण को तो गुण-दोष समझकर अवश्य ही आत्मसाक्षात्कार कर लेना चाहिये। मनुस्मृति में भी कहा है कि ब्राह्मण शरीर क्षुद्र कामनायें पूरी करने के लिये नहीं है। ब्राह्मण लौकिक भोगादि न करे तो कोई हर्ज़ नहीं पर अगर आत्मज्ञान में तत्पर नहीं होता तो निदंनीय है। बृहदारण्यक आदि अन्यत्र भी भाष्यकार ने यह स्पष्ट किया है। 'किं पुनर्ब्राह्मणाः··· भजस्व माम्' (९.३३) से भी यही सूचित होता है। ब्राह्मण ही गुणादि जानकर आत्मज्ञान पायें — यह भाष्यार्थ नहीं है क्योंकि 'मनुष्यजन्मनि' आदि उपक्रम से विरोध होगा और ब्रह्मजिज्ञासा को ब्राह्मणकर्तृकजिज्ञासा मानने का प्रसंग आयेगा जो आचार्यों की व्याख्या के विरुद्ध होगा। साथ ही अपशूद्राधिकरण और देवताधिकरण का भी व्याकोप होगा। अतः यदि ब्राह्मण्य विवक्षित ही मानना हो तो कैमुतिकन्याय से योजना करनी चाहिये कि भूदेव ब्राह्मण भी जब इसी तरह अमृत हो पाते हैं तो अन्यों को इससे सरल कोई साधनांतर मिलेगा इसकी आशा छोड़कर इसी के लिये प्रयासशील होना चाहिये।

'भूतेषु' से स्थावर-जंगम भूतों का ग्रहण किया है, यहाँ भूत से प्राणी ही नहीं सभी भवनधर्मा समझ लेने चाहिये। 'अस्ति' को सभी भाव कार्यों में समान विकृति नैरुक्तों ने माना है। सर्वत्र परमतत्त्व का साक्षात्कार करने का तात्पर्य पदार्थद्वय शोधनपूर्वक अखण्डार्थबोध ही है। किंच व्यवहार में भी सर्वत्र शिवदृष्टि विवक्षित है जो साधनकाल में भक्ति है, सिद्धिकाल में अनुभूति। प्राणियों में नारायणदृष्टि रखकर उच्च-नीच आदि भूल से भी दृष्टि नहीं करे ऐसा मुमुक्षु के लिए स्वामी शंकरानंद जी ने गीताटीका में (अ.१५) मुखतः कहा है। वेदान्त की करुणा, समता और विरक्ति का यह आधार भी है। जीवन्मुक्त के लोकसंग्रह की हमारी संकल्पना भी इस दृष्टि से संगत हो जाती है। किंच यदि भूत से प्राणी समझें तो समस्त लिंगदेहों में आत्मसाक्षात्कार की यहाँ ज़रूरत कही जा रही है जो अप्पयदीक्षित द्वारा सूचित सर्वमुक्तिवाद के अनुकूल है। इस विषय में सारसंग्रह (२.८३) भी अवलोकनीय है। सर्वत्र आत्मा का दर्शन प्रत्यक्तया करना है अतः कहा 'आत्मभावेनोपलभ्य'। अर्थात् भिन्नात्मदर्शन नहीं करना है, सिर्फ़ इतने में रुकना नहीं है कि सब में आत्मा है वरन् 'सबमें मैं हूँ' इस अनुभूति तक पहुँचना है। इसका तरीका यही है कि 'सब' मुझमें कल्पित हैं यह समझा जाये। जैसे स्वप्नदृष्ट नाना जड-चेतन वस्तुओं में एक मैं ही हूँ जो उनके धर्मों से वस्तुतः अस्पृष्ट हूँ, वैसे ही संसारधर्मों से अस्पृष्ट एक मैं ही तभी हो सकता हूँ जब वे सब मुझ ही में कल्पित हों। संसारधर्म अर्थात् नाम-रूप-कर्म। अतः यह सर्वत्र आत्मदर्शन नाम-रूप-कर्म के सांकर्यादि में पर्यवसायी नहीं होता। इसका यह मतलब नहीं कि इस दर्शन से व्यवहार में कोई अंतर नहीं पड़ता; अंतर पड़ता तो है पर वैसा नहीं जैसा प्रायः । लोग समझते हैं। अपने मुँह और नाक में एक ख़ुद को समझते हुए जैसे व्यवहार में अंतर है वैसा अंतर तो आ जाता है लेकिन नाक में अन्न डालना, मुँह से सूँघना आदि अन्तर नहीं आता। अतः समस्त लोक से कोई विरोध नहीं रह जाता, 'तेनायं न विरुध्यते', न किसी से शिकायत रहती है और न किसी को अभिभूत करने की कोशिश। वस्तुतः तो बोलने को भी कुछ रह नहीं जाता, हर बोधन — किसी को समझाने का प्रयास — ऐसा प्रयास लगता है जो अपने बोध का, आत्मदृष्टि का किसी न किसी तरह विरोध कर रहा है। वास्तव में यही मौन संन्यासी के लिये विहित है और यही आदिसंन्यासी श्रीदक्षिणामूर्ति का चिर उपदेश है। भगवान् भाष्यकार ने भी मुखररूप से इसी मौन का पालन किया है; यह भी एक विरोध या विडम्बना है पर है सच कि वे जो कुछ भी बोले हैं उसका यही मतलब है कि वे सचमुच कुछ भी नहीं बोले। इसे समझने के लिये महर्षि वाल्मीकि का योगवासिष्ठ पढ़ना चाहिये।

बुद्धिमान् वही है जो विवेकपूर्वक बाह्य अर्थात् अनात्मभूत नाम-रूप-कर्म के प्रति अभिलाषा या प्रेम बिल्कुल न रखे, मानो उनकी ओर से मरा हुआ ही हो जाये! कोशिश रहते यह साधना है, स्वाभाविक होने पर सिद्धि। 'बोधस्योपरतिः फलम्' का यही मतलब है। मृत्यु को पूर्वस्मृति का पूर्ण विलोप समझा जाता है। अतः नामादि का परामर्शमात्र भी न रहना ही यहाँ 'मृत्वा' का अर्थ है। यदि इसमें प्रारब्धसमाप्ति सहायक है तो उसका संग्रह भी हो, कोई विरोध नहीं। किन्तु 'मृत्वा' का सिर्फ़ 'मरकर' अर्थ यहाँ नहीं है क्योंकि 'धीराः' ''मृत्वा'' व्यावृत्तममत्वाहङ्काराः सन्तः ''अमृताः'' भवन्ति' यह वाक्य ही असंगत हो जायेगा। 'मृत्वा' के बाद 'सन्तः' को जन्मान्तरादि में लगना पड़ेगा जो अविवक्षित ही नहीं ग़लत भी हो जायेगा क्योंकि फिर मरण की पुनरावृत्ति अपेक्षित हो जायेगी और आत्मरूप से विद्यमानता विवक्षित मानने पर व्यावृत्तादि पद अनर्थक होंगे क्योंकि ममत्वाहंकार तो उपाधि रहने पर ही प्राप्त और अतः व्यावृत्त कहे जा सकते हैं तथा यदि 'मृत्वा' अर्थात् मरने से ही आत्ममात्रतया 'सन्तः' हो गये तो फिर 'अमृताः भवन्ति' से क्या कहा जायेगा? अतः 'प्रेत्य व्यावृत्य' की ही व्याख्या स्वयं कर रहे हैं 'मृत्वा' कह कर यही मानना पड़ेगा। लोक में भी कोई हमें बिल्कुल भूल जाये तो कह देते हैं 'तुम्हारे लिए तो मैं मरा हुआ ही था!' ऐसे ही यहाँ कहा गया है। भाष्यकार कहीं भी प्रारब्धसमाप्ति-प्रयुक्त मरण को अमृतभाव के संदर्भ में कोई कीमत नहीं देते यह समस्त भाष्य के अवलोकन और उनके प्रकरणों के भी अनुसन्धान से स्पष्ट है। अतः व्यावृत्ति या उपरति को ही यहाँ मरण कहा है।

ममकार और अहङ्कार दोनों छोड़ना ज़रूरी है। इनमें पहले ममकार छोड़ना पड़ेगा लेकिन पूर्णतः ममकार तभी हटेगा जब अहंकार समाप्त हो। हैं दोनों ही अविद्या की व्यक्त अवस्थायें। यह सारा लोक - विषय प्रपंच - इतना ही है - मैं, मेरा। हमारे विषयभाव को प्राप्त वही होता है जिसमें हमें या अहन्त्वाध्यास हो, या ममताध्यास। घटादि भी जब ममतास्पद होते हैं अर्थात् मुझे दीखते हैं, मेरी वृत्ति से जुड़ते हैं, वृत्ति से बँधे रूप में मेरे होते हैं, तभी वे मेरे लिये लोक हैं, ज्ञेय हैं। रति जहाँ हो या हो सके वहीं उपरति कहना सार्थक है। रति मैं-मेरे में ही होती है अतः जिससे उपरत हुआ जाये वह लोक अहं-ममतास्पद पदार्थ ही हो सकते हैं। अतः लोक को समझाया 'शरीराद्यनात्मलक्षणात्'। शरीर से स्थूल-सूक्ष्म दोनों समझ लेने चाहिये। आदि से ममत्वास्पद चीज़ें तथा गौणात्मायें सब जाननी चाहिए। शरीर में अहन्त्व ही नहीं ममत्व भी नहीं रखना है। या तो सारे शरीरों में ममत्व लाकर किसी एक में ममत्व की विशेषता न रखे — जैसा कहा है 'कर्तव्यो ममकारः किन्तु स सर्वत्र कर्तव्यः' — और या आत्ममात्रानुसन्धान में इतना तल्लीन रहे कि देह की प्रतीति ही न हो कि उसमें ममत्व का आधान हो सके। अर्थात् या बाधाभ्यास के दार्ढ्य की और या निदिध्यासन, समाधि, की स्थिरता में रहने से ममाहन्त्वहानि संभव है। 'शरीरादि' में शरीर से प्रारंभ करने को कहा क्योंकि विवेकज वैराग्य और अन्य वैराग्यों में यह अंतर विवक्षित है कि जहाँ अन्य वैराग्य इदन्तास्पदों की स्थूल संनिधि हटाने में प्रेरित करते हैं वहाँ विवेकज वैराग्य अहन्ता-ममतास्पदों की अनिवार्य निकटता का कोई विरोध न करते हुए इनमें अहन्तादि हटाने में प्रवृत्त करता है। स्थूल संनिधि या दूरी को कीमत न देकर वस्तु में अभिमान की विस्मृति को मूल्य दिया जाता है। विकारहेतु तो बल्कि एक तरह इसमें उपादेय ही बन जाता है क्योंकि उसके रहने पर ही वैराग्य का अभ्यास संभव है। वैराग्य एक भाववृत्ति है, न कि केवल रागाभाव। जैसे पेड़ादि हों तभी कुल्हाड़ी कामयाब हो सकती है ऐसे पदार्थों के होने पर ही उनमें अहन्तादि न करने का अभ्यास संभव है। इसका यह मतलब नहीं कि पदार्थ बटोरकर रखें तब अभ्यास हो! वह तो मूर्खता है, धोने के लिये कीचड़ में पैर देना है। मतलब इतना ही है कि प्रारब्धमात्रवश अनिवार्य रूप से जो देहादि हमसे जुड़े हुए हैं तथा जो अन्न-वस्त्रादि अनायास हमें देहरक्षार्थ प्राप्त हैं एवं अपनी कमज़ोरी से जो दवा, तेल आदि पदार्थ हम माँग कर पाते हैं उनमें अहन्त्व-ममत्व से बचने की कोशिश करें, उन वस्तुओं को ज़बर्दस्ती दूर कर क्लेश की स्थिति में न रहें कि आत्मचिंतन की जगह परेशानी-चिन्तन ही चलने लगे। जितना अपने से दूर करने पर भी अपना मुख्य कार्य श्रवण-मनन-निदिध्यासन चलता रहे उतना तो दूर कर ही देना चाहिये। अनावश्यक व्यक्तियों और द्रव्यों की संनिधि मन पर अवांछनीय संस्कार डालती है अतः ऐसे लोगों से भी दूर रहे जो श्रवणादि से विरोधी विचारधारा वाले हों तथा उन

पदार्थों से भी दूर रहे जो श्रवणादि में विशेष उपयोगी नहीं हैं। जो लोग तो श्रवणादि के अनुकूल संस्कारों वाले हैं उनका साथ उपादेय है। व्यक्ति कई चीज़ें चाहता है जिनमें सामूहिकता, समूह में अच्छा समझा जाना, किसी अन्य के प्रति व्यक्त करना, किसी अन्य की राय लेना, सुरक्षा, सद्भावना, भरोसा, अपनी मानस, बौद्धिक व दैहिक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति, अपनी उपयोगिता का बोध आदि बहुतेरी ऐसी हैं जो केवल समाज में प्राप्त होती हैं। श्रेष्ठतम विरक्त यद्यपि इन सभी को नहीं चाहता, बल्कि इनसे उद्विग्न ही होता है और इसलिए उसके लिए वैराग्य-दृढता के लिए समाज सर्वथा बेकार है या कुछ हद तक प्रतिबंधक भी है तथापि प्रायः उतने वैराग्य की प्राप्ति से पूर्व तक इन आवश्यकताओं की अपूर्ति मनुष्य को विक्षेपप्रद होकर कई बार उन्मार्ग तक में लगा देती है। अतः साधना के उपयोगी समाज में और पदार्थों के साथ रहना सामान्य वैराग्य वाले के लिए लाभप्रद ही होता है। उससे श्रवणादि में उत्तरोत्तर वृद्धि होती है जिस बोधाभ्यास से तत्त्वविषयक नानाविध संशयादि हटने पर निष्ठोन्मुखता आ सकती है।

अमृतरूप तभी प्राप्त होता है जब सारा द्वैतपरामर्श छूटे। यही सर्वात्मैकत्वभाव है, सर्वात्मा परमेश्वर से एकत्व अर्थात् अभेद रूप से भाव अर्थात् विद्यमानता है। परमात्मा से आत्यन्तिक अभेद हुए बिना अद्वैत नहीं होता अतः अमृत नहीं हुआ जाता। वास्तव में अद्वैत नित्य परमार्थ है किन्तु द्वैत-अध्यारोप से वह अभिभूत है, होते हुए भी न होते के समान है। यह अभिभव हटाने के लिये अद्वैत का ज्ञान चाहिये जो द्वैताध्यास निवृत्त करे। अद्वैत पर पड़ा असत्त्वापादक आवरण भले ही अद्वैत के परोक्ष निश्चय से हट जाये, अभानापादक तो अपरोक्ष निश्चय से ही हटेगा। अतः अद्वैत का अपरोक्ष निश्चय चाहिये। इससे सचमुच तो कुछ होना है नहीं, केवल झूठमूठ का आरोप हटेगा। यह सम्पद्याविर्भावाधिकरण में (४.४.१) स्पष्ट है। झूठमूठ के आरोप को हटाना क्यों? इसका सरल उत्तर है कि जिसे यह आरोप कष्ट नहीं दे रहा, वह न हटाये, पर जिसे इससे दिक़्क़त है वह क्यों नहीं हटायेगा? हटना भी वैसा ही है जैसा इसका होना अतः इसके होने से जैसा कष्ट है, इसके न रहने से होने वाली कष्टनिवृत्ति व सुखप्राप्ति भी वैसी ही है। व्यावहारिक बंधन से पीडित को व्यावहारिक ही तो मोक्ष चाहिये। कष्ट न भी हो पर यदि किसी को जिज्ञासा ही हो जाये तो भी ज्ञानार्थ यत्न कर सकता है। अज्ञान अपने में ही एक पीडा हो सकती है। अनेक अनुसन्धाता दार्शनिक, वैज्ञानिक, भौगोलिक खोजकर्ता, ऐतिहासिक खोजकर्ता, गणितज्ञ आदि ऐसे होते हैं जो केवल ज्ञान पाने के लिए यत्नशील रहते हैं। आर्थिक लाभ के अनेक उपायान्तर उपलब्ध होने पर भी उन्हे छोड़कर अनुसंधान में लगते हैं। कई तो आर्थिक हानि भी सहकर खोज करते हैं। ऐसे ही किसी को आत्मजिज्ञासा तीव्र हो तो वह भी आत्मविद्या पाने में तत्पर हो ही सकता है। तात्पर्य है कि अध्यारोप हटाना नहीं चाहिये यह कहने में कोई हेतु न होने से जो भी इसे हटाने का अर्थी है वह सामर्थ्यादि होने पर इसे हटाने में प्रवृत्त होकर द्वैतनिवृत्ति कर सकता है। भक्ति भी इसमें प्रेरित कर सकती है क्योंकि वह भी दूरी सहन नहीं होने देती और निकटता की अंतिम सीमा तो एकमेक होना ही है। अतः मुमुक्षा और शिवभक्ति वस्तुतः पर्याय हैं। जब उसी इच्छा को अभावात्मना निरूपित करते हैं तब वह मुमुक्षा है और भावात्मना निरूपित करने पर भक्ति। बंधन की समाप्ति चाहते हैं तो मुमुक्षा है, शिव से अभेद चाहते हैं तो भक्ति है। बंधन छूटेगा तो शिव से अभेद ही होगा; शिव से अभेद होगा तो बंधन समाप्त होगा ही; अतः केवल कहने के ढंग में अंतर है। फिर क्यों मुमुक्षा पर अधिक ज़ोर देते हैं? वह इसलिए कि बन्धन सबको प्रत्यक्ष है अतः इससे छूटना चाहना कुछ सहज है। प्रेम तो लोक में ही प्रायः दुर्लभ है तो जिन शिव की निकटता को कभी समझ-बूझकर जाना नहीं उनसे प्रेम होना एक अत्यंत आश्चर्य ही है। वस्तुतः हम भक्ति कर नहीं सकते, शिव ही मानो ज़बरन हमसे भक्ति करा लेते हैं। लोक में भी अनुभव होता है कि न चाहते हुए ही किसी से प्रेमातिशय हो जाता है; हम कोशिश नहीं करते, बल्कि उसमें दोषदृष्टि आदि की ही कोशिश करते हैं, फिर भी दलदल में फँसी गाय की तरह अधिकाधिक प्रेममग्न होते जाते हैं। भक्ति में भी यही स्थिति है। जगद्धर भट्ट कहते हैं 'नानुग्रहं तव विना त्वयि भक्तियोगः'। शिवपुराण में कहा है, 'प्रसादादेव सा भक्तिः'। अतः जब शिव किसी से भक्ति कराते हैं तब वह न चाहे तो भी अधिकाधिक भक्तिमग्न ही हो सकता है, बच नहीं सकता। यह प्रश्न व्यर्थ है कि वे किसी से ही ऐसा क्यों कराते हैं। वास्तव में तो सभी

उपाधियाँ उन्हीं की होने से वे अपनी किसी भी उपाधि से कुछ भी कराने में स्वतंत्र हैं। और यदि भेदभूमि का उत्तर चाहिये तो स्पष्ट ही है कि वे परमेश्वर हैं, उनसे 'क्यों?' पूछने वाले हम कौन होते हैं? तो क्या हम भक्ति करने में स्वतंत्र नहीं? परानुरक्तिरूप भक्ति में स्वतंत्र नहीं हैं किन्तु अन्य भक्ति में स्वतंत्र हैं। ऐसे कार्य-कारणभाव का प्रतिबंध तो नहीं है पर प्रायः यह नियम मानकर चल सकते हैं कि अन्यान्य भक्ति का दृढता से अभ्यास करने पर महादेव कृपा कर परा भक्ति भी हमसे करा ही लेते हैं। हर हालत में भक्ति को दुर्लभ ही कहा जा सकता है इसलिये मुमुक्षा की प्रेरकता पर प्रायः जोर दिया जाता है यद्यपि तात्पर्यतः इनमें कोई भेद नहीं।

अमृत होने का मतलब है न मरना जिसका असाधारण स्वभाव है, वह बने रहना अर्थात् द्वैत आरोप से छूटे हुए बने रहना। ब्रह्म का ही यह स्वभूत भाव है – विद्यमानस्वरूपकत्व है – कि वह नित्य है, विज्ञान है और अमृतत्व है। नित्य है अर्थात् निश्चित स्वरूप वाला सदा अबाधित है। विज्ञान है अर्थात् निरपेक्ष चैतन्य ज्योति है। 'अमृतत्व' में तद्धित स्वार्थ में है, तात्पर्य है कि वह अमृत अर्थात् सर्वपरिच्छेदशून्य भूमा है। अथवा नित्यरूप और विज्ञानरूप जो अमृतता है वह उसके निजी रहने वाले पदार्थ हैं। 'नित्यं तिष्ठन्ति शङ्करे', 'षड्भिरङ्गैरुपेताय' आदि स्मृति व अभियुक्तवचन इसमें प्रमाण हैं। अभिप्राय है कि न केवल वह नित्यादि है – सच्चिदानन्द है – वरन् जहाँ कहीं भी नित्यतादि – सत्त्वादि – प्रतीत होते हैं वे भी उसी के हैं। निरवच्छिन्न आत्मस्वरूप तो वे हैं ही, अवच्छेद होने पर भी वे पूरे छिपते नहीं। सावच्छिन्न सत्त्वादि से निरवच्छिन्न सद्रूप समझा जा सकता है अतः ऐसा प्रयोग किया गया है। अन्योन्याध्यास का यह प्रयोजन है कि अध्यस्तभूमि पर हम सत्यादि को उपलब्ध कर परमार्थ सत्यादि समझ लें। यदि सत्यादि जगत् में अध्यस्त न हुए होते तो हमें वास्तविकता समझने का कोई उपाय ही रहता नहीं। यह बात अध्यासभाष्य, पंचपादिका, संक्षेपशारीरक आदि में व्यक्ततर है।

ब्रह्मज्ञान से ब्रह्मरूपता शास्त्रसिद्ध है : **'जो उस पर ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही होता है'** यह मुण्डक श्रुति है। जहाँ भेदघटित प्राप्ति हो वहाँ ज्ञानमात्र से प्राप्ति संभव नहीं, इसीलिये बेचारे वैष्णवंमन्य चाहकर भी बारम्बार गधों को जानने की पूरी कोशिश करते हैं फिर भी वास्तव में गधे बन नहीं पाते, सिर्फ इतना ही होता है कि मनुष्य-संस्कार दब जाते हैं और गधातुल्यता प्रतीत होने लगती है क्योंकि पुनःपुनः गधाभावना करने से गधों जैसा होना स्वाभाविक है। अतएव गधों की तरह श्रुत्यर्थ – और श्रुतिशब्दों – से बेखबर रहकर 'अद्वैत श्रौत नहीं है' आदि अनर्गल प्रलाप करते हैं। जहाँ केवल अज्ञान ही अन्यथाभाव है वहाँ ज्ञान ही उस अन्यथाभाव की निवृत्ति और स्वभाव की प्राप्ति करा देता है। अतः कर्ण केवल ज्ञान से कौन्तेय बन सकता है, रामजी केवल ब्रह्माजी के वाक्य से विष्णु बन सकते हैं, 'खोया' हुआ दसवाँ केवल समझाने से 'मिल' सकता है। क्योंकि किसी दूसरी वास्तविक वस्तु के होने पर परमात्मा व्यापक नहीं हो सकता इसलिए वही वह है, दूसरा कोई सच है नहीं: वही स्वयं को जीव माने हुए है, जैसे ही वह इस अज्ञान को हटा देता है वैसे ही वह वही 'हो' जाता है; अमृत, मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार यह द्वितीय खण्ड ब्रह्ममीमांसा से प्रारंभ होकर अमृतभवन में समाप्त हुआ। ब्रह्मोपदेशपूर्वक ब्रह्ममीमांसा ही अमृत ब्रह्म होने का एकमात्र तरीका है। प्रतिबोधविदित की शरण में रहनारूप भक्ति से वही होनारूप मुक्ति प्राप्त होती है। मनुष्यमात्र का यह कर्तव्य है कि अपने व अन्य भी सब बोधों के 'प्रति' को समझे और समस्त क्लेशों का समापन करे।

।। दूसरा खण्ड पूरा हुआ ।।

तृतीयः खण्डः

उत्तरग्रन्थतात्पर्यषट्के - १) आत्माऽसत्वशङ्कानिरासः

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये। 'अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्' (के.२.३) इत्यादिश्रवणाद्—यदस्ति तद्विज्ञातं प्रमाणैः, यन्नास्ति तदविज्ञातं शशविषाणकल्पमत्यन्तमेव असद् दृष्टम्। तथा—इदं ब्रह्म अविज्ञातत्वादसदेव इति मन्दबुद्धीनां व्यामोहो मा भूदिति तदर्थेयमाख्यायिकाऽऽरभ्यते।

तदेव हि ब्रह्म सर्वप्रकारेण प्रशास्तृ, देवानामपि परो देवः, ईश्वराणामपीश्वरः, दुर्विज्ञेयः, देवानां जयहेतुः असुराणां पराजयहेतुः। तत् कथं नास्ति! इत्येतस्यार्थस्य अनुकूलानि ह्युत्तराणि वचांसि दृश्यन्ते।

अगले ग्रन्थभाग के छह तात्पर्य- १) 'आत्मा नहीं है' यह शंका हटाना

पूर्व खण्ड में कहा था आत्मा जानकारों के लिये अविज्ञात है, विज्ञात तो उसे ग़ैर-जानकार ही समझते हैं। सामान्य मान्यता है कि जो हुआ करता है वह प्रमाणों से जाना जाता है और जो होता नहीं है वह शशशृंगादि अत्यंत असद् वस्तु ही सर्वथा प्रमाणों का अविषय होता है। जब इस श्रोत्रादि के श्रोत्रादि पर ब्रह्म को प्रमाणों का सर्वथा अगोचर बताया तो कमज़ोर दिमाग़ वालों को यह भ्रम संभव है कि यह परमात्मा नहीं ही होगा। ऐसा उल्टा ज्ञान न हो जाये इस प्रयोजन से इस खण्ड में कथा के रूप में सर्वप्रशासक परमेश्वर का वर्णन किया जा रहा है।

सामान्यतः किसी भी सूक्ष्म तत्त्व के बारे में समझाने पर यही समस्या आती है कि श्रोता या तो उस तत्त्व को सिर्फ एक कल्पना मान लेता है और या उसे स्थूल तत्त्वों का ही एक रूपविशेष समझ लेता है। सूक्ष्म तत्त्वों को बुद्धिगम्य बनाने के लिए सभी क्षेत्रों के विद्वान् उन तत्त्वों को स्थूल आयामों में लाकर समझाते हैं। संख्या, शक्ति, नैतिकता, धर्म, समता, सौन्दर्य, शुद्धि आदि सभी में किसी-न-किसी तरह यही प्रक्रिया अपनायी जाती है। जिन्हे अन्वय-व्यतिरेक की या तो पकड़ नहीं और या उस पर भरोसा नहीं वे इस प्रक्रिया में भटककर पूर्वोक्त द्विविध भ्रमों में पड़ जाते हैं — या इन्हें तत्त्व की जगह मान्यता या कल्पना मानने लगते हैं और या समझाने के लिये अध्यारोपित स्थूलता को इन तत्त्वों का वास्तविक स्वरूप मानने लगते हैं। अन्वय-व्यतिरेक में अकुशलता और विचारजन्य निश्चय की सत्यता पर अविश्वास ही मन्दबुद्धिता है। कई लोग अज्ञान या भ्रान्ति में बने रहने में अपने को सुरक्षित या सुखी समझते हैं। बाझके डर से बालू में सिर छिपाने जैसा उनका प्रयास है जो मंदबुद्धिता का द्योतक है। संभव है उस सुरक्षा या सुख में उनका सारा जीवन भी बीत जाये, उन्हें उस अज्ञान या भ्रम से कभी कोई नुकसान या कष्ट न हो, लेकिन ज्ञान के स्वतंत्र सुख से वे अवश्य वंचित रहेंगे। ज्ञान का एक भावभूत सुख है, केवल अज्ञान-दुःख का हटनामात्र नहीं है। जैसे जिसे कभी प्रेम प्राप्त नहीं हुआ वह इसी में खुश रहता है कि 'मुझसे कोई दुश्मनी नहीं रखता', लेकिन प्रेम मिलने का भावभूत सुख तो उसे नहीं ही मिल पाता; या जिसने कभी किसी की सहायता नहीं की, सेवा नहीं की, वह इतने से ही प्रसन्न रहता है कि 'मैंने किसी का नुकसान नहीं किया, किसी को दुःख नहीं दिया'; परन्तु ज़रूरतमन्द की सहायता करने का या सेवा करने का जो भावरूप सुख है वह तो उसे नहीं मिलता; भूख मिटने का सुख तो बाजरे के सूखे रोट को नमक-मिर्च मिलाकर खाने से भी हो ही जाता है पर रबड़ी के मालपुए का सुख उतना ही तो नहीं है; इसी प्रकार अज्ञान या भ्रम में बने रहना भी हो सकता है एक सुख हो पर सही जानकारी पाने का सुख एक विशेष आनंद है। एक रूसी कथालेखक ने कहा है 'ज्ञान में निष्ठा होती है, अज्ञान में ज़िद्। अज्ञानी व्यक्ति का सौभाग्य है कि वह अपने को स्वतंत्र समझता है, अपनी दासता का उसे संदेह भी नहीं होता। बल्कि स्वतंत्रता की भावना को ही वह दासता मानता है!' ज़िद् और निष्ठा का बाह्य अन्तर क्या बताया जाये? ज़िद्दी और निष्ठावान् दोनों अपने निश्चयों के लिए जीते हैं और ज़रूरत पड़े तो मर भी जाते हैं। अंतर तो आंतरिक है, एक अज्ञान से है, एक ज्ञान से। ज्ञान, जैसा पहले 'मीमांसा' के प्रकरण में बताया था, अज्ञानविशेष का ही नाम नहीं

है। किसी भ्रमविशेष को ही प्रमा नहीं कहते हैं। संसार के क्षेत्र में भले ही हर 'प्रमा' कटती-पुष्ट होती-कटती दीखे पर प्रतिबोधविदित की प्रमा इस चक्र से बाहर रहती है। वह है मनोवृत्ति पर आधारित पर उस पर आश्रित नहीं है। जैसे बहुधा प्रेम स्थूल शरीर पर आधारित होता है लेकिन क्योंकि उस पर आश्रित नहीं इसलिये स्थूल शरीर पूर्ण विकृत होने पर भी प्रेम बना रहता है, ऐसे ही चाहे वृत्ति से ज्ञान होता है लेकिन वृत्ति न रहने, या उल्टी भी हो जाने पर 'ज्ञान' एकरूप ही स्थायी रहता है। कम-से-कम शांकर मर्यादा में कह सकते हैं कि सात्त्विक-तामस, शास्त्रीय-शास्त्रविरुद्ध किसी भी नाम-रूप पर आग्रह ज़िद्द है, अज्ञानभूमि है तथा सच्चिदानंदमात्र पर 'आग्रह' का नाम निष्ठा है, ज्ञानभूमि है। इस विभाजन का यौक्तिक आदि विवेचन पूर्व खण्डों में किया जा चुका है। एवं च बाह्य न सही, ख़ुद के बारे में तो ज़िद्द और निष्ठा का भेद समझ ही सकते हैं।

आत्मा के बारे में समझाने पर भी यही दिक़्क़त आती है: या निर्विशेषता पर बल देने से उसे तत्त्व की जगह मान्यतादि समझ लिया जाता है— जैसा किसी पाश्चात्य ने कहा है 'यदि ईश्वर न होता तो हमें एक किसी ईश्वर का आविष्कार करना पड़ता!' — और या जब उसे सविशेष के सहारे समझाते हैं तो उसे नाम-रूपयुक्त पदार्थविशेष समझ लिया जाता है। अतः शास्त्रकार दोनों निरूपणप्रकार मिला-जुलाकर चलते हैं ताकि एक संतुलन रहे जिससे दोनों भ्रम न हों।

पूर्व प्रसंग विदित-अविदित से अन्य रूप से परमात्मा को समझा चुका है। विदित-अन्य होना 'न होना' नहीं है, यह इस खण्ड से बताना अभिप्रेत है। पूर्वत्र जिसे इषिता-प्रेषिता कहा उसे ही यहाँ यक्ष, ब्रह्म कहना है। वहाँ अध्यात्म देवों के शासकरूप से बताया था यहाँ अधिदैव देवों के शासकरूप से बतायेंगे। वहाँ प्रतिबोधविदित कहा था, यहाँ उमा जब प्रतिबोध करायेंगी तब विदित होगा। अतः एक तरह से पूर्वोपदेश को ही रूपक बनाकर यहाँ समझाया जा रहा है। इसीलिए भाष्य में इसे 'आख्यायिका' कहा, उक्त तत्त्व का ही यह 'आ' पूरी तरह 'ख्यान' प्रकथन कर रही है। भूतार्थवादी वेदान्ती ऐसे प्रसंगों की घटितरूपता — या आधुनिक भाषा में ऐतिहासिकता — से डरते नहीं हैं पर उतने मात्र से इन्हे तत्त्वोपयोगी ढंग से न समझा जाये यह भी बहम नहीं रखते। हमारे गुरुचरण प्रवचनादि में प्रायः पौराणिक या लोककथाओं की भी आध्यात्मिक प्रतीकात्मकता का वर्णन करते हैं। उनका यह अभिप्राय नहीं कि वे कथायें केवल अध्यात्मबोधन के लिये कल्पित हैं, घटित वाक़िये नहीं हैं, पर अभिप्राय यह है कि उनकी घटनामात्ररूपता से पुरुषार्थसिद्धि नहीं जबकि प्रतीकात्मकता से पुरुषार्थलाभ संभव है अतः घटनारूपता से अविरुद्ध प्रतीकरूप से भी समझना उचित है। यह ठीक है कि सभी कथाओं को वास्तविक घटना मानना ज़रूरी भी नहीं है पर प्रमाणान्तर-विरोध न हो तो यथाप्रसिद्ध घटितता से हानि भी नहीं है। तंत्रवार्तिक में (१.२.१ पृ. ११६ आ.आ.) भट्ट कुमारिल ने भी माना है कि महाभारतादि से भी,अक्षरार्थमात्र से अलग, पुरुषार्थबोधनता समझी जानी चाहिये और यह भी कि कुछ अर्थवाद घटितरूप नहीं भी हो सकते हैं 'तत्र ·····केचिद् ········अर्थवादाः ···········स्वयमेव काव्यन्यायेन रचिताः।' कैसे समझें कि कहाँ घटितता है और कहाँ नहीं? वस्तुतः यह भेद समझना किसी प्रयोजन का है नहीं, फिर भी सामान्य नियम है कि प्रमाणान्तरविषय और प्रमाणान्तरविरोध न हो तो ज्ञानसाधन से जैसा समझ आये उसे वैसा ही मान लेना चाहिये। बृहदारण्यक सम्बन्धवार्तिक (पृ. ११७) और उस पर आनन्दगिरिटीका में यह प्रसंग स्पष्ट किया गया है। अतः जहाँ ज्ञानजनक ग्रंथादि इस तात्पर्य वाले हों कि 'यह घटना हुई' और वह घटना न प्रमाणान्तर से पता चल रही है, न यह किसी प्रमाण से सिद्ध है कि वह नहीं हुई, तो यह स्वीकार्य है कि वह घटना हुई। यही इन खण्डों में आई कथा के बारे में भी समझ लेना चाहिये। लेकिन उतने से इसका मुख्य तात्पर्य बदलेगा नहीं, आत्मस्वरूप के बारे में भ्रम न रखकर विहित साधनों से आत्मसाक्षात्कार ही परमपुमर्थ है—यह अभिप्राय बना ही रहेगा। यहाँ कई तात्पर्य इस प्रसंग के बताये जायेंगे, सभी विवक्षित हैं। कुछ टिप्पणकारों ने इस प्रथम तात्पर्य को अविवक्षित कहा है पर इससे भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये क्योंकि उन्होंने स्वयं उसका अर्थ किया है गौण - 'अविवक्षितं गौणमिदं तात्पर्यम्।' अनेक तात्पर्य कहे होने से गौण-प्रधानभाव तो इष्ट ही है। वायु, अग्नि आदि जिसके संमुख निर्वीर्य हो

गये, इन्द्र जिसे पास से देख भी नहीं पाया, जिसके बारे में देवता जान न सके, वह परमात्मा शशशृंग की तरह असत् नहीं हो सकता, भले ही विदितक्षेत्र से बाहर हो, यह भाव है।

इसे व्यक्त करते हैं—विदित-अविदित से अन्य वही परब्रह्म हर तरह—भीतर-बाहर—से प्रशासन करने वाला है। देवताओं से भी श्रेष्ठ देव है अर्थात् खिलाड़ी है, विजेता है, व्यवहार करने वाला है, प्रकाशरूप है, स्तवनीय है, आनंदरूप है, अविद्यामदमस्त है, उसका सपना ही सारा संसार है, उसकी इच्छा से ही सब कुछ होता है, सारी क्रियायें व सारे ज्ञान उसी से होते हैं और मोक्ष समेत सब लौकिक अलौकिक फलों का वही निरंकुश प्रदाता है। बाकी सब पर शासन चलाने वाले इन्द्रादि पर भी उस ऐश्वर्यशील का ही अलंघ्य शासन चलता है। उसे विदित के क्षेत्र में लाने की कोशिश दुःखों से भरी है और बड़ी मेहनत से हुई तैयारी के बाद ही उसे अभात—अज्ञात, अननुभूयमान—समझना समाप्त हो सकता है। देवों की जीत और असुरों की हार का हेतु वही है। उसे 'नहीं है' कैसे कहा जाये! आगे की कथा परमेश्वरास्तित्व समझाने के अनुकूल ढंग से ही प्रवृत्त हुई है।

ईसाई पुराणादि यद्यपि ईश्वर और शैतान की स्वतंत्रता बताते प्रतीत होते हैं तथापि अनेक ईसाई विचारकों ने — और उनके बहुमान्य साम्प्रदायिक आचार्य टामस अक्काइनस ने — शैतान की स्वतंत्र सत्ता नहीं मानी है। हमारे पुराणादि तो स्पष्ट ही असुरादि के पूज्य भी परमेश्वर को ही बताते हैं। सभी असुर, राक्षस, दानव आदि परमेश्वर की ही आराधना से बलिष्ठ होते हैं फिर भले ही बल का दुरुपयोग करने से ईश्वर द्वारा दण्डित होते हैं यह सर्वत्र पुराण महाभारत आदि में स्पष्ट किया गया है। तात्कालिक असुरविजय भी अतः ईश्वरहेतुक ही है और साक्षात् या देवतादि द्वारा ईश्वर ही असुरपराजय कराते हैं। यदि वे कुसंस्कारी हैं तो ईश्वर उन्हें दुरुपयोग करने के लिये बल देकर अव्यवस्था फैलाते ही क्यों हैं? इस प्रश्न का उत्तर पहले तो परमेश्वर को सर्वपिता मानकर समझना चाहियेः बाप बिगड़े लड़के को समझाता-बुझाता भी है और जब लड़का ज्यादा गिड़गिड़ाता है तो धनादि भी देता ही है चाहे अधिक दुष्टता करे तो बाप ही उसे पीटता भी है। अथवा वे माँ की तरह हैं, माँ समझती है 'लायक लड़का तो ख़ुद कमा खायेगा पर बेचारे नालायक का क्या होगा? उसे तो मैं ही कुछ सहारा दूँ।' वे सबसे बड़े भाई भी हैं जिन्हें छोटे भाइयों के झगड़े में कभी इसकी कभी उसकी तरफ से बोलना ही पड़ेगा। ईश्वर न्यायकारी राजा हैं, सबको पूरा मौका देना ज़रूरी समझते हैं, पक्षपात को न्याय नहीं मानते। और वे आशावादी गुरु हैं; गुरु जब शिक्षा देते हैं तो यह मानकर ही कि छात्र उसका सदुपयोग करेंगे। अतः अणुविस्फोट को संभव करने वाले सभी प्रमुख वैज्ञानिकों को जापान के विध्वंस से हार्दिक कष्ट हुआ था। आखिर द्रोणाचार्य ने धृष्टद्युम्न को धनुर्विद्या दी ही थी। ईश्वर हैं धन; धन कमाकर कोई दानादि करता है, कोई भोगादि, कोई व्यर्थ ही उसे खो बैठता है और कोई उससे आतंककारी हरकतें करता है। जिसने धन दिया वह ग्राहक या मालिक क्या यह मानकर देता है कि यह व्यापारी या कर्मचारी दुर्व्यवहार करेगा? या क्या धन का यह दोष है? और परमेश्वर स्वतंत्रतावादी हैं; क्या लोकमान्य तिलक, मालवीय जी, गांधीजी आदि ने स्वतंत्रता यह मानकर ली कि हम चोरी, घूसखोरी, आपसी विद्वेष, एकान्त स्वार्थ के लिए पक्षपात का अतिशय, वैदेशिक कुरीतियों की नकल, भारतीय सांस्कृतिक मर्यादाओं का पददलन, धर्मसहिष्णुता के नाम पर बहुमत धर्म का कुटिल प्रताडन, प्रान्तीय अस्मिता के बहाने राष्ट्रद्रोह, औद्योगिकता की ओट में रोजगार-समापन, शिक्षा के आवरण में विदेशी ग्रंथों का कण्ठाग्रीकरण, विषाक्त अनाज, जल, वायु आदि की भरमार और न जाने किन-किन कुकर्मों से देश की यह दयनीय स्थिति कर देंगे जिसमें आर्थिकादि पराधीनता, राजनैतिक बिखराव, सामाजिक स्वच्छन्दता, निर्वीर्य न्यायपालिका, अन्ध-पंगु दण्डव्यवस्था, प्रतिस्पर्धा की वन्य-प्रक्रिया, प्राकृतिक सम्पदा का तिलशः विनाश, पलायन, पीडा, असुरक्षा, सर्वविध विकास का प्रतिरोध, अधार्मिकता, अध्यात्मशून्यता, भोगैकतत्परता आदि का ही अखण्ड साम्राज्य रह सकता है? जैसे इन सब में हमारी उत्तरदायिता है, तिलक-गाँधी ने ऐसी स्वतंत्रता दिलायी ही क्यों? — यह प्रश्न अनुचित ही है, ऐसे ही ईश्वर असुरों को या आसुर प्रवृत्ति वालों को बल क्यों देते हैं — यह प्रश्न अनुचित है।

लेकिन ईश्वर तो सर्वज्ञ है, बाप-माँ-राजा-नेता आदि अल्पज्ञ हैं अतः उनकी तरह ईश्वर क्यों अनधिकारी को बल देता है? यदि ईश्वर सर्वज्ञ है तो सर्वकर्ता भी है। अतः जब कहीं किसी से कोई अनर्थ हो रहा है तब भी तो उसी की इच्छा से ही। जैसे वह बल देने में स्वतंत्र है वैसे ही उसका प्रयोग कराने में भी। अतः देवों और असुरों को बल देकर एक की जय, दूसरे की पराजय कराये इसमें कोई विरोध नहीं। तो ईश्वर ऐसा पक्षपाती क्यों है? पहले बल देकर, ग़लत प्रयोग कराकर फिर देवताओं से हरा कर कष्ट क्यों देता है? यदि जीतने-हारने वालों से ईश्वर कोई अन्य होता तब यह भी प्रश्न बनता। वह तो उनसे अत्यन्त अभिन्न है, वह देव हुआ जीत रहा है, असुर हुआ हार रहा है, अतः पक्षपात का प्रश्न ही नहीं उठता। दुःख देने वाला और दुःखी होने वाला जब एक ही है तब 'कष्ट क्यों देता है?' — यह पूछना ही नहीं बनता। यदि अपने से अन्य को कष्ट देता तब यह प्रश्न संगत होता। किन्तु हमें लगता है कि हम दुःखी हैं, यह तो लगता नहीं कि कोई ईश्वर दुःखी है, ऐसा क्यों? यह इसलिए कि हम विचार नहीं करते कि हम हैं कौन। यह समझ लें कि वास्तव में हम कौन हैं तो हमारा दुःखाभिमान हट जाये। फिर अगर ईश्वर दुःखी रहना चाहे तो रहा करे, हमारा तो कष्ट समाप्त ही है! वस्तुतः जब हम स्वस्वरूप समझने की कोशिश करेंगे तो दुःख का ही बाध हो जायेगा और जगत्-परमेश्वरत्व-जीवत्वभेदकालुष्य हटकर स्वाभाविक स्वमहिम-प्रतिष्ठित निरज्ञान प्रत्यक् चैतन्यरूप भूमतत्त्व ही रहेगा। यही पारमार्थिक विजय सर्वज्ञमुनि का मंगल है।

ii) विद्यास्तुतिः

अथवा ब्रह्मविद्यायाः स्तुतये। कथम्? ब्रह्मविज्ञानाद् हि अग्न्यादयो देवा देवानां श्रेष्ठत्वं जग्मुः, ततोऽप्यतितरामिन्द्र इति (द्र.के.४.२-३)।

२) दूसरा तात्पर्य.- विद्या की प्रशंसा

ब्रह्मविद्या की प्रशंसा के लिए यह कथानक यहाँ सुनाया जा रहा है। प्रशंसा किस तरह है? इस तरह कि इसमें बताया है कि ब्रह्म से निकट का संपर्क होने के कारण अर्थात् ब्रह्म का विज्ञान होने के कारण ही अग्नि व वायु बाकी देवताओं से श्रेष्ठ हुए और उनसे भी श्रेष्ठ हुए इन्द्र क्योंकि उन्हीं ने हैमवती के उपदेश से सर्वप्रथम ब्रह्म की सही महिमा समझी।

ज्ञान से श्रेष्ठता की संकल्पना वेदान्त की विशिष्ट देन है। कठचिन्तन में (पृ.७६) इसी आधार पर अद्वैतानुसारी समाजशास्त्र, राजनीति, शिक्षानीति आदि को माना गया है: 'समाज तथा राजनीति की रचना का वेदान्त की दृष्टि से एकमात्र उद्देश्य यही है कि अधिक से अधिक लोग उस वातावरण में ज्ञान की प्राप्ति कर सकें।' अर्थप्रधानव्यवस्थाओं का ही आज बोलबाला है। कुछ लोगों के पास ज्यादा धन रहे या ज्यादा लोगों के पास कम धन रहे, बस इतना मतभेद है पर समाज, राजनीति और शिक्षा का केन्द्र धन ही हो यह आज सब को मान्य है। भारत की एक प्रसिद्ध छवि यह है कि यहाँ धर्म को इनका केन्द्र माना गया है। वेदान्त उसमें भी 'परम धर्म' को — 'अयन्तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्'— लक्ष्य मानकर इन सब संस्थाओं को स्थापित करता है। उपनिषदों में अनेकत्र एक विज्ञान से सर्वविज्ञान के आदर्श को सामने रखकर ब्रह्मविद्या का उपस्थापन किया गया है। जैसे अर्थ-प्रधानता रखने पर भी विविध क्षेत्रों में ज्ञान की वृद्धि, तकनीक की वृद्धि, अस्त्रादिवृद्धि भी हो ही रही है वैसे ही ज्ञान को मुख्य स्थान देने पर भी अर्थादिवृद्धि भी होती ही रहेगी। अन्तर तो कीमत का पड़ता है। जब त्याग-वैराग्य से मनुष्य की श्रेष्ठता आँकी जाती थी तब भी भारत सोने की चिड़िया था, देश-देशान्तर में विजयपताका भारत की फहराती थी, विश्व का गुरु कहा जाता था। अतः विश्व-परिप्रेक्ष्य में किसी तरह की कमज़ोरी आयेगी यह माना नहीं जा सकता क्योंकि ज्ञान को केन्द्र मानकर बाकी सभी चीज़ें व्यवस्थित हो जायेंगी। ज्ञान से यद्यपि यहाँ परमात्मसाक्षात्कार ही विवक्षित है तथापि उपनिषत् में कहा है कि दो विद्यायें जानने योग्य हैं — परा और अपरा। अपरा वेद-वेदांगरूप है। इसे धर्मविद्या समझ सकते हैं। परा तो ब्रह्मविद्या ही है। धन आदि पदार्थों

का इन्हीं में सार्थक्य है, या तो धर्मोपयोगी होकर अभ्युदयहेतु बनें या ब्रह्मविद्योपयोगी होकर निःश्रेयसहेतु बनें। दृष्ट उन्नति तो आनुषंगिक है क्योंकि फलार्थ वृक्ष बोने पर भी छाया व सुगन्ध मिलते ही हैं ऐसे अभ्युदय-निःश्रेयसार्थ धनादि विनियुक्त होने पर भी लौकिक उन्नति करते ही हैं।

इस कथा में यद्यपि अग्नि और वायु ने पहले ब्रह्म को सही नहीं जाना था तथापि क्योंकि उनसे बात-चीत कर पाये थे इसी से दोनों की महत्ता हो गयी। तात्पर्य है कि ब्रह्मोपासना भी श्रेष्ठताप्राप्ति में हेतु बन जाती है। इसमें भी देवतादि उपासना की अपेक्षा सगुणोपासना बेहतर है, उससे भी निर्गुणोपासना बेहतर है यह समझना चाहिये। यदि हममें ब्रह्मज्ञान का सामर्थ्य नहीं तो श्रेष्ठ बनने के लिये हम ब्रह्मोपासना में प्रवृत्त हों इसलिए यह प्रशंसा है। इन्द्र ने तो तत्त्वज्ञान ही पाया अतः सर्वश्रेष्ठ हैं। सामर्थ्य हो तो श्रेष्ठ बनने के लिए ज्ञानलाभ में प्रयत्नशील होना चाहिये यह अभिप्राय है।

iii) ब्रह्मदुर्ज्ञानता

अथवा दुर्विज्ञेयं ब्रह्मेत्येतत्प्रदर्श्यते येन अग्न्यादयोऽतितेजसोऽपि क्लेशेनैव ब्रह्म विदितवन्तः, तथेन्द्रो देवानामीश्वरोऽपि सन्निति। *'ब्रह्म ह देवेभ्य' इति ब्रह्मणो दुर्विज्ञेयतोक्तिर्यत्नाधिक्यार्था। समाप्ता ब्रह्मविद्या यदधीनः पुरुषार्थः। अत ऊर्ध्वमर्थवादेन ब्रह्मणो दुर्विज्ञेयतोच्यते, तद्विज्ञाने कथं नु नाम यत्नमधिकं कुर्याद्-इति।*

३) तीसरा तात्पर्य - ब्रह्म मुश्किल से समझ आता है

अथवा आख्यायिका से यह दिखाया जा रहा है कि ब्रह्मसाक्षात्कार अतिप्रयत्नसाध्य है। जब अत्यन्त तेजस्वी अग्नि आदि देवता और देवराज इन्द्र भी क्लेश से ही ब्रह्म समझ पाये तब हमें उसके लिये काफी कोशिश करनी पड़ेगी इसमें कहना ही क्या! ब्रह्म को दुर्विज्ञेय बताना इसीलिए है कि हम अधिकाधिक प्रयत्न ब्रह्मज्ञान के लिए करें। जिस ज्ञान से परम पुरुषार्थ सिद्ध होगा वह तो पूर्व खण्ड में उपसंहृत कर ही दिया। अब इस अर्थवाद से इसीलिए उस पर तत्त्व को कठिनायी से समझ आ सकने वाला कहा जा रहा है कि अधिकारी इससे प्रेरित हो उसके ज्ञान के लिए और ज्यादा यत्न करे।

विधेय में प्रेरित करने के प्रमुख प्रयोजन से कही बातें अर्थवाद होती हैं अतः आख्यायिकारूप इस अर्थवाद का भी प्रयोजन विद्या में प्रेरित करना है। अतिकठिन बताने से कुछ लोग हतोत्साह हो जाते हैं, कुछ प्रोत्साहित। अतः अर्थवाद भी किसी के लिये विपरीतफलक हो ही सकता है। पर यहाँ के अर्थवाद में एक संबल है : ब्रह्म ख़ुद दर्शन दे देता है और यदि सचमुच पूरी लगन हो तो भगवती उमा स्वयं आकर वास्तवकिता समझा देती हैं। अतः हतोत्साह होने की कोई उचितता नहीं है। ईमानदारी से ऐहिक-आमुष्मिक सब फलों की ओर से मुँह मोड़कर केवल परमात्मप्राप्ति के लिये स्वसामर्थ्यानुसार सारा प्रयत्न करना—इतना करने को प्रेरित करना अभिप्रेत है। इस यत्न का फल तो अवश्य होगा क्योंकि शिव-पार्वती की निर्व्याज करुणा ही जब मोक्ष का पर्याप्त हेतु है तो वे किसी भी साधक की उपेक्षा कर ही नहीं सकते। मोक्ष हमारे यत्न का फल नहीं। हम उसे अपने यत्न का फल मानते हैं और यत्न करने पर वह मिल जाता है इस प्रकार यत्न और फल के अनुभवों को अपनी मान्यता से मिलाकर हम समझ लेते हैं कि वह यत्न का फल है। वस्तुतः मिलेगा तो ऐसा लगेगा भी नहीं कि वह यत्नफल है, लेकिन अभी ऐसा ही मानकर चल सकते हैं। यद्यपि यत्न करना-न-करना एक जैसा व्यर्थ है तथापि बिना किये हम क्षणभर भी रह सकते नहीं अतः वही करें जिसे हम इष्टप्रद मानते हैं। हाँ, यदि सर्वधर्मपरित्यागरूप नैष्कर्म्यनिष्ठ हो सकें तो सच ही कोई यत्न करने की जरूरत नहीं, बल्कि सारा यत्न है ही इस भाव को पाने के लिए कि कुछ न करें। गीताभूमिका में मधुसूदन स्वामी ने 'कायेन मनसा गिरा। सर्वावस्थासु भगवद्भक्तिरत्रोपयुज्यते ।।३१।। एवं प्राग्भूमिसिद्धावप्युत्तरोत्तरभूमये। विधेया भगवद्भक्तिस्तां विना सा न सिद्ध्यति ।।३६।। निष्कामकर्मानुष्ठानं मूलं मोक्षस्य कीर्तितम्' ।।४१।। आदि में साधक क्यों यत्न करे यह संक्षेप में कह दिया है। पूर्व में

'उपनिषत्सु धर्माः' के सन्दर्भ में भी यह यत्न किंचित् विस्तार से कह चुके हैं। कठचिन्तन में (पृ.१०१) तथा गीताप्रवेश (यज्ञ, अध्यात्म, आचार आदि) में हमारे गुरुचरणों ने भी विस्तृत वर्णन इन यत्नों का किया है। यद्यपि हर अंग का पूर्ण अनुष्ठान हर साधक कर पाये यह संभव नहीं, कुछ अंगों को प्रमुखता देकर ही प्रत्येक चल सकता है, तथापि सामान्यतः सब समझकर रखने इसलिए पड़ते हैं कि यथासंभव कोशिश तो हर ओर पूर्णता लाने की करनी चाहिये। व्यक्ति की एकांगी वृद्धि तो रोग है! पुष्टि का मतलब ही है सर्वांगीण वृद्धि, सबल दृढता। अतः साधक चाहे कुछेक पहलुओं में ज्यादा उन्नति करे — जैसे पहलवानों में कोई कलाई और भुजदण्डों में अधिक बल बटोरते हैं, कुछ जंघा व कन्धों में — लेकिन यदि बाकी पहलुओं में वह पिछड़ रहा है या यथावत् भी है तो ज़रूर कोई ख़राबी ही है। यदि बौद्धिकदृष्टि से अद्वैत में स्पष्टता आ रही है पर मानसिक और बाह्य व्यवहार भेदप्रधान ही है, भोगोन्मुखता बनी ही है, वैराग्य नहीं आ पा रहा, तो निश्चय रखना चाहिये कि हमारा यत्न सही नहीं हो रहा है। ज़बर्दस्ती मनमाना अभेदव्यवहारादि भी मिथ्याचार ही होगा। बुद्धि मन को व दोनों वाणी आदि देह को प्रेरित करें तब जो सहज अभिव्यक्ति है उसी से अपनी प्रगति आँकी जा सकती है। दूसरे का परीक्षक तो कभी नहीं बनना चाहिये। न अपने को कोई फ़ायदा ही है और न सही परीक्षा हम कर ही सकते हैं। अतः यत्नाधिक्य में ख़ुद ही अपना परीक्षक बनकर प्रयासशील रहें यह इस आख्यायिका का एक विशिष्ट तात्पर्य भाष्यकार कह रहे हैं। 'अथवा' शब्द तो सभी की विवक्षितता के ही अभिप्राय से हैं। जैसे पाणिनि 'वा' से दोनों प्रयोग साधु ही बताते हैं, तुल्य औचित्य दोनों का होता है, वैसे ही यहाँ भाष्यकार के अथवा शब्दों का अर्थ समझना चाहिये।

iv) शमादिकर्तव्यता

शमाद्यर्थो वाऽऽम्नायः, अभिमानशातनात्। शमादि वा ब्रह्मविद्यासाधनं विधित्सितं, तदर्थोऽयमर्थवादाम्नायः। न हि शमादिसाधनरहितस्य अभिमानरागद्वेषादियुक्तस्य ब्रह्मविज्ञाने सामर्थ्यमस्ति। व्यावृत्तबाह्यमिथ्याप्रत्ययग्राह्यत्वाद् ब्रह्मणः। यस्माच्च अग्न्यादीनां जयाभिमानं शातयति ततश्च ब्रह्मविज्ञानं दर्शयति अभिमानोपशमे। तस्माच्छमादिसाधनविधानार्थोऽयमर्थवाद इत्यवसीयते।

४) चौथा तात्पर्य – शम आदि करने चाहिये

या इस ग्रन्थभाग का प्रयोजन यह स्पष्ट करना है कि शम आदि का अभ्यास ज़रूर करना चाहिये क्योंकि इन्द्रादि का अभिमान हटने पर ही उन्हें ज्ञान हुआ यह यहाँ दिखाया गया है। ब्रह्मविद्या के साधन हैं शमादि। परब्रह्म का ज्ञान और उपासना दोनों ही अशान्त आदि व्यक्ति करने में असमर्थ हैं। बिना शमादि के ब्रह्मानुभूति हो नहीं सकती अतः शास्त्र को इष्ट है कि शमादि का विधान किया जाये। चतुर्थ खण्ड में तप, दम आदि कहे जाने वाले हैं। वे अवश्य किये जायें अन्यथा ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं होता यह इस अर्थवाद का तात्पर्य है।

शमादि साधनों की कमी का स्पष्ट पता चल जाता है अभिमान, राग-द्वेष आदि से सम्बद्ध रहने से। अभिमानादि होने का मतलब है शमादि न होना। और जिसमें शमादि नहीं हैं उसमें यह सामर्थ्य नहीं कि वह परमात्मानुभव पा सके क्योंकि ब्रह्मयाथाम्य की अवगति उसे ही होती है जो दृश्यसम्बन्धी सब मिथ्या निश्चय छोड़ चुका है।

शमादि का अभिमानादि से संबंध बताकर भाष्यकार ने एक व्यावहारिक और सरल ढंग स्पष्ट किया है जिससे हम साधन संपत् बटोरने के कार्य में लगने पर नफ़ा-नुकसान समझ सकें। यद्यपि अभिमान हटने का वास्तविक अर्थ है त्वंपदार्थ का पूरा शोधन हो जाना, प्रमाता से हटकर साक्षिभाव से बने रहना, तथापि भाष्य का अभिप्राय यह भी है कि 'यतो यतो निवर्तते'-न्याय से शनैः शनैः विविध अनात्माध्यासरूप अभिमान ढीले पड़ें व हटते जायें। यह सत्य है कि सारे अनात्माध्यास केवल अखण्डज्ञान से समाप्त होंगे, यह भी सत्य है कि रस्सी पर एक सर्प का अध्यास हो या सर्प-माला-

जलधारा-दण्डादि अनन्त वस्तुओं का अध्यास हो, तत्त्वज्ञान से हटना एक जैसा है इसलिए अध्यास घटाने का प्रयास व्यर्थ है क्योंकि कम अध्यास भी उतना ही ग़लत है जितना ज्यादा अध्यास, फिर भी वस्तुस्थिति यह है कि अनात्माध्यारोपरूप अभिमान घटे और टूटे बिना परमात्मज्ञान नहीं होता। सर्प-रज्जु स्थल में उक्त बात ठीक है पर जिस काँच में मुँह देखना है उस पर गंदगी के कमो-बेश से अंतर ज़रूर पड़ता है चाहे कम गंदगी भी दर्पणस्वरूप से उतनी ही बाह्य है जितनी ज्यादा गन्दगी। न केवल मन को अपने से सर्वथा अलग जानना है वरन् जानना भी उस मन से ही है अतः मन को जानने का उपाय तो बनाना पड़ेगा। आत्मा से न्यूनसत्ताक होने पर भी मनोवृत्तिरूप अभिमान मन से तो तुल्य सत्ताक ही है। मन ज्ञान करने के लायक बने इसके लिए उसमें अभिमानवृत्तियाँ कम करनी ज़रूरी हो जाती हैं। यह समझ भी लें कि वस्तुतः हम अलग हैं, मन अलग है, फिर भी जब तक यह समझ उस दार्ढ्य तक नहीं पहुँचती जब सकार्य विद्या को समाप्त करे तब तक मन की तैयारी की उपेक्षा करना भूल होगी। शल्य के औज़ार पानी से धोकर पानी सुखा दिया जाता है अतः शल्यकाल में उन पर पानी रहने नहीं देना है लेकिन फिर भी अगर उस पानी की स्वच्छता पर यह मानकर ध्यान न दें कि 'शल्यकाल में तो इसे रहना नहीं है', तो हानि अवश्य हो जायेगी। ऐसे ही परमार्थभूमि में मन, चाहे शुद्ध हो या अशुद्ध, रहेगा नहीं पर इसे मानकर उसे शुद्ध न किया तो हानि ही होगी; परमार्थ की गन्ध से भी वंचित रहना पड़ेगा।

अभिमान आदि मनोदोषों पर कृपा वस्तुतः मन आदि पर रागातिशय का चिह्न है। उन दोषों की उपेक्षा भी मन आदि में प्रेमवश उन पर कोई ज़ोर न पड़े इसी की व्यवस्था है। आचार्यों ने जो कृतसाक्षात्कार में भी रागाभासादि का अभ्युपगम किया है वह इस तात्पर्य से नहीं कि उसमें वे रहेंगे वरन् इस अभिप्राय से हैं कि उनका अभाव उसमें रहे यह नियम नहीं हो सकता क्योंकि वे तो उनके भाव-अभाव दोनों से 'अधि' हैं। अतः विदितान्य का जैसे मतलब अविदित होना नहीं है या माया को भावरूप कहने का यह अर्थ नहीं है कि ब्रह्म और माया दो भाव पदार्थ हैं वरन् यही अर्थ है कि माया अभावरूप नहीं है, ऐसे ही 'रागादि रहें' का तात्पर्य है कि उनमें रागादि का अभाव रहता हो ऐसा नहीं। न कोई भावधर्म और न अभावधर्म उनमें होता है यह आचार्यवचन का स्पष्टार्थ है। यद्यपि सद्गुणाधान भी मन आदि में ममत्वादिवश ही होता है तथापि वह मन के आनुकूल्य के लिए नहीं बल्कि प्रायः उसके प्रातिकूल्य के लिए केवल शास्त्रप्रेरणा से होता है इसलिए वह राग को काटता है, पोसता नहीं।

शम-अभिमान, दम-राग, उपरति-द्वेष, तितिक्षा-अभिनिवेश, समाधान-कार्याविद्या और श्रद्धा-कारणाविद्या — ये जोड़े समझने चाहिये। शम बढेगा तो अभिमान घटेंगा; जितने अनात्मधर्मों को अपनी विशेषता हम आज मान रहे हैं, वर्षभर बाद कुछ कम धर्मों को ही मानें तो शम की आय है। अभिमान बदलना उसका घटना नहीं है। पहले मूर्ख मानते थे, अब अपने को पण्डित मानते हैं तो यह घटना नहीं है, केवल कह सकते हैं कि घाटा नहीं हुआ। ऐसे ही देहधर्म, इन्द्रियधर्म तथा अन्य भी जातीय, आर्थिक, प्रान्तीय आदि सभी अभिमान समझ लेने चाहिये। जितना इन्द्रियनिरोध बढ़ेगा उतना पदार्थों का आकर्षण या राग घटेगा। यहाँ भी रागपरिवर्तन को घटना नहीं मानना चाहिये। राग की तीव्रता का घटना भी घटना ही है : यदि कुल विषय उतने भी हैं पर एक-आध विषय के प्रति आकर्षण में कमज़ोरी आयी है तो दम में वृद्धि ही है। अभिमाननिवृत्त्यर्थ जो विवेकाभ्यास किया जाता है उससे रागहानि में मदद मिलती है। साथ ही विषयों में दोषदर्शन इसमें उपादेय है। फिर भी अभ्यास तो चाहिये ही; विषय से हटे रहने की जब तक इंन्द्रियों को आदत नहीं पड़ेगी तब तक उनका और विषयों का परस्पर आकर्षण घटना और टूटना मुश्किल है। अरण्यवास आदि इसीलिए उपयोगी हैं। ज्ञानेन्द्रिय ही नहीं कर्मेन्द्रियों का भी इसी तरह निरोध अपेक्षित है। केवल रोक लेना निरोध नहीं है, उन्हें नियंत्रितरूप से केवल विहितादि अध्यात्मोपयोगी प्रयोगों में लाना निरोध है। अंतिम स्थिति में भले ही सर्वप्रवृत्तिहान हो पर प्रारंभ में— और काफ़ी दूर तक — तो प्रवृत्तिविशेषों में उन्मुख करना ही निरोध है।

उपरति बढ़ने से द्वेष घटेगा। परायी हानि करने की इच्छादि द्वेष है। पर को जितनी हम ज्यादा कीमत देते हैं उतना

ही द्वेष अधिक संभव होता है। पर को जब हम मूल्य नहीं या कम भी देते हैं तो द्वेष इसलिए घटता है कि हम उसे द्वेष करने लायक ही नहीं समझते। सम्राट् दूसरे सम्राट् से द्वेष कर सकता है लेकिन किसी गाँव में खेलने वाले लड़कों में जो तेज़ दौड़ने वाला हो उससे सम्राट् क्योंकर द्वेष करेगा? नगर सेठ यदि घाट पर बैठे अंधे मँगते की हानि करना चाहने लगे तो उसे केवल द्वेष ही नहीं कोई मानसिक रोग कहना पड़ेगा। जानवर होने पर भी शेर कुत्ते का भौंकना सुनकर दहाड़ना नहीं चाहता! 'न हि रुतमनुरौति ग्रामसिंहस्य सिंहः।' उपरति द्वेषरूप नहीं है, नाम-रूप का अवमूल्यनरूप है। उससे करुणा तो कथंचित् बढ़ भी सकती है पर द्वेष कभी नहीं बढ़ सकता। विवेक से असंबद्ध वैराग्य भले ही किसी तरह के द्वेष का रूप ले ले पर विवेकज वैराग्य में वह संभव नहीं। यद्यपि अवमूल्यन की दृष्टि से कृपा भी बनती नहीं है तथापि जैसे भले लोग सिनेमा में भी किसी का उत्पीडन देखने से उद्विग्न ही होते हैं चाहे जानते हैं कि 'उत्पीडित' उस दृश्य के चित्रण से ही प्रसन्नतापूर्वक पर्याप्त धन पाता है, ऐसे ही उपरत को चाहे नाम-रूप काफी कम कीमत का लगता है फिर भी वह अपनी भलमनसाहत से — साधुता से — उसको क्लेशयुक्त नहीं देखना चाहता। अतः उसमें कृपा संगत हो सकती है पर द्वेष नहीं।

सहनशीलता में वृद्धि से आग्रहशीलता में कमी आती है। आग्रह वास्तव में विषयान्तर की असहिष्णुता ही तो है। जैसे मुसलमान अपने मज़हब पर आग्रही हैं तो काफ़िरों के असहिष्णु या जो नेता कुछ जातिविशेषों को आर्थिक समृद्धि दिलाने के आग्रही हैं वे अन्य जातियों की समृद्धि सह नहीं सकते, ऐसे ही सर्वत्र आग्रही होने का मतलब ही है सहनशील न होना। 'मुझे अनुकूल ताप ही मिलना चाहिये' ऐसे आग्रह वाला ही उससे ज्यादा सर्दी-गर्मी सह नहीं पायेगा। 'मुझे सम्मान ही मिले' यह आग्रह ही अपमान की असहिष्णुता है। ऐसे ही भोजन, भाषा, वस्त्र आदि सभी मान्यताओं में समझना चाहिये। यहाँ भी स्मर्तव्य है कि आग्रह ज़िद है न कि निष्ठा और यह कह चुके हैं कि ज़िद अज्ञानमूलक है जबकि ज्ञान से होती है निष्ठा। ईसाई धर्मप्रचार करे तो मान सकते हैं कि निष्ठा से कर रहा है, चाहे उसका निष्ठाविषय हमें अनिष्ट है, हमारी समझ-बूझ से ग़लत है, हम जिसे प्रमाण स्वीकारते हैं उससे विपरीत है। लेकिन जब वह चमत्कार, प्रलोभन, मजबूरी, बल, झूठ, आदि का प्रयोग कर किसी को ईसाई बनाता है तब मानना पड़ेगा कि वह ज़िद्दी है क्योंकि उसने अपने ही ग्रंथ को और उसकी सांप्रदायिक व्याख्या को बिना समझे या जान-बूझकर छिपा कर ये प्रवृत्तियाँ की हैं। यहूदीविरोध से ख़ुद ईसाइयों का दिल दहल गया। उसी के मानो प्रायश्चित्त में वे आज खुलकर यहूदी समर्थन कर रहे हैं तो क्या माना जाये कि वे ईसा-घातकों को संमानित कर रहे हैं? आदम का पाप अगर आज का आदमी भी भोग रहा है तो क्या आज के यहूदी तब वालों की संतानपरंपरा में नहीं हैं? लेकिन बाइबिल यों बदला लेने की सीख नहीं देती इस ज्ञान के कारण वे उस ज़िद को छोड़ पाये। ऐसे ही बाइबिल चमत्कारादि से विश्वास पैदा कराने का आदेश नहीं देती यह ज्ञान हो जाये तो वे इन ज़िद्दों से भी बच सकते हैं। यथाधिकार परमेश्वर ने सभी को ज्ञानोपाय प्रदान किये हैं जिन्हें सही समझकर चलें तो सब को इष्टलाभ संभव है। सब वेदाधिकारी नहीं हैं, वेदाज्ञायें सब पर लादी नहीं जा सकती। ग़लती वहाँ से प्रारंभ होती है जब हम सही समझना छोड़कर अज्ञान में रहते हुए ज़िद्दी बन जाते हैं। संभव है कि विविध ज्ञानोपाय विरुद्ध इष्टोपाय प्रतिपादित करें पर अधिकारानुसार व्यवस्था समझनी चाहिए। जैसे 'कर्म अवश्य करे' और 'कर्म अवश्य छोड़े' विपरीत विधियाँ यथाधिकार समझनी पड़ती हैं ऐसे ही सर्वत्र जानना चाहिये। हो सकता है बहुधा यह हमें बहुत कष्टप्रद हो; किन्तु इतने से हम उसकी इष्टोपायता पर शंका कैसे करें? आखिर जिस छाग की हमें बलि देकर स्वर्ग मिलता है क्या उसे हमारे हाथों मरना पसंद है? हमें इष्ट है लोहे की छड़े बनें लेकि पिघले लोहे से काम करने वाले मज़दूर — जिनकी उस बाष्प में रहने से आयु प्रतिदिन अधिकाधिक क्षीण होती है — क्या उस कार्य को संपन्न करने को सचमुच अपना इष्टसाधन मानते हैं? या केवल उनकी मजबूरी का हम फ़ायदा उठा रहे हैं? भाष्यकार ने लिखा है कि एक कौर अन्न भी ऐसा हम नहीं खा सकते जिसके बारे में कोई प्राणी यह न सोच रहा हो 'यह मुझे मिले।' फिर भी हम अपनी औचित्यदृष्टि से चलते हैं तो संतुष्ट रहते हैं कि हम ठीक कर रहे हैं। ऐसे ही जो कोई भी अपनी औचित्यदृष्टि से

चले उसे ठीक ही समझना चाहिये, भले ही हमारी दृष्टि से विपरीत ही उसकी दृष्टि हो। इस प्रकार हर तरह की सहनशीलता बढ़ाने से आग्रहिता निवृत्त हो सकती है।

समाधि का अभ्यास उपस्थित विक्षेपों को दूर करता है। अनिवार्य अभिमानादि प्रारब्धभोग के लिये बने रहते हैं। समाधि काल में वे तिरोहित हो जाते हैं। प्रारब्ध के धक्के से वे उद्बुद्ध होते हैं। ज़रूरी भोग कर पुनः संयम में लगे तो उनका भी न्यूनतम सामना करना पड़ता है जिससे उनके संस्कार न्यूनतर होते जाते हैं। संयम न रखने से वे अभिमानादि बने रहेंगे तो उनकी वासना भी पुष्ट होती जायेगी तत्त्वबोध के लिये ये अभिमानादि भी यथासंभव प्रतिबद्ध हों यह ज़रूरी होने के कारण समाधान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ख़ासकर वार्तिक प्रस्थान में ध्यानात्मक निदिध्यासन नहीं स्वीकारने के कारण समाधान की महत्ता और भी बढ़ जाती है। वाचस्पति तो इस कमी को श्रवणादि के बाद आपरोक्ष्यार्थ निदिध्यासन से पूरी कर लेंगे, विवरणाचार्य भी श्रवणांगभूत निदिध्यासन से — 'अतिसूक्ष्मतरब्रह्मात्मविषयनिदिध्यासनप्रचयपरिनिर्मिततदेकाग्रवृत्तिगुणं चित्तेन्द्रियम्' से (विव.पृ.२८६), 'वाक्यार्थविषये स्थिरीभावः' से (पंचपा. पृ.६५२) — यह कमी पूरी कर लेंगे। लेकिन वार्तिकानुयायी तो साधनसंपत्ति में ही इतनी तैयारी करेंगे कि यह कमी रहे ही नहीं। अतः समाधान और ज़रूरी विक्षेप की कमी भी सम-अनुपाती हैं।

श्रद्धा पूर्ण हो तब कारणाविद्या समाप्त होती है। कारणाविद्या हटने के लिए जो निश्चयदार्ढ्य चाहिये वह प्रमाण-प्रमेय पर श्रद्धातिशय पर निर्भर है। किसी को अपनी — या सभी — आँखों पर अश्रद्धा हो तो रूप दीखने पर भी निश्चय दृढ हो नहीं सकता। ऐसे ही ब्रह्मज्ञान हो जाये लेकिन श्रद्धा नहीं है तो दृढ निश्चय न हो सकने से अविद्या-निवृत्ति नहीं होगी। इस दृष्टि से ब्रह्मनिश्चय भी धर्मनिश्चय के तुल्य है। ज्ञानहेतुता और निश्चयहेतुता में प्रयोजकभेद मानने में कोई विरोध नहीं। यद्यपि परीक्षित प्रमाण निश्चय कराता है तथापि श्रद्धा-अनास्पद की परीक्षा भी निश्चय कराती नहीं। जिन हेतुओं से वैदिक को वेदार्थ की निश्चित प्रमा होती है उन हेतुओं को ईसाई-मुसलमान भी जानते ही हैं। उनमें भी अनेक संस्कृतज्ञ हैं, वेद-वेदान्तों के विद्वान् हैं, ग्रंथकार हैं। उनके ग्रन्थों से वैदिक भले ही अपनी वेदपरीक्षा में सहायता पाये लेकिन उन्हे ख़ुद तो वैदिक ज्ञान में निश्चितप्रमात्व नहीं मिलता। ऐसा नहीं कि वे वेदसमन्वय अन्यत्र ही बतायें या चित्सुखी, अद्वैतसिद्धि का खण्डन ही करें; फिर भी श्रद्धा न होने से ही वे अविद्यानिवर्तक ज्ञान नहीं पाते। वैदिक भी बाईबिल-क़ुरान से ऐसे निश्चय पर नहीं पहुँचता जिसे वह प्रमा समझे। प्रायः तो परीक्षा करेगा ही नहीं। क्यों? क्योंकि उन ग्रंथों पर इसे श्रद्धा नहीं है। आगे शांकर को मध्व-रामानुज के भाष्यों से और वैष्णवों को शांकर भाष्यादि से निश्चय होना नहीं। इस प्रकार स्पष्ट है कि निश्चय के लिए श्रद्धा चाहिये और मूलाविद्यानिवृत्ति के लिए निश्चय चाहिये ही। अतः यह जोड़ा भी समुचित है। इसलिए भाष्य में कह दिया कि शमादिरहित अभिमानादियुक्त में ब्रह्मविज्ञान का सामर्थ्य नहीं है।

अधिकारी बताकर अनधिकारी पहले अधिकार एकत्र करे यह उपदेश दिया। ऐसा नहीं कि जैसे दृष्ट कार्यों में अनधिकारी भी स्वरूपतः संपन्न तो कर लेता है सिर्फ़ फल से वंचित रहता है — ग़ैर-सेनापति भी सेना को आज्ञा दे तो सकता ही है, मानी भले ही न जाये, या ब्राह्मण भी राजसूय के अंग निर्वृत्त कर तो सकता ही है, फल चाहे न मिल सके — ऐसे अनधिकारी भी यथार्थब्रह्मज्ञान तो पा लेगा केवल मोक्ष से वंचित रहेगा। ऐसा इसलिए नहीं है क्योंकि यहाँ अनधिकारी को सही ज्ञान ही नहीं हो पायेगा। अतएव किसका सामर्थ्य नहीं है यह बताने पर भी किसके द्वारा परमात्मा ग्राह्य है यह अलग से कहा। व्यावृत्तादि शब्द से पदार्थशुद्धिपर्यन्त सर्वसाधनोपेत होना कहा गया है। बाह्य तथा मिथ्या — ऐसे योजना करें तो व्यावृत्तबाह्यप्रत्ययत्व से समाधि या निदिध्यासन भी संगृहीत है और व्यावृत्तमिथ्याप्रत्ययत्व से मिथ्या-ज्ञान-निवारक मनन भी। ऐसा अधिकारी श्रवणमात्र से ब्रह्म को ग्रहण कर लेता है यह भाव है।

इस प्रकार विधित्सित एवं अनिवार्यतः अपेक्षित होने के कारण आख्यायिका की शमाद्यर्थता है यह बताया। अब 'अभिमानशातनात्' इस सूत्रभाग का अर्थ करते हुए कथानक की संरचना से भी शमाद्यर्थता सिद्ध करते हैं - **कथा में**

दिखाया है कि जब अग्नि आदि देवताओं का यह अभिमान नष्ट हुआ कि 'हमारी ही यह जीत है, महिमा है' तब उन्हें ब्रह्मविज्ञान हुआ। इससे भी यह निश्चय होता है कि शम आदि साधनों की विधि हमें प्रवृत्त करने में समर्थ हो इसलिए यह अर्थवाद है। मीमांसक शब्दभावना की इतिकर्तव्यतारूप अर्थवाद मानते हैं। सर्वज्ञमुनि ने यही कहा है 'करणमिह लिङादेर्ज्ञानमेवाङ्गभाग: पुनरभिरुचिहेतुर्दृश्यते च प्रशंसा' (१.३८९) अर्थात् 'इह' शब्दभावना में लिङादिज्ञान ही करण है और अभिरुचि में हेतुभूत प्रशंसा ही उसका इतिकर्तव्यतारूप अंगभाग है। अत: प्रकृत कथा भी वैध शमादिलाभ में हमें प्रवृत्त करने के अर्थ या प्रयोजन वाली है यह कथा में कहे घटनाक्रम से भी पता चलता है यह भाव है।

भाष्यकार सूचित कर रहे हैं कि कर्मकाण्डियों की तरह अक्षरों पर सर्वथा अनारूढ प्रशंसितता समझना उचित नहीं, अर्थवाद के अक्षरार्थ को भी उस तरह समझना चाहिये कि तात्पर्य उन अक्षरों में भी दीखे, अक्षरों में छिपा हुआ वह अभिप्राय है यह भी मालूम चले। अत: यह ठीक है कि हरिश्चन्द्रोपाख्यान का पुराणप्रसिद्ध रूप सत्यनिष्ठा बताने के लिये है। किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि पात्रों के नाम और घटनादि का विनियोजन भी उस मुख्याभिप्राय के उपयोगी बातें नहीं बताते हैं। जहाँ स्पष्ट न हो वहाँ भी विचारादि से खोजना चाहिये कि आखिर सत्यवक्ता को 'हरिश्चन्द्र' ही पुराणकार ने क्यों कहा? उसकी पत्नी 'तारामती' ही क्यों है? परीक्षा 'विश्वामित्र' से ही क्यों लिवायी गयी? भले ही ये ऐतिहासिक व्यक्ति और घटनायें हैं, पर व्यासजी ने सत्यनिष्ठा में इन्हें ही क्यों उदाहरण बनाया; और भी सत्यनिष्ठ हुए ही होंगे फिर भी इन्हे चुनने में क्या भाव है? हमारे गुरुचरणों के 'रुद्र' नामक प्रवचनसंग्रह में यह न्याय अनेक उपाख्यानों पर लागू किया गया है। यहाँ तो स्पष्ट ही आम्नाय को अभिमान 'नष्ट करने वाला' और फिर ब्रह्मानुभव 'दिखाने वाला' यों ण्यन्तकर्ता के रूप में उल्लेख कर भाष्यकार कह रहे हैं कि ये काम आम्नाय किसी मतलब से कर रहा है। वह मतलब यही है कि अभिमान हटने पर ही तत्त्वज्ञान होने से हम अभिमान हटाने के लिए शमादि बटोरने में उत्साह से लगें। 'मिथ्यैष व्यवसायस्ते' से भगवान् ने भी अभिमान के मिथ्यात्व को कण्ठत: कहा है जिससे पता लगता है कि निरभिमान ही सत्यदर्शी होता है।

'अभिमानं शातयति' 'शमादिसाधनविधानार्थ:' यों अभिमान में 'आदि' नहीं कहा और साधनों में शम में 'आदि' लगा दिया, इससे व्यक्त किया कि शमादि सभी साधन वास्तव में अभिमान ही हटाने के लिए हैं। रागादि भी अभिमानविशेष ही हैं, असंभावना-विपरीतभावना भी अभिमानरूप ही हैं। विचार करें तो सारा बंधन ही अभिमानात्मक है; अनभिमत तो अविद्या भी बंधक नहीं है यह अज्ञात ब्रह्म से अतिरिक्त अविद्या न होने के प्रकरण में बता ही चुके हैं। इसी से बहुत जगह अध्यास को ही आखिरी मानकर ग्रंथप्रवृत्ति देखने में आती है। इसलिए ही कुछ विचारकों को भ्रम हो गया है कि शांकर सिद्धांत में मूलभूत अविद्या अनावश्यक या अस्वीकृत है। यह ठीक है कि मिथ्या होने से अविद्या भी एक अध्यासविशेष ही है लेकिन है वह अनादि दण्डायमान जो तत्त्वबोध से ही हटता है। कादाचित्कता और स्थायिता के भेद से अध्यासद्वैविध्य है, स्थायी को मूलाज्ञान कहते हैं और कादाचित्क को प्राय: केवल अध्यास-शब्द से कह देते हैं। यदि यह भेद मान लें तब 'मूलाज्ञान' इस नाम को मानने-न-मानने से कोई अंतर नहीं पड़ता लेकिन इसे न मानने पर अनिर्मोक्षतापत्ति, मुक्त का पुनर्बन्ध, सुषुप्तिमोक्ष आदि अनेक असमाधेय समस्यायें सामने आती हैं जिन्हें बुद्धिगम्य ढंग से हटाना संभव नहीं होता। प्रकृत में जय को उपलक्षणार्थ रखकर सारे मिथ्याज्ञानों को अभिमान कह दिया है जिनके हट जाने पर ब्रह्मविज्ञान अर्थात् मूलाज्ञाननिवारण संभव है।

'अभिमानोपशमे' अर्थात् अभिमान का उपशम होने पर। उप-जोड़कर लिखने का अभिप्राय है कि ब्रह्मनिश्चय अभिमानराहित्य में संभव नहीं क्योंकि ब्रह्मबोध भी एक व्यवहार है। उसकी उपशांति ज़रूर चाहिये। शास्त्रीयबाध, यौक्तिकबाध, आदि परोक्ष ज्ञानों से अभिमान की सत्यता का निश्चय समाप्त हो चुकना चाहिये, अभ्यास से अभिमानों की संख्या व तीव्रता काफी घट जानी चाहिये, समाधान — या निदिध्यासन — से कादाचित्क निरभिमानता हो चुकनी चाहिये; यह सब होना

उपशान्त होना है। अभिमानमात्र की अविद्यमानतादशा को यहाँ 'उपशान्ति' नहीं कह रहे। इससे पता चला कि अभिमान वहाँ तक हटाने हैं जहाँ तक के हटाये बिना तत्त्वबोध नहीं हो सकता, न कम न ज्यादा। यदि उससे कम अभिमान हटाये तो चित्तदर्पण में अपेक्षित सफ़ायी न आने से आत्मदर्शन ही नहीं होगा और कहीं ज्यादा अभिमान हटा लिये तो तत्त्वबोधार्थ यत्न ही न हो सकेगा, उदाहरणार्थ, नींद आ जायेगी। अथवा 'मैं श्रोता' अभिमान लुप्त होगा तो श्रवण नहीं हो सकता इत्यादि समझकर आवश्यक अभिमान बचाये भी रखने पड़ेंगे। उन्हे भी परोक्षबाधक ज्ञानों से मिथ्या तो याद रखना ही पड़ेगा पर स्वरूपतः उन्हें मिटाने की कोशिश नहीं करनी जबकि तत्त्वज्ञान में प्रतिबंधक अभिमान तो मिथ्या भी समझने और स्वरूपतः भी दूर करने हैं। एवं च मनुष्यत्व, यतित्वादि, शिष्यत्वादि अभिमान पालते हो तो अन्य अभिमानों से परहेज़ क्यों? — आदि प्रश्नों का उत्तर हो गया कि आवश्यक अभिमानों से अधिक अभिमानों से परहेज़ उचित है जैसे आवश्यक से अतिरिक्त भोजनादि से सभी बचते हैं। यही परिग्रहादि के संबंध में न्याय है। अतः चौथा तात्पर्य इस आख्यायिका का है कि हम शमादि एकत्र करने में तत्पर हों।

v) सगुणं ब्रह्मोपासनीयम्

वक्ष्यमाणोपनिषद्विधिपरं वा सर्वम्। *सगुणोपासनार्थो वा, अपोदितत्वात्। 'नेदं यदिदमुपासत' इत्युपास्यत्वं ब्रह्मणोऽपोदितम्। अपोदितत्वाद् अनुपास्यत्वे प्राप्ते, तस्यैव ब्रह्मणः सगुणत्वेन अधिदैवमध्यात्मं चोपासनं विधातव्यमित्येवमर्थो वा। 'इत्यधिदैवतम्' (४.४), 'तद्वनमित्युपासितव्यम्' (४.६) इति हि वक्ष्यति।*

५) पाँचवा तात्पर्य - सगुण ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये

अब वह तात्पर्य बता रहे हैं जिसे टीकाकार अभिप्रेत या प्रधान कहते हैं। उनका कहना है कि ब्रह्म-प्रत्यक् जहाँ विषयरूप से अनुभव में नहीं आता वह ज्ञान उत्तमाधिकारी के उपयोग का है जिसे पूर्व खण्डों में बता चुके। आगे सगुण ब्रह्म की उपासना बतायेंगे जो मन्दाधिकारी के काम की है। स्पष्ट ही 'उपासितव्यम्', 'एवं वेद' आदि विधियाँ श्रुत हैं अतः 'ब्रह्म ह' इत्यादि संदर्भ उसी उपासनाविधि की प्रेरकता संपन्न करने के लिये प्रवृत्त है यही मानना उचित है। अतः मुख्य तात्पर्य इसी बात में है कि मंदाधिकारी सगुणोपासना करे। भाष्य में जो अन्य अर्थों में भी तात्पर्य दिखाया वह इतना ही बताने के लिए कि वे तात्पर्य भी संभावित हैं। अतः टीकाकार तात्पर्यान्तरों को असंभव नहीं संभव कहकर मुख्य-गौणभाव ही बता रहे हैं।

मीमांसक निस्संदेह जिसमें संमति देंगे वह अभिप्रेत तात्पर्य यह है - **आगे आने वाली उपासनाविधि में तात्पर्य वाला यह सारा कथानक है यह भी समझना चाहिये।** भाष्यानुसार वक्ष्यमाणत्व केन खण्डों में ही रोका जाये यह ज़रूरी न मानकर यह समझना चाहिये कि जहाँ कहीं भी सगुणोपासना विहित है वहाँ सर्वत्र यह कथा प्रेरक हो सकती है। 'विविदिषंति' से कर्मोपासनामात्र का विद्या में विनियोग होने के कारण ब्रह्मोपासना की — और परमसिद्धान्त में तो कर्म भी उपासना ही है क्योंकि वह भी ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए ही है, ईश्वरप्रसन्नता ही पुण्य है — विद्याहेतुता के लिए अर्थवाद यह कथा स्पष्ट है। 'ब्रह्म' का दर्शन हुआ, उनकी ओर चले, निकट आये, उनसे बात-चीत की, व्यवहार किया, समझने की कोशिश की, उपदेश सुना, ज्ञान हुआ; यह कथा में क्रम है। अतः 'ब्रह्म' के दर्शन आदि से ज्ञान हुआ - यह बात व्यक्त होती है। तात्पर्य है कि विविदिषन्ति श्रुति से प्रेरित हुआ मंदाधिकारी कर्म-उपासना आदि से विद्याप्राप्ति करता है यह इस कथा से पता चलता है। उमा — गुरु — से सुनना तो पड़ेगा ही। उपास्तिविधि उपनिषत् में है; इससे वेद कह रहा है कि 'श्रेष्ठ अधिकार पाने के लिये उपासना करो।' बिना ईश्वरप्रणिधान के कोई यत्न से मोक्षाधिकारसम्पन्न नहीं हो सकता यह निश्चित सिद्धान्त है।

यदि यहाँ यह अर्थवाद न आता तो क्या वक्ष्यमाण विधि की प्रेरकता में कोई प्रतिबंधक रहता? हाँ, रहता। वह

प्रतिबंधक स्पष्ट करते हैं – सगुणोपासना की जा सकती है — यह निश्चय हो इसलिये यह आख्यायिका यहाँ ज़रूरी है क्योंकि पूर्वप्रसंग में कह दिया था कि जो उपास्य है वह ब्रह्म नहीं है। पहले कहा था 'जिसकी उपासना करते हैं उसे ब्रह्म न समझना'। इससे लगेगा कि परमात्मा उपासनीय है ही नहीं। इस ग़लत ज्ञान को हटाने के लिये बताना पड़ेगा कि क्योंकि वही परब्रह्म सगुण भी है इसलिए उपासना के योग्य है ही। अधिदैव-अध्यात्मभेद से यहाँ परमात्मोपासना बताकर यही स्पष्ट किया कि निरस्तसर्वोपाधि पारमार्थिक स्वरूप से उपासना-विषय न होने पर भी सोपाधि रूप से वह उपासना के योग्य है। अतः मन्दाधिकारी ईश्वरोपासना करे ।

पञ्चाधिकरणी के तुरंत बाद विचारारंभ करते हुए भाष्य में कहा है कि ब्रह्म दो तरह समझा जाता है निरुपाधिक और सोपाधिक 'द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते — नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टं, तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम्।' वहीं आगे कहते हैं 'तत्राविद्यावस्थायां ब्रह्मण उपास्योपासकादिलक्षणः सर्वो व्यवहारः।' उपाधि की विशेषता से उपास्य में श्रेष्ठता हो जाती है यह भी वहीं बताया 'यद्यपि एक आत्मा सर्वभूतेषु स्थावरजङ्गमेषु गूढः तथापि चित्तोपाधिविशेषतारतम्याद् आत्मनः कूटस्थनित्यस्य एकरूपस्यापि उत्तरोत्तरम् आविष्कृतस्य तारतम्यम् ऐश्वर्यशक्तिविशेषैः श्रूयते।' पुनः अन्तराधिकरण में (१.१.८.२०) 'स्यात् परमेश्वरस्यापि इच्छावशाद् मायामयं रूपं साधकानुग्रहार्थम्।' आगे ज्योतिरधिकरण में भी (१.१.१०.२४) 'निष्प्रदेशस्यापि ब्रह्मण उपाधिविशेषसम्बन्धात् प्रदेशविशेषकल्पनोपपत्तेः।' इस प्रकार वे ब्रह्म को सर्वथा अनुपास्य नहीं मानते, केवल कहते हैं कि उसका वास्तविक जीवाभिन्न स्वरूप उपासनागोचर नहीं है। इस सिद्धान्त की श्रौतता प्रकृत आख्यायिका के सहारे स्पष्ट हो जाती है। यहीं उस परमात्मा को अनुपास्य कहकर यहीं उसे उपास्य बताना और उपास्यरूप में अर्थवाद भी उपस्थित करना इसी प्रयोजन से है कि यह समझ आये कि वस्तुतः अनुपास्य होने पर भी व्यवहारतः उपास्य है। केनप्रक्रिया से भी वाच्य में उपास्यता और लक्ष्य में अनुपास्यता है यह अर्थ है।

vi) कर्तृत्वादेर्मिथ्यात्वम्

ब्रह्मविद्याव्यतिरेकेण प्राणिनां कर्तृत्वाद्यभिमानो मिथ्येत्येतद्दर्शनार्थं वाऽऽख्यायिका, यथा देवानां जयाद्यभिमानस्तद्वत्।

६) छठा तात्पर्य – कर्तृत्व आदि मिथ्या हैं

अथवा कथा यह बताने के लिए है कि ब्रह्मविद्या से विपरीत होने के कारण प्राणियों में जो कर्तृ-भोक्तृ – अभिमान है — 'मैं करने वाला हूँ' आदि — वह वैसा ही मिथ्या है जैसा देवताओं का यह अभिमान कि 'यह हमारी ही विजय है।' बाध्यता मिथ्यात्व है। ब्रह्मज्ञान से बाध्य 'मैं कर्ता' आदि भी मिथ्या ही हैं। जीत ब्रह्म की थी, यही हैमवती ने बताया, पर देवों ने समझा उन्ही की है अतः उनका अभिमान मिथ्या था। ऐसे ही कर्तृत्व आत्मा में है नहीं, उसे अपने में मानना मिथ्या ही अभिमान है। इस प्रकार परब्रह्म के ज्ञान से अकर्त्रात्मसाक्षात्कार से पूर्व कथारीति से वही समझा रहे हैं। यदि हम कर्ता हों तो हर बार क्यों नहीं कर पाते? अतः निश्चित है कि जब ईश्वरेच्छानुसार हमारी चेष्टा हो जाती है तब हमें लगता है हमारे करने से हुआ; वस्तुतः वह ईश्वर के करने से हुआ है, हमारे करने से नहीं। ईश्वरसृष्ट शरीरादि संघात की प्रक्रियाओं को 'कर्त्ता होना' कहते हैं – ऐसे ही 'भोक्ता होना' भी है – पर हम अध्यासवश समझ रहे हैं 'मैंने किया'। करना और भोगना हमेशा शरीरसंघात की अवस्थाविशेष है जब कि न हम शरीर बनाते हैं न उन अवस्थाविशेषों को ही जानते हैं, फिर भी मानते हैं 'मैं कर रहा हूँ, भोग रहा हूँ' अतः इसे मिथ्याभिमान ही कहना संगत है। मिथ्या से 'ग़लत' की भी ध्वनि है अर्थात् ऐसा अभिमान रखना अनुचित है, घृणित है।

इस तरह छह तात्पर्य भाष्यकारों ने इस अर्थवाद के बताये।

प्रथमो मन्त्रः

मन्त्रः

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये। तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त ।
त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति ॥३.१॥

मन्त्रार्थ

ह=किसी समय ऐसा हुआ कि **देवेभ्यः**=देवताओं पर कृपा करने के लिए **ब्रह्म**=परमात्मा ने **विजिग्ये**=विजय प्राप्त की। **ह**=निश्चय ही **तस्य**=उस **ब्रह्मणः**=परमात्मा की **विजये**=वह विजय थी जिसके होने पर **देवाः**=देवताओं ने **अमहीयन्त**=महिमा पायी। **ते**=उन देवताओं ने **ऐक्षन्त**=समझ लिया **इति**=कि **'अस्माकम्**=हमारी **एव**=ही **अयम्**=यह **विजयः**=जीत है, **अस्माकम्**=हमारी **एव**=ही **अयम्**=यह **महिमा**=महिमा है।'

एकमात्र परमेश्वर की स्वतंत्र निरपेक्ष लीलारूप ही संसार है इसका कोई भी पदार्थ, कोई भी घटनाक्रम, कोई भी व्यक्ति जो, जब, जैसा है या नहीं है उसमें अकेला कारण वही है। हम यह न समझ कर किसी भी बात की ज़िम्मेदारी उससे अतिरिक्त कहीं भी—अपने में, किसी अन्य प्राणी में या जड प्रकृत्यादि में—रखते हैं यह हमारी नासमझी है जिससे वृथा कष्ट पाते हैं। कदाचित् सुख भी मिलता लगता है पर वह भी दुःखनिवृत्ति से अन्य क्या होता है? कामना से चंचल हुआ चित्त कुछ शांत हुआ तो हम समझते हैं सुख हुआ, जबकि हुई सिर्फ़ चांचल्यनिवृत्ति। ईश्वर की तो नित्य विजय ही है। जो चाहे वह कर ले यही विजय होती है और ईश्वर सत्यसंकल्प है, जो वह चाहता है वही होता है। जब जहाँ अधर्म चाहता है तब वहाँ अधर्म ही होता है; अधर्म ईश्वरेच्छा के बिना होता हो ऐसा नहीं। ऐसे ही धर्म भी उसी की इच्छा से होता है। सुख-दुःख, राग-वैराग्य आदि सब होना उसकी विजय है। हम जो महिमा पाते हैं—'अहो! देवदत्त धन्य है कि उसने अमुक काम में सफलता पायी' इत्यादि—वह है ईश्वरविजय से ही: हमारे इच्छा-यत्नादि तद्विषयक ही हैं यद्विषयक ईश्वरेच्छा है तो ईश्वरेच्छा पूरी होने पर हम समझते हैं 'हमारी जीत हुई'। यदि विषयभेद है तो हम हार महसूस करते हैं। आगे, हमारी इच्छा ही क्यों कभी जयोन्मुख, कभी पराजयोन्मुख होती है? तो यह भी ईश्वरेच्छा से ही। मन भी ईश्वरशासित ही तो है, 'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः।' बस उसमें और उसकी इच्छादि वृत्तियों में 'हमारापन' यह हमारा 'ईक्षण' है, ग़लत ज्ञान है। यह स्वाभाविक, अनादि, होने से ईश्वरेच्छा से हुआ हो ऐसा नहीं। वस्तु देवदत्त की हो तो वह उसका सदुपयोग-दुरुपयोग कुछ भी करे, हमें क्या? लेकिन कुछ ऐसे व्यसनी होते हैं कि दूसरे ने अपनी वस्तु का दुरुपयोग किया इसी से परेशान रहते हैं! ऐसे ही हम भी मन आदि दृश्य के विकारों से दुःखी—और कभी सुखी भी—हैं जबकि दृश्यमात्र पर शिव का ही एकाधिकार है। मन आदि से तादात्म्यवश ऐसा होता है। उसे हटाने के लिये समझना पड़ेगा कि मन आदि हम-हमारे नहीं, परमेश्वर के ही हैं। इसी मार्ग से पदार्थशुद्धि होकर यथार्थता भास सकती है। भक्ति को गीता में मध्यषट्क में ही क्यों रखा—इसका गीतागूढार्थदीपिकाकार ने यह प्रयोजन सूचित किया है कि वह ज्ञानयोग्यता में अत्यंत सहायक है। केवल कर्म ज्ञान-योग्यता का पर्याप्त हेतु नहीं बनता यह शांकरसंप्रदाय में स्वीकार्य है। भक्ति की अत्यधिक ज़रूरत ज्ञानयोग्यता पाने के लिये है। मुमुक्षा और भक्ति वस्तुतः पर्याय ही हैं। अतः यहाँ कथा से यह द्योतित है कि हम देवताओं की ग़लती न दुहराकर सर्वत्र भगवद्विजय का अवलोकनमात्र करें, लीलादर्शन से अपूर्व आनंद पायें और कर्तृत्व-भोक्तृत्व भी अपने से झटक कर अकर्तृ-आत्ममात्र रूप से आनंद बने रहें।

इस विचार में अधर्मविरोध, सुधार, शिक्षा, दण्ड आदि सभी 'ज़िद्दें' सर्वथा बहिष्कार्य हैं, लेकिन 'निष्ठा' के अनुसार संघात की प्रवृत्ति-निवृत्ति में हस्तक्षेप किये बिना रहना है। हमारे मन में वैदिक संस्कार हैं और मन अवैदिक-विरोध कर रहा है तो ख़ूब करे, हम रोकने वाले कौन? और अगर वह म्लेच्छ-संस्कारों वाला है, वेदविरोध कर रहा है

तो जमकर करे, हम क्यों रोकें? मन हमारा नहीं; जिसका है वह समझे उससे क्या करना चाहिये, क्या नहीं। हमारे सामने है तो हम देख रहे हैं। सुषुप्ति-समाधि में सामने नहीं, तो हम भी नहीं देखते। उसे खोजने तो जाते नहीं! जब तक हमारी हार-जीत है तब तक ग़लत-फ़हमी से हम परेशान हैं। जब सर्वत्र महादेव की विजय ही विजय है तो हम कैसे क्लेश पा सकते हैं? यदि शिवप्रेम हममें नहीं है तब भी उनकी विजय से हमें क्लेश क्यों होगा? उनके जीतने से हम तो हारते नहीं। और कहीं शिवप्रेम है, तब तो उनकी विजय हमारे अधिक आनंद का हेतु होगी। क्योंकि ब्रह्म की विजय ही संभव है इसलिए यह अधिक आनंद तो प्रतिज्ञात ही समझना चाहिये, होगा ही। 'ज़िद्' हट जाने से समस्यायें समाप्त हैं। 'निष्ठा' से समस्या किसी भी ओर नहीं है, परस्पर विरुद्ध हों तो भी निष्ठाओं में किंचिद् भी असहिष्णुता नहीं होती। सांप्रदायिकता आग्रह नहीं निष्ठा है। परमेश्वरविजय की दृष्टि का किसी भी व्यवहार से कोई विरोध नहीं। इसमें आध्यात्मिक समता है, शांति है। इसकी अभिव्यक्ति भी ईश्वरेच्छाजन्य घटना है, कहीं स्वीकृति और कहीं धिक्कृति भी उन्ही की इच्छा से होने वाली घटनायें हैं। अगर हम उपदेश देते हैं तब तो हमारी बात मानी गयी तो सुख और न मानी गयी तो दुःख होगा। जब उपदेश ईश्वर दे रहा है और कहीं मानना व कहीं न मानना कर रहा है तो हम उससे सुख-दुःख कैसे पायेंगे? उसकी लीला से आनंद भले ही हो कि 'अहो! कैसी विचित्र सामर्थ्य है कि त्रिलोकी पर संकल्पमात्र से निरंकुश शासन करने वाला कहीं अपने को ग़ाली दिला—या दे—रहा है, कहीं अपनी स्तुति करा-या कर-रहा है!'

यह शरणागति या भक्ति ज्ञानाधिकार के लिए आवश्यक होने से ज्ञानप्रकरण के शेषरूप से इसे यहाँ उपनिषत् ने रखा।

'देवेभ्यः' अर्थात् देवताओं के लिए या शंकरानंदजी के अनुसार 'देवानामनुग्रहार्थाय।' ईश्वर की प्रत्येक विजय हमारे लिए, हम पर कृपा करने के लिए है, हम वास्तविकता जानें इसलिए है। हरा कर वे बार-बार कोशिश करते हैं कि हम सोचें 'अगर हम सचमुच करने वाले होते तो नाकामयाब क्यों होते? हमेशा सफल ही क्यों न होते?' इस ओर सोचने लगेंगे तो शीघ्र शरणागति में पहुँच सकते हैं। अतः मौढ्यवश जो हमें अपनी पराजय दीखती है वह भी वस्तुतः 'देवेभ्यो विजिग्ये' हमारे लिए ही ईश्वरविजय की एक घटना है। अतएव 'विपदः सन्तु' आदि कुन्तिवचन संगत है। बल्कि ये पराजयें ही हमारे अधिक उपयोग की हैं। हमें साभिमानदशा में जितनी सफलता मिलती है उतनी ही हमारी हानि ज़्यादा है क्योंकि हमारा 'ईक्षण' कि 'यह हमारी ही जीत है, महिमा है' पुष्टतर होता जाता है। कभी-कभी हमारी विजय भी होनी चाहिये, नहीं तो हम अपने को एकांततः पराजयपक्षीय मानने की भूल कर लेंगे। जय-पराजय से अस्पृष्ट स्वस्वरूप समझना है। विदित-अविदित से अन्य या दोनों तटों से अन्य महामत्स्य की तरह जय-पराजय से अन्य हमारी स्थिति है। अतः बीच-बीच में वे हमें जिता भी देते हैं। एवं च चाहे दैत्य पक्ष की जीत हो चाहे आदित्यपक्ष की, ब्रह्म की विजय तो 'देवेभ्यः' देवों पर अनुग्रह कर उन्ही के प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए है। यहाँ भाष्यादि में कहेंगे कि असुरों को जीता, लेकिन उसका इतना ही मतलब है कि इस वर्ण्यमान वाक्रिये में ब्रह्म की विजय ऐसी थी जिसे सुर अनुकूल और असुर प्रतिकूल समझ रहे थे। भाष्यादिकारों का यह मतलब नहीं कि जब सुरों को इष्ट जीत हो तब तो ब्रह्म की विजय है और जब असुरों को इष्ट जीत हो तब ब्रह्म की हार है! और न यह मतलब है कि असुरानुकूल जीत 'देवेभ्यः' नहीं होती! श्रुति ने 'ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये' कहकर यह तो स्पष्ट ही कह दिया कि ब्रह्म की विजय देवताओं के लिये ही होती है। और होती ब्रह्म की विजय ही है यह निःसंदिग्ध है।

'ब्रह्म' पद पर भाष्य विस्तार से है। शंकरानंदजी ने अर्थ किया है कि जो सत्य-ज्ञान-आनंदादि लक्षणों वाला है वही ब्रह्म यहाँ कहा जा रहा है। नारायण कहते हैं 'ब्रह्म ईश्वरः, को ह्यन्यस्तृणं वज्रीकर्तुं क्षमः!' उपनिषद्योगी ने बताया है 'निरविद्यमपि निर्विशेषं ब्रह्म 'स्वोपासनया भक्ताः स्वपदं भजेयुः' इति अनुकम्पया मूलाऽविद्याबीजांशाऽसङ्गेशभावमापन्नं सत्।' तीनों आचार्यों ने सारी बात स्पष्ट कर दी। ब्रह्म दो नहीं, अतः सच्चिदानंद ही ब्रह्म है। उसी को लीलातनु की अपेक्षा

से ईश्वर कहते हैं। क्यों वह तनु लेता है? हम पर कृपा करने के लिए, हमें मुक्त करने के लिए। ब्रह्मसूत्रभाष्य में विस्तृत विवेचन से तीनों बातें कही हैं अतः इन तीन व्याख्याओं की एकवाक्यता से वह पूरा प्रसंग संग्रथित है।

ब्रह्मपदार्थः

ब्रह्म यथोक्तलक्षणं परम्। ***ब्रह्मेति परः, लिङ्गात्। न हि अन्यत्र परादीश्वराद् नित्यसर्वज्ञात् परिभूयाग्न्यादींस्तृणं वज्रीकर्तुं सामर्थ्यमस्ति। 'तन्न शशाक दग्धुम्' (३.६) इत्यादिलिङ्गाद् ब्रह्मशब्दवाच्य ईश्वर इत्यवसीयते। न ह्यन्यथा अग्निस्तृणं दग्धुं नोत्सहते, वायुर्वाऽऽदातुम्। ईश्वरेच्छया तृणमपि वज्रीभवतीत्युपपद्यते।***

'ब्रह्म-शब्द का अर्थ

'श्रोत्र का श्रोत्र' आदि असाधारण स्वरूप वाला परमात्मा यहाँ 'ब्रह्म' शब्द से कहा गया है। कथानक में कही बातें इस बात की सूचक हैं कि ब्रह्म-शब्द परमात्मा को ही कह रहा है। अर्थात् ब्रह्म-श्रुति तो है लेकिन कथंचित् संदेह हो तो परतात्पर्यक लिंग भी हैं। आकाशाद्यधिकरणों की तरह वेद, तत्त्व, तप आदि अनेक संभव होने से लिंगोपेत श्रुति की प्रबलता दिखाना उचित है। लिंग स्पष्ट करते हैं – **नित्य सर्वज्ञ परमेश्वर से अन्य और किसी में यह सामर्थ्य नहीं कि अग्नि आदि को अभिभूत करके तिनके को वज्र-सा बना दे। यह कहा ही है कि 'अग्नि उस तिनके को जला नहीं पायी', इससे पता चलता है कि जिसकी बात की जा रही है वह अग्नि आदि के सामर्थ्य का नियंता है। अतः निश्चय होता है कि यहाँ ब्रह्म-शब्द से ईश्वर कहा जा रहा है। ईश्वर ही रुकावट करे तभी यह संभव है कि एक तिनके को आग न जला पाये या वायु न उड़ा पाये। ईश्वरेच्छा से ही तिनका वज्र-सा हो जाये यह संगत है।** अतः ब्रह्म का अर्थ ईश्वर है। 'सा च प्रशासनात्' (१.३.११) सूत्र में भाष्य है 'प्रशासनं च पारमेश्वरं कर्म।' शब्दादेवाधिकरण में (१.३.२४) भी 'न ह्यन्यः परमेश्वराद् भूतभव्यस्य निरङ्कुशमीशिता' कहा है। अतएव वही सारी मर्यादायें व्यवस्थित रखता है 'जगतस्तन्मर्यादानां च विधारकत्वं सेतुसामान्यमात्मनः।' (सू. भा. ३.२.३२)। किं च बृहदारण्यक में 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः' और 'प्राणस्य प्राणम्' आदि (४.४.१७-१८) मंत्र साथ-साथ आने से 'प्राणादयो वाक्यशेषात्' सूत्र में (१.४.१२) प्राणादि ब्रह्म में प्रतिष्ठित कहे हैं यह श्रुत्यर्थ माना गया है। यहाँ भी अग्न्यादि को — जो अधिदैव प्राणादि ही हैं — ब्रह्म में प्रतिष्ठित कह रहे हैं क्योंकि ब्रह्म की विजय में ही उन्होंने विजय और महिमा पायी तथा ब्रह्म के ही संमुख वह निर्वीर्य भी हुए। जो जिसमें प्रतिष्ठित है वह उससे हीनबल वाला होता है एवं प्रतिष्ठाभूत व्यक्ति आदि जब अपना दिया बल खींच लेता है तब उससे प्रतिष्ठा पाया व्यक्ति आदि निस्तेज हो ही जाता है। इसलिए भी ब्रह्म से प्रतिष्ठारूप ईश्वर समझना पड़ेगा। इतना ही नहीं 'कम्पनात्' (१.३.१०.३९) अधिकरण में स्थापित है कि देवताओं को भी हमेशा डराये रखने वाला एक महादेव ही है। प्रकृत कथा में भी पराभव से भय समझा जा सकता है क्योंकि जिससे हार हो जाती है उसी से डर लगता है। भाष्य में कहा 'तृणमपि वज्रीभवति।' तात्पर्य है कि तिनके से ही ब्रह्म ने वायु आदि को डरा दिया। जिससे डर लगता है उसे वज्र कहते हैं। कम्पनाधिकरणभाष्य में ही कहा है 'वज्रशब्दोप्ययं भयहेतुत्वसामान्यात् प्रयुक्तः।' ब्रह्म अर्थात् ईश्वर ही मानो वज्र से वाय्वादि को डराये रखता है और यहाँ तिनके से ही उन्हे डरा दिया अतः निश्चित है कि यहाँ भी डराने वाला ईश्वर ही है।

तिनके जैसे ज्वलनशील व हल्के पदार्थ को जलने व उड़ने के अयोग्य भी ईश्वर ही बना सकता है। उसी में ऐसा विचित्र सामर्थ्य है 'आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि' (२.१.२८)। अतः सूत्रभाष्य में कहा है 'एकस्यापि ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगादुपपद्यते विचित्रो विकारप्रपंचः' (२.१.३०)। आखिर निरवयव निष्क्रिय आकाश से सक्रिय वायु, नीरूप वायु से तेज, उष्ण अग्नि से जल आदि चमत्कार वही तो करता है। अतः जन्मादिसूत्रभाष्य में 'मनसाप्यचिन्त्यरचनारूपस्य' कहा है। किसी ने कहा भी है –

'अम्भोधिः स्थलतां स्थलं जलधितां धूलीलवः शैलताम्
मेरुर्मृत्कणतां तृणं कुलिशतां वज्रं तृणप्रायताम् ।
वह्निः शीतलतां जलं दहनतां प्राप्नोति यस्येच्छया
लीलादुर्ललिताद्भुतव्यसनिने देवाय तस्मै नमः ।।'

तन्तु, तन्तुवाय आदि कुछ भी सामग्री न रहते पांचाली की शाटी की अपरिमित वृद्धि करने वाले ईश्वरातिरिक्त कौन होंगे? अतः गौडब्रह्मानंद स्वामी द्रौपदी-शाक के आस्वादन से त्रिलोकी को तृप्त करने वाला भी उन्हे ही मानते हैं। इस प्रकार अनुकूलं सामग्री न होने पर भी तृण का अदहनादि संपन्न करना ईश्वर का प्रबोधक है यह तात्पर्य है।

शास्त्रसिद्धेपीश्वरे तर्कप्रदर्शनम्

तत्सिद्धिर्जगतो नियतप्रवृत्तेः। श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिभिर्नित्यसर्वविज्ञान ईश्वरे सर्वात्मनि सर्वशक्तौ सिद्धेऽपि शास्त्रार्थनिश्चयार्थमुच्यते तस्येश्वरस्य सद्भावसिद्धिः कुतो भवतीति ? उच्यते—

शास्त्रसिद्ध ईश्वर में तर्क का प्रदर्शन

संसार की सब प्रवृत्तियाँ नियमबद्ध ढंग से चल रही हैं यही इसमें पर्याप्त कारण है कि इसे चलाने वाला सर्वज्ञ सर्वशक्ति परमेश्वर है। यद्यपि वेद, स्मृतियाँ और लोकप्रसिद्धि तीनों से हमेशा ही सब जानने वाले, सबके आत्मरूप, सब कुछ करने में समर्थ ईश्वर सिद्ध ही हैं तथापि शास्त्र तात्पर्यतः ईश्वररूप अर्थ को बताते हैं यह निश्चय हो इसलिए यहाँ विस्तार से बताने जा रहे हैं कि 'वह ईश्वर है' यह निर्णय कैसे होता है।

ईश्वर है — यह तो केवल शास्त्र से प्रमाणित होता है क्योंकि शास्त्र ही उसके बारे में निरपेक्ष प्रमाण है। फिर भी नियमित प्रवृत्ति को हेतु बनाकर उसके बारे में अनुमान या युक्ति दी जा रही है कारण कि जब तक तर्क से ईश्वर-सद्भाव को संभव नहीं बताया जाये तब तक शास्त्र से समझे हुए भी ईश्वर का निश्चय हो नहीं पाता, यह शंका उस निश्चय को रोके रखती है कि 'हो सकता है ईश्वरवर्णन कर्मादि की प्रशंसारूप अर्थवाद ही हो।' अतः 'शास्त्र अवश्य चेतन सर्वान्तर्यामी सर्वज्ञ सर्वशक्ति ईश्वर को तात्पर्यतः बता रहा है' इस निश्चय के लिए 'सामान्यतो दृष्ट' अनुमान तर्क के रूप में दिया जा रहा है। 'प्रमाणानामनुग्राहकस्तर्कः' के अनुसार तर्क प्रमाणसिद्ध बात की असंभावना हटाने का काम करता है। यहाँ प्रमाण शास्त्र है अतः शास्त्रोक्त अर्थ असंभव नहीं है यह बताने के लिए अनुमान बतायेंगे। जो अनुमान प्रत्यक्षयोग्य अर्थ सिद्ध करे — जैसे 'धूमाद्वह्निमान्' — वह 'विशेषतो दृष्ट' कहा जाता है और जो ऐसा अर्थ सिद्ध करे जिसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता उसे 'सामान्यतो दृष्ट' कहते हैं जैसे परमाणु, प्रकृति आदि के अनुमान। कुछ लोग अन्वयव्यतिरेकी अनुमान को सामान्यतो दृष्ट कहते हैं। अथवा विशिष्ट शास्त्रीय परिभाषाओं की अपेक्षा किये बिना लौकिक अनुभवों के ही आधार पर जो अनुमान हो जाये उसे 'सामान्यतो दृष्ट' समझ लेना चाहिये। ईश्वरानुमान सामान्य विवेकी को भी समझ आ सकता है, इसके लिये तार्किक काल्पनिक पदार्थों के पचड़े में पड़ने की ज़रूरत नहीं।

ईश्वर शास्त्रसिद्ध है यह प्रायः सभी ईश्वरवादी मानते हैं। नैयायिकाचार्य उदयन ने ईश्वरसिद्धि के उद्देश्य से कुसुमांजलि समर्पित करते हुए यही कहा है कि शास्त्र से सिद्ध ईश्वर को युक्ति-युक्त बताना मननात्मक उपासना ही है। ईसाई विद्वानों ने भी बहुतेरे तर्क ईश्वर में पेश किये हैं लेकिन हर विद्वान् ने ख़ुद स्पष्ट किया है कि वे ईश्वर को सिद्ध तो सिर्फ़ बाइबिल से जानते और मानते हैं, केवल उसे संभावित करने के लिये तर्क उपस्थित कर रहे हैं। अनीश्वरवादियों के कथनादि से पड़े संस्कारों के प्रतिरोधार्थ ही ये तर्क ज़रूरी हैं। जो आस्तिक शास्त्रानुसार निश्चित प्रत्यय वाला है उसे इनसे कोई अंतर नहीं पड़ता। केवल तर्कसिद्ध ईश्वर अमान्य है क्योंकि तर्क जैसी अप्रतिष्ठित भूमि पर टिका ईश्वर श्रद्धेय नहीं। कल कोई तर्कवेत्ता पूर्व तर्क को काट दे तो तर्कमात्रसिद्ध ईश्वर को भी तिलोदक देना ज़रूरी हो जायेगा! यद्यपि उत्तम भक्तों को ईश्वर

स्वानुभवसिद्ध है तथापि अनुभवमात्र को प्रमाणरूप से उद्धृत नहीं कर सकते। बहुतेरे सामान्य जनों को ईश्वर न होना भी तो अनुभवसिद्ध ही है! अतः युक्ति की तरह वह भक्तानुभव भी शास्त्रानुग्राहक हो जाता है। सब ईश्वरवादी उसे एकरूप ही प्रतिपादित करते हों या सब भक्त उसे एकरूप ही समझते हों यह नहीं कहा जा सकता। फिर भी इतना ज़रूर है कि बहुतेरी समानतायें शास्त्रादि ग्रंथों के वर्णनों में और भक्तानुभूतियों में उपलब्ध हैं जिससे एक न्यूनतम सामान्य स्वरूप मानने में कोई कठिनायी नहीं जिसे प्रायः सब मान सकें।

ईश्वरीय अनुभूतियों के अनेक वर्णनों का अध्ययन करने वाले एक आधुनिक प्राध्यापक निनियल स्मार्ट (Ninial Smart) का कहना है कि यद्यपि ईश्वर के बारे में कुछ भी जानकारी जिसे नहीं है वह ईश्वर को देखकर भी उसे पहचाने यह ज़रूरी नहीं तथापि इसका यह मतलब नहीं कि ईश्वर को जैसा पहले समझा गया, दीखने पर भी उसे वैसा ही समझा जाता रहेगा। बल्कि संभावना यही है कि दर्शन के बाद ईश्वर के बारे में समझ बदल जायेगी : 'This is not to say that anyone who had the experience would recognize God there — he would have to have the concept God far a start. Of course this is not to say that the experience might not change his conception. Indeed, the very impact of the unknowing knowing would make it probable that his beliefs about God would be changed, emphases altered, everything seen in a new light.' 'unknowing knowing' से उस अनुभूति को कहा है जिसे लोकप्रसिद्ध ज्ञान नहीं कहा जा सकता। इसका तात्पर्य स्पष्ट है कि ईश्वरदर्शन से ईश्वर संबंधी जानकारी में वैशिष्ट्य अवश्य आता है, चाहे बदलाव न सही, दार्ढ्य ही हो; क्योंकि जिस भाग्यशाली को ईश्वर के वैसे ही संस्कार हैं जैसे वे हैं, वह उनके दर्शनों से दृढता का ही अनुभव करेगा, उनके बारे में समझ बदलेगी नहीं। वस्तुतः शब्दादि से अवर्णनीय होने से कुछ-न-कुछ ग़लत-फ़हमी ज़रूर रहती है जो दर्शन से ही हट सकती है। लौकिक पदार्थों के भी चाहे जितने उत्तम वर्णन और अनुमान समझ लें, जब पदार्थ का साक्षात्कार होता है तब अवश्य समझ में अंतर आ ही जाता है। अतः जिसे वर्णन करने वाले ख़ुद कहते हैं कि अवर्णनीय है उसको वर्णनादि से जैसा समझ सकते हैं वैसा ही वह साक्षात् होगा यह कहना असंभव है। सच्चिदानंद — व्यापक, अभिन्न, प्रेम — आदि कुछ स्वरूप वर्णित हैं जो लगभग सभी ईश्वरद्रष्टा भी किसी न किसी तरह बताते हैं। अतएव प्रायः 'सच्चिदानन्द' यह विशेषण ईश्वर के लिये मिलता है और वेदान्तों में 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' कहा ही है।

अन्वय-व्यतिरेकप्रयोगः

यदिदं जगद् देवगन्धर्वयक्षरक्षःपितृपिशाचादिलक्षणं, द्युवियत्पृथिव्यादित्यचन्द्रग्रहनक्षत्रविचित्रं, विविधप्राण्युपभोगयोग्यस्थानसाधनसम्बन्धि, तद् अत्यन्तकुशलशिल्पिभिरपि दुर्निर्माणं, देशकालनिमित्तानुरूप-नियतप्रवृत्तिनिवृत्तिक्रमम्; एतद्भोक्तृकर्मविभागज्ञप्रयत्नपूर्वकं भवितुमर्हति; कार्यत्वे सति यथोक्तलक्षणत्वात्; गृहप्रासादरथशयनासनादिवद्, विपक्ष आत्मादिवत्।

अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान

इस प्रसंग को समझने के लिये याद रखना चाहिये कि युक्ति का प्रयोग क्यों है। उपस्थित वादी को या विविध कारणों से ख़ुद के संस्कारों के कारण स्वयं को जो शास्त्रोक्त ईश्वर में अनुपपत्तियाँ लगती हैं उन्हे हटाने के लिए ही युक्ति हैं। अतः बहुतेरी बातें मानकर यहाँ विचार चलेगा। यहीं नहीं सर्वत्र युक्तिविचार इसी तरह होता है। आज लोग प्रायः आधुनिक विज्ञान की स्थापनायें मानकर सोचते-विचारते हैं अतः उन्हीं संकल्पनाओं की अनुकूलता-प्रतिकूलता पर चिंतन करते हैं। संभव को प्रमाण न मानने वाले उसके विरोध-अविरोध की चिंता नहीं करते। वैदिक वैखानसादि आगमों के विरोध का परिहार नहीं करते क्योंकि उन आगमों के पदार्थों के इन्हे संस्कार नहीं। जिन्हे वे भी हैं वे उनका भी किसी तरह ताल-मेल बैठाते हैं। गणितप्रक्रिया मानकर आधुनिक तर्कशास्त्र चलता है। प्राचीन तार्किक व्यासिबल पर चलते रहे। अतः हर युक्ति बहुत से ऐसे पदार्थ स्वीकार कर ही चलती है जिन्हे पुनः युक्ति-प्रमाण की ज़रूरत नहीं मानी जाती

अन्यथा अनवस्था ही होगी और प्रायः वितण्डा कथा का प्रसंग हो जायेगा। ऐसे ही यहाँ भाष्यकार जो ईश्वरसाधक युक्तियाँ देंगे वे तार्किकादिसंमत आयामों में समझनी पड़ेंगी। वैतण्डिक के प्रति ये युक्तियाँ नहीं हैं। इनसे दिशा लेकर सभी साधक अपने मन में उठने वाली असंभावनायें हटा सकते हैं अतः इन युक्तियों की उपयोगिता तो नित्य है। शास्त्रोक्त अर्थ ठीक है — यह मानकर उसमें आये संदेह हटाने की बौद्धिक कोशिश करने का तरीका भाष्य में बताया जा रहा है यह स्मरण रख प्रकृत भाष्य समझना चाहिये।

यह संसार ऐसा होना चाहिये कि इसे बनाने वाला कोई हो जो इस जगत् और इसमें विद्यमान भोक्ताओं के कर्मादि विभाग को - अंतर को, योग्यताओं को, - जानता हो क्योंकि यह संसार इस तरह का कार्य है जो ऐसे ही जानकार द्वारा निर्मित हो सकता है जैसे घर, महल आदि। जिन्हें बनाने वाला इस तरह का नहीं होता वे फिर ऐसे कार्य भी होते नहीं, जैसे आत्मा, आकाश आदि।

संसार को 'इस तरह का कार्य' कहा कि वह वैसे जानकार द्वारा ही उत्पादित हो सकता है। किस तरह का संसार विवक्षित है?

पहले तो इसमें देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर, पिशाच आदि अनन्त तरहों के भोक्ता-कर्ता हैं। फिर भोगभूमि आदि जगहें भी यहाँ विचित्र और अनगिनत हैं जैसे द्युलोक, वियल्लोक, भूलोक, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र आदि। द्युलोक अर्थात् देवलोक। आज हमारा संपर्क नहीं यह कोई कारण नहीं कि शास्त्रप्रसिद्ध और पूर्वजों द्वारा अनुभूतरूप से प्रतिपादित देवताओं को और उनके लोकों को हम मान लें कि हैं ही नहीं। देवताधिकरण में भाष्यकारों ने कहा है कि सदा सबका एक-सा सामर्थ्य नहीं होता पर इससे जिनका सामर्थ्य है उन्हे असमर्थ प्रमाणित नहीं किया जा सकता। आज कोई कहे कि काग़ज़-क़लम के बिना कभी कोई ग्रंथ लिखे ही नहीं जा सकते, या कुछ वर्षों बाद के लोग कहें कि संगणकों के बिना पंचांगादि गणितसापेक्ष तालिकायें कोई बना ही नहीं सकता, या मिट्टी के तेल के बिना जीवन की आवश्यक वस्तुएँ बन ही नहीं सकती या क्रेन-ट्रक आदि के बिना केदारनाथ का मंदिर नहीं ही बना है, या जिसके घर बिजली न हो वह कभी विद्वान् बना ही नहीं, तो जैसे ये बातें बेकार की ही होंगी, ऐसे ही देवता-देवलोक और वहाँ से संपर्क का हमारा निषेध भी व्यर्थ है। ऐसे ही पुराण की अनेक बातें हैं। हम टेस्ट-ट्यूब से बच्चा होना, शुक्र-आयात-निर्यात, गर्भप्रत्यारोपण, गुर्दा-प्रत्यारोपण आदि मान सकते हैं तो पुराणप्रसिद्ध विचित्र उत्पत्तियाँ, एक सिर काट कर दूसरा लगना आदि क्यों नहीं? अतः भाष्य में देवादि भोक्ता और स्वर्गादि भूमियों वाला जगत् है यह स्वीकार कर आगे युक्ति दी है।

किं च यह संसार ऐसा है जिसमें नाना प्रकार के प्राणियों के उपभोग के योग्य स्थान और साधन हैं। संसार की इतनी विशेषतायें इसलिए कही जा रही हैं कि यह स्पष्ट हो कि इसे बनाने वाला कोई हम जैसा संसारी नहीं हो सकता। बनाने वाला उपादान कारणों को भी अच्छी तरह जानता है, प्रयोजनों को, बनकर तैयार होने वाली चीज़ों को; सभी की जानकारी उसे होती है। संसारी ऐसा कोई प्रसिद्ध नहीं जो सारे संसार के बारे में यह सब जानता हो। इस कारण से पता चलता है कि इसे बनाने वाला संसारी नहीं है। 'संसार' कहने पर यहाँ न अनादि चीज़ें समझनी चाहिये और न वे चीज़ें जिन्हे बनाने वाले कुम्हार आदि प्रसिद्ध ही हैं। ऐसा इसलिये कि कोई स्वरूपासिद्धि, अर्थान्तर आदि दोष न दे क्योंकि अनादि में कार्यत्व नहीं रहेगा और घटादिस्थल में जानकार कुम्हार ही अनुमानसिद्ध होगा, ईश्वर नहीं। यद्यपि परमसिद्धान्त में सांसारिक कुछ भी स्वरूपानादि नहीं और घटादिस्थल में भी ईश्वर ही कर्त्ता है - 'सर्वकर्मा' (छां. ३.१४.२) 'स हि सर्वस्य कर्ता' (बृ. ४.४.१३) आदि श्रुतियाँ स्पष्ट हैं - तथापि परकीय मान्यताओं को स्थान देकर भी विचार संभव होने से एवं यदि वादी को समझाना है ऐसा करना ज़रूरी होने से यों कहना संगत है।

नैयायिक यदि कहें कि पक्ष में हेतुसद्भाव ही इतना बलवान् है कि पक्ष में साध्यविशेष का सद्भाव सिद्ध करे अतः शास्त्र से निरपेक्ष ईश्वरनिश्चायक अनुमान संभव है तो वह बात सर्वथा ग़लत होगी। इस विषय पर विस्तृत विचार प्रकटार्थविवरण में (जन्माद्यधिकरण में) किया गया है जो वहीं से समझ लेना चाहिये। संक्षेप में यह जानना चाहिये कि एक, सर्वज्ञ, अशरीरी कर्ता का साधक हेतु अनुपलभ्य है अतः ऐसा कर्तृविशेष अनुमेय भी नहीं है। किं च नैयायिक कहता है 'क्षिति आदि सकर्तृक हैं, कार्य होने से, घट की तरह।' कार्यता तभी समझी जा सकती है जब 'कौन कार्य है?' तथा 'किसका कार्य है?' इन दोनों प्रश्नों का संतोषप्रद उत्तर मिल जाये क्योंकि कार्यता सप्रतियोगिक होती है, सापेक्ष होती है। कारणप्रतीति के बिना 'यह कार्य है' यही निश्चय नहीं हो सकता, जैसे नैयायिक ही अनेक चीज़ें अनादि मानता है क्योंकि उनका कारण उसे नहीं भासता। गंगाजी के बहने का मार्ग तो भगीरथ ने रथ से खोद दिया पर यमुना, सरयु, आदि का मार्ग किसने खोदा? क्योंकि यह कहा नहीं गया है कि अमुक ने खोदा इसलिये उसे हम कार्य भी नहीं समझ पाते। अतः क्षिति आदि में कार्यता है इसी का निश्चय असंभव होने से अनुमान प्रतिरुद्ध होगा। ऐसे ही जो वह यह कहता है कि 'जो चीज़ सर्वज्ञकर्तृक नहीं होती वह कार्य भी नहीं होती, जैसे आकाश' वह भी व्यर्थ बात है क्योंकि 'सर्वज्ञकर्तृक नहीं' यह जानने के लिये पहले सर्वज्ञ की जानकारी चाहिये और वह जानकारी इसी अनुमान से होनी है। अतः व्यतिरेक का निश्चय असंभव होने से कार्यत्व हेतु व्यभिचारी नहीं है यह भी निश्चय हो नहीं सकता। सकर्तृकत्वमात्र साध्य हो तो परंपरया जीव भी कर्ता होने से सिद्धसाधनादि होगा और सर्वज्ञकर्तृकत्व साध्य हो तो साध्याप्रसिद्धि होगी। इस प्रकार वहाँ विस्तार है। परिमल आदि में भी यह विचार द्रष्टव्य है।

ये दोष भाष्यादि में कहे अनुमानों पर भी आरोपित हो सकते हैं लेकिन भाष्यादि में अनुमानों को ईश्वर-साधक प्रमाण कहा ही नहीं जा रहा। ईश्वर में प्रमाण है शास्त्र और शास्त्र का अर्थ समझने के लिए विचार है ये अनुमान। अतः इन दोषों के आरोप से भाष्यादि के अनुमान निर्वीर्य नहीं होते। यदि नैयायिक भी यही स्वीकारे तो उसे भी इन दोषों से भय खाने की ज़रूरत नहीं।

भाष्य में कर्ता के बारे में यह जो कहा कि वह 'इस जगत् और इसमें विद्यमान भोक्ताओं के कर्मादि विभाग को जानता हो' वह मीमांसा दर्शन के अनुयायियों की मान्यता याद कर। वे मानते हैं कि जगत् का निमित्त है 'अदृष्ट'। पुण्य-पाप को वे 'अदृष्ट' नामक पदार्थ का साक्षात् उत्पादक मानते हैं जो ख़ुद सुख-दुःख दे दिया करता है। ईश्वरविरोधी इन आस्तिकंमन्यों ने सांख्यवाद से प्रेरणा पाकर जड में विचित्र सामर्थ्य मानना स्वीकारा है। जो न कभी दीखा, न दीख सकता है ऐसा 'अदृष्ट' इन्हे रुचता है, श्रुतिस्मृति में तात्पर्यतः कहा, भक्तों को नित्यानुभूयमान परमेश्वर को 'है' कहने में इन्हें कष्ट होता है। धर्म है जीव-ईश्वर का व्यवहार; हम ईश्वर को ख़ुश करने के लिए कुछ करते हैं, यहँ धर्म है; ईश्वर ख़ुश होकर हमें इनाम देता है, यह है पुण्य से फललाभ। इस चेतन-सम्बन्ध को छोड़कर मीमांसक ने धर्म को एक जड यन्त्र की तरह कार्यकारणता की शृंखला में जकड़ा 'पदार्थ' बना दिया है। धर्म का आधार ईश्वरकृपा है। भक्ति धर्म से सर्वथा छूटी कोई और ही साधना नहीं है। ईश्वर के प्रति प्रेम अभिव्यक्त करने के ढंग ही तो सारे धार्मिक क्रियाकलाप हैं। वे कोई जादू-टोने या नुस्खे नहीं हैं। धर्म को हृदयहीन बनाकर चाहे मीमांसक प्रसन्न हुए हों कि बौद्धों के प्रहार से धर्म सुरक्षित कर लिया लेकिन वास्तविकता है कि उन्हीं ने धर्म के प्रति क्रमशः अश्रद्धा, हेयता और विरोध की भावना का बीजारोपण किया। अतएव शीघ्र ही सन्तादि परंपरायें धार्मिक क्रियाओं की, वर्णादि व्यवस्थाओं की विरोधी बनीं। भाष्यकारों ने काफी कोशिश की यह स्पष्ट करने की कि धर्म ऐसा निर्भाव पदार्थ नहीं है। उन्होंने अपूर्व का मुखतः खण्डन कर ईश्वर से ही फल प्रतिपादित किया। भगवान् व्यास के 'फलमतः' को वहीं नहीं अन्यत्र भी परामृष्ट कर स्पष्ट किया। ईश्वर के प्रति भक्ति का बहुत वर्णन किया। उन्हीं के संप्रदाय में आचार्य मधुसूदन हुए जिन्होंने भाष्य के इस आशय का बहुत ख़ुलासा किया। इसलिए शांकरपरंपरा में धर्मविरोध नहीं उठ सका लेकिन जो शांकरोपदेश से वंचित रह गये उन्होंने मीमांसकों से प्रतिशोध लिया जिसमें व्यर्थ ही धर्म और शास्त्र बदनाम हुए और कुछ हद तक प्रतिशोध लेने वालों की भी हानि ही हुई। हर हालत

में मीमांसक कहते हैं कि जगत् का निमित्त अदृष्ट है और उसे उत्पन्न करने के लिये जीव जो प्रयत्न करते हैं उसी से जगत् उत्पन्न होता जाता है। अतः सिर्फ़ कर्ता को साध्य कहें तो वे कहेंगे कि जीव ही संसार के कर्ता हैं। इसलिये भाष्य में विभागज्ञानादि विशेषण दिया ताकि वे यह न कह पायें क्योंकि ऐसा सर्वज्ञ जीव कोई होता नहीं।

ईश्वर ही समझ कर बनाये तो ऐसा संसार संभव है यह बताते हुए संसार के और भी विशेषण देते हैं – **देश-काल-कार्यकारणभाव के अनुसार निश्चित क्रिया-प्रतिक्रयाओं की परम्परा वाला यह संसार ऐसा है जिसे अत्यन्त कुशल शिल्पी भी बना नहीं सकते।** 'अमुक भोक्ता अमुक देश-काल में अमुक कर्मफल भोगने वाले हैं' ऐसा बँटा हुआ ज्ञान जीवों में है नहीं। सामान्यतः भले ही 'कर्म से फल होता है' यह जानते हों पर कर्मव्यक्तियों और फलव्यक्तियों के सम्बन्धादि से सर्वथा अनभिज्ञ ही हैं। इसलिए जीव जगत् के रचयिता संभव नहीं। परमार्थतः देशादित्रितय का कोई मूल्य या निश्चित स्वरूप न होने पर भी सारी भौतिक या वैज्ञानिक प्रगति का मूल यह नियमितता ही है कि पूर्वादि देश, भूतादि काल और निमित्तनैमित्तिकभाव निश्चित हैं। अतः एकत्र निर्णय कर सर्वत्र अतिदेश किये जाते हैं और सफल चेष्टायें चलती रहती हैं। यद्यपि भौतिकादि पदार्थों की भी सूक्ष्मावस्थाओं के संदर्भ में ये स्थूल प्रतिबंध कारगर नहीं रहते तथापि बहुतेरी नियमितता का अवलोकन होता ही है जिससे उन अवस्थाओं के परिप्रेक्ष्य में काम करने वाले नियम बन जाते हैं। ठीक है कि कहीं व्यक्ति पर और कहीं राशि पर आधारित नियम हों लेकिन नियमों का होना नकारा नहीं जा सकता। हम नियम कोशिश कर भी सही समझ नहीं पाते तो हमें — या हमारे किसी सजातीय को — उनका निर्धारणकर्ता कैसे कहा जा सकता है।

इन लक्षणों वाला संसार होना कैसा उचित है — यह कहते हुए साध्य व्यक्त करते हैं : **यह संसार ऐसा ही माना जा सकता है कि इसके निर्माता को इस संसार के सब अवान्तर भेद और इसमें वर्तमान भोक्ताओं तथा उनके कर्मों के सारे प्रकार ज्ञात हैं एवं उसने उस जानकारी को नज़रन्दाज़ किये बिना — चाहे संकल्पमात्ररूप ही सही लेकिन किसी—चेतन-कोशिश से इसे बनाया है।** यद्यपि संसार बनाने के लिए न ईश्वर का कोई प्रयोजन है और न कोई ज़ोर लगाना रूप यत्न तथापि जब हम संसार देखकर युक्ति से इसके निर्मातारूप से उसे समझना चाहते हैं तब उसे इसी तरह समझ सकते हैं कि किन्ही कर्मों की अपेक्षा से उसने चेतनप्रयुक्त अभिव्यक्ति के ढंग से संसार रचा है। अतएव युक्तियुक्त प्रतिपादन (अर्थात् अध्यारोपप्रधान उपदेश) करते हुए आचार्य सूत्रकार ने प्रतिज्ञा की 'अधिकं तु, भेदनिर्देशात्' (२.१.२२)। उसे अपने से अन्य सहायक वैसे ही नहीं चाहिये जैसे दही बनने के लिये दूध को (२.१.२४) या विविध कार्य करने के लिये देवतादियों को (२.१.२५)। 'बीजस्यान्तः···मायावीव' आदि आचार्यश्लोक भी इसी दृष्टि से है। यद्यपि ईश्वर को समझना श्रुतिमूलक ही संभव है (२.१.२७) तथापि क्योंकि आत्मा में बिचित्र रचना का सामर्थ्य स्वप्न में स्पष्ट है इसलिए ईश्वर में वह सामर्थ्य समझना सहज ही है (२.१.२८)। ईश्वर को सर्वसमर्थ ही समझना चाहिये (२.१.३०)। यह ठीक है कि ईश्वर नित्यतृप्त है लेकिन लीलान्याय से यह भी समझने में कोई दोष नहीं कि वह सृष्टि करता है (२.१.३३)। सृष्टि की विषमता से उस पर पक्षपात का लांछन लगाना ग़लत होगा क्योंकि वह कर्मों के अनुसार फलभोगानुकूल सृष्टि करता है (२.१.३४)। अतः सृष्टि प्रवाह रूप से अनादि मानी जानी चाहिये (२.१.३५), पूर्व-पूर्व कर्म उत्तरोत्तर सृष्टि में निमित्त बन जायेंगे। यह बात शास्त्रसमर्थित भी है और युक्तिसंगत भी (२.१.३६)। अतः ब्रह्म की जगत्कारणता में कोई युक्ति-विरोध नहीं है (२.१.३७)। इसी प्रकरण में परमसिद्धान्त भूला न जाये इसलिये श्रीमान् शंकराचार्यजी ने वहीं कहा है 'न चेयं परमार्थविषया सृष्टिश्रुतिः, अविद्याकल्पितनामरूपव्यवहारगोचरत्वात्, ब्रह्मात्मभावप्रतिपादनपरत्वाच्च इत्येतदपि नैव विस्मर्तव्यम्' (२.१.३३)। वास्तविकता तो अज है। जन्मादिसूत्र यही कहता है कि जगत् कारण ईश्वरातिरिक्त कुछ नहीं है। अन्य सब कारण हट जाने पर 'इह' अर्थात् जगत्कारणत्वेन अभिमत परमात्मा में ही 'नाना किंचिन नास्ति' कोई भी संसारभेद है नहीं — यह वाक्य जगद्बाध कर देगा। लेकिन अध्यारोपभूमिका पर तो संसारकारण तथा सर्वज्ञादिरूप से ही ईश्वर को उपपन्न किया जा सकता है। शास्त्रबोधित ईश्वर युक्तिविरुद्ध नहीं यह बादरायणाचार्यों ने भी इसी तरह दिखाया है

अतः यहाँ भाष्य में भी यही ढंग अपनाया है। बृहदारण्यक (३.८) आदि श्रुतियाँ भी यह इसी रीति से बताती हैं।

ऐसा मानने में कारण यह है कि संसार कार्य है और पूर्वोक्त विशिष्ट स्वरूप वाला है। घर, महल, रथ, पलंग, कुर्सी आदि चीज़ें जो विभिन्न भोक्ताओं के लिये विभिन्न स्थानों पर विभिन्न तरहों से उपभोग के लिये निर्मित होती हैं तथा उचित देश-काल में उचित कारणों से बनायी जाती हैं, उन्हे बनाने वाले यह जानते हैं कि वे किससे, क्या, किसलिए बना रहे हैं और प्रयत्नपूर्वक उन्हे बनाते हैं। जिन्हे बनाने वाला ऐसा नहीं होता वे आत्मा, आकाशादि पदार्थ कार्य (जन्य) भी नहीं हुआ करते। अतः उक्त ख़ासियत वाला तथा कार्यरूप संसार उक्त ढंग के ईश्वर की कृति ही मानी जा सकती है।

यहाँ भाष्य में 'कार्य और विशिष्ट स्वरूप वाला' दोनों कहना ज़रूरी है। केवल विशिष्ट अर्थात् विचित्र स्वरूप वाला — कहें तो आत्मा, माया आदि में व्यभिचार होगा क्योंकि वे अनादि होने से उनमें स्वभाव की विचित्रता होने पर भी ऐसा नहीं कि उन्हे प्रयत्न से किसी ने बनाया हो। यदि केवल कार्य होने से — इतना ही कहें तो भी अभीष्ट कर्ता नहीं सिद्ध होगा क्योंकि बिना सोचे समझे, विभागज्ञानरहित व्यक्ति भी कार्य करता ही है। अतः दोनों कहे। घर आदि जो दृष्टान्त दियें वहाँ मिस्त्री आदि जानते ही हैं कि यह घर इन चीज़ों से इस तरह ऐसा बनाना है, अमुक इसका मालिक है या अमुक से पैसा आदि मिलने के कारण इसका निर्माण हो रहा है, इस तरह इसने कोशिश की अतः मुझे ऐसा करना उचित है आदि। बस इतने में ही उदाहरण है कि मिस्त्री आदि अपनी सामर्थ्य और आवश्यकतानुसार जानकारी व सोच-समझ से घर आदि बनाते हैं; यह तो भेद है ही कि वे सर्वज्ञादि नहीं हैं। दृष्टांत हर तरह दार्ष्टान्त-सा हो तो वह दार्ष्टान्त ही हो जाये! 'दृष्ट-दार्ष्टान्ततुल्यत्वं सर्वांशे नोपयुज्यते' ऐसा आचार्यों ने कहा है। अतः दृष्टांत में विवक्षितांश होने से यह नहीं कह सकते कि ईश्वर के लिये मिस्त्री का उदाहरण ग़लत है। जिस तात्पर्य से शब्द रखा है उसे मानकर ही वार्ता — गुण-दोषचर्चा—चल सकती है, अपने-अपने अभिप्राय से शब्दार्थ की खींचा-तानी करें तो विचार नहीं होगा। अनुमानकर्ता यहाँ इतना ही कहने का तात्पर्य रखता है कि घर आदि की तरह की चीज़ें बनाने वाले सोच-समझकर काम करते हैं, इनमें कितना ज्ञानादि है — यह विवक्षित नहीं। अतः इस दृष्टि से दोष देना ठीक नहीं।

अन्वयी दृष्टांत गृहादि का दिया। व्यतिरेकी दिया आत्मादि का। आदि से स्वमत में मायादि समझ सकते हैं या परमतानुसारी प्रयोग समझें तो आकाशादि ग्राह्य हैं। पहले अनित्यों को ईश्वरकृत समझ ले फिर जिन्हे वह नित्य मानता है उन्हे भी अनित्य बतायेंगे — यह दृष्टि है। एवं च लोक में जो चीज़ें कार्य मानी जा रही हैं पर उनका कर्ता अप्रसिद्ध है उन्हे बनाने वाला ईश्वर है यह पहले समझने की कोशिश करनी है। इसलिए पारिभाषिक कार्यत्वादि की चिन्ता की ज़रूरत नहीं। पहुँचना तो आकाशादि के ही नहीं घटादि के भी कर्तारूप से ईश्वर को समझने तक है, अतः दोनों ओर बढ़ना ही है। इसलिए यथाप्रसिद्ध से प्रारंभ करना उचित है।

प्रश्न होगा कि किसी चीज को कार्य ही क्यों मानना? वेदांत तो कार्यकारणभाव का समर्थक है नहीं अतः इस प्रश्न के जवाब के लिए कोशिश नहीं करेगा। यदि किसी को कार्य मानते हो तो उसका कारण ईश्वर समझो — यह वेदांत कहता है; अमुक को कार्य मानो — यह नहीं। वेदान्तसूत्रकार तो कह देते हैं जो कुछ भी किसी से भी अलग है — स्वसमानसत्ताकप्रतियोगिकभेदवान् है — वह विकार है, कार्य है। लोक-प्रसिद्ध यह लक्षण है नहीं। अनुमान लोकप्रसिद्ध मानकर ही होना संगत है। यदि कोई विलक्षण विद्वान् इतना रहस्य समझ गया कि कार्यकारणभाव है ही नहीं अतः किसी को भी वह कार्य — लोकप्रसिद्ध अर्थ में — नहीं मानता है तो बहुत अच्छा है। उसे नीचे क्यों धकेलना कि अवश्य कार्य मानो। तब उसे ईश्वरानुमान कैसे समझाया जाये? वह विचारक कार्यकारणता न माने तो भी या पौर्वापर्य क्रम मानेगा, या नहीं मानेगा। यदि मानता है तब तो सरल ही है कि 'कार्यत्वेऽसति' कार्यता न होने पर भी यथोक्तलक्षण पदार्थों की तरह यथोक्तलक्षणचेतनपूर्वकत्व समझ सके। और यदि देश-काल के बहम भी न होने से क्रम भी नहीं मानता तब या यह

मानेगा कि बाह्य अर्थों का और उसका ख़ुद का—चेतन का—साहचर्य है, या नहीं मानेगा। यदि मानता है तो जैसे गृहादि से अपना साहचर्य है ऐसे सब से किसी का साहचर्य है — यों व्यापक चेतन समझा जा सकता है। अर्थात् 'ज्ञप्रयत्नपूर्वकम्' का अर्थ है ज्ञानात्मकप्रयत्नसहितत्व। यदि उक्त साहचर्य नहीं मानेगा तो या बाह्यार्थ ही नहीं मानेगा और या चेतन नहीं मानेगा। बाह्यार्थ न मानने पर ज्ञानों में भेद मानेगा — क्योंकि तभी अनुभव की व्याख्या होगी — और ऐसे ही सभी ज्ञाताओं के ज्ञानों का भेद भी मानेगा, क्योंकि अन्य ज्ञाताओं का अपलाप संभव नहीं होगा। ज्ञाता एक है पर उसे ज्ञान अनेक होते हैं इस अनुभव से वह समझ सकता है कि सभी ज्ञानों का — त्रिलोकी में कहीं भी किसी भी ज्ञाता को होने वाले ज्ञानों का — ज्ञाता एक ही है; इस तरह सर्वज्ञ ईश्वर अनुमान से समझा जा सकता है। अर्थात् जगत्-शब्द से वह ज्ञान समूह समझेगा और पूर्वोक्त ढंग से ईश्वर को जान लेगा। यदि चेतन नहीं मानता है तब तो प्रकृत अनुमान से उसे नहीं समझा सकते हैं। और यदि अन्य ज्ञाता भी नहीं मानता तब तो 'वह' 'हमसे' बात भी कर नहीं रहा अतः समझाने की समस्या ही नहीं। अथवा जो चेतन न भी माने वह अगर कार्यकारणभाव या क्रम भी मानता है तो चेतन न सही, स्वसदृश ईश्वर तो उक्त अनुमान से समझ लेगा और वस्तुतः प्रत्यगर्थ ही चेतन है अतः नाम का भेद रहेगा। स्व की नित्यतादि उसे अवश्य प्रयोगान्तरों से समझानी पड़ेगी।

शङ्कितव्यभिचारशङ्कापरिहारसूत्रम्

कर्मण एवेति चेद् ? न, परतन्त्रस्य निमित्तमात्रत्वात्।

सूत्ररूप से मीमांसक की शंका और उसका समाधान

मीमांसक कहता है : कोई चीज़ विचित्र (= उक्त विशेषताओं वाली) हो और कार्य भी हो लेकिन उसका निर्माता उक्त ढंग का जानकार न हो तो हानि क्या है? अर्थात् वह अनुकूल तर्क पूछता है।

अनुयायी पूछता है : यदि वैसा कर्ता न हो तो वैचित्र्य (= उक्त वैशिष्ट्य) किस कारण से माना जा सकता है? अंतर अकारण मानना अनुभवविरुद्ध है। दो मकानों में अंतर दीखता है तो कारण अवश्य होता है उस भेद का। संसार में इतने भेद हैं, ये कैसे बिना कारण होगें?

मीमासंक जवाब देता है : कर्म की विचित्रता से ही जगत् की विचित्रता संगत है। कर्म ही उस भेद का कारण है। अतः जगद्रूप जो पक्ष है उसी में हमें शंका है कि साध्य — एतद्भोक्तृकर्मविभागज्ञप्रयत्नपूर्वकत्व — नहीं होगा, इसलिए वह पक्ष ही शंकितविपक्ष बन गया। जहाँ तो साध्य नहीं है — यह निश्चय हो वह विपक्ष होता है और जहाँ शंका हो कि साध्य नहीं होगा, वह शंकितविपक्ष होता है। इस पक्षभूत शंकितविपक्ष में कार्यत्वादि हेतु है ही अतः शंकित-साध्याभाव से हेतु का साहचर्य प्रतीयमान होने से हेतु को शंकित-व्यभिचारी समझा जायेगा। इसलिए अनुमान दुर्बल है। तात्पर्य इतना ही है कि अनुकूल तर्क के बिना अनुमान साध्यसिद्धि में समर्थ नहीं। इस अभिप्राय से वह मीमांसक प्रश्न करता है - **कर्म से ही कार्य-वैचित्र्य क्यों न उपपन्न होगा?**

सिद्धान्ती सूत्रभूत जवाब देता है - **कर्म से वह उपपन्न नहीं होगा क्योंकि परतन्त्र होने के कारण सहकारी होने पर भी स्वतन्त्र कारण वह नहीं हो सकता।** कर्म पहले तो कर्ता के ही परतंत्र है और साधनान्तरों के परतंत्र भी है ही। रहने के लिये भी उसे कुछ और — आत्मा—चाहिये। ऐसी वस्तु को सामग्री में तो गिन सकते हैं, सहयोगी तो मान सकते हैं, लेकिन जगद्वैचित्र्य का स्वतंत्र हेतु तो नहीं ही समझ सकते। यहाँ अनुमान स्वतंत्र कारण के लिए है। यह कहना कि कोई स्वतंत्र कारण नहीं है, लौकिक अनुभवों का विरोध होगा क्योंकि लोक में सहयोगी से पृथक् स्वतंत्र कारण मिलता ही है। जीव वैसा नहीं यह स्वयं बतायेंगे। अतः कर्म से जगद्वैचित्र्य उपपन्न नहीं हो सकता, स्वतंत्र कर्ता मानना आवश्यक है। इस प्रकार पक्षभूत जगत् में स्वतन्त्रकर्तृपूर्वकत्व शंकित भी नहीं कि हेतु शंकितव्यभिचारी हो। शंकित इसलिए

नहीं कि स्वतंत्रकर्तृपूर्वकत्व के बिना वैचित्र्य उपपाद्य है नहीं। शंका भी साधार ही हो सकती है, निरर्गल आक्षेपमात्र नहीं।

शङ्का

यदिदमुपभोगवैचित्र्यं प्राणिनां तत्साधनवैचित्र्यं च देशकालनिमित्तानुरूपनियतप्रवृत्तिनिवृत्तिक्रमं च, तद् न नित्यसर्वज्ञकर्तृकम्। किन्तर्हि ? कर्मण एव, तस्याऽचिन्त्यप्रभावत्वात्, सर्वैश्च फलहेतुत्वाभ्युपगमात्। सति कर्मणः फलहेतुत्वे किमीश्वराधिककल्पनया! इति न नित्यस्येश्वरस्य नित्यसर्वज्ञशक्तेः फलहेतुत्वं चेति चेत् ?

मीमांसक की पूर्वोक्त शंका का विस्तार

मीमांसक कहता है : जो यह सर्वानुभवसिद्ध प्राणियों के सुखादि-उपभोग का वैचित्र्य — वैविध्य, अंतर— है, भोगोपकरणों का वैचित्र्य है — शुद्धतादि और तारतम्येन सुखादिव्यंजकत्व है — तथा देश-काल-कार्यकारणभाव के अनुसार प्रतिबद्ध क्रिया-प्रतिक्रिया का चक्र है वह ऐसा नहीं कि उसे किसी सनातन सर्वज्ञ चेतन कर्ता ने बनाया हो। तो वैविध्य क्यों है? कर्म से ही विविधता है। कर्म ऐसे प्रभाव वाला है कि उसकी सीमा समझी नहीं जा सकती। इतना ही नहीं, सभी को — ईश्वरवादी को भी — उसे फलहेतु मानना ही पड़ता है। जब कर्म फलहेतु है ही तो एक अधिक ईश्वर की कल्पना से क्या लाभ? इसलिए न कोई नित्य ईश्वर है जो नित्य सब जानने में समर्थ हो और न ही वह किसी फल के प्रति हेतु है। ईश्वरवादियों ने भी ईश्वर पर पक्षपात का दोष बचाने के लिये कर्म मानकर उसे जगद्वैचित्र्य का हेतु स्वीकारा ही है। ईश्वर तो साधारण हो गया और कर्मभेद से फलभेद हुआ। कर्म हम मीमांसकों को भी स्वीकृत है ही। यों उभयवादी जिसे मान रहे हैं उसी से काम चलते एक नया धर्मी ईश्वर और उसमें फलहेतुत्वरूप धर्म की कल्पना गौरवग्रस्त होने से असंगत है यह शंका का अर्थ है।

परिहारः

न कर्मण एवोपभोगवैचित्र्याद्युपपद्येत। कस्मात् ? कर्तृतन्त्रत्वात्कर्मणः। चितिमत्प्रयत्ननिर्वृत्तं हि कर्म तत्प्रयत्नोपरमाद् उपरतं सद् देशान्तरे कालान्तरे वा नियतनिमित्तविशेषापेक्षं कर्तुः फलं जनयिष्यतीति न युक्तम्, अनपेक्ष्य अन्यद् आत्मनः प्रयोक्तृ।

पूर्वोक्त परिहार का विस्तार

यदि लघुभूत पदार्थ पर्याप्त हों तब अवश्य गुरुभूत पदार्थों का सहारा लेना ग़लत होता है लेकिन प्रकृत में लघुभूत अर्थात् कर्ममात्र पर्याप्त है नहीं अतः ईश्वर के सहारे ही विचित्रता समझी जा सकती है। इस सिद्धान्त-अभिप्राय को स्पष्ट करते हैं - उपभोग-विचित्रता आदि की उपपत्ति अकेले कर्म से होती नहीं कि तुम्हारी व्यवस्था स्वीकार्य हो सके। क्यों? इसलिए कि कर्म कर्ता के अधीन होता है अतः कर्ता के बिना कुछ करने में असमर्थ है। जानकार की कोशिश से कर्म पैदा होता है, जब उस कर्ता ने कोशिश छोड़ी तब कर्म भी रहता नहीं। ऐसा कर्म जो करने वाले की कोशिश बंद होते ही रह नहीं गया, वह अन्य देश-काल में नियमित ख़ास कारणों की अपेक्षा रखते हुए अपने उत्पादक कर्ता के लिये फल उत्पन्न करेगा यह संगत नहीं। अपने किसी चेतन प्रयोक्ता की अपेक्षा रखकर तो वह ऐसा करता हुआ समझा जा सकता है पर बिना उसके नहीं। कर्म भी फल देशादिविशेष में तथा निमित्तविशेषों को उपस्थित कर ही दे सकता है। सुख-दुःख के लिये लड्डू या डण्डा खाना ही पड़ेगा। लड्डू आदि निमित्तों की अपेक्षा रखकर कर्म फल दे सकता है, उनके बिना नहीं। वे निमित्त नियमित अर्थात् इष्टादि होने पड़ते हैं; सुख देने के लिये वह निमित्त उपस्थित करना पड़ता है जो भोक्ता को इष्ट हो। दुःख देने के लिए उसे द्विष्ट निमित्त चाहिये। और निमित्त खास अर्थात् व्यक्ति होने पड़ते हैं, सामान्यमात्र नहीं; लड्डू व्यक्ति चाहिये आदि। कर्म उसे ही फल देता है जिसने कर्म का निर्माण किया है। एक का किया दूसरे को फलता नहीं। इतना व्यवस्थित और विकल्प-चुनावघटित कार्य जड वस्तु करे यह मीमांसक

की अंधश्रद्धा हो सकती है, विचारसह और शास्त्रसंमत तो नहीं है। यदि स्वभाववादाश्रयण करना हो तब तो कर्मादि भी मानना व्यर्थ ही है! स्वभावत: ही रसगुल्लादि सुख दे सकता है, इसके लिए कर्म की ही क्या ज़रूरत? अत: जैसे लोक में नौकर का कर्म देखने वाला मालिक उचित समय पर उचित पदार्थ उसे देता है — पुरस्कार और दण्ड दोनों देता है — ऐसे हमारे कर्म देखने वाला परमेश्वर हमें सुख-दु:ख देता रहता है यही मानना उचित है। यही 'चेतन प्रयोक्ता' का मतलब है; चेतन ईश्वर कर्म का यह प्रयोग करता है कि जिसने कर्म किया उसे तदनुरूप फल मिले। इससे वह परतंत्र भी नहीं हो गया; 'न हि सेवाभेदानुरोधेन फलभेदप्रद: प्रभुरप्रभुर्भवति' आदि वाचस्पत्य वचन स्मरणीय है। वस्तुतस्तु सत्कर्म से ईश्वर ख़ुश होते हैं और ख़ुशी से वे जो भी हमें देते हैं वह हमारे लिए सुखकारी हो जाता है, असत्कर्म से वे नाराज़ होते हैं और नाराज़ हुई माता के थप्पड़ की तरह नाराज़गी से जो कुछ भी हमें देते हैं वह हमारे लिए दु:खकारी हो जाता है। अतएव सुखकारी-दु:खकारी चीज़ों का कोई निर्णय नहीं, एक ही चीज़ हमें कभी सुख देती है, कभी दु:ख; वही गाली मित्र दे तो सुख होता है, अनजान दे तो दु:ख। अत: गाली सुख-दु:ख का हेतु नहीं। जब परमेश्वर खुशी से हमें वही गाली देते हैं — चाहे सामने दोस्त को निमित्त बनाकर — तब उससे हम सुखी हो जाते हैं; जब वे नाराज़गी से वही हमें देते हैं, तब हम दु:खी हो जाते हैं। अत: पारतन्त्र्य का प्रसंग नहीं। हमारे करने से ख़ुश या नाराज़ हुए तो क्या हमारे परतंत्र नहीं? इतना 'पारतन्त्र्य' तो उनमें स्वीकार्य है तभी वे ईश्वर हैं, शासक हैं, ईशन तो ईशितव्य के सापेक्ष होगा ही इसी से तो ईश्वरत्व भी कल्पित ही मान्य है। किन्तु परतन्त्र वह कहा जाता है जो बद्ध हो; ईश्वर कर्म से खुश आदि होता है, फलप्रद भी होता है पर इसमें बद्ध नहीं, किसी अन्य के निर्देश से उसे सत्कर्म से ख़ुश होना ही पड़े, उसका फल सुख देना ही पड़े — ऐसा नहीं। तो क्या वह सत्कर्म से नाराज़ भी हो सकता है या उसका फल दु:ख भी दे सकता है? ऐसा भी नहीं है पर इसमें कारण उसका स्वतंत्र संकल्प है, किसी अन्य की आज्ञा नहीं, अत: वह स्वतंत्र है। वास्तव में जिससे वह नाराज़ होगा वही तो असत्कर्म है, उसी से तो दु:ख मिलना है। इसलिए यह प्रश्न ही ग़लत है कि कर्म सत् हो और ईश्वर को नाराज़ करे! वह अव्यवस्थितचित्त नहीं है कि हम उसकी पसंद-नापसन्द पहचान ही न पायें। वैसे तो श्रुति-स्मृति में उन्ही ने अपनी बहुतेरी पंसद-नापसंद चीज़ें बता दी हैं लेकिन अंतर्यामी हुए वे साक्षात् सदा बताते भी रहते हैं। प्राय: पापी भी पाप को पाप ही जानते हुए करते हैं अतएव वही पाप उनके प्रति किया जाये तो प्रतिरोध करने लगते हैं। इस प्रकार जड कर्म को समर्थ न मानकर स्वतंत्र परमेश्वर को ही फलप्रद स्वीकारना युक्तिसह भी है।

जीवो न फलप्रयोजक:

कर्तैव फलकाले प्रयोक्तेति चेद् ? — 'मया निर्वर्तितोऽसि, त्वां प्रयोक्ष्ये फलाय यदात्मानुरूपं फलम्' इति ?

न; देशकालनिमित्तविशेषाऽनभिज्ञत्वात्। यदि हि कर्ता देशविशेषाऽभिज्ञ: सन् स्वातन्त्र्येण कर्म नियुञ्ज्यात्, ततोऽनिष्टफलस्याऽप्रयोक्ता स्यात्।

जीव कर्म का प्रयोक्ता नहीं हो सकता

कोई कहता है कि यदि जड होने से कर्म को अपने से अन्य किसी चेतन प्रयोक्ता की ज़रूरत है तो उस कर्म को करने वाले जीव को ही प्रयोक्ता मानकर काम चल जायेगा। कर्म के उत्पादकरूप से और कर्म की निवासभूमिरूप से जीवचेतन तो स्वीकृत है, उसमें केवल फलप्रदत्व, कर्मप्रयोक्तृत्व, की कल्पना करनी पड़ेगी। धर्मकल्पना तो धर्मिकल्पना से लघुभूत है। अत: ईश्वर मानने से क्या लाभ? इस अभिप्राय से शंका उठाकर जवाब देते हैं - **कर्म करने वाला जीव ही फलकाल में उसका प्रयोक्ता मान लिया जाये — अर्थात् वह कर्म के सम्बन्ध में यह समझने वाला हो कि 'मैंने तुझे उत्पन्न किया था, अब तुझे अपने अनुरूप फल के लिये विनियुक्त करता हूँ' — तो क्या व्यवस्था उपपन्न नहीं होगी?**

नहीं होगी, क्योंकि जीव देश-काल-निमित्तों के विशेषों को जानता नहीं है। किस कर्म का कहाँ, कब फल होना चाहिये यह न उसे जानकारी है, न वह स्वातंत्र्येण निर्णायक है। अगर देशादि विशेषों का जानकार होता तो कर्ता, स्वतंत्र रहते हुए कर्म का विनियोग करते समय वह अनिष्ट फल के लिये पाप कर्मों का विनियोग न करता। दुःख होता ज़रूर है, अतः जीव प्रयोक्ता नहीं है। 'मैं विनियोग कर रहा हूँ' ऐसा अनुभव भी कभी न होने से उक्त शंका निर्मूल है।

कर्म निर्निमित्तं न फलति

न च निर्निमित्तं तदनिच्छयाऽऽत्मसमवेतं तच्चर्मवद् विकरोति कर्म।

चेतन निमित्त के बिना भी कर्म फल नहीं देता

प्राचीन मीमांसक कहता है : अनिष्ट फल भोगने पड़ते हैं अतः कर्ता जीव यदि कर्म-प्रयोक्ता नहीं हो सकता तो यही क्यों न मान लें कि चेतन निमित्त के बिना ही कर्म अपने फल का आकार ग्रहण कर लेता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं – **बिना निमित्त ही अर्थात् निमित्तभूत किसी चेतन की इच्छा के बिना ही कर्तृ-आत्मा द्वारा निर्वर्तित और उसे फल देने वाला कर्म उसी तरह सुखादि फलाकार ग्रहण कर लेता है जैसे शरीर की चमड़ी बिना हमारी इच्छा के ही सिकुड़, फट आदि जाती है — यह भी नहीं माना जा सकता।** क्योंकि ऐसा मानने में कोई हेतु नहीं। चमड़ी का दृष्टान्त भी ग़लत है, वहाँ भी दुरदृष्टादि से प्रेरित ईश्वरेच्छाविशेष ही कारण है। यद्यपि यह वादी के संमुख निःशंक कहना व्यर्थ है तथापि तात्पर्य है कि उक्त स्थल पर ईश्वरेच्छा नहीं ही है यह वादी कह सकता नहीं जबकि सिद्धान्ती जडमात्र की व्यवस्थित प्रवृत्ति में चेतननिमित्तता घटादि स्थल में दिखाकर निश्चित कह सकता है। अर्थात् वादी का दृष्टांत तो शंकितसपक्ष हो जायेगा, सिद्धान्ती का पक्ष शंकितविपक्ष नहीं होगा।

कर्मविषये सौगतमतखण्डनम्

न चात्मकृतमकर्तृसमवेतम् अयस्कान्तमणिवद् आकृष्ट भवति, प्रधानकर्तृसमवेतत्वात् कर्मणः।

कर्म के विषय में बौद्धमत का खण्डन

बुद्धानुयायी का मानना है कि कर्मकर्ता फलकाल तक तो रहता नहीं अतः कर्म को कर्ता से सम्बद्ध कहना अनुचित है। क्षणिक विज्ञान से अतिरिक्त आत्मा है नहीं। वह क्षणिक विज्ञान ही कर्म कर्ता है। एक विज्ञान द्वारा किया कर्म कभी किसी विज्ञान के पास फल को खींच लाता है। जैसे कभी कोई चेतन विद्युत् आदि प्रकियाविशेषों से चुम्बक का निर्माण कर देता है लेकिन बाद में उस चेतन की किसी इच्छा-चेष्टा आदि के बिना भी वह चुम्बक लोहे का आकर्षणादि कर ही लेता है, ऐसे ही कर्म भले ही एक विज्ञान से निर्मित हो पर फिर ख़ुद ही फल का आकर्षण कर ही सकता है। एवं च न जीव और न ईश्वर की ज़रूरत है! इस कल्पना का भी निरास करते हैं – **आत्मा द्वारा किया कर्म कर्ता से असम्बद्ध हो, चुम्बक की तरह फल का आकर्षक हो सके यह भी संभव नहीं क्योंकि कर्म प्रधानभूत कर्ता से सम्बद्ध ही होता है।** करणादि कारकों को इस तरह काम में लाने वाला कि कर्म संपन्न हो, कर्ता कहा जाता है। वही स्वतन्त्र कारक होने से कर्ता होता है। कर्म का उसी से संबंध होता है यह लोकप्रसिद्ध है। परमार्थभूमि में चाहे कर्ता व कर्म दोनों न हों पर जब तक कर्म है तब तक वह कर्तृसंबद्ध ही हो सकता है और सभी ऐसा मानते भी हैं। अदृष्टफलक कर्मों के बारे में संदेह संभव होने पर भी दृष्ट स्थलों में ऐकमत्य है। 'जो शारीरिक मेहनत ज़्यादा करता है वह थक जाता है' यह सार्वलौकिक मान्यता यही मानकर है कि करने वाले में करना रहता है। बौद्ध इसे भ्रम कहेगा लेकिन लोकसंवृतिसत्य भी मानेगा। कर्मफल की चर्चा लोकसंवृति के धरातल पर ही है। अतः कर्तृसम्बद्धता को वह इस भूमि पर नकार नहीं सकता। उस कर्ता को तब तक रहने वाला भी मानना पड़ेगा जब उस कर्म का फलभोग हो रहा है। यद्यपि दृष्टमात्र के

संदर्भ में कर्ता के भोक्तृत्व का प्रतिनियम अप्रतिज्ञेय है तथापि भोक्ता के कर्तृत्व की तो ऐसी व्यवस्था स्पष्ट ही है। जहाँ इस व्यवस्था में व्यतिक्रम आता है वहाँ दृष्ट निमित्त का दोष माना जाता है : ख़ून एक करे, फाँसी दूसरे को हो तो लोग न्यायाधीशादि का दोष मानते हैं। इससे स्पष्ट है कि लोग नियम यह मानते हैं कि फाँसी उसे ही होनी चाहिये जो ख़ूनी है। अतः भोगकालपर्यन्त कर्ता का स्थायित्व भी लोकसिद्ध है। ऐसा न मानें तो कृतनाश-अकृतभोग मानना पड़ेगा। तब तो चैत्यवंदना करना नष्ट हो जायेगा और ज्योतिष्टोमादि करने वालों को ही चैत्यवंदनजन्य सुख हो जायेगा! यह बौद्ध भी सह नहीं सकता। इतना ही नहीं 'अरे! मैंने क्यों ऐसी चोरी की कि आज यहाँ जेल में सड़ रहा हूँ' या 'अहो! मौके पर मेहनत कर ली तो अब सानंद हूँ' आदि अबाधित प्रत्यभिज्ञा भी भोगकाल तक कर्ता को स्थायी सिद्ध करती है। दृष्टस्थल पर सिद्ध हो जाने पर अदृष्ट स्थल पर भी अनुमान होने में रुकावट नहीं।

तत्र लोकायतिकमतनिरासः

भूताश्रयमिति चेद् ? न, साधनत्वात्। कर्तृक्रियायाः साधनभूतानि भूतानि क्रियाकालेऽनुभूतव्यापाराणि, समाप्तौ च हलादिवत् कर्त्रा परित्यक्तानि, न फलं कालान्तरे कर्तुमुत्सहन्ते। न हि हलं क्षेत्राद् व्रीहीन् गृहं प्रवेशयति! भूतकर्मणोश्चाचेतनत्वात् स्वतः प्रवृत्त्यनुपपत्तिः।

वायुवदिति चेद् ? न, असिद्धत्वात्। न हि वायोरचितिमतः स्वतः प्रवृत्तिः सिद्धा, रथादिष्वदर्शनात्।

कर्म के बारे में लोकायत की परीक्षा

लोकायत कहता है कि कर्म तो भूतों पर आश्रित है, भूतों पर ही उसका प्रभाव पड़ता है जिसे फल कहते हैं; इसमें चेतन से क्या लेना-देना?

किन्तु उसका कहना ग़लत है। भूत तो सिर्फ साधन हैं, उपाय हैं। कर्ता जिन क्रियाओं को करता है उनमें महाभूत तो साधन पड़ते हैं। क्रिया होते समय जो उद्यमनादि व्यापार है वह उनसे होता है। क्रिया पूरी हो जाने पर महाभूतों को छोड़ दिया जाता अर्थात् उस क्रिया के अनुकूल व्यापार से पराङ्मुख कर दिया जाता है। जैसे किसान खेती की क्रिया हलादि से करता है, बोने इत्यादि के अनन्तर हल को घर में एक तरफ रख देता है। ऐसे महाभूत— जो केवल साधन हैं — कालान्तर में, देशान्तर में, निमित्तविशेषादिसापेक्ष हुए फल उत्पन्न करने वाले हों यह संभव नहीं। यह कहीं देखा नहीं गया कि हल ख़ुद खेत से धान घर पहुँचा दे! भूत और कर्म दोनों जड हैं अतः किसी चेतन अधिष्ठाता के बिना ख़ुद प्रवृत्ति करें यह असंगत है।

वायु ख़ुद बहती है, ऐसे ही जड स्वतः प्रवृत्ति करने वाले क्यों न माने जायें?

इसलिए ऐसा नहीं माना जा सकता क्योंकि वायु जड हो ख़ुद बहती है यह कहाँ सिद्ध है! जब रथ आदि में निश्चित देखा जा रहा है कि जड में प्रवृत्ति चेतनाश्रित है तो वायु में कैसे माना जाये कि वह जड होते हुए बिना अधिष्ठातृचैतन्य के स्वयं प्रवृत्ति करती है? ज्ञात से अज्ञात की सिद्धि होती है, उल्टा नहीं।

भूतवादियों का यहाँ सीधा निरास है। आधुनिक भूतवादी भी पाते हैं कि भूतों की प्रतिक्रियाओं से पृथक् अन्तर द्रष्टा की दृष्टि का पड़ता है सूक्ष्म पदार्थों पर : परमाणु के घटकों को जब कोई चेतन, जीवित, व्यक्ति देखता है तब उनकी चेष्टाओं में परिवर्तन हो जाता है जो परिवर्तन जड प्रकाशादि पड़ने से पृथक् है। राशि-भौतिकी (Quantum Physics) के इस अनुभव से जीवविज्ञान व मनोविज्ञान दोनों के मूलभूत विचारों में कुछ परिवर्तन लाज़मी है। हर हालत में, चाहे जितनी स्वचालितता का प्रताप बढ़ जाये, आखिर भोक्ता और निर्णय-कर्ता (चुनाव कर्ता) के रूप में अतिभौतिक—भौतिक से अधिक, या अलग—कुछ मानना पड़ता है। इतने से ही भूतवादी या लोकायत का खण्डन हो जाता है। दृष्ट में ही जब भूत

पर्याप्त नहीं तो अदृष्ट में कहाँ से होंगे?

शास्त्रप्रामाण्यात्कर्मैव हेतुरिति शङ्का

शास्त्रात् कर्मण एवेति चेत् ? शास्त्रं हि क्रियातः फलसिद्धिमाह, नेश्वरादेः; 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि। न च प्रमाणाधिगतत्वादानर्थक्यं युक्तम्। न चेश्वरास्तित्वे प्रमाणान्तरमस्तीति चेत् ?

शास्त्र के सहारे कर्म को ही कारण मानने की शंका

जरद् मीमांसक ने कर्म से फल माना था और इस में निमित्त कोई नहीं बताया था। कुछेक नवीन मीमांसक — संभवतः भट्टपादादि क्योंकि उन्हे रत्नप्रभाकार ने चतुर्थसूत्र के प्रथम वर्णक का पूर्वपक्षी कहते हुए उस मत वालों के लिये 'ब्रह्मनास्तिकानाम्' शब्द का प्रयोग किया है — कर्म से फल मानते हैं और निमित्त पूछने पर शास्त्र की दुहाई देते हैं। उनकी ओर से शंका उठाते हैं - **शास्त्र के आधार पर ही क्यों न मानें कि कर्म से फल होता है? शास्त्र इतना ही कहता है कि कर्म से फल सम्पन्न होता है —'स्वर्ग चाहने वाला व्यक्ति यह याग करे', इससे वह याग स्वर्गोपाय सिद्ध होता है। शास्त्र यह तो कहता नहीं कि ईश्वर या किसी चेतन देवतादि से फल मिलता है। कर्म की फलकारणता अदृष्ट के बिना अनुपपन्न है अतः श्रुतार्थापत्ति से अदृष्ट सिद्ध होकर प्रमाण से निर्णीत कर्मगत फलोपायता उपपन्न कर देता है। प्रमाणभूत शास्त्र से पता चला कि कर्म इष्टोपाय है अतः यह माना नहीं जा सकता कि कर्म निष्फल है। ईश्वर तो इसी से माना जा रहा था कि कर्मफल मिलना उसी से उपपन्न है; जब अदृष्ट से ही वह उपपन्न है तो ईश्वर कर्मफल की अन्यथानुपपत्ति से तो सिद्ध होगा नहीं। प्रत्यक्षादि कोई प्रमाण ईश्वर में हैं नहीं। अतः ईश्वर जैसी अप्रामाणिक और व्यर्थ वस्तु की कल्पना क्यों करनी, कर्म से ही जगद्वैचित्र्य उपपन्न है।**

मीमांसक की प्रक्रिया है : 'याग करे' इस क्रियापद से यह पता चलता है कि सामान्यतः किसी इष्ट का साधन याग है। यह प्रश्न होने पर कि 'किस इष्ट का यह साधन है?', 'याग करे' के साथ—उसी वाक्य में — कहा 'स्वर्ग चाहने वाला' इस शब्द से पता चल जाता है कि चाहे जाने वाले स्वर्ग का साधन वह याग है। किंतु याग तो कुछ ही देर में ख़त्म हो जाता है, वह काफी देर से होने वाले स्वर्ग का साधन कैसे? यह जिज्ञासा होने पर विचारपूर्वक यह निर्णय होता है कि जैसे दवा आदि तो अभी पीते हैं लेकिन आरोग्यादि फल देर से भी होते हैं तो मानना पड़ता है कि दवा-आदि ने शरीर में कोई स्थायी संस्कार पैदा किया तभी देर से होने वाले कार्य के प्रति वह कारण बनी, ऐसे ही क्योंकि प्रमाणभूत श्रुति से याग की इष्टोपायता पता चली है और श्रुति ग़लत बात बता नहीं सकती इसलिए मानना पड़ेगा कि स्थायी अपूर्व के द्वारा वह याग कालान्तरीय स्वर्गादि का कारण बनता है। जब अपूर्व से ही काम चल गया तो फललाभ के लिये ईश्वर क्यों मानना? श्रुत्यादि में ईश्वरादि कह कर तो कर्म की ही प्रशंसा की गयी है।

एवं च ईश्वर न मानकर व्यवस्था बनाने वाले मीमांसक अपनी प्रक्रिया को शास्त्रसिद्ध बताते हैं! यह एक विडम्बना ही है। शास्त्र भी भौतिक ही तो है। अतः इन्हे भूतवादियों के साथ रखकर आचार्य ने व्यक्त किया कि ये लोकायतों से बेहतर नहीं हैं।

नेति समाधिः, न्याय्यत्वात्

न, दृष्टन्यायहानानुपपत्तेः। क्रिया हि द्विविधा— दृष्टफला, अदृष्टफला च। दृष्टफलाऽपि द्विविधा— अनन्तरफला, आगामिफला च। अनन्तरफला गतिभुजिलक्षणा, कालान्तरफला च कृषिसेवादिलक्षणा। तत्रानन्तरफला फलापवर्गिण्येव।

कालान्तरफला तूत्पन्नप्रध्वंसिनी। आत्मसेव्याद्यधीनं हि कृषिसेवादेः फलं यतः। न चोभयन्यायव्यतिरेकेण स्वतन्त्रं कर्म, ततो वा फलं दृष्टम्। तथा च कर्मफलप्राप्तौ न दृष्टन्यायहानमुपपद्यते।

उक्त शंका का समाधान

सिद्धान्ती समाधान करता है : केवल अपूर्व से श्रुत्यर्थ संगत नहीं होता। लोक में देखा गया है कि क्रियासमाप्ति और फलप्राप्ति में जहाँ काफी काल की दूरी होती है वहाँ पिता, मालिक आदि कोई चेतन ही प्रयोक्ता होता है। केवल अपूर्व से व्यवस्था बनाने पर यह व्याप्ति कटेगी जो ठीक नहीं। इसलिए ईश्वर न केवल श्रुतिसिद्ध है, श्रुत्युक्त कर्मों की स्वर्गादि फलकता की अन्यथाऽनुपपत्ति से भी सिद्ध है। इस अभिप्राय से कहते हैं - मीमांसकव्यवस्था लोकदृष्ट व्याप्ति से विरुद्ध होने से अमान्य है। क्रिया दो तरह की होती है - (१) दृष्ट फल वाली और (२) अदृष्ट फल वाली।

(१) दृष्ट फल वाली दो प्रकार की है - (क) जिसका फल क्रिया के तुरन्त बाद हो जाता है और (ख) जिसका फल क्रिया पूरी होने के काफी देर बाद होता है। पहली का उदाहरण है चलना, खाना आदि और दूसरी का खेती, नौकरी आदि। जो क्रिया तुरन्त फल देती है उसका नाश फल होते ही हो जाता है अर्थात् किसी अन्य फलदाता की वहाँ ज़रूरत नहीं पड़ती। लेकिन जो क्रिया समाप्त होने के काफी देर बाद फल देती है वह उत्पन्न होकर फल देने से बहुत पहले ही नष्ट हो जाती है अतः वह कालान्तर में फल देने वाले चेतन की अपेक्षा रखती है। यही देखा गया है कि खेती का फल — घर में अनाज आना — कृषि क्रिया के ही नहीं खेती करने वाले किसानादि के अधीन होता है, वह पकी खेती काट कर घर लाता या मँगाता है। ऐसे नौकरी का फल — वेतन — मालिक के अधीन होता है।

(२) अदृष्ट फल वाली क्रिया भी इन दो न्यायों से छूटी हुई नहीं मान सकते। दृष्टफल वाली की तरह इसकी व्यवस्था संगत होने पर इसके लिए न्याय ही अलग बनाना अप्रामाणिक गौरव का काम होगा। यागादि से धूमादि तत्कालभावी फल हैं उनके लिए ईश्वर-व्यापार नहीं चाहिये। स्वर्गादि कालान्तरभावी फल हैं, उनके लिए ईश्वरसंकल्प चाहिये। मुख्य फल स्वर्गादि रहते भी तत्कालभावी का निषेध संभव नहीं, गंगास्नान से शीतलता, मैल छूटना आदि नहीं होता यह कौन मानेगा? इस प्रकार शास्त्रविहितादि कर्मों से फलप्राप्ति में भी लोकदृष्ट क्रियाफलव्यवस्था के अनुकूल प्रक्रिया संभव होने से यही मीमांसक को भी माननी चाहिये।

व्यवहितफलतयेश्वरायत्तं कर्मफलम्

तस्माच्छान्ते यागादिकर्मणि नित्यः कर्तृकर्मफलविभागज्ञ ईश्वरः सेव्यादिवद् यागाद्यनुरूपफलदातोपपद्यते। स चात्मभूतः सर्वस्य, सर्वक्रियाफलप्रत्ययसाक्षी, नित्यविज्ञानस्वभावः, संसारधर्मैरसंस्पृष्टः।

ईश्वर से कर्मफल है

उक्त विचार का निष्कर्ष है कि सेवाफल की तरह कालान्तर में फलप्रद होने से यागादि का फल भी कर्म-कर्ता-फल-निमित्त आदि के जानकार चेतन से अर्थात् परमेश्वर से ही मिलता है। यह बताते हुए ईश्वर के बारे में भी बताते हैं- इसलिए युक्तियुक्त भी यही है कि यागादि क्रिया समाप्त होने पर भी कर्ता-कर्म-फल के विभाजनों का जानकार जो सनातन ईशान है वही यागादि का फल देने वाला है जैसे सेवादि का फल मालिकादि देते हैं।

अद्वैत की ओर ले चलने के लिए ईश्वर के विषय में शंका-समाधान किया जाता है :

'ईश्वर नहीं है' सिद्ध करने के लिये मीमांसक प्रश्न उठाता है कि जीव अपने भोगसाधनों पर — देहेन्द्रियादि से सेवक धनादि तक पर — नियन्त्रण रखने वाला है; यदि फलदाता होने से उसका भी नियन्त्रण करने वाला ईश्वर को मानते हो तो तुमने यह व्याप्ति स्वीकार ली कि 'हर नियन्त्रणकर्ता अपने से अन्य किसी के द्वारा नियन्त्रित होता है' और इसलिये नियन्त्रणकर्ता होने के कारण ईश्वर का भी उससे अन्य कोई नियन्त्रणकर्ता मानना पड़ेगा जिससे अनन्त ईश्वर स्वीकारने की

आपत्ति होने से मूलभूत ईश्वरानुमान ही खण्डित हो जाता है।

इसका उत्तर देते हैं - **वह ईश्वर सबका आत्मा है।**

जीव-ईश्वर सर्वथा अलग होते तो स्वव्यतिरिक्तनियम्यत्व की संभावना से हो सकता था कि उक्त रीति से कोई दोष होता। पर वैसा है नहीं, जीव-ईश्वर अलग हैं नहीं। इनमें जो नियंत्रित होना और नियंत्रण करना है वह केवल कल्पित भेद से संगत है, सच्चा इनमें भेद हो ऐसी बात नहीं। जैसे बिम्ब-प्रतिबिम्ब स्थल में प्रतिबिंब ज़रूर बिम्ब से नियन्त्रित होता है यद्यपि वे 'दोनों' दो नहीं हैं, सचमुच अलग नहीं हैं, ऐसे ही यहाँ समझना चाहिये। गीताटीका में (७.१४) मधुसूदन स्वामी ने इस पर प्रकाश डालते हुए यह भागवत का (७.९.११) श्लोक सुनाया है :

'नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते ।
यद्यज्जनो भगवते विदधीत मानं तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः ।।'

इसका अभिप्राय वहीं से समझना चाहिये।

यदि जीव-ईश्वर में वास्तविक भेद हो तब तो घटादि की तरह वे भी कार्य—जन्य—ही होगें अतः नाशवान् होंगे और नैरात्म्यवाद का ही प्रतिपादन होगा। भेद-कार्यत्व की व्याप्ति पाराशर्यवचन-सिद्ध है यह पहले भी कह चुके हैं। एवं च 'स्वव्यतिरिक्तता' न होने से यह व्याप्ति ही नहीं कि हर नियंता अपने से अन्य के द्वारा नियमित होता है कि ईश्वरवाद में अनवस्था प्राप्त हो।

यद्यपि ईश्वर के प्रसंग में ईश्वरान्तरापत्ति का प्रश्न प्रायः सभी देश-विदेश के ईश्वरसमर्थकों के संमुख उठा है तथापि भगवान् परमपूज्यपाद आचार्यों ने ही इसका युक्ति-भूमिका पर सामना किया है यह सुस्पष्ट है। बाकी लोग या तो ग्रंथों के सहारे उत्तर देते हैं, या 'परमता' 'अन्तिमता' आदि की आवश्यकता पूर्वोक्त अनवस्था से ही मनवाने की कोशिश करते हैं, या 'अन्य ढंग न बनने से इस ढंग को मानो' यह अर्थापत्ति दिखाते हैं आदि। भाष्यकार अनवस्था प्राप्त ही नहीं होने दे रहे। इनका ईश्वरवाद अद्वैत शिव का वर्णन है। भेद की बदबू सह न सकने के कारण अद्वैत सुरभि से प्रोक्षित इस प्रक्रिया में अन्तर्यामिता की प्रधानता है। केन का प्रारंभ ही अंतर्यामी से हुआ था। ईश्वर की खोज ही तो आत्मा में समाप्त हुई। भक्ति का पर्यवसान अपने प्रियतम से सर्वथा अविलग होना ही तो है। जो भक्त है, सिर्फ़ ईश्वर की ओर बढा, वही मुक्त हो सकता है यह सिद्धांत है। भाष्यकार के अनुसार ईश्वरोन्मुख होना और आत्मोन्मुख होना एक ही है; आध्यात्मिकता तथा धार्मिकता में कोई अंतर नहीं : पहली सीढी और अगली सीढी का भेद होने पर भी निश्रयणी (staircase) वही है। गूढार्थदीपिका का गीतोपक्रम इस विषय में अत्यन्त सारगर्भित है। कठचिन्तन में प्रार्थनाप्रकरण में धर्म के विचार के प्रकाश से वह सार आलोकित हो जाता है। गीताप्रवेश नामक ग्रंथ का यज्ञाध्याय भी दर्शनीय है। सर्वथापि यह ईश्वरविचार कुछ-न-कुछ प्रौढ साधक को ही हृदयंगम हो सकता है। इसमें बहिर्यामितानिरास नहीं है क्योंकि अन्तर्यामिता का विकास ही तो बहिर्यामिता है, या उसी का प्रतीक (prototype) अन्तर्यामिता है। इसीलिए 'इस लोक, पर लोक और सारे भूतों को बाँधे रखने वाला सूत्र' और यही सब करने वाला 'अन्तर्यामी', जिसे आरुणि जानते थे, 'वायु' ही है, 'एष त आत्मा — यह तेरा आत्मा' ही है और यही 'अमृत' (द्र. केन. २.४,५) है, अदृष्ट द्रष्टा है, इससे अन्य कोई विज्ञाता नहीं है बल्कि जो कुछ भी इससे अन्य है वह 'आर्त' है (बृ.३.७ संपूर्ण)। शासक, पूज्य और ज्ञेय अलग-अलग नहीं हैं, यहाँ तक कि शासित, पूजक और ज्ञाता भी अलग नहीं हैं! केन-अन्तर्यामिब्राह्मण की एकवाक्यता पहले भी दिखायी गयी थी यहाँ भी आचार्यों ने उसे ही व्यक्त कर दिया है। और इसीलिए ईश्वरवाद केनोपनिषत् के उपक्रम-उपसंहार की ही व्याख्या है, कोई बाहरी विषय — ग्रंथानारूढ प्रसंग नहीं है।

आगे मीमांसक प्रश्न करता है — क्योंकि वह तो हृदयहीन जडवादी है — कि यदि राजा आदि की तरह ईश्वर

फलदाता है तो किसी का निग्रह और किसी पर अनुग्रह करने वाला होने से रागादि वाला होगा एवं राग-द्वेष वाले को पूज्य कौन मानेगा? कार्यकारणभाव से बद्ध मन वाले सभी इस समस्या को रखते हैं कि क्यों ईश्वर धार्मिकों को सुख देगा और अधार्मिकों को दुःख? कुछ तो धर्म को 'घूसखोरी' कहते हैं : अमुक द्रव्यादि दो, अमुक काम करा लो। यदि तो हमेशा काम हो जाया करता, तब तो विनिमय कह देते — दाम दो, माल लो — किन्तु हमेशा 'प्रार्थना' 'सुनी' नहीं जाती अतः 'घूसखोरी' कहते हैं। सुख-दुःख देना भगवान् की एक-सी अहैतुकी कृपा है यह भगवत्प्रेमी ही समझ सकता है, भाष्यकार ही कह सकते हैं। प्रिय जब अपराध पर डाँटता है तो अपराध के कारण बिल्कुल भी नहीं, बल्कि केवल इसलिए कि उसे हमसे प्रेम है। अपराध की हानि तो वही सहेगा लेकिन हम पर स्नेह है अतः डाँटेगा ज़रूर। और अच्छाई पर पुचकारता क्या अच्छाई के कारण है? अच्छाई तो बहुतेरे करते हैं, क्या घूम-घूम कर सबको पुचकारता फिरता है? पुचकार में भी एक ही कारण है—प्रेम। 'आत्मभूत' का जीवात्मा से निरवधि प्रेम ही निग्रहानुग्रहकारक है। यहाँ — अद्वैत सिद्धान्त में — रागादि या वैषम्यादि का प्रसंग उठता ही नहीं। वह तो प्रारंभ में कुछ प्रारूप बना देते हैं कि साधक भटके नहीं। इस आशय से कहते हैं - **वह आत्मभूत ईश्वर ही सबका, क्रियाओं का, फलों का, प्रत्ययों का साक्षी है**। वही बोधों के 'प्रति' है। यह विशेषण सारिष्ठ है, सारी उपनिषत् को एक शब्द में सिमेट दिया है, तत्-त्वं-पदार्थों को, उपाधिदृश्यत्व को, आत्मैक्य को, बोधों की भी जडता तो, साक्षात् दर्शनरूप को, सभी को यहाँ एकत्र कर दिया अतः इस विशेषण की व्याख्या पूरी केनोपनिषत् का भाष्यादि है, उस सब को यहाँ समझना आवश्यक है। 'कथं सर्ववेदान्तसिद्धं ब्रवीमि!'

लोक में साक्षी गवाह को कहते हैं। वह राग-द्वेष से रहित होता है, यथार्थ कहता है और उसका कहना जय-पराजय का निर्णायक होता है। राजा भी भले लोगों की रक्षा और बदमाशों को नियंत्रित—शिक्षित, दण्डित—करता है तो उसे राग-द्वेष वाला नहीं माना जाता। इसी तरह क्रियादि का साक्षी रहते हुए राजा की तरह ऐसा फल न देने वाला जो अनुरूप (न्याय्य) न हो, ईश्वर क्योंकर रागादि वाला होगा? टीका में अनुरूप प्रदाता न कहकर 'अननुरूपाऽदातृत्वात्' कहने से बहुत कुछ व्यक्त किया गया है। अजातवादियों का हर वाद अज-विलास है। इसी से तो भाष्य में 'फलसाक्षी' भी कह दिया ताकि देने वाला ही नहीं, जिसे दिया वह भी स्पष्ट पता चल जाये कि कौन 'है?'

साक्षी देखता है, देखने का काम करता है। ऐसे ही क्या ईश्वर दिन भर देखने के धंधे में लगा रहता है? नहीं, क्योंकि - **वह नित्य विज्ञानस्वभाव है**। ग्रन्थारंभोक्त स्वप्रकाशतावाद यहाँ पुनः बाँच लेना चाहिए। परमात्मा नित्यविज्ञान-स्वभाव है। अनिर्वचनीय विषयों के वैसे ही अवच्छेद से, अर्थात् विषयों की मिथ्या सापेक्षता से उसको साक्षिरूप समझा जाता है। जैसे सूर्य का प्रकाशकत्व कल्पित है वैसे परब्रह्म का सर्वसाक्षित्व — बहिः-अन्तः-यामित्व — भी कल्पित है।

प्रश्न होगा कि यदि सब जीवों का आत्मा ईश्वर है तो सभी संसारधर्मों से लिप्त होने के कारण संसारी जैसा ही होगा, इससे विशेष क्या है? इसका उत्तर देते हैं - **संसारधर्मों से उसका कोई संस्पर्श नहीं है**। सूत्रभाष्य में कहा है 'न हीश्वरस्य संसार्यात्मत्वं प्रतिपाद्यत इत्यभ्युपगच्छामः। किन्तर्हि? संसारिणः संसारित्वापोहेन ईश्वरात्मत्वं प्रतिपिपादयिषितमिति।' (४.१.३)। तथा 'संभोगप्राप्तिरिति चेद्? न वैशेष्यात्' (१.२.८) सूत्र और इसका भाष्य 'संसारधर्मैरसंस्पृष्टः' की व्याख्या समझनी चाहिये। वैसे यहाँ संसार और धर्मों अर्थात् जीवों से असंस्पृष्ट भी समझ लेना उचित है। प्रतीतिरूप स्पर्श होते हुए ही वास्तव संबंधरूप संस्पर्श नहीं है।

ईश्वरास्तित्वे शास्त्रं मानम्

श्रुतेश्च। 'न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः' (कठ.२.२.११), 'जरामृत्युमत्येति' (बृ.३.५), 'विजरो विमृत्युः' (छां.८.७), 'सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः' (छां.८.१; मैत्री.७.७) 'एष सर्वेश्वरः' (बृ.४.४.२२), पुण्यं 'कर्म कारयति' (कौ.३.८), 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' (मु.३.१.१, श्वे.४.६), 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने' (बृ.३.८.९) इत्याद्या असंसारिण एकस्यात्मनो नित्यमुक्तस्य सिद्धौ श्रुतयः। स्मृतयश्च सहस्रशो विद्यन्ते।

ईश्वर की विद्यमानता में प्रमाण है शास्त्र

पूर्वोक्त रीति से कर्मफलव्यवस्था तथा संसारप्रचलन व्यवस्था से ईश्वर युक्तितः संभावित हुआ। अब कहते हैं कि वस्तुतः ईश्वर श्रौत है – श्रुतियों से ही ईश्वरनिश्चय हो जाता है। भाष्योक्त चकार अवधारणार्थ है। श्रुतियाँ दिखाते हैं – वेद ने कहा है : 'व्यवहारभूमि से बाहर है परमात्मा जो लोकभूत दुःखों से – दृश्यमात्र से – लिप्त नहीं होता।' इसका विवरण 'अणुमात्रेणापि स न सम्बद्ध्यते' सूत्रभाष्य है। 'वह बुढ़ापे और मौत से परे है।' 'न बुढ़ापा और न मृत्यु उसे छूते हैं।' 'उसकी कामनायें और उसके संकल्प सत्य होते हैं।' 'यह सबका शासन करने के स्वभाव वाला है।' 'पुण्य कर्म यही कराता है।' 'यह ख़ुद खाता नहीं, सिर्फ़ देखता है।' 'इसी अक्षर के प्रशासन में सूर्यादि सब स्थित हैं।' इन सब श्रुतियों से असंसारी, अद्वितीय, नित्यमुक्त आत्मा सिद्ध है। हज़ारों स्मृतिवचन भी इस बात को सत्यापित करते हैं। स्मृतियाँ जैसे : 'जैसे सूक्ष्म होने से सर्वगत भी आकाश लिप्त नहीं वैसे ही आत्मा भी सूक्ष्मतम है अतः सर्वत्र और देह में अवस्थित होने पर भी किसी से संसर्गी नहीं होता।' (गी. १३.३२) 'सभी विनाशी भूतों में अविनाशी परमेश्वर रहता है' (१३-२७)। 'ईश्वर सब भूतों के हृदयदेश में रहता है और जैसे यान्त्रिक यन्त्रारूढों को घुमाता है ऐसे वह माया से सब भूतों को घुमाता है।' (१८-६१)। चक्रात्मक झूला (giant-wheel) यहाँ यन्त्र समझना चाहिये। लोग किनारों पर बैठे रहते हैं। चक्र के बीच एक आदमी खड़ा हुआ पैरों से उस चक्र को अधिकाधिक तेज़ चलाता है, कुछ देर में धीमा कर रोक देता है। घूमने वालों को चक्कर-सा आता है। यह यहाँ दृष्टान्त है।

ईश्वरविषयाणि वाक्यानि स्वार्थे प्रमाणानि

न चार्थवादाः शक्यन्ते कल्पयितुम्, अनन्ययोगित्वे सति विज्ञानोत्पादकत्वात्। न चोत्पन्नं विज्ञानं बाध्यते।

अप्रतिषेधाच्च। न च 'ईश्वरो नास्ति' इति निषेधोऽस्ति। प्राप्त्यभावादिति चेद् ? न, उक्तत्वात्। 'न हिंस्याद्' इतिवत् प्राप्त्यभावात् प्रतिषेधो नारभ्यत इति चेद् ? ईश्वरसद्भावे न्यायस्योक्तत्वात्।

ईश्वरबोधक वाक्य स्वार्थ में प्रमाण हैं

मीमांसक ईश्वरादि सिद्ध वस्तुओं को बताते हुए वाक्यों को अर्थवाद मानकर उन वाक्यों के शाब्दिक अर्थ में तात्पर्य न स्वीकारने से उस अर्थ के लिये उन वाक्यों को प्रमाण नहीं मानता है। अतः उसे समझाते हैं – ईश्वर का बोध कराने वाले श्रुति-स्मृति वाक्य अर्थवाद हैं यह कल्पना नहीं कर सकते क्योंकि कर्म आदि किसी अन्य से सम्बद्ध न होने से अन्यशेष अर्थात् किसी अन्य के लिए हैं नहीं और बोध ज़रूर करा रहे हैं। अतः कर्मविधियों की तरह ये भी स्वार्थ में प्रमाण हैं। इतना ही नहीं, इनसे ईश्वरज्ञान होता है एवं उसका बाध होता नहीं। स्वतःप्रामाण्यवादी मीमांसक को ऐसा ज्ञान प्रमाण ही मानना पड़ेगा जिसका बाध नहीं होता, अतः ये वाक्य प्रमाण ही हैं।

ईश्वर का निषेध तो शास्त्र में किया नहीं गया है कि उसे न माना जाये। 'ईश्वर नहीं है' ऐसा कोई निषेध वाक्य वेदों में पढ़ा नहीं जाता। तात्पर्य है कि श्रुत्युक्त होने पर भी यदि निषिद्ध हो तो अवास्तविक माना जाता है जैसे ब्रह्म के मूर्तामूर्त दो रूप बताकर 'नेति नेति' से उनका निषेध कर दिया तो पता चल गया कि वे रूप अवास्तविक हैं। ऐसे ईश्वर की चर्चा कर कहीं नहीं कहा कि वह है नहीं। अतः ईश्वर क्यों न मानें?

मीमांसक कहता है : ईश्वर है इसलिए निषेध नहीं किया, यह बात नहीं। निषेध तो इसलिए नहीं किया कि ईश्वर प्राप्त ही नहीं है! जैसे प्राणिहिंसा रागवश प्राप्त है तो शास्त्र कह देता है 'किसी प्राणी की हिंसा न करे', ऐसे ईश्वर तो कहीं प्राप्त है नहीं कि उसका निषेध किया जाये। शशशृंग का निषेध कौन करे? – 'न हिंस्यात्' आदि वाक्य जैसे प्राप्त हिंसा का निषेध करते हैं ऐसे ईश्वर प्राप्त ही नहीं अतः उसका निषेध भी नहीं। एतावता माना कैसे जा सकता है?

सिद्धान्ती जवाब देता है : यह कहना ग़लत है कि ईश्वर प्राप्त नहीं क्योंकि शास्त्र और युक्ति से उसकी प्राप्ति सिद्ध की जा चुकी है।

शास्त्रे फलदातृनिषेधाभावः

अथवा, 'अप्रतिषेधाद्' इति— कर्मणः फलदान ईश्वरकालादीनां न प्रतिषेधोऽस्ति। न च निमित्तान्तरनिरपेक्षं केवलेन कर्त्रैव प्रयुक्तं फलदं दृष्टम्। न च विनष्टोऽपि यागः कालान्तरे फलदो भवति।

'फलदाता नहीं है' ऐसा शास्त्र में नहीं कहा है

किं च कर्म का फल देने वाले ईश्वर, काल आदि का निषेध नहीं किया गया है। यह तो देखा गया नहीं है कि कर्ता द्वारा उत्पादित कर्म अकेला ही, किसी अन्य निमित्त की अपेक्षा रखे बिना ही फल दे देता हो। विनष्ट हुआ याग भी सुदूर भविष्य में फलप्रद हो यह संभव नहीं। अतः फलदाता परमेश्वर ही श्रद्धेय है। अभिप्राय है कि 'स्वर्गेच्छुक याग करे' आदि वाक्य यह तो बताता है कि याग फल देने में समर्थ है पर यह नहीं कहता कि उसे कोई सहकारी नहीं चाहिये। एक ही वाक्य से दोनों बातें निकालने पर वाक्यभेद-दोष मीमांसक पर लगेगा। यही नहीं, संगत भी यही मानना है कि शास्त्र केवल याग की स्वर्गोपायता कह रहा है, साधनान्तरों की सुखहेतुता का निषेध शास्त्र करे यह उचित नहीं क्योंकि ऐसा कहीं देखा नहीं जाता कि गहना, प्रसाधनद्रव्य, स्त्री आदि निमित्तों के बिना अकेला कर्म ही सुख देता हो! अतः जैसे प्रत्यक्षादिसिद्ध गहना आदि को निमित्त मानना ही पड़ता है वैसे शास्त्र-युक्ति से सिद्ध ईश्वर को भी निमित्त मानना पड़ेगा ही।

वह सिर्फ़ गहना आदि की तरह निमित्तमात्र ही नहीं वरन् फल देने वाला अर्थात् स्वतंत्र हेतु है। याग तो कभी का ख़त्म हो चुकता है, वह इतनी देर बाद के फल में क्योंकर कारण होगा? कारण तो कार्य के नियमतः ठीक पहले रहता है। अपूर्व को द्वार या व्यापार मानने से भी फ़ायदा नहीं। जब तक व्यापारी न हो तब तक अकेला व्यापार किस काम का? जो तो दवा का दृष्टान्त दिया था ('शास्त्रप्रामाण्यात्कर्मैव हेतुः' शीर्षक में 'न च प्रमाणाधिगतत्वादानर्थक्यं युक्तम्' भाष्य की टीका में यह दृष्टान्त था) वह भी प्रकृत में उचित नहीं। दवा के तो अवयव खून आदि में बने रहते हैं अतः कालांतर में फल दे पाते हैं। क्रिया के तो ऐसे कोई अवयव होते नहीं कि फलकाल तक बने रहें। अतः फलदाता ईश्वर ही मान्य है।

यहाँ बृहदारण्यक ३.२.१३ और उस पर भाष्यादि का परामर्श लाभप्रद है। वैसे बृहदारण्यक १.४.२ की समाप्ति का 'लोके हि नैमित्तिकानां कार्याणाम्' आदि भाष्य भी देख लेना चाहिये।

सेव्यवदीश्वरः फलदाता

सेव्यबुद्धिवत् सेवकेन सर्वज्ञेश्वरबुद्धौ तु संस्कृतायां यागादिकर्मणा, विनष्टेऽपि कर्मणि सेव्याद् इव ईश्वरात् फलं कर्तुर्भवतीति युक्तम्।

सेव्य की तरह वह फलदाता है

नष्ट हुआ याग यदि फल नहीं दे सकता तो नष्ट हुए याग का फल ईश्वर ही कैसे देते हैं? जो रह ही नहीं गया उसके फल का क्या प्रसंग? इस प्रश्न का समाधान करते हैं - **जैसे सेवक द्वारा सेव्य की बुद्धि संस्कारयुक्त हो जाती है तो सेवाकार्य समाप्त होने के काफी देर बाद भी सेव्य से सेवक फल पा लेता है, ऐसे यागादि कर्म द्वारा सर्वज्ञ ईश्वर की बुद्धि संस्कारयुक्त हो जाती है अतः कर्म विनष्ट हो चुकने पर भी कर्मकर्ता को ईश्वर से फल मिल जाता है। दृष्टानुसारी यह प्रक्रिया संगत है।**

हम जब कर्म करते हैं तब 'यह कर्म इसने अनुष्ठित कर लिया' यह ईश्वर की बुद्धि में वृत्ति बनती है। यही कर्मों का संस्कार है अर्थात् अदृष्ट, अपूर्व या पुण्य शब्द से इसे ही कहते हैं। अतः कर्म भले ही समाप्त हो जाये, संस्कार के कारण फल मिल जाये यह युक्त है। लोक में भी सेव्य राजा आदि की बुद्धि में 'इसने मेरी सेवा की है' यह वृत्ति ही तो सेवा का संस्कार है। अतएव सेवा समाप्त होने बाद भी सेव्य सेवक को फल देता ही है।

ईश्वर की बुद्धि का अर्थ माया से ही है, हमारी बुद्धि स्थानीय उनके लिये माया है अतः ऐसा कहा। कर्म करने से हमारी बुद्धि होती है 'मैंने यह कर्म किया'। उसी बुद्धि से अवच्छिन्न माया में 'इसने यह कर्म किया' यह वृत्ति बनी जिसका संस्कार अपूर्वस्थानीय है। घड़ा ले जाने पर घड़े में रखे अनाज की तरह — या घड़ा-आकार में स्थित मिट्टी की तरह — बुद्धि इधर-उधर जाती है तो वे संस्कार भी साथ ही जाते हैं। 'अब इस कर्म का फल इसे मिले' ऐसी वृत्ति माया में बनने पर हमें फललाभ हो जाता है। अतः हमारा किया कर्म हमारे साथ ही जन्म-जन्मान्तर में चलता रहता है चाहे है वह ईश्वर की माया में पड़ा संस्कार ही।

शास्त्रं न्याय्यं ब्रूते

न तु पुनः पदार्थाः वाक्यशतेनापि देशान्तरे कालान्तरे वा स्वं स्वं स्वभावं जहति। न हि देशकालान्तरेषु चाग्निरनुष्णो भवति! एवं कर्मणोऽपि कालान्तरे फलं द्विप्रकारमेवोपलभ्यते- i) बीजक्षेत्रसंस्कारपरिरक्षाविज्ञानवत्कर्त्रपेक्षफलं कृष्यादि, ii) विज्ञानवत्सेव्यबुद्धिसंस्कारापेक्षफलं च सेवादि।

शास्त्र भी न्यायसंगत ही बताता है

जाड्याग्रही मीमांसक कहेगा कि चाहे लोक में कर्मों को दाता की ज़रूरत पड़े फल देने के लिए, लेकिन यागादि को ऐसा क्यों न माना जाये कि उन्हे ऐसी ज़रूरत नहीं पड़ती? शास्त्र ने सिर्फ़ याग को फलोपाय कहा तो उतना ही मानो, यह क्यों मानना कि वह ईश्वर-सापेक्ष हो फल का हेतु बनता है?

आचार्य समझाते हैं कि शास्त्र ने जो कहा उसका कोई विरोध नहीं ईश्वरापेक्ष फल स्वीकारने से। वस्तुतस्तु 'श्रुतत्वाच्च' (३.२.३९) सूत्र में ईश्वर ही फलदाता है यह श्रुतिप्रमाण से सिद्ध किया है तथा आगे 'हेतुव्यपदेशात्' (सू.४०) में 'लभते च ततः कामान् मयैव विहितान्' (गी.७.२२) आदि स्मृति से वही उपोद्बलित भी है, फिर भी भाष्यकार एक सामान्य सिद्धान्त स्पष्ट करने के लिए यहाँ बता रहे हैं कि शास्त्र प्रमाण है, ज्ञापक है, कुछ 'करता' नहीं, कारक नहीं है। जैसे यह बात आत्मा के बारे में है कि शास्त्र से आत्मा में कोई अंतर आता हो ऐसा नहीं, वैसे ही धर्मादि शास्त्रप्रतिपाद्य सभी के सम्बन्ध में समझना चाहिये कि जैसी सच्चाई है वैसा उसे बता देने से ज़्यादा शास्त्र का काम नहीं है। अतः जैसे न्यूटन का दोष नहीं कि चीज़ें धरती की ओर गिरती हैं या हाइसनबर्ग की ग़लती नहीं कि आणविक चेष्टाओं के सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ अनिश्चितता (Uncertainty principle) रहती है, ऐसे शास्त्र का अपराध नहीं कि झूठ बोलने से नरक और परोपकार से स्वर्ग होता है। अतएव धर्म-अधर्म को मनमाने ढंग से बदलना कोई मायने नहीं रखता, जैसे चाहे जितना ज़ोर-शोर से गुरुत्वाकर्षण को धिक्कार दें, गिरना तो बन्द होगा नहीं। यदि कोशिशपूर्वक 'नये' नियम पता लगें तो उन्हे स्वीकारना पड़ता है पर यों ही 'शोधन' से कुछ नहीं होता। हमारे गुरुचरणों ने एकत्र लिखा है 'हम लोग सुविधा के लिये सुधारक बनते हैं।' यही कारण है कि न हमारे पूर्वज और न उत्तराधिकारी हमारे किये सुधार स्वीकार पाते हैं, बल्कि ख़ुद हम उन सुधारों को आत्मसात् नहीं कर पाते अतः समय आने पर हम भी उन पर नहीं टिकते। जब तक 'ज्ञापक' की जगह 'कारक' दृष्टि होगी तब तक हम सोचते हैं शास्त्रकारों ने धर्म 'बना' दिया, अतः हम भी उसका 'पुनर्निर्माण' कर सकते हैं। यही भ्रम है। धर्म खोजा तो भले ही जा सके, बनाया नहीं जाता, एक महेश्वर के सिवाय उसे बनाता कोई नहीं। इसलिए यह आधुनिक धर्म-निर्माण-प्रक्रिया का मूल है मीमांसकों की मान्यता कि शास्त्र कारक है; उसी से शास्त्र भी

बदनाम होता है। वेदान्त शास्त्र को ज्ञापक बताता है। यह तो संभव है कि न्यूटन का खण्डन नवविज्ञान कर ले लेकिन यह संभव नहीं कि नवविज्ञान पानी की स्वाभाविक गति ऊर्ध्व कर दे। ऐसे ही हो सकता है कि पुण्य क्या है? – यह पता लगाने वाला कोई हो जो यागादि की जगह किसी अन्य कर्मादि को पुण्य बताये पर वह किसी कर्मादि को स्वेच्छा से पुण्य नहीं बना सकता। पुण्य-पाप का दृष्ट से साक्षात् सम्बन्ध न होने से प्रत्यक्षादिविषयता है नहीं। हमारे पास तो शास्त्र ही उसे जानने का उपाय है। कोई यदि अन्यथा पुण्यादि बताता है तो समझना पड़ेगा कि कैसे उसने जाना कि वह या वही पुण्यादि है। यदि उसे कोई प्रमाण मिला है तो अवश्य हम भी उसी प्रमाण से ख़ुद भी धर्म देख पायेंगे जिससे हमें उसके वचन का ही सहारा नहीं लेना पड़ेगा, उस प्रमाण का भी सहारा मिल जायेगा। और अगर वह किसी ऐसी दिव्यतादि के सहारे बोलता है तो उसे मानने के लिए सिर्फ़ उसी का वचन प्रमाण होने से वह ज़्यादा से ज़्यादा प्रचलित शास्त्र के समानबलवाला हो सकेगा। तब ज़रूरी होगा कि हम पहले उस पुरुष की परीक्षा करें कि वह भ्रम-प्रमाद-लोभ वाला तो नहीं है, और परीक्षा उत्तीर्ण होने पर उसे मानें या न मानें यह विकल्प हमारे लिए होगा। हर हालत में मरे — या हम जिसकी परीक्षा कर नहीं सकते ऐसे — व्यक्ति की बात मानने में कोई भी औचित्य रह नहीं जाता। शास्त्र क्योंकि किसी भी — ऋषि, देवता आदि किसी भी — व्यक्ति के आधार पर अपनी प्रामाणिकता नहीं टिकाता इसलिये औत्सर्गिक श्रद्धेयता उसकी बनी रहती है। निषेधक पर ही यह भार माना गया है कि वह विधायक की ग़लती बताये। और इसके लिए निषेधक को अपना ज्ञान प्रामाणिक सिद्ध करना पड़ता है। अतः हम शास्त्र पर श्रद्धालु हैं। लेकिन मानते उसे ज्ञापक हैं इसलिये शास्त्र की मीमांसा से तथ्यनिर्धारण करते हैं जिसमें ज़बर्दस्ती दृष्टविरोध बनाये रखना हमें अस्वीकृत है। इसी अभिप्राय से भाष्यकार समझाते हैं :

सैकड़ों वाक्यों से भी पदार्थ अन्यान्य देश-कालों में अपना-अपना स्वभाव नहीं छोड़ते। ऐसा नहीं कि किसी देश में या किसी काल में आग ठण्डी होती हो! इसी तरह कर्म से कालान्तरभावी फल दो प्रकार ही मिलता है :

१) जानकार कर्ता की अपेक्षा से; जैसे खेती आदि का फल मिलता है उस किसान आदि के सहारे जो बीज, खेत, जुताई आदि, संभाल आदि सब समझने वाला है।

२) जानकार सेव्य की अपेक्षा से; जैसे सेवादि का फल उस जानकार मालिकादि के सहारे मिलता है जिसकी बुद्धि में सेवककृत सेवा का संस्कार हो।

शास्त्र भी यागादि की फलहेतुता कहता है तो इन प्रकारों को लाँघकर कह रहा है ऐसा बेवज़ह माना नहीं जा सकता अतः इनके अनुकूल शास्त्रसंमत अर्थ समझना चाहिये।

इस विचार में यह नहीं समझना चाहिये किं शास्त्र की हर बात दृष्टानुसारी व्यवस्थापित करनी है! पहले शास्त्रतात्पर्य का निर्णय करना पड़ेगा। फिर निर्णीत अर्थ की उपपत्ति के लिये शास्त्र ने ही जो पदार्थ, प्रक्रियादि कहे हैं उनके अनुसार व्यवस्था समझनी पड़ेगी। इस समझने में लोकविरुद्ध कल्पना न की जाये यही प्रकृत में विवक्षित है। शास्त्रोक्त ऐसा कुछ भी नहीं है जो शास्त्रबोधित पदार्थों से अतिरिक्त लोकविरुद्ध कल्पनाओं के बिना उपपन्न न होता हो। शास्त्रबोधित पदार्थ भी लोकविरुद्ध नहीं, लोकविलक्षण भले ही हों और वैचित्र्य भी है लोकसिद्ध ही। हम लोकविरुद्ध कल्पना न जोड़ें, यह ध्यान देने योग्य है — यह अभिप्राय है।

वाक्य क्या करता है? वाक्य के घटक हैं पद। वे पदार्थ का ज्ञान कराते हैं — वह ज्ञान स्मृति ही है या और कुछ, इस विवाद का यहाँ प्रयोजन नहीं — और उनका संबन्ध बताना वाक्य का काम है। पदार्थ अगर सम्बद्ध होने योग्य हैं तभी वाक्य सार्थक हो सकेगा, अन्यथा नहीं। अतः प्रमाणवाक्य समझने वाले की कोशिश यही होगी कि सम्बद्ध होने योग्य

पदार्थों को समझे। पदार्थ उस वाक्य की अपेक्षा अन्य भी किसी-न-किसी तरह अवश्य समझे जा सकते हैं। चाहे वाक्यान्तर से ही समझे जायें, पर जिस वाक्य का विचार हो उससे अन्य कोई ढंग ज़रूर होता है जिससे उस वाक्य के घटक पदों के अर्थों का ज्ञान हो। वाक्य तो केवल योग्य अर्थों का संबंध बता सकता है, पदार्थों का स्वभाव नहीं बदल सकता। जहाँ ऐसा लगता भी है कि अमुक के कहने से यह विपरीत कार्य हुआ, वहाँ भी उस वक्ता का तप आदि कारण है, वाक्य नहीं क्योंकि वही वाक्य और कोई कहे तो वैसा कार्य नहीं होता। चिल्लाने आदि से गैस-मैण्टल फट जाना आदि तो ध्वनिप्रभाव हैं, शब्दप्रभाव नहीं।

यागादिफलार्थापत्त्येश्वरसिद्धिः

यागादिकर्मणः तथाऽविज्ञानवत्कर्त्रपेक्षफलत्वानुपपत्तौ कालान्तरफलत्वात् कर्मदेशकालनिमित्तविपाक-विभागज्ञबुद्धिसंस्कारापेक्षं फलं भवितुमर्हति, सेवादिकर्मानुरूपफलज्ञसेव्यबुद्धिसंस्कारापेक्षफलस्येव।

यागादि सफलता की अन्यथानुपपत्ति से ईश्वर सिद्ध है

पहले जगत् की नियत प्रवृत्ति से ईश्वरसिद्धि की थी। उसमें शंका हुई कि कर्म से ही नियत प्रवृत्ति क्यों न हो? तो उसका समाधान किया। कर्म-जीव तो संबद्ध हैं अतः जीवात्मा के प्रभाव से कर्म सफल क्यों न हो; जड कर्म को चेतन की ज़रूरत है तो जीव से ही गुज़ारा क्यों न चले? इसका भी उत्तर दिया। कर्म बिना चेतन के फलप्रद नहीं होगा यह भी समझाया। कर्म की सफलता के बारे में बौद्ध, लोकायत और मीमांसकों की मान्यताओं की परीक्षा की। दृष्टानुसारी उपपत्ति से ईश्वर संभावित होने पर बताया कि शास्त्र स्वयं तात्पर्यतः ईश्वर बताता है। शास्त्र ने फलदाता का निषेध किया नहीं और ख़ुद ईश्वर को फलदाता कहा अतः शास्त्र का उसमें तात्पर्य स्थापित हुआ। दृष्टानुसारिता स्पष्ट करते हुए दृष्टविरुद्ध कल्पना करना ग़लत है यह भी सिद्ध कर दिया। अब तक यागफल को ईश्वरसिद्धि में विनियोजित अपनी तरफ़ से किया नहीं था, शंका-समाधान में भले ही वह बात आ गयी। अतः अब अपनी तरफ से उसे अर्थापत्ति मानकर कहते हैं –

यागादि कर्मों का शास्त्रबोधित फल होता है — यह उभयवादिसंमत है। यागादि के फल मिलने के लिए ज़रूरी जानकारी उसे तो है नहीं जिसने वह यागादि किया है कि उसके भरोसे फल मिले। इसलिए कर्मकाल से अन्य काल में फल देने वाले यागादि का फल उसी की अपेक्षा से मिल सकता है जिस जानकार की बुद्धि में इन सब के संस्कार हों— कर्म, देश, काल, निमित्त, फलोन्मुखता, इनके अवान्तर विभाग आदि। इसमें उदाहरण सेवादि कर्म हैं जिनका फल ऐसे व्यक्ति की अपेक्षा रखता है जिसे सेवादि का ज्ञान हुआ है और सेवादि-संस्कार सहित जिसकी बुद्धि में सेवादिकर्म के अनुरूप फल का भी संस्कार है।

यहाँ 'ईश्वर' नाम नहीं कहा लेकिन जैसे ज्ञाता की ज़रूरत कही वह हो ईश्वर ही सकता है। यह इसलिए कि ईश्वर अभी प्रसिद्ध नहीं तो उसका नाम लेने का कोई मतलब नहीं। दृष्टान्त में एक विशेष बात कही कि कर्म के अनुरूप फल की जानकारी वाला हो। दार्ष्टांत में भी इसे समझना चाहिये। किस कर्म का फल क्या और कितना सुख या दुःख है यह ईश्वर जानकर फल देता है। मीमांसक तो स्वर्ग को 'न च ग्रस्तमनन्तरम्' से अविनाशी कहता है, फिर अग्निहोत्र और ज्योतिष्टोमादि के फलों में तारतम्य भी मानता है अतः संगति नहीं रहती। ईश्वर तो कालादिपरिच्छिन्न अनुरूप फल देता है अतः 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' आदि स्मृति तथा कृतात्ययाधिकरणादि सब संगत हैं। मीमांसकों की नरकव्यवस्था भी ऐसे ही अव्यवस्थित है जबकि ईश्वरवाद में उसमें भी कोई दिक़्क़त नहीं है। कहाँ, कैसा, कितना आदि दुःख किस पाप के अनुरूप है यह जानकर परमेश्वर वही फल देते हैं। अतः स्वतंत्र रहा कर्म नहीं वरन् सेव्यादि में संस्कारात्मना रहकर फिर सेव्यादि-संकल्प से वह फलप्रद होता है।

निगमनम्

तस्मात् सिद्धः सर्वज्ञ ईश्वरः सर्वजन्तुबुद्धिकर्मफलविभागसाक्षी 'सर्वभूतान्तरात्मा', (श्वे.६.११), 'यत् साक्षादपरोक्षाद् य आत्मा सर्वान्तरः' (बृ.३.४.१) इति श्रुतेः।

निर्णय

इसलिए 'सब प्राणियों का अन्तरात्मा है', 'जो साक्षात् अपरोक्ष सर्वान्तर आत्मा है' आदि श्रुतियों से सभी जन्तुओं का, उनकी बुद्धिओं का, उनके कर्मों और उन कर्मों के फलों का एवं इन सबके अवान्तर विभाजनों का साक्षी सर्वज्ञ ईश्वर प्रामाणिक निश्चित होता है और युक्ति भी उसी के पक्ष में मिलती है। बृहदारण्यक में गार्गी-याज्ञवल्क्यसंवाद में (३.८) भाष्य में भी औपनिषद ईश्वरवाद पर गंभीर विचार है जो वहीं समझकर यहाँ के प्रसंग से जोड़ लेना चाहिये। प्रकृत में निगमन करते हुए 'तस्मात् सिद्धः··· श्रुतेः' कहकर भाष्यकारों ने अपना श्रौतत्व व्यक्त कर दिया है। अथवा 'तस्मात्' और 'श्रुतेः' व्यधिकरण होने से 'तस्मात्' उक्त युक्ति का परामर्शक है और 'श्रुतेः' प्रमाणोपन्यास है यह समझना उचित है।

ईश्वरः प्रत्यगभिन्नः

स एव चात्रात्मा जन्तूनाम्, 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता' (बृ.३.७.२३), 'नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ' (बृ.३.८.११) इत्याद्यात्मान्तरप्रतिषेधश्रुतेः, 'तत्त्वमसि' (छां.६.८) इति चात्मत्वोपदेशात्, न हि मृत्पिण्डः काञ्चनात्मत्वेनोपदिश्यते!

ईश्वर प्रत्यगात्मा से भिन्न नहीं

जो ईश्वर मानते ही नहीं उन्हे समझाया कि उसे मानना ही संगत और प्रामाणिक है। जो उसे मानते हैं पर मानते ख़ुद से सचमुच भिन्न हैं उन्हे भी ईश्वर की वास्तविकता समझाने के लिए कहते हैं –

अभी ही सब जन्तुओं का स्व-रूप वही ईश्वर है क्योंकि श्रुतियाँ स्पष्ट कह रही हैं कि वह आत्मा से अन्य नहीं है : 'इससे अन्य देखने-सुनने-सोचने-जानने वाला नहीं है', 'इससे अलग कोई जानकार नहीं' इत्यादि। इतना ही नहीं, श्रुति मुखतः कहती है 'वह तू है'। मिट्टी के पिण्ड के बारे में तो कोई नहीं कहता 'यह सोना है!' श्रुति 'तू'-शब्दार्थ 'मैं' को 'वह'-शब्दार्थ ईश्वर कह रही है तो निश्चित है कि ईश्वर से मैं अलग हो ही नहीं सकता।

'चात्र' में चकार अवधारणार्थ है। देश-काल-अवस्थादि की अपेक्षा से ब्रह्मभाव संभव है यह कोई वादी कहे जैसे औडुलोमि ने कहा (ब्र.सू. १.४.२१) या हमारा ब्रह्म से किसी तरह का अभेद भी है यह कोई कह सकता है जैसा आश्मरथ्य ने कहा (वहीं २०) लेकिन किसी अपेक्षा के बिना तो श्रुत्यनुसारी आचार्य ही कहते हैं यह 'चात्र' से व्यक्त किया। अविद्यादशा में वही जन्तुओं में अन्तर्यामी-बहिर्यामी बना है इसलिए हमारा आत्मा है क्योंकि पूर्वविचार सिद्ध कर चुका है कि दोनों यामित्व आत्मा से अन्यत्र असंभव हैं और विद्यादशा में तो आत्मा ही है इसमें कहना क्या!

जीवेश्वरभेदशङ्कासमाधिसूत्रम्

ज्ञानशक्तिकर्मोपास्योपासकशुद्धाशुद्धमुक्तामुक्तभेदाद् आत्मभेद एवेति चेद् ? न, भेददृष्ट्यपवादात्।

जीव-ईश्वर के भेद में शंका-समाधान—सूत्ररूप से

जीवात्मा-परमात्मा में भेद ही क्यों न मानें जब इनके ज्ञानों में, सामर्थ्यों में, कर्मों में भेद हैं तथा एक है उपासक, अशुद्ध, बद्ध और दूसरा है उपास्य, शुद्ध और मुक्त? ऐसा स्वीकार इसलिए नहीं सकते कि श्रुतियाँ

जीव-ईश्वर में भेददृष्टि हटाती हैं।

यहाँ यह सीधा प्रयोग है – जीव, ईश्वर से अलग है क्योंकि ईश्वरधर्मों से विरुद्ध धर्मों वाला है, विरुद्ध धर्मों वाली वस्तुएँ विभिन्न हुआ करती हैं जैसे घोड़ा और भैंसा।

उत्तर का संक्षेपाभिप्राय है – प्रमाणभूत श्रुति अभेद कहती है और भेद की निंदाकर अभेद में तात्पर्य द्योतित करती है अतः इनका भेद प्रमाण से बाधित होने के कारण उक्त अनुमान 'वह्निरनुष्णः' की तरह बाधितसाध्यक होने से असत्प्रयोग है। इस हेत्वाभास को 'कालात्ययापदिष्ट' तार्किकों ने कहा है अर्थात् जब जिसे सिद्ध करने का समय अर्थात् संभावना नहीं है तब उसका कथन करना। तात्पर्य यही है कि ऐसा साध्य कहना जो निश्चितरूप से बाधित हो।

शङ्कायां हेतुषट्कम्

यदुक्तं संसारिण ईश्वरादनन्या इति, तन्न। किन्तर्हि ? भेद एव संसार्यात्मनाम्। कस्माद् ? लक्षणभेदाद् अश्वमहिषवत्। कथं लक्षणभेद इति ? उच्यते—

i) ईश्वरस्य तावद् नित्यं सर्वविषयं ज्ञानं सवितृप्रकाशवत्। तद्विपरीतं संसारिणां खद्योतस्येव।

ii) तथैव शक्तिभेदोऽपि। नित्या सर्वविषया चेश्वरशक्तिः, विपरीतेतरस्य।

iii) कर्म च चित्स्वरूपात्मसत्तामात्रनिमित्तमीश्वरस्य, औष्ण्यस्वरूपद्रव्यसत्तामात्रनिमित्तदहनकर्मवद्, राजाऽयस्कान्तप्रकाशकर्मवच्च स्वात्माऽविक्रियारूपम्। विपरीतमितरस्य।

iv) 'उपासीत' इति वचनाद् उपास्य ईश्वरो गुरुराजवत्। उपासकश्च इतरः शिष्यभृत्यवत्।

v) अपहतपाप्मादिश्रवणाद् (छां.८.१.५) नित्यशुद्ध ईश्वरः। 'पुण्यो वै पुण्येन' (बृ.३.२.१३) इति वचनाद् विपरीत इतरः।

vi) अत एव नित्यमुक्तएवेश्वरः; नित्याऽशुद्धियोगात् संसारीतरः।

उक्त शंका का विस्तार

शंकालु कहता है : सिद्धान्ती ने जो यह कहा कि संसारी जीव ईश्वर से अन्य नहीं हैं, वह ठीक नहीं। संसारी आत्मायें तो ईश्वर से अलग ही हैं क्योंकि घोड़ा-भैंसा की तरह ये विभिन्न लक्षण वाले हैं, इनके असाधारण धर्म या स्वरूप अलग-अलग हैं। यह कैसे जाना? बताते हैं :

१) सूर्य की रोशनी की तरह ईश्वर का तो नित्य और सब को विषय करने वाला ज्ञान है और उससे विपरीत संसारियों का ज्ञान है जो जुगनु की तरह बहुत थोड़े को विषय करता है और हमेशा रहता भी नहीं।

२) ईश्वर की शक्ति, सामर्थ्य, भी सब विषयों में है और सनातन है जबकि जीव की इससे विपरीत है, वह बहुत कम तो कर सकता है और उतना सामर्थ्य भी शीघ्र क्षीण हो जाता है।

३) ईश्वर का कर्म भी जीवकर्म से विलक्षण है। जैसे गर्म-स्वभाव आग-द्रव्य के होने मात्र से जलना कर्म हो जाता है जिसमें आग के स्वरूप में कोई विकार—बदलाव— नहीं आता; या राजा, चुम्बक, प्रकाश आदि के होने मात्र से कुछ कर्म हो जाते हैं जिनमें राजा-आदि के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं आता; ऐसे ही ज्ञानस्वभाव अपनी सत्ता-मात्र से ईश्वर का जगदुपादान बनना आदि कर्म हो जाता है जिसमें ईश्वर के स्वरूप में किंचित् भी विक्रिया नहीं होती। जीव के कर्मों में तो जीव बदल ही जाता है।

इच्छा, क्रिया और ज्ञान के अभिप्राय से क्रमशः राजा आदि तीन उदाहरण हैं। आग जलते हुए को जलाती है

अर्थात् जिसे जलना है, और जलाने वाली आग — ये दोनों परस्पर तटस्थ रहें, सर्वथा भिन्न रहें, तो वह वस्तु जल नहीं सकती, आग उसे जला नहीं सकती। चीज़ जल रही है या आग उसे जला रही है — यह एक ही बात है। ऐसे ही ईश्वर और जिसे वह पैदादि करे, वे दोनों आपस में सर्वथा अलग रहें तो यह संभव नहीं वह उसे पैदादि कर सके या वह उससे पैदादि हो सके। वस्तु का 'होना' और ईश्वर का उसे 'हुवाना' (=होने वाला बनाना), एक ही बात है। वस्तु दीखना, ईश्वर का उसे दिखाना; चीज़ सुहाती है और ईश्वर उसे सुहावना कर रहा है — एक ही बात है। कोई शासित है और ईश्वर उसे शासित कर रहा है यह भी एक ही बात है। अतः जड-चेतन सभी का ईश्वर से वास्तविक भेद संभव नहीं।

यद्यपि यहाँ कह पूर्वपक्षी रहा है तथापि दृष्टान्तों का निवेश इसी अभिप्राय से है कि इस तरह विचारने पर शंका में ही समाधान के बीज मिल जायें।

अथवा पूर्ववादी आग से बताता है कि विद्यमानता से अन्य ईश्वर की कारणता नहीं है; वह है, इसके सिवाय कुछ नहीं है जिससे उसे जगत्कारण मानें। अर्थात् अन्यथासिद्ध के समान उसे कारण भले ही मानो, वह कुछ 'करता' (और वस्तुतः 'कर सकता' भी) नहीं कि उससे जागतिक व्यवस्था में कोई हेर-फेर हो। लगता तो है कि यह वादी ईश्वर की सुरक्षा, निर्विकारताप्रतिपादन, कर रहा हो पर वास्तव में यह तुष्यतु-न्याय से केवल ईश्वरवादियों को चुप रखकर अपना जडवाद स्थापित कर रहा है।

अगर कुछ अधिक कारणता माननी ही हो तो उसे राजा की तरह दूर, महल में बैठे की तरह मानो जिसे कुछ भी करने में नौकर-चाकरों की (दार्ष्टांत में जीवों की) अपेक्षा है, ख़ुद बेचारा केवल इच्छायें करता रह सकता है, अकेला पड़ जाये तो शायद दुश्मन उसे बाँध ले या मार भी डाले! नैयायिकों का ईश्वर ऐसा ही है; सारी विक्रियाओं के लिए वह स्वतंत्रसत्ताक अण्वादि जडप्रपंच पर निर्भर है! यहाँ तक कि वह कभी अपनी इच्छा भी नहीं बदल सकता!

यदि और ज़्यादा 'व्यावहारिक' ईश्वर चाहो तो 'व्यक्ति ईश्वर' (Personal god) मानो; वह चाहे वैकुण्ठ-गोलोक-मणिद्वीपादि में रहे, चाहे बहिश्तादि में। चुम्बक की तरह अपने आस-पास वालों पर तो नियत्रंण कर लेगा पर दूर वालों पर नहीं। दूर वालों को सँभालने के लिये तो उसे ख़ुद उतर कर आना पड़ेगा या अपने दूत भेजने पड़ेंगे। इसलिए शैतान भी अपना ज़ोर आजमाता ही रहेगा, ईश्वर को परेशान रखेगा। जैसे चुंबक हटते ही वहाँ की चीज़ें उसके नियंत्रण से बाहर हो जाती हैं ऐसे ही बहिश्त में भी वह थोड़ा दूर हुआ तो आदम-हौवा उसकी आज्ञा को धत्ता बताकर फल चख लेते हैं!

या उसे प्रकाश की तरह बढ़ने-घटने वाला और विविध तरहों का मान लो। उसके संमुख वाला अगर स्पष्ट देखकर चलेगा तो उससे विमुख भी टोहकर काम निकाल ही लेगा।

इस प्रकार लोकप्रचलित ईश्वरविचारों को ध्वनित करते हुए जीव-ईश्वर की विलक्षणता बतायी जा रही है।

जीव को कर्म करने में यत्नादि ख़ुद करने पड़ते हैं अतः उसे बदलने वाला कह दिया। न करते हुए और करते हुए जीव में ख़ुद ही भेद मालूम चल जाता है।

४) **'उपासना करे' आदि वचनों से पता लगता है कि ईश्वर तो गुरु, राजा आदि की तरह उपासना का विषय है और शिष्य, नौकर आदि की तरह जीव उपासना करने वाला है।**

५) **ईश्वर हमेशा शुद्ध है, निर्दोष है लेकिन जीव तो पुण्य करे तो शुद्ध है, पाप करे तो अशुद्ध।**

६) **निष्पाप शुद्ध होने से ईश्वर सदा मुक्त है यही शास्त्रसंमत है जबकि जीव तो अनादि मल से युक्त होने से संसरण कर रहा है।**

शङ्कोपसंहारः

अपि च यत्र ज्ञानादिलक्षणभेदोऽस्ति तत्र भेदो दृष्टो यथाऽश्वमहिषयोः, तथा ज्ञानादिलक्षणभेदाद् ईश्वराद् आत्मनां भेदोऽस्तीति चेद् ?

शंका का उपसंहार

इस प्रकार जीव-ईश्वर में ज्ञानादि लक्षणों का भेद होने से इनमें भेद ही उचित है क्योंकि घोड़ा-भैंसा आदि में जहाँ भी ज्ञानादि लक्षणों का भेद होता है वहाँ उनमें भेद सर्वसंमत है। अतः इनमें अभेद न मानकर भेद ही क्यों न स्वीकार्य हो?

समाधानम्

न। कस्माद् ? 'अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद' (बृ.१.४.१०), 'ते क्षय्यलोका भवन्ति' (छां.७.२५.२), 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति' (कठ.२.१.१०) इति भेददृष्टिर्ह्यपोह्यते। एकत्वप्रतिपादिन्यश्च श्रुतयः सहस्रशो विद्यन्ते।

समाधान

जीव-ईश्वर में भेद स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि न केवल हजारों श्रुतियाँ इनमें अभेद बताती हैं वरन् इनमें भेददृष्टि रखने की निन्दा भी की गयी है। वेद कहता है 'वह अन्य है, मैं अन्य हूँ — ऐसा जानने वाला अज्ञानी है', 'आत्मा ही यह सब कुछ है, जो इससे अन्य तरह ही वास्तविकता समझते हैं उन्हे क्षयिष्णु भोग ही मिल पाते हैं, दूसरों का ही उन पर शासन चलता है', 'जो थोड़ा भी भेद देखता है वह बार-बार मरता है' इत्यादि। तत्त्वमस्यादि अभेद-श्रुतियों की तो वेद में भरमार है।

भेदानुमान की परीक्षा आदि आगे करेंगे, यहाँ स्पष्ट किया कि निर्दुष्ट प्रमाण श्रुति तात्पर्यतः अभेद कह रही है अतः अभेद निश्चित है, भेद को ही अन्यथा समझना चाहिये। वेदान्त तर्कशास्त्र नहीं, मीमांसा है, अतः वेदानुसार सत्यनिर्धारण करता है। अनुभव की यथार्थता उसकी वेदानुकूलता से है यह हमें संमत है।

ईश्वरेतरात्माऽनभ्युपगमः

यदुक्तं—ज्ञानादिलक्षणभेदाद्—इति; अत्रोच्यते—न, अनभ्युपगमात्। बुद्ध्यादिभ्यो व्यतिरिक्ता विलक्षणाश्चेश्वराद् भिन्नलक्षणा आत्मानो न सन्ति। एक एव ईश्वरश्चात्मा सर्वभूतानां नित्यमुक्तोऽभ्युपगम्यते।

ईश्वर से अन्य आत्मा है नहीं

जो तो यह कहा था कि ज्ञानादि लक्षणों का अंतर होने से जीव-ईश्वर विभिन्न हैं; उस पर हमारा यह कहना है — लक्षणभेद से लक्ष्यभेद की चर्चा इस संदर्भ में अभित्तिचित्र है! इनमें भेद स्वीकार्य ही नहीं कि लक्षणभेद की संभावना हो। आखिर लक्षण तो तभी भिन्न होंगे जब लक्ष्यों में भेद होगा। बुद्धि आदि उपाधियों से और ईश्वर से अलग विपरीत लक्षण वाले जीवात्मा हैं ही नहीं। नित्यमुक्त एक ईश्वर ही सब भूतों का आत्मा श्रुतियों को संमत है। जब ईशान्य जीव ही अप्रसिद्ध है तब आगे जीवलक्षणों की चर्चा ही व्यर्थ है।

भेदवादी जब जीव को ईश्वर भिन्न कहता है तब 'जीव' शब्द से वह यदि चेतन के बुद्ध्यादिविशिष्ट प्रतिबिम्बों को कहना चाह रहा है या देव-मनुष्यादि कहलाने वाले सचेतन शरीरों को कहना चाह रहा है, तब तो जो हमारा सिद्धान्त है उसे ही वह भी कह रहा है अतः हमें विरोध नहीं बल्कि उसी की मंदता है कि विरोधी का मत पुष्ट कर रहा है। यदि 'जीव' से उसका मतलब ऐसे पदार्थ से है जो ईश्वर से विपरीत लक्षण वाला है और निरुपाधिक—स्वाभाविक—भेद वाला

है तब यह विचार है : बुद्ध्यादि के कारण कल्पित जो आत्मा के विशिष्ट रूप हैं वे तो बुद्ध्याद्युपाधिकृत होने से निरुपाधिक नहीं हैं। उनसे अन्य निरुपाधिक स्वरूप ही फिर भेदवादी का जीव होगा और उसमें ज्ञानादि लक्षणभेद वह दिखा नहीं सकता क्योंकि वे भेद सब बुद्ध्यादि को लेकर ही हैं। किं च वैसे निरुपाधिक आत्मा में प्रमाण कोई उसे मिलेगा नहीं तो वह अनुमान के लिए हेतु किस पक्ष पर दिखा सकेगा? इस प्रकार ईश्वर से अन्य जीव सिद्ध नहीं होता।

कल्पितो जीवः

बाह्यः चक्षुर्बुद्ध्यादिसमाहारसन्तानाऽहङ्कारममत्वादिविपरीतप्रत्ययप्रबन्धाऽविच्छेदलक्षणो, नित्यशुद्धबुद्ध-मुक्तविज्ञानात्मेश्वरगर्भो, नित्यविज्ञानावभासः, चित्तचैत्यबीजबीजिस्वभावः, कल्पितः, अनित्यविज्ञानः, ईश्वरलक्षणविपरीतः अभ्युपगम्यते यस्याऽविच्छेदे संसारव्यवहारो, विच्छेदे च मोक्षव्यवहारः।

जीव कल्पित है

वेदवादियों को जीव ऐसा स्वीकार्य है : वह प्रत्यङ्मात्ररूप नहीं है, कुछ-न-कुछ अप्रत्यक् लिये हुए ही वह होता है। इसलिए वह 'बाह्य' है। आँख बुद्धि आदि के क्रमशः प्राप्त समूहों में अहंकार-ममकार आदि उल्टे ज्ञानों की न टूटने वाली जकड़ उस पर बनी रहती है। सूक्ष्मदेह वही रहे पर नये संस्कारादि पड़ने से नवीनता उसमें भी आती है और नये स्थूल देह तो मिलते ही रहते हैं। दोनों में अहंता-ममता और तत्प्रयुक्त सभी ग़लत निश्चय—अनात्माओं में आत्मनिश्चय—जिसको होते रहें वही जीव है। जीव के गर्भ में नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-चैतन्य-प्रत्यग्-ईश्वर है। पहले (१.१.३) भी भाष्य में कहा था 'अन्तर्गति नित्यविज्ञानस्वरूपेण आकाशवद् अप्रचलितात्मना अन्तर्गर्भभूतेन बाह्यो बुद्ध्यात्मा···अभ्युपगतः।' उस प्रसंग का यहाँ परामर्श कर लेना चाहिये। नित्य-विज्ञान जो सच्चा चेतन है उससे जीव अवभासित, प्रकाशित होता है। उस नित्य-विज्ञान को भी इस जीव में ही समझा भी जा सकता है। विषयज्ञान, सुखादि, अविद्या और शरीर — इनसे यह एकमेक-सा हुआ रहता है क्योंकि विशिष्ट अपने विशेषणों से सर्वथा अलग नहीं होता। है जीव कल्पित क्योंकि उपाधिपरामर्श के बिना भासता नहीं। अनित्य पदार्थों का ही अनुभव करने में यह संलग्न रहता है। यों कल्पित जीव ईश्वर के लक्षणों से उल्टे धर्मों वाला माना गया है। जब तक यह उपाधिसंपृक्त मायिक रूप रहता है तब तक उपाधि से जुड़े चेतन को 'संसरण हो रहा है' ऐसा अनुभवादि व्यवहार है। जब यह उपाधिसंमिलितरूप निःशेष समाप्त—बाधित— हो जाता है तब जैसे प्रतिबिम्ब बिम्ब 'बन' जाया करता है या घटाकाश महाकाश 'हो' जाया करता है ऐसे ही यह कथनादि व्यवहार है कि 'जीव मुक्त हो गया।' ऐसे अविद्याकल्पित से अन्य कोई वास्तविक ईशान्य जीव न शास्त्र से न युक्ति से सिद्ध है।

ईश्वर-कल्पितजीव-देहेभ्योऽन्य आत्मा नोपलभ्यते

अन्यश्च मृत्प्रलेपवत् प्रत्यक्षप्रध्वंसो देवपितृमनुष्यादिलक्षणो भूतविशेषसमाहारो; न पुनश्चतुर्थोऽन्यो भिन्नलक्षण ईश्वरादभ्युपगम्यते।

ईश्वर, कल्पित जीव और शरीर से अन्य आत्मा मिलता नहीं

परमात्मा और पूर्वोक्त जीवात्मा से अतिरिक्त तो 'आत्मा' कहलाने वाला है शरीर जो महाभूतों का संमिलित रूप ही है। मिट्टी लेपने से दीवार की तरह खाने-पीने से यह मोटा हो जाता है। इसका नाश तो प्रत्यक्ष ही दीखता है, जलता है, कटता है, सड़ता है। बदलता तो यह हमेशा रहता है। देवता, पितर, मनुष्य आदि तो शरीर ही होते हैं और ये सभी शरीर ऐसे ही भौतिकादि हैं। इस 'आत्मा' को आत्मा तो विरोचन-शिष्य ही कह सकते हैं, कोई बुद्धिमान् ऐसा कहता नहीं। इन तीन आत्म-पदार्थों से अन्य विशिष्ट स्वरूप वाला कोई आत्मा मिलता नहीं। और अगर सर्वोपाधिपरामर्शरहित पारमार्थिक ईश्वर—ब्रह्म— को इन तीनों से 'अलग' कहना चाहो तो हमें हर्ज़ नहीं, पर

तुम्हारी इष्टसिद्धि नहीं होगी।

'ईश्वरादन्यश्चतुर्थो नाभ्युपगम्यते' यह सम्बध है और यहाँ ईश्वर से निर्विशेष कहा है। कुछ अनुवादक 'चतुर्थः पुनः अन्यः, ईश्वराद् भिन्नलक्षणो नाभ्युपगम्यते' ऐसा संबंध दिखाते हैं। चतुर्थ से वे तुरीय का ग्रहण करते हैं और 'अन्यः' का अर्थ 'शरीरों से विलक्षण' करते हैं। किन्तु 'अन्यः' की आकांक्षा जब इसी वाक्य में समभिव्याहृत 'ईश्वराद्' से पूरी हो सके तो 'शरीरेभ्यः' का अध्याहार क्लिष्टकल्पना होगी। उत्तरवाक्यप्रसक्ति के लिये निर्विशेष का उपस्थापन भी संगत है।

श्रीविष्णुदेवानंदजी महाराज की टिप्पणी में तो कहा है कि 'बुद्ध्यादि…हेतुः' इस अग्रिम वाक्य के बाद 'न पुनः…यते' यह वाक्य समझना चाहिये अर्थात् आश्रयासिद्धि को इसमें व्यक्त किया गया है। तात्पर्य है कि यथाश्रुत क्रम में 'अभ्युपगम्यते' के बाद हेत्वर्थक 'इति' शब्द का अध्याहार कर लेना चाहिये : क्योंकि नहीं माना जाता इसलिए हेतु आश्रयासिद्ध है— यह वाक्यार्थ होगा। यह भी योजना सुसंगत है। हमेशा 'इति' आदि शब्दों से हेतु दिखाया जाये यह ज़रूरी नहीं होता, कई जगह समझा ही जाता है अतः यहाँ भी समझा जा सकता है। लेकिन इसमें 'ईश्वरात्' से 'बाह्यात् (जीवात्), भूतविशेषसमाहाराच्च' भी समझना पड़ेगा तभी 'चतुर्थः' ठीक लगेगा।

केवलात्मपक्षीकरणे हेत्वसिद्धिः

बुद्ध्यादिकल्पितात्मव्यतिरेकाभिप्रायेण तु 'लक्षणभेदाद्' इत्याश्रयासिद्धो हेतुः।

निरुपाधिक आत्मा में ज्ञानादिलक्षणभेद नहीं

बुद्ध्यादि, कल्पित जीव और परमात्मा से अतिरिक्त निरुपाधिक से अभिप्राय हो तो 'लक्षणभेदात्' यह नहीं कह सकते क्योंकि उसमें ज्ञानादि लक्षणभेद हैं ही नहीं, ये सब औपाधिक हैं। और निरुपाधिक अमान्य हो तो इन तीन से अन्य कोई प्रसिद्ध नहीं जिसमें लक्षणभेद दिखाया जा सके।

निरुपाधिक स्वप्रकाश होने से प्रमागम्य नहीं, 'अप्रमयम्' अर्थात् अप्रमेय है। शास्त्रावगत उसमें लक्षणभेद नहीं। अतः उसे लेकर जीव-ईश्वर-भेद नहीं कहा जा सकता। आश्रय में हेतु की असिद्धि — यह अर्थ मानकर ऐसा समझना चाहिये। आश्रय की ही सिद्धि नहीं — यह अर्थ मानकर समझना चाहिये कि तीनों से अन्य कोई आत्मा प्रसिद्ध न होने से उसके सहारे जीव-ईश्वर-भेद कैसे समझाओगे?

ईश्वरे बन्धाद्ययोगशङ्का

ईश्वरादन्यस्यात्मनोऽसत्त्वाद् ईश्वरस्यैव विरुद्धलक्षणत्वमयुक्तमिति चेत्, सुखदुःखादियोगश्च ?

ईश्वर में बंधादि अयुक्त हैं—यह शंका

यदि ईश्वर से अन्य जीवात्मा नहीं तो सबको उपलब्ध बद्धतादि विरुद्धलक्षणता और सुख-दुःखादि से संबंध ईश्वर का ही मानना होगा, वही कौन युक्तियुक्त है? ईश्वर मुक्त, असंग प्रसिद्ध है। उसे बद्ध, संसक्त मानना ग़लत होगा। अयुक्त बात श्रुति कहेगी नहीं अतः अभेद-श्रुतियों का अर्थान्तर करना चाहिये यह वादी का ध्वनितार्थ है।

कल्पितत्वाददोष इति समाधिः

न, निमित्तत्वे सति लोकविपर्ययाध्यारोपणात् सवितृवत्। यथा हि सविता नित्यप्रकाशरूपत्वाद् लोकाभिव्यक्त्यनभिव्यक्तिनिमित्तत्वे सति लोकदृष्टिविपर्ययेण उदयास्तमयाहोरात्रादिकर्तृत्वाध्यारोपभाग् भवति, एवमीश्वरे नित्यविज्ञानशक्तिरूपे लोकज्ञानापोहसुखदुःखस्मृत्यादिनिमित्तत्वे सति लोकविपरीतबुद्ध्याध्यारोपितं विपरीतलक्षणत्वं सुखदुःखादयश्च; न स्वतः।

कल्पित होने से अयुक्त नहीं - यह समाधान

ईश्वर में बद्धतादि अयुक्त नहीं क्योंकि ईश्वर में निमित्तता होने के कारण लोक-भ्रम से उस पर बद्धतादि का अध्यास हो जाता है जैसे क्योंकि सूर्य अभिव्यक्ति आदि का निमित्त है इसलिए लोग समझते हैं कि वह दिन आदि 'करने वाला' है। अंतःकरणादि विकारों के उदय-अस्त में आत्मा निमित्त है, चाहे 'निमित्त' होने में आत्मा के होने मात्र से अन्य आत्मा में कोई विशेषता न हो। अर्थात् विकारों को — सुखादि को — करने के लिए आत्मा कुछ करता नहीं; वह तो सिर्फ़ है; लेकिन उसका होना ही इसके लिए पर्याप्त है कि विकारों का उदयास्त होता रहता है। आत्मा अन्यथासिद्ध की तरह विकारोदयादि के लिए बेकार-सा हो ऐसी बात नहीं। उपाधि जड है अतः उसमें विकार—सुखादि—संभव नहीं लेकिन आत्मसांनिध्य से उपाधि चेतनवत् हो जाती है अतएव विकार संभव हो जाते हैं। जैसे विद्युत् हाइड्रोजन और आक्सिजन को मिला कर पानी नहीं बनाती पर विद्युत् होने पर ही वे मिलकर पानी बनते हैं ऐसे समझ सकते हैं। अतः आत्मा निमित्त है अवश्य पर विद्यमानता से अन्य उसकी निमित्तता नहीं है। इस तरह आत्मा जिस-जिस विकार का निमित्त बनता है उस-उस विकार का आरोप आत्मा पर हो जाता है, आत्मा सुखी-दुःखी 'बन' जाता है। इस काम में उपाय है अहंकार, वही सेतु का काम करता है जिससे आत्मा-अनात्मा का संपर्क बना रहता है। उसी गाँठ के कारण ये दो रस्सियाँ मानो एक हो जाती हैं। यह अध्यारोप करते हैं लोक। लोक का मतलब पहले कहा था (१.१.३) 'शास्त्रविरोध की शंका' के 'निरास' की व्याख्या में। भाष्य में 'न, लोकाध्यारोपापोहार्थत्वात्।' आया था। उस पर टीकाकारों ने 'लोकेति' प्रतीक देकर विस्तृत पूर्वोत्तरपक्षों में विचार किया है, उसका यहाँ अनुसंधान कर्तव्य है। 'अहंकार' और 'लोक' अलग-अलग नहीं हैं। अनुभवानुसार इतना ही समझ सकते हैं कि 'हम' ही लोक हैं क्योंकि 'हम' अहङ्कार से विलग हुए हैं नहीं। अतः यह जो अनिर्वाच्य 'हम' हैं—मैं हूँ—वे हम ही अपने ही द्वारा आत्मा पर विकारों का आरोप किये हैं। 'हम' न रहें तो यह आरोप न हो क्योंकि न आरोप करने वाला होगा और न आरोप होने का रास्ता। 'हमारे' न रहने का तरीका ही उपनिषत् है जिससे 'हम'—मैं—तो नहीं रह जायेंगे यह निश्चित है भले ही जो रहेगा वह हमसे अन्य कुछ नहीं होगा। आरोपित होने के कारण कल्पित संसारिता और वास्तविक असंसारिता का विरोध नहीं कि ईश्वर की बद्धतादि असंगत हो। यहाँ सुखादि विकारों के साथ अंतःकरणादि विकार और घटादि विकार भी समझ लेने चाहिये क्योंकि वहाँ भी आत्मनिमित्तक ही विकार है और विकार होने पर उसका अध्यारोप आत्मा पर होता है तभी 'घटः सन्' बनता है। अहंकारस्थानीय वहाँ भी विराडादि का अभिमान मान्य है। या दृष्टिसृष्टि के अभिप्राय से योजित कर सकते हैं, लेकिन केनप्रक्रिया में विराडादि के अभिमान से ही संगति होती है।

सूत्र रूप से कही बात ख़ुद समझाते हैं - **सूर्य हमेशा प्रकाश है और लोकों की — भूरादि लोकों की या घटादि की — अभिव्यक्ति तथा अनभिव्यक्ति में निमित्त भी बनता है। विद्यमान हुआ अभिव्यक्ति में तथा अविद्यमान हुआ अनभिव्यक्ति में निमित्त समझना चाहिये क्योंकि हमारे दर्शन में सूर्य से सर्वथा अन्य 'अविद्यमानता' नाम की कोई चीज़ नहीं है। यद्यपि यों निमित्त बनने मे सूर्य कुछ 'करता' नहीं — 'होना' कुछ करना नहीं है — तथापि सामान्य लोगों को यह भ्रम हो जाता है कि सूर्य उदय-अस्त नामक क्रियायें 'करता' है, दिन-रात आदि काल 'बनाता' है। ऐसे ही जो नित्यविज्ञानशक्तिरूप ईश्वर है — अर्थात् मायोपाधिक तत्पदवाच्य नहीं बल्कि लक्ष्य है — वह जिन विकारों का निमित्त है उन्ही का उस पर आरोप होने से वह संसारी, सुखी-दुःखी आदि हो जाता है।** यहाँ नित्यविज्ञान को 'शक्ति' क्यों कहा? शक्ति कहने का यह तात्पर्य है : आग आदि शक्तियाँ किसी अन्य शक्तियों के बिना अपने स्वभाव (स्वनिरूपित विद्यमानता) से ही कार्योत्पत्ति के अनुकूल हुआ करती हैं। ऐसे ही नित्यविज्ञान सिर्फ़ अपनी स्वाभाविक संनिधि से अंतःकरणादि की प्रवृत्तियों का—विकारादि का—निमित्त हो जाता है। इसी समानता को कहने के लिए उसे शक्ति कह दिया।

प्रसंगवश यहाँ शक्ति पदार्थ पर टीका ने प्रकाश डाल दिया है। वेदांत में शक्ति-शक्तिमान् का भेद न होने से धारण-क्लेदन-शोषणादिशक्ति और पृथ्वी-जल-वायु आदि में भेद है नहीं। पृथ्वी क्योंकि किसी अन्य शक्ति के बिना ही धारणरूप कार्य के उत्पादन के अनुकूल हुआ करती है इसलिए वह भी शक्ति है। अतः 'अग्न्यादिशक्ति' से वायुशक्ति, पृथ्वीशक्ति आदि सब समझनी चाहिये। यहाँ 'अग्नि की शक्ति' ऐसा नहीं वरन् 'अग्नि ही शक्ति' ऐसा अर्थ है। एवं च टीकोक्त लक्षण होगाः 'शक्त्यन्तरमन्तरेण स्वस्वभावादेव कार्योत्पादनानुकूलत्वं शक्तित्वम्।' यहाँ 'एव' की ही व्याख्या है 'शक्त्यन्तरमन्तरेण।' अन्यनिरपेक्ष स्वाभाविक कार्योत्पादनानुकूलता शक्ति है यह अर्थ है। मायाशक्ति, शब्दशक्ति आदि सर्वत्र यह समझना सरल है। द्रव्यादि कुछ भी 'शक्ति' कहा जा सकता है। अतः द्रव्य और ऊर्जा (Matter and energy) दो चीज़ें नहीं हैं; एक ही चीज़ के दो रूप या अवस्थायें हैं। वह 'एक चीज़' भगवान् की माया है, अतएव हम कोई भी शक्ति उत्पन्न नहीं कर पाते, केवल एक ऊर्जा को दूसरी में या द्रव्य को ऊर्जा में बदल सकते हैं। है वह माया अनिर्वाच्य अतः कितने बदलाव हो सकते हैं, कैसे परिवर्तन हो सकते हैं, कब तक हो सकते हैं — आदि प्रश्न ही व्यर्थ हैं। पूर्ण नियंत्रण हमारा उस पर होगा नहीं, भले ही हम उसे रहने न दें! यही हमारी परिच्छिन्नता है कि उसे नष्ट करने में हम स्वतंत्र हैं, लेकिन वह बनी रहे तो उसे चलाने में नहीं! इतना ज़रूर है कि काफ़ी हद तक हम उस पर हावी हो सकते हैं, लेकिन पूरा नियन्त्रण नहीं पा सकते। इसीलिए 'पराभिध्यानात्तु तिरोहितम्' (३.२.५) में 'परमेश्वरमभिध्यायतो यतमानस्य जन्तोर्विधूतध्वान्तस्य तिमिरतिरस्कृतेव दृक्शक्तिरौषधवीर्याद् ईश्वरप्रसादात् संसिद्धस्य कस्यचिदेवाविर्भवति' भाष्यकार जीव की सामर्थ्यवृद्धि बताते हैं लेकिन 'जगद्व्यापारवर्जम्' (४.४.१७) को तो मानते हैं। जब तक हम जीव हैं तब तक माया पर ईश्वर का ही स्वातंत्र्य है, हमारा नहीं। जब यह संभव लगे कि हमारा उस पर निरंकुश स्वातंत्र्य हो सकता है, तब तो वह रह ही नहीं जाती कि हम उसे नियंत्रित करें! यही उसकी अनिर्वाच्यता है। 'आत्माविद्यैव नः शक्तिः सर्वशक्यस्य सर्जने' यह जो भगवान् वार्तिककार ने कहा है उसे दृष्टि में रखकर ही प्रकृत टीका ने यह लक्षण सूचित किया है। लक्षणगत एवकार से आत्मव्यावृत्ति अशक्य है क्योंकि अज्ञातात्मा से अतिरिक्त अज्ञान है ही नहीं यह भी वार्तिक में स्पष्ट किया है।

प्रकृत में तो इतना ही तात्पर्य है कि ईश्वरपद-लक्ष्यभूत उस नित्यविज्ञानशक्ति में अनेक विरुद्ध धर्मों का अध्यास असंगत नहीं है क्योंकि अध्यास की यही विशेषता है : रस्सी किसी को चेतन ठोस साँप और किसी को जड तरल पानी एक साथ दीखती है। इच्छा का विषय सुख कहा जाता है, लेकिन बहुतेरे लोगों को यह निश्चित पता होते हुए कि 'अमुक वस्तु या कार्य मेरे दुःख का ही हेतु है', वे फिर भी उसकी इच्छा करते हैं! इकट्ठे ही, एक को ही, एक में ही सुख-दुःख—ये विरुद्ध दीखते हैं।

टीका में 'तस्मिन् स्वातन्त्र्यात्' के बाद पूर्णविराम समझना चाहिये : अन्तःकरणादि-प्रवृत्तिनिमित्तत्व में स्वतंत्र है इसलिए उसे शक्ति कहते हैं यह अर्थ है। अन्यानधीनसत्ताकत्व स्वातन्त्र्य है।

वह किन विकारों का निमित्त है? लोक का, लोगों के ज्ञानों का, वे भूलते हैं इसका, उनके सुख-दुःख-याद आदि का। लोक तो उल्टी बुद्धि वाले ही हैं, जो जैसा है उसे वैसा जानना नहीं चाहते, उल्टा ही समझते रहते हैं। अतः ये सब विकार आत्मा पर आरोपित कर देते हैं। कहीं सत्त्वेन आत्मोल्लेख है, 'मैं हूँ' — यहाँ 'मैं' तो लोक है लेकिन 'हूँ' आत्मा ही है, सत् है। कहीं प्रत्यक्त्वेन उसका उल्लेख हो जाता है, 'मैं सुखी' आदि। इसलिए परमात्मा के लक्षणों से विपरीत बद्धत्वादि लक्षणों का और सुख-दुःखादि का जो अध्यास उसी अखण्ड परमात्मा पर है कल्पित होने से अयुक्त नहीं है। परमार्थतः अर्थात् बिना अध्यास के, ख़ुद-ब-ख़ुद परमात्मा परस्पर विपरीत स्वरूपों वाला नहीं है।

अध्यासाद् न वस्तुहानिः

आत्मदृष्ट्यनुरूपाध्यारोपाच्च। यथा घनादिविप्रकीर्णेऽम्बरे येनैव सवितृप्रकाशो न दृश्यते स आत्मदृष्ट्यनुरूपमेवाऽध्यस्यति 'सवितेदानीमिह न प्रकाशयति' इति, सत्येव प्रकाशेऽन्यत्र, भ्रान्त्या। एवमिह बौद्धादिवृत्त्युद्भवाऽभिभवाकुलभ्रान्त्याऽध्यारोपितः सुखदुःखादियोग उपपद्यते।

अध्यास से वास्तविकता की कोई हानि नहीं

जो भ्रान्त है उस की दृष्टि के अनुसार ही अध्यास देखा जाता है अतः अध्यास वास्तव में अधिष्ठान को कोई क्षति नहीं पहुँचाता। यह नहीं देखा गया कि मृगमरीचिका से कहीं दल-दल बन गयी हो! इस आशय से कहते हैं - **अध्यास क्योंकि भ्रान्त की दृष्टि के अनुरूप होता है इसलिए ईश्वर पर संसारित्वाध्यास से वास्तव में ईश्वर को कोई फ़र्क नहीं पड़ सकता। आकाश में बादल आदि बहुतेरी चीज़ें बिखरी हैं। उसी आकाश में सूर्य भी है। लेकिन जिसे सूर्य की रोशनी नहीं दीखती वह अपनी दृष्टि से कह देता है 'अब यहाँ सूर्य कुछ नहीं दिखा रहा'; यहाँ 'सूर्य दिखाता है' यह भ्रम है जिसके कारण 'नहीं दिखा रहा' कहा जाता है। अन्यत्र तो प्रकाश है ही। अगर सूर्य सचमुच न दिखा रहा हो तो कहीं न दिखाये! युगपत् दिखा भी रहा है, नहीं भी दिखा रहा! दोनों तो भ्रम से ही संभव हैं। वह तो सिर्फ़ प्रकाश है, 'दिखा रहा है' और 'नहीं दिखा रहा' दोनों भ्रम हैं। ऐसे ही बुद्धि आदि की वृत्तियों के उदय-अस्त से परेशान हुआ जो मोह को प्राप्त हो चुका है उस लोक को यह विवेक नहीं रहता कि उदय-अस्त वृत्तियों का ही है, वे वृत्तियाँ जिससे व्याप्त हैं — जिससे प्रकाशित हैं — उस चैतन्य का न उदय है, न अस्त, और यों विवेकशून्य हुआ वह भ्रम से सुख-दुःखादि के संबंध का अध्यास परमात्मा पर करता रहता है।** तात्पर्य है कि जैसे भाँग के नशे में ख़ुद को चाण्डाल कहने वाला ब्राह्मण तब भी बना ब्राह्मण ही रहता है — अतः उस समय भी उसे अनुसूचित जाति का मानकर कोई सरकारी नौकरी नहीं मिलती — ऐसे ही 'मैं सुखी' आदि सुखसंबंध के अध्यासकाल में भी चिन्मात्र है नित्यशुद्धादि ही।

भगवानत्र मानम्

तत्स्मरणाच्च। तस्यैवेश्वरस्यैव हि स्मरणम्- 'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च' (गी.१५.१५), 'नादत्ते कस्यचित् पापम्' (गी.५.१५) इत्यादि।

इस बात में श्रीकृष्ण प्रमाण हैं

ज्ञान, सुख आदि पैदा करने में चेतन निमित्त है यह केवल अन्वय-व्यतिरेक या युक्तिं से ही नहीं, भगवान् के ख़ुद के वाक्य से भी सिद्ध है यह कहते हैं - **उस ईश्वर ने ही स्मृति में कहा है — 'याद, ज्ञान और भूलना मुझ से होता है', 'मैं किसी का पाप नहीं लेता' आदि।** समाधाता ने पूर्वत्र 'निमित्तत्वे सति लोकविपर्ययाध्यारोपणात्' कहा था, उसी में प्रमाण दिया। प्रथमोक्ति निमित्तता में प्रमाण है। दूसरी उक्ति के वाक्यशेष में कहा है 'अज्ञान से ज्ञान ढँका है इससे जन्तु मोह में पड़ते हैं', अतः द्वितीय उद्धरण 'अध्यारोपणात्' में प्रमाण है।

निगमनम्

अतो नित्यमुक्त एकस्मिन् सवितरीव लोकाविद्याऽध्यारोपितमीश्वरे संसारित्वं, शास्त्रादिप्रामाण्यादभ्युपगतम् असंसारित्वमित्यविरोध इति।

निर्णय

इसलिए सूर्य में अप्रकाशकत्वादि की तरह नित्यमुक्त एक ईश्वर में ही लोक ने अविद्या से संसारित्व अध्यारोपित

कर रखा है जबकि शास्त्र की प्रामाणिकता को आदर देते हुए महात्माओं ने असंसारिता स्वीकारी है। अर्थात् जो संसारिता-असंसारिता से 'अधि' है उसे संसारी और असंसारी दोनों में चाहे कुछ मानें, है ग़लत ज्ञान ही। इतना ज़रूर है कि असंसारिता के ज्ञान से संसारिता का ज्ञान कट जाता है तो सभी क्लेश हट जाते हैं। 'नश्यत्यविद्या यदविद्ययैव' – यह श्रीभट्ट जगद्धर का कथन यहाँ सत्यापित होता है। काँटे से काँटा निकालने की तरह संसारिता का भ्रम हटाने के लिए असंसारिता समझनी है। वंस्तु तो संसारि-असंसारी दोनों से विलक्षण है। विदित-अविदित या धर्म-अधर्म से अन्य कहने का यही अभिप्राय है।

'ईश्वर में संसारिता' – यहाँ ईश्वरपद अंतःकरणादि से विशिष्ट में अनुगत चित्स्वरूप अर्थात् 'निर्विभागचिति' के तात्पर्य से है, मायाविशिष्ट या मुक्तोपसृप्य के तात्पर्य से नहीं। वस्तुतः इस प्रकरण में भाष्यकार जीव-ईश्वर-ब्रह्म को इस तरह इकट्ठा रख रहे हैं कि मायिक ईश्वरवाद उपपन्न होते हुए अद्वैतदृष्टि तिरोहित न हो। प्रक्रियान्तरों में तात्पर्यतः न सही पर आपाततः भेदवादियों के सदृश व्यवस्थायें बनने लगती हैं। वेदान्ताचार्यों में भी संभवतः कुछेक ने वैसी व्यवस्थाओं को आदर दिया है। पर यहाँ भाष्यकार जागरूक हैं कि उपनिषत् का मुख्य तात्पर्य किंचित् भी छिपे बिना ईश्वर की व्यवस्था समझ आ जाये। ईश्वर है। अगर केवल उसे मानना होता, वह केवल कोई कल्पना या उपपादकमात्र होता, तब तो भाष्यकार भी कोई सुघड़ व्यवस्था बना देते। उन्हे तो वास्तविकता समझानी भर है। अतः ईश्वर (ब्रह्म) इकट्ठे ही ईश्वर भी है और जीव भी लेकिन फिर भी है ईश्वर (ब्रह्म) ही क्योंकि वह न ईश्वर है, न जीव – यह भाष्यकार को कहना है। 'केनेषितम्' 'नेदं यदिदमुपासते' आदि प्रकृत उपनिषद्वाक्यों के अनुसार यहाँ यही संगत भी है।

नात्मनि भेदहेतुः

एतेन प्रत्येकं ज्ञानादिभेदः प्रत्युक्तः। सौक्ष्म्यचैतन्यसर्वगतत्वाद्यविशेषे च भेदहेत्वभावात्; विक्रियावत्त्वे चानित्यत्वात्; मोक्षे च विशेषाऽनभ्युपगमाद्, अभ्युपगमे चाऽनित्यत्वप्रसङ्गात्;

आत्मा में भेद का कोई हेतु नहीं

अतः जो ज्ञानादि लक्षणभेद कहे थे उन सब का समाधान हो गया क्योंकि सारा ही भेद अध्यारोप है, वह वास्तविक भेद क्योंकर सिद्ध करेगा और अवास्तविक भेद तो यथाप्रतीति उपस्थित ही है, उसके लिए वाद क्यों करना?

हर शरीर में ज्ञान-सुखादि होते हैं तो जिस-जिस को होते हैं उस-उस को अलग मानना चाहिये — आदि कहकर तार्किकादि जीवभेद बताते हैं। सिद्धान्ती का तात्पर्य है कि इससे आत्मभेद तो सिद्ध होता नहीं, केवल अध्यासभेद सिद्ध होता है अतः श्रौतसिद्धान्त यथावत् है। विभिन्न ज्ञानादि का आश्रय वास्तव में भिन्न सिद्ध नहीं होगा और अवास्तविक भेद तो प्रतीयमान है ही। जब तक मन आदि अनात्मा और तदुपाधिक – अर्थात् तत्प्रयुक्त — के परामर्श के बिना तार्किक आत्मभेद में प्रमाण न दे तब तक उस बेचारे के प्रति कुछ कहना सिद्धान्ती को शोभा नहीं देता।

सांख्यों की भी यही स्थिति है : लोकसिद्ध है कि व्यावर्तक धर्म से ही व्यावृत्ति—भेद—सिद्ध होती है। सांख्य का मत है कि पुरुष चैतन्यमात्र रूप हैं। अब बेचारा उनमें व्यावर्त्तक धर्म क्या दिखाये? वह प्रकृति का ही सहारा लेता है और अन्य के सहारे सिद्ध होने वाला तो औपाधिक ही होगा, वास्तविक नहीं। सत्य को किसी की अपेक्षा होती नहीं। श्रीमान् सर्वज्ञगुरु कह गये हैं 'न सत्यमापेक्षिकमीक्षितं क्वचित्' (२.१०५)

वैशेषिक मत में तो आख़िरी 'विशेष' की कल्पना की गयी है जो अन्योन्याश्रयदोषग्रस्त होने से अत्यन्त उपेक्ष्य है। वे कहते हैं कि परमाण्वादि अलग-अलग हैं अतः ज़रूर कुछ होना चाहिये जिसके कारण वे अलग-अलग बने रहते

हैं, एक नहीं हो जाते। वह 'कुछ' ही 'विशेष' है। उनसे पूछें, 'परमाण्वादि अलग-अलग हैं ऐसा क्यों?' तो उनका सरल उत्तर है, 'क्योंकि उनमें जो विशेष हैं वे उन्हे अलग-अलग रखते हैं।' ऐसे लोगों से क्या कथा की जाये। परमाण्वादि प्रत्यक्ष तो हैं नहीं कि वे उन्हें अलग-अलग देख रहे हों। फिर भी अपने आग्रह से मानते हैं। ऐसे ही आत्मभेद को विशेषवश कह देंगे और अद्वैतश्रुतियों के प्रति तो बहरे बन जायेंगे। अन्योन्याश्रयदोषदुष्ट होने से अमान्य विशेषों से रहित पुरुषों में वास्तविक भेद संभव नहीं।

कुछ लोग दुःखादि विकारों वाला आत्मा मानकर उन विकारों की व्यवस्था के लिये आत्मभेद कहते हैं। वह इसलिए ठीक नहीं कि विक्रिया तो अंतःकरणादि उपाधि का धर्म है, वह आत्मभेद कैसे सिद्ध करेगा? भेदरूप साध्य आत्मा में बैठाना है और हेतु दिया जाये उपाधिनिष्ठ विक्रिया, तो आत्मभेद सिद्ध हो नहीं सकता। और विकारी आत्मा तो अनित्य होने से अनात्मा ही होगा।

मोक्षवादी सभी मानते हैं कि मोक्ष में विक्रियादि कोई विशेषता नहीं है। स्वरूप से बने रहना ही मोक्ष है। अतः विशेषतायुक्त होना स्वाभाविक या सच्चा तो हो नहीं सकता। 'सभी मोक्षवादी' षड्दर्शनी की दृष्टि से कहा। वेदेतर ग्रंथों को संमान देने वाले कुछ वादियों ने स्वर्गविशेषादिरूप कुछ मोक्षों की कल्पनायें कर रखी हैं, लेकिन उन्हें तो आचार्य कोई आदर नहीं देते क्योंकि वे मानते हैं कि कर्म से स्वर्ग की तरह वे लोग फलविशेष की बात कर रहे हैं अतः मोक्षवादी हैं ही नहीं। आधुनिक काल में स्वामी श्री काशिकान्दगिरिजी महाराज ने द्वादशदर्शनसंग्रह में अतएव तादृश मतों को पूर्व मीमांसा के अन्तर्गत स्वीकारा है।

यह सब मानकर आचार्य कह रहे हैं - **अनेक माने गये चेतनों में भी जब सूक्ष्मता, चेतनता, सर्वगतता आदि कोई अंतर नहीं तो भेद का कोई कारण न होने से आत्मभेद होगा कैसे? आत्मा को यदि बदलने वाला मानो तो उसे अनित्य मानना पड़ेगा जो आस्तिकों को अनिष्ट ही है। मोक्ष में तो आत्मगत कोई भेदक मान्य है नहीं अन्यथा मोक्ष ही अनित्य हो जायेगा, अतः वास्तविक आत्मभेद अस्वीकार्य है।** मोक्ष में भेदक मन आदि ही हो सकेगा और तब बंधन से कोई अंतर नहीं रहेगा तथा बंधन की तरह मोक्ष भी अनित्य ही होगा यह अर्थ है।

भेदस्याज्ञानिकत्वादैक्यं वास्तवम्

अविद्यावदुपलभ्यत्वाच्च भेदस्य तत्क्षयेऽनुपपत्तिः; इति सिद्धमेकत्वम्।

एकता वास्तविक है

जाग्रत् और स्वप्न में अविद्यावान् लोगों को भ्रांति से भेद उपलब्ध होता है तथा सुषुप्ति और समाधि में — अविद्या बनी रहे तो भी — जब भ्रान्ति नहीं होती तब भेद उपलब्ध भी नहीं होता। अतः भेद मिथ्या ही है। रस्सी न दीखना मात्र लोक में भ्रम नहीं कहा जाता, रस्सी को साँप देख लेना भ्रम समझा जाता है। सुषुप्ति में आत्मा का अज्ञान इसीलिए भ्रम नहीं भी कहा जा सकता है; स्वप्न जाग्रत् अवस्थाओं में भ्रम है यह तो कहना हर तरह ठीक है। भ्रम-भेदानुभव का नित्य साहचर्य भेद को असत्य सिद्ध करता है। इस तात्पर्य से कहते हैं - **जिन्हे परमात्मा की सच्चाई की जानकारी नहीं उन्हे ही भेद सच्चा लगता है अतः यह युक्तियुक्त है कि जब परमात्मा की वास्तविकता की ग़ैर-जानकारी नहीं रह जाती तब भेद भी नहीं रहता है : सच्चा नहीं लगता है। रस्सी का अज्ञान रहते साँप किसी तरह उपपन्न किया भी जा सके पर उसका अज्ञान न रहे तब साँप को उपपन्न कैसे किया जाये? उपलम्भमात्र हो तो भी है अनुपपद्यमान ही। अतः जीवन्मुक्ति एक अनुपपद्यमान वस्तुस्थिति है। इस प्रकार भेद मिथ्या निश्चित होने से यह सिद्ध हुआ कि अभेद वास्तविक है। अभेद में कुछ अभावगंध आती है अतः कहना चाहिये एकता वास्तविक है; यहाँ संख्यादिरूप एकत्व तो अविवक्षित ही है।**

उपाधिप्रतिबिम्बकल्पस्य बन्धमोक्षौ

तस्माच्छरीरेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनासन्तानस्य अहङ्कारसम्बन्धाद् अज्ञानबीजस्य नित्यविज्ञानान्यनिमित्तस्य आत्मतत्त्वयाथात्म्यविज्ञानाद् विनिवृत्तावज्ञानबीजस्य विच्छेद आत्मनो मोक्षसंज्ञा; विपर्यये च बन्धसंज्ञा; स्वरूपापेक्षत्वादुभयोः।

बन्ध-मोक्ष किसके?

आत्मा को ही मोक्ष कहते हैं और उसे ही बंध भी कहते हैं। वे दोनों हैं आत्मा की ही अपेक्षा से; आत्मसापेक्ष होने से वे दोनों मिथ्या हैं, उनसे निरपेक्ष आत्मा सत्य है। 'मैं बद्ध, मैं मुक्त' से अतिरिक्त बंध-मोक्ष क्या हैं! अतः वे स्वरूप के, आत्मा के, सापेक्ष हैं। आत्मा या स्वरूप उनसे निरपेक्ष है।

आत्मा का मोक्ष नाम कब पड़ता है? जब शरीर-इन्द्रिय-मन-बुद्धि-विषय-विषयानुभव की शृंखला न रहते हुए इनका बीज अज्ञान बाधित हो जाये। यह होगा आत्मा की तात्त्विकता के यथार्थ दृढ अनुभव से। नित्य-विज्ञानरूप आत्मा से अन्य गुरु-शास्त्र-संस्कृत चित्त आदि निमित्तों से ही यह अनुभव संभव है जिनकी कमी के कारण ही नित्यविज्ञान अनादि रहते भी अब तक यह अनुभव हुआ नहीं। लेकिन इन अन्य निमित्तों वाला होगा आत्मा ही; इन निमित्तों से हुई नैमित्तिक अखण्डवृत्ति से उपलक्षित आत्मा को मोक्ष कहा जायेगा। आत्मा के प्रति न सही उपलक्षिततत्व के प्रति निमित्त चाहिए। अतः मोक्षसंज्ञक आत्मा भी नैमित्तिक होने से अज्ञानबीज है — उसे मोक्ष कहा जा रहा है इसमें भी कारण अज्ञान ही है क्योंकि वस्तुतः वह जब बंध ही नहीं तो मोक्ष क्यों होगा? 'न वै मुक्तः।' आत्मतत्त्व का याथात्म्य-विज्ञान अहंकारसम्बन्ध से होता है : अहंकार जैसे बाहर निकलकर बंधन में जाने का दरवाज़ा है वैसे भीतर घुसकर मोक्ष में जाने का भी। उसी की परीक्षा से, शोधन से हम मुक्त हो सकते हैं क्योंकि उसे ही पहले 'ईश्वरगर्भ' कहा था। किं च जाग्रत्काल में साहंकार दशा में ही श्रवणादिपूर्वक अखण्डवृत्ति बनेगी इसलिए भी वह अहंकार का सम्बन्ध चाहती है। जैसे पहले 'विनाश' की महत्ता कही थी वैसे यहाँ अहंकार की भी महत्ता है कि उसके सम्बन्ध से ही आत्मविज्ञान हो सकता है। ग़लत अहंकार से क्लेश और सही से उनकी निवृत्ति होती है। — यह है जब आत्मा मोक्ष कहलाता है।

इससे उल्टा हो तब आत्मा बंध कहा जाता है।

जीवों को क्रमशः विभिन्न संघात मिलते हैं जिनमें जीव अनुगत रहते हैं। शरीरादिपरंपरा है मिथ्या। मिथ्या शरीरों में हम मिथ्या अभिमान और कर लेते हैं! एक तो वे ही स्वरूपतः अध्यस्त, उस पर हम और संसर्ग का अध्यास कर देते हैं। अतः मैं समझे गये शरीरादि शुक्तिरूप्य की तरह सर्वथा — स्वरूप-संसर्ग-उभयथा—अज्ञानमूलक हैं। उनमें पहले 'मैं बुद्धि' का फिर 'सद्बुद्धि' का — 'वे हैं' इस निश्चय का — न रहना उनका विच्छेद है। इसके लिए ज़रूरी है कि उनके मूल अज्ञान का विच्छेद हो, नाश हो, बाध हो। इस प्रकार सकार्य अज्ञान की निवृत्ति रहते जो आत्मा है वह मोक्ष है। बंध-मोक्ष होंगे आत्मा के ही। बद्ध का बंधन या मुक्त का मोक्ष तो कहना ही असंगत है, अनवस्था होगी। और बद्ध का मोक्ष होने लगे तो मोक्ष में भी बंधन रहना पड़ेगा, फिर मोक्ष कैसा! एक का बन्धन हो और मोक्ष किसी दूसरे का ही हो तब तो साधना कौन करे? बद्ध ही साधना करता है, जब उसका मोक्ष होना ही नहीं तब वह साधना करे क्यों? इसलिए वेदान्ताचार्यों की प्रसिद्ध रीति से यही मानना चाहियेः उपाधिवैशिष्ट्य अर्थात् अहंकार – 'लोक' – के द्वारा जो उपाधिसम्बन्ध के कारण प्रतिबिम्ब की तरह हुआ स्वरूप है, आत्मा है, ईश्वर है, उसी का बंधन है और उसी का मोक्ष है। 'प्रतिबिम्ब'- शब्द का जो वाच्य है, जिसमें उपाधिहेतुक धर्म विशेषणविधया भासते हैं, वह मिथ्या है। लेकिन जो उसका लक्ष्य है वह तो बिम्ब ही है। अतः स्वरूप से ही बने रहना मोक्ष है। बिम्ब भी मुखरूप से सत्य है, बिम्बरूप से तो कल्पित ही है; इसी तरह

आत्मा सत्य है, उसकी मोक्षव्यवहार्यता मिथ्या ही है। सत्यपदलक्ष्य की सत्यता की तरह मोक्षपदलक्ष्य की भी मोक्षरूपता कौन मना कर सकता है?

पुराणों में कहा है:

'उपाधिना सार्धमुपाधिजन्यमौपाधिकं सर्वमवेहि मिथ्या ।
भागं मृषा चित्प्रतिबिम्बकेऽपि बिम्बं पुनः सत्यमशेषमेव ।।'

मन आदि उपाधि और उससे होने वाले कर्तृत्वादि, सभी को मिथ्या समझना चाहिये। प्रतिबिम्ब का भी अगर विश्लेषण करें तो उसका औपाधिकांश ही मिथ्या होता है, उसे हटा दें तो वह बिम्ब ही बचता है और वह तो सत्य ही है। चित्प्रतिबिम्ब में भी यही स्थिति है। इतना ज़रूर है कि सामान्य प्रतिबिम्बस्थलों में दर्पणादि उपाधि सत्य होती है लेकिन चित्प्रतिबिम्बस्थल में तो वह भी मिथ्या ही है। बिम्बरूप से रहे या प्रतिबिम्बरूप से, चित् तो निर्विकार कूटस्थ परमार्थ है। उसका बिम्ब होना भी वैसा ही मिथ्या है जैसा प्रतिबिम्ब होना। यह सब मन में रखकर भाष्य में कहा था 'स्वरूपापेक्षत्वादुभयोः।'

भाष्यपंक्ति का यह अन्वय अभिप्रेत है : ' सन्तानस्य विनिवृत्तौ, अज्ञानबीजस्य विच्छेदे, अहङ्कारसम्बंधाद् आत्मतत्त्वयाथात्म्यविज्ञानाद् नित्यविज्ञानान्यनिमित्तस्य अज्ञानबीजस्य आत्मनो मोक्षसंज्ञा।'

टीकानुसार तो संतान की अज्ञानबीजता में अहंकारसंबंध हेतु है और संतान का ही अविद्या से अन्य जो निमित्त है वह है नित्यविज्ञान। अज्ञानरूप बीज की विनिवृत्ति होने पर सन्तान का विच्छेद होता है तब आत्मा मोक्ष कहा जाता है। तात्पर्यतः वही बात है।

बंधन है विपर्यय रहते, भ्रम रहते। अज्ञान भी विलीन भ्रमों वाला ही है अतः प्रलयादि में भी छिपे सही, पर भ्रम तो हैं ही। जब तक शरीरादि परम्परा और उसके बीजभूत अज्ञान की समाप्ति न हो तब तक बंध है। ऐसे ही अहंकार के सही विश्लेषण के अभाव में जब तक वह भीतर लौटने का दरवाज़ा नहीं बनता, विक्षेपविकास ही करता है, तब तक बंधन है। अखण्ड साक्षात्कार के बिना बंधन है।

यहाँ 'मुक्त', 'बद्ध' संज्ञायें न कहकर 'मोक्ष', 'बन्ध' संज्ञायें कही हैं। भाष्यकार का तात्पर्य है कि पहले मोक्ष और बंधन कल्पित, फिर आत्मा का उनसे संबंध कल्पित है। 'मैं बद्ध हूँ' यही भ्रम नहीं है, 'बंधन है' यह भी तो भ्रम ही है। सापेक्ष होने से मोक्ष अतः मुक्त भी कल्पित है यह कह ही चुके हैं। इसलिए न केवल 'मैं बद्ध नहीं हूँ' समझना ज़रूरी है, 'बन्धन नहीं है' भी समझना ज़रूरी ही है।

कथाप्रदर्शनम्

ब्रह्म 'ह' इति *ऐतिह्यार्थः।* ह किल देवेभ्यः अर्थाय विजिग्ये जयं लब्धवत्। देवानामसुराणां च सङ्ग्रामेऽसुराञ्जित्वा जगदरातीन् ईश्वरसेतुभेत्तॄन्, देवेभ्यो जयं तत्फलं च प्रायच्छज्जगतः स्थेम्ने। *पुरा किल देवाऽसुरसङ्ग्रामे जगत्स्थितिपरिपिपालयिषयाऽऽत्मानुशासनाऽनुवर्तिभ्यो देवेभ्योऽर्थिभ्योऽर्थाय विजिग्येऽजैषीद् असुरान्। ब्रह्मण इच्छानिमित्तो विजयो देवानां बभूवेत्यर्थः।* तस्य ह किल ब्रह्मणो विजये देवा अग्न्यादयः अमहीयन्त महिमानं प्राप्नुवन्तः। *'तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त'- यज्ञादिलोकस्थित्यपहारिष्वसुरेषु पराजितेषु देवा वृद्धिं पूजां वा प्राप्तवन्तः।*

यक्षकथा का प्रदर्शन

'ब्रह्म ह' — यहाँ 'ह'-शब्द से बताया कि पुरातन बात कही जा रही है। प्रसिद्ध है कि ब्रह्म ने देवताओं के लिए विजय पायी। देव-असुर संग्राम में असुरों को जीतकर विजय और उसका फल देवताओं को ब्रह्म ने ही दिया।

असुर किन्हे कहते हैं? जो जगत् के दुश्मन हैं, ईश्वर द्वारा बनायी वर्णाश्रमधर्मादि मर्यादायें तोड़ते हैं वे सभी असुर हैं, पृथ्वी पर हों चाहे लोकान्तर में। ब्रह्म देवताओं को इसीलिए जय देते हैं कि जगत् की स्थिरता बनी रहे। इसलिए उस प्राचीन काल में भी अवश्य ब्रह्म ने यह चाहते हुए कि जगत् की स्थिति का परिपालन हो, विजय चाहने वाले देवताओं को असुरों पर विजय दी। देवता कौन होते हैं? जो आत्मानुशासन का अनुवर्तन करते हैं वे देव हैं, चाहे कहीं हों। आत्मा अर्थात् ईश्वर — यहाँ जिसके लिए ब्रह्म शब्द है — उनका अनुशासन अर्थात् आज्ञायें उनका अनुवर्तन अर्थात् पालन। बहिर्यामी की तरह अन्तर्यामी के भी अनुशासन को मानना देवता के लिये ज़रूरी है। वस्तुतः तो आत्मविषयक अनुशासन है उपनिषत्, उसे ख़ुद में उपनिषदनुसार ही वर्तमान बना लेना आत्मानुशासनानुवर्तन है। यही वास्तविक देवत्व है। इसी कमी की पूर्ति के लिये पाकशासनादि के समक्ष यक्ष-प्रादुर्भाव है। इस देवत्व के बिना इन्द्रादि भी गौण-देव ही हैं, इसके बाद ही कोई प्रधान देव है। संसार के अभ्युदय निःश्रेयस का विरोध करके आत्मज्ञ नहीं बना जाता है। बल्कि उसके विरोधियों को जीतकर बना जाता है। अतः औपनिषद संसारविरोध और धर्ममर्यादाओं का उल्लंघन नहीं कर सकता बल्कि संसार का विरोध करने वालों को तथा मर्यादा तोड़ने वालों को हरा कर ही उसे आगे बढ़ना पड़ेगा। अपने-अपने वर्णों और आश्रमों के अनुसार औपनिषद साधक दोनों करे — जगदरातियों को जीते, जगत्-स्थिरता के लिये यत्न करे; धर्मविरोधियों को जीते, धर्मपालन करे। अतः ब्राह्मण शास्त्र-युक्ति से, क्षत्रिय राजबल से, वैश्य आर्थिक नियंत्रण से, शूद्र श्रम उपलब्ध कराने-न-कराने से यह कार्य करे। ऐसे ही ब्रह्मचारी अध्ययन क्षेत्र में, गृहस्थ व्यवहार, दान, पौरोहित्यादि क्षेत्र में, वानप्रस्थ तप-क्षेत्र में और संन्यासी मोक्ष विद्या में यह करे। असुर-पराजय मुमुक्षु का पहला कार्य है। आध्यात्मिक असुरों को जीतना तो उससे भी पूर्व चाहिये, वह तो बल एकत्र करने की जगह है। उसके साथ ही अभयादिसंपत् भी चाहिये। जितनी-जितनी अन्तःसेना हो उतना-उतना बहिःसंग्राम भी करता चले, यह सोचकर न बैठा रहे कि संपूर्ण बल होगा तभी लड़ेंगे। कमज़ोर भी देवता कमज़ोर असुर का सामना तो कर ही सकता है। अतः भाष्यकार का अनुयायी साधनसंपत् के बाद ही नहीं बनता, मुमुक्षु होकर निष्कामकर्मानुष्ठान से ही उनका अनुयायी बन चुकता है। गूढार्थदीपिका के भूमिकाश्लोक इस संदर्भ में सारगर्भित हैं। इस अन्तर्बाह्य विजयप्रयाण में यदि यह भूल गये कि जीतने वाला ब्रह्म है, तो भटकना पड़ेगा; अपनी निर्वीर्यता का स्पष्ट प्रकाशन हो जायेगा। यह ज़रूर है कि सच्चे मुमुक्षु को यक्षदर्शन होकर भगवती हैमवती से ब्रह्मोपदेश भी मिलेगा पर एक अन्धकारमयी सुरंग से गुज़रना पड़ेगा। और यदि याद बनी रही तो उस कष्ट से बचकर प्रतिबोधविदितरूप से ब्रह्म-प्रकाश मिल जायेगा; जो वह मन का मन है, जो यह यक्ष है, जो जगदम्बा है, वही सब भेद हटाकर अपरिच्छिन्न रहेगा - 'ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदविभागिने। व्योमवद्व्याप्तदेहाय दक्षिणामूर्तये नमः ।।'

'ब्रह्म जीता' का तात्पर्य है कि भगवदिच्छा के कारण देवताओं की विजय हुई। उस परमेश्वर की वह प्रसिद्ध जीत थी जिसमें महिमा अग्न्यादि देवताओं को मिली। लोकस्थिति में यज्ञादि निमित्त हैं जिन्हे न करने और न होने देने वाले असुर हैं। वे जब पराजित हो गये तब देवता बढने लगे, संख्या और शक्ति में अधिक होने लगे, तथा पूजा पाने लगे।

जब हमारी जीत दीखे तब याद रखना चाहिये कि जीत शिव की है, कृपा से वे हमें कीर्ति दिला रहे हैं। जैसे पिता कार्य करता है पर किसी छोटे-से कार्य को पुत्र ने किया हो तो उसे निमित्त बनाकर कहता सबसे यही है कि 'इसी के कारण इस बार लाभ हुआ है।' ऐसे ही ईश्वर का हाल है।

'वृद्धिं पूजाम्' कहकर भाष्यकार ने व्यक्त किया कि जब पूजा — इज़्ज़त — मिले तभी लोग अधिकाधिक देव बनेंगे। इससे समाजव्यवस्था के लिए निर्देश मिलते हैं।

देवव्यामोहः

तदाऽऽत्मसंस्थस्य प्रत्यगात्मन ईश्वरस्य सर्वज्ञस्य, सर्वक्रियाफलसंयोजयितुः प्राणिनां, सर्वशक्तेः जगतः स्थितिं

चिकीर्षो: अयं जयो महिमा च—इत्यजानन्तस्ते देवा ऐक्षन्त ईक्षितवन्तः– अग्न्यादिस्वरूपपरिच्छिन्नात्मकृतः अस्माकमेवाऽयं विजयः, अस्माकमेवायं महिमा अग्निवाय्विन्द्रत्वलक्षणो जयफलभूतः अस्माभिरनुभूयते, नास्मत्प्रत्यगात्मभूतेश्वरकृत इति॥१॥

देवताओं का मोह

देवता वास्तविकता से अपरिचित रहे। जो विजय हुई थी और उससे जो महिमा मिली थी वह थी ब्रह्म की। ब्रह्म की सम्यक् स्थिति आत्मरूप से है, अनात्मा जुड़ते ही स्थिति असम्यक् हो जाती है। क्योंकि वे आत्मा हैं इसलिए प्रत्यक् हैं, 'यह' — इस तरह नहीं मिलते। उनका अखण्ड शासन स्वभावतः चलता है। ऐसा कौन और क्या हो सकता है जो उनकी जानकारी से बाहर हो? जिन्हे यह अभिमान—वहम—है कि 'प्राणों का—मन-इन्द्रिय-वायुवृत्ति आदि का — धारण हम किये हुए हैं अतः हम ही करने वाले और भोगने वाले हैं', ब्रह्म उनसे प्रेमवश उन्ही के स्तर पर आकर उनका वहम यथासंभव संगत बनाते हैं, वे क्रियायें करें और उन्हे फल से संबंध हो इसे व्यवस्थित करते हैं ताकि सभी क्रियाओं का जो वास्तविक फल है मोक्ष उसे प्राणी पा लें। 'विविदिषन्ति', 'सर्वे वेदा', 'सर्वापेक्षा' आदि से मोक्ष ही सर्व क्रियाओं का फल प्रमित है। अन्य कोई फल सर्वक्रियाओं का नहीं कहा है। शास्त्रनिरपेक्ष क्रियायें भी समझनी चाहिये 'यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलम्', 'यत्कर्माचरितं मया च भवतः प्रीत्यै भवत्येव तत्…तस्मान्मामकरक्षणम्'(शिवा.६६), 'सर्वकर्माण्यपि सदा' (१८.५६ गी.)। जो कोई शक्ति है वह माया का एक देश है अतः मायाशक्ति वाले से अन्य किसी की कुछ भी शक्ति हो नहीं सकती। जगत् जैसा रहना चाहिये वैसा रहे, अव्यवस्थित न हो, इसे वे ही चाहते हैं क्योंकि उन्ही का यह विलास है, क्रीडाङ्गण है। ब्रह्म से ख़ुद को अलग समझते हुए हम जो भी चाहेंगे वह जगत् की स्थिति के लिए नहीं, उसकी तो अव्यवस्थिति के लिए ही होगा, भले ही हमारी उस 'अलग' स्थिति को — आधुनिकों की 'अस्मिता' को, व्यक्तित्व को — बनाये रखने वाला हो। अतः विवेकियों ने 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' इस क्रम से अपना नारा घोषित किया था।

इन बातों को न जानते हुए देवताओं ने सोचा कि अग्नि आदि हमारे व्यष्टि-परिच्छेदों से, नाम-रूपात्मक क्षेत्रों से, सीमित आत्मा के कारण ही हमारी जीत हुई है अतः यह महिमा हमारी — परिच्छिन्नों की ही है। हम जो अग्नि, वायु, इन्द्रादि महत्त्वपूर्ण पदों पर प्रतिष्ठित हैं और विविध सुख भोग रहे हैं वह हमारे किये का ही फल है, हमने असुरों को—आसुर वृत्तियों को—जीता इसी का फल है कि हम अग्नि (=चित्), वायु (=आनंद), इन्द्र (=सत्) हो गये हैं। हम जो यह जय के फलरूप से मिली महिमा का अनुभव, सुखास्वादन कर रहे हैं वह कार्यकारणबद्ध ही है; हमारे भी जो प्रत्यग् रहता है उस व्यापक, निःसाक्ष्यसाक्षी, बाधावधि महेश्वर की निर्हेतुक कृपा से यह विजय हुई और महिमा मिली — यह जानकारी उन्हे न रही।

कारणकार्य की शृंखला से बँधा मोक्ष भी एक बंधन ही है। केवल शिव अपना शरीर उघाड़ते हैं 'विवृणुते तनूं स्वाम्', हम नहीं कुछ कर सकते कि उनका शरीर उघड़े। अगर हम वे हैं तब तो और भी स्पष्ट है। यदि हम वे नहीं, तब भी हम उन्ही की कृपा पर आश्रित हैं। लौकिक, पारलौकिक, अलौकिक — किसी भी स्तर पर अभिमान रहना देवत्व में न्यूनता है यह मंत्रार्थ है।।१।।

द्वितीयो मन्त्रः

उत्तराख्यायिकाप्रयोजनम्

'त ऐक्षन्त' इति मिथ्याप्रत्ययत्वाद् हेयत्वख्यापनार्थमाम्नायः। ईश्वरनिमित्ते विजये 'स्वसामर्थ्यनिमित्तोऽस्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमा' इत्यात्मनो जयादि, श्रेयोनिमित्तं सर्वात्मानमात्मस्थं सर्वकल्याणास्पदम् ईश्वरमेव आत्मत्वेन

अबुद्ध्वा, पिण्डमात्राभिमानाः सन्तो यं मिथ्याप्रत्ययं चक्रुः तस्य पिण्डमात्रविषयत्वेन मिथ्याप्रत्ययत्वात् सर्वात्मेश्वरयाथात्म्यावबोधेन हातव्यताख्यापनार्थं'तद्धैषाम्' इत्याद्याख्यायिकाऽऽम्नायः।

आगे की कथा का प्रयोजन

'उन देवताओं ने समझ लिया' और इससे आगे की कथा इसलिए सुनायी जा रही है कि अभिमान भ्रम है अतः यह छोड़ने के ही लायक है। विजय तो हुई थी ईश्वर के कारण लेकिन देवों ने अपनी श्रेष्ठता और उसमें निमित्त अपनी ही विजय मान ली। समस्त कल्याणों के निर्व्याज कारण, सभी के स्वरूप, प्रत्यग्रूप से स्थित, जिनसे हटकर कोई कल्याण कहीं नहीं रहता, उन ईश्वर को ही आत्मा उन्होंने समझा नहीं और केवल शरीर में अभिमान वाले बने रहे। ऐसे में उन्होंने जो ग़लत निश्चय किया वह क्योंकि सिर्फ शरीर को सर्वाधिक महत्त्व दे रहा था इसलिए असत्-निश्चय था। सब का आत्मा जो ईश्वर उसकी वास्तविकता की समझ से उसका बाध करना उचित है यह प्रकट करने के लिए 'तद्धैषाम्' आदि कथा चलेगी।

मन्त्रः

तद्धैषां विजज्ञौ। तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव। तन्न व्यजानत किमिदं यक्षमिति॥३.२॥

मन्त्रार्थ

ह=निश्चय ही तत्=उस ब्रह्म ने एषाम्=इन देवताओं के अभिमान को विजज्ञौ=समझ लिया। तेभ्यः=देवताओं के कल्याण के लिये ह=ही प्रादुर्बभूव=उनके संमुख प्रकट हुआ। देवता तत्=उसे न=नहीं व्यजानत=जान पाये इति=कि एतत्=यह यक्षम्=यक्ष किम्=क्या है।

परमात्मा सभी के हृदयों का साक्षी है अतः सबके मन की जान लेता है। जो उनकी ओर चलना ईमानदारी से चाहते हैं उनके मन के ग़लत निश्चयों को हटाने के लिए परमेश्वर भी मायाशक्ति से विविध प्रयास करते हैं। जो शिव की ओर जाना ही नहीं चाहते, उनके भी निश्चय तो शिव को पता वैसे ही हैं लेकिन क्योंकि थोपा हुआ सुधार भी अरुचिग्रस्त हो जाता है इसलिए वे उन कुनिश्चयों को हटाने में प्रवृत्त नहीं होते। सर्वशक्ति शिव कृपा से जीव को यह स्वातन्त्र्य देते हैं कि वह अपनी गति का मार्ग चुने। बुरे मार्ग में रुकावटें—दुःख—इसीलिए डालते हैं कि जीव उस मार्ग की ग़लती समझे और सही को चुने। फिर तो वे सहारा देते चलते हैं। यद्यपि सन्मार्ग में भी कष्ट कम नहीं आते तथापि वे उस मार्ग से विरत करने के लिये नहीं वरन् परिपक्वता लाने के लिए अनिवार्य होने से आते हैं। अन्तर कैसे पता चले? दुःख उभयत्र समान है; जहाँ असन्तोष भी साथ हो, अशांति भी हो, वहाँ मार्ग आलोचनीय है; जहाँ संतोष-शांति बनी रहे, वहाँ तितिक्षा वर्धनीय है। ईश्वरलीला देवानुग्रहार्थ होती है, चाहे देव पहले-पहल यह समझ न पायें। जब तक अभिमान दृढ है तब तक स्वयं भगवान् सामने हों तो भी हम उन्हे समझ नहीं सकते, भले ही उन्हे पूज्य स्वीकार लें। अतः भक्ति हो या ज्ञान, साधन के आरंभ में ही अभिमान शिथिल करना ज़रूरी है। जिसे हम पूज्य समझ भी रहे हैं, पूजा भी कर रहे हैं, उसे जब तक सही-सही समझें नहीं तब तक मोक्ष संभव नहीं। केवल पूज्य जानकर पूजा करना पर्याप्त नहीं, यद्यपि साधन बनता है उसे प्रसन्न कर उसे समझने का। प्रादुर्भूत तो वह ख़ुद ही होगा, इसमें हम या हमारी पूजा हेतु नहीं। हाँ, हमें देव तो होना ही पड़ेगा, 'आत्मानुशासनानुवर्ती' होना पड़ेगा, दैवी संपत् बटोरनी पड़ेगी, मुमुक्षु होना पड़ेगा। ईश्वरदर्शन अमोघ है अतः 'तदेवाविर्भवेत् साक्षादपेतोपाधिकल्मषम्' इस कल्पद्रुमाचार्य के कथनानुसार इन्द्रादि वास्तविक देव होगें ही। सगुणसाक्षात्कार के बाद भी मोक्ष तो निर्गुण साक्षात्कार से ही होगा, यक्ष के अन्तर्धान के बाद ही इंद्र को ब्रह्म समझ आयेगा। भक्ति का क्रियापक्ष—और भावनापक्ष क्योंकि उसमें भी समनस्कता चाहिये — सगुण तक है, तदनन्तर ज्ञान ही भक्ति है। ऐश्वर्यादि विशेषतायें सगुण तक ही हैं यही श्रौत सिद्धान्त है। पांचरात्रादि से प्रेरित कुछ लोग पुराणादि की

औपनिषद व्याख्या न करते हुए ऐश्वर्यादि को, और यहाँ तक कि दिव्य धाम आदि को, वास्तविकता का जामा पहनाकर दृश्यमिथ्यात्व की व्याप्ति व्यभिचरित करने का प्रयास करते हैं और विदेह कैवल्य में भी ईशत्वादि सामर्थ्यों का सद्भाव स्वीकारते हैं, किन्तु भगवत्पूज्यपादों का ऐसा कोई अभिप्राय नहीं यह याद रखना चाहिये। विषयवैराग्य को न्यून स्थान देने पर ही सविषयता का आग्रह संगत होता है, जब वैराग्य-उपरति को पूरी महत्ता दे दी तब ये सम्भावनायें स्वतः निरस्त हैं। इसी खंड के सप्तम वाक्य के अवतरणभाष्य की टीका में कहेंगे 'सगुणब्रह्मोपासनमैश्वर्य-फलमुक्तम्। तत्र विरक्तः उत्तमाधिकारी परमरहस्यं पृच्छति।'

श्रुत्यर्थः

एवं मिथ्याऽभिमानेक्षणवतां तद् ह किल, *तद् ब्रह्म ह किल* एषाम् *एषां देवानामभिप्रायं मिथ्याऽहङ्काररूपं* मिथ्येक्षणं विजज्ञौ विज्ञातवत्। *विजज्ञौ विज्ञातवद्* ब्रह्म। सर्वेक्षितृ हि तत्, सर्वभूतकरणप्रयोक्तृत्वात्।

वाक्यार्थ

जय और महिमा को अपना ही मान बैठना मिथ्या अभिमान है। ब्रह्म ने यह जाना कि देवताओं को यह ग़लत निश्चय — मिथ्या 'मैं जीता', 'मेरी महिमा' ऐसा आग्रह — हो गया है। सभी प्राणियों के मन आदि सब करणों के प्रयोक्ता होने से, करणों को सक्षम बनाने वाले होते हुए उपयोग में भी लाने से — 'मनसो मनः' होने के कारण — ब्रह्म सब का ईक्षिता है, जब तक सब हैं तब तक सब को देखने वाला है, 'अभिचाकशीति।' सब का उससे दीखना ही सब के प्रयुक्त रहने के लिए पर्याप्त है। वह देखता नहीं, करणादि भले ही उससे दीखे हुए बने रहते हैं।

यक्षस्य कृपा

देवानां च मिथ्याज्ञानमुपलभ्य, *ज्ञात्वा च,* 'मैव असुरवद् देवा मिथ्याऽभिमानात् पराभवेयुः' इति *मिथ्याऽभिमानशातनेन तदनुजिघृक्षया,* तदनुकम्पया, 'देवान् मिथ्याऽभिमानापनोदनेन अनुगृह्णीयाम्' इति तेभ्यः देवेभ्यः ह किल अर्थाय प्रादुर्बभूव। स्वयोगमाहात्म्यनिर्मितेन अत्यद्भुतेन विस्मापनीयेन रूपेण देवानामिन्द्रियगोचरे *देवेभ्योऽर्थाय तेषामेवेन्द्रियगोचरे, नातिदूरे* प्रादुर्बभूव प्रादुर्बभूव।

यक्ष की कृपा

देवों के इस अभिमान को देखकर, उनके देवत्व का विचार कर ब्रह्म ने सोचा कि देवता भी असुरों की तरह मिथ्या अहंकार से कहीं हारने वालों की ही जमात में न मिल जायें। इसलिए ब्रह्म ने देवताओं पर अनुग्रह करने का संकल्प किया कि 'इनका मिथ्या अभिमान हटा दूँ।' देवता कुछ-न-कुछ ईश्वरीय चेष्टाओं वाले थे ही अतः ईश्वर ने उन्हे यत्नशील देखकर कृपा की। हमारे कम्पों को निमित्त बनाकर ईश्वर अनुकम्पा कर देते हैं। इस तरह देवताओं के हित के लिए ब्रह्म आविर्भूत हुए। असंभव कार्यों की भी जिससे जुगाड़ हो जाती है उस अपनी शक्तिभूत त्रिगुणात्मिका माया के अनिर्वचनीय सामर्थ्य से उन्होंने एक अत्यन्त अद्भुत, चमत्कृत करने वाला रूप बनाया और क्योंकि देवताओं का प्रयोजन साधना था इसलिए जहाँ वे देख सकें ऐसे उनके निकटवर्ती स्थान पर ब्रह्म प्रकट हो गये।

यद्यपि ब्रह्म व्यवहारातीत हैं तथापि यावदज्ञान वे अज्ञानरूप माया का सहारा लेकर हमारे लिए नामरूपोपेत होकर व्यक्त हो जाते हैं। विस्मापकादि रूप चित्तद्रावक होकर उपकार करते हैं अतः चाहे घटादिरूप भी उसी तरह उनके हैं जैसे यक्षादिरूप फिर भी वे यक्षादि रूप ग्रहण कर लेते हैं। ब्रह्म जब देवों के रक्षणार्थ देवप्रार्थना के बिना अपनी ओर से कृपा करते हैं तब मोक्षार्थ ही करते हैं। प्रकट हुए वे देवों को 'ही' दीखे — 'तेषामेवेन्द्रियगोचरे' — अन्यों को नहीं जैसे श्रीकृष्ण

भक्तों को ही भगवान् दीखे, दुर्योधन आदि को नहीं। अतः आये हुए भगवान् को भी देख सकने के लिए हमें देव तो बनना ही पड़ेगा अन्यथा हाड़-माँस ही देखेगा।

देवाऽनवबोधः

महेश्वरशक्तिमायोपात्तेन अत्यन्ताद्भुतेन प्रादुर्भूतं किल केनचिद्रूपविशेषेण तत् तत् प्रादुर्भूतं ब्रह्म *किलोपलभमाना अपि देवा न व्यजानत,* न व्यजानत नैव विज्ञातवन्तः। देवा *न विज्ञातवन्तः* किमिदं किमिदं *यदेतद्* यक्षं यक्षं पूज्यम्; *पूज्यमिति महद्भूतम्* इति।।२।।

देवता जान नहीं पाये

महेश्वर की शक्तिभूत माया से उन्ही ने जो कोई अजीब रूप ग्रहण किया था उसे देखते हुए भी देवता यह न समझ पाये कि 'यह यक्ष क्या है।' वह महान् चेतनपिण्ड पूज्य है इतना तो उन्हे प्रतीत हुआ पर वह है कौन, उसके सामर्थ्यादि कितने हैं आदि कुछ वे नहीं जान पाये ।।२।।

तृतीयो मन्त्रः

मन्त्रः

तेऽग्निमब्रुवञ्जातवेद एतद्विजानीहि किमिदं यक्षमिति। तथेति॥३.३॥

मन्त्रार्थ

ते=वे सभी देवता अग्निम्=अग्निदेव से अब्रुवन्=बोले — 'जातवेद=हे जातवेद! एतद्=यह विजानीहि=पता लगाओ इति=कि इदम्=यह यक्षम्=यक्ष किम्=कौन है?' अग्निदेव ने कहा इति=कि 'तथा=ऐसा करता हूँ।'

यक्ष को देखकर उपस्थित सब देवता स्तब्ध रह गये। ख़ुद सोचकर समझ न पाये तो कुछ डर भी गये। जिसका स्वरूपादि समझा न जा सके और वह अभिभूत भी करे, ऐसी चीज़ से स्वभावतः डर लगा करता है। परमात्मा भी जब तक जाने नहीं जाते तब तक उनसे भी डर लगता है। 'तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य' (तै.२.७), 'अभये भयदर्शिनः' (मा.का.३.३९) आदि शास्त्र भी इसमें प्रमाण है और लोकानुभव भी है ही। जहाँ सहज या प्रेम से जिज्ञासा न हो सके वहाँ आश्चर्य या भय से भी जिज्ञासा उत्पन्न की जा सकती है। इसका प्रयोग व्यासजी ने पुराणों में बहुत किया है। भगवान् का ऐसा वर्णन मिलेगा, उनके अचिन्त्य सामर्थ्य को इस तरह बतायेंगे कि आश्चर्य और भय होगा। व्यासजी का अभिप्राय है कि कुछ लोग इन्हीं के कारण जिज्ञासु हो जायेंगे। अग्नि अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ, वायु — कर्मेन्द्रियाँ और इन्द्र—मन, ये सभी ब्रह्म को समझ नहीं पायेंगे पर जब तक ये सभी ब्रह्मज्ञान के लिए ही सचेष्ट न हो जायें तब तक ज्ञान भी हो नहीं पायेगा— यह कथा का तात्पर्य है।

देवा अग्निना ज्ञातुं येतिरे

तद्विज्ञानायाऽग्निमब्रुवन्— ते तदजानन्तो देवाः सान्तर्भयास्तद्विजिज्ञासवः अग्निम् अग्रगामिणं जातवेदसं सर्वज्ञकल्पम् अब्रुवन् उक्तवन्तः— 'हे जातवेदः! एतद् अस्मद्गोचरस्थं यक्षं विजानीहि विशेषतो बुध्यस्व, त्वं नस्तेजस्वी, किमेतद्यक्षम्' इति। 'तथा अस्तु' इति।।३।।

अग्नि द्वारा जानने का प्रयत्न

यक्षरूप ब्रह्म को न जानते हुए देवों को भीतर-ही-भीतर डर लगा लेकिन देव होने के कारण जिज्ञासु भी

हो गये अतः अग्निदेव को उसे जानने के लिए सबने कहा। अग्रणी होने से वे अग्नि कहे जाते हैं। जो कुछ भी उत्पन्न है सब को जानने से वे जातवेदस् भी कहलाते हैं। अज को तो नहीं जान पाये अतः सर्वज्ञ न सही, काफी हद तक सर्वज्ञ के करीब हैं। देवों ने उनसे कहा कि 'हम सभी को जो यह विचित्र पूज्य देहधारी दीख रहा है उसे पूरी तरह समझो, उसकी असाधारणता की जानकारी पाओ। हम सब में तुम तेजस्वी हो अतः तुम इस यक्ष की यथार्थता का पता लगाओ।' अग्निदेव ने जवाब दिया 'ऐसा ही करता हूँ'।

दैवी संपत् हो तो सात्त्विकता सहज होगी। अतः यक्ष देखकर भागना या उस पर हमला करना उपस्थित न हुआ, उसे जानने की इच्छा हुई। वह भी सामान्य कुतूहल नहीं, प्रेरक इच्छा थी अतएव अपने में जो बहुत समर्थ लगा उस अग्नि को ही यक्ष के निकट भेजा। पूज्यता-प्रतीति के बाद उस ओर जो कुछ भी भेजेंगे — चाहे वह अपनी श्रोत्रेन्द्रिय हो या मन, सुनना हो या सोचना — वह अपनी समझ से श्रेष्ठ ही भेजेंगे, यह भाव है। अतः बेध्याने हो अनिश्चित प्रमाणता वाले ग्रंथादि के आधार पर या कुतर्कों के सहारे ब्रह्मचिन्तन वह नहीं कर सकता जो उसे यक्ष समझता है। अतएव मीमांसा को 'पूज्या विचारणा' कहा है। 'ते' से बताया कि हम में — व्यावहारिक अहम् में — जो कोई भी अंग हैं वे सभी इसके लिए सहमत चाहिये कि हम ब्रह्मजिज्ञासा करें। विषयाभिलाषादि से इंद्रियादि अन्यत्र आकृष्ट करें तो परमात्मा को जानने की कोशिश हो नहीं पाती। अतएव वैराग्य और शमादि के अनंतर मुमुक्षा कही जाती है। 'अब्रुवन्' अर्थात् केवल इतना नहीं कि बाकी इंद्रियादि जिज्ञासा कार्य में प्रतिरोधी नहीं हैं वरन् उनमें भी यह भाव होना चाहिये कि परमेश्वर का पता चले। यद्यपि आँखादि से वह नहीं दीखना तथापि शिवानुभूति के बाद जब तक आँखादि हैं तब तक उनसे भी शिवानुभूति होगी ही। अभी भले ही वे नाम-रूप पर रुक जाती हैं लेकिन वे नाम-रूप को दिखलाकर उनसे छिपे सच्चिदानंद की भी झलक देती हैं। यही जीवन्मुक्ति का सुखविशेष है। जैसे क़ीमत आँख से नहीं दीखती पर जो क़ीमत समझ चुका वह जब वस्तु देखता है तब आँख भी उसे कीमत दिखा ही देती है और बहुत अभ्यासी तो आँख से ही कीमत आँक भी लेता है। प्रेम भी आँखों से दीख सकता तो नहीं, मगर दीख जाता तो है। ऐसे ही भले ही शिव आँखादि से न दीखें पर दीखेंगे तो सही। इसलिए आँखादि को भी यह इच्छा संभव है कि पहले पता तो सही चल जाये फिर हम भी देख लेंगे। जीवन्मुक्ति का आदर्श सामने न रखने पर यह संभव नहीं।

अग्नि प्रकाश होने से अग्रणी हैं, उनके बिना सर्वत्र अँधेरा है। देवों के वे मुख हैं अतः भी अग्रणी हैं। कर्मों में पहले वे चाहिये इससे भी अग्रणी हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ अग्रगामी हैं; शरीर जाये इससे पूर्व वे जाती हैं। श्रवण अर्थात् परमात्मसाक्षात्कार के लिए क्या चाहिये इसे सुनना-समझना, प्रवर्तकश्रवण, पहले ज़रूरी है। इसके बाद समझे हुए कार्य किये जायें यह ज़रूरी है। उनसे अनुकूल संस्कार एकत्र कर लिये जायें, मानस तैयारी ही हो यह तदनंतर अपेक्षित है। इन तीनों के बाद वास्तविक उपदेश होगा जो तत्त्वज्ञान देगा। श्रवण में सब इंद्रियाँ साक्षात् भले ही न काम आयें पर परंपरा से तो काम आयेंगी ही। अग्नि व्यक्त को विषय करते हैं। इंद्रियाँ भी वाच्यपर्यन्त गति रखेंगी लेकिन लक्ष्य तक पहुँचने के लिए वाच्य पर पहुँचना तो अनिवार्य है। जब तक परमेश्वर के बारे में सब व्यक्त बातें समझ न ली जायें तब तक उनका व्यक्तातीत स्वरूप जानने की आशा व्यर्थ है। यह मतलब नहीं कि सब विशेषों की जानकारी चाहिये, वह तो असंभव है; तात्पर्य है कि परमार्थोपयोगी जो व्यक्त बातें उपनिषदें कहती हैं उन्हे समझना ज़रूरी है। अवांतर वाक्यों के विचारजन्य बोध के बिना महावाक्य का अर्थबोध नहीं होता।

विज्ञान अथात् विशेषतः जानने की ज़रूरत है। जिस और जैसी जानकारी परमात्मसम्बधी अज्ञान-संशय-भ्रम सर्वथा हटाये वह विज्ञान यहाँ प्रार्थित है। भाष्यकार ने यहाँ कहा कि तेजस्वी होने से देवों ने अग्नि से ही पहले प्रार्थना की। जो परमात्मज्ञान के योग्य हो वही तेजस्वी है। अग्नि-वायु-इंद्र को देवता तेजस्वी समझ रहे थे पर वे थे नहीं, ज़रूरी तेज उनमें था नहीं अतः वे ब्रह्म को जान नहीं पाये। उनमें वीर्य नहीं था — 'त्वयि किं वीर्यम्।' इन्द्र ने ध्यान से वह तेज पाया तब उमा ने उपदेश भी दे दिया। अतः योग्यतारूप तेज पाने की कोशिश कर्त्तव्य है।।३।।

चतुर्थो मन्त्रः

मन्त्रः

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत् कोऽसीत्यग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ॥३.४॥

मन्त्रार्थ

तद्=उस यक्ष के पास **अभ्यद्रवत्**=अग्नि पहुँचा। **तम्**=उससे **अभ्यवदत्**=यक्ष ने पूछा **इति**=कि '**कः**=तुम कौन **असि**=हो?' **अब्रवीत्**=अग्नि बोला **इति**=कि '**अहम्**=मैं **वै**=अवश्य ही **अग्निः**=अग्नि **अस्मि**=हूँ।' **इति**=उसने यह भी जोड़ा कि '**अहम्**=मैं **जातवेदा**=जातवेदा नाम से **वै**=प्रसिद्ध **अस्मि**=हूँ।'

'अभ्यद्रवत्' अर्थात् इस अभिमान से गया कि 'मैं ज़रूर पता लगा सकता हूँ।' जब तक हम पूरा ज़ोर लगाकर न देख लें कि ज्ञानादि-इन्द्रियादि से परमात्मा समझा नहीं जा सकता तब तक हमारा गर्व न मिट पाने के कारण श्रुति की बात स्वीकार नहीं पाते। अतः अभिद्रुति-पूर्वक सर्वजव से भी अशक्त होने पर ही उपदेशग्रह संभव है।

जब हम परमात्मसम्बन्ध में इंद्रियाँ प्रयोग में लाते हैं तब हम तो उसे नहीं पूछ पाते, वही हम से पूछता है, 'तुम हो कौन?' अन्तर्यामी की ओर से ही यह प्रश्न उठता है, हम उससे नहीं पूछ पाते क्योंकि प्रश्न करने के लिए जो न्यूनतम जानकारी या सामर्थ्य चाहिये वही बटोर नहीं पाते। यद्यपि हमें है तो अभिमान कि 'हम जान लेंगे', तथापि 'किसे?' यह इतना अस्पष्ट है कि वही जब तक कुछ न कहे तब तक हमें खोजने का स्थल भी नहीं दीखता। जैसे बहुत अच्छी तरह छिपे बच्चे को दूसरा बच्चा ढूँढता है तो यही नहीं समझ पाता 'कहाँ ढूँढूँ?' छिपा वाला ही अगर कुछ कहे या हलचल करे तभी इसे समझ आता है। ऐसे ही 'निहितं गुहायाम्' — बुद्धि-गुफा में छिपा परमेश्वर ही पहल करे तो हम उधर उन्मुख हो सकते हैं। जब वे पूछें 'तुम हो कौन?' तब हमारे मन में उठेगा 'मैं हूँ कौन?' इसके बाद ही गति संभव है। इसके लिए अभिद्रवण हमें ही करना होगा, यही रहस्य है।

प्रारंभ में हम अपने नाम-रूप को ही 'मैं' समझते हैं। 'अग्नि' यह नाम है और 'जातवेदा' यह रूप बताता है क्योंकि इससे सर्वज्ञत्व द्योतित है जिसे अग्निदेव अपना निरूपण करने वाला समझते हैं। अथवा 'अग्नि' से क्रिया शक्ति और 'जातवेदा' से ज्ञानशक्ति का उल्लेख है। या 'अग्नि' स्थूल शरीर को एवं 'जातवेदा' सूक्ष्मशरीर को कहता है। सर्वथापि अपनी वास्तविकता के निर्धारण का प्रारंभ अपनी उपाधियों के विचार से ही प्रारंभ होता है। इस विचार के बिना हम ख़ुद को इनसे विविक्त नहीं कर सकते। 'वै' 'वै' से कहा कि प्रारंभ प्रसिद्ध स्थिति से करना है न कि पारिभाषिक कल्पनाओं से। स्वानुभूति से यदि शुरु न किया तो वस्तुतः साधनारंभ ही नहीं हुआ। 'मैं अकर्ता-अभोक्ता' से अगर प्रारंभ किया तो अवश्य कर्ता-भोक्ता तक पहुँचेंगे! जहाँ से चले और जहाँ पहुँचे दोनों में अंतर तो होना ही चाहिये। 'बँधे हैं' से चलेंगे तो 'छूटे हैं' तक पहुँचेंगे। 'छूटे हैं' से चले तो कहाँ पहुँचेंगे? 'बँधे हैं!' ठीक है कि वास्तविकता वह नहीं जो प्रसिद्ध है लेकिन 'हम कहाँ हैं?' — इतना ही ज़रूरी है। वास्तविकता का निश्चय तो प्रेरणा के लिए चाहिये, उसे मानकर नहीं चला जा सकता।

अग्निपरीक्षारम्भः

तद् यक्षं अभ्यद्रवत् तत् प्रति गतवानग्निः। तं च गतवन्तं पिपृच्छिषुं तत्समीपेऽप्रगल्भत्वात् तूष्णींभूतं तद्यक्षम् अभ्यवदद् अग्निं प्रति अभाषत— 'कोऽसि' इति। एवं ब्रह्मणा पृष्टोऽग्निरब्रवीद्— 'अग्निर्वा' अग्निनामा अहं प्रसिद्धो जातवेदा।' इति च नामद्वयेन प्रसिद्धतयाऽऽत्मानं श्लाघयन्निति।।४।।

अग्नि की परीक्षा का आरंभ

अग्नि उस यक्ष की ओर गया। चाहता तो था वह यक्ष से उसके बारे में पूछना पर यक्ष के निकट पहुँचकर हिम्मत खो बैठा और चुप-चाप खड़ा रहा। तब यक्ष ने ही उससे पूछा 'तुम कौन हो?' इससे कुछ साहस पाकर वह देवप्रतिनिधि बोला 'मैं अग्नि' नाम से प्रसिद्ध हूँ और मुझे जातवेदा समझा जाता है।' यों दो नाम बताकर वह अपनी प्रशंसा ख़ुद ही कर रहा था।

'मैं कौन हूँ?' का विवेक करने में प्रवृत्त न होने में मुख्य कारण है कि हम स्वयं अपनी बड़ाई करते-समझते रहते हैं। सब पूर्वज मर गये, दुनिया चली जा रही है पर हम भीतर से इस बात में दृढ निश्चय वाले हैं कि 'मेरे किये बिना यह काम ऐसा तो नहीं ही हो सकता। मैंने भोगा नहीं तो मेरा असंतोष नहीं ही हट सकता।' अपने कर्तृत्व-भोक्तृत्व को स्वयं पुनरावृत्त करते रहना ही आत्मश्लाघा है। कदाचित् लगे भी कि वास्तव में कर्तृतादि मेरे नहीं, तो भी इस श्लाघा से — उनको मूल्यवान् समझकर पुनः पुनः अपने में समझते रहने से — आहित संस्कार उस लगने को इस योग्य नहीं बनने देते कि हम विवेक करें। अतएव तेज़ धक्का चाहिये जिससे हमारा अभिमान हिल जाये।

ब्रह्मप्रश्न का उत्तर देना ज़रूरी है। अंतर्यामी के प्रश्न की उपेक्षा कर दी तो काम नहीं होगा अतः 'अब्रवीत्' कहा। 'नामद्वयेन' का तात्पर्य है कि हम अपने बारे में जो कुछ समझते हैं उस सब को उपस्थित करना चाहिये, तभी विवेक से उस सब की परीक्षा होगी।।४।।

पञ्चमो मन्त्रः

मन्त्रः

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदꣳ सर्वं दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति ।।३.५।।

मंत्रार्थ

यक्ष ने पूछा इति=कि '**तस्मिन्**=यों प्रसिद्ध नामादि वाले **त्वयि**=तुम में **किम्**=क्या **वीर्यम्**=सामर्थ्य है?' उसने जवाब दिया **इति**=कि — '**अपि**=ये संभव है कि **पृथिव्याम्**=पृथ्वी पर **यद्**=जो **इदम्**=यह सूखी-गीली चीज़ें हैं, **इदम्**=इन **सर्वम्**=सब को **दहेयम्**=जला डालूँ!'

शंकरानंदजी कहते हैं कि यक्ष ने तो कहा था कि 'चाहे तुम अपनी प्रसिद्धि जतलाओ, तुम में सामर्थ्य कुछ नहीं है।' किम्-शब्द आक्षेपार्थक है जैसे 'क्या यही इनसानियत है?' में 'क्या' का मतलब है कि यह इनसानियत नहीं है। लेकिन अग्नि ने गर्ववश उसे प्रश्न मानकर अपनी सामर्थ्य बखार दी। कहना तो था कि 'सभी जगह की चीज़ें जला सकता हूँ' पर यक्ष के सामने वाग्मिता तो प्रतिबद्ध थी अतः 'पृथिव्याम्' ही बोल सका।

विचार हो सके तो अपने सविकल्परूप की तुच्छता का, अशक्तता का करना चाहिये पर यदि उतना साहस या वैराग्य न हो तो 'किम्' को प्रश्न मानकर विवेक प्रारंभ करना चाहिये। प्रथम में श्रद्धा-भक्ति की अधिकता चाहिये, द्वितीय उसकी कमी में भी संभव होता है। 'इदम्' से कहा कि हमारी शक्ति का क्षेत्र युष्मत्प्रत्ययगोचर ही है, अस्मत्प्रत्ययगोचर नहीं। सब को जलाने वाला अग्नि ख़ुद को कहाँ जला पाता है? इसीलिए यक्ष ने आक्षेप किया था कि 'यह भी कोई वीर्य हुआ जो दूसरों पर ही कारगर हो, ख़ुद के लिये बेकार हो!' जो सामर्थ्य केवल अन्यों को विषय करे, हमें न विषय करे, वह व्यर्थ है। यदि हम सब से सच बुलवा सकें, किसी को चोरी न करने दें, लेकिन खुद को न झूठ बोलने से और न चोरी करने से रोक पायें तो हम असमर्थ ही हैं, निर्वीर्य ही हैं। जैसे जो गौणात्माओं पर नियंत्रण न रख पाये और बाह्य

लोगों पर शासन चलाये वह लोक में भी निंदा पाता है वैसे ही जो मिथ्यात्माओं पर नियंत्रण दृढ किये बिना कहीं भी संयम रखवाता है, वह निन्द्य है।

वीर्यप्रश्नेऽग्नेर्गर्वोक्तिः

एवमुक्तवन्तं ब्रह्मावोचत्— तस्मिन् एवं प्रसिद्धगुणनामवति त्वयि किं वीर्यम् सामर्थ्यम् ?' इति। सोऽब्रवीद् 'इदं जगत् सर्वं दहेयं भस्मीकुर्यां यदिदं स्थावरादि पृथिव्याम्' इति। 'पृथिव्याम्' इत्युपलक्षणार्थं, यतोऽन्तरिक्षस्थमपि दह्यत एवाग्निना।।५।।

सामर्थ्य का प्रश्न : अग्नि की गर्वोक्ति

अग्नि ने यों कहा तो यक्षरूपधारी परमेश्वर बोले, 'यों प्रसिद्ध गुण और नाम वाले तुम्हारा क्या सामर्थ्य है?' अग्नि ने कहा, 'मैं इस सारे जगत् को भस्मसात् कर सकता हूँ। पृथ्वी पर चराचर जो है सब जला सकता हूँ।' 'पृथ्वी' से अंतरिक्षादि भी समझने चाहिये क्योंकि अग्नि तो वहाँ भी जला ही डालता है।

पृथ्वी से समझना चाहिये स्थूल वस्तुओं को जिन्हे साधारण प्रयत्न से इंद्रियाँ विषय करती हैं। उपलक्षणा से वे सब चीज़ें समझ लेनी चाहिये जिन्हे विशेष प्रयत्नों से, सहायताओं से, उपकरणों से इन्द्रियाँ विषय करती हैं। ये सहायतायें चाहे तपआदि हों या यन्त्रादि, अन्ततः विषय तो इंद्रियाँ करती हैं। अतः चाहे जिस सहकारी को बटोर लें, इंद्रिय से तो 'इदम्' ही दीखेगा, 'अहम्' नहीं यह भाव है।।५।।

षष्ठो मन्त्रः

मन्त्रः

तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति। तदुपप्रेयाय सर्वजवेन, तन्न शशाक दग्धुं, स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति।।३.६।।

मन्त्रार्थ

यक्ष ने **तस्मै**=अग्नि के सामने **तृणम्**=एक तिनका **निदधौ**=रख दिया **इति**=और कहा कि **'एतत्**=इसे **दह**=जलाओ।' अग्नि **सर्वजवेन**=पूरे वेग से **तत्**=तिनके की ओर **उपप्रेयाय**=गया, लेकिन **तत्**=उसे **दग्धुम्**= जला **न**=नहीं **शशाक**=सका। **सः**=वह **ततः**=यक्ष के सामने लज्जित होने से **एव**=ही **निववृते**=लौट आया और देवताओं से **इति**=यों बोला **'यत्**=जो **एतत्**=यह **यक्षम्**=यक्ष है **एतत्**=इसे **विज्ञातुम्**=जान **न**=नहीं **अशकम्**=पाया।'

भगवान् बहुत बार काफी छोटे कार्यों में हमें पूर्ण अक्षम बनाते रहते हैं ताकि हमारा अभिमान शिथिल हो पर जब तक हम देव नहीं बनेंगे तब तक हमारी स्फुट असफलतायें भी हमें विनयी नहीं बना सकती। एक तिनका न जला पाने से ही अग्नि ने हार मान ली; हम न जाने कितनी बार तिनके-से कार्यों में असमर्थ होकर भी हार स्वीकारने को तैयार नहीं, खिसियाने वाले खिलाड़ी की तरह हार की ज़िम्मेदारी अन्यत्र ही ठहराते रहते हैं! देव को कोई बहुत बड़ी चुनौती का सामना करना पड़े तभी वह आत्मालोचन करे, ऐसा नहीं; वह तो स्थालीपुलाकन्याय से ही अपना बल आँक लेता है, शांतदर्प हो जाता है, आगे के प्रयास के लिए किसी अन्य सक्षम का अनुमोदक बन जाता है। आत्मविचार से आत्मा नीरूपादि समझ आते ही ज्ञानेन्द्रियों को निश्चय कर लेना चाहिये कि इस विषय में वे कोशिश न करें, श्रौतार्थ का विरोध करने का भी प्रयास न करें।

'ततः' का अर्थ है 'यक्ष के पास से।' शंकरानंदजी ने अर्थ किया है 'सूखा तिनका न जला पाने के कारण'

लज्जित हुआ तुरंत लौट आया। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि 'यत्' का मतलब है सामान्यतः प्रसिद्ध और 'तदेतत्' से कहा कि विशेषतः नहीं जान पाया।

तृणनिधानप्रयोजनम्

तस्मै एवमभिमानवते ब्रह्म तृणं निदधौ पुरोऽग्नेः स्थापितवद् ब्रह्म। *तृणनिधानेऽयमभिप्रायः— अत्यन्तसम्भावितयोः अग्निमारुतयोः तृणदहनादानाशक्तयाऽऽत्मसम्भावना शातिता भवेद्—इति।*

तिनका रखने का प्रयोजन

पूर्वोक्त ढंग से जिसने अपना अहंकार व्यक्त किया उस अग्नि के संमुख ब्रह्म ने एक तिनका स्थापित किया। इसमें ब्रह्म का अभिप्राय था कि ख़ुद को बहुत बड़ा मानने वाले अग्नि और वायु जब एक छोटे-से तिनके को भी जला-उड़ा नहीं पायेंगे। तो इनका अभिमान समाप्त हो जायेगा।

अग्निरनुत्तीर्णः

'एतत् तृणमात्रं ममाग्रतो दह, न चेदस्य [°दसि°?] दग्धुं समर्थः, मुञ्च दग्धृत्वाभिमानं सर्वत्र' इत्युक्तः तत् तृणम् उपप्रेयाय तृणसमीपं गतवान् सर्वजवेन सर्वोत्साहकृतेन वेगेन। गत्वा न शशाक नाशकद् दग्धुम्।

अग्नि अनुत्तीर्ण रहे

तिनका रखकर मानो ब्रह्म ने यह कहा- 'यह एक छोटा-सा तिनका ही है, मेरे सामने इसे जलाओ। अगर जला न सको तो कुछ भी जला पाने का अभिमान छोड़ दो।' अतः पूरे उत्साह से अग्नि उसे जलाने गया पर जला न सका।

'मुञ्च अभिमानं सर्वत्र' यह स्मर्तव्य है। हम एकत्र असामर्थ्य देखकर भी अन्यत्र अभिमान नहीं छोड़ते अतः शास्त्रश्राद्ध बन नहीं पाते, ख़ुद की समझ को शास्त्रोपदेश से ज्यादा कीमत देकर संशयालु बने रह जाते हैं। परमात्मा तो रोज़ बहुतेरे स्थल हमें देते हैं जिनसे हम सर्वत्र निरभिमान बन सकें, यही उनकी करुणा है।

'चेदसि' प्राध्यापक हिरियन्ना का पाठ है जो रुचिकर लगता है।

प्रत्यावृतोऽग्निः

स जातवेदास्तृणं दग्धुमशक्तो व्रीडितो हतप्रतिज्ञः तत एव यक्षादेव तूष्णीं देवान् प्रति निववृते निवृत्तः प्रतिगतवान्, न एतद् यक्षम् अशकं शक्तवानहं विज्ञातुं विशेषतः यदेतद्यक्षमिति।।६।।

अग्निदेव लौट आये

तिनका भी न जला पाने से जातवेदा लज्जित हो गये। प्रतिज्ञा तो की थी 'मैं पता लगाकर आता हूँ' पर बिना प्रतिज्ञा पूरी किये चुपचाप उस यक्ष के पास से देवसभा में लौट आये। आकर देवताओं को, बता दिया 'मैं कुछ ख़ास बात इस यक्ष के बारे में नहीं जान पाया'।।६।।

सप्तमादिदशमान्तमन्त्राः

मन्त्राः

अथ वायुमब्रुवन् वायवेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति। तथेति।।३.७।।

तदभ्यद्रवत् तमभ्यवदत् कोऽसीति। वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति ॥३.८॥

तस्मिꣳस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदꣳसर्वमाददीय यदिदं पृथिव्यामिति ॥३.९॥

तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति। तदुपप्रेयाय सर्वजवेन, तन्न शशाकादातुं, स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ॥३.१०॥

मंत्रों का शब्दार्थ

अथ=फिर देवताओं ने **वायुम्**=वायु से **अब्रुवन्**=कहा — **वायो**='हे वायुदेव! **एतत्**=यह **विजानीहि**=पता लगाओ **इति**=कि **एतत्**=यह **यक्षम्**=यक्ष **किम्**=क्या है।' **इति**=वायु ने कहा कि '**तथा**=ऐसा ही करता हूँ।'

वायु **तत्**=उसकी ओर **अभ्यद्रवत्**=गया। ब्रह्म ने **तम्**=वायु से **अभ्यवदत्**=पूछा **इति**=कि '**कः**=कौन **असि**=हो?' वायु ने **इति**=यह **अब्रवीत्**=जवाब दिया **इति**=कि '**अहम्**=मैं **वायुः**=वायु **वै**=ही **अस्मि**=हूँ, **मातरिश्वा**=मातरिश्वा नाम से **अहम्**=मैं **वै**=प्रसिद्ध **अस्मि**=हूँ।'

यक्ष ने प्रश्न किया **इति**=कि '**तस्मिन्**=इन नामों वाले **त्वयि**=तुम्हारा **वीर्यम्**=सामर्थ्य **किम्**=क्या है?' वायु बोला **इति**=कि '**अपि**=यह सम्भव है कि **पृथिव्याम्**=पृथ्वी पर **यद्**=जो **इदम्**=ये हल्की-भारी चीज़ें हैं **इदम्**=इन **सर्वम्**=सब को **आददीय**=लेकर उड़ जाऊँ।'

यक्ष ने **तस्मै**=वायु के सामने **तृणम्**=एक तिनका **निदधौ**=रखा **इति**=और कहा कि '**एतत्**=इसे **आदत्स्व**=लेकर उड़ो।' वायु **तत्**=तिनके की ओर **सर्वजवेन**=पूरे ज़ोर से **उपप्रेयाय**=गया, लेकिन **तत्**=उसे **आदातुम्**=लेकर उड़ **न**=न **शशाक**=सका। **सः**=वह **ततः**=लज्जा के कारण **एव**=ही **निववृते**=लौट आया **इति**=और बोला कि '**यत्**=जो **एतत्**=यह **यक्षम्**=यक्ष है **एतत्**=इसे **विज्ञातुम्**=समझ **न**=नहीं **अशकम्**=सका।'

अग्नि के हाल का पुनरावर्तन वायु के साथ भी हुआ। न केवल ज्ञानशक्ति वरन् क्रियाशक्ति भी परमेश्वर को समझने में पर्याप्त नहीं है। कर्म चाहे बाह्य हो या आभ्यंतर, स्वयं इस योग्य नहीं कि आत्मलाभ करा सके। लेकिन ज़रूरी यह भी है कि हमारा यह अभिमान नष्ट हो कि हम कुछ करके उसे पा सकते हैं अन्यथा श्रुति का बताया रास्ता जँचता नहीं और कर्मसंन्यास होता नहीं। बाहर से संन्यास करके भी कर्मकाण्ड बटोरे रखते हैं।

वायु बहता है लेकिन अपने साथ बहुत कुछ बहा ले जाता है, अगर स्थूल चीज़े नहीं ले जा पाता तो कम-से-कम उनकी गंध तो ले जाता है ही। इसीलिए 'गति-गन्धनयोः' अर्थक वा-धातु से उसके नाम का निर्माण है। कर्म भी ख़ुद गतिशील है और ऐसा माहौल बनाता है कि आसपास वालों को भी सचेष्ट बनाता है। इतना न कर पाये तो भी सब में अपने प्रति और फल के — अपनी फलहेतुता के — प्रति आदर तो पैदा कर ही देता है। न कर सकने वाला करने वाले को बेहतर मानने लगता है, करके मिलता है — यह निश्चय प्रायः हम सभी को रहता है।

यक्ष — जो वास्तव में पूज्य परमशिव हैं — कर्म की इस बलिष्ठता को तुच्छ कह रहे हैं 'यदि सब लेकर उड़ भी गये तो इसमें तुम्हारा क्या वीर्य है?' वायु भले ही बहे, रुकना उसे पड़ता ही है, जो बटोर कर लाया, वह सब धीरे-धीरे ज़मीन पर ही आ टिकता है। ऐसे ही कर्म ख़ुद और उसका फल दोनों अनित्य हैं, अतः दुःख ही दे सकते हैं। जो जितना ज़्यादा सुख दे सकता है वह उतना ही ज़्यादा दुःख भी दे सकता है। प्रियजन जितना सुखी करते हैं, उनके मनोभाव बदलने पर, आचार-व्यवहार में परिवर्तन आने पर, या उनका वियोग हो जाने पर हमें दुःख भी उतना ही अधिक होता है। जिन पर स्नेह नहीं, उनके प्रातिकूल्यादि से कष्ट भी बहुत कम ही होता है, चाहे उनसे सुख भी अधिक न होता हो।

अतः अगर स्वर्गादिप्रद होने से कर्म—सत्कर्म ही—प्रशंसनीय है तो वह निंदनीय भी है क्योंकि क्षीण होने पर पीडा भी अधिक ही देगा। मज़दूर को नौकरी न मिले तो परेशान होकर इधर-उधर भटक कर दूसरा काम लेता है, गुज़ारा चलाता है। अरबपति दिवालिया हो तो आत्महत्या की सोचता है! गन्धन का एक अर्थ हिंसा भी है, अतः वायु की तरह कर्म भी हिंसक है, हमें दुःख देने को प्रवृत्त है, चाहे बलि के बकरे की सेवा की तरह हमें प्रारंभ में फल देकर फुला दे। यक्ष कई बार कर्म का यह घिनौना रूप भी हमें दिखाते रहते हैं, यहीं हमें पता चलता रहता है कि हमने अमुक काम किया था मज़े के लिये और उसी का नतीज़ा हुआ कि हम जेल में या अस्पताल में पड़े सड़ रहे हैं। कर्तव्य बोलकर जिनके पालन-पोषण में शरीर-मन व्यस्त रखा वे ही सारे कष्टों का पुंज बने खड़े हैं। न वे सहारा दे रहे हैं और शरीर-मन तो इस लायक बनाये ही नहीं थे कि सहारा दे सकें। लेकिन यक्षकृपा भी हम हृदयहीनों के लिए व्यर्थ जाती है, फिर भी कर्म का सहारा छूटता नहीं। मेहनत से कमाया धन भाइयों में, बाप-बेटों में झगड़ा करा रहा है; दोनों को कष्ट है पर यह नहीं मन में आता कि जो धन कष्टहेतु, द्वेषहेतु, बना है उसे छोड़ दें, कम-से-कम आगे तो कष्ट, द्वेषादि नहीं करेगा। ख़ून-ख़राबी करके भी धन हथियाते हैं, कुछ दिनों में अपने घर में भी वैसा ही विद्वेष खड़ा हो जाता है। फिर वही पुनरावृत्ति होती है। अतः कहा 'किं वीर्यम्?'

'तृणं निदधौ।' यक्षदेव कहते हैं 'अरे! एक तिनका उड़ा सको इतनी भी तुम्हारी कीमत कहाँ! तुम पृथ्वी पर पड़े सब को उड़ाने को बहुत बड़ी बात समझ रहे हो पर वह सब कुछ वास्तव में एक छोटे से तिनके जितना है, इतनी ही तुम्हारी कीमत है; वह भी तब जब इसे उड़ा सको।' कर्मकाण्डी प्रतिज्ञा करेगा अनंत स्वर्ग की पर कर्मफलभूत स्वर्ग तृणतुल्य ही है। धर्म की सारी महत्ता शून्यप्राय रह जाती है जब हम उसको अध्यात्म से अलग कर देते हैं। हमारे गुरुचरण तो ऐसे निष्प्राण धर्म को 'जादू-टोना' कहते हैं जो सिर्फ़ कार्यकारणों में बँधा हो। केवल परमेश्वर सम्बन्धी धर्म ही मूल्यवान् है; वह संबंध चाहे प्रारंभ में वैध हो, फिर प्रेम हो और आख़िर तो अभेद ही होगा। यदि हम उससे परमेश्वर की ओर बढ़ें तब तो धर्म में वीर्य है, वह ज्ञानपुत्र पैदा कर नरक से बचने में हेतु है, लेकिन यदि हम यक्ष से पृथक् ही हैं तो चाहे मातरिश्वा हो जायें — अन्तरिक्षचारी हो जायें, यंत्र-तंत्र-मंत्रों से या गन्धर्व-किन्नर-देवतादि योनियाँ पाकर आकाश में घूमते रहें — वीर्य तो नहीं ही है, नपुंसक ही रह जायेंगे, मौके पर एक तिनका भी उड़ा नहीं सकते। लोक-परलोक के सभी कर्मों से परमेश्वराराधन करें — जैसा भगवद्गीतादि में स्पष्ट है — तब वह धर्म वास्तव में सफल होगा, सार्थक होगा। भगवान् शंकराचार्य अतएव 'विविदिषन्ति' श्रुति पर अत्यधिक बल देते हैं और उनकी परंपरा के सब आचार्य श्रौत-स्मार्त कर्मों को बहुत अधिक आदर देते हैं। धर्म को तत्त्वज्ञान से जोड़े रखना, यह औपनिषद परम्परा है जिसमें धर्म 'लोकायतीकृत' नहीं हो सकता। यदि धर्म को केवल अवश्यकर्तव्य माना या लोक-परलोक में विविध फल देने वाला भी मान लिया, तो रहेगा वह सर्वथा सांसारिक ही, लोकायतक्षेत्र का ही। भले ही दृष्ट की जगह अदृष्ट को भी कुछ स्थान मिले, पर निर्भर करेगा वह अपनी उपयोगिता पर ही। अतः चित्रायाग आज आकृष्ट नहीं करता और हवाई-जहाज दिलाने वाला कर्म विहित है नहीं तो काम्यप्रयोगों को अंजलि देनी ही पड़ेगी। पुत्रेष्टि में इतना श्रमादि करें फिर भी फल किसी सूक्ष्मापराध से या अन्य प्रतिबंध से न मिले यह सुसंभव है तो कम श्रमादि से दृष्ट वैज्ञानिक उपायों से ही कोशिश करना सुसंगत है! अतः वस्तुतः वीर्य तो धर्म में तब आये जब वह युवा बने — सांसारिकता से बिछुड़े और परमात्मा से मिले; 'यु मिश्रणेऽमिश्रणे च' धातु है जिससे युवा-शब्द बना है। लोक में भी बचपन के दोस्त आदि से अतृप्त होकर जो पुरुष या स्त्री से ख़ास तरह से मिलना चाहने लगे, मिलने के योग्य हो, उसे ही युवा कहते हैं। धर्म भी कार्य-कारणरूप बालमित्रों से असन्तोष पाकर जब ईश्वर से ख़ास संबंध स्थापित करे — कम-से-कम चाहे तो सही — तब वह युवा हो, वीर्यवान् हो।

संन्यास एक अनिवार्य क़दम है मोक्षमार्ग का। 'शमः कारणम्' — भगवान् ने भी कहा है। वायु का लज्जा से लौटना वस्तुतः यह बताता है कि कर्म अपनी असफलता से लज्जित होकर छूट जाये, हम कर्म से आत्मलाभ की सारी

आशा छोड़कर शरणागत हों। जैसे अग्नि का लौटना बताता है कि हम अपना यह सामर्थ्य निर्वीर्य जानें कि हमारी ज्ञानलाभसामग्री से हम शिव के बारें में हाँ-ना कर सकते हैं वैसे वायु का प्रतिगमन हमें सिखाता है कि हमारी कोशिशें इस कार्य के लिए सर्वथा अपर्याप्त हैं। वस्तुतः इंद्र या मन का यक्ष की ओर जाना शुरु ही तब होगा जब वायु लौट आये, कर्म छूट जाये। उपरत को ही श्रवणादि में मुख्य अधिकार सर्वसम्मत है। अतः अग्नि अर्थात् दृष्ट प्रयास और वायु, मातरिश्वा, अर्थात् अदृष्ट प्रयास मोक्ष के लिये विफल हैं इस निश्चय के बाद ही इन्द्र का — मन का — सच्चा प्रयास होगा।

वायुरप्यनुत्तीर्णः

अथ वायुम् इति। अथ अनन्तरं वायुमब्रुवन्— 'हे वायो! एतद् विजानीहि' इत्यादि समानार्थं पूर्वेण। वानाद् गमनाद् गन्धनाद् वा वायुः। मातरि अन्तरिक्षे श्वयतीति मातरिश्वा। इदं सर्वमपि आददीय गृह्णीयां यदिदं पृथिव्याम् इत्यादि समानमेव।।७-१०।।

वायु भी अनुत्तीर्ण रहा

देवताओं को जब निश्चय हो गया कि अग्नि यक्ष के बारे में विशेष जानकारी पाने में असफल रहे तब वे वायुदेव से बोले 'हे वायु! आप ही पता लगाइये।' इन्हे वायु इसलिए कहते हैं कि वे गमन करते हैं, बहा करते हैं अथवा इसलिए भी कि वे महकते हैं, गंध-वहन करते हैं। वे मातरिश्वा हैं क्योंकि अंतरिक्ष में संचरण करते हैं। हाल वायु का भी वही हुआ जो अग्नि का हुआ था। वे भी बेइज़्ज़त होकर बिना जानकारी पाये ही लौट आये।

भाष्य में अग्नि के लिए 'त्वं नस्तेजस्वी' कहा था, वायु के लिए ऐसा कुछ नहीं कहा। हमें दृष्ट और दृष्टोपायों पर जो भरोसा है वह अदृष्टोपायों पर नहीं अतएव दृष्ट की प्रधानता व्यक्ति-समाज के जीवनों में अधिकाधिक बढ़ रही है और अदृष्टसम्बन्धी सभी विश्वास प्रश्नों के निशानों में — लक्ष्यों में — परिवर्तित हो रहे हैं। फिर भी बहुतेरे दृष्टों को समझ-समझा न पाने से एवं बहुधा अदृष्टोपायों की कारगरता से, खासकर उनकी मनस्तोषकरता से उन्हे सर्वथा नकारना असंभव-सा है। अतः अग्नि की तरह तेजस्वी न सही पर इन्हे 'मातरिश्वा' समझकर देवों ने भेजा। मातरि अर्थात् अंतरिक्ष में श्वा अर्थात् गति करने वाले वायु हैं। इस अतिलौकिकता से इनमें वैशिष्ट्य है, तेजस्विता से विशेषता हो ऐसा नहीं। अतः कर्म से मोक्ष के बारे में शास्त्रार्थ से ज़्यादा ज़रूरत इसकी है कि हम कर्म पूरी तरह से करके अनुभव करें कि क्या वह हर क़दम पर छुड़ाता है या कि अधिकाधिक दृढ बंधन करता जाता है। जिसने कर्म किया नहीं वह वस्तुतः कर्मसामर्थ्य के मोह से निवृत्त नहीं होता। यह दूसरी बात है कि किसी को पूर्वजन्म में किये प्रयासों के फलस्वरूप इस जन्म में बिना किये भी वह मोह न रहे। जो करके देख चुके हैं वे दृढता से कहते हैं कि यह बन्धक ही है, मोचक नहीं। अतः पहले वायु को भेजना पड़ेगा, तब वह लौटेगा तो संन्यास होगा। 'न कर्मणामनारम्भाद्' आदि स्मृति का यही अभिप्राय है।

वह्नि सब कुछ जला सकते हैं, वायु ग्रहण कर सकते हैं। न केवल छोड़ना और न केवल पकड़ना मोक्ष के लिए पर्याप्त है। सिर्फ़ छोड़ने का उपाय सांख्य-योग और न्याय-वैशेषिक ने माना तथा सिर्फ़ पकड़ने का उपाय मीमांसा ने। ये दोनों एकांगी प्रक्रियायें हैं। वेदान्त उपाधि छोड़ता है लेकिन भूमा को पकड़े रहता है, सिर्फ़ जहती या अजहती लक्षणा नहीं, भागत्यागलक्षणा स्वीकारता है। यहाँ सांख्यादि का ढंग भी है - उपाधित्याग - और मीमांसा का भी - 'यन्न दुःखेन संभिन्नम्' आदि का ग्रहण। यह ठीक है कि अगृहीत का ग्रहण नहीं है लेकिन फिर भी सर्वथा परित्याग नहीं है। किन्तु केवल कर्म केवल ग्रहण करा सकता है। चाहे सब कुछ मिल जाये, जब तक वह कुछ करके मिलेगा, मोक्ष नहीं हो सकता। अतः वायु गमन करता है, चला जाता है, टिका नहीं रहता। और महकता भी है सुख-दुःखादि द्वन्द्वों की गन्ध उससे निकलती नहीं।।७-१०।।

एकादशो मन्त्रः

मन्त्रः

अथेन्द्रमब्रुवन् मघवन्नेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति। तथेति। तदभ्यद्रवत्। तस्मात्तिरोदधे ॥३.११॥

मन्त्रार्थ

अथ=तब देवों ने **इन्द्रम्**=इंद्र से **अब्रुवन्**=कहा **इति**=कि '**मघवन्**=हे पूज्य इन्द्र! **एतत्**=यह **विजानीहि**=पता लगाओ कि **एतत्**=यह **यक्षम्**=यक्ष **किम्**=क्या है।' **इति**=इन्द्र ने जवाब दिया '**तथा**=ऐसा ही करता हूँ।' **तत्**=उसकी ओर **अभ्यद्रवत्**=इन्द्र गया लेकिन वह यक्ष **तस्मात्**=इन्द्र से **तिरोदधे**=छिप गया।

देवताओं का राजा है इन्द्र अतः देवताओं के प्रमुख नायकों के प्रयास के बाद ही उसे प्रेरित किया गया तथा अपना उत्तरदायित्व समझकर इन्द्र ने भी यह कार्य स्वीकारा। अध्यात्म में देवता इंद्रियाँ हैं तो मन इन्द्र है। जब तक इंद्रिय सक्षम हो तब तक मन को उस ओर विशेष ध्यान नहीं देना पड़ता। जहाँ अकेली इन्द्रिय कमज़ोर पड़े तब उसे ज़रूर ख़ास व्यापार कर कार्यसिद्धि के लिए कोशिश करनी पड़ती है। जो बातें इंद्रियों से पकड़ में नहीं आती उनके लिए मन विविध उपाय करता है। इन्द्रियाँ भी पदार्थ मन तक पहुँचाती हैं, काफी हद तक मन के शासन में रहती हैं, मन को खुश करने की कोशिश करती हैं और मन अगर ख़ुश हो तो सभी इन्द्रियाँ भी प्रसन्न दीखती हैं। अतः मन को इन्द्र समझना उचित है।

दृष्ट-अदृष्ट उपाय व्यर्थ निकलने पर नित्य शान्ति रूप परमेश्वर को समझने के लिए अन्य इन्द्रियों को स्वव्यापारों से विरत कर मन ही उस ओर लगता है। जीव की यह अंतिम कोशिश है असीम को सीमित करने की। 'मैं मन से उसे समझूँगा' यह अभिमान जितना द्रढिष्ठ है उतना ही विलम्ब से हटता भी है। स्वयम्प्रकाश को छायारूप मन क्या समझेगा! अँधेरे से कभी रोशनी दीखती है? 'यन्मनसा न मनुते', 'अप्राप्य मनसा सह', 'न मनसा प्राप्तुं शक्यः' आदि बहुतेरी श्रुतियाँ कहती रहें पर हमारा अभिमान कहाँ कम होता है! महावाक्यार्थ न समझना यही है कि मन अखण्ड को परिच्छिन्न नहीं करता। यह बहम छोड़ दें कि मन से परब्रह्म वैसे ही समझना है जैसे घट आदि समझे जाते हैं तो कोई कारण नहीं कि निर्दोष श्रुति से हमारा अज्ञान न हट पाये। लेकिन अग्नि-वायु की तरह इन्द्र का भी अभिमान टूटता तभी है जब यह पूरा ज़ोर आजमा लेता है। जैसे जहाँ भी नवीन मैत्री आदि प्रीति संबंध होते हैं वहाँ पहले तो बाहरी व्यवहार से ही परस्पर काबू करने का प्रयास होता है, कुछ विशेष कहना-करना-सोचना आदि प्रकट होता है; जब इनके भरपूर प्रयोग से निश्चय हो जाता है कि प्रीति का इनसे कोई लेना-देना नहीं, इनके अन्वय-व्यतिरेक से पता चल जाता है कि काबू होने की इन व्यवहारों से निरपेक्षता है, तब बाह्य चापल्य उपशान्त होकर प्रीत्युद्रेक से घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है; इतना घना कि फिर चाहकर भी दरार नहीं डाल सकते। ऐसे ही महादेव का 'नेदिष्ठ स्पर्श' पाने की कोशिश में पहले-पहल हम अपनी ओर से प्रयास करते हैं। वह तो बहुत बाद में पता लगता है कि इन प्रयासों से ही तो हम दूरी कायम रख रहे हैं, इन्हीं के कारण 'परम साम्य' रूप सम्मिलन में विलम्ब है। अंगों के प्रति आकर्षण अंगी को सम्पन्न नहीं होने देता। अतएव सिद्धियाँ प्रतिबंधक हैं। यद्यपि बाह्य प्रयासों पर विश्वास छूट गया तथापि मानस प्रयासों पर भरोसा कायम है। यह ठीक है कि समझ होनी मन में ही है, तत्त्वज्ञान भी है मनोवृत्ति ही, लेकिन उसके लिए ज़रूरी है मन की निश्चेष्टता; प्रमाण को अपना कार्य करने दें — बस यही आवश्यक है। हम यदि 'समझने' की भी कोशिश में लगे तो वह चंचलता प्रमा नहीं पैदा होने देती। प्रमाण भी ख़ुद क्या करेगा! प्रमाण का इतना ही दायित्व है कि प्रमेय और प्रमाता के बीच ऐसा कुछ न रहे जो इनके संबंध को बिगाड़े, प्रमाता में प्रमेय के अननुरूप वृत्ति बनाये। प्रमाता के चित्त में प्रमेय के अनुरूप वृत्ति होना प्रमा होना है। जैसे सूर्य ही कमरा प्रकाशित करता है, खिड़की इतना ही करती है कि बीच में रुकावट न आये, ऐसे ही प्रमा उत्पन्न

तो प्रमेय ही करता है, प्रमाण बस यही संभव करता है कि कोई गतिरोध न हो। हमें शिवज्ञान हो इसमें कारण तो एकमात्र शिव ही है — उमा भी तो शिव से अभिन्न ही हैं — श्रुति की कृपा यही है कि इस घटना को रोकने वाले कोई न बचें। अतः प्रमाण का प्रताप नहीं कि प्रमा हो, प्रमेय का ही प्रताप है। इस प्रकार न प्रमातृप्रयासों का और न प्रमाणप्रयासों का भरोसा रखना चाहिये, इनके तो व्यापार निवृत्त ही कर देने चाहिये, तभी अकेले परमात्मा की शरण लेने पर वे करुणामूर्ति हमें अभेद संबंध प्रदान करेंगे। जब तक वे प्रदान करते हैं, हम ग्रहण करते हैं, तभी तक वह अभेद भी एक संबंध है; उसके बाद सम्बंध-सम्बन्धी नहीं सिर्फ अभेद का प्रकाशमान आनंद है जिसमें बाह्य-आन्तर कुछ भी और नहीं है।

इन्द्र को मघवन् कहा। जिसकी पूजा की जाये वह मघवन्-शब्द का वाच्य है। अज्ञानदशा में इंद्रियाँ मन को भेंट देती ही रहती हैं। ज्ञान भी मन में होता है अतः तब भी पूज्य तो मन बना ही रहता है। आगे इन्द्रियाँ भी उस मन से चित्प्रकाश पाकर पूज्य हो जाती हैं। इन्द्र ने भी आगे देवताओं को ब्रह्मोपदेश से कृतार्थ किया ही। अभी भी इन्द्रियों में आत्मप्रकाश मन से छनकर ही आ रहा है। तत्त्वधी के बाद भी यही होता रहेगा। लेकिन अभी मनःकालुष्य से युक्त हुआ प्रकाश मिलता है तो इंद्रियाँ भी कलुष प्रकाश वाली हैं। तब मनःकालुष्य से रहित प्रकाश आयेगा तो ये भी स्वच्छ आभा में चमकेंगी। यही बीज है जीवन्मुक्त के देहादि की भी पूज्यता का। अन्यथा भौतिकतादि तो समान हैं, उसके देहादि को श्रेष्ठ क्यों मानते हैं? कारण यही है कि अन्यत्र देहादि सदोष प्रकाश वाले हैं, वहाँ ऐसे नहीं हैं। भूत-भौतिक तो ईश्वर-कृतियाँ हैं, निर्दोष हैं। चित्प्रकाश भी दोष-संभावना-शून्य है ही। लेकिन हम अपने दोषों से चित्प्रकाश को दूषित कर उस दुष्ट प्रकाश को भूत-भौतिकों पर डालते हैं तो वे सदोष हमें मिलते हैं। मुक्त ऐसा नहीं करते अतः परम पवित्र उपलब्ध होते हैं। उन पर भी हम अपनी ओर से दोषारोपण तो कर ही सकते हैं। उससे यही होगा कि हमें उनसे लाभ नहीं हो सकेगा। वास्तविकता तो पावन ही बनी रहती है। अतः अभी राजा होने से और फिर यक्षवेत्ता होने से इन्द्र मघवा है।

यक्ष इन्द्र के सामने से अन्तर्धान हो गये; इंद्र उनके पास तक तो पहुँचा पर उनसे बात-चीत आदि कुछ नहीं कर पाया। आविर्भाव से पूर्व तिरोभाव ज़रूरी है पहले यक्षरूप से आविर्भाव हुआ था वास्तविकता तब भी तिरोहित रही। अभी हमें जो घोर अज्ञान है उसे शिथिल करने के लिये पहले यक्षरूप से आविर्भाव चाहिये। हम कम-से-कम सविशेष के प्रति पूज्यबुद्धि करें, उससे प्रेम करें, तभी निर्विशेष का संनिधिलाभ हो सकता है। लेकिन वह रूप भी पूर्ण आविर्भाव नहीं है; आंशिक अनावरण है पर पूर्ण अनावरण का आरंभ है; उषःकाल ही मध्याह्न का प्रारंभ है। यह यक्ष की अनुकंपा है कि उषा स्थायी नहीं है। सविशेषस्थिति में रुकना मोक्ष नहीं दे सकता। अतः जब सारे सहारे छोड़कर इन्द्र अभ्यद्रवण कर चुका, हमने ईश्वर की शरण ले ली, तब यक्ष तिरोहित हो गया, छिप गया, हमसे ईश्वर खो जाता है। उपास्य का लोप ज्ञेय के आविर्भाव के लिए है। यक्ष कहीं गया नहीं, सिर्फ़ छिप गया। ब्रह्म नहीं छोड़ा जाता, केवल उसका इदन्त्व मिट जाने से वह मानो तिरोहित हो जाता है। चले हम इदन्तया खोजने थे, वैसा पा नहीं पाते।

इन्द्राद्यक्षतिरोधानम्

अथेन्द्रमिति। अथ इन्द्रम् अब्रुवन्— 'मघवन्! एतद् विजानीहि' इत्यादि पूर्ववत्। इन्द्रः परमेश्वरः। *इन्द्र आदित्यो वज्रभृद्वा, अविरोधात्।* मघवान् बलवत्त्वात्। 'तथा' इति। तद् अभ्यद्रवत्। तस्माद् इन्द्राद् आत्मसमीपं गतात् तद् ब्रह्म तिरोदधे तिरोभूतम्।

इन्द्र से यक्ष का छिपना

पहले की तरह ही देवताओं ने इन्द्र से कहा, उसने स्वीकारा और यक्ष की ओर साभिमान गया। इन्द्र से यहाँ देवताओं में उच्चतम शासनाधिकारी, देवराज, कहा गया है। अदितिसुतों में वह श्रेष्ठ है, वज्रधारी रूप से प्रसिद्ध है। यद्यपि देवता उससे शासित होने से उसे आज्ञा नहीं दे सकते तथापि अपनीं कोशिशें विफल देखकर अपने राजा से

ही प्रार्थना करें इसमें कुछ अन्याय्य नहीं है। इन्द्र को मघवान् भी कहते हैं क्योंकि वह बलशाली है। जब देवाधिप आत्मा के समीप पहुँचा तब ब्रह्म तिरोभूत हो गया, लापता हो गया।

भाष्य में इन्द्र के लिये परमेश्वर शब्द आया है क्योंकि धात्वर्थानुसार वह इन्द्र-शब्दार्थ है लेकिन विवक्षित यहाँ देवराज ही है। श्रोत्रादि को श्रोत्रादि बनाने वाले की तरह इन्द्र को भी इन्द्र बनाने वाला महेश्वर है इस अभिप्राय से भी यह व्याख्या है। इन्द्र भी है वही परमेश्वर लेकिन अभिमानदशा में, इसी का अभिमान हटने पर यही यक्ष है। इन्द्र को 'आदित्यो वज्रभृद्वा' भी भाष्य में कहा है। सीधा तो अदितिसुत होने से इन्द्र का आदित्यत्व मानना संगत है। अथवा आदित्य बारह हैं, उनमें ज्येष्ठ मास के आदित्य का नाम इन्द्र है, उससे अभिप्राय है। 'अविरोधात्' अर्थात् चाहे देवराज इन्द्र हो और चाहे आदित्य, कथा और उसके मुख्य तात्पर्य में अंतर नहीं आता। धनवाचक मघ शब्द है जिसका मतुबन्तरूप मघवान् बनता है। बल भी एक धन होने से भाष्य में 'बलवत्त्वात्' व्याख्या की है। प्राध्यापक हिरियन्ना का पाठ है 'मघवा यज्ञवत्त्वात्'। उणादि में (१.१५९) कनिन्प्रत्ययान्तमघवन् शब्द निपातित है वह मह् धातु से बनता है। मह्यते अर्थात् पूज्यतेऽसौ जिसे पूजा जाता है वह मघवा है, इसके रूप 'मघवा, मघवानो' आदि चलते हैं। अतः मघवा पाठ हो तो 'यज्ञवत्त्वात्' ही हेतु ठीक है क्योंकि इन्द्र के निमित्त कई यज्ञ, कई आहुतियाँ हैं।

यक्ष ने जब इन्द्र को अपने समीप आया देख लिया तब तिरोहित हुआ। यह अंतिम तिरोधान तभी होगा जब हम ईश्वर के बहुत नज़दीक पहुँच जायें। भक्ति की चरमकाष्ठा के अनन्तर ही यह यक्षलोप होगा। अतिगंभीर ईश्वरप्रेम हममें न हो और सविशेष हमारे सामने से ओझल हो जाये तो अधिक संभावना हमारे पतन की ही है, उत्कर्ष की नहीं। जहाँ प्रेमातिशय से बाह्य औपचारिकता छूटे वहाँ निकटता बढती है, जहाँ प्रेम के बिना ही वैसा होने लगे वहाँ तो दूरी बढ़ती ही है, मनमुटाव ही होते हैं। विशिष्ट से अधिक परिचित होने के लिए विशेषणों का तिरस्कार है। यदि उससे परिचित होने के लिए हमें उतावली न हो तब विशेषण भूलने पर वह निर्मूल्य दीखेगा, आकृष्ट ही नहीं करेगा। अतएव सविशेष के मिथ्यात्व के निश्चय वाले निर्विशेषप्रापित्सु कभी भी सविशेष से दूर नहीं हटते, विशेषों को ही उससे दूर करते हैं। ज्ञानमार्ग का भक्तिभाव से विरोध किसी भी स्तर पर नहीं। इसीलिए धर्म का संग्रह शांकरसंप्रदायानुसार आदि से अंत तक है। पहले साधन रूप से, फिर सहज। प्रवृत्तिधर्म तो साधनावस्था में ही छूट जाते हैं। निवृत्तिधर्म स्वाभाविकरूप से जीवन्मुक्त में बने रहते हैं। यही अहैतुकी भक्ति है। सविशेष के विशेषों की अपारमार्थिकता समझनी है, उन विशेषों वाले को काल्पनिक नहीं। अतः जो वाच्य का न्यग्भावादि कहे उसका औपनिषदत्व ही शंकास्पद है। सर्वज्ञमुनि स्पष्ट करते हैं कि भ्रम में चाहे अध्यस्त ही परिस्फुरित हो पर एक स्वरूपतः अध्यस्त होता है जबकि दूसरे का संसर्ग ही अध्यस्त होता है, ख़ुद तो वह सत्य ही है। अतः सविशेषरूप की ओर से तभी ध्यान हटाना चाहिये जब परमेश्वर से अकम्प प्रेम हो चुका हो — यह अभिप्राय है।

तिरोधाने यक्षाभिप्रायः

इन्द्रस्येन्द्रत्वाभिमानोऽतितरां निराकर्तव्य इत्यतः संवादमात्रमपि नादाद् ब्रह्म इन्द्राय। ***इन्द्रोपसर्पणे ब्रह्म तिरोदध इत्यत्रायमभिप्रायः— 'इन्द्रोऽहम्' इत्यधिकतमोऽभिमानोऽस्य। सोऽहमग्न्यादिभिः प्राप्तं वाक्संभाषणमात्रमपि अनेन न प्राप्तोऽस्मीत्यभिमानं कथं न नाम जह्याद्! इति। तदनुग्रहायैव अन्तर्हितं तद् ब्रह्म बभूव।।११।।***

छिपने में यक्ष का अभिप्राय

ब्रह्म ने देखा कि 'इन्द्र को इन्द्र होने का बहुत ज़्यादा अभिमान है अतः इसका गर्व और अधिक चूर्ण करना चाहिये', इसलिए उन्होंने उसे बात करने का मौका भी नहीं दिया। 'मैं इन्द्र हूँ, देवराज हूँ, देवताओं का भी पूज्य हूँ, आदि बहुत अधिक अभिमान इन्द्र को था। जब वह देखेगा कि 'अग्नि-आदि कम-से-कम इससे बात तो

कर गये थे, मुझे तो इतना भी मौका नहीं मिला' तो वह अभिमान कैसे नहीं छोड़ेगा! - यह यक्ष का आशय था। इसलिए ब्रह्म जो तिरोहित हुए वह इन्द्र पर कृपा करने के ही कारण था।

मन यद्यपि सब इन्द्रियों पर शासन चलाकर ख़ुद को बहुत बड़ा समझता है तथापि है सर्वथा परतंत्र; बाह्य पदार्थों के साक्षात्कार के लिए तो स्पष्ट ही अस्वातन्त्र्य है, परोक्षज्ञान भी उन्ही अपरोक्षों के सहारे होता है जिनके लिए वह परतंत्र है। आत्मज्ञान भी — यथार्थ बोध भी — बिना प्रमाण के उसे होता नहीं। यही उसकी स्थिति क्रियाओं के सन्दर्भ में है। हमारे विचार शब्दादिघटित ही हैं और शब्दादि इंद्रियवेद्य ही हैं। अतः यदि मन सर्वथा इंद्रिय-निरपेक्ष हो तो ऐसा कुछ नहीं कर पाता जिसे कहा भी जा सके! अपनी इस असमर्थता से लज्जित हो तभी ब्रह्मचिंतन के योग्य बने। विषयों के बारे में फिर कुछ सोच-विचारादि मन करता है पर परमार्थ तत्त्व के सामने तो ऐसा स्तब्ध हो जाता है कि इसे ख़ुद आश्चर्य होता है; जिसे काफी हद तक समझा हो वही हाथ से निकल जाता है। इस निर्वीर्यता का अनुभव ही शास्त्र पर पूर्ण श्रद्धा पैदा करता है।।११।।

द्वादशो मन्त्रः

मन्त्रः

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमाᳫं हैमवतीं ताᳫंहोवाच किमेतद्यक्षमिति।।३.१२।।

मन्त्रार्थ

तस्मिन्=उस **एव**=ही **आकाश**=जगह **सः**=इन्द्र **स्त्रियम्**=एक स्त्री को देखकर **आजगाम**=उसके पास आया। **बहुशोभमानाम्**=बहुत शोभा वाली **ताम्**=उस **उमाम्**=उमा **हैमवतीम्**=हैमवती से उसने **उवाच**=पूछ **ह**=ही लिया **इति**=कि '**एतत्**=यह **यक्षम्**=यक्ष **किम्**=क्या था?'

लज्जा से जड हुए देवराज अचानक नहीं लौटे, वहीं खड़े सोचते रहे उस यक्ष के बारे में। उनका यक्ष के प्रति दृढभाव देखकर भगवती उमा वहीं प्रकट हुईं जहाँ यक्ष था — क्योंकि यक्ष से सर्वथा अलग वे जगदम्बा भी हैं नहीं। जहाँ यक्ष छिपा था वहीं वे प्रकट हुईं। इन्द्र ने उनसे अपनी समस्या का हल पूछा।

शंकरानंदजी बताते हैं कि जब यक्ष अंतर्धान हो गया तो इंद्र को अपने सामर्थ्य का अभिमान नष्ट हो गया, वह अधिकारिगुणों से संपन्न हो गया। अधिकारी का ख़ास यही गुण है कि वह निरभिमान हो जाये। वह योग्य हुआ तो उपदेशक तुरंत मिल गया। गुरु की दुर्लभता तभी तक है जब तक हम अधिकारी न बनें, अभिमानी बनें। हम जैसे ही अधिकारी बनते हैं वैसे ही चाहे जो रूप लेकर उमा दर्शन व उपदेश देती ही हैं इसमें संदेह नहीं। उमाविशेषणों की भी शंकरानंद स्वामी ने व्याख्या की है :

i) बहुशोभमानाम् - अविद्या है पिशाची, आपाततः और फलतः दुःखप्रद। वही नहीं उसकी कलायें — उसके अवयव तथा उसकी प्रकियायें — भी पिशाची हैं। इनसे विपरीत लक्षण वाली है महेश्वर की ही विद्याशक्ति। है अविद्याशक्ति भी उसी की पर हम अपने अभिमानादि से उसे देखते हैं तो वह हमें पिशाची के रूप में ही मिलती है। हम अपनी दृष्टि बदल लेते हैं तो वही अविद्याशक्ति उस रूप को ग्रहण कर लेती है जो शुभ है। उपदेश भी भेदभूमि पर है अतः मायिक विग्रहादि से है। उमा का रूप भी मायिक ही है। अतः शिव की शक्तियाँ दो हों ऐसा नहीं, हमारी अपेक्षा से उनकी शक्ति दो तरह की हो जाती है — पिशाची और शुभ। शक्ति ख़ुद ही हमारी अपेक्षा से है, स्वरूपतः तो केवल शिव है। अतः हमारी अपेक्षा से वह द्विविध भी हो जाती है। पिशाची से विपरीत लक्षणों वाली विद्यारूपिणी वे अत्यधिक कान्तिवाली हैं। अविद्या भी कान्तिमती है, विषयाकर्षण-कारी है। लेकिन विद्या अधिककान्तिमती है,

विषय से विकर्षण करा कर शिव में खींच ले जाती है। शिवज्ञान नहीं, तभी तक आकर्षण कर सकती है अविद्या। विद्या उससे प्रबल है क्योंकि न केवल आकर्षण करती है वरन् पूर्व आकर्षण — विषयाकर्षण — छुड़ा भी देती है।

ii) उमाम् - उत्कृष्ट ज्ञानरूप हैं। ('उत्कृष्टां प्रभाम्'.पाठ है पर लगता है वे 'उ' का अर्थ 'उत्कृष्टाम्' और 'माम्' का 'प्रमाम्' करना चाहते हैं अतः 'प्रमाम्' पाठ होना चाहिये।) उत्कर्ष यह है कि वह ब्रह्मविद्या सारे संसारवृक्ष का समूलोच्छेद कर देती है। उग्र तप से रोकने के लिये माता ने 'उमा' कहा तो पार्वती 'उमा' नाम वाली हो गयी ऐसा प्रसिद्ध है। अतः पार्वती में उग्र तप की दृढ इच्छा — जो पूरी भी हुई — उमा-शब्द से पता चलती है। संसारनिवृत्ति से अधिक उग्र क्या कार्य होगा? वस्तुतः रुद्र की यही विनाशहेतुता है कि उनकी अर्द्धांगभूत उमा सहेतुसंसार समाप्त करती हैं। प्रलयादि तो विनाश नहीं, केवल छिपाना है, अतः वे रुद्रकृत्य नहीं हैं। उमा जिसे संपन्न करती है उसी से शिव विनाशकारी माने गये हैं। 'माया' में भी 'मा'-शब्द है। आत्मुराण में (४.८११) बताया है 'मिनोति स्वरूपप्रकाशमावरणलक्षणं परिभवं प्रति प्रक्षिपतीति माया।' अतः उसकी काट करने वाली उमा के नाम में भी 'मा'-शब्द है। माया में आवरण प्रधानता है, उमा में आवरणनिवारकता प्रधान है।

iii) हैमवतीम् - हिम की तरह हमेशा शीतल — उद्वेगतापशून्य—स्वप्रकाश आनन्दरूप है यक्ष जो हमारी हृदुहा में सदा छिपा है। उसी का प्रतिपादक होने से उपनिषद्भाग है हिंमवान् और उसके श्रवणादि से उत्पन्न है अतः उसकी बेटी है ब्रह्मविद्या, अतः हैमवती है।

अथवा पिनाक-धनुष जिनके हाथों में सक्षम बनता है उनकी प्राणप्रिया हैं उमा। वे हमारी माता हैं। हम चाहे जिस ओर भटकें, वे ख़्याल रखती हैं और तरह-तरह से हमें आश्वासन देती रहती हैं। हम अत्यधिक कष्ट में हैं पर सिर्फ़ उनके स्निग्ध वात्सल्य को बीच-बीच में पाने से ही ज़िंदा हैं। इन्द्र की भी विकट परिस्थिति देखकर वे तुरंत उपस्थित हुईं। प्रसिद्ध ही है कि वे गिरिराज हिमालय की पुत्री हैं अतः वे हैमवती हैं। गुरु सविशेषरूप है। वास्तव में भले ही मनोवृत्तिरूप विद्या ही मोचक है पर हमें वह विद्या मिलेगी गुरुरूप से ही। अतः शिवा की पूर्ण शरणागति करनी चाहिये, तभी विद्यालाभ संभव है।

या शब्द ऐसे समझ सकते है - हेम अर्थात् सोना। उसके गहने हुए हैम। ऐसे गहने पहने हुए थी इसलिये उमा हैमवती थी। सोना शुद्ध माना गया है। ब्रह्मविद्या के अलंकार भी शुद्ध हैं। अलंकार यद्यपि नाम-रूपात्मक होंगे तथापि शुद्ध इसलिए हैं कि वे विद्या की ओर दृष्टि एकाग्र करते हैं। आभरणों की अशुद्धि होती है कि वे ख़ुद की ओर इतना आकृष्ट करें कि जिसने उन्हे पहना है वही गौण बन जाये! शुद्ध गहना उसे आकर्षणबिंदु बनाता है जिसने उसे धारण किया है, ख़ुद प्रधान नहीं बन जाता। विद्या के आभरण अमानितादि स्वभाव भी इसी प्रकार के हैं, गुणातीतादि के लक्षणों से विद्या की ओर साधक खिंचता है। हैं वे भी द्वैतभूमि के लक्षण अतः नाम-रूप के सापेक्ष हैं, पर हैं शुद्ध।

'किमेतद्यक्षम्' से परिप्रश्न और 'आजगाम' से गुर्वभिगमन की विधियों को प्रशंसित किया गया है। गुरुलाभ होने पर भी पूछना जरूरी है। जिज्ञासा की तीव्रता बिना पूछे रहने न दे तभी परिप्रश्न होगा। यह तीव्रता है या नहीं—यह देखने के लिए गुरु भी पूछने का इंतज़ार करेंगे। ख़ानापूर्ति का पूछना परिप्रश्न नहीं है। लोक-व्यवहार में भी तीव्र प्रेम से पूछने में और औपचारिक पूछने में भेद पता चल ही जाता है।

गुरु स्त्री हैं। परमात्मा उन्ही में विस्तीर्ण होते हैं, उन्ही के परिपक्व चित्त से रति पाते हैं, उनका पोषण करते हैं और हम अपना वास्तविक शरीर उन्ही से प्राप्त करते हैं। पिता-पुत्र की एकता है लेकिन माता के बिना क्योंकि पिता पुत्ररूप ले नहीं सकता इसलिए यह एकता व्यक्त नहीं होती। शिव और सिद्धदशा में साधक एक ही हैं लेकिन इसे संभव करते हैं गुरु। जैसे पिता यह नहीं कह सकता कि उसे पत्नी ज़्यादा प्रिय है या पुत्र तथा माता भी पति और पुत्र में चुनाव

नहीं कर पाती वैसे ही शिव के सामने गुरु और हम में चुनाव करने की तथा गुरु के सामने शिव और हममें चुनाव करने की समस्या है। वस्तुतः तीनों के परस्पर संबंध एक-से घनिष्ठ हैं, इनमें तारतम्य की चर्चा व्यर्थ है। गुरु परमार्थ का रस नहीं छोड़ पाते, चाहे शिष्य की व्यवहारभूमि पर आते रहें। यह उनकी स्त्रीरूपता है। शिवसंतति बढ़ाते रहना अपना वे कर्तव्य मानते हैं। अतः केवल ख़ुद रस लेकर तृप्त नहीं होते, उस रस से शिवप्रजा का निर्माण—लोकसंग्रह—करते हैं। गर्भधारण से शिशुजन्म तक जितना घोर कष्ट माता को होता है उससे कम गुरु को शैवजनोत्पत्ति में नहीं होता लेकिन जैसे माता स्वभावतः वह कष्ट सहती है क्योंकि पति-पुत्र से प्रेम करती है ऐसे गुरु भी उसे कष्ट न समझकर सहजता से सह लेते हैं क्योंकि शिव से और शिवसुतों से उन्हे प्रेम है। जैसे स्त्री रहस्य नहीं छिपा सकती ऐसे ही गुरु भी : यक्ष तो अंतर्धान हो गये लेकिन उमा से यह सहन न हुआ कि यह रहस्य ही बना रहे, वे झट प्रकट हुईं और पूछते ही बोल पड़ी 'ब्रह्म।' यही गुरु की स्थिति है।

'तस्मिन्नेवाकाशे' - जो जगह हमने प्रारंभ से अब तक ईश्वर को दी है वही गुरु को देनी पड़ेगी। 'यथा देवे तथा गुरौ' आदि श्रुति प्रसिद्ध है। सविशेष के विशेषों से दृष्टि हटाने पर वही स्थान यदि गुरु को न दे पाये तो ब्रह्मज्ञान अशक्य है। सेवा, अर्पण, प्रेम, विश्वास आदि सभी तरह से वह स्थान देना पड़ेगा।

इन्द्रो दध्यौ

तद्यक्षं यस्मिन्नाकाश आकाशप्रदेश आत्मानं दर्शयित्वा तिरोभूतम्, इन्द्रश्च ब्रह्मणस्तिरोधानकाले यस्मिन्नाकाश आसीत्, स इन्द्रः तस्मिन्नेवाकाशे तस्थौ 'किं तद्यक्षम्' इति ध्यायन्; न निववृतेऽग्न्यादिवत्।

इन्द्र ने ध्यान किया

जिस जगह ख़ुद को दिखा कर यक्षदेव अंतर्धान हुए थे वहीं इन्द्र भी खड़ा था और 'वह यक्ष क्या था?' यह सोचते हुए वह उसी जगह रुका रहा, अग्नि-वायु की तरह लौट नहीं पड़ा।

'बिना जाने लौटा तो इज़्ज़त जायेगी' यह भाव नहीं था, बल्कि यह था कि 'मुझे अवश्य जानना है।' यद्यपि मन अकेला परमात्मज्ञान में समर्थ नहीं तथापि शास्त्राचार्योपदेश से संस्कृत हुआ वही उसके लिए पर्याप्त भी है अतः अग्नि-वायु की तरह उसे लौटना नहीं, संस्कृत होने तक रुकना है। बल्कि यदि वह लौटा तो अनात्माकार ग्रहण करने लगेगा जिससे तत्त्वधी असंभव ही होगी। हतोत्साह मन तत्त्वनिश्चय के अयोग्य है। 'मुझे ज़रूर जानना है, मैं जान ही लूँगा' यह उत्साह चाहिये, 'मैं ख़ुद जान सकता हूँ' यह अभिमान छोड़ना है।

उमाप्रदुर्भावः

तस्येन्द्रस्य यक्षे भक्तिं बुद्ध्वा विद्या उमारूपिणी प्रादुरभूत् स्त्रीरूपा। *स शान्ताऽभिमान इन्द्रोऽत्यर्थं ब्रह्मविजिज्ञासुः यस्मिन्नाकाशे ब्रह्मणः प्रादुर्भाव आसीत्तिरोधानं च,* तस्मिन्नेव स्त्रियम् *अतिरूपिणीं विद्याम्* आजगाम। स इन्द्रः ताम् उमां बहुशोभमानाम्; *अभिप्रायोद्बोधहेतुत्वाद् रूद्रपत्न्युमा हैमवतीव सा शोभमाना विद्यैव।* सर्वेषां हि शोभमानानां शोभनतमां विद्याम्— *विरूपोऽपि विद्यावान् बहुशोभते;*— तदा 'बहुशोभमाने' ति विशेषणमुपपन्नं भवति।

उमा का प्रादुर्भाव

यक्ष में इन्द्र की भक्ति देखकर विद्या वहाँ प्रकट हुई। है तो विद्या उमा-रूप वाली, महादेव की शक्ति, किंतु प्रकट वह एक स्त्री के रूप में हुई। इन्द्र उस समय शांत मन वाला था और अतितीव्र जिज्ञासा ब्रह्म के बारे में उसे थी। अतिसुंदर स्त्रीरूप में व्यक्त हुई विद्या को उसी जगह देखकर इन्द्र उसके पास आ गया। उमा बहुत ही शोभित हो रही थी। समस्त रहस्यविद्याओं के वास्तविक अभिप्राय को, तात्पर्य विषयीभूत अर्थ को समझाने वाली

होने से रुद्रपत्नीरूपिणी विद्या ही ऐसी शोभा से उद्दीप्त थी मानो बहुमूल्य स्वर्णाभरणों से सुसज्जित कोई दिव्य रूपसी हो। जितने पदार्थ शोभित होते हैं उनमें सर्वाधिक शोभित होने वाली है विद्या। लोकमें कोई कुरूप भी हो लेकिन उसकी विद्या प्रशस्त हो तो वह व्यक्ति शोभित ही होता है। अतएव विद्या को 'बहुशोभमाना' अर्थात् अत्यधिक शोभित होने वाली कहा।

स्पष्ट ही भाष्य में ईश्वरभक्ति को तत्त्वोपदेशप्राप्ति में कारण बता दिया। विद्या शक्ति होने पर भी अवसरानुसार उपदेशक के अनुरूप आकारादि में प्रकट होती है। यह प्राकट्य अचानक हो या किसी मानवादि देह में हमें उपलब्ध होने लगे, इससे अंतर नहीं पड़ता। शिव का निर्देश जिससे मिलता है वह उमा ही है, चाहे जिस आकार में हो। स्त्री का रूप लेकर विद्या ने बता दिया कि लोकदृष्टि से चाहे स्त्री को गुरु मानने से परहेज़ हो, परविद्या उस रूप में स्थित कोई दे तो अवश्य ग्राह्य है। अन्य ज्ञान स्त्री से न भी सीखे, ब्रह्मज्ञान यदि स्त्री भी दे तो सीखना चाहिये।

'शान्ताभिमानः, अत्यर्थं ब्रह्मविजिज्ञासुः' इन दो विशेषणों में भाष्यकारों ने अधिकारिगुण इकट्ठे कर दिये हैं। ऐसा अधिकारी केवल शास्त्र के अभिप्राय का साक्षात् करना चाहता है। अतः उमा ने कोई विस्तृत वक्तव्य नहीं दिया, सिर्फ़ एक वाक्य कहा, उतने से ही इन्द्र को तत्त्वनिश्चय हो गया। शास्त्राध्ययन से शास्त्र-शास्त्रीयार्थों के संस्कार भरपूर एकत्र कर रखने चाहिये। तब जब जिज्ञासातीव्रता के समय गुरु थोड़ा-सा इशारा करते हैं तो सारी बात तुरंत बैठ जाती है। उपदेश को बहुत ज़्यादा सोचना-विचारना पड़े तो चित्त विक्षिप्त रहता है, तत्त्वबोध नहीं होता। वह सब तो पहले कर लेना चाहिये। अंतिम श्रवण केवल एक इशारा है, संकेत है। यह उपदेश भगवान् दक्षिणामूर्ति की चिन्मुद्रा भी हो सकता है। जो यहाँ उमा हैं वे ही दक्षिणामूर्ति भी हैं। यहाँ एक वाक्य बोला गया, यही काम वहाँ मुद्रा से हो गया। लेकिन योग्याधिकारी को ही वह मुद्रा या यह उपदेश समझा सकता है अन्यथा कुछ पता हीं चलना। बल्कि 'ब्रह्म', 'ब्रह्म की ही विजय में तुमने यह महिमा पायी' — ये वचन तत्त्वनिश्चायक हो सकते हैं यही हमें कहाँ समझ आयेगा? यहाँ न अवान्तर वाक्य है, न महावाक्य। उपक्रमादि से भी कोई सम्बन्ध दीखता नहीं। पर हम इंद्र हो जायें तो इसी उपदेश से हम कृतार्थ हो जायेंगे।

'रुद्रपत्न्युमा हैमवतीव' में हैमवती-उमा समानाधिकरण ही मानें तो रुद्रपत्नी की शोभमानता आदि प्रसिद्ध होने से विद्या की शोभा में उसे दृष्टान्त बनाया यह समझना चाहिये।

इन्द्रप्रश्नः

हैमवतीं हेमकृताभरणवतीमिव बहुशोभमानामित्यर्थः। अथवा उमैव हिमवतो दुहिता हैमवती, 'नित्यमेव सर्वज्ञेनेश्वरेण सह वर्तत इति ज्ञातुं समर्था' इति कृत्वा ताम् उपजगाम इन्द्रः तां ह उमां किल उवाच पप्रच्छ- 'ब्रूहि किमेतद् दर्शयित्वा तिरोभूतं यक्षम्?' इति।।१२।।

।। इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छङ्करभगवत्पादकृतौ केनोपनिषत्पदभाष्ये तृतीयःखण्डः ।।

।। इति तृतीयः खण्डः ।।

इन्द्र का प्रश्न

स्वर्णनिर्मित आभरणों से विभूषित की तरह बहुत शोभा वाली या हिमालय की पुत्री हैमवती के पास इन्द्र यह सोचकर आया कि 'ये सर्वज्ञ ईश्वर के साथ हमेशा रहती हैं अतः ज़रूर यह रहस्य जान सकती हैं।' अतः उसने उनसे पूछा, 'स्वयं को दिखाकर छिप जाने वाला यह यक्ष क्या था, बताइये।'

सर्वज्ञ ईश्वर के जो जितना ज़्यादा निकट रहेगा व जितनी ज़्यादा देर रहेगा वह उतना ही अधिक समर्थ होगा ब्रह्म जानने में। सविशेष का दीर्घ नैकट्य निर्विशेषबोध की समर्थता देता है। केनप्रक्रिया में स्वातिरिक्त सभी उपाधियाँ ईश्वर की

हैं इस जागरूकता से प्रतिक्षण व्यवहार नाम-रूपों को गौण-गौणतर बनाता जायेगा। जैसे 'ईश्वर का प्रसाद' — यह दृष्टि आने पर मीठा-फीका आदि भेद गौण हो जाते हैं ऐसे ही सर्वत्र ईश्वरदेहादिदृष्टि होने से देहादि की प्रातिस्विक विशेषतायें धुँधली होती जायेंगी। अतः ईश्वरमात्र को — वही निर्विशेष है — जानने का सामर्थ्य मिल जायेगा।

गुरु निरन्तर ईश्वर संनिधि में हैं इसीलिए वे न केवल ब्रह्म जानते हैं वरन् सही ढंग से बता भी सकते हैं। अतः गुरु के भी निकट लम्बे समय रहने से बोध होता है। सर्वज्ञ मुनि ने कहा है 'शक्तो गुरोश्चरणयोर्निकटे निवासात्' इस पर मधुसूदन स्वामी लिखते हैं कि पाठादि के समय ग्रंथाक्षरादि पर प्रधान ध्यान रहने से बहुतेरी बातें न पूछी ही जाती हैं और न गुरु बता ही सकते हैं। चरणसेवादि के काल में बिना बंधन के वे भी स्वानुभूति के प्रकाश में अनेक पदार्थ प्रकाशित करते हैं और पूछी भी कई बातें कई तरह जा सकती हैं। 'पादसंवाहनादिसमये तत्तत्प्रश्नैः अप्रतिपत्तिविप्रतिपत्तिनिराकरणेन शास्त्रार्थज्ञानरूपसामग्रीसम्भवात्।' अतः दूरसंचारादि माध्यम इस संदर्भ में कारगर नहीं हो सकते। वे केवल जिज्ञासोत्पादक आपात ज्ञान ही कराने में गतार्थ हैं।

'दर्शयित्वा तिरोभूतम्' - यह अन्वयव्यतिरेक है। परमात्मा की सही समझ के लिए वह कैसा-कैसा दीखा और नहीं दीखा यही यौक्तिक उपाय है। नामरूप से एकमेक हुआ सच्चिदानंद दीखता है, फिर वैसा दीखना बंद हो जाता है। थोड़ी देर में किसी अन्य नामरूप से मिलकर दीख जाता है, लुप्त हो जाता है। इन अनुभवों की परीक्षा करें तो पता चलेगा कि नामरूप ही बदल रहे हैं, सच्चिदानंद नहीं। सच्चिदानंद दीख नहीं सकता लेकिन अपनी ओर आकृष्ट कर अपनी वास्तविक जानकारी देने के लिये वह नामरूप से मिलकर ख़ुद को दिखा देता है जैसे दर्पण से मिलकर मुख ख़ुद को दिखा देता है हालांकि अकेला मुँह देखा नहीं जा सकता। लेकिन कहीं नामरूप ही वास्तविक न सकझ लिया जाये इसलिए वह छिप भी जाता है — नामरूप से मिला जुला सच्चिदानंद तिरोहित हो जाता है। इन्द्रभाव को प्राप्त होने पर यह प्रश्न होता है कि जिसके सहारे दिखाया वह नामरूप चाहे जो हो पर जिसने स्वयं को दिखाया और नामरूप हटने से जो छिपा, वह कौन है? अतएव 'जो दीखा और छिपा' ऐसा न कहकर 'दिखाकर छिपे' का प्रश्न किया है।।१२।।

।। तीसरा खण्ड समाप्त हुआ ।।

***

चतुर्थः खण्डः

प्रथमो मन्त्रः

मन्त्रः

सा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति। ततो हैव विदाञ्चकार ब्रह्मेति।।४.१।।

मन्त्रार्थ

सा=उमा देवी ने **ह**=निश्चित रूप से **उवाच**=कहा **इति**=कि '**ब्रह्म**=ब्रह्म।' **इति**=और यह भी कहा कि '**एतत्**=यह जो **महीयध्वम्**=तुम लोग महिमा पा रहे हो वह **ब्रह्मणः**=ब्रह्म की **वा**=ही **विजये**=जीत के कारण है।' **ह**=अवश्य ही इन्द्र ने **ततः**=उससे **एव**=ही '**ब्रह्म**=ब्रह्म' — **इति**=यह **विदाञ्चकार**=जाना।

योग्यभूत इन्द्र ने ब्रह्ममात्रविषयक प्रश्न किया तो उमा ने उतना ही उपदेश दिया। 'यह कौन है?' का पूरा उत्तर हो जाता है यह कहना, 'देवदत्त।' निराकांक्षबोधजनक यदि पद हो जाये तो अध्याहार आदि क्लेश व्यर्थ हैं। महावाक्यों में अखण्डार्थबोध समझाने में मुश्किल पड़े भी तो 'ब्रह्म' इतने से उपदेश में तो अखण्डार्थ समझना कठिन नहीं क्योंकि कोई संसर्ग प्रतीत ही नहीं होता! ब्रह्मपद ही व्यापकार्थक है। सविशेष समझें तो विशेष ही विशेष्य को परिच्छिन्न कर देता है अतः निर्विशेष निर्भेद बोध ही यहाँ संभव है जो इन्द्र को हुआ भी। यदि ब्रह्म को इदन्तया और स्वयं को ज्ञातृतया समझा होता तो ब्रह्मार्थ ही समझा हुआ नहीं कहा जाता। किंच आगे 'नेदिष्ठं पस्पर्श' कहेंगे और समीपता प्रत्यक् में पूरी होती है यह प्रसिद्ध है। अतः इन्द्र को 'ब्रह्म' यह श्रवण कर अखण्ड साक्षात्कार ही हुआ यह निश्चित है। यद्यपि उसने 'एतद्यक्षम्' का प्रश्न किया था तथापि उत्तर में क्योंकि भगवती ने 'ब्रह्म' कह दिया इसलिए इंद्र ने यह ग़लती समझ ली कि जिसे वह 'एतत्' समझ रहा था और समझने वाले को 'अहम्' मानकर उससे भिन्न जान रहा था वह सब भ्रम था। यक्ष तो परिच्छिन्न दीखा था, उसे देवी ने ब्रह्म कह दिया तो इन्द्र को स्पष्ट हो गया कि परिच्छिन्न और परिच्छेदक कल्पित हैं क्योंकि यदि वे वास्तविक होते तो यक्ष ब्रह्म—व्यापक—न होता।

परमार्थ बताकर हैमवती ने सोचा कि इन्द्र के मन में होगा, 'ब्रह्म है तो ये नाम-रूप-कर्म कैसे उपलब्ध हैं?' अतः वे बोलीं कि 'ब्रह्म की ही जीत में तुम्हारी महिमा है।' ब्रह्म का सामर्थ्य भी अपरिमित है अतः सारा नाम-रूप-कर्म प्रपंच उसी का विलास होने से यह उसी परमेश्वर का उत्कृष्ट वर्तन है उत्तम अवस्थान है। इस शिवविजय में उसने ख़ुद छिपे रहते हुए विविध रूपों में अपने को प्रकट किया है। वह 'कभी' भले ही नहीं छिपा, पर छिपा ही रहा है। उसी के कुछ रूप हम हैं, कुछ घटादि पदार्थ। हमारी महिमा— गो-हिरण्यादि से सुखी, प्रसिद्धादि होना आदि— उसी की विजय में हैं क्योंकि हैं हम वही। नामादि को हम अपनी महिमा माने हैं। निश्चयं ही ब्रह्म की विजय से — विविध और उत्कृष्ट रूपों में विद्यमानता से — यह संभव हुआ कि हमें महिमा मिली। हम देखते-सुनते आदि हैं, यह भी हमारी महिमा है। इसमें भी कारण है परमात्मा की विजय, वही जब हमारे श्रोत्रादि का श्रोत्रादि बनता है तभी हम इस महिमा को पाते हैं। महिमा तभी तक है जब तक ब्रह्म की विजय है, वह नाना को संभव बनाये है। जहाँ उसने अपनी विजययात्रा समाप्त की — सम्राट् अशोक की तरह अपनी मायारूप तलवार भी छोड़ी, वहाँ केवल वही है। अतः कहा था 'ब्रह्मेति।' पूर्वतः स्थित अध्यारोप भी तभी तक है और जीवन्मुक्तिदशा का द्वैतोपलंभ भी तभी तक। ब्रह्म की विजययात्रा का अंतिम चरण जीवन्मुक्त का जीवन है। वह यात्रा पूरी कर ब्रह्म ही है। हमारी महिमा है नाम-रूप-कर्म, यह तो फिर नहीं है। ब्रह्म तो ख़ुद ही महिमा है, उस 'की' कोई महिमा नहीं। जो उस 'का' होता है वह सही समझें तो उसका विलास है, खेल है, नाटक है; ग़लत समझें तो उसका प्रतिरोधी है, परिच्छेदक है, उसे अव्यापक बनाता है। नाटक तो ख़त्म होने के लिए ही

होता है, समाप्ति में ही चरमोत्कर्ष की परिस्थिति में नाटक का पूरा सुख होता है। ब्रह्म 'का' जो है — अज्ञान-आज्ञानिक — उसकी भी समाप्तिरूप ब्रह्म ही मोक्ष है। अतः उमा ने कहा कि 'जो महिमा तुम पा चुके वही नहीं, जो अब है और आगे भी तुम पाओगे वह भी उसी की विजय में है।' अर्थात् सृष्टि से ज्ञानपर्यन्त जो कुछ 'हुआ' वह भी ब्रह्म नहीं ब्रह्म 'का' था; ज्ञान 'होना' भी ब्रह्म नहीं ब्रह्म 'का' ही कुछ है — भले ही यह बहुत ख़ास पताका कथा है, पर है उस 'का' ही खेल; ज्ञान रहते जो आगे का खेल चलता है वह भी ब्रह्म नहीं है, उस 'का' ही है।

यों सर्वानुभवोपपादन सहित परमात्मोपदेश मिला इसीलिए इन्द्र ने 'तत एव' उस उपदेश से ही, उमा की कृपा से ही, उमोपदेश ने जब आवरण हटाया तब उसी से जो वह यक्ष था, यही जाना — ब्रह्म। जैसे पूछो, 'यह क्या है?' जवाब मिले, 'घट।' तो ज्ञान क्या होगा? 'घट।' इस ज्ञान में भी संसर्ग-वैशिष्ट्यादि तो भासेंगे नहीं। ऐसे ही उमा ने 'ब्रह्म' कहा तो इन्द्र ने भी 'ब्रह्म' ही समझा। 'यह ब्रह्म है, यक्ष ब्रह्म था, मैंने ब्रह्म को समझा, ये कह रही हैं', इत्यादि प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय आदि किसी भी तरह का भेदोल्लेख नहीं है, 'मैं जान रहा हूँ, या मैं ब्रह्म हूँ यह जाना' ऐसा भी कुछ नहीं। 'मैं' और 'जानना' और 'होना' ये अलग हों तब वैसा उल्लेख संभव हो लेकिन फिर ब्रह्म नहीं होगा। अतः उपनिषत् ने यहाँ ब्रह्मोपदेश और ब्रह्मानुभव को न्यूनतम शब्दों में व्यक्त कर दिया। ब्रह्मशब्द भी इन्द्रबोध में विवक्षित नहीं, केवल उसका लक्ष्य है।

शंकरानंद स्वामी कहते हैं कि भगवती यह शिक्षा दे रही हैं कि तुम तभी महिमा का अनुभव करो जब ब्रह्म की विजय हो, स्वतंत्रता का अभिमान मत करो, ब्रह्मविजय का विचार छोड़कर न अपनी महिमा मानो, न समझो।

उमोपदेशः

सा ब्रह्मेति होवाच। ह किल ब्रह्मण ईश्वरस्यैव विजये—ईश्वरेणैव जिता असुराः, यूयं तत्र निमित्तमात्रम्; तस्यैव विजये यूयं महीयध्वं महिमानं प्राप्नुथ। एतद् इति क्रियाविशेषणार्थम्। मिथ्याऽभिमानस्तु युष्माकमयम् 'अस्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमा' इति।

उमा का उपदेश

उमा ने कहा 'ब्रह्म।' 'ईश्वर की ही जीत हुई थी जिसमें तुम गर्वित हो गये थे। जीते तो असुर ईश्वर ने थे पर केवल निमित्त—बहाना—तुम्हे बना लिया था, उतने में ही तुम फूल गये! तुम लोग ईश्वर की विजय में ही महिमा पाओ। यह जो तुमने सोचा था, निश्चय किया था कि 'हम ही जीते हैं, हमारी ही यह महिमा है', यह तो तुम्हारा मिथ्या अभिमान था।'

'मिथ्यैष व्यवसायः' से भगवान् ने भी अभिमान को ही मिथ्या कहा है। यहाँ न केवल 'अस्माकमेव' मिथ्याभिमान है, 'अयं विजयः, अयं महिमा' भी मिथ्याभिमान ही है। परमार्थतः न कोई विजय है, न तन्निमित्तक महिमा। किसी की सीप पड़ी हो और हमें लगे 'हमारी चाँदी पड़ी है' तो न केवल 'हमारी' भ्रम है वरन् 'चाँदी पड़ी है' भी भ्रम ही है। संसार स्वयं ही विभ्रम मात्र है, मिथ्याभिमान से अन्य इसका कुछ निरूपण नहीं है। दृष्टिसृष्टि और विज्ञानवाद या आधुनिक 'आदर्शवाद' के भेद अन्यत्र निरूपित हैं अतः मतान्तर-स्वीकार का भय नहीं रखना चाहिये। 'तु' से बताया कि जब अभिमानी ही — अभिमानितादात्म्यापन्न ही — मिथ्या है तो अभिमान का क्या कहना! 'युष्माकम्' बहुत हैं पर सब का अभिमान एक ही है। अभिमानी हुए तो हम अनंत हैं लेकिन अभिमान तो बस यही है — 'हमारा है', 'विजय है', 'महिमा है।' विजय है नाम-रूप-कर्मात्मक संसार। उस पर 'हमारा' मोहर लगी तो कर्तृत्व हो गया। उसी पर कर्तृत्व के बाद 'हमारा' मोहर लगी तो महिमा हो गयी, भोक्तृत्व हो गया। जब तक हम अभिमानी हैं तब तक कर्तृत्व-भोक्तृत्व और संसार है। हमारा अभिमान समूल हटा तो ये हैं ही नहीं केवल ब्रह्म है।

न विद्या विना गुरुम्

तां च पृष्ट्वा ततः तस्मादुमावाक्यात्, *तस्या एव वचनाद्* ह एव विदाञ्चकार *विदाञ्चकार विदितवान्* ब्रह्मेति इन्द्रः। अवधारणात्– 'ततो हैव' इति– न स्वातन्त्र्येण।

गुरु बिना विद्या नहीं

उमा से पूछकर उन्हीं के वचन से इन्द्र ने ब्रह्मानुभव पाया। श्रुति ने 'एव' (ही) कहकर स्पष्ट कर दिया कि स्वतंत्र होकर यह साक्षात्कार नहीं मिल सकता, गुरु से ही मिलेगा।

विद्याशक्तिरुमा

अत इन्द्रस्य बोधहेतुत्वाद् विद्यैवोमा। 'विद्यासहायवानीश्वर' इति स्मृतिः॥१॥

उमा हैं विद्याशक्ति

इन्द्र को जो आत्मबोध हुआ उसमें हेतु बनी उमा अतः विद्या ही उमा है। स्मृति में भी कहा है कि ईश्वर की सहचर है विद्या। जो सात्त्विक शक्ति चित्संवलित होकर तत्त्वज्ञान में हेतु बने उसे विद्या कहा। यद्यपि अंततः मनोवृत्ति और चेतन संपृक्त हों तभी ज्ञान होगा तथापि चित्त में वह सामर्थ्य ईश्वर की ही विद्याशक्ति से आता है। माया ही विद्याशक्ति भी है। माया से मन बना है तो मन का ज्ञानसामर्थ्य माया से ही है। मन में बीजरूप से पड़े सामर्थ्य को कार्यकारी बनाने के लिए भी कोई ऊर्जा चाहिये, क्योंकि अन्तर्हित शक्ति भी प्रकट शक्ति बनने में अपने से अन्य शक्ति चाहती है; ईश्वर की विद्याशक्ति–उमा, गुरु – वह ऊर्जा है जो मन की योग्यता उद्बुद्ध कर अखण्डवृत्ति बना देती है॥१॥

द्वितीयो मन्त्रः

विद्या प्राशस्त्यहेतुः

यस्माद् अग्निवाय्विन्द्रा एते देवा ब्रह्मणः संवाददर्शनादिना सामीप्यमुपगताः, *यस्माद् इन्द्रविज्ञानपूर्वकम् अग्निवाय्विन्द्रास्ते ह्येनद् नेदिष्ठमतिसमीपं ब्रह्मविद्यया ब्रह्म प्राप्ताः सन्तः पस्पृशुः, स्पृष्टवन्तः–ते हि* प्रथमः *प्रथमं* विदाञ्चकार *विदाञ्चक्रुरित्येतत्–*

श्रेष्ठता का हेतु है विद्या

अग्नि, वायु और इन्द्र– ये देव परमात्मा के निकट पहुँचे, उनका दर्शन कर पाये और अग्नि-वायु ने उनसे बात की, इसलिये ये श्रेष्ठ हैं। पहले इन्द्र ने फिर अन्य दोनों ने ब्रह्मज्ञान से परमेश्वर को प्रत्यग्रूप से पाया। पहले-पहल जानने वाले होने से उनकी महत्ता है यह मंत्र से कहा जा रहा है–

मन्त्रः

तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान् देवान् यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पृशुस्ते ह्येनत्प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति॥४.२॥

मन्त्रार्थ

यत्=जो प्रसिद्ध अग्निः=अग्नि वायुः=वायु इन्द्रः=और इन्द्र देव हैं, उन्होंने हि=क्योंकि एनत्=इस यक्ष को नेदिष्ठम्=बहुत पास से पस्पृशुः=छुआ, प्रथमः=पहले-पहल इसे ब्रह्म='ब्रह्म' – इति=ऐसा विदाञ्चकार=जाना, तस्मात्=इसलिए वै=ही एते=ये देवाः=देव अन्यान्=अन्य देवान्=देवताओं से अतितराम्=अधिक दीप्तिमान् इव=ही हैं।

उमा से इन्द्र ने जाना, उनसे इन दोनों देवों ने भी जान लिया। अन्य देवताओं ने भी भले ही जानकारी पायी हो तथापि क्योंकि न यक्ष के करीब आकर व्यवहार किया और न तीव्रतम जिज्ञासु होकर उमा का उपदेशामृतपान किया, इसलिए वे इन देवों जितने दीप्तिमान् नहीं। तत्त्वनिश्चय वाला मन प्रमुखरूप से शिव के अनुरूपतम प्रतिबिम्बयुक्त होता है, उस मन से सम्बद्ध ज्ञान-कर्म भी हैं दीप्ति वाले पर कुछ कम। विद्वान् मन से तो विस्पष्ट समझता है वास्तविकता को, इन्द्रिय व्यवहार करते हुए अनेक प्रतिबंध आते हैं अतः उतनी स्पष्टता व्यक्त नहीं हो पाती। साक्षिरूपता जितनी दृढता मुक्त

के प्रमातृरूप में नहीं और उसके कर्तृभोक्तृरूप में दार्ढ्य और कम है। जितनी उपाधि बढ़ती है उतनी औपाधिकता अधिक हो जाती है। वह ख़ुद तो साक्षिमात्र है, पूर्णनिष्ठ है। जो कुछ उपलब्ध हो रहा है वह उपाधिप्रयुक्त है अतः उसमें कमोबेश होता रहता है। यह अंतर मोक्ष में अकिंचित्कर है, मुक्त के लिए उपेक्ष्य है। जो मुक्त को देखकर शिक्षा चाहे उसे इसका ध्यान रखना चाहिये कि औपाधिक अनिवार्यता के परिप्रेक्ष्य में निष्ठा का परिचय पाये, दर्पण की सीमायें जानते हुए प्रतिबिम्ब से बिम्ब पहचाने।

'नेदिष्ठम्' से अभेद साक्षात्कार कहा गया है। ज्ञानेन्द्रियाँ सब करती हैं स्पर्श ही, तरीकों में फ़र्क है। कुछ आधुनिक भी त्वगिंद्रिय के परिवर्तित रूप अन्य ज्ञानेन्द्रियों को मानते हैं। सभी विषयों को 'स्पर्श' कहकर भगवान् श्रीकृष्ण ने भी यह रहस्य ध्वनित किया है। छूकर चीज़ का तो पता लगता है पर उसके नाम का या लाल-पीले आदि रूप का पता नहीं चलता। नाम-रूप परित्यागपूर्वक यक्षमात्र की जानकारी के लिए इसीलिए छूने अर्थ वाला शब्द रखा है। विषयतया स्पर्श की व्यावृत्ति 'नेदिष्ठ' से की है। 'पस्पृशुः' की बहूक्ति यह द्योतित करती है कि यह संभव ही नहीं कि मुक्त के जीवनकाल में मन-ज्ञान-कर्म आत्मप्रकाश की पावन गरिमा से अस्पृष्ट रहें। इनमें अतिशय इसीलिए है कि ये ब्रह्मस्पर्श वाले हैं। ऐहिक-आमुष्मिक चेष्टायें और ज्ञान यदि महत्त्व वाले होते हैं तो मात्र इसलिए कि वे यथासंभव ब्रह्मनैकट्य पाकर ब्रह्मस्पर्श वाले होते हैं। अग्नि-वायु तो सविशेषस्पर्श से ही विशेष हो गये। सोपाधिक साक्षात्कार चाहे निरुपाधि के संदर्भ में बाध्य ही है, लेकिन है ब्रह्मसाक्षात्कार ही अतः उससे भी अतिशयता निरवधि ही है। निर्विकल्पसाक्षात्कार वही पाता है जो सविकल्प का दर्शन कर चुका है। केनप्रक्रिया में यह और भी स्पष्ट है। अतः आगे इन्द्र की अधिक विशेषता कहने जा रहे हैं। यहाँ 'अग्निः वायुः इन्द्रः' यों असमस्त उल्लेख सूचित करता है कि निर्विशेष दर्शन से निरपेक्ष भी ब्रह्मस्पर्श अतिशय का आधायक है। अग्नि और वायु न केवल इन्द्र से प्राप्त निर्विकल्पबोध के कारण श्रेष्ठ हैं वरन् यदि यह बोध न भी पाते तो भी यक्ष-दर्शन-संवादादि के कारण, निवृत्ताभिमानिता के कारण, अपना असामर्थ्य पहचानने के कारण भी श्रेष्ठ होते ही। परमेश्वर से संबद्ध सभी कुछ उस सबसे कहीं बेहतर है जो उनके संबंध से रहित है। अतएव पुराणादि में कहा है कि भक्त शूद्र अभक्त विप्र से श्रेष्ठ है।

'प्रथमम्' की जगह क्रियाविशेषण को श्रौत स्वातन्त्र्य से 'प्रथमः' कहा मानकर 'पहले-पहल' अर्थ समझना चाहिये। वास्तविकता का प्रथम अप्रतिबद्ध दर्शन सर्वाधिक दीप्तिमान् है क्योंकि अविद्यानिवर्तक है। अविद्या हट चुकने पर जो दर्शन जीवनपर्यन्त बने रहते हैं, मुक्त को यावज्जीवन अपने सब बोध 'प्रति' के प्रतिबिम्ब दीखते रहते हैं, वे उतने दीप्त नहीं क्योंकि उन्हे अविद्या हटानी नहीं, अविद्या है ही नहीं कि वे हटायें। अतः अखण्डसाक्षात्कार से जब सकार्याविद्याबाध हो चुका तब मोक्ष हो चुका; फिर मनोनाश-वासनाक्षय हो तो जीवन्मुक्ति का सुखविशेष रहेगा, न हो तो वह नहीं रहेगा, पर अविद्या हट गयी है, मोक्ष हो गया है, वह वैसा ही रहेगा। सर्वोद्दीप्त वही दर्शन है जो प्रथम इसलिए है कि वैसा कोई द्वितीय है ही नहीं, हो सकता ही नहीं क्योंकि अविद्या एक और अनादि है।

भाष्यादि में 'प्रथमः' से प्रधान-अर्थ बताया है, देवताओं में प्रधान इन तीनों ने पास से छुआ — यह संबंध है। लोक-परलोक की प्रवृत्तियों को ईश्वरैकोन्मुख बनायेंगे तभी वे प्रधान होंगी, मन में तीव्रतम जिज्ञासा लायेंगे तभी वह प्रधान होगा; ये तीनों प्रधान होंगे तभी निकटतम स्पर्श होगा। लोक-प्रवृत्तियाँ अर्थात् वृत्तिधर्म, भोजनादि। इनमें भी शिवप्रसन्नतार्थकता को लक्ष्य करना पड़ेगा। भोगार्थ लोकप्रवृत्ति रहते यक्षदर्शन ही संभव नहीं तो उसे 'ब्रह्म' जानने की कहाँ संभावना है?

'एनत् ब्रह्मेति' से स्पष्ट किया कि सविशेष को ब्रह्ममात्र जानना है। हम भी सविशेष के ही एकदेश ही तो हैं।

मन्त्रार्थः

तस्माद् ऐश्वर्यगुणैः अतितरामिव शक्तिगुणादिमहाभाग्यैः अन्यान् देवान् अतितराम् अतिशयेन शेरत इव एते

देवाः। इव-शब्दोऽनर्थकोऽवधारणार्थो वा। यद् अग्निः वायुः इन्द्रः, ते हि देवा यस्माद् एनद् ब्रह्म नेदिष्ठम् अन्तिकतमं प्रियतमं पस्पृशुः स्पृष्टवन्तो यथोक्तैर्ब्रह्मणः संवादादिप्रकारैः। ते हि यस्माच्च हेतोः एनद् ब्रह्म प्रथमः प्रथमाः प्रधानाः सन्त इत्येतद्, विदाञ्चकार विदाञ्चक्रुरित्येतद्, ब्रह्मेति *तस्माद् अतितराम् अतीत्यान्यानतिशयेन दीप्यन्ते। अन्यान् देवान्।।२।।*

मन्त्र का अभिप्राय

क्योंकि लब्धब्रह्मदर्शन हैं इसलिए अग्नि आदि तीनों देवताओं की विद्यमानता ही अन्य देवताओं से अतिशय वाली है। इनमें ईश्वरता के गुण अधिक हैं। महान् सौभाग्य रूप शुद्ध शक्ति, सद्गुण आदि से ये सर्वाधिक परिपूर्ण हैं। इस बात में कोई संदेह नहीं। श्रुति में 'इव' शब्द 'एव' के अर्थ में है। यह इतना स्पष्ट है और वाक्य की सावधारणता इतनी प्रसिद्ध है कि यह भी कह सकते हैं कि किसी खास प्रयोजन से 'इव' नहीं कहा; यह न भी कहते तो भी बात यही व्यक्त होती। या अन्य देवता अपनी तौहीन मानकर दुःखी न हों, कोई अल्पमेधा अन्यों का निरादर न करे, इसलिए 'इव' कहा! इन देवों की अतिशयता में कारण है कि पूर्वोक्त बात-चीत आदि ढंगों से इन्होंने निकटतम प्रियतम का स्पर्श किया। जो अपने प्रियतम का निकटतम स्पर्श पाये वही बड़भागी प्रसिद्ध भी है। इस तरह के स्पर्श के लिए उसे अपने बहुत पास लाना पड़ता है, वह हममें-हम उसमें हों, हम दो न रहें, तभी निकटतम स्पर्श है। जब तक ईश्वर मैं नहीं हो, मैं ईश्वर न हो जाऊँ तबतक न वह प्रियतम है, न उसका स्पर्श निकटतम। होगा यह यथोक्त प्रकारों से ही। इन देवताओं ने प्रधान रहते हुए 'ब्रह्म'—यह समझा, इसलिए इनकी दीप्ति अन्य देवताओं से अत्यधिक है।

मुक्त का व्यावहारिक रूप शक्तिगुणादिमहाभाग्य ऐश्वर्यगुणों से युक्त रहता है। अतः शास्त्र में उसके पूजनादि का माहात्म्य है। वस्तुतः ईश्वर की मोचकता मुक्त में व्यक्त होने से एक विशेष ऐश्वर्यगुण इसमें होता है, मुक्त सब को मुक्त कर सकता है। ईश्वर मुक्त के द्वारा सबको मुक्त करता है; ईश्वर जब मुक्त का रूप लेकर आता है तभी अधिकारी को तत्त्वबोध संभव होता है। रूपान्तरों में उपस्थित ईश्वर से यह नहीं होता। बद्ध चित्त में बीजरूप से पड़ी ज्ञानशक्ति को कार्यकारी बनने के लिए जो बाह्य ऊर्जा चाहिये वह ऊर्जा—शक्ति—मुक्त में ही है। अद्वेष्टृत्व-अमानित्व आदि सकल गुण अपनी पूर्णता में वहीं मिलते हैं। ऐश्वर्य-धर्म-यश आदि की व्यावहारिक उपलब्धि वहीं है। अन्य देव, विद्यान्तर के शिक्षक, भी दीप्ति वाले हैं पर परविद्या का आचार्य सर्वाधिक दीप्ति वाला है।

मुक्त मानो बहुत अधिक सोता है! सोने में कोई प्रयास नहीं, कोई अभिमान नहीं, विषयोपलब्धि नहीं। ज्ञानी भी इसी तरह रहता है। यद्यपि प्रारब्धवेग से विषयोपलब्धि हो भी जाती है तथापि निद्रालु की तरह वह उससे हटकर पुनः ब्रह्मनिष्ठता की ओर जाता है जिसे पंचदशी में कहा कि मानों बड़े क्लेश से वह भोगादि सहता है। क्लेश दुःखात्मक नहीं, वैराग्यरूप या उपरतिरूप है यह वहाँ स्पष्ट है।।२।।

तृतीयो मन्त्रः

इन्द्रस्य दीप्ततमता

यस्मादग्निवायू अपीन्द्रवाक्यादेव विदाञ्चक्रतुः, इन्द्रेण हि उमावाक्यात् प्रथमं श्रुतं 'ब्रह्म' इति, अतः—

इन्द्र की अधिक दीप्ति

अग्नि और वायु ने भी यक्ष की वास्तविकता इन्द्र के वाक्य से ही समझी। इन तीन देवों में भी सबसे पहले तो इन्द्र ने ही भगवती उमा के वाक्य से 'ब्रह्म' यह उपदेश सुना और समझा। इसलिए इन तीनों में भी इन्द्र की दीप्ति और ज़्यादा है यह तीसरा मंत्र कह रहा है।

मन्त्रः

तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान् देवान् स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श स ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ।।४.३।।

मन्त्र का अक्षरार्थ

हि=क्योंकि **इन्द्रः**=इन्द्र ने **एनत्**=इसे **नेदिष्ठम्**=बहुत ही पास से **पस्पर्श**=छुआ, **सः**=उसने **हि**=ही **एनत्**=इसे **'ब्रह्म**=ब्रह्म' **इति**=ऐसा **प्रथमः**=सबसे पहले **विदाञ्चकार**=अनुभव किया, **तस्माद्**=इसलिए **वै**=ही **सः**=वह **अन्यान्**=अन्य **देवान्**=देवों से **अतितराम्**=अधिक तेजस्वी **इव**=ही है।

कथानक का उपसंहार किया जा रहा है। देवान्तर से त्रिदेव की श्रेष्ठता बताकर इनमें भी सर्वाधिक दीप्ति इन्द्र की है यह स्पष्ट किया है। ऐसा तो हो नहीं सकता कि इन्द्र बहुत नज़दीक से जाने, अग्नि-वायु कुछ कम नज़दीक से, अन्य देवता और दूर से जानें! सविशेष में ही यह संभव है, निर्विशेष में नहीं। इसमें तो, जैसा बृहदारण्यक में कहा है, देव, मनुष्य, ऋषि जिसने भी जाना वह तद्रूप ही हो गया; तारतम्य नहीं है। अतः देवव्यक्तियों के ज्ञानों में किसी विशेष के अभिप्राय से नहीं कहा, बल्कि कोषक्रम से विज्ञानमय में आत्मप्रकाश स्पष्टतम होगा, तदनंतर कुछ अस्पष्टता बढ़ेगी, इस अभिप्राय से कहा है। उपायान्तर की महत्ता बताकर समझा रहे हैं कि सर्वाधिक महत्ता मन की है अतः इसकी तैयारी में पूर्ण तत्परता चाहिये।

श्रुत्यर्थः

तस्माद् वै इन्द्रः अतितराम् अतिशयेन शेत इव अन्यान् देवान्। *ततोऽपि इन्द्रोऽतितरां दीप्यते, आदौ ब्रह्मविज्ञानात्।* स हि एनद् नेदिष्ठं पस्पर्श यस्मात् स हि एनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति। उक्तार्थं वाक्यम्।।३।।

श्रुति का अर्थ

पूर्व कथा से स्पष्ट है कि अन्य देवताओं से इन्द्र का अधिक अतिशय है। सर्वप्रथम ब्रह्मसाक्षात्कार पाने से वह अग्नि-वायु से भी ज़्यादा दीप्ति वाला है। सर्वाधिक निकटता से और सभी से पहले समझने वाला वही तो है।।३।।

चतुर्थो मन्त्रः

मन्त्रः

तस्यैष आदेशो यदेतद् विद्युतो व्यद्युतदा ३ इतीन्न्यमीमिषदा ३ इत्यधिदैवतम् ।।४.४।।

मन्त्रार्थ

तस्य=उस ब्रह्म के बारे में **एषः**=यह **आदेशः**=सोदाहरण उपदेश है : **यत्**=जो **एतत्**=यह **आ**=जैसे **विद्युतः**=बिजली का **व्यद्युतत्**=चमकना होता है **इत्**=और **आ**=जैसे **न्यमीमिषत्**=पलकों का झपकना होता है; ऐसा वह ब्रह्म है। **इति**=इस तरह **अधिदैवतम्**=देवतासम्बन्धी कार्यों के सहारे उपदेश है।

ब्रह्म की ज्ञान-क्रिया शक्तियाँ उदाहरणद्वय से कही हैं यह नारायणाचार्य प्रकाशित करते हैं। शंकरानंद स्वामी 'यत्' से शास्त्रप्रसिद्ध स्वप्रकाश ब्रह्मरूप का एवं 'एतत्' से वक्ष्यमाण बुद्धि-द्रष्टा रूप का परामर्श करते हैं। इससे केनेषितमादि प्रसंग की अनुरूपता स्फुट होती है। 'आ ३' का प्लुत उच्चारण वे आश्चर्यसूचक समझाते हैं। आश्चर्य यह है कि ब्रह्म लोकसिद्ध तेज से—रोशनी से — विलक्षण होने पर भी बिजली से भी ज़्यादा स्पष्ट चमकता है। स्वप्रकाश की स्पष्टता के सामने प्रमेयों की — प्रमा के माध्यम से स्पष्ट होने वालों की — स्पष्टता फीकी पड़ जाती है। 'विद्युतः' अर्थात् बिजली से

भी ज़्यादा 'व्यद्युतत्' अर्थात् विशेषता से अपना प्रकाशन किया। 'न्यमीमिषत्' से बताया कि ब्रह्म ने अंतःकरण समेत सब इंद्रियों से अपना-अपना काम कराया; ब्रह्म ही इनसे कार्य कराता है क्योंकि वही इनका इषिता-प्रेषिता है। यह भी आश्चर्य ही है कि सर्वथा क्रियासंबंध से रहित परमेश्वर उन सब क्रियाओं को करवाता है जिन्हे देवता लोग किया करते हैं! परमात्मा के हिरण्यगर्भरूप के संदर्भ में होने से यह अधिदैवत उपदेश है। सारी ज्ञान-क्रियाशक्तियों वाला ईश्वररूप ही हिरण्यगर्भ कहा जाता है।

आगे भाष्यकार बतायेंगे कि अधिदैवतरूप से ब्रह्म तेज़ी से प्रकाशित होता है, अध्यात्मरूप से तो जब-जब मनोवृत्ति हो तब-तब प्रकाशित होता रहता है। यक्ष भी तेज़ी से ही आकर निकल गया था। भक्तादि भी अपने अनुभव कहते हैं कि दिव्यरूप जल्दी ही दीखकर अतंर्धान हो जाता है। भगवान् ने नारदजी को इसका रहस्य भी समझा दिया है कि 'दीखने' वाला रूप तो मायिक है, उसमें फँसना नहीं, उसे दरवाज़ा बनाना है वास्तविक दर्शन का, अतः भगवान् वह रूप दिखाकर रास्ते चलाते हैं और परमार्थ-दर्शन तक पहुँचाते हैं।

मूर्ति की तरह रोशनी भी परमेश्वर-प्रतीक है। यद्यपि जो हम 'रोशनी' शब्द से जानते हैं वह या वैसा परमात्मा नहीं है तथापि इस रोशनी को प्रतीक बनाकर उनकी उपासना की जा सकती है। बिजली की चमक सबसे तेज़ दृष्ट प्रकाश है। आधुनिकों का अनुमान भी कहता है कि उस चमक में बेहिसाब बिजली (electricity) उत्पन्न होती है। फिर भी प्रकाश वह शीतल होता है, चन्द्रप्रभासदृश होता है। वैसे प्रकाश को शिवरूप समझकर ध्यान करना चाहिये। 'अधूमक ज्योति की तरह' आदि अन्यत्र भी श्रुतियाँ बताती हैं। है यह उपमा से उपदेश अतः ऐसा रोशनीरूप ब्रह्म नहीं कहा जा रहा।

पलक झपकने में 'न दीखना' तो भासता है, 'अँधेरा दीखना' नहीं भासता। जैसे प्रकाश भावरूप प्रतीक है ऐसे 'न दीखना' अभावरूप प्रतीक है, इसमें भी ब्रह्मदृष्टि करनी है। अँधेरा तो फिर एक भावपदार्थ हो जायेगा, अतः केवल प्रकाश का तिरोभाव ही यहाँ उपमा या प्रतीक है। भावाभावविनिर्मुक्त शिव को समझने के लिए दोनों को प्रतीक बनाया। दोनों में शिवदृष्टि होगी तभी दोनों के व्यभिचार से निश्चय होगा कि शिव उभयान्य हैं। लोकानुभव में जो भावरूप मिले वह और जो अभावरूप मिले वह, दोनों को महेश्वर का तनु समझना चाहिये। केवल अच्छे और बुरे में ही नहीं जो अच्छा या बुरा नहीं है वह भी शिवदेह ही है। केवल 'है' में ब्रह्मदृष्टि वाले सविशेष में फँसेंगे ही, केवल 'नहीं है' को कल्याण समझने वाले शून्य की खाई में — काले खड्डे में — पड़ेंगे ही। औपनिषद विदिताविदितान्य की तरह 'न सत्तन्नासद्' भी कहता है। अतः केवल भावमूर्तियाँ ही नहीं यहाँ अभावमूर्ति भी प्रतिपादित कर दी है। यद्यपि आकाश, वायु भावरूप हैं तथापि प्रकाश की दृष्टि से उन्हे निष्प्रकाश या प्रकाशाभावरूप समझना युक्त है। चिदम्बर और श्रीकालहस्तीश्वर में जो आकाशलिंग और वायुलिंग स्वीकृत हैं उनमें शिवोपासना करना इस उपासना का अनुष्ठान माना जा सकता है। सर्वत्र आकाश-वायु तो हैं ही उपास्य, अष्टमूर्तियों में हैं, लेकिन आरंभ में सीमित में ही उपासना हो सकती है जैसे सारा जल शिवतनु होने पर भी गंगादि जलों में उपास्यताबुद्धि हो जाती है। किन्तु अकाशादि के भावरूप का परामर्श न कर उनके 'न दीखने' का परामर्श करना चाहिये और यह जो 'न दीखना' है इसे शिव समझना चाहिये।

आदेशः

तस्यैष आदेशः। तस्य प्रकृतस्य ब्रह्मणः। *तस्य ब्रह्मण* एष एष *वक्ष्यमाण* आदेश आदेश उपमोपदेश *उपासनोपदेश इत्यर्थः।* निरुपमस्य ब्रह्मणो येनोपमानेनोपदेशः सोऽयमादेश इत्युच्यते।

आदेश

अब जो बतायेंगे वह उपमा के सहारे ब्रह्म का उपदेश है। इसे ही यहाँ आदेश कहा है। है यह उसी ब्रह्म का उपदेश जो 'केनेषितम्' से पूछा गया और जिसने यक्षरूप से दर्शन दिया। उपमा इसलिए है कि उपासना संभव हो।

भले ही ब्रह्म के लिए कोई समुचित दृष्टांत न हो, फिर भी जिस किसी से उसकी समानता दी जाती है वह भी दृष्टांत तो है ही। ऐसे दृष्टान्त के साथ ब्रह्म बताने के लिए 'आदेश' शब्द है।

विद्योतनमिव ब्रह्म

किं तत् ? यदेतत् प्रसिद्धं लोके विद्युतो व्यद्युतद् विद्योतनं कृतवद्—इत्यनुपपन्नमिति—विद्युतो विद्योतनमिति कल्प्यते। *यस्माद् देवेभ्यो विद्युदिव सहसैव प्रादुर्भूतं ब्रह्म द्युतिमत्, तस्माद्* विद्युतो *विद्योतनं यथा यदेतद् ब्रह्म* व्यद्युतद् *विद्योतितवत्।* आ इत्युपमार्थे—*आ इव, इत्युपमार्थ आशब्दः।* विद्युतो विद्योतनमिवेत्यर्थः; *यथा घनान्धकारं विदार्य विद्युत् सर्वतः प्रकाशत एवं तद् ब्रह्म देवानां पुरतः सर्वतः प्रकाशवद् व्यक्तीभूतमतो व्यद्युतदिव—इत्युपास्यम्। 'यथा सकृद्विद्युत्तम्' (बृ.२.३.६) इति च वाजसनेयके।* 'यथा सकृद्विद्युत्तम्' इति श्रुत्यन्तरे च दर्शनाद् विद्युदिव हि सकृदात्मानं दर्शयित्वा तिरोभूतं ब्रह्म देवेभ्यः।

ब्रह्म चमकने की तरह है

वह उपमान है क्या? जो यह सर्वलोकप्रसिद्ध बिजली का चमकना है — यह उपमान है। 'व्यद्युतत्' का शाब्दिक अर्थ है 'चमकना किया'। क्योंकि यह अर्थ प्रकृत में संगत नहीं इसलिए यह समझना चाहिये कि 'व्यद्युतत्' का अर्थ है 'विद्योतन'। यथाश्रुत में अनुपपत्ति क्या है? 'विद्युतो व्यद्युतत्' का यदि मतलब हो 'बिजली से चमकना किया, या चमका', तो ग़लत होगा क्योंकि परमात्मा स्वप्रकाश है, उसके लिए ऐसा दृष्टान्त नहीं दिया जायेगा कि वह कैसा है जैसा कोई दूसरे से चमकने वाला। यदि 'विद्युतः' को षष्ठ्यन्त मानकर 'बिजली का चमकना किया' अर्थ करें तो भी ग़लत है क्योंकि बिजली का चमकना तो बिजली ही कर सकती है, दूसरा कैसे करेगा? चमक का आश्रय ही तो उस चमकने का कर्ता होता है। इसलिए यथाश्रुत तो संगत है नहीं अत: 'व्यद्युतत्' यद्यपि क्रियारूप से कह रहा है, तिङन्त है, तथापि इससे समझ लेना चाहिये क्रिया की सिद्धावस्था को; 'विद्योतन' कृदन्तरूप है और कृत् से कही क्रिया द्रव्य की तरह प्रतीत होती है। धात्वर्थ बदले बिना यह कल्पना संगत हो जाने के कारण यही श्रुत्यर्थ है। प्रत्ययों का व्यत्यय तो सह्य है।

देवताओं पर कृपाकर उनके संमुख परमात्मा अचानक ही बिजली की तरह प्रकट हुए और वह रूप चमकदार था। अतः जैसे प्रसिद्ध बादलों की बिजली का चमकना होता है वैसे यह हुआ जो ब्रह्म का (यक्षरूप से) चमकना था। जैसे घने अँधेरे को काटकर बिजली सब ओर प्रकाशती है ऐसे वह परमेश्वर देवताओं के सामने व्यक्त हुए थे, सब ओर प्रकाश रहे थे। प्रकाश सर्वत्र फैलने पर भी तडिद्रेखा बादलों में ही दीखती है, ऐसे तेज:पुंज यक्षदेह एकत्र मिलने पर भी तेज सर्वत्र फैला दीख रहा था यह भाव है। अतः 'चमकने की तरह' — यह उपासना करनी चाहिये। बृहदारण्यक में भी ब्रह्म के मूर्त-अमूर्त दो रूपों का प्रसंग उठाकर करणात्मा पुरुष के रूप का दृष्टान्त देते हुए कहा है 'जैसे एकबार बिजली-चमकना होता है' ऐसे कुछ वासनायें उत्पन्न होती हैं। अव्याकृत से (अर्थात् ईश्वर से) प्रादुर्भूत होते हुए हिरण्यगर्भ की वासनायें बिजली की तरह एक बार में ही उद्बुद्ध हो जाती हैं और तदनुसार सारी वस्तुएं प्रकट होती हैं। हिरण्यगर्भ को एक बार में ही सारी उपयुक्त स्मृति आ जाती है, उन्हे याद करने के लिए ज़ोर नहीं लगाना पड़ता, यह उनके ज्ञान की सहसिद्धता है। बिजली की तरह सब वासनाओं की उद्बुद्धता को वहाँ उपास्य कहा है ख्यातिलाभ फल बताया है। यहाँ भी बिजली की तरह एक बार ख़ुद को दिखाकर ब्रह्म देवताओं के लिए छिप ही गये थे। अतः जैसे बृहदारण्यक में हिरण्यगर्भ की उपासना विहित है वैसे यहाँ भी 'बिजली की तरह चमकना रूप से उपासना विहित समझनी चाहिये। ईश्वरोपासना होने पर भी 'अधिदैवतम्' से देवपरिच्छेद में होने के कारण यह भी हिरण्यगर्भरूप की उपासना है। अतः बृहदारण्यक की समानता स्फुट है। उपास्य का अभेद होने पर भी 'नाना शब्दादिभेदात्' (३.३.५८) न्याय से विद्याभेद ही मानना चाहिये। वहाँ वासनासन्दर्भ

है, यहाँ केन में वह नहीं, सिर्फ आविर्भाव का ग्रहण है। भाष्य में परामर्श इसलिए है कि यह स्पष्ट हो कि ऐसी हिरण्यगर्भोपासना अन्यत्र भी प्रसिद्ध है।

तेजइत्यध्याहार्यं वा

अथवा विद्युतः 'तेज' इत्यध्याहार्यम्; व्यद्युतद् विद्योतितवद् आ इव विद्युतः तेजः। सकृद्विद्योतितवदिवेत्यभिप्रायः। इतिशब्द आदेशप्रतिनिर्देशार्थः— इत्ययमादेश इति। 'इत्'-शब्दः समुच्चयार्थः।

'व्यद्युतत्' की वैकल्पिक योजना

यदि 'व्यद्युतत्' से 'विद्योतनम्' समझने में क्लेश हो तो 'तेज' शब्द का अध्याहार कर यह वाक्यार्थ समझना चाहिये : जैसे बिजली का तेज एक बार में ही पूरा चमक जाता है, ऐसा वह ब्रह्म है।

श्रुति में 'इति' से 'आदेश'-शब्द का परामर्श कर दिया और 'इत्' से दोनों आदेशों को जोड़ दिया। अर्थात् चमकने और पलक झपकने के आदेशों का समुच्चय है।

इस विकल्प मे भी अर्थ वही है केवल योजना में फ़र्क है। दोनों उपमानों का समुच्चित अभिप्राय टीका में समझाया है; वह निमेषोपमान के वर्णन के बाद स्पष्ट किया जायेगा।

आदेशान्तरम्

यस्माच्चेन्द्रोपसर्पणकाले न्यमीमिषद्, यथा कश्चिच्चक्षुर्निमेषणं कृतवानिति **अयं चापरस्तस्यादेशः। कोऽसौ? न्यमीमिषत्—यथा चक्षुर्न्यमीमिषद् निमेषं कृतवत्। स्वार्थे णिच्। इति इद् *इत्यनर्थकौ निपातौ।* उपमार्थ एव आकारः। *निमिषितवदिव तिरोभूतं,* चक्षुषो विषयं प्रति प्रकाशतिरोभाव इव चेत्यर्थः।**

इत्यधिदैवतम्। इति *एवम्* अधिदैवतं *देवताया अधि यद् दर्शनमधिदैवतं तत्;* **देवताविषयं ब्रह्मण उपमानदर्शनम्।।४।।**

दूसरा आदेश

इन्द्र पास आया तो यह ब्रह्म वैसे ही लापता हो गया जैसे कोई पलक झपक ले! पलकें मिला लें तो चीज़ दीखती नहीं, हो चाहे वहीं। ऐसे ही यक्ष कहीं गया नहीं, दीखना बंद हो गया। यहाँ जल्दी और अनायास अंतर्धान में अभिप्राय है। टीकाकार कहते हैं कि प्रसिद्ध है कि आँखों की पलकें जल्दी झपकती हैं। ऐसे ही सृष्टि आदि में परमेश्वर के लिए रुकावट तो कोई है नहीं, अतः सृष्टि आदि बहुत शीघ्र कर देना — यह उनकी विशेषता है। पलक झपकने की तरह उत्पत्ति आदि में उन्हे आयास भी कुछ नहीं पड़ता। 'न्यमीमिषदा' से यह अधिदैवत गुण कहा है : 'अनायास तुरंत सृष्टि आदि करने वाला' यों ईश्वरध्यान करना चाहिये। इसे पूर्वादेश से जोड़कर समुच्चय समझना चाहिये : यह जो ध्येय परमेश्वर है यह वैसा है जैसा बिजली का प्रकाश इकट्ठे ही सब तरफ फैला रहता है। जिससे अधिक की कल्पना नहीं हो सके ऐसे ज्योति-रूप में 'यह निरायास शीघ्र सारी सृष्टि आदि करने वाला है, परमेश्वरता वाला है' — यों उपासना करनी चाहिये। बिजली के उपमान से अत्यन्त दीप्तता तो स्पष्ट ही है — परमात्मा को अत्यन्त तेजस्वी समझना है; निमेष के उपमान से शीघ्र और अनायास सर्वकारिता की तरह यह भी समझना है कि 'ईश्वर देवताओं को भी दुर्विज्ञेय है।'

एवं च सर्वत्र फैले, अत्यंत दीप्त किन्तु शीतल प्रकाश को शिवलिंगस्थानीय समझकर उसमें यह ध्यान करे कि 'यह तेजस्वी ईश्वर देवताओं को भी बहुत मुश्किल से अनुभव में आता है, सारे सृष्ट्यादि कार्य वह बिना प्रयत्न के और बहुत जल्दी करने वाला महादेव है।'

इस प्रकार यह दूसरा आदेश भी स्पष्ट हो गया - 'जैसे आँख झपकना।' 'न्यमीमिषत्' में णिच् का प्रयोजकत्व अर्थ यहाँ विवक्षित नहीं है। निमिष् + णिच् + चङ् + लुङ् — यह उस शब्द का निर्माण है। 'णिश्रि० (३.१.४८) आदि से चङ् होता है। लेकिन णिच् अपना अर्थ न कहकर धात्वर्थ ही कहता है। 'इति' और 'इत्' के जो अर्थ कहे हैं उनसे अन्य कोई अर्थ 'न्यमीमिषत्' के संदर्भ में नहीं है। 'आ' भी पूर्ववत् उपमा बताने के लिए है। पलक झपकने की तरह यक्ष छिपा था। प्रकाश चक्षुर्विषय हो और अचानक लुप्त हो जाये, ऐसा वहाँ हुआ था। भाष्य में विषयपद भावप्रधान निर्देश है। इस तरह देवता के सम्बन्ध में यह ब्रह्म के लिए उपमान दिखाया है। 'देवता' अर्थात् परा देवता, ईश्वर। यह ईश्वरोपासना बतायी है यह अभिप्राय है। उपासनाप्रकार बता चुके हैं।।४।।

पञ्चमो मन्त्रः

मन्त्रः

अथाध्यात्मं यदेतद्गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णꣳ सङ्कल्पः।।४.५।।

मन्त्र के पदों का अर्थ

अथ=अब **अध्यात्मम्**=प्रत्यगात्मसम्बन्धी आदेश बताया जा रहा है : **मनः**=मन **यत्**=जिस प्रकृत **एतत्**=इस बुद्धि-साक्षी की ओर **इव**=मानो **गच्छति**=जाता **च**=भी है **च**=और साधक **अनेन**=इस मन से **एतत्**=प्रत्यग्भूत ब्रह्म को **उपस्मरति**='अति समीप है' यों याद करता है तथा **अभीक्ष्णम्**=बार-बार अधिकाधिक गंभीरता से **सङ्कल्पः**=ब्रह्मविषयक संकल्प करता है (उस ब्रह्म का ऐसे ही ध्यान करे कि मन जिधर जा रहा है, यथोक्त स्मरण व संकल्प कर रहा है, वह ब्रह्म है)।

उपनिषद्योगी बताते हैं कि आत्मा अर्थात् देहत्रय से जो 'अधि' है, देहत्रय के होने-न-होने का प्रकाशक होने के कारण जिसमें देहत्रय का निषेध संभव है अर्थात् जो देहत्रय से अन्य है, वह अध्यात्म है। अभिप्राय यह है कि पूर्व आदेश तत्पदार्थसंबंधी था, उसमें प्रत्यक्त्व का उल्लेख नहीं था। अब जो आदेश है उसमें प्रत्यक्ता भासेगी, त्वम्पदार्थसंबंधी आदेश है। अतएव पूर्व में वाच्यप्राधान्य था, यहाँ लक्ष्यप्राधान्य है; मनोविशिष्ट या मन से कार्य करने वाले को नहीं, मन के साक्षी को सोचना है। जो पूर्वोक्त जगज्जन्मादिकुशल तेजोरूप है वही मेरा बुद्धिसाक्षी है जिसकी ओर मन जा रहा है — यों दोनों का अभेद है। अतः जिसकी तरफ मन जा रहा है उसे 'वह'-ऐसा न समझकर 'मैं'-ऐसा समझना चाहिये अर्थात् पूर्वोक्त प्रकाशमानादिरूप परमात्मा ही मैं हूँ और मेरी ओर मन आ रहा है, यह चिन्तन करना चाहिये। 'यदेतत्' से यह 'ऐक्य' कह दिया। अधिदैवत के बाद अध्यात्म आदेश रखकर स्पष्ट किया कि यही संभव क्रम है : पहले ईश्वरध्यान किया जाये, फिर उस ईश्वर का मैं रूप से ध्यान किया जाये। मैं के ध्यान के बाद मैं के अंदर ईश्वरता का आरोप अस्वाभाविक हो जाता है। ईश्वरध्यान से भक्ति पुष्ट होकर ईश्वरभावना दृढ होने के बाद 'वही मैं हूँ' यह सोचना स्वाभाविक है अतएव 'तस्यैवाहम्', 'ममैवासौ', 'स एवाहम्' यह क्रम अन्यत्र भी माना है। 'आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च' (४.१.३) अधिकरण में स्पष्ट किया कि परमात्मा का ध्यान अपने से अभेदेन करना चाहिये। जहाँ तो प्रतीकादि में उपासना हो वहाँ ईश्वर का प्रतीक से संबंध भासेगा, 'मैं'-ऐसा भान न हो सकता है, न करना ही है, यह अगले अधिकरण में बताया है। अतः प्रकाशादि में ब्रह्मोपासना हो तो वहाँ 'मैं' ऐसा नहीं समझा जायेगा। जब उस ब्रह्म को अपने से एक समझकर ध्यान होगा तब 'मैं'-यह भान होगा। 'मैं' का भी प्रकृत में मतलब है जिसकी ओर मन जाता हुआ लगता है अर्थात् मन जब समझता या समझने की कोशिश करता है — 'मैं क्या है? तब वह जिसे जानता है, जिसके बारे में सोचता है वह मैं हूँ। सोचने या जानने वाला नहीं वरन् सोचने-जानने वाला जिसे सोच-जान रहा है उसे 'मैं' कह रहे हैं। अतः मनःसाक्षी का प्रसंग है। मन अपने निकटतम को जब याद करता है तब 'मैं' को ही करता है, इसी प्रियतम को लुभाने के लिए ही तो मन की

सारी कोशिशें हैं! और सफल भी वह बना हुआ है। साक्षी ही मन पर, मन की सारी वृत्तियों पर मुग्ध है। यहाँ तक मोह है कि साक्षी इससे बेखबर है कि वह मन नहीं है, मनोविकार उसके नहीं हैं। साक्षी और प्रमाता कोई दो चीज़े नहीं हैं! ख़ुद को मन से एकमेक समझता साक्षी ही तो प्रमाता है। कौंतेय से अलग कोई राधेय थोड़े ही है। मन भी बारंबार 'मैं' के लिए संकल्प करता रहता है। मन का हर संकल्प हमें अपना लगता है, 'मेरा संकल्प है' यही प्रतीति है। शास्त्रसंस्कारों से जब साक्षिरूप की समझ आ जाये, अपनी साक्षिरूपता में बने रहना संभव न होने पर भी जब यह बोध हो जाये कि मन भी मुझे दीख रहा है अतः वास्तव में मन और उसका सोचनादि मैं या मेरा नहीं है, अर्थात् साक्षी का परोक्षवद् भान भी हो जाये, तब यह ध्यान करना चाहिये कि मन जिसे मैं समझ रहा है, जो मन को 'मेरा' समझ रहा है, वह मैं हूँ। ध्यान तो यह भी मन से ही होगा लेकिन अभी हम मन से एकमेक को मैं समझ रहे हैं और तब कोशिश करेंगे मन से अलग को मैं समझने की। कोशिश है तो अवश्य अभी हमें अपना मन से अलगाव स्फुट प्रमित नहीं है, लेकिन मांद्य के कारण उस प्रमा से हम चाहे वंचित हों, वास्तविकता के संस्कार तो मन में एकत्र कर ही सकते हैं। उस मनोविषय मैं को ईश्वर से अनन्य समझना है। यहाँ क्योंकि उपस्मरण व अभीक्ष्ण संकल्प का विषय मैं प्रियतम है अतः ईश्वर प्रियतम हो जाता है। भेदोपासना में — पूर्वदिशपर्यंत — काफ़ी ज्यादा प्रेम संभव है पर 'तम' का प्रयोग संभव नहीं। जहाँ प्रिय के लिये स्व का उत्सर्ग होता है वहाँ अभेदनिश्चय के अभाव में भी तादात्म्य का अतिशय होता है यह सर्वानुभूत है। किन्तु अभिन्नोपासना में उपास्य प्रियतम होता ही है क्योंकि जो प्रियतम है और जो उपास्य है वे दो नहीं होते।

'गच्छतीव' आदि में स्मरणीय है कि शास्त्रसंस्कारयुक्त की बात है। लोक में तो पशु पुत्रादि की ओर मन जाता है, उन्हीं का नैकट्येन स्मरण करता है उन्हीं के लिए संकल्प करता है। लोक में 'अध्यात्म' विषय भी विशिष्ट ही प्रसिद्ध है; मन जिस 'मैं' को जानता है, याद करता है, वह विशिष्ट ही है। अतः प्रकृत में लोकप्रसिद्ध मनोविषय नहीं कह रहे बल्कि त्वम्पदार्थ के शोधन में तत्पर व्यक्ति — जिसे भाष्यकार 'विद्वान् साधकः' कहेंगे — मन से जिसे मैं समझता है उससे अभिप्राय है।

है यह भी आदेश, उपमोपदेश ही क्योंकि साक्षित्वविशिष्ट के सहारे ब्रह्म समझा रहे हैं। साक्षित्वविशिष्ट में अहंकाराध्यास होता है यह विवरणमत न्यायरत्नावली में (८८.पं.२०) स्पष्ट किया है। ध्याता में अहंकाराध्यास है ही अतः अभी साक्षित्व विशेषणविधया भासता है। एक मन को देखने वाला — यही अभी साक्षी है, अतः परिच्छिन्नता स्फुट है। हम साक्षी से अमरीका या स्वर्गादि के दर्शक को नहीं समझते, सर्वप्रकाशक नहीं समझते, सिर्फ़ अपने स्थूलदेह में कार्यरत मन के द्रष्टा को समझते हैं। इतने परिच्छिन्न को ब्रह्म समझना है अतः उपमोपदेश स्पष्ट है।

जो चमकता व तिरोहित होता है — यों चमकने व तिरोहित होने से अन्य उस 'जो' को समझें तथा जो मनोविषय बना लगता है — यों 'जो' को समझें तो ये ही वाक्य तत्त्वधी के उत्पादक हैं। किंतु यहाँ विधित्सित उपासना ही है।

'गच्छतीव च' में 'च' से स्पर्श समझना चाहिये यह शंकरानंदस्वामी ने कहा है। चीज़ देखने पर जो निकटता प्रतीत होती है, छूने पर उससे अधिक ही निकटता प्रतीत होती है। अतः चाहे संयोग एक सा है, टट्टी देखकर आँख नहीं धोते, छूकर हाथ धोते हैं। एवं च मन जिसकी ओर जाता है अर्थात् देखता है, उसे ही जब और पास महसूस करता है तब कहा जायेगा—मानो इसने आत्मा को छुआ। 'उपस्मरति' का अर्थ 'मैं ब्रह्म हूँ' यह याद करना उन्होंने बताया है। 'सङ्कल्पः' से वे यह अभिलाषा विवक्षित मानते हैं कि 'इस ब्रह्म को मैं साक्षात् कर रहा हूँ'; अभी साक्षात् हो तो रहा नहीं पर यह समझ रहा है अतः इसे अभिलाषा कहा। जैसे पिता रहते ही पुत्र स्वयं को मालिक समझता है तो निश्चय हो जाता है कि वह मालिक बनने का अभिलाषी है, वैसे समझ सकते हैं।

नारायणाचार्य ने मन अवश्य ब्रह्म को विषय करता-सा है इसमें हेतु दिया कि तप्त लोहपिंड की तरह मनोवृत्तिमात्र

स्फुरण से आविष्ट होती हैं। जैसे मुख से आविष्ट दर्पण मुख को अवश्य विषय कर रहा है, वैसे स्फुरण से आविष्ट मन ज़रूर स्फुरण को—चेतन को, ब्रह्म को—विषय कर रहा है। विषय तो कर रहा है दर्पण को मुख! इसीलिए 'गच्छतीव' यह 'इव' शब्द है। जिसकी सही जानकारी मन से हो उसे मन विषय कर रहा है — यह व्यवहार प्रचलित है। आत्मा की भी सही जानकारी मन से होती है — मन में प्रतिबिंब देखकर आत्मा का ठीक पता लग जाता है — अतः कह दिया जाता है कि मन ने आत्मा को विषय किया। यह प्रसंग अहंकारटीका में विस्पष्ट है।

मन्त्रार्थः

अथ *अनन्तरम्।* अथानन्तरम् अध्यात्मम्। अध्यात्मम् *आत्मनः, आत्मविषयम्।* प्रत्यगात्मविषय आदेश उच्यते; *अध्यात्मम् 'उच्यत' इति वाक्यशेषः।* यदेतद् *यदेतद् यथोक्तलक्षणं ब्रह्म* गच्छतीव *गच्छतीव प्राप्नोतीव विषयीकरोतीवेत्यर्थः,* च मनः। *न पुनर्विषयीकरोति, मनसोऽविषयत्वाद् ब्रह्मणः। अतो मनो न गच्छति। 'येनाहुर्मनो मतम्' (के. १.५) इति हि चोक्तम्। 'गच्छतीव'- इति तु मनसोऽपि मनस्त्वात्* ढौकत इव, विषयीकरोतीव।

यत् च अनेन मनसा एतद् ब्रह्म उपस्मरति समीपतः स्मरति, *आत्मभूतत्वाच्च ब्रह्मणस्तत्समीपे मनो वर्तत इति उपस्मरति अनेन मनसैव तद्ब्रह्म विद्वान्* साधकः अभीक्ष्णं भृशं *यस्मात् तस्माद् ब्रह्म गच्छतीवेत्युच्यते।* सङ्कल्पः च मनसो ब्रह्मविषयः अभीक्ष्णं, *पुनः पुनश्च सङ्कल्पो ब्रह्मप्रेषितस्य मनसः।*

मन्त्रार्थ

'ब्रह्म प्रत्यग्रूप आत्मा है' यह जैसे अभिव्यक्त हो वह ढंग इस आदेश में कहा जा रहा है अतः यह उपासना अहंग्रह से ही करनी चाहिये, इसमें ध्येय को मैं ही समझना चाहिये।

अधिदैव आदेश के बाद अब आत्मविषयक आदेश सुना रहे हैं। था तो पूर्व भी आत्मविषयक ही लेकिन वह ईश्वरात्मविषयक था और यह प्रत्यग्रूप से भासमान आत्मा का आदेश है। मन जिसकी ओर मानो जाता है, जिसे विषय करता-सा लगता है, वह ब्रह्म है। ज्योतीरूप आदि पूर्वदर्शित असाधारण धर्मों वाला ब्रह्म ही वह है जिसे मन विषय करता-सा रहता है। वास्तव में मन का विषय ब्रह्म है नहीं अतः 'मानो' कहा। पहले कह ही चुके हैं कि परमात्मा तो मन का भी मन है! मन ही उसके द्वारा मत होता है, विषय होता है। फिर भी लगता यही है कि मन उसे विषय कर रहा हो। देखते हम हैं पर लगता है प्रतिबिंब हम पर घूर रहा है!

ब्रह्म हमारा आत्मा हो रखा है अर्थात् ब्रह्म ऐसा 'बन' गया है कि हम उसे 'मैं' समझते हैं। मैं हुए ब्रह्म के पास पड़ा ही मन सारे कार्य करता है। इसलिए जो जानकार साधक है, जिसने मैं के और ब्रह्म के बारे में शास्त्र से काफ़ी कुछ समझ लिया है तथा उस सच्चाई को अनावृत करने में तत्पर हो यत्नशील है, वह बार-बार मन से ब्रह्म को अपने निकटवर्ती के रूप में याद करता रहता है। यह उसे याद बना रहता है कि परमात्मा उसके बहुत क़रीब है। इस याद से ही कहा कि मन मानो ब्रह्म की ओर जाता है। मन को कार्यरत करने वाला तो ब्रह्म ही है अतः साधक के मन का संकल्प भी बारंबार ब्रह्मविषयक ही होता है : जब ब्रह्म को यह दृढ अभिमान हो जाता है कि 'मैं साधक हूँ' तब वह मन को इसी काम में लगाता है कि मन ब्रह्म को ही समझे। संकल्प शब्द मनोव्यापारवाची प्रसिद्ध है।

'इव'-शब्द से भाष्यकार ने 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' आदि का परामर्श दिखा कर इस आदेश का प्रकृत उपनिषत् से संबंध स्पष्ट कर दिया है। 'यदेतन्मनो गच्छतीव, उपस्मरतीव चैतत्, अस्य चाभीक्ष्णं सङ्कल्पः, तत्सर्वमनेन ब्रह्मणैव मनसोपि मनोभूतेन' — यह ध्वनित अन्वय है। अतएव आगे 'ब्रह्मप्रेषितस्य' भी कहा है। अतः पूर्व ध्यात शिव से मन चलाया जा

रहा है यह भी ध्यान किया जा सकता है। विद्वान् तो समझता ही है कि जिस तेजोरूप का उसने साक्षात्कार किया वही जीवन्मुक्तिदशा में मन को चला रहा है, यह उसे विधि से नहीं सोचना पड़ता लेकिन उसे यह भान बना तो रहता ही है। इन्द्र ने ब्रह्म को समझ लिया तो उसे भी यही बोध था यह स्पष्ट करने के लिए ही ये आदेश कारगर हैं। साधक कोशिश कर जिस स्थिति में रहेगा, मुक्त की वह स्थिति यावत्प्रारब्ध सहज होगी। अधिदैव और अध्यात्म उपाधियाँ प्रतीत होते वह इसी ध्यान में रहेगा, उसे यह कभी भूलेगा नहीं कि जिस शिव ने मुझे विचित्र रूप में आकृष्ट किया, जिसने अपनी विद्याशक्ति से मुझे अपना परिचय दिया, जिसका मैंने निकटतम स्पर्श पाया वही स्वप्रकाश सबका प्रकाशक है, प्रकाशों का ही नहीं छाया का भी प्रकाश उसी से है, भाव ही नहीं अभाव भी उसी में कल्पित हैं, और वही मेरे मन को चला रहा है, चलाते हुए इस मन का विषय भी बन रहा है। न केवल मन को भेजने वाला वह है वरन् जिधर मन जा रहा है वह भी वही है। उपासक से इतना विशेष अवश्य रहेगा कि मुक्त को इसके साथ ही साथ इसमें कोई ग़ैर-समझी या ग़लत-फ़हमी नहीं रहेगी कि यह सब खेल करता वह शिव मैं ही हूँ, यह खेल भी वस्तुतः कभी भी 'है' नहीं हुआ।

'अभीक्ष्णम्' का 'उपस्मरति' और 'सङ्कल्प':, दोनों से अन्वय है, देहलीदीपन्याय से उभयत्र संबंध है। शास्त्राचार्योपदेशसंस्कृत एवं साधना में संलग्न मन का गमन, उपस्मरण और संकल्प परमात्मविषयक ही होगा और परमात्मा को वह 'मैं' ही समझेगा, यह अभिप्राय है। गमन से ग्रहण या प्रमा कहना इष्ट है। उपस्मरण स्पष्ट ही सांस्कारिक ज्ञान कह रहा है। संकल्प से वे कल्पनारूप मनोव्यापार कहे हैं जो अनुपस्थित-विषयक होने से प्रमा नहीं हैं सिर्फ ज्ञातमात्र के आकार वाले न होने से उपस्मरण नहीं हैं वरन् इनके आधार पर सही लेकिन किसी नवीन आकार वाले हैं। इस तरह मनोव्यापार तीन ही तरह के हो सकते हैं। तीनों का उल्लेख कर दिया। साधक श्रवणादि से आत्मप्रमा ही करता है, प्रतिबद्ध होने से वह प्रमा अविद्या भले न हटा पाये। चित्तदोषवश जब आपरोक्ष्य-उल्लेख नहीं कर पाता तब भी साधक आत्मस्मरण ही करता है। यद्यपि आत्मा उपस्थित है तो आत्माकार मनोवृत्ति को स्मरण कहना नहीं बनता तथापि मनोदोष से वृत्ति में आपरोक्ष्य भासता नहीं इसलिए उसे स्मरण कहना संगत हो जाता है। जब वह अपनी कल्पना भी करता है, मन में अपना वह चित्र बनाता है जो वह होना चाहता है, तब भी उस चित्र में ख़ुद को ब्रह्म देखता है। जैसे बच्चा जब अपने विकसित रूप की कल्पना करता है तो प्रायः जैसा उसका पिता हो वैसी छवि अपने व्यक्तित्व की उसके सामने आती है, ऐसे ही मुमुक्षु को अपनी छवि नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव दीखती है।

अयमादेशोऽध्यात्मम्

मनउपाधिकत्वाद्धि मनसः सङ्कल्पस्मृत्यादिप्रत्ययैरभिव्यज्यते ब्रह्म, विषयीक्रियमाणमिव च, अतः स एष ब्रह्मणोऽध्यात्ममादेशः। ***अत उपस्मरणसङ्कल्पादिभिर्लिङ्गैर्ब्रह्म मनोऽध्यात्मभूतम्[मनआद्यात्मभू°] उपास्यमित्यभिप्रायः।***

यह अध्यात्म आदेश है

जिसका प्रसंग प्रारंभ से ही चल रहा है और कथा में भी चला है उस ज्योतीरूप ब्रह्म की ओर मेरा मन गमनशील है—ऐसा चिन्तन करना चाहिये, यह आध्यात्मिक उपदेश हुआ क्योंकि इस चिन्तन में प्रत्यक्त्व भासेगा। जो ऐसा ध्यान करता है कि 'बार-बार मेरे मन का संकल्प ब्रह्मविषयक ही है' उसे प्रत्यग्रूप से ब्रह्म की अभिव्यक्ति हो जाती है, ब्रह्म उसे प्रत्यग्रूप से प्रतीत होता है। इस बात को कहते हैं-**क्योंकि मन ब्रह्म की उपाधि है इसलिए मन की संकल्प, स्मृति आदि वृत्तियों से ब्रह्म ही अभिव्यक्त होता है।** जैसे जल जिस सूर्य की उपाधि बना हुआ है, जल की लहरों में वही सूर्य व्यक्त होता है, ऐसे ही मन की वृत्तियों में साक्षी-रूप से ब्रह्म व्यक्त हो जाता है। मन है ब्रह्म की उपाधि, ब्रह्म ही मन के माध्यम से व्यक्त हो रहा है, मनोवृत्तियों को द्वार बनाकर अभिव्यक्त तो ब्रह्म ही हो रहा है। ज्ञानशक्ति व क्रियाशक्ति तो ब्रह्म की ही है जो मन व मनोव्यापारों से प्रकट होती है। लगता है घड़े का सामर्थ्य है कि मनभर पानी भर जाता है, पर है तो सामर्थ्य आकाश का। अभिव्यक्त तो बिजली ही होती है लट्टू या पंखे में। कारीगरी तक्षा या बढ़ई की है न कि बसूले

की। हमें यह समझ नहीं अतएव दुःख है। मन से हमेशा परमेश्वर का चित्प्रकाश निःसृत हो रहा है यह स्मरण रहे तो कोई दुःख नहीं, मन चाहे जो करे।

मन ब्रह्म की उपाधि है अतएव लगता है कि ब्रह्म मन का मानो विषय बन रहा हो जैसे मुँह दर्पण का विषय बनता है। इसलिए स्वयं साधक ही ब्रह्म का अध्यात्म उपदेश हो गया, वही प्रतीक बन गया जिसे ब्रह्म समझना है। 'स एष ब्रह्मणः' आदि भाष्य का अर्थ समझने के लिए नारायणाचार्य की यह पंक्ति द्रष्टव्य है: 'सङ्कल्पः— सङ्कल्पयतीति सङ्कल्पः। सङ्कल्पविकल्पौ मनोवृत्ती कुर्वन्नपि साधक एषोऽध्यात्ममुपदेशः। यद्वैषोऽभीक्ष्णं सङ्कल्पो मनसो ब्रह्मविषय इत्युपदेशः।' मनउपाधिक ब्रह्म ही तो साधक है। उस स्वयं को ब्रह्मरूप से ध्यानविषय बनाना है। **इसलिए उपस्मरण, संकल्प आदि लिंगो से, चिह्नों या स्मारकों से, मन आदि में आत्मभूत—प्रत्यग्भूत,'प्रति' रूप से स्थित, प्रकाशक, प्रेषिता—ब्रह्म की उपासना करे, यह तात्पर्य है।**

उत्तरार्थः सङ्क्षेपः

विद्युन्निमेषणवद् अधिदैवतं द्रुतप्रकाशनधर्मि, अध्यात्मं च मनःप्रत्ययसमकालाऽभिव्यक्तिधर्मि— इत्येष आदेशः। एवमादिश्यमानं हि ब्रह्म मन्दबुद्धिगम्यं भवतीति ब्रह्मण आदेशोपदेशः। न हि निरुपाधिकमेव ब्रह्म मन्दबुद्धिभिराकलयितुं शक्यम्।।५।।

संक्षिप्तार्थ

अधिदैव में बिजली और पलक झपकने की तरह शीघ्र और सबको भासित करने के धर्म वाला ब्रह्म है एवं अध्यात्म में मनोवृत्तियों के समय अभिव्यक्तिरूप धर्म वाला, अभिव्यक्त होने वाला, ब्रह्म है; यह आदेश हुआ। जो परमात्मा के अखण्डसाक्षात्कार में असमर्थ मंदाधिकारी हैं उन्हे इसी ढंग से ब्रह्म हृदयंगत होता है अतः यह ब्रह्म का आदेशरूप उपदेश यहां दिया। मंदाधिकारी पहले ही निरुपाधिक ब्रह्म को ग्रहण नहीं कर पाते। इस उपासना से शक्ति पाकर तो संभव है कि तत्त्वसाक्षात्कार भी पा लें। ।।५।।

षष्ठो मन्त्रः

सम्बन्धः

किं च *तस्य चाऽध्यात्ममुपासने गुणो विधीयते*—

सम्बन्ध

ब्रह्म की पूर्वोक्त अध्यात्म उपासना में अंगरूप से 'तद्वन' नामोक्त गुण का भी चिंतन करना चाहिये यह छठे मन्त्र में कहते हैं:

मन्त्रः

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवं वेदाभिहैनꣳसर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति।।४.६।।

मन्त्रार्थ

ह=अवश्य ही तत्=ब्रह्म तद्वनम्='तद्वन' नाम=नाम वाला है अतः उसकी तद्वनम्='तद्वन' इति=ऐसे उपासितव्यम्=उपासना करनी चाहिये। एतत्=ब्रह्म की सः=वह यः=जो एवम्= इस तरह वेद=उपासना करता है एनम्=उस उपासक की ह=ज़रूर सर्वाणि=सब भूतानि=प्राणी अभिसंवाञ्छन्ति=प्रार्थना-सेवा करते हैं।

मन जिधर जाता है वह ब्रह्म 'तद्वन' नामक है ऐसे ध्यान करना चाहिये। ब्रह्म का गुण है कि उसे सब चाहते हैं, सब उसकी सेवा करते हैं इस विशेषता को यह नाम कहता है। किंच दूसरे उसे चाहते हैं यह बात गौण रीति से कही जा सकती है क्योंकि उससे दूसरा वास्तव में तो है नहीं। अत: 'सब प्रार्थना-सेवा करेंगे' इस फल से आकृष्ट होकर साधक ब्रह्मोपासना करेगा यह समझकर इस नाम का प्रयोग है। जैसे अविद्यादशा में दूसरे ब्रह्म की प्रार्थनादि करते हैं ऐसे ही ब्रह्मोपासक की भी करते हैं, यह फल संगत है। उपासक तथा जीवन्मुक्त क्योंकि सबके भजनीय परमात्मा के आकार की वृत्ति वाले बने रहते हैं इसलिए इनके आचार-विचार ही ऐसे हो जाते हैं कि ये ख़ुद भी सबके भजनीय हो जाते हैं। 'तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकाम:' ऐसे मुंडक में (३.१.१०) भी कहा है। पंचदशीकार भी जीवन्मुक्त की पूज्यरूपता बता गये हैं। यद्यपि आरंभ में यह फल आकर्षक ही है तथापि बाद में यह सहज लगता है। ब्रह्मोपासना का अनिवार्य जैसा फल होता है कि उपासक ब्रह्मवत् होने से सेव्य हो जाये। भक्तिशास्त्र में भक्तसेवा का बड़ा माहात्म्य माना है। उसका भी यही रहस्य है कि ईश्वरभजन के संस्कारों से ईश्वरता आनी स्वाभाविक है। यहाँ भी 'अभिसंवाञ्छन्ति' को विधिपरक लगा लेना चाहिये, अर्थात् ब्रह्मोपासक की सेवा-प्रार्थनादि करने चाहिये, उसके प्रति आदर रखकर उसके पास जाना, सत्संग करना आदि का विधान किया जा रहा है। 'सर्वाणि भूतानि' से बताया कि जो कोई भी परमात्मसाक्षात्कार चाहे वह परमात्मवेत्ता की ओर आकृष्ट होने की कोशिश करे, वह यथाधिकार सभी को रास्ता बता सकता है। ब्रह्मोपासक में शान्ति आदि स्फुट होने से मुमुक्षु को शान्ति आदि का व्यावहारिक रूप स्पष्ट हो जाता है और ब्रह्मभाव के लिए उत्कण्ठा भी बढ़ जाती है। जैसे तीर्थादि में विग्रहादि परमात्मस्मारक होते हैं, पावन होते हैं, फलप्रद होते हैं, ऐसे ईश्वरोपासक भी।

'तद्वनम्' इति षष्ठीसमासः

तद् ब्रह्म ह किल तद्वनं नाम। तस्य वनं तद्वनम्; तस्य प्राणिजातस्य प्रत्यगात्मभूतत्वाद् वनं वननीयं सम्भजनीयम्। अतः तद्वनं, नाम प्रख्यातम्।

'तद्वनम्' तत्पुरुषसमास है

वह ब्रह्म अवश्य ही तद्वन नाम का है। तद्वन एक शब्द है जिसके दो हिस्से हैं तद् और वन; इनका षष्ठी समास होकर 'उसका वन' इस अर्थ में तद्वन शब्द बना है। 'उसका' अर्थात् सभी प्राणियों का; प्राणि समूह के लिये तत् (उस) का प्रयोग है। सब प्राणियों का यह वन है अर्थात वनन के योग्य है। वनन का मतलब है सम्भजन— भलीभाँति सेवन। भ्वादि में 'वन शब्दे' और 'वन सम्भक्तौ' धातु हैं, यहाँ 'संभक्तौ' धातु से वन शब्द समझना चाहिये। सभी का प्रत्यगात्मा हुआ वही ब्रह्म है और सभी सबसे सम्यक् भजन प्रत्यगात्मा का ही करते हैं अतः वह सबका वन है ही। इसलिए शास्त्रीयों में ब्रह्म तद्वन नाम से प्रसिद्ध है। अज्ञानदशा में चाहे देहादि का भजन करें पर स्थिति यही है कि जिसे प्रत्यक् जाना उसी का सेवन किया। अभी हमें जानकारी भले ही ग़लत हो। अतः जैसे किसी विख्यात नाम से नकली सामान खरीदने वाला भी अपनी ओर से तो विख्यात का ही ग्राहक है, ऐसे हम हमेशा प्रत्यक् के सेवक हैं।

कर्मधारयो वा

तद्ध तद्वनम्। तद् *एतद्ब्रह्म तच्च तद्वनं च; तत् परोक्षं, वनं सम्भजनीयम्। वनतेस्तत्कर्मणः तस्मात्* तद्वनं नाम। *ब्रह्मणो गौणं हीदं नाम।*

'तद्वनम्' कर्मधारय भी है

'निषादस्थपति' शब्द के विचार में मीमांसकों ने तत्पुरुष की जगह कर्मधारय संभव हो तो लाघव माना है अतः तद्वन शब्द को कर्मधारय मानकर भी समझा देते हैं-'तत्' अर्थात् प्रकृत ब्रह्म ही वन भी है। 'तत्' कहने से परोक्षता

का उल्लेख हुआ और 'वन' कहने से संभजनीय प्रत्यक् का। सामानाधिकरण्य से इनका अभेद स्पष्ट है : जो परोक्ष है, अधिदैव उपास्य है, वही प्रत्यक् है, अध्यात्म उपास्य है। परोक्ष-अपरोक्ष दोनों रूप ग्रहण करने वाला होने से ब्रह्म को तद्वन कहते हैं। वास्तव में तो न वह दूर है और न जैसा हम बुद्धि के निकट उसे समझते हैं वैसा पास है क्योंकि उसकी निकटता बुद्धिसापेक्ष नहीं, प्रत्यक्प्रकाशमात्र है। अतः 'तद्वन' उसका गौण ही नाम है; दूरता-निकटता को संभव बनाने वाली उपाधियाँ मानकर यह नाम उसे दिया गया है।

भाष्य में श्रुति के 'तत्' का अर्थ है ब्रह्म और 'तद्वन्' का अर्थ किया है 'तत् च तत्, वनं च'-जो तत् है वही वन है।

दोनों समास विवक्षित हैं। 'ममैवासौ' की स्थिति वाला प्रथम व्युत्पत्ति से समझे 'स एवाहम्' की स्थिति में द्वितीय स्पष्ट होगी।

'तद्वनम्' इत्येकं नाम

ब्रह्म तद्वनमिति यतस्तस्मात्— तद्वनमिति। *तस्मादनेन गुणेन 'तद्वनम्' इति* अनेनैव गुणाभिधानेन उपासितव्यम् *उपासितव्यम्* चिन्तनीयमिति।

'तद्वन' यह एक नाम है

क्योंकि ब्रह्म तद्वन है इसलिए 'तद्वन' इस गुणसूचक नाम से ही उसका चिंतन प्रकृत उपासन में करना चाहिये। कुछ नाम नामी के गुण बताते हैं, कुछ नहीं बता पाते। देवदत्तादि से वैशिष्ट्य नहीं पता चलता, पण्डितादि से चल जाता है। तद्वन ऐसा नाम है जिससे परमात्मा की पूर्वोक्त विशेषता पता चल जाती है। अप्रसिद्ध-सा होने से इस पर स्वभावतः विचार टिकता है और उक्त अर्थ स्मरण हो जाता है। विवक्षित अर्थ 'तद्वन' शब्द के हिस्सों के विवेचन से और वन-शब्द के यौगिकार्थ के ग्रहण से ही हाथ लगेगा,'तद्वन' इस अक्षरसमुदाय में ऐसा सामर्थ्य नहीं कि जैसे घट शब्द बर्तनविशेष का ज्ञान करा देता है वैसे तद्वन-शब्द उक्त अभिप्राय का बोध करा दे। यह बोध तो विचार से ही होगा। यह बात दूसरी है कि संस्कार हो जाने पर तद्वन सुनते ही उतनी बातें स्मरण हो उठें।

श्रुत्यर्थ करते हुए कुछ अनुवादकों ने 'वन' इतना नाम माना है जो भाष्यविरुद्ध है यह ध्यान रखना चाहिये।

उपास्तिफलम्

स यः कश्चिदेतद्यथोक्तम् एवं यथोक्तेन गुणेन 'तद्वनम्' इत्यनेन नाम्नाऽभिधेयं ब्रह्म वेद उपास्ते, तस्यैतत्फलमुच्यते। **अनेन नाम्नोपासनस्य फलमाह— स यः कश्चिद् एतद् यथोक्तं ब्रह्म एवं यथोक्तगुणं वेद उपास्ते अभि ह एनम् उपासकं सर्वाणि भूतानि *सर्वाणि भूतानि एनमुपासकमभिसंवाञ्छन्ति।* अभिसंवाञ्छन्ति प्रार्थयन्त एव *अभिसम्भजन्ते सेवन्ते स्मेत्यर्थः, यथागुणोपासनं हि फलम्।* यथा ब्रह्म।।६।।**

उपासना का फल

तद्वन नाम से पूर्वदर्शित विशेषताओं वाले परमेश्वर की उपासना जो कोई भी करे उसे फल क्या मिलता है यह बताते है : सभी भूत अर्थात प्राणी हर तरह उसकी प्रार्थना और सेवा करते है। उपासना के फल के बारे में प्रसिद्ध नियम है कि जिस गुण के उल्लेख से उपासना की जाती है वही गुण उपासक में आ जाता है। उपासक लोग उपासना करते समय परमेश्वर से ही प्रार्थना करते थे, परमेश्वर की ही सेवा करते थे अतः उपासना पक जाने पर ये उपासक भी प्रार्थनीय, सेवनीय बन जाते हैं। लोग भी जैसे ब्रह्म से प्रार्थना और उसकी सेवा करते हैं वैसे

ब्रह्मवेत्ता से प्रार्थना करते हैं, उसकी सेवा भी करते हैं।

उपासना—चाहे ध्यानादिरूप हो या ज्ञानरूप—सफल हो इसके लिए ईश्वरप्रार्थना अचूक उपाय है। साधनानुष्ठान के समय यथासंभव ईश प्रार्थना करते रहने से प्रगति निर्विघ्न त्वरित चलती है। व्यवहारभूमि में भगवान् हमारे समकक्ष होकर हमसे बर्ताव करते हैं जब तक उन्हे यह न लगे कि हम सचमुच थक गये; जब हम वास्तव में थक जाते हैं तब सारे प्रयास छोड़ देते हैं, सर्वकर्मसंन्यासी हो जाते हैं और तभी भगवान् हमारी समकक्षता का नाटक छोड़कर अपनी अपरिमेय कृपा से बर्ताव करते हैं, मुक्त कर देते हैं। अत: इस थकान होने तक यह याद रखना चाहिये कि जितना घनिष्ठ, जितना गंभीर, जिस स्तर का, जितना स्थायी संबंध हम उनसे बनायेंगे, वे भी उतना ही संबंध मानकर हमें फल देते रहेंगे। इसलिए इस दशा में प्रार्थना का बहुत ज्यादा महत्त्व है। बाह्य उपचार तो क्षीण हो जायेंगे पर प्रार्थना बनी रहनी और बढ़ती रहनी चाहिये। प्रार्थना कर्म की तरह नहीं है, सिर्फ एक निवेदन है; लेकिन निवेदन के ढंग आदि से जो हमारा भाव व्यक्त होता है, कीमत उसकी है। अत: प्रार्थना 'मानने' या 'नहीं मानने' की समस्या इस उपासक के सामने नहीं है। इसने प्रार्थना कर दी, बस यही इसके लिए पर्याप्त है। भट्टजगद्धर ने भी कहा है 'यद्युक्तं कृतमेव तत् परमत: स्वामी स्वयं ज्ञास्यति।' ।।६।।

सप्तमो मन्त्रः

शिष्यो जिज्ञासते

एवमनुशिष्टः शिष्य आचार्यमुवाच—

शिष्य-प्रश्न

सगुण ब्रह्म की उपासना बतायी और ऐश्वर्यरूप फल भी उस उपासना का बता दिया। जो ऐश्वर्यरूप फल में राग वाला नहीं वही उत्तम अधिकारी हो सकता है। ऐसा अधिकारी कहता है कि 'मुझे उपनिषत् सुनाइये।' निर्विशेषज्ञान का यह इच्छुक है। यद्यपि पहले निर्गुणोपदेश हो चुका है तथापि यक्षकथा से उपास्य की श्रद्धेयता बताने पर शिष्य को यह जिज्ञासा है कि श्रद्धेय होने पर भी मोक्षोपयोगी क्या है? क्या सविशेषोपासना भी साक्षात् मोक्षप्रद है?

अग्रिम वाक्य शिष्य-गुरु संवाद है यह बताते हैं—**यक्षकथा सुनाकर नाम समेत अधिदैव-अध्यात्म उपासना और उसका फल जिसे समझा दिया वह शिष्य आचार्य से कहता है—**

मन्त्रः

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद् ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति ।।४.७।।

मन्त्रार्थ

इति=शिष्य बोला '**भो**=हे आचार्य!' **उपनिषदम्**=उपनिषत् **ब्रूहि**=सुनाइये।' **इति**=आचार्य ने कहा '**ते**=तुम्हे **उपनिषत्**=उपनिषत् **उक्ता**=सुना दी। **ते**=तुम्हे **ब्राह्मीम्**=परमात्मसंबंधी **वाव**=ही **उपनिषदम्**=उपनिषत् **अब्रूम**=सुनायी है और इसी के लिये कुछ और भी सुनाने जा रहे हैं।

उपनिषत् कहते हैं उस ब्रह्मविद्या को जो सारे बंधन ढीले कर अविद्या हटाती है, शिवप्राप्ति कराती है। पहले भी विद्या से अमरता की प्राप्ति बतायी थी। शिष्य उसी विद्या का अभिलाषी है। उपासना का फल कुछ और ही कहा तो इसे पूछना पड़ा कि 'उपनिषत् क्यों नहीं सुना रहे?' आचार्य तो इस उपासना से भी अमरता का मार्ग प्रशस्त कर रहे थे; जो ज्ञान में असमर्थ है वह उपासना करे और जो समर्थ भी है वह जिस समय ज्ञानार्थप्रयास नहीं कर रहा उस समय ऐसा चिंतन करे तो ज्ञानलाभ में सरलता होगी यह उनका आशय था। फल भी उन्होंने ऐसा ही बताया : ब्रह्म सबका अभिसंवांछनीय

है; सब का अभिसंवांछनीय होना ही उपासना का फल है; अतः उपास्तिफल ब्रह्मभाव ही हुआ। लेकिन शिष्य को यह स्पष्ट न होने से वह बोल पड़ा 'उपनिषत् कहिये।'

पहले जिस शिष्य ने 'नाहं मन्ये सुवेदेति' आदि कहा था उससे अन्य जो वहाँ शिष्य उपस्थित थे उन्ही की ओर से प्रश्न समझना चाहिये। यदि उसी शिष्य का प्रश्न मानना हो तो यह अभिप्राय है: गुरु ने विवेक-वैराग्य की तीव्रता देखकर तत्त्व सुनाया और विचार की तीक्ष्णता से शिष्य तत्त्वनिष्ठ भी हो गया। लेकिन गुरु को पता था कि इसे सारे साधन आदि पता नहीं हैं अतः आगे किसी साधक को यह रास्ता दिखाने में समर्थ नहीं हो पायेगा। इसलिए 'नेदं यदिदमुपासते' से उपास्य की परमता का निषेध होने पर भी उपास्य की शरण को उपाय बताने के लिए गुरु ने यक्षकथा सुनायी। फिर उपासना का विधान भी किया। शिष्य को शंका हुई कि 'इस सबका मोक्ष से क्या लेना-देना? क्यों यह सब कहा जा रहा है?' गुरु ने स्पष्ट किया कि यह सभी कुछ ब्राह्मी विद्या है। साक्षात् उपकारक बातें पहले बता दी पर उनसे उपकृत होने लायक बनना पड़ेगा जिसका उपाय ये उपासनायें और वक्ष्यमाण तप आदि हैं। शिष्य तो पूर्वजन्म में इन साधनों को कर चुका था अतः अंतिम उपदेश से कृतार्थ हो गया पर उसे यह पता नहीं था कि इन कर्मादि का इसमें विनियोग है। गुरु शास्त्रसंप्रदाय के वेत्ता हैं अतः यह बात उन्हे पता है। शिष्य को भी यही समझाने के लिए उन्होंने यह प्रसंग छेड़ा है।

प्रश्नः

'उपनिषदं रहस्यं यच्चिन्त्यं भो भगवन्! ब्रूहि' इति।

प्रश्न

शिष्य ने कहा 'हे भगवन्! जो रहस्यभूत चिन्तनीय बात हो वह बताइये।'

आचार्यः प्रत्याह

एवमुक्तवति शिष्य आहाचार्यः— उक्ता अभिहिता ते तव उपनिषत्।

आचार्य का उत्तर

जब शिष्य ने यह निवेदन किया तब आचार्य बोले — 'तुम्हे रहस्यविद्या सुना ही दी।'

वक्ष्यमाणविद्यासाधनप्रतिज्ञा

'उपनिषदं भो ब्रूहि' इति उक्तायामप्युपनिषदि शिष्येण उक्त आचार्य आह—उक्ता कथिता ते तुभ्यम् उपनिषद् आत्मोपासनं च। अधुना ब्राह्मीं वाव ते तुभ्यं ब्रह्मणो ब्राह्मणजातेः उपनिषदम् अब्रूम वक्ष्याम इत्यर्थः, वक्ष्यति हि। ब्राह्मी नोक्ता, उक्ता त्वात्मोपनिषत्, तस्मान्न भूताभिप्रायः 'अब्रूम' इत्ययं शब्दः।

आगे बताये जाने वाले साधनों की प्रतिज्ञा

आचार्य ने उपनिषत् तो सुना ही दी थी। फिर भी जब शिष्य ने कहा 'उपनिषत् सुनाइये', तो आचार्य बोले, 'तुम्हे रहस्यविद्या और आत्मा की उपासना तो बता ही दी। अब तुम्हे वह सुनाता हूँ जो ब्राह्मी विद्या है। ब्राह्मी अर्थात् ब्रह्म की। ब्रह्म से यहाँ ब्राह्मण जाति वाले समझने चाहिये। आत्ममात्र संबंधी विद्या तो कह चुका हूँ पर ब्राह्मण क्या करे कि उस विद्या का अधिकारी बने, यह नहीं कहा। अतः ब्राह्मी विद्या अब बताता हूँ।' इसलिए 'अब्रूम' शब्द सिर्फ़ पूर्व कथित के लिए ही हो ऐसा नहीं, आगे कही जाने वाली के लिए भी है।

'अब्रूम' से दोनों बातें समझनी हैं : पूर्वोक्त आत्मविद्या परिपूर्ण है, उस बारे में जो कहना था सब कहा जा चुका

है; एवं आगे जो साधन कहेंगे उनका भी ब्रह्मबोध से ही संबंध है, ब्रह्म से, मोक्ष से, असंबद्ध कोई नया प्रकरण नहीं प्रारंभ कर रहे हैं। जो सुना चुके वह तो परमात्मसंबंधी विद्या सभी अधिकारियों के काम की है। अब जो तप आदि बतायेंगे वे ब्राह्मण कुल वालों के अनुष्ठेय हैं। जो ब्राह्मण नहीं उन्हें यहाँ की विधि विषय नहीं करेगी। अगर अन्यत्र उनके लिए तप आदि विहित हों तो वे करें, न हों तो तप आदि से उन्हे ब्रह्मविद्यायोग्यता मिलेगी यह प्रकृत प्रसंग में नहीं कहा जा रहा। ब्राह्मण को ब्रह्मविद्या के योग्य बनने के लिये तप आदि करना ही चाहिये। जैसा देवदर्शन से ब्राह्मण को मिलने वाला फल अन्यों को शिखर दर्शनादि से मिल जाता है, या अभक्ष्यभक्षणादि से ब्राह्मण को पाप लगता है जबकि जो संस्कार के अनर्ह हैं उन्हे उससे पातक नहीं होता, ऐसे ही ब्राह्मण के लिए तप आदि का नियम है, अन्यों के लिए नहीं। श्रेष्ठता होने पर कर्तव्य में विशेष लोकसिद्ध भी है। सब वर्णों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है अतः उसके लिए कर्तव्यविशेष होना शोभनीय है। जो वर्ण से ही हीन हैं वे अपनी कमज़ोरी के कारण श्रुति के करुणापात्र हैं अतः उन कर कर्तव्यभार भी कम है। इस प्रकार किसी को दुःखी होने का अवसर नहीं; ब्राह्मण हो तो वक्ष्यमाण उपायों से विद्यायोग्य बन सकता है, अब्राह्मण हो तो यहाँ विहित तप आदि के बिना ही अन्यत्र प्रोक्त साधनों से उसी योग्यता को पा सकता है। यद्यपि ब्राह्मण भी अन्य सरल उपाय कर तो सकता ही है तथापि जैसा भाष्यकार कहते हैं – जो पैरों से दौड़ सकता है वह घुटनों के बल रेंगे यह योग्य नहीं है। अतः ब्राह्मण को यहाँ विहित तप आदि करने ही चाहिये जब तक विद्यायोग्यता न पा जाये। ग़ैर ब्राह्मण गीतादि में बताये तप आदि करें तो वही योग्यता उन्हे भी मिल सकती है। इस प्रकार उन्हे भी करने तप आदि ही हैं पर केन में उनके लिए नहीं कहा जा रहा यह तात्पर्य है।

पूर्वपरामर्शो वोत्तरार्थम्

का पुनः सेति ? आह— ब्राह्मीं ब्रह्मणः परमात्मन इयं ब्राह्मी ताम्, परमात्मविषयत्वाद् अतीतविज्ञानस्य, वाव एव त उपनिषदमब्रूमेति; उक्तामेव परमात्मविषयामुपनिषदम् 'अब्रूम' इत्यवधारयति, उत्तरार्थम्।

आगे कहे साधनों का संबंध स्थापित करने के लिए पूर्वपरामर्श है

'जो कह चुके वह उपनिषत् कौन-सी है?' इस पर गुरु कहते हैं : 'जो अनुभवावसायी विद्या सुनायी थी वह ब्राह्मी है, ब्रह्म अर्थात् परम-आत्मा की है, उसी के बारे में है। 'वाव' अर्थात् 'ही'। वह विद्या ब्रह्म के ही बारे में है। उस उपदेश के तात्पर्यविषयीभूत अर्थ में किसी सन्देह का स्थान नहीं। वही विद्या ब्राह्मी है; विदिताविदित से अन्य के बारे में कहें तभी ब्रह्मोपदेश है, विदित या अविदित के बारे में जो उपदेश होगा वह परा विद्या नहीं होगा, कर्म-उपासना (अविद्या और विद्या जो ईश में कही है) के क्षेत्र में रहने वाला उपदेश होगा। इसलिए न यह शंका हो सकती है कि उक्त विद्या ब्रह्मविषयक है या नहीं; न यह कि वह विद्या ब्रह्म को बताती है या नहीं; और न यह कि इससे अन्य भी कोई ब्रह्मविद्या है या नहीं। तीनों व्यावृत्तियाँ समझ लेनी चाहिये। परमात्मा के बारे में कही विद्या का ही अवधारण किया — उसकी अनधिगतार्थतत्परता का निश्चित कथन किया — ताकि आगे के साधनों का क्या और कहाँ उपयोग है यह समझना संभव हो।

'अब्रूम' शब्द का तिङ्व्यत्यय से पुनरुच्चारण समझ कर 'कह चुके' और 'कहेंगे' दोनों अर्थ समझ लेने चाहिये। 'स दाधार पृथिवीम्' में न यह मतलब है कि पहले ही धारण किया, अब और आगे नहीं करेंगे और न यही कि अब धारण कर रहे हैं, पहले नहीं किया; पहले किया, अब कर रहे हैं, आगे भी करेंगे यह अर्थ है। अतः तीनों काल विवक्षित हैं। ऐसे ही यहाँ भी भूत-भविष्य दोनों विवक्षित हैं। यदि भूत अविवक्षित हो तो पूर्वविद्या अब्राह्मी होगी जो उपक्रमादि से विरुद्ध है। यदि भविष्य अविवक्षित हो तो 'तस्मै' से जो ब्राह्मी-संबंध स्थापित है वह ग़लत हो जायेगा। अतः बलात् दोनों विवक्षित मानने पडेंगे। इससे वाक्यभेद नहीं होगा, तप आदि अवांतर वाक्य होकर मुख्य महावाक्य से संबंध वाले रहेंगे।

'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' आदि जो बताया वही पारमार्थिक रहस्य है, मोक्ष का साक्षात् उपयोगी गुप्तोपदेश है। आगे के साधन उस विद्या की प्राप्ति में उपयोगी हैं। विद्या हो गयी तो फलार्थ इन या अन्य साधनादि की अपेक्षा नहीं रखती।

शिष्यप्रश्नोपपादनाय शङ्का

परमात्मविषयामुपनिषदं श्रुतवत 'उपनिषदं भो ब्रूहि' इति पृच्छतः शिष्यस्य कोऽभिप्रायः ? यदि तावच्छ्रुतस्यार्थस्य प्रश्नः कृतः, ततः पिष्टपेषणवत् पुनरुक्तोऽनर्थकः प्रश्नः स्यात्। अथ सावशेषोक्तोपनिषत् स्यात् ? ततस्तस्याः फलवचनेनोपसंहारो न युक्तः 'प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति' (के.२.५) इति। तस्मादुक्तोपनिषच्छेषविषयोऽपि प्रश्नोऽनुपपन्न एव, अनवशेषितत्वात्। कस्तर्हि अभिप्रायः प्रष्टुरिति ?

शंका

परमात्मा के बारे में 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' आदि रहस्योपदेश सुनकर भी 'उपनिषत् सुनाइये' कहने में शिष्य का अभिप्राय क्या है? अगर जो सुन चुका उसी को पूछ रहा है तब पुनरुक्त होने से पिसे को पीसने की तरह निष्प्रयोजन कथन होगा। यह कह नहीं सकते कि उपनिषत् का कोई हिस्सा बचा होगा जिसे पूछ रहा है, क्योंकि यदि ऐसा कुछ अभी रह गया होता तो 'अमृत हो जाते हैं' यह फल न बताया होता। फल कह चुके हैं अतः उपनिषत् पूरी हो चुकी यही मानना पड़ेगा। जब कोई हिस्सा रहा ही नहीं हो तो उसके बारे में प्रश्न संगत नहीं। अतः 'उपनिषत् सुनाइये' कहने का अभिप्राय क्या है?

प्रश्नाभिप्रायोक्त्या समाधानम्

उच्यते— किं पूर्वोक्तोपनिषच्छेषतया तत्सहकारिसाधनान्तरापेक्षा, अथ निरपेक्षैव ? सापेक्षा चेद्, अपेक्षितविषयामुपनिषदं ब्रूहि। अथ निरपेक्षा चेद्, अवधारय पिप्पलादवद् 'नातः परमस्तीति' (प्र.६.७)। एवमभिप्रायः।

समाधान

शिष्य का अभिप्राय यह है : पहले जो उपनिषत् सुनाई है, वह फल देने के लिए क्या फलोपकारी अंग रूप से किसी अन्य साधन की अपेक्षा रखती है, या शेष न होने पर भी फलप्रद होने के लिए समुच्चित होने योग्य किसी सहकारी की अपेक्षा रखती है, या फिर बिना किसी की अपेक्षा किये ख़ुद फल देती है? यदि अन्य कुछ अपेक्षित है तो वह बताइये और अगर कुछ और नहीं चाहिये तो निश्चित कर कहिये जैसे पिप्पलाद ने कहा था 'इससे परे कुछ नहीं है।' इस अभिप्राय से 'उपनिषत् सुनाइये' कहा है।

फलोपकारी अंग का उदाहरण है – जैसे दर्शादि को प्रयाजादि की अपेक्षा है और सहकारी का उदाहरण है जैसे दर्श और पूर्णमास को आपस में एक दूसरे की अपेक्षा है। फल देने के लिए पूर्णमासेष्टि के प्रधान याग तो तीन हैं पर उनसे अतिरिक्त प्रयाज अनुयाज आदि अंग विहित हैं जिनके बिना पूर्णमासेष्टि के प्रधान यागों से जन्य अपूर्व दर्शापूर्व से मिलकर परमापूर्व नहीं बना पायेगा। ऐसे विद्या को तप आदि चाहिये या नहीं— यह प्रश्न है। दर्श और पूर्णमास दोनों परस्पर अंग तो नहीं पर मिलकर ही सफल हो सकते हैं, अकेले नहीं। ऐसे क्या विद्या तप आदि चाहती है? यह दूसरा प्रश्न है। निरपेक्ष पक्ष तो स्पष्ट ही है।

अथ शिष्यप्रश्नस्योत्तरम्

एतदुपपन्नमाचार्यस्य अवधारणवचनम् 'उक्ता त उपनिषद्' इति।

शिष्य प्रश्न का उत्तर

उक्त अभिप्रायानुसार निरपेक्षतापक्ष का अवलम्बन करते हुए आचार्य का निश्चित कर कहना कि 'उपनिषत् तुझे सुना चुका', संगत है।

तपआदीनां विद्याप्राप्त्युपायत्वम्

ननु नावधारणमिदं, यतोऽन्यद्वक्तव्यमाह 'तस्यै तपो दम' इत्यादि ?

सत्यं वक्तव्यमुच्यत आचार्येण; न तूक्तोपनिषच्छेषतया, तत्सहकारिसाधनान्तराभिप्रायेण वा। किन्तु ब्रह्मविद्याप्राप्त्युपायाभिप्रायेण, वेदैस्तदङ्गैश्च सह पाठेन समीकरणात्तपःप्रभृतीनाम्। न हि वेदानां शिक्षाद्यङ्गानां च साक्षाद् ब्रह्मविद्याशेषत्वं, तत्सहकारिसाधनत्वं वा सम्भवति।

तप आदि विद्याप्राप्ति के उपाय हैं

जब आगे तप, दम आदि कहने हैं तब 'उपनिषत् तुझे सुना चुका' का यह अर्थ कैसे कि सुनायी गयी विद्या पूर्ण है, फलार्थ अन्य की अपेक्षा नहीं रखती?

इतना ठीक है कि कुछ बताने योग्य बातें हैं जिन्हे आचार्य बताने जा रहे हैं लेकिन जो तप आदि बतायेंगे वे न उपनिषत् के शेष या फलोपकारी अंग हैं और न उन्हे सहकारी के रूप में विद्या चाहती है। वे तो ब्रह्मविद्या पाने के उपाय हैं। यह इससे पता चलता है कि तप आदि को वेद-वेदांगों के साथ तुल्य मानकर कहा गया है। वेद और उसके शिक्षा, आदि छह अंग साक्षात् ही न ब्रह्मविद्या के अंग हो सकते हैं, न सहकारी। इनका उपयोग तो दूर से ही है क्योंकि इनके ज्ञान के बाद कर्म-चित्तशुद्धि-संन्यास-शमादि-श्रवणादि से ब्रह्मविद्या प्राप्त होती है। अतः जो स्पष्ट ही विद्या के अंग नहीं उनके समकक्ष रखे तप आदि भी उसके अंग नहीं हो सकते।

तपआदेर्विद्याशेष-सहकारिसाधनत्वयोः शङ्का

सहपठितानामपि यथायोग्यं विभज्य विनियोगः स्यादिति चेत् ? यथा सूक्तवाकानुमन्त्रणमन्त्राणां यथादैवतं विभागः तथा तपो-दम-कर्म-सत्यादीनामपि ब्रह्मविद्याशेषत्वं, तत्सहकारिसाधनत्वं वा—इति कल्प्यते। वेदानां तदङ्गानां च अर्थप्रकाशकत्वेन कर्मात्मज्ञानोपायत्वमित्येवं ह्ययं विभागो युज्यते, अर्थसम्बन्धोपपत्तिसामर्थ्याद् इति चेत् ?

शंका

केवल एक साथ उल्लिखित होने से अंगभाव नहीं छूट जाता, साथ कहे पदार्थों की भी योग्यता के अनुसार अलग-अलग विनियोग हो सकता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में (३.५.१०) 'इदं द्यावा पृथिवी' से प्रारंभ होने वाला एक अनुवाक है जिसे सूक्तवाक कहते हैं। उसमें अनुमन्त्रण अर्थात् देवता विसर्जन करने के मंत्र आये हैं। उन मंत्रों को देवतानुसार विनियुक्त किया जाता है। वहाँ मंत्र इस तरह हैं 'अग्नि ने यह हवि खाई, अग्नि फूल गया', 'अग्नि व सोम ने यह हवि खाई, वे फूल गये' इत्यादि। इनसे सारा याग समाप्त होने पर देवताओं का विसर्जन करते है। अनुवाक में देवता तो कई कहे गये हैं पर जिस याग में जिन देवताओं का आवाहन किया रहता है उन्ही का विसर्जन भी होगा अतः योग्यता देखकर ऊह से सूक्तवाक का विनियोग हो जाता है। इसी तरह तप, दम, कर्म, सत्य आदि को ब्रह्मविद्या का अंग मान सकते हैं या सहकारी मान सकते हैं और वेद-वेदांगों को कर्म व आत्मा के ज्ञान का उपाय मान सकते हैं क्योंकि वेद-वेदांग तो केवल अर्थ का प्रकाशन ही करते हैं। जिन पदार्थों का परस्पर सम्बद्ध होना उपपन्न है उन्हे वैसे ही सम्बद्ध करना चाहिये। अतः यह विभाजन क्यों न माना जाये?

तत्समाधिः

न अयुक्तेः। न ह्ययं विभागो घटनां प्राञ्चति। न हि सर्वक्रियाकारकफलभेदबुद्धितिरस्कारिण्या ब्रह्मविद्यायाः शेषापेक्षा सहकारिसाधनसम्बन्धो वा युज्यते; सर्वविषयव्यावृत्तप्रत्यगात्मविषयनिष्ठत्वाच्च ब्रह्मविद्यायाः तत्फलस्य च निःश्रेयसस्य।

समाधान

सूक्तवाकमंत्रों का योग्यतानुसार सम्बंध है लेकिन तप आदि विद्या के अंग होने योग्य ही नहीं तो यहाँ उक्त विभाजन कैसे माना जाये? ब्रह्मविद्या तो सारे क्रिया-कारक-फल-भेदों की बुद्धि का तिरस्कार करती है, भेदबुद्धि मिटाती है, उसके अंग भेदबुद्धि से ही संभव क्रियादि नहीं हो सकते। अतः उसे किसी भिन्न अंग या सहकारी की अपेक्षा नहीं है।

विद्या के विषय का और फल का विचार करने पर निर्णय होता है कि तप आदि उससे वस्तुतः संबद्ध नहीं हो सकते इतना ही नहीं वरन् कर्म अनुपयुक्त होने से मुमुक्षु को कर्मसंन्यास ही करना चाहिये। यह स्पष्ट करते हैं — **कर्मों के विषय हैं उत्पाद्यादि। उन सब से विलक्षण है प्रत्यगात्मा। वही ब्रह्म समझा जाये तो ब्रह्मविद्या का विषय बनता है। ब्रह्मविद्या उसी में पर्यवसन्न है, अविद्या हट कर ब्रह्ममात्र रहे— यही ब्रह्मविद्या का काम है। ब्रह्मज्ञान का फल मोक्ष भी कर्मफलों से विलक्षण ही है। अतः जिसे ब्रह्मविद्या विषय करेगी उस प्रत्यगात्मा के लिए भी कर्म नहीं चाहिये और फलस्वरूप मोक्ष के लिए भी नहीं चाहिये तो तपआदि कर्म अंग या सहकारी हो कैसे सकते हैं? वे तो विद्याप्राप्ति के ही उपाय हो सकते हैं।**

मुमुक्षुरपि कर्म त्यजेत्

मोक्षमिच्छन् सदा कर्म त्याज्यमेव ससाधनम्।
त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक् परं पदम्।।

मुमुक्षु भी कर्म छोड़े

मोक्ष चाहते हुए हमेक्षा साधनसहित कर्म छोड़ना ही चाहिये। छोड़ने वाले का जो प्रत्यग्रूप पारमार्थिक स्वरूप है, छोड़ने वाला ही उसे जान सकता है। सम्बंधवार्तिक में (श्लो. २१५) भी कहा है 'त्याग एव हि सर्वेषां मोक्षसाधनमुत्तमम् त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक् परं पदम्।।' वहाँ इसे भाल्लवीय श्रुति माना है। उपदेशसाहस्री उपोद्घातप्रकरण में (श्लो.१५) आचार्यों ने स्वयं कहा है 'विरुद्धत्वादतः शक्यं कर्म कर्तुं न विद्यया। सहैव विदुषा तस्मात् कर्म हेयं मुमुक्षुणा।।'

कर्मणां विद्याशेषसहकारित्वयोरसम्भवः

तस्मात् कर्मणां सहकारित्वं, कर्मशेषापेक्षा वा न ज्ञानस्य उपपद्यते। ततोऽसदेव सूक्तवाकानुमन्त्रणवद् यथायोगं विभाग इति।

कर्म शेष या सहकारी हो नहीं सकते

इसलिए यह संगत ही नहीं कि कर्म ब्रह्मविद्या के सहकारी बनें या कर्मरूप किसी शेष अर्थात् अंग की ज़रूरत ब्रह्मविद्या को हो। अतः सूक्तवाक-दृष्टान्त से विभाजन की बात व्यर्थ की है।

विद्या निरपेक्षैव फलति

तस्मादवधारणार्थैव प्रश्नप्रतिवचनस्योपपद्यते—एतावत्येव इयमुपनिषद् उक्ताऽन्यनिरपेक्षाऽमृतत्वाय।।७।।

विद्या निरपेक्ष रहती हुई फल देती है

एवं च 'उपनिषत् सुनाइये', 'उपनिषत् सुना चुके' यह प्रश्नोत्तर यही निश्चित करने के लिए है कि जितनी कह चुके उतनी ही उपनिषत् वह ज्ञान देने में समर्थ है जो ज्ञान बिना किसी अन्य के सहारे अमृतत्व फल देता है।।७।।

अष्टमो मन्त्रः

मन्त्रः

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम्।।४.८।।

मन्त्रार्थ

तपः=तपस्या **दमः**=इंद्रियनिग्रह **कर्म**=वर्णाश्रम धर्म **इति**=यें **तस्यै**=ब्रह्मविद्या पाने के उपाय होने से उसकी **प्रतिष्ठा**=प्रतिष्ठा हैं, चरणस्थानीय हैं। **वेदाः**=वेद **सर्वाङ्गानि**=उसके सब अन्य (=पादातिरिक्त) अंग हैं। **सत्यम्**=सच **आयतनम्**=उसके रहने का स्थान है।

शंकरानंद स्वामी कहते हैं कि तप आदि रूप एक कामधेनु है। इसकी बछिया होगी ब्रह्मविद्या। चार वेद उस तप आदि कामधेनु के चार पैर हैं। विद्यारूप कामधेनु के बाकी सब अंग वे हैं जो वेदों के अंग हैं। तीनों कालों में जो अबाध्य ब्रह्म है वही सत्य है और वही ब्रह्मविद्या की गोचरभूमि है।

स्पष्ट ही है कि तपस्या, भोग-विमुखता और धार्मिकता के बिना परमात्मसाक्षात्कार असंभव है। ईश्वरोपासना भी इनके बिना असंभव है।

विद्याप्राप्त्युपायाः

यामिमां ब्राह्मीमुपनिषदं तवाग्रेऽब्रूमेति तस्यै तस्या उक्ताया उपनिषदः प्राप्त्युपायभूतानि तप आदीनि। तपः कायेन्द्रियमनसां समाधानम्। दम उपशमः। कर्म अग्निहोत्रादि।

विद्याप्राप्ति के उपाय

जो यह सगुण-निर्गुण-विषयक ब्रह्मसम्बंधी उपनिषत् तुम्हारे सामने कही इसकी प्राप्ति के अर्थात् इसकी सफल समझ को पाने के उपाय हैं तप आदि। शरीर-इंद्रिय-मन का निग्रह, इनसे एकाग्र प्रवृत्ति करा पाना तप है। शरीरादि विषयों की ओर न दौड़ते रहें, आत्मा में शांत रहें, यह दम है। कर्म से अग्निहोत्रादि विवक्षित हैं।

अशुद्धबुद्धेर्न सम्यग्ज्ञानम्

एतैर्हि संस्कृतस्य सत्त्वशुद्धिद्वारा तत्त्वज्ञानोत्पत्तिर्दृष्टा। दृष्टा ह्यमृदितकल्मषस्योक्तेऽपि ब्रह्मणि अप्रतिपत्तिर्विपरीतप्रतिपत्तिश्च, यथेन्द्रविरोचनप्रभृतीनाम्।

अशुद्ध बुद्धि वाला ठीक नहीं समझता

तप आदि से जिसने अपना मन संस्कारयुक्त बना लिया है उसी का चित्त इतना शुद्ध हो पाता है कि वह तत्त्व सही समझे। अगर मनोदोष हटे नहीं हैं तो सही उपदेश भी गलत समझा जाता है जैसे इंद्रविरोचन के प्रसंग में दिखा चुके हैं (२.१)।

जन्मान्तरीयतपआदेरप्युपकारिता

तस्मादिह वाऽतीतेषु वा बहुषु जन्मान्तरेषु तपआदिभिः कृतसत्त्वशुद्धेः ज्ञानं समुत्पद्यते यथाश्रुतम्।
'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।।' (श्वे.६.२३)
इति मन्त्रवर्णात्। 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः' (महा.शा.२०४.८) इति स्मृतेश्च।

जन्मान्तर के तप आदि भी उपकारक हैं

अतः चाहे इसी जन्म में तप आदि किये हों या पूर्व के बहुतेरे जन्मों में उनका अनुष्ठान किया हो; जब उनके फलस्वरूप चित्त शुद्ध हो जाता है तभी जैसा श्रवण किया जाये वैसा ज्ञान होता है, अन्यथा भ्रमादि होता है। श्रुति भी कहती है 'जिसे महादेव में पराभक्ति है, जैसी उनमें वैसी गुरु में भी है, उस महात्मा को ये पूर्वोक्त बातें स्पष्ट होती हैं।' स्मृति में भी कहा है 'पापकर्म क्षीण हो तब लोगों को ज्ञान होता है।' ऐहिकाधिकरण में (३.४.१६.५१) जन्मान्तरीय साधनों से विद्यालाभ प्रतिपादित है। 'सहकारित्वेन च' सूत्र के (३.४.३३) भाष्य में स्पष्ट किया है कि कर्म किस तरह विद्यासाधन है।

नात्रोपायपरिगणनम्

इति-शब्द उपलक्षणप्रदर्शनार्थः। इति-एवमादि अन्यदपि ज्ञानोत्पत्तेरुपकारकम् 'अमानित्वमदम्भित्वम्' (गी.१३.७) इत्याद्युपदर्शितं भवति।

तप आदि का परिगणन नहीं है

'इति' शब्द उपलक्षणार्थ है अर्थात् तप आदि की तरह अमानित्वादि अन्य भी जो ज्ञानोत्पत्ति में उपकारक हैं, सभी यहाँ समझ लेने चाहिये।

गीताभाष्य में (१८.६६) भी कहा है 'अनिर्देश्याक्षरोपासकास्तु 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' इत्याद्यध्यायपरिसमाप्त्युक्तसाधनाः, क्षेत्राध्यायाद्यध्यायत्रयोक्तज्ञानसाधनाश्च।' क्षेत्राध्याय में अमानित्वादिसाधन कहे हैं। चतुर्दशाध्याय में त्रैगुण्य बताया है और सत्त्वस्थों की ऊर्ध्वगति कहने से सात्त्विक होने का विधान है। सात्त्विक के लिए ही गुणात्यय संभव है अतः उसके लिए 'प्रकाशं च प्रवृत्तिं च' (२५) आदि के अभ्यास की विधि है। पहले सात्त्विकता के प्रयास और फिर गुणात्यय के प्रयास — ये भी ज्ञानसाधन हैं। पंचदशाध्याय में असंगशस्त्र अर्थात् सविवेक वैराग्य, परपदपरिमार्गण, आद्यपुरुषप्रपत्ति, मानमोह-त्याग, संगदोषजय, परमात्मस्वरूपालोचनपरायणता, कामनिवृत्ति, सुख-दुःखशब्दितद्वन्द्वत्याग, ज्ञानचक्षुष्ट्व, यत्न, कृतात्मत्व, सचेतस्कता, विभूतिज्ञता, सारे वेद से 'अहम्' जानने की कोशिश, असंमूढता, सर्वभाव से भजन — ये साधन कहे हैं। इसी तरह अन्यत्र भी जो ज्ञानोपाय कहे हों उनका संग्रह कर लेना चाहिये।

साङ्गवेदैः सह साधनानि प्रतिष्ठा

प्रतिष्ठा पादौ, पादाविवास्याः। तेषु हि सत्सु प्रतितिष्ठति ब्रह्मविद्या प्रवर्तते, पद्भ्यामिव पुरुषः। *तस्या वक्ष्यमाणाया उपनिषदस्तपो ब्रह्मचर्यादि, दम उपशमः, कर्म अग्निहोत्रादि, इत्येतानि* प्रतिष्ठा *आश्रयः; एतेषु हि सत्सु ब्राह्मयुपनिषत् प्रतिष्ठिता भवति।* वेदाः चत्वारः, सर्वाणि चाङ्गानि शिक्षादीनि षट्। *वेदाश्चत्वारोऽङ्गानि च सर्वाणि 'प्रतिष्ठा' इत्यनुवर्तते। ब्रह्माश्रया हि विद्या,* कर्मज्ञानप्रकाशकत्वाद् वेदानाम्; तद्रक्षणार्थत्वादङ्गानां प्रतिष्ठात्वम्।

सांग वेद और साधन प्रतिष्ठा हैं

प्रतिष्ठा से पैर कहे हैं, वेदादि मानों उसके पैर हों। जैसे पैरों से पुरुष चलता है ऐसे तप आदि होने पर ही ब्रह्मविद्या प्रतिष्ठित होती है, आगे बढ़ती है, निष्ठा तक पहुँचती है। पूर्वोक्त उपनिषत् की प्राप्ति के लिए जो उपनिषत्, रहस्यविद्या, बतायी जा रही है उसकी प्रतिष्ठा अर्थात् उसके आश्रय हैं तप आदि। ब्रह्मचर्यादि तप हैं, इंद्रियादिनिरोध दम है, अग्निहोत्रादि कर्म हैं। ये हों तभी यह ब्राह्मी उपनिषत् पक्की स्थित होगी। तप आदि जानने मात्र से फल नहीं, इन्हे करना पड़ेगा। अतः ब्राह्मी अर्थात् ब्राह्मण जाति की उपनिषत् भी स्थित तभी होगी जब तप आदि किये जायें। परब्रह्म की विद्या भी वास्तव में मिलेगी तब जब तप आदि किये जा चुके हों।

वेद और उसके सारे अर्थात् छहों अंग — ये भी प्रतिष्ठा हैं। अर्थात् वेद पर ही ब्राह्मी और परा दोनों विद्यायें आश्रित हैं क्योंकि तप आदि कर्म तथा ज्ञान दोनों का सही पता वेद से ही चल सकता है। अंग भी वेदार्थ की सुरक्षा अर्थात् सही समझ के लिये हैं अतः प्रतिष्ठा हैं।

पहले भी स्पष्ट कर चुके हैं कि वेद का अचिन्त्य माहात्म्य है। यहाँ प्रकरण ही ब्राह्मणों का, वेदाधिकारियों में श्रेष्ठों का है। जो वेदाधिकारी नहीं हैं वे तप आदि तो किसी उपदेशानुसार ही करेंगे; उन्हे चाहिये कि उस उपदेश को वेद जैसा प्रमाण मानकर भली-भाँति समझें। अध्यात्मसम्बन्धी वास्तविकता बताने वाले किसी पुरुष का भी यदि वचन हो तो गंभीरता से समझने लायक ही होता है। प्रायः साधना में ग़लतियों का कारण होता है कि जिसका हम अनुसरण कर रहे हैं उसे समझते नहीं, समझने की कोशिश भी नहीं करते। वैदिकों का सिद्धान्त है कि वेद को भी ऊहापोह से समझकर मानना है, यों ही नहीं स्वीकार लेना है। जो ग्रन्थान्तर को अपना आश्रय माने उसे उस ग्रंथ का ऊहापोहपूर्वक तात्पर्य निर्धारणादि करना चाहिये। यदि वह उपदेश वास्तव में उचित नहीं होगा तो विचार की किरणें पड़ने पर म्लान हो जायेगा। किसी कवि ने कहा है

'अस्मानवेहि कलमानलमाहतानां येषां प्रचण्डमुसलैरवदाततैव ।
स्नेहं विमुच्य सहसा खलतां प्रयान्ति ये स्वल्पपीडनवशान्न वयं तिलास्ते ।।'

धान मूसलों का प्रहार सहकर बढ़िया चावल देकर स्वयं भी बहुतेरी उपयोगिता का बना रहता है और तिलों को पेरने में थोड़ा ही दबाव पडता है, उतने में ही तिल खल बन जाते हैं! (खल दुष्ट पुरुष को भी कहते हैं।) इसी तरह वेद और वैदिकों की कलम, लेखनी, कठोर समालोचना सहकर पौष्टिक तत्त्व देती है और खुद भी बहुमूल्य बनी रहती है। अन्यत्र तिल तो मिलते हैं, चिकनी-चुपडी बातें तो बहुत मिलेंगी, पर थोड़ा भी विवेचन करें तो खल ही हाथ लगते हैं। ग्रंथ नहीं तो उसको श्रद्धेय मानने वाले ही खल बनकर पेश आते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि वैदिकों से अन्य तत्त्व की झलक नहीं ही पाते; तात्पर्य इतना ही है कि वैदिकों की तरह अवैदिकों की भी सविवेक परीक्षा किये बिना उनका अनुसरण नहीं करना चाहिये।

साधनानि प्रतिष्ठा, वेदा इतराङ्गाणि वा

अथवा प्रतिष्ठाशब्दस्य पादरूपकल्पनार्थत्वाद् वेदाः तु इतराणि सर्वाङ्गानि शिरआदीनि। अस्मिन् पक्षे शिक्षादीनां वेदग्रहणेनैव ग्रहणं कृतं प्रत्येतव्यम्। अङ्गिनि गृहीतेऽङ्गानि गृहीतान्येव भवन्ति, तदायतनत्वाद् [तदायत्तत्वाद्] अङ्गानाम्।

तप आदि प्रतिष्ठा और वेद अन्य अंग हैं

प्रतिष्ठा से पैर समझे तो शरीर के अन्य अंग भी बताने चाहिए — यह आकांक्षा स्वाभाविक है अतः 'सर्वाङ्गानि' के अंगशब्द को वेदांगपरक न मानकर अवयवार्थक समझ सकते है यह विकल्प करते हैं —

या यों समझना चाहिये : प्रतिष्ठा-शब्द क्योंकि पैर के रूपक की कल्पना व्यक्त करने के प्रयोजन से है इसलिए अंग अर्थात सिर आदि अन्य अवयव वेदों को कहा गया है। वेद कहने से वेदांग कह ही दिये गये। अंगी के आश्रित होने से अंगी का ग्रहण हो तो अंग स्वतः गृहीत हैं।

तात्पर्य में विशेष नहीं। अकेले पैर पड़े हों तो चलेंगे क्या? सारे अवयवों से संपन्न शरीर के पैर ही चलने में भी समर्थ होते हैं।

सत्यं गृहम्

सत्यमायतनम् यत्र तिष्ठत्युपनिषत् तदायतनम्। सत्यं *यथाभूतवचनमपीडाकरम्* आयतनं *निवासः। सत्यवत्सु हि*

सर्वं यथोक्तमायतन इवावस्थितम्। सत्यमिति अमायिताऽकौटिल्यं वाङ्मनःकायानाम्। तेषु हि आश्रयति विद्या येऽमायाविनः साधवः, नाऽसुरप्रकृतिषु मायाविषु; 'न येषु जिह्ममनृतं न माया च' (प्र.१.१६) इति श्रुतेः। तस्मात् सत्यमायतनमिति कल्प्यते।

सत्य घर है

सत्य को श्रुति ने 'आयतन' कहा। उपनिषत् जहाँ रहती है वह आयतन है। जिसमें सत्य नहीं उसमें न तप आदि होंगे न ब्रह्मज्ञान। वास्तविकता को व्यक्त करना लेकिन ऐसे कि किसी को — वक्ता, श्रोता, निकटवर्ती किसी को भी — पीडा न हो, सत्य कहा जाता है। जैसे लोग घर में रहते हैं ऐसे यहाँ बताये तप आदि - मीमांसान्त साधन सत्यवान् में ही रह सकते हैं। वाणी, मन और शारीरिक चेष्टादि किसी से भी मायावी न होना, कुटिलता न करना सत्यानुष्ठान है। माया अर्थात् धोखेबाज़ी। कुटिलता अर्थात् आपाततः ठीक लगने वाली प्रक्रिया से दूसरे का अहित करना। जो अमायावी सत्पुरुष होते हैं उन्हीं में विद्या स्वरूपतः और फलतः स्थायी होती है। जो तो आसुरी-राक्षसी प्रकृति वाले मायावी होते हैं उनमें प्रतीत हो तो भी विद्या रहती नहीं, न ब्राह्मी और न परा। प्रश्नश्रुति भी यही कहती है। जिह्म अर्थात् कुटिलता। अतः सत्य को घर के रूप में कल्पित किया है।

प्रपंचमिथ्यात्व पर द्रढिष्ठ वेदान्ती आचारसाधुत्व का प्रबलतम समर्थक है। जो मायावी हैं, माया वाले हैं, माया को सत्य मानते हैं, उसे अपना या ख़ुद को उसका मानते हैं, द्वैत की वास्तविकता में निश्चित हैं, वे चाहे कहने को वैदिक हों — जैसे न्याय-सांख्य-मीमांसकादि — और चाहे आगमिक — जैसे माध्वादि या बाह्य पैग़म्बरी पन्थ— सदाचार पर इतने दृढ नहीं रह सकते। यदि काम्य, कामयिता, कामना, भोग्य, भोग, भोक्ता वास्तविक हैं तो असत्प्रवृत्ति क्षम्य और सह्य माननी पड़ेगी। यदि मुझे सुख मिल सकता है तो मैं चाहे जैसे हो सुख लूँगा ही। यही सारे पापों का मूल है। वेदान्ती क्योंकि यह नहीं मानता कि माया है, मैं सुख पा सकता हूँ, इसीलिए वह पाप का घोर विरोधी हो सकता है। जितनी दृश्यमिथ्यात्वभावना बढेगी उतनी ही साधुता सहज होगी। साधकों में तो तारतम्य मिलेगा ही। अमायाविता का मुख्य अर्थ यही समझना चाहिये — स्वयं को माया-संबंधी न समझना। माया और उसके संबंध को मिथ्या मानना अमायिता है। असुर ही मायावी होते हैं। चाहे शास्त्रीयता का मुखौटा ओढे हों या वैज्ञानिकता का, जो माया अर्थात् दृश्य को सत्य माने वही असुर है। ऐसे असुरों में न ब्राह्मी विद्या स्थिर होती है न परमात्मविद्या। जो मुमुक्षु हो उसे यह याद रखकर सत्य पर टिकना चाहिये। प्रारंभ में छोटी बातों पर झूठ बोलना छोड़े तो शनैः शनैः सर्वथा भी झूठ छूट जायेगा। साथ ही कुटिल नहीं बनना चाहिये कि ऐसा बोले या व्यक्त करे जो झूठ सिद्ध तो न हो सके पर हो ठगने के उद्देश्य वाला ही। उद्देश्य और साधन दोनों की सत्यता का ख़्याल रखना चाहिये। दृश्य मिथ्या है — यह याद रखने से सत्य पर दृढता संभव है। झूठ दृश्य-प्राप्ति या दृश्यरक्षा के लिए ही होता है। यदि यह विश्वास हो कि वह वास्तव में है ही नहीं तो प्राप्त या रक्षित क्या होगा! तो झूठ में कोई स्वारस्य नहीं रहेगा। धीरे-धीरे तो फिर सत्य मानी जाने वाली बातें भी झूठ लगेंगी। तब 'अन्या वाचो विमुञ्चथ' का विषय बनेंगे, दृश्यसम्बंधी कोई बात ही नहीं करनी चाहिये। उसके भी बाद समझ आयेगा कि आत्मा के बारे में भी कुछ कहना व्यर्थ ही है। वह तो ख़ुद ही बस 'है'। तब भगवान् श्री दक्षिणामूर्ति की शरण में जाकर सर्वविक्षेपशून्य आनन्दसुधासिन्धु में मग्न रहेंगे।

सत्ये साधनत्वातिशयः

तपआदिष्वेव प्रतिष्ठात्वेन प्राप्तस्य सत्यस्य पुनरायतनत्वेन ग्रहणं साधनातिशयत्वज्ञापनार्थम्।
'अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राच्च सत्यमेकं विशिष्यते।।
इति स्मृतेः (विष्णुस्मृ.८.७४.१०३)।।८।।

सत्य की साधनता विशिष्ट है

तप आदि में सत्य आ ही गया, वाङ्मय तप में सत्य गिना गया है, अतः उसे प्रतिष्ठा कह ही दिया, फिर भी जो उसे आयतनरूप से पुनः कहा वह यह बताने के लिए कि ब्राह्मी और परा विद्याओं की स्थायी सफल प्राप्ति के लिए सत्य सबसे बलवान् उपाय है। स्मृति में कहा है कि हज़ार अश्वमेधों का पुण्य और एक सत्य का पुण्य – इन्हें तोला जाये तो एक सत्य का पुण्य ही अधिक निकलेगा। अतः सत्य का महत्त्व सर्वाधिक होने से साधक को इसका सबसे ज़्यादा ख़्याल रखकर अधिकाधिक प्रयास करना चाहिये कि वह झूठ से दूर हो, सत्य से डिगे नहीं।

यहाँ ज़बर्दस्ती सत्य के प्रकाशन में लगने को नहीं कह रहे। जब कुछ व्यक्त करना अनिवार्य हो तब हित और अपीडाकरत्व का ख़्याल रखते हुए विवेकपूर्वक यथाभूत को ही प्रकट करे, इतना ही कह रहे हैं।।८।।

नवमो मन्त्रः

मन्त्रः

यो वा एतामेवं वेदापहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति।।४.९।।

मन्त्रार्थ

यः=जो **एताम्**=इस ब्राह्मी समेत परा विद्या को **एवम्**=यहाँ बताये ढंग से **वेद**=जानता है, ब्राह्मी का अनुष्ठान कर परा को पाता है, वह **वै**=अवश्य **पाप्मानम्**= कार्यकारणात्मक समस्त पाप **अपहत्य**=पूरी तरह हटा कर **अनन्ते**=अपरिच्छिन्न **ज्येये**=भूमा **स्वर्गे**=सुखरूप **लोके**=आलोकात्मक परमात्मा से **प्रतितिष्ठति**=नित्य अभिन्न होता है। **प्रतितिष्ठति**=वही वास्तव में प्रतिष्ठित है।

यहाँ अंगविद्या और अंगिविद्या दोनों का परम फल कह दिया है। उपनिषत् भी मोक्ष के लिए विहित है। शंकरानंदस्वामी ने गीताटीका में कहा है कि वेदोपदेश मोक्षार्थ है, उसे काम्यलाभ में लगाना उसका दुरुपयोग ही है। हर्षमिश्र कहते हैं कि चिन्तामणि पाकर उसे पानी में फेंककर लहरें देखकर खुश होने वाले जितना बुद्धिमान् वह है जो वेदों से अद्वैतनिश्चय न कर अन्य कुछ करता है। ब्राह्मी से परा मिलकर मोक्ष प्राप्त हो जाता है। दीपिका में शंकरानंदजी ने बताया है कि तप आदि युक्त होने में तत्पर व्यक्ति को ऐसी उपासना भी करनी चाहिये कि ब्राह्मी विद्यारूप कामधेनु है, पराविद्या उसकी बछिया है इत्यादि। 'प्रतितिष्ठिति' दो बार कहने से उपनिषत् की समाप्ति स्पष्ट की है। इस प्रकार चार खण्डों में यह ब्राह्मणोपनिषत् पूरी हुई। कुल इसमें चौंतिस कण्डिकायें हैं। कण्डिकाओं का 'मन्त्र' ऐसा शीर्षक योगार्थाभिप्राय से है, इनका मनन त्राणहेतु होता है। पारिभाषिक मंत्र संहिता में होते हैं तथा ब्राह्मणों में कदाचित् आते हैं। अतः केन के सभी 'मंत्र' पारिभाषिक मन्त्र नहीं कहे गये, यौगिकदृष्टि से मंत्र कहे गये हैं।

इस उपनिषत् का तात्पर्य स्वयं भाष्यकार बता ही चुके हैं (२.१)। संक्षेप में इतना ही समझ सकते हैं कि मुमुक्षु तप आदि करे, सत्य न छोड़े, वेदार्थ समझे, ईश्वर की उपासना करे, पदार्थशोधन करे, दृष्टादृष्ट उपायों से आत्मविवेक कर गुरु से ज्ञान सुने उस पर चिंतन करे और अविषय परमेश्वर का 'मैं हूँ' यह निश्चय करे; यह मोक्ष पाने का निश्चित उपाय है। जो वेदानधिकारी हो — वेद पढ़ न पाये — वह भी वेदार्थ समझने के लिए पुराणादि प्रकरणों का अनुसंधान करे। वेद में अधिकारचर्चा का अवसर है, वेदार्थ में नहीं। वस्तु और प्रमाण के अधीन आत्मबोध है जो शुद्धचित्त व्यक्ति को होता है। चित्त की शुद्धि तप आदि से होती है जिनमें सब अधिकारी हैं। कर्म में भाष्यकारों ने अग्निहोत्रादि कहकर आदि से सभी कर्मों का संग्रह कर लिया है। अतः शिवनाम जप भी कर्म से उक्त है और उसमें सर्वाधिकार सर्वसंमत है। इनके साथ परमेश्वर से प्रार्थना करता रहे तो वे अवश्य चित्त को शुद्ध बनाकर ज्ञानयोग्य बना देते हैं। फिर यदि गुरु न भी मिले तो

भगवती उमा स्वयं उपदेश दे देती हैं इसमें कोई संदेह की संभावना नहीं। अतः केनोपनिषत् में सब के परम कल्याण का सर्वांगीण उपदेश है।

विद्याफलम्

यो वा एतां ब्रह्मविद्याम् 'केनेषितम्' इत्यादिना यथोक्ताम् एवं महाभागां 'ब्रह्म ह देवेभ्य' इत्यादिना स्तुतां सर्वविद्याप्रतिष्ठां वेद; 'अमृतत्वं हि विन्दत' (के.२.४) इत्युक्तमपि ब्रह्मविद्याफलम् अन्ते निगमयति— *ताम्* एतां *तपआद्यङ्गां तत्प्रतिष्ठां ब्राह्मीमुपनिषदं सायतनामात्मज्ञानहेतुभूताम्* एवं *यथावद्* यो वेद *अनुवर्तते ऽनुतिष्ठति, तस्मै तत्फलमाह*— अपहत्य पाप्मानम् अपहत्य पाप्मानमविद्याकामकर्मलक्षणं संसारबीजं विधूय, *अपक्षीय धर्माधर्मावित्यर्थः।* अनन्ते *अनन्तेऽपारेऽविद्यमानान्ते,* अपर्यन्ते स्वर्गे लोके *स्वर्गे लोके सुखप्राये निर्दुःखात्मनि परे ब्रह्मणि,* सुखात्मके ब्रह्मणीत्येतत्; 'अनन्त' इति विशेषणाद् न त्रिविष्टपे ! अनन्तशब्द औपचारिकोऽपि स्याद्, इत्यत आह— ज्येय इति। ज्येये *ज्येये महति, सर्वमहत्तरे* ज्यायसि सर्वमहत्तरे स्वात्मनि मुख्य एव प्रतितिष्ठति *प्रतितिष्ठति, सर्ववेदान्तवेद्यं ब्रह्मात्मत्वेनावगम्य तदेव ब्रह्म प्रतिपद्यत इत्यर्थः;* न पुनः संसारमापद्यत इत्यभिप्रायः।।९।।

।। इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छङ्करभगवत्पादकृतौ केनोपनिषत्पदभाष्ये चतुर्थः खण्डः ।।

।। इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पादपूज्यशिष्य-श्रीमत्परमहंस-
परिव्राजकाचार्यश्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ तलवकारोपनिषदपरपर्याय-
केनोपनिषद्भाष्ये क्षुद्रगणवाक्यविवरणं समाप्तम्।
इति चतुर्थः खण्डः।।

केनोपनिषद्‌द्विभाष्यं सम्पूर्णम्

विद्या का फल

यदि अधिदैव-अध्यात्म उपासना ही कर पाये, ज्ञान से वंचित रहे तो भी जन्मान्तर में विद्यालाभ के क्रम से मोक्ष की प्राप्ति है, जन्मान्तर चाहे भूलोक में हो या ब्रह्मलोक पर्यन्त किसी अन्य लोक में। और अगर तत्त्वनिश्चय अप्रतिबद्ध हो गया तो यहीं मोक्ष है। इस अभिप्राय से समझाते हैं : 'केनेषितम्' से प्रारंभ हुई और 'ब्रह्म ह' आदि से प्रशंसित यह श्रेष्ठतम ब्रह्मविद्या है जो अन्यत्र भी वेद में सब विद्याओं की 'प्रतिष्ठा' कही गयी है क्योंकि इससे एकविज्ञान ही सर्वविज्ञान हो जाता है। तप आदि, वेद और उसके छहों अंग — ये सब इस विद्या के मानों अंग हैं क्योंकि जैसे बिना अंगों के अंगी सिद्ध नहीं होता वैसे इनके बिना अप्रतिबद्ध साक्षात्कार नहीं होता। तप आदि ब्रह्मविद्या में जाकर रुक जाते हैं, ब्रह्मविद्या होने पर वे सब प्रतिष्ठित होते हैं : आयाससाध्य न होकर सहज होते हैं। यह उपनिषत् ब्राह्मी है, ब्राह्मणों के लिए अवश्यानुष्ठेय साधन इसमें कहे हैं और परब्रह्म का ही यथार्थ वर्णन किया गया है। इसे अधिकारी समझने की कोशिश करे और ईश्वरकृपा हो तो उसे अवश्य ब्रह्मज्ञान हो जायेगा। इसका आयतन है सत्य। व्यवहार में व्यावहारिक सत्य पर टिकते हुए परमार्थ सत्य की ओर बढ़ने वाला ही इस उपनिषत् से लाभान्वित होगा। इस उपनिषत् को — ब्राह्मी और परा विद्या को — जो जानता है, इसमें कहे साधनों का अनुष्ठान करता है उसे ही फल मिलेगा।

अविद्या, विषय-कामना और विषय की प्राप्ति या परिहारार्थ कर्म — ये ही संसार के बीज हैं; यह बीज ही बढ़ता है तो संसारवृक्ष खड़ा हो जाता है। अविद्या रहते यह बीज पूरा नष्ट होता नहीं। सारे पाप अविद्यामूलक विषयाभिलाषा से होते हैं। अतः अविद्या और कामना एवं 'मैं कर्ता हूँ' यह अभिमान, इन्हे सब पापों का उत्स

समझना चाहिये। ब्रह्मविद्या जैसे ही अप्रतिबद्ध होती है, इस सकार्य अविद्यारूप पाप को जला डालती है। इस पाप को अभिभूत तो धर्म भी कर सकता है पर विनाश नहीं कर पाता, यह विद्या इस पाप को जड-मूल से समाप्त करती है अतः जो धर्म-अधर्म से परे है उसी में स्थित कर देती है।

ब्रह्मज्ञान स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित करता है। वह स्वर्ग अनन्त है, अपार है, उसका अंत है ही नहीं। क्योंकि सविषयता रहते अन्तराहित्य असंभव है इसलिए अनंत स्वर्ग ब्रह्म ही है। जैसे स्वर्ग में प्रायः सुख ही होता है, दुःख नहीं होता, ऐसे क्योंकि दुःखसम्बंधरहित सुखघन ब्रह्म है इसलिए उसे भी स्वर्ग कह दिया। अनन्त कह देने से इन्द्रशासित प्रदेश की व्यावृत्ति हो गयी। केवल एक अनंत ही विशेषण होता तो कोई सोच सकता था कि गौण प्रयोग होगा लेकिन यहाँ साथ ही ज्येय अर्थात् भी कहा है। सबसे अधिक महान् स्वात्मरूप ब्रह्म ही है। जब अनन्त महत्तर कहा तो उसे समझना पड़ेगा। किसी कम महान् में रुकने का कोई हेतु नहीं। वही मुख्य महान् है। प्रशस्ततर को ज्यायस् कहते हैं। उसका सप्तम्यन्त 'ज्यायसि' होता है। उसकी जगह 'ज्येये' श्रौत प्रयोग है। तरबर्थक होने से इससे नित्य वर्धिष्णु प्राशस्त्य प्रतीत होता है। तमप् से तो प्राशस्त्य की समाप्ति प्रतीत होती है। ब्रह्म की समाप्ति किसी भी तरह है नहीं। अतः तरप् का ही प्रयोग उचित है।

सारे वेदान्तों से वेद्य ब्रह्म को आत्मा जानकर साधक वह ब्रह्म ही होता है, फिर संसरण की प्रक्रिया का अंग नहीं बनता है, यह तात्पर्य है। 'प्रतितिष्ठति' से ध्वनित है कि जो सबके 'प्रति' बताया था, तद्रूप से ही तत्त्ववित् रहता है। व्युत्थान काल में तो 'प्रति' में रह जाता है, समाधिकाल में 'प्रति' ही रहता है। वस्तुतः तो व्युत्थान केवल अज्ञानारोपित है। ब्रह्मज्ञ तो नित्य ही 'प्रति' है — यह पुनरुक्ति से व्यक्त है। अज्ञदशा में भी प्रति ही है और तज्ज्ञदशा में भी प्रति ही है।

टीकाकार ने समापन में मंगल किया है : जो वे, सबके शासक विष्णु हैं, सब के आत्मा हैं और सबके दर्शन हैं, वे ही शुद्ध हैं, ज्ञानसागर हैं, और अपरोक्ष हैं। अतः मैं, जो नित्य अपरोक्ष हूँ, वही हूँ—भयसम्बन्धरहित हूँ, मेरे होने में ही प्रकर्ष है।

जो सत्यकाम है, जिसकी सिद्धि बिना किसी के सहारे है, जो सब का नियंता है तथा नियमन के लिए किसी दूसरे के सामर्थ्य की कोई अपेक्षा नहीं रखता, वह मेरे अंदर प्रविष्ट है — मैं हूँ, वही मैं सभी देहधारियों के लिये उपास्य हूँ।

इन श्लोकों में केनोपनिषत् का संग्रह किया गया है जो विवेकियों को ख़ुद स्फुट हो जायेगा।

।। चौथा खण्ड पूरा हुआ ।।

। केनोपनिषद्-द्विभाष्य पूरा हुआ ।

देशिकोक्त्यनुपानेन सह भाष्यौषधं महत् । भवोरुरोगनाशाय क्षममस्तु ममाञ्जसा ।।
आचार्यवचनं शुद्धं पङ्किलं मम शब्दकैः । प्रक्षाल्य पापं नो गाङ्गमशुद्धमधुनापि न ।।
उमापूजा सुधाकल्लोलिनी यक्षं प्रदर्शयेत् । उमासन्दर्शयेद् ब्रह्म यत्र पश्येत् स्वयंप्रभः ।।

❃❃❃

केनोपनिषद्दीपिका

श्रीशङ्करानन्दविरचिता

केनेषितोपनिषदं व्याकरिष्ये पदाध्वना।
रम्यां तलवकाराणां शाखीयामात्मबोधिनीम्॥

ब्रह्मण: प्रत्यक्षादिप्रमाणैरनवगम्यत्वात्, तदस्तित्वस्य च प्रमाणसिद्धत्वात्, चित्रेणाऽपि कर्मणा प्राणाद्युपासनेन ब्रह्मज्ञानोत्पादमन्तरेण ब्रह्मावाप्ते: सम्पादयितुमशक्यत्वाद्, अशुद्धान्त:करणस्य च ब्रह्मज्ञानोत्पादस्य असम्भावितत्वाद्, अत: कर्माणि प्राणाद्युपासनानि चोक्त्वा ब्रह्मविद्यामुपक्रमते। तत्रापि प्रतिपत्तिसौकर्यार्थं गुरुशिष्यसंवादमिवाह।

शिष्य: पृच्छति- **केन** असता सता, **केन** अचेतनेन चेतनेन वा, भिन्नेनाऽभिन्नेन वा **इषितम्** इष्टं कस्येच्छानिमित्तमित्यर्थ:, **पतति** सर्वासु दिक्षु गच्छति **मन** इति वक्ष्यमाणेन सम्बन्ध:।

सामान्यत: प्रेरयितारं पृष्ट्वा विशेषतस्तं पृच्छति- **प्रेषितं** प्रेरितं धनुष्मतेव ज्याघाताद् बाणजातं को ह्येतद् देशाद्देशान्तरं नयतीत्यर्थ:।

मन: सङ्कल्पविकल्पोपलक्षितमन्त:करणं, ज्ञानशक्तिरित्यर्थ:। **केन** व्याख्यातम्, **प्राण:** पञ्चवृत्तिरध्यात्मादिभेदभिन्न:, क्रियाशक्तिरित्यर्थ:। **प्रथम:** अव्याकृताभिमानिन ईश्वरस्य चेतनाऽचेतनात्मकं विक्षेपं जनयत: सर्वप्रवृत्तिनिमित्तं प्रथम: पुत्र:। **प्रैति** प्रकर्षेणोर्ध्वादिदिक्षु गच्छति; **युक्त:** सम्बद्ध:, केन प्रेषित इत्यर्थ:। **केन** व्याख्यातम्। **इषितां** प्रेरितां **वाचं** वागिन्द्रियरूपाम् अनेकशब्दजननीम् **इमां** ताल्वाद्यष्टस्थानस्थां **वदन्ति**। अस्य वागिन्द्रियस्य वक्तुमशक्यत्वेऽपि केनचिद् नुन्नवागिन्द्रियास्त-दुच्चार्यमाणां वर्णपदवाक्यात्मिकां वाचं व्यक्तमुच्चारयन्ति। **चक्षु:श्रोत्रं** चक्षुश्च श्रोत्रं च **क उ** को नाम **देव:** सर्वव्यवहारकारणभूत: **युनक्ति** सन्नद्धं करोति प्रेरयतीत्यर्थ:॥१॥

गुरुराह- **श्रोत्रस्य** शब्दोपलब्धेरसाधारणकारणस्य **श्रोत्रं** यथाऽस्माकमसाधारणव्यवहारस्य कारणं श्रोत्रं तथा श्रोत्रस्यापि शब्दग्रहणसामर्थ्यस्य असाधारणं कारणम्। **मनस:** सर्वोपलब्धौ साधारणकारणस्य **मन:** साधारणकारणत्वसामर्थ्यकारणम्। **यद्** हेत्वर्थम् उक्ते: श्रोत्रादिभिर्वक्ष्यमाणैश्चक्षुरन्तै: सम्बध्यते। अथवा **यद्** यो **वाचो** वागिन्द्रियस्य वर्णोच्चारणशक्ते: **ह** प्रसिद्धस्य **वाचं** वाग्-वागिन्द्रियसामर्थ्यकारणम्। यदु य **उ स उ** एव **प्राणस्य** पञ्चवृत्तेर्जीवनकारणस्य **प्राण:** जीवनकारणत्वसामर्थ्यकारणम्। **चक्षुष:** रूपोपलब्धेरसाधारणकारणस्य **चक्षु:** चक्षु:सामर्थ्यकारणम्। एवंभूतो **य: स** एवेत्यन्वय:। मनआदे: सामान्यतो विशेषतश्च प्रेरयितेति शेष:। अयमर्थ:- अस्ति मनआदीनां प्रेरयिता मनआदिविलक्षण: चेतनश्चेतनानां, भेदगन्धशून्य इति।

अतो ज्ञात्वाऽविद्यां सकार्याम् **अतिमुच्य** सर्वात्मना परित्यज्य **धीरा** बुद्धिमन्तो ब्रह्मचर्यादिसाधनसम्पन्ना:। अथवा 'उपसर्गयोगे धातोरन्यार्थत्वं प्रायेण' इति न्यायेन **धीरा अतिमुच्य** अहं ब्रह्माऽस्मीति तमवगत्य। **प्रेत्य अस्माद् लोकाद्** लोकशब्दाभिधेयकार्यकारणसङ्घाताभिमानाद् **अस्मात्** प्रतिप्राणि प्रत्यक्षात् **प्रेत्य** प्रकर्षेण गत्वा, तदभिमानं परित्यज्येत्यर्थ:। **अमृता** मरणकारणाऽविद्यातत्कार्यशून्या: **भवन्ति** स्पष्टम्॥२॥

ननु येन प्रेरितं मनआदिकं गच्छति तद् 'इदम्' इति शृङ्गग्राहिकया कस्माद् न प्रदर्श्यते? इत्यत आह- **न तत्र चक्षुर्गच्छति** रूपादिहीनत्वात्तस्य तस्मिन् विषये चक्षुर्न गच्छति। ननु चक्षुरग्राह्याणामपि स्वर्गापूर्वादीनां वाग्विषयत्वं दृष्टम्? इत्यत आह- **न वाग् गच्छति**। स्पष्टम्। 'तत्र' इत्यनुवर्तते। ननु वागग्राह्याणामपि चम्पककेतक्यादिगन्धभेदानां मनसा ग्रहो दृष्ट:? इत्यत आह- **नो मन:**; उक्तम्। 'गच्छति', 'तत्र' इत्यनुवर्तते।

यत एवं तत: 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्याद्युक्तोपदेशमन्तरेण अस्य आत्मनो दर्शन उपायान्तरं **न विद्म:** स्वबुद्ध्या न जानीम:। नापि विविधशास्त्रगुर्वाद्युपदेशेभ्य इत्याह- **न विजानीम:** विशिष्टेभ्य: शास्त्रेभ्य: शास्त्र-गुर्वादिभ्य इदानीमपि नाधिगच्छाम: **यथा** येन प्रकारेण **एतत्** 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादिनोक्तं मनआदे: प्रेरकम् **अनुशिष्याद्** मादृशो गुरुर्भवादृशं शिष्यं 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादिनोपदिश्य अनु पश्चात् 'श्वेतो वर्तुलशृङ्गो गौ:' इतिवद् विशेषणं कुर्यात्; तमुपायं न विद्मो न विजानीम इत्यन्वय:।

ननु लोके द्वयी मति: - ज्ञातम्, अज्ञातं च। तत आभ्याम् अन्यतरविशेषणेन विशेषणीयमित्यत आह- **अन्यदेव**

तद्विदितात्। **तत्** श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादिनोक्तं **विदितात्** ज्ञानविषयात् सर्वस्माद् **अन्यदेव** पृथगेव, न तु ज्ञानविषयः। ननु तर्ह्यविदितमज्ञाततस्वरूपम्? इत्यत आह– **अथो** अपि **अविदितात्** ज्ञानाऽविषयाद् अज्ञाताद् **अन्यदेव।**

नन्विदं भवद्बुद्धिकल्पितम्? इत्यत आह– **इति** अनेन प्रकारेण **शुश्रुम** श्रुतवन्तो वयम्। **पूर्वेषां** पित्रादीनाम्। ते च न मूर्खा इत्येवमाह– **ये** प्रसिद्धाः शमदमादिसाधनसम्पन्नाः शास्त्रहृदयज्ञा **नः** अस्माकं सहाध्यायिनां शिष्याणां **तत्** 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादिनोक्तं **व्याचचक्षिरे** वि-स्पष्टम् आ-समन्तात् कथितवन्तः। अनेन गुरुमुखादेव आत्मावगतिर्भवति, न तु प्रकारान्तरेणेत्यर्थादुक्तम् ॥३॥

अतो वागाद्यगम्यत्वेनैवावगन्तव्यं, न त्वन्यथेत्येतद् मन्त्रपञ्चकेनाह– **यत्** प्रसिद्धमात्मस्वरूपं **वाचा** वर्णपदादिरूपया वेदलोकवाक्यात्मिकया **अनभ्युदितम्** अप्रकाशितं शृङ्गग्राहिकया। **येन** प्रसिद्धेन **वाग्** वागिन्द्रियं वर्णादिवाक्सहितम् **अभ्युद्यते** सर्वत उच्यते, स्वव्यवहारक्षमा भवतीत्यर्थः। 'केनेषितां वाचम्?' इत्यस्य इदमुत्तरम्। **तदेव** वाचाऽप्रकाशितं, वाचः प्रेरकं, न त्वन्यत्। **ब्रह्म** बृहद् देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यं **त्वम्** अस्मच्छिष्यो ब्रह्मणो भेदरहितो **विद्धि** जानीहि।

ननु किमर्थं तदेव ज्ञातव्यं यतो बहुविधभेदम् अहमनहं वा तदित्युपासते जनाः, तद्वदहमपि भवदुक्तादन्यज्ज्ञास्यामि? इत्यत आह **नेदम्।** **इदं** बहुविधभेदम् अहमनहं वा गृहीतं वागादिविषयभूतं न 'ब्रह्म' इति शेषः। **इदं**-शब्दार्थमाह– **यत्** प्रसिद्धमुपासकानाम् **इदं** प्रसिद्धं ज्ञातृज्ञानज्ञेयभेदवद् **उपासते** –उपासनं कुर्वते यथावत्स्वरूपावबोधशून्याः॥४॥

वागगम्यस्यापि चम्पककेतक्यादिगन्धभेदस्य मनसा ग्रहो दृष्टः, इत्यत आह– **यत्** प्रसिद्धं मनसो मनः **मनसा** अन्तःकरणेन **न मनुते** कोऽपि नाधिगच्छति। न च तद् अकिञ्चित्करम् इत्याह– **येन** मनसाऽविज्ञातेन **आहुः** कथयन्ति अस्माकं व्याख्यातारः **मन** उक्तं **मतं** ज्ञातं, सर्वकार्यक्षममित्यर्थः। अनेन 'केनेषितम्' इत्यादिप्रथमप्रश्नस्योत्तरं सिद्धम्। तथापि पञ्चप्रश्नानां प्रत्येकमुत्तरं दातुं वक्ष्यमाणं पर्यायत्रयमवगन्तव्यम्। **तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते** –व्याख्यातम्॥५॥

यत् प्रसिद्धं चक्षुषश्चक्षुः **चक्षुषा** रूपग्राहकेणेन्द्रियेण **न पश्यति** नावलोकयति, **येन** चक्षुषश्चक्षुषा **चक्षूंषि** अक्षिणी **पश्यति** अवगच्छति चक्षुषः सर्वकार्यकारणमित्यर्थः। 'चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति' इति योगस्य विभागेन आद्यस्योत्तरं दत्तम्। **तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते** –व्याख्यातम्॥६॥

यत् प्रसिद्धं श्रोत्रस्य श्रोत्रं **श्रोत्रेण** शब्दोपलब्धिसाधनेन **न शृणोति** नाधिगच्छति। **येन** श्रोत्रस्य श्रोत्रेण **श्रोत्रं** शब्दोपलब्धिकारणम् **इदम्** आकाशस्य प्रदेशविशेषात्मकं **श्रुतम्** अधिगतं, स्वकार्यक्षमं कृतमित्यर्थः। 'चक्षुः श्रोत्रं क' इत्यस्य अविशिष्टस्य (अवशि°?) अनेनोत्तरं दत्तम्। **तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते** –व्याख्यातम्॥७॥

यत् प्रसिद्धं प्राणस्य प्राणरूपं **प्राणेन** पञ्चवृत्तिना **न प्राणिति** प्राणचेष्टां न करोति। **येन** प्राणेन **प्राणः** प्रसिद्धपञ्चवृत्तिः **प्रणीयते** प्रकर्षेण नीयते, स्वचेष्टां कार्यत इत्यर्थः। अनेन 'केन प्राण' इत्यादेरुत्तरं दत्तम्। 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादिना तु सामान्यतः अत्र तु विशेषत इति न पुनरुक्तम्। अथवा तदुत्तरं तत्रैव कण्ठतः, अत्र वागाद्यविषयत्वप्रतिपादनेन आर्थ्यमिति न पुनरुक्तम्। **तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते** –व्याख्यातम्॥८॥

॥ इति श्रीशङ्करानन्दभगवतः कृतौ केनोपनिषद्दीपिकायां प्रथमः खण्डः ॥१॥

द्वितीयः खण्ड

पूर्वं यथावत् स्थितमात्मस्वरूपं गुर्वाद्युपदिष्टमुपदिश्य इदानीं शिष्यबुद्धिमनुसरन्नाह–**यदि** पक्षान्तरे; **मन्यसे** वस्तुतो विद्यमानमपि जानामि **सुवेद** सुष्ठु भवदादिभिरुक्तं ममात्मस्वरूपं जानामि **इति** अनेन प्रकारेण यदि मन्यस इत्यन्वयः। तथा ब्रह्मतत्त्वं जानीष इत्याह– **दहरमेवापि नूनम्।** **अपि** सम्भावनायाम्। नास्त्येव भवतो ब्रह्मज्ञानम्, अथ च चेतनत्वाज्ज्ञानवानहमस्मीति सम्भावयसि, तथापि नूनं निश्चितं तद्विषयस्थस्याल्पत्वाद् अल्पमेव, न तु बृहत्। **त्वं** ज्ञानित्वाभिमानी **वेत्थ** अल्पमेव जानीषे। किम्? **ब्रह्मणो रूपम्** देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यस्य स्वरूपम्।

दहरज्ञानत्वे हेतुः– **यद्** यस्माद् **अस्य** त्रिविधपरिच्छेदशून्यस्य **त्वं** कार्यकारणसङ्घाताभिमानी परिच्छिन्नो ज्ञानैकः (ज्ञातैकः?) एवंभूतात् त्वत्तोऽन्यद् **यत्** प्रसिद्धं त्वया ज्ञेयं कार्यब्रह्मस्वरूपम् **अस्य** ब्रह्मणः सर्वपरिच्छेदशून्यस्य **देवेषु** इन्द्राग्न्यादिषु।

अथ नु यस्मादस्य देवेषु यत् प्रसिद्धम् अस्य, त्वं चेति भेदः, तस्मादेव **मीमांस्यमेव** विचारणीयमेव **ते** तव, त्वयेत्यर्थः। एवमुक्तो मीमांसां कृत्वा शिष्य आह- **मन्ये** अवगच्छामि **विदितम्** अवगतम्। 'मया' इति शेषः॥१॥

स्वस्य विदितत्वे हेतुमाह- **नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च। अहं सुवेदेति न एव मन्ये।**

यदि सम्यङ्न ज्ञातं तर्हि किं न ज्ञातमेव? इत्यत आह- **नो न वेदेति।** तर्हि किं सन्दिग्धम्? इत्यत आह- **वेद च,** जानाम्यपि। चकाराद् जानन्नपि भेदबुद्धेरभावान्न जानामि।

न सुवेद -इत्यनेन ब्रह्मणोऽतिदुर्बोधत्वं दर्शितम्।

नो न वेद -इत्यनेन शास्त्रैकगम्यत्वमुक्तम्।

वेद -इत्यनेन संशयादिराहित्यमुक्तम्।

च-कारेण-सर्वभेदभक्षकः साक्षात्कार उक्तः।

अतिदुर्बोध-शास्त्रैकगम्या-ऽसन्दिग्ध-सर्वभेदशून्यब्रह्माऽहमस्मीत्यर्थः।

यो मत्तोऽन्योऽपि **नः** अस्माकं शिष्याणां मध्ये **तद्** मयोक्तं-सुवेदेति न, न वेदेत्यपि न, वेद च इति- **वेद** जानाति **स तद्** ब्रह्म 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादिनोक्तं **वेद** जानाति यस्मादयमवगन्ता मदुक्तं वेद।

भवानेतमवगच्छति? **नो न वेदेति वेद च** -न जानामि इति, न जानामीत्यपि न! चकार इति-नोकारयोरनुवृत्त्यर्थः। दर्शिता च तयोर्योजना। तस्माद् ब्रह्म वेदेत्यभिप्रायः॥२॥

ननु 'न जानामि' इति ज्ञानवता ज्ञेयम्, 'जानामि' इति ज्ञानवता चाऽज्ञेयं भवद्वचोभङ्ग्या ब्रह्म सिध्यति। न चैवं प्रामाणिकमिति? अत आह-**यस्य** ब्रह्म विदुषः **अमतम्** अनधिगतं कर्तृकर्मादिभावेन, **तस्य** कर्तृकर्मादिभावानधिगतवतो **मतम्** अधिगतम्।

इदानीं वैपरीत्यमाह-**मतं** कर्तृकर्मादिभावेनाधिगतं **यस्य** ब्रह्म विदुषः **न वेद** न जानाति **सः** कर्तृकर्मादिभेदज्ञानवान्। तत्रैव हेतुमाह-यतः **अविज्ञातम्** अनधिगतम् **विजानतां** विविधज्ञातृज्ञेयादिबुद्धिमताम्; देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यरूपत्वाद् ब्रह्मणः। ततो **विज्ञातं** विशेषेण यथाविद्यमानस्वरूपेण अधिगतम् **अविजानतां** विविधज्ञात्रादिभेदबुद्धिरहितानाम्॥३॥

अविजानतां विज्ञातं चेत्, तर्हि सुषुप्तिमूर्च्छादौ सर्वोऽपि कृतकृत्यः स्याद्! इत्यत आह-**प्रतिबोधविदितम्** सर्वप्रत्ययसाक्षित्वेन अवगतं **मतं** विज्ञातम्; न तु सर्वप्रत्ययोपरमे सुषुप्त्यादौ!

ननु किमनेन ज्ञानेनेति? अत आह- **अमृतत्वं हि विन्दत आत्मना। हि** यस्माद् **आत्मना** आत्मज्ञानेन **अमृतत्वम्** अविद्यातत्कार्यादिमरणशून्यत्वं स्वयंप्रकाशमानानन्दात्मस्वरूपमित्यर्थः। **विन्दते** लभते। हेर्हेत्वर्थस्य 'आत्मना' इति व्याख्यानम्। **विन्दते वीर्यं** सामर्थ्यमविद्यानिवृत्तिकारणं चरमसाक्षात्काररूपं लभते।

उक्तवीर्यलाभाद् उक्तामृतत्वप्राप्तिः प्रसिद्धैवेत्याह- **विद्यया** अधिष्ठानयाथात्म्यसाक्षात्कारेण कर्मगन्धानपेक्षेण **विन्दतेऽमृतम्** अधिष्ठानविपरीतग्रहण-तज्जदुःखरूपमरणकारणशून्यम् अविक्रियमधिष्ठानं लभते॥४॥

ननु विद्या चेत्, शरीरान्तर एव, न त्वत्रैव सति शरीर इति? अत आह- **इह** अस्मिन्नेव अधिकारिशरीरे **चेद्** यदि **अवेदीद्** ज्ञातवान् **अथ** तदा **सत्यं** सच्चिदानन्दरसं ब्रह्म **अस्ति** विद्यते। **न चेदिहावेदीद्** इहाधिकारिशरीरे यदि 'अहं ब्रह्मास्मि' इति शरीरे साक्षात्कारं न कृतवांस्तदा **महती** अतिप्रौढा त्रिविधदुःख-सन्तानजननी **विनष्टिः** विनाशरूपा।

श्रुत्या सानुक्रोशमेतदुक्तम्-एतच्छरीरमन्तरेण समूलघोरसंसारविनाशकात्मज्ञानस्य दुर्लभत्वात्, ततोऽस्मिन् सत्येव तदर्थं यत्न आस्थेयः; अन्यथा सततं संसारसागरे निमज्जनमेव स्याद्-इति।

इदानीमात्मनः सर्वत्र अहमस्मीत्यवलोकनं करणीयम्-इत्येतद् आत्मज्ञानस्य संसारव्याध्यौषधस्य स्वरूपमाह सा- **भूतेषु भूतेषु** प्राणिषु; वीप्सा निखिलचतुर्विध-प्राणिसङ्ग्रहार्था, **विचित्य** वयं स्मेत्यधिगत्य **धीरा** बुद्धिमन्तो विद्वांसः, **प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति**-व्याख्यातम्॥५॥

॥ इति श्रीशङ्करानन्दभगवतः कृतौ केनोपनिषद्दीपिकायां द्वितीयः खण्डः ॥२॥

तृतीयः खण्डः

विशुद्धान्तःकरणैरेव ब्रह्मविद्ययैव सर्वातिशयवत् सर्वात्मभूतं ब्रह्म विज्ञेयं, न त्वन्यथा–इत्येतदर्थम् इयमाख्यायिकाऽऽरभ्यते–**ब्रह्म** सत्यज्ञानानन्दादिलक्षणं **ह** किल **देवेभ्यः** देवानामनुग्रहार्थाय **विजिग्ये** विविधं देवानां लोकद्वयप्रतिकूलमसुरकुलं जितवत्। **तस्य** देवानुग्रहप्रवृत्तस्य **ह** किल **ब्रह्मणः** सत्यज्ञानानन्दादिलक्षणस्य **विजये** विविधजयनिमित्तं **देवा** इन्द्राग्निवायुप्रभृतयः **अमहीयन्त** पूजिता अभूवन्। **ते** अविज्ञातब्रह्मप्रभावा **ऐक्षन्त** प्रत्यक्षं वक्ष्यमाणप्रकारेण ईक्षणमकुर्वन्। तदीक्षणप्रकारमाह–**अस्माकमेव** कार्यकरणसङ्घाताभिमानिनाम् इन्द्राग्न्यादीनामेव, न त्वन्यस्य कस्यचिद्, **अयम्** अस्मत्प्रत्यक्षविषयो **विजयो** विविधोऽसुरपराभवलक्षण उत्कर्षः। **अस्माकमेवाऽयं** –व्याख्यातम्। **महिमा** महत्वरूपः सर्वजन्तुभ्यः स्तुतिपूजादिलाभलक्षणः। **इति** अनेन प्रकारेण॥१॥

तद् ब्रह्म देवानां विजयकृद् **ह** किल **एषां** देवानामज्ञानिनां गर्वारूढमभिप्रायं **विजज्ञौ** विशेषेण ज्ञातवत्। **तेभ्यः** तेषां गर्वारूढानां देवानामज्ञानिनामनुग्रहार्थं **ह** किल **प्रादुर्बभूव** किमपि रूपं धृत्वा नयनपथमागतम्। **तद्** ब्रह्म **न व्यजानत** देवा '**इदं तद्**' इति विशेषेण न ज्ञातवन्तः। तदज्ञातमाह– **किं** विचारे **इदं** प्रत्यक्षं **यक्षं** पूज्यम्, अतिदिव्यरूपत्वात्। **इति** अनेन प्रकारेण॥२॥

एवं संशयाविष्टहृदयाः **ते** गर्वाविष्टा देवा **अग्निं** देवानामग्रेसरं वह्निम् **अब्रुवन्** उक्तवन्तः। तदुक्तिमाह–**जातवेदः!** जातानि वेदांसि विविधानि ज्ञानानि सर्ववेदात्मकानि यस्मादग्नेः, स जातवेदाः। तस्य सम्बोधनं हे जातवेदः! **एतद्** अस्माभिरुच्यमानं पुरःस्थितं **विजानीहि** विशेषेणावगच्छ **किमेतद्यक्षम्**–**एतत्** पुरतः स्थितं **यक्षं किं** देवादिषु कतमदित्यर्थः। **इति** अनेन प्रकारेण।

एवं तैरुक्तः **स तथा** देवोक्ताङ्गीकारे, यद्भवद्भिरुच्यते तत् करिष्यामीत्यर्थः। **इति** अनेन प्रकारेण 'उक्त्वा' इति शेषः॥३॥

तत् पुरः स्थितं यक्षमवगन्तुम् **अभ्यद्रवत्** संमुखत्वेन समीपं गतवान्। तद्यक्षं **तं** समीपं प्राप्तं जिज्ञासुं सावज्ञम् **अभ्यवदद्** आभिमुख्येनोक्तवत्। तदुक्तिमाह– **कः** प्रश्ने; मत्समीपमागतः **त्वम् असि** भवसि **इति** अनेन प्रकारेण।

एवं पृष्टः **स** आह–**अग्निः** अग्निनामा **वै** प्रसिद्धः सर्वेषाम् **अहं** त्वत्समीपमागतः **अस्मि** भवामि **इति** अनेन प्रकारेण **अब्रवीद्** उक्तवान्। विशेषनाम्ना पुनरात्मानमाह–**जातवेदा वा अहमस्मीति**–स्पष्टम्॥४॥

एवमुक्ते पुनः सावज्ञं तद्यक्षमाह– **तस्मिन्** उक्तनाम्नि **त्वयि** मत्पुरतो वर्तमाने वराके, **किम्** आक्षेपे–न किमपीत्यर्थः **वीर्यं** सामर्थ्यम् **इति** अनेन प्रकारेण।

एवमाक्षिप्तोऽपि स स्वगर्ववशात् तदीयं प्रश्नं मन्वान आह–**अपि** सम्भावनायाम् **इदं** शुष्कमार्द्रं च जगत् **सर्वं** निखिलं **दहेयं** दहनं कुर्याम्। अत्युक्तिवारणार्थं सर्वशब्दार्थमाह–**यत्** प्रसिद्धम् **इदं** स्थावरजङ्गमात्मकं मूर्तं **पृथिव्यां** ब्रह्माण्डकटाहभुवि **इति** अनेन प्रकारेण॥५॥

तस्मै तस्याग्नेरनुग्रहार्थं **तृणम्** अत्यल्पं शुष्कं स्थावररूपं **निदधौ** नितरां पुरतः स्थापितवत्। तत् स्थापयित्वेदं जगौ–**एतत्** शुष्कं तृणं मया पुरतः स्थापितं **दह** भस्मीकुरु **इति** अनेन प्रकारेण।

यक्षेणोक्तोऽग्निः पुरतः स्थितं तृणम् **उपप्रेयाय** समीपं प्रकर्षेण गतवान् **सर्वजवेन** स्वकीयेन सर्वजवेन **तद्** यक्षस्थापितं शुष्कं तृणं **न शशाक दग्धुं** भस्मीकर्तुं शक्तो न बभूव।

सः अग्निर्जातवेदा अपगतगर्वः **तत एव** शुष्कतृणाऽदहनादेव निमित्तात् प्राप्तलज्जः **निववृते** झटित्येव देवान् गन्तुं तस्माद् निवृत्तिं चकार। आगत्य च देवानुवाच–तदुक्तिमाह–**नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षम्**; **एतत्** पुरःस्थितं **यत्** प्रसिद्धं सामान्यतः तद् '**एतद्**'–इति विशेषतो **विज्ञातुं** शक्तो नाऽभवम्। **इति** अनेन प्रकारेण॥६॥

अथाग्नेर्निवृत्तस्य वाक्यश्रवणानन्तरं वायुं सर्वजगतः प्राणं प्रभञ्जनम् अब्रुवन् उक्तवन्तः–वायो हे वायो! एतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति। तथेति। तदभ्यद्रवत्। तमभ्यवदत्–कोऽसीति। वायुर्वाअहमस्मीति अब्रवीद्, मातरिश्वा वाअहमस्मीति। तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमिति? अपीदं सर्वमाददीय यदिदं पृथिव्यामिति। तस्मै तृणं निदधौ,– एतदादत्स्वेति। तदुपप्रेयाय सर्वजवेन। तन्न शशाक आदातुम्। स तत एव निववृते–नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति।

वायुः वायुनामा। इदं सामान्यम्। विशेषरूपं त्वाह-**मातरिश्वा** मातरि आकाशे श्वसिमि (श्वयामि?) गच्छामीति मातरिश्वनामा। **आददीय** आदाय अन्तरिक्षे गमनं कुर्याम्। **आदत्स्व** आदायैतस्या भूमेः अस्य तृणस्य च कस्यचिद् अत्यल्पमपि अन्तरं कुरु। **आदातुं** सर्वतः स्वीकर्तुम्। व्याख्यातमन्यत्॥७॥८॥९॥१०॥

अथ निवृत्तस्य विगतगर्वस्य वायोर्वचनश्रवणानन्तरम् **इन्द्रं** परमैश्वर्यसम्पन्नं त्रिलोकनाथम् **अब्रुवन्** उक्तवन्तः- **मघवन्** भो इन्द्र! **एतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति। तथेति। तदभ्यद्रवत्।** व्याख्यातम्।

तस्मात् स्वसमीपप्राप्तादिन्द्रात् **तिरोदधे** अन्तर्धानं चकार। शुद्धान्तःकरणैरपि स्वस्वकर्मभिरनवगम्यं दर्शयितुम् इन्द्रो हि ब्रह्मसमीपं प्राप्तः करग्रहणावसरे तत्र दृष्टवानित्यर्थः॥११॥

स विस्मयमना इन्द्रः **तस्मिन्नेव** यत्र यक्षं स्थितं तत्रैव न त्वन्यत्र **आकाशे** अवकाशे 'तदेव यक्षं ध्यायंस्तस्थौ' इति शेषः। एवं स्थिते मघोनि विशुद्धान्तःकरणे यक्षदर्शनोत्सुके तदन्तर्धानाद् अपगतान्तर्धानाद्यैश्वर्याभिमाने सम्पन्नाधिकारिगुणे स्त्री प्रादुर्बभूव। स तां **स्त्रियं** ब्रह्मविद्यां मूर्तिमतीं 'ददर्श' इति शेषः। ततो निरीक्ष्य ताम् **आजगाम** यक्षस्य वार्तां प्रष्टुमागतवान्।

आगत्य च **बहुशोभमानां** सकलाऽविद्यापिशाचीवैलक्षण्येन अधिककान्तिमतीम् **उमां** सकलसंसारवृक्षोच्छेदकत्वेन उत्कृष्टां प्रभां ब्रह्मविद्यामित्यर्थः।

हैमवतीम्-हिमरूपः सर्वदा शीतलः स्वयंप्रकाशमान आनन्दात्माऽऽन्तर्हितयक्षस्वरूपः स यस्य नित्यमस्ति उपनिषद्भागस्य स हिमवान् तस्येयं दुहिता हैमवती, ताम्।

अथवा-उमा भगवतः पिनाकपाणेः प्राणप्रिया। सा हि कान्दिशीकान् भृशं विषण्णान् जन्तून् मातेव नानारूपैः आश्वासयति। तदुचितमिन्द्रस्यापि तादृशस्य तस्या दर्शनम्। सा च हिमवतो गिरिराजस्य दुहिता प्रसिद्धा, ताम्।

अथवा-हैम कनकं, तस्याभरणानि हैमानि कटकमुकुटादीनि, तानि यस्याः सन्ति सा हैमवती, ताम्।

(ताम्) प्रसिद्धां विदुषामुमां **ह** किल **उवाच** उक्तवान्; तदुक्तिमाह-**किमेतद्यक्षमिति।** व्याख्यातम्॥१२॥

॥ इति श्रीशङ्करानन्दभगवतः कृतौ केनोपनिषद्दीपिकायां तृतीयः खण्डः ॥३॥

चतुर्थः खण्डः

सा तं **ब्रह्म** बृहद् देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यं भवतां विजयकारणम् **इति** अनेन प्रकारेण **ह** किल **उवाच** उक्तवती। ब्रह्मेति नामधेयमुक्त्वा तस्य महिमानमप्याह-**ब्रह्मण** उक्तस्य **वै** प्रसिद्धस्य **एतद्विजये महीयध्वम्।** विजयनिमित्तम् **एतन्महीयध्वम्** इदं भवतां महत्त्वं येन लोके स्तुतिपूजादिमन्त एतादृशाः स्युः **इति** अनेन प्रकारेण। शिक्षा चेयम्-ब्रह्मणो विजये सति यूयं महीयध्वं, मा स्वातन्त्र्याभिमानं कुरुतेत्यर्थः।

एवमुमयोक्त इन्द्रः **ततः** तस्या उमाया वचनाद् **ह** किल **एव** तत एव, न त्वन्यस्माद्; **विदाञ्चकार** ज्ञातवान्। तज्ज्ञानप्रकारमाह-**ब्रह्म** यद्यक्षमन्तर्हितं तद् ब्रह्म **इति** अनेन प्रकारेण॥१॥

तस्माद् यतो वाय्वग्नी संवादं कृतवन्तौ ब्रह्मणा, इन्द्रश्च उमावचनेन निश्चिकाय ततो **वै** प्रसिद्धा **एते** अग्नीन्द्रवायवः **अतितरामिव** अधिकमतिक्रम्येव वर्तन्ते **अन्यान्** अग्नीन्द्रवायुव्यतिरिक्तान् **देवान्** चन्द्रवरुणादीन्। 'एत' इत्युक्तान् नामत आह-**यद्** यः प्रसिद्धः **अग्निर्वायुरिन्द्रः** प्रसिद्धानि त्रीण्यपि नामानि त्रयाणाम् **ते** अग्नीन्द्रवायवः सर्वेभ्योऽत्यधिकाः। **हि** यस्माद् **एनद्** यक्षरूपमात्मानं **नेदिष्ठम्** अतिशयेन समीपं **पस्पृशुः** स्पर्शनं चक्रुः, ब्रह्मणः समीपं गता इत्यर्थः। **ते** अग्नीन्द्रवायवः सर्वदेवाधिका **हि** यस्माद् **एनद्** देवानां पुरतः स्थितं यक्षं ब्रह्म **प्रथमः** प्रथमा देवेभ्यो मुख्या इत्यर्थः **विदाञ्चकार** विदाञ्चक्रुः। छत्रिन्यायेन दर्शयितुमेकवचनेन निर्देशः। तज्ज्ञानानुकरणं **ब्रह्मेति** -स्पष्टम्॥२॥

इदानीं छत्रिन्यायं विवृणोति- **तस्माद्** यतोऽग्नीन्द्रवायुषु ब्रह्मसमीपगामिषु इन्द्र एवोमोपदेशाद् ब्रह्म ज्ञातवान्, ततो **वै** प्रसिद्ध **इन्द्रः** परमैश्वर्यसम्पन्नः **अतितरामिव** अतिशयेन अतिक्रामति **अन्यान्** स्वव्यतिरिक्तान् **देवान्** अग्निवायुप्रमुखान्। **स इन्द्रः ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श स ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति**-स्पष्टम्॥३॥

तस्य इन्द्रेणावगतस्य ब्रह्मण **एष** वक्ष्यमाण **आदेश** उपदेशः। **यत्** प्रसिद्धं ब्रह्मरूपं शास्त्रेषु स्वयंप्रकाशम् **एतद्** बुद्धेर्द्रष्टृ वक्ष्यमाणस्वरूपम् **विद्युतः** प्रसिद्धायास्तडितः **व्यद्युतद्** विशेषेण द्योतनमकरोत्। **आ ३** आकारप्लुतिराश्चर्यार्था। आश्चर्यं तेजोधातुविलक्षणमपि ब्रह्म विद्युतः सकाशाद् विस्पष्टं प्रकाशं कृतवदिव, स्वयंप्रकाशमित्यर्थः। **इति** अनेन प्रकारेण आदेश इत्यन्वयः। यथा स्वयं विद्युतोऽपि विशेषप्रकाशवदिव **इद्** इत्थं चक्षुरादीनि सान्तःकरणानि **न्यमीमिषद्** निमेषोपलक्षितं स्वस्वव्यापारं कारितवत्। **आ ३** आकारप्लुतिः पूर्ववदाश्चर्यं–सर्वक्रियाहीनोऽपि सर्वदेवनिष्पाद्यां क्रियां कारितवान् इव **इति** अनेन प्रकारेण आदेश इत्यन्वयः। **अधिदैवतं** हिरण्यगर्भमधिकृत्य इति। द्वाभ्यां वाक्याभ्यामुपदिष्ट आदेशः अधिदैवतम्।।४।।

अथ अधिदैवतादेशकथनानन्तरम् **अध्यात्मम्** आत्मानम् अधिकारिशरीरमुररीकृत्य उच्यमान उपदेशोऽध्यात्मम्। **यत्** प्रसिद्धम् अधिदैवं विद्युतोऽपि विशेषप्रकाशवदिव **एतद्** बुद्धेर्द्रष्टृ सर्वगतं प्रति **गच्छतीव च** यातीव, चकारात् स्पृशतीव च **मनः** अन्तःकरणम्; **अनेन चान्तः** करणेनैव **एतद्** विद्युतोऽपि विशेषप्रकाशवदिव ब्रह्म **उपस्मरति** 'अहं ब्रह्मास्मि' इति सामीप्येन शास्त्रोक्तं स्मरति; **अभीक्ष्णं** निरन्तरं **सङ्कल्प** इदं ब्रह्माहं साक्षात्करोमि–इत्येवंरूपोऽभिलाषः, सोऽप्यनेनेत्यभिप्रायः।।५।।

तद् उक्तं **ह** किल **तद्वनं नाम** तस्य तस्य प्राणिजातस्य वननीयं सम्भजनीयम्, एतदेव नामधेयम्। तस्येदानीं नामानुगुणोपासनमाह– **तद्वनं** नामधेयम् **इति** अनेन प्रकारेण तद् **उपासितव्यं** विजातीयप्रत्ययशून्येन सजातीयप्रत्ययप्रवाहेण साक्षात्कर्तव्यम्। इदानीं गुणोपासनस्य फलमाह–**स** उपासकलक्षणसम्पन्नो **यः** कश्चन **एतत्** स्वयंप्रकाशं सर्वव्यापारनिमित्तं मनःसङ्कल्पस्मरणगमनेषु कारणं ब्रह्म **एवम्** उक्तेन प्रकारेण तद्वनंनामधेयमिति **वेद** जानाति–उपास्त इत्यर्थः; **अभि हैनं सर्वाणि भूतानि** गच्छन्ति। **ह** किल **एनं** तद्वननामोपासकं निखिलानि स्थावरजङ्गमानि भूतानि दर्शनस्पर्शनादिना अभिगच्छन्ति सङ्गच्छन्ति **संवाञ्छन्ति** सर्वत इच्छां कुर्वन्ति।।६।।

इदानीमाख्यायिकां परित्यज्य पुनः शिष्यप्रश्नमवतारयति–**उपनिषदं** ब्रह्मविद्यां 'विद्यया विन्दतेऽमृतम्' इति भवतैवोक्तं **भो** हे गुरो! **ब्रूहि** कथय किमु ब्रह्मविद्या, आहोस्विद् अन्याऽपि? इति प्रश्नार्थः। **इति** अनेन प्रकारेण।

ब्रह्मविद्या चेद्, उक्तैव। तस्याः साधनानि चेत्, तपआदीनि वक्ष्यामीत्यनेनाभिप्रायेण गुरुराह–**उक्ता** 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यारभ्य 'अभीक्ष्णं सङ्कल्प' इत्यन्तेन गुणोपासनासहितेन वाक्यसन्दर्भेण कथिता **ते** तुभ्यम् **उपनिषत्**–तादात्म्यलक्षणेन सामीप्येन नितरां ब्रह्म गमयित्वा, अहं-ममादीन् ग्रन्थीन् शिथिलीकृत्य, अविद्यां ससंस्कारां सादयति विनाशयतीति उपनिषद् ब्रह्मविद्या। **ब्राह्मीं वाव** ब्रह्मणा सत्यज्ञानलक्षणेन सम्बद्धा ब्राह्मी, तामेव, न तु तत्सम्बद्धां तपआदिकाम्। **त उपनिषदं** व्याख्यातम्। **अब्रूम** उक्तवन्तः। अतोऽन्यां कथयिष्यामीत्यभिप्रायः।।७।।

तस्यै–उक्ताया ब्राह्म्या उपनिषद उत्पत्त्यर्थं **तपः** तपःशब्दाभिधेयं स्वधर्मानुगुणशरीरसन्तापकरं मनइन्द्रियैकाग्र्यादिषु, **दम** इन्द्रियनिग्रहः, **कर्म** स्ववर्णाश्रमोचितं श्रौतं स्मार्तं च **इति** आदिकमन्यदपि शमब्रह्मचर्यादि। इदानीमस्या उपनिषदः–सब्राह्म्युपनिषदः–उपासनमाह–**प्रतिष्ठाः** प्रतितिष्ठन्ति एतैः इति प्रतिष्ठा इयं तपआद्युपनिषत्कामधेनुः, ब्रह्मविद्योपनिषद्वत्सा, चतुष्पादित्यर्थः। ततः **प्रतिष्ठाः** पादाः। इदानीं तान् विशेषत आह–**वेदा** ऋगाद्याश्चत्वारः। वेदानां षडङ्गानि विद्याकामधेनोः परिशिष्टानि निखिलाङ्गानि। **सत्यं** कालत्रयेऽपि बाधशून्यं ब्रह्म भूरिव इतरस्या गोः **आयतनं** प्रचारोपवेशनादिस्थलम्।।८।।

यो मुमुक्षुर्ब्रह्मविद्यार्थी तपआदिसम्पादनोद्यतो **वै** प्रसिद्धोऽनुत्पन्नब्रह्मसाक्षात्कारः श्रद्धालुः **एतां** तपआदिकामधेनुं ब्रह्मविद्यावत्साम् **एवं** वेदपादादिरूपेण **वेद** जानाति, उपास्त इत्यर्थः; सः **अपहत्य** स्वस्मादपच्छेदपुरःसरं विनाश्य **पाप्मानं** ब्रह्मविद्योत्पत्तिप्रतिबन्धहेतुम् **अनन्ते** विनाशरहिते **स्वर्गे** स्वर्गवासिभिर्गेय आनन्दात्मनि **लोके** स्वयम्प्रकाशे **ज्येये** ज्यायसि सर्वस्माद् अभ्यधिके ब्रह्मणीत्यर्थः **प्रतितिष्ठति** संजातचरमसाक्षात्कारः प्रकर्षेण पुनरुत्थानशून्यत्वेन अवस्थानं करोति। **प्रतितिष्ठति** व्याख्यातम्। पदाभ्यास उपनिषत्समाप्त्यर्थः।।९।।

।। इति श्रीशङ्करानन्दभगवतः कृतौ केनोपनिषद्दीपिकायां चतुर्थः खण्डः ।।४।।

।। समाप्तेयं शङ्करानन्दकृता तलवकारोपनिषदपरपर्यायकेनोपनिषद्दीपिका ।।